जयपुर (खानिया) तत्वचर्चा
और
उसकी समीक्षा

प्रथम भाग

पण्डित वंशीधर व्याकरणाचार्य

श्रीमती लक्ष्मीबाई पारमार्थिक फण्ड

५/७८

५/२०

11.9

डॉ. कोमलचन्द्रजी जैनको

सप्रेम।

लेखक।

३१-५-१९८२

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा

और

उसकी समीक्षा

प्रथम भाग

(प्रश्नोत्तर १, २, ३, ४ की समीक्षा)

•

समीक्षा-लेखक
सिद्धान्ताचार्य पण्डित वंशीधर व्याकरणाचार्य
न्यायतीर्थ, जैनदर्शन-साहित्यशास्त्री
बीना (सागर), म० प्र०

•

सम्पादक
न्यायालंकार, न्यायरत्नाकर
डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य
वाराणसी, (उ० प्र०)

4542
3-8-99

प्रकाशक
श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० वंशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड
बीना (मध्य प्रदेश)

प्रकाशक
स्वर्गीया श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० वंशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड
बीना (मध्य प्रदेश)

लेखक
सिद्धान्ताचार्य पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना (म० प्र०)

सम्पादक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

प्राप्ति-स्थान
(१) विभवकुमार जैन,
मंत्री, श्रीमती लक्ष्मीबाई पारमार्थिक फण्ड, बीना (म० प्र०)

(२) डॉ० दरबारीलाल कोठिया
चमेली-कुटीर, डुमरांव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी–५

प्रथम संस्करण : ५०० प्रति

मूल्य : कपड़ेकी सुन्दर जिल्द सहित, पचास रुपए

मुद्रक :
बाबूलाल जैन, महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी–१ (उ० प्र०)

समर्पण

सिद्धान्तरत्न ब्र० पं० रतनचन्द्रजी मुख्तार सहारनपुर

को

सादर समर्पित

—वंशीधर शास्त्री

प्रकाशकीय

स्व० श्रीमती लक्ष्मीवाई (पत्नी पं० वंशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड, बीना-इटावासे "खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" भाग १ का प्रकाशन करते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थ इस फण्डसे प्रकाशित होनेवाला दूसरा ग्रन्थ है। इसके पूर्व इस फण्डसे "जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार'. ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है, जो अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्से पुरस्कृत है।

"जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थके प्रकाशकीयमें यह विश्वास प्रगट किया गया था कि "फण्डसे ग्रन्थ-प्रकाशनका यह क्रम सतत जारी रहेगा और संभवतः इसका दूसरा प्रकाशन 'खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' होगा, जिसके ४-५ खण्ड हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक प्रश्नकी तत्त्वचर्चा संबन्धी सामग्री-के साथ ही उसकी समीक्षा सम्बन्धी सामग्रीका उसमें प्रकाशन किया जायेगा।" इसकी क्रियात्मक परिणति प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन है, जो निश्चय ही कम हर्षका विषय नहीं है।

'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार' तथा 'खानिया तत्त्वचर्चाकी समीक्षा' ये दोनों ग्रन्थ सिद्धांता-चार्य पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यकी कृतियाँ हैं। इनसे पूर्व पं० जीके महत्त्वपूर्ण 'जैन तत्त्व-मीमांसाकी मीमांसा' (भाग १) व 'जैन दर्शनमें कार्यकारणभाव और कारक-व्यवस्था' ये दो ग्रन्थ स्व० पं० राजेन्द्र-कुमारजी न्यायतीर्थ, मथुराने जैन संस्कृति सेवक समाजसे प्रकाशित कराये थे।

उक्त चारों ग्रन्थ सोनगढ़-मान्यताओंके एकान्त मिथ्यापनको उजागर करनेके लिये लिखे गये हैं और मेरा विश्वास है कि ये ग्रन्थ इसकी पूर्तिमें सफल सिद्ध होंगे।

सिद्धांताचार्य पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य हमारे पूज्य पिताश्री हैं। इन्होंने उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिए हमारी पूज्या माता स्व० श्रीमती लक्ष्मीबाईकी चिर-स्मृतिमें पारमार्थिक फण्डकी स्थापना की थी, जिसका आधार और संरचना निम्नांकित रूपमें उनके द्वारा स्वयं लेखबद्ध की गई थी।

"जबसे मैंने सोनगढ़ साहित्य और उसका अनुसरण करनेवाले साहित्यके विरुद्ध सैद्धान्तिक लेखनी चलाना प्रारम्भ किया तभीसे मेरे मस्तिष्कमें इस प्रकारका विकल्प चलता रहा कि यदि मेरे द्वारा निर्मित साहित्यके प्रकाशनकी व्यवस्था कदाचित् किसी अन्य स्थलसे न हो सके तो उसके प्रकाशनके लिए एक फण्डका निर्माण किया जावे व उसका उपयोग उपर्युक्त कार्यके अति-रिक्त अन्य कल्याणकारी कार्योंमें भी आवश्यकतानुसार यदि सुविधा हो तो किया जावे, लेकिन मुख्य कार्यको दुर्लक्षित किसी भी हालतमें न किया जावे।

मैंने ४ जुलाई सन् १९७४ से सामान्य रूपसे फण्ड-निर्माणके अनुकूल अपनी प्रवृत्तियाँ आरम्भ कर दी थीं। इसी बीच २५ सौवें भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सवके उपलक्ष्यमें श्री वीर-निर्वाण भारती मेरठने विद्वानोंका सम्मान करनेकी योजना प्रारम्भ की, जिसके अन्तर्गत श्री १०८ उपाध्याय मुनि विद्यानन्दजी महाराजके तत्त्वाधानमें विद्वत्सम्मान-समारोहका एक आयोजन दिल्लीके विज्ञान-भवनमें दिनांक २९ अक्टूबर, १९७४ को किया गया था। इसमें अन्य १४ विद्वानों-

के साथ मुझे भी सम्मानित किया गया था। इस सम्मानमें स्वर्णपदक, प्रशस्ति-पत्र व कीमती ऊनी शालके साथ २५००–दो हजार पाँच सौ रुपयोंकी निधि महामहिम उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती महोदयके करकमलोंसे प्रत्येक विद्वान्को समर्पित की गई थी।

मैंने २५००–रुपयोंकी इस निधिका उपयोग फण्ड-निर्माणमें करनेकी रूपरेखा निश्चित की थी। अतः दिनांक ९ फरवरी, सन् १९७५ को मेरी पत्नी श्रीमती लक्ष्मीबाईका स्वर्गवास हो जाने-पर उनकी स्मृति बनाये रखनेके उद्देश्यसे अपनी तरफसे भी उसमें धनराशि मिलाकर मेरे द्वारा फण्डको मूर्तरूप दे दिया गया। इस तरह मिति कार्तिक वदी अमावस संवत् २०३४, दिनांक ११ नवम्बर सन् १९७७ को फण्डकी राशि २०९३७ रुपये ७० पैसे बीस हजार नौ सौ सैंतीस रुपए सत्तर पैसे है। इस दिन तकका आय-व्ययका हिसाब निम्न प्रकार है—

जमाकी विगत	खर्चकी विगत
२५००)०० तारीख २-११-७४ को सम्मान-निधि	७५६)०० दिनांक ४-७-७४ से दिनांक ११-११-७७ तक खर्च
१२७१)५१ तारीख १०-९-७५ को कृषि-आय	२०९३७)७० शेष रहा दिनांक ११-११-७७ को
१३१५)७३ तारीख १८-७-७६ को कृषि-आय	
१५०००)०० तारीख १२-९-७७ को जमा किया	
१६०६)४६ तारीख ११-११-७७ तक का व्याज	
२१६९३)७०	२१६९३)७०

अभी तक इस पारमार्थिक फण्डकी संचालन-व्यवस्था लिखित रूपमें तैयार नहीं की गई थी, अतः उसे लिखित रूप दे रहा हूँ।

पारमार्थिक फण्डकी संरचना और संचालन-व्यवस्था

१. फण्डका नाम—इस पारमार्थिक फण्डका नाम "स्व० श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० वंशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड, बीना-इटावा" है।

२. फण्डका उद्देश्य—इसका उद्देश्य दिगम्बर जैन संस्कृतिकी मूल-मान्यताओंका संरक्षण व प्रचार करना है। इसकी पूर्ति साहित्य-प्रकाशन द्वारा की जायेगी।

३. यतः यह फण्ड वैयक्तिक है अतः इसका संचालन जब तक मैं (वंशीधर शास्त्री) जीवित हूँ तब तक मैं ही करूँगा। मेरी मृत्युके पश्चात् इसका संचालन क्रमशः मेरे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि तब तक करते रहेंगे जब तक इसमें धनराशिका सद्भाव रहेगा।

४. फण्डके मूल उद्देश्यकी पूर्तिके लिए मूल धनराशिका भी उपयोग किया जा सकेगा। इतना अवश्य है कि इसके संवर्धन करनेका यथासंभव प्रयत्न किया जायेगा, जिससे यह अधिक-से अधिक स्थायित्वको प्राप्त कर सके।

५. संचालकके कर्त्तव्य—

(क) संचालक फण्ड-निधिका उपयोग उद्देश्यकी पूर्तिमें ही करेंगे।

(ख) फण्ड-निधिमें वृद्धि करनेका भी संचालक यथासम्भव प्रयत्न करते रहेंगे। यदि इसके लिये कहींसे आर्थिक सहायता प्राप्त होगी तो उसे भी वे सहर्ष स्वीकार करेंगे।

(ग) फण्डकी उद्देश्य-पूर्तिके प्रयत्नमें संचालक सतत जागरूक रहेंगे।

(घ) फण्डके आय-व्ययका व्यवस्थित हिसाब लिखित रूपमें ही रखेंगे।

(ङ) आवश्यकता और अनुकूलताके अनुसार उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कार्य-प्रणालीको विस्तृत करनेकी ओर भी लक्ष्य रखेंगे।

(च) आवश्यकता होनेपर वे इसे पंजीबद्ध भी शासन द्वारा करावेंगे और यदि आवश्यकता हुई तो वे इसे ट्रस्टका रूप देनेमें संकोच नहीं करेंगे।

फण्डकी निधिकी व्यवस्था

(क) फण्डकी निधि वर्तमानमें फर्म पं० वंशीधर सनतकुमार बीना-इटावामें जमा रखी गई है। भविष्यमें भी वहीं जमा रहेगी, जिसके ऊपर फर्म इस पारमार्थिक फण्डको ५० पैसे प्रतिशत माहवारी ब्याज देता है और देता रहेगा।

(ख) संचालक समझें तो निधिको किसी बैंक में भी जमा करा सकते हैं।

(ग) फण्डके आय-व्ययका हिसाब वार्षिक तैयार किया जायेगा। वर्षकी समाप्ति कार्तिक वदी अमावसको मानी जावेगी।

(घ) उद्देश्य पूर्तिके लिए आवश्यक होनेपर संचालक चाहे जितनी रकम फर्मसे एक मुस्त ले सकेंगे।

मैं घोषणा करता हूँ कि इस पारमार्थिक फण्डका निर्माण मैंने स्वेच्छासे अपने तन और मनकी पूर्ण स्वस्थ अवस्थामें बिना किसी भय व दवावके लिखकर कर दिया सो सनद रहे। दिनांक १२ नवम्बर सन् १९७७, मिति कार्तिक सुदी २, संवत् २०३४ शनिवार ब कलम खुद वंशीधर शास्त्रीकी।

द: वंशीधर शास्त्री

गवाहः—

१. उपर्युक्त पारमार्थिक फण्डका निर्माण पं० वंशीधरजीने स्वयं लिखकर किया और मेरे सामने स्वेच्छासे हस्ताक्षर किये—(सही) दः बालचन्द शास्त्री दिनांक १२-११-७७।

२. उपर्युक्त पारमार्थिक फण्डका निर्माण पं० वंशीधरजीने स्वयं लिखकर किया और मेरे सामने स्वेच्छासे हस्ताक्षार किये—(सही) दःदुलीचंद्र, दि० १२–११–७७।

फण्डकी प्रवृत्तियां वर्तमानमें इसी आधार पर हैं।

फण्डके आय-व्ययका हिसाब दिनांक १२-११-७७ से २७-१०-८१ तकका निम्न प्रकार है—

जमा

२०९३७ = ७०	पिछली बाकी सिलक रोकड़में दिनांक १२-११-७७ को २०९३७ = ७० पै०
२०० = ००	श्री प्रो० हुकमचन्द जी जैन छतरपुर से आया दि० ३-६-७८ को २००.००
१००० = ००	श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्से प्राप्त "जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थपर पुरस्कार-निधि, दिनांक १४-६-८० को १००० = ००
४२४५ = ४१	ब्याज दि० १२-११-७७ से २७-१०-८१ तकका ४२४५ = ४१
१०७९ = ६५	ग्रन्थ-बिक्री २७-१०-६१ तककी १०७९ = ६५
५३०० = ००	श्रीमती गुणमाला जैन क्लर्क स्टेट बैंक बीनाका देना दि० २७-१०-८१ को ५३०० = ००
३२७६२ = ७६ पैसे	

नामे

६५९८ = ५६	ग्रन्थखाते नामे २७-१०-८१ को १. 'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार', २. 'जैन तत्त्व-मीमांसाकी मीमांसा' (भाग १), ३. 'जैन दर्शनमें कार्य-करणभाव और कारक-व्यवस्था' ग्रन्थोंमें लगी पूंजी ६५९८ = ५६
१४७ = ६२	फुटकर खर्च १२-११-७७ से २७-१०-८१ तक १४७ = ६२
५३३१ = ६०	कागज खरीद खानिया तत्त्व-चर्चा और उसकी समीक्षाके मुद्रणके लिये ५३३१ = ६०
८४० = १५	श्री पं० दरबारीलालजी कोठिया वाराणसीके पास जमा बाईंडिंगके कपड़ा खरीदके लिए २७-१०-८१ को ८४० = १५
१९ = ५०	आचार्य महावीरकीर्ति····संस्था आवागढ़से लेना २७-१०-८१ को १९ = ५०
१६७९५ = ३५	फर्म पं० बंशीधर सनतकुमार बीनासे लेना ता० २७-१०-८१ को १६७९५ = ३५
३०२९ = ९८	सिलक बाकी रोकड़में २७-१०-८१ को ३०२९ = ९८
३२७६२=७६	

'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार' ग्रन्थकी केवल ५०० प्रतियाँ मुद्रित कराई गई थीं। इसमें यह हेतु बताया गया था कि समाजमें साहित्यिक रुचिका अभाव होने और स्वाध्यायी व्यक्तियोंके लिए उपयोगी होनेसे बिक्रीकी संभावना कम है। यही बात 'खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' ग्रन्थके मुद्रणके विषयमें भी है। अतः इसकी भी मात्र ५०० प्रतियाँ छपवाई गई हैं। ग्रन्थका मुद्रण सुन्दर और बाईंडिंग टिकाऊ होना चाहिए, इस बातका ध्यान 'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार' ग्रन्थके प्रकाशनकी भाँति प्रकृत ग्रन्थ 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' के प्रकाशनमें भी रखा गया है। ग्रन्थ बड़ा होनेसे इसकी पूरी बाईंडिंग बढ़िया कपड़ेकी कराई गई है।

इस ग्रन्थके प्रकाशित हो जानेपर अब फण्डके स्टाकमें इस सहित 'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार', 'जैन तत्त्व-मीमांसाकी मीमांसा' (भाग १) और 'जैन दर्शनमें कार्य-करणभाव और कारकव्यवस्था' ये

सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ये सोनगढ़ विचारधाराकी निःसारताको स्पष्ट कर जैन संस्कृतिके सैद्धांन्तिक पहलूपर उत्तम प्रकाश डालते हैं।

आशा एवं विश्वास है कि समाजके प्रबुद्ध पाठक इसका समादर करेंगे। तथा साहित्य-प्रचारके अनुरागी इसकी अधिक प्रतियाँ मंगाकर विद्वानों, साधु-सन्तों और लायब्रेरियोंको वितरित करेंगे।

दिनांक—२०-२-८१

निवेदक—

—विभव कुमार जैन

मंत्री

स्व० श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० बंशीधर शास्त्री)

पारमार्थिक फण्ड, वीना—इटावा (सागर) म० प्र०

अपनी बात

तत्त्वचर्चाकी पृष्ठभूमि

सन् १९६३ के प्रारंभमें श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीसे बात-चीतके प्रसंगमें मुझे यह जानकारी मिली कि पं० फूलचंद्रजी सिद्धांतशास्त्री, वाराणसी "जैन तत्त्व-मीमांसा" पुस्तकको संशोधनके साथ पुनः प्रकाशित करना चाहते हैं। मैंने इस जानकारीके आधार पर पं० फूलचंद्रजीको इस आशयका पत्र लिखा कि यदि आप "जैन तत्त्व-मीमांसा" पुस्तकको संशोधनके साथ पुनः प्रकाशित कर रहे हों तो मेरी हार्दिक भावना है कि उसके प्रकाशनके पूर्व आप और मैं कुछ तत्त्व-विमर्श कर लें। पं० फूलचंद्रजीका इस संबंधमें जो उत्तर आया था उसका आशय यह था कि यदि मैं सामूहिक तत्त्वचर्चाका आयोजन करनेमें उनका सहयोगी बनूँ तो उत्तम होगा।

यद्यपि मैं सामूहिक तत्त्वचर्चाका पहलेसे विरोधी ही था, क्योंकि मेरी धारणा थी कि इस आयोजनसे कुछ लाभ नहीं होगा। परन्तु पं० फूलचंद्रजीने जब यह विश्वास दिलाया कि उनकी हार्दिक भावना तत्त्व-निर्णय करनेकी है तो मैंने उन्हें लिख दिया कि आप जब बीना पधारें तव आपके इस प्रस्तावपर विमर्श कर लिया जायेगा। यतः पं० फूलचंद्रजीको उस समय बीना आनेका शीघ्र योग मिल गया था, अतः उनके आने पर दोनोंने विमर्श करके एक संयुक्त वक्तव्य तैयार कर अल्प कालमें ही समाचार-पत्रोंमें प्रकाशनार्थ भेज दिया था।

उस समय पं० फूलचंद्रजीने मुझसे यह भी पूछा था कि तत्त्वचर्चाके लिए कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा ? इस पर मेरा उत्तर यह था कि जो स्थान आपको अधिक अनुकूल हो उसे दूसरा पक्ष निर्विवाद स्वीकार कर लेगा। परन्तु जयपुर-खानियाँमें श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराजके समक्ष एकाएक यह निर्णय कर लिया गया कि तत्त्वचर्चा खानियांमें हो और उसका प्रारंभ २० अक्टूबर सन् १९६३ से किया जाये। इतना ही नहीं, यह निर्णय होते ही तत्त्वचर्चाके आयोजनमें संभाव्य व्ययके वहनका भार अपने ऊपर लेकर श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी, निवाई वालोंने ब्र० लाडमलजीके साथ मिलकर उभयपक्षके ३४ विद्वानोंको २० अक्टूबरके संकेतपूर्वक तत्वचर्चाका आमंत्रण-पत्र तत्काल प्रेषित कर दिया था। तथा तत्त्व-चर्चामें रुचि रखने वाले विद्वानोंने अपनी स्वीकृति भी ब्र० लाडमलजीके पास तत्काल भेज दी थी। किन्तु पं० फूलचन्द्रजीने स्वीकृति नहीं भेजी थी। फलतः उनकी स्वीकृति प्राप्त करनेके लिए ब्र० लाडमलजीको उनके साथ लम्बा पत्राचार करना पड़ा तथा उनको पं० फूलचन्द्रजीकी स्वीकृतिका जब आश्वासन मिला तो समय कम रह जानेके कारण उन्होंने विद्वानोंसे तार द्वारा यह अनुरोध किया कि वे २० अक्टूबरके पूर्व खानियाँ पहुँचनेकी कृपा करें। ब्र० जी का तार मिलने पर बहुतसे विद्वान तत्काल खानियाँ-यात्रा पर घरसे निकल पड़े। शेष कतिपय विद्वान् खानियाँ यात्रा पर चलने वाले ही थे कि उन्हें ब्र० लाडमलजीका दूसरा तार मिला, जिसका आशय यह था कि पं० फूलचन्द्रजी नहीं आ रहे हैं, इसलिये चर्चा स्थगित कर दी गई है। यह तार मिलने पर उन विद्वानोंने, (जिनमें मैं भी सम्मिलित था) अपनी यात्रा स्थगित कर दी थी। परन्तु २० अक्टूबरको पं० फूलचन्द्रजी जब एकाएक खानियाँ पहुँचे तो ब्र० लाडमलजीने तीसरी बार तार द्वारा विद्वानोंको सूचित किया कि पं० फूलचन्द्रजी खानियाँ पहुँच चुके हैं, अतः शीघ्र खानियाँ पहुँचें। फलतः पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर और मैं २१ अक्टूबरको चलकर २२ अक्टूबरके प्रातः खानियाँ

पहुँच सके। श्री पं० अजितकुमारजी शास्त्री आदि कतिपय अन्य विद्वान् भी २२ अक्टूबरके प्रातः ही खानियाँ पहुँच सके थे। पं० फूलचन्द्रजी सहित जो विद्वान् २० अक्टूबरको खानियाँ पहुँच चुके थे उन्होंने २१ अक्टूबरको एक साथ बैठकर तत्त्वचर्चाकी प्रक्रियाको व्यवस्थित रूपसे सम्पन्न करनेके लिए आवश्यक नियम निर्धारित किये थे और उन्हीं नियमोंके आधारपर खानियाँमें २२ अक्टूबरसे एक नवम्बर तक तत्त्वचर्चाके दो दौर सम्पन्न हुए थे।

यहाँ मैं बतलाना चाहता हूँ कि पं० फूलचन्द्रजीने बीनामें मेरे समक्ष यह प्रस्ताव भी रखा था कि तत्त्वचर्चामें उभयपक्षसम्मत प्रश्न ही विचारके लिये स्वीकृत होंगे और उनपर विचार करनेकी प्रक्रिया यह होगी कि उन प्रश्नोंपर सर्वप्रथम दोनों पक्ष अपना-अपना मन्तव्य आगम-प्रमाण सहित लिखकर एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे। इसके पश्चात् दूसरे दौरमें दोनों ही पक्ष एक-दूसरे पक्षसे प्राप्त उन मन्तव्यों पर आगम-प्रमाण सहित अपनी लिखित आलोचनायें परस्पर में प्रस्तुत करेंगे और तीसरे (अंतिम) दौरमें दोनों ही पक्ष एक-दूसरे पक्षसे प्राप्त उन आलोचनाओंका उत्तर आगम-प्रमाण सहित लिखकर एक-दूसरे पक्षके सामने रखेंगे।

मैंने पं० फूलचन्द्रजीके इस प्रस्तावको सहर्ष मान लिया था। परन्तु उनसे उक्त प्रस्ताव लिखित रूपमें नहीं लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि खानियाँमें तत्त्वचर्चाके अवसर पर पं० फूलचन्द्रजीने अपने सहयोगी सोनगढ़के प्रतिनिधि पं० नेमिचन्द्रजी पाटनीके प्रभावमें आकर अपना उपर्युक्त प्रस्ताव समाप्त कर दिया था। इस तरह तत्त्वचर्चा अपने निर्णीत रूपको खोकर शंका-समाधानके रूपमें परिवर्तित हो गई थी। फलतः प्रश्नोंका निर्धारण करनेमें हमारे पक्षका प्रमुख हाथ होनेसे हमारा पक्ष तो शंका-पक्ष बन गया था और सोनगढ़-पक्ष समाधान-पक्ष हो गया था।

प्रस्तुतमें पाठकोंसे निवेदन

यहाँ यह ध्यातव्य है कि सोनगढ़पक्षने तत्त्वचर्चामें सर्वत्र शंकापक्षको 'अपरपक्ष' नामसे सम्बोधित किया है और मैंने उस (तत्त्वचर्चा) की इस समीक्षामें शंकापक्षको 'पूर्वपक्ष' तथा समाधानपक्षको 'उत्तरपक्ष' नामसे अभिहित किया है। अतः पाठक महानुभाव तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षाका स्वाध्याय करते समय इन सम्बोधनोंका ध्यान रखेंगे, ऐसा निवेदन है। उनसे मेरा यह भी निवेदन है कि 'अपनी बात' नामसे लिखी प्रस्तुत प्रस्तावनामें मैंने आगे सोनगढ़को 'सोनगढ़पक्ष' और इतर पक्षको 'अपरपक्ष' नामोंसे सम्बोधित किया है। वे इसका भी ध्यान रखें।

तत्त्वचर्चाके प्रकाशनके सम्बन्धमें—

खानियाँ तत्त्वचर्चाका प्रकाशन आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुरसे हुआ है। वह ग्रन्थमाला सोनगढ़की ही संस्था है और सोनगढ़ खानियाँ तत्त्वचर्चामें एक पक्ष था। उक्त तत्त्वचर्चाका प्रकाशकीय ग्रन्थमालाके व्यवस्थापक पं० नेमिचन्द्रजी पाटनीने लिखा है और पाटनीजी उस तत्त्वचर्चामें सोनगढ़की ओरसे एक प्रतिनिधि थे। तथा उसका सम्पादकीय पं० फूलचन्द्रजीने लिखा है। पं० फूलचन्द्रजी उस चर्चामें सोनगढ़पक्षके मुख्य प्रतिनिधि थे।

यद्यपि मैं यह नहीं कहना चाहता कि उस ग्रंथमालाको खानिया तत्त्वचर्चाका प्रकाशन नहीं करना था और न मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि पाटनीजीको उसका प्रकाशकीय व पं० फूलचन्द्रजीको उसका सम्पादकीय नहीं लिखना था। परन्तु तथ्य यह है कि खानिया तत्त्वचर्चाका प्रकाशन करने तथा उसका प्रकाशकीय व सम्पादकीय लिखनेसे पूर्व उन महानुभावोंको निश्चित ही यह सोचना था कि जिस ग्रन्थका प्रकाशन किया जा रहा है और प्रकाशकीय व सम्पादकीय वे लिख रहे हैं वह मात्र सोनगढ़का ही ग्रन्थ नहीं है। यदि वे

महानुभाव यह सोचनेका प्रयत्न करते तो विश्वास है कि वे जयपुर खानियाँ तत्त्वचर्चाको केवल (सोनगढ़) पक्षके प्रचारका साधन नहीं बनाते।

यहाँ मैं एक बात यह भी कहना चाहता हूँ कि उक्त ग्रन्थमालाकी तरफसे प्रकाशित खानिया तत्त्व-चर्चाके दोनों भागोंके प्रारम्भमें जो तत्त्वचर्चा सम्बन्धी पत्रादिकोंकी फोटो-कापियाँ मुद्रित की गई हैं उनके उस मुद्रणमें भी हमें यद्यपि कोई आपत्ति नहीं होती, परन्तु उनके उस मुद्रणमें इसलिये आपत्ति है कि उसमें उन महानुभावोंका उद्देश्य सोनगढ़पक्षको प्रामाणिक और उचित सिद्ध करने तथा अपरपक्षको अप्रामाणिक और अनुचित बतानेका रहा है, जो दूषित है। इसकी पुष्टि पं० फूलचन्द्रजीके वक्तव्योंसे होती है। खानिया तत्त्वचर्चाके सम्पादकीय पृष्ठ ३३ पर उन्होंने लिखा है :—

"आगेके लिए भी व्यवस्था यह थी कि प्रत्येक सामग्री एक पक्ष दूसरेके पास मध्यस्थके माध्यमसे ही भेजेगा। परस्परके पत्रव्यवहारमें तो इसका पूरी तरहसे पालन होना संभव नहीं था। हाँ, तत्त्वचर्चा सम्बन्धी पत्रकों पर व्यवस्थानुसार मध्यस्थके हस्ताक्षर होना आवश्यक था। हमारी ओरसे तो इस व्यवस्थाको बराबर ध्यानमें रखा गया। परन्तु अपरपक्षने इसे विशेष महत्त्व न देकर पूरी सामग्री मेरे पास सीधी भेज दी। इतना संकेत मात्र इसलिये किया है कि अपरपक्षकी तीसरे दौरकी सामग्री पर मध्यस्थके हस्ताक्षर नहीं है।"

इसके उपरान्त प्रकाशित जैन तत्त्वमीमांसा (द्वितीय संस्करण) के 'आत्मनिवेदन' (पृष्ठ ७ व ८) में भी पं० फूलचंद्र जीने लिखा है—

१. "नियमानुसार लिखित चर्चा तीन दौरोंमें पूर्ण होनी थी। उनमेंसे दो दौरकी लिखित चर्चा तो वहीं सम्पन्न कर ली गई थी। तीसरे दौरकी चर्चा परोक्षमें लिखित आदान-प्रदानसे सम्पन्न हो सकी। नियम यह था कि लिखित रूपमें जो भी सामग्री एक-दूसरे पक्षको समर्पित की जायेगी उस पर सम्मेलनके समय अपने-अपने पक्षके निर्णीत प्रतिनिधि हस्ताक्षर करेंगे और मध्यस्थके मार्फत वह एक-दूसरेको समर्पित की जायेगी। किन्तु तीसरे दौरकी सामग्री समर्पित करते समय उस पक्षकी ओरसे इस नियमकी पूर्ण रूपसे उपेक्षा की गई, क्योंकि उस पक्षकी ओरसे जो लिखित सामग्री रजिस्ट्री द्वारा हमें प्राप्त हुई थी उसपर न तो उस पक्षके पाँचमेंसे चार प्रतिनिधियोंने अपने हस्ताक्षर ही किये थे और न ही वह मध्यस्थकी मार्फत ही भेजी गई थी, उस पर केवल एक प्रतिनिधिने हस्ताक्षर कर दिये और सीधी हमारे पास भेज दी गई।"

२. "उस पक्षके प्रनिनिधि विद्वानों द्वारा ऐसा क्यों किया गया यह तो हम नहीं जानते। फिर भी इस परसे यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि उस पक्षकी ओरसे तीसरे दौरकी जो लिखित सामग्री तैयार की गयी उसमें उस पक्षके अन्य चार प्रतिनिधि विद्वान् सहमत नहीं होंगे। यदि सहमत होते तो वे नियमानुसार अवश्य ही हस्ताक्षर करते और साथ ही नियमानुसार मध्यस्थकी मार्फत भिजाते भी। उन प्रतिनिधि स्वरूप चार विद्वानोंका हस्ताक्षर न करना अवश्य ही तीसरे दौरकी उस पक्षकी ओरसे प्रस्तुत की गई लिखित पूरी सामग्री पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। तत्काल इस विषय पर हम और अधिक टिप्पणी नहीं करना चाहते। आवश्यकता पड़ी तो लिखेंगे।"

३. "इस प्रकार तीसरे दौरकी प्रतिशंका सामग्रीके प्राप्त होनेपर हमारे सामने अवश्य ही यह सवाल रहा है कि हम इसे स्वीकार कर उसके आधारपर प्रत्युत्तर तैयार करें या नियमविरुद्ध इस लिखित सामग्रीके प्राप्त होनेसे हम उसे वापिस कर दें। अन्तमें काफी विचार विनिमयके बाद यही सोचा गया कि भले ही यह लिखित सामग्री नियमविरुद्ध प्राप्त हुई हो उसके प्रत्युत्तर तैयार करना ही प्रकृतमें उपयोगी है। और इस

प्रकार प्रत्युत्तर तैयार होनेपर नियमानुसार हमारे पक्षके तीनों प्रतिनिधियोंने उसका वाचन किया। तथा वाचन पूरा होनेपर तीनों प्रतिनिधि विद्वानोंने हस्ताक्षर किये और मध्यस्थकी मार्फत भिजा दिया गया।"

ये वक्तव्य स्पष्ट बतलाते हैं कि उल्लिखित फोटो कापियोंके मुद्रणमें पं० फूलचंद्रजीका उद्देश्य सोनगढ़ पक्षको प्रामाणिक और उचित सिद्ध करने तथा अपरपक्षको अप्रामाणिक और अनुचित सिद्ध करनेका था। पं० फूलचन्द्रजीका यदि यह उद्देश्य नहीं होता तो वे अवश्य ही खानियामें दो दौरोंकी समाप्तिपर तृतीय दौरकी सामग्रीके विषयमें अपरपक्षके सभी प्रतिनिधियों द्वारा लिखे गये अधिकारपत्रपर ध्यान देते। और तब वे खानिया तत्त्वचर्चाके सम्पादकीयके उपर्युक्त वक्तव्य व जैन तत्त्व-मीमांसा (द्वितीय संस्करण) के आत्मनिवेदन के उपर्युक्त वक्तव्योंको कदापि नहीं लिखते। जैन तत्त्व-मीमांसा (द्वितीय संस्करण) के आत्मनिवेदनके उपर्युक्त वक्तव्योंमें तो पं० फूलचन्द्र जीने बहुत कुछ अनर्गल लिखते हुए यहाँ तक लिख डाला है कि "तत्काल इस विषय पर हम और अधिक टिप्पणी नहीं करना चाहते। आवश्यकता पड़ी तो लिखेंगे।"

उपर्युक्त सभी वक्तव्य देखकर ऐसा लगता है कि पं० फूलचन्द्रजीको इस बातपर उस समय अत्यन्त क्षोभ हो गया था कि अपरपक्षके तृतीय दौरकी सामग्रीपर मात्र एक प्रतिनिधिने हस्ताक्षर किये हैं, शेष चार प्रतिनिधियोंने उसपर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। और इस क्षोभसे उनका चित्त इतना पीड़ित हो गया कि वे अपरपक्षके प्रतिनिधियों द्वारा लिखे गये अधिकारपत्रपर ध्यान नहीं दे सके। उस अधिकारपत्रकी प्रतिलिपि निम्नांकित है :—

अधिकार-पत्र

"हम नीचे लिखे प्रतिनिधि तत्त्वचर्चाके अन्तिम (तृतीय) दौरमें सभी प्रतिशंकाओं व दीगर कागजातपर हस्ताक्षर करनेका अधिकार श्री पं० अजित कुमार जी, दिल्लीको या प्रतिनिधियोंमेंसे जो भी समयपर उपस्थित रहेगा उसे यह अधिकार देते हैं कि वह हस्ताक्षर कर कागजात का आदान-प्रदान करे। इनमेंसे किसीके भी हस्ताक्षर हम लोगोंको मान्य होंगे। कोई भी पत्र व्यवहार निम्नांकित पतोंपर किया जा सकता है।

१. पंडित अजितकुमार शास्त्री, अभय प्रिंटिंग प्रेस, अहाता केदारा, पहाड़ी धीरज, दिल्ली।

२. पंडित वंशीधर जी व्याकरणाचार्य, वीना (सागर) म० प्र०

दिनांक १-११-६३

सही-जीवन्धर जैन, सही-बंशीधर शास्त्री, सही-पन्नालाल जैन, सही-मक्खनलाल शास्त्री, सही-माणिकचंद्र।

इस अधिकार पत्र द्वारा मुझे अधिकार दिया गया है वह मुझे स्वीकार है। सही—अजितकुमार।

सही-बंशीधर जैन (मध्यस्थ) १-११-६३

प्राप्त की—

सही-जगन्मोहनलाल जैन १-११-६३

नोट :—१. इसकी प्रामाणिक एक प्रतिलिपि मैंने प्रतिशंका तीनकी सम्पूर्ण सामग्रीके साथ दि० २८-३-६४ को श्री पं० फूलचन्द्रजी वाराणसीके माँगनेपर उनको रजिस्ट्री द्वारा पुनः भेज दी थी। तथा इसके साथ आवश्यक स्पष्टीकरण भी भेजा था।

२. इसकी प्रामाणिक दूसरी प्रतिलिपि मैंने प्रतिशंका तीनकी सम्पूर्ण सामग्रीके साथ दि० २८-३-६४ को ही पं० वंशीधरजी न्यायालंकार (मध्यस्थ) को भी रजिस्ट्री द्वारा भेज दी थी। तथा इसके साथ भी आवश्यक स्पष्टीकरण भेजा था।

इस तरह अपरपक्षकी ओरसे सभी प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर न होते हुए भी जो तृतीय दौरकी सामग्री पं० फूलचन्द्रजी वाराणसीको व पं० वंशीधरजी न्यायालंकार (मध्यस्थ) को मैंने भेजी थी वह प्रतिनिधियों द्वारा प्रदत्त अधिकार-पत्रके आधारपर ही भेजी गई थी। इसलिये उसके भेजनेमें नियमके उल्लंघनका प्रश्न खड़ा ही नहीं होता। अतः मेरे अतिरिक्त दूसरे चार प्रतिनिधियोंके उसपर हस्ताक्षर न होनेसे पं० फूलचन्द्रजीने जो यह निष्कर्ष निकाला है कि 'तृतीय दौरकी सामग्रीसे अन्य प्रतिनिधि विद्वान् सहमत नहीं होंगे' उसे कल्पित ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि पं० फूलचन्द्रजी यह समझते हैं कि शेष चार प्रतिनिधि अपरपक्षकी तृतीय दौरकी सामग्रीसे संभवतः सहमत नहीं थे। तो उनका इसपर क्षोभ करना या आपत्ति उपस्थित करना व्यर्थ है। इससे तो उन्हें प्रसन्नता ही होनी चाहिए थी, क्योंकि अपरपक्षके चार प्रतिनिधियोंका उनकी समझसे सोनगढ़के अनुकूल हो जाना उनकी महत्त्वपूर्ण सफलता थी। परन्तु यह बात स्थूलबुद्धि व्यक्तिकी समझमें भी आ सकती है कि जो प्रतिनिधि विद्वान् अपरपक्षकी प्रथम और द्वितीय दौरोंकी सामग्रीसे सहमत रहे हैं वे तृतीय दौरकी सामग्रीसे कैसे असहमत माने जा सकते हैं, जब तक कि वे अपने मतपरिवर्तनकी स्पष्ट घोषणा न करें। इतने पर भी यदि पं० फूलचन्द्रजी यह समझते हों या उन्होंने उन विद्वानोंसे यह जानकारी प्राप्त कर ली हो कि वे विद्वान् सोनगढ़ पक्षकी दृष्टिसे प्रभावित हो गये हैं तो इसपर अपरपक्षको लिये कुछ कहना नहीं है। किन्तु इसमें सोनगढ़पक्षको या पं० फूलचंद्रजीको ही सोचना है कि इस तरहके कल्पित या महत्त्वहीन आधारोंपर क्या सोनगढ़का पक्ष वास्तविक सिद्ध हो सकता है? यथार्थमें तो उन महानुभावोंको सोनगढ़का पक्ष वास्तविक सिद्ध करनेके लिए युक्तियों और आगम प्रमाणोंकी ही सहायता लेनी आवश्यक होगी। एवं उन्हें अपनी वृत्तियों और प्रवृत्तियोंका समन्वय भी अध्यात्मके साथ करना होगा।

उन महानुभावोंसे मेरा कहना है कि उनको परस्पर विरोधी निम्न दो घटनाओंके आधारपर अध्यात्मके विषयमें अनेक बार सोचना चाहिए कि एक ओर तो उनके अध्यात्मवादके सूर्यको शारीरिक व्याधि सहन न कर सकनेके कारण बम्बईके जसलोक अस्पतालमें सदाके लिये अस्त होना पड़ा और दूसरी ओर प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद गणेशप्रसादजी वर्णीके पैरमें ललितपुरमें जब भयानक विषैला फोड़ा प्रगट हुआ तो वे उसकी वेदनाको अपने आध्यात्मिक तेजके आधारपर ही शान्तिपूर्वक सहन करते हुए अपनी ज्ञान और ध्यान आदिकी दैनिक चर्यामें सामान्य रूपसे प्रवृत्त रहे। इतना ही नहीं, उस फोड़ेको देखकर लाला राजकृष्णजी, दिल्ली वाले वर्णीजीके पास डॉक्टरको ले आये। जब डॉक्टरने उनसे कहा कि महाराजको आपरेशनके लिये अस्पताल ले चलिये, तब वर्णीजीने दृढ़ताके साथ अस्पताल जानेसे मना कर दिया था। वर्णीजी अस्पताल नहीं गये और डॉक्टरने वहीं क्षेत्रपालमें ही उनका आपरेशन किया था। वर्णीजीने लेटकर आपरेशन कराने तथा क्लोरोफार्म सूंघनेसे भी दृढ़तापूर्वक मना कर दिया था और चर्चा करते हुए बैठे-बैठे ही बड़ी शान्तिसे ऑपरेशन करा लिया था। डॉक्टर वर्णीजीकी इस आध्यात्मिक दृढ़ताको देखकर बहुत प्रभावित हुआ एवं नतमस्तक हो गया था। आध्यात्मिकताको समझनेके लिये ये दो उदाहरण उपयुक्त एवं पर्याप्त हैं।

इन परस्पर विरोधी पूर्व और पश्चिम जैसी दोनों घटनाओंके आधारपर सामान्य जन भी अध्यात्मको स्पष्टतया समझ सकता है। उसके लिये अध्यात्मके समझनेमें तत्त्व-विवेचनाकी भी आवश्यकता नहीं है।

एक बात और है। वह यह कि उपर्युक्त वक्तव्योंमें पं० फूलचन्द्रजीने जो यह लिखा है कि "इस प्रकार तीसरे दौरकी प्रतिशंकासामग्रीके प्राप्त होनेपर हमारे सामने अवश्य ही यह सवाल रहा है कि हम इसे स्वीकार कर उसके आधारपर प्रत्युत्तर तैयार करें या नियमविरुद्ध इस लिखित सामग्रीके प्राप्त होनेसे हम उसे वापिस कर दें।"

मेरा मत है कि पं० फूलचन्द्रजी या समस्त सोनगढ़ पक्ष प्रतिशंका तीनकी उस सामग्रीको नियमविरुद्ध कहकर कदापि वापिस नहीं करते, क्योंकि उसे वापिस करनेके प्रतिकूल परिणामको वे अच्छी तरह समझते थे। अतएव सामग्रीको जो उन्होंने वापिस नहीं किया वह अपरपक्षके प्रति उनकी उदारता या दया नहीं थी, अपितु वह उनकी प्रतिष्ठाका प्रश्न था। उपर्युक्त लिखनेमें उनका उद्देश्य केवल अपरपक्षको अप्रामाणिक और अयोग्य प्रचारित करना था। मैं पं० फूलचन्द्रजी और समस्त सोनगढ़ पक्षकी इस मनोवृत्तिको समझता था, अतः मैंने प्रतिशंका तीनकी सामग्रीके साथ पं० फूलचन्द्रजी और मध्यस्थजी दोनोंको जो विवरण-पत्रकी प्रति भेजी थी उसमें सभी आवश्यक बातें स्पष्ट कर दी गई थीं।

इसके अतिरिक्त उस सामग्रीपर मध्यस्थके हस्ताक्षर न होना कोई महत्त्वपूर्ण त्रुटि नहीं थी, जिसके कारण वह सामग्री सोनगढ़पक्षके लिए विचारके अयोग्य हो जाती। पं० फूलचन्द्रजी और समस्त सोनगढ़ पक्ष इस तथ्यको जानते भी थे। यही कारण है कि उस सामग्रीको वापिस न कर उसपर सोनगढ़ पक्ष द्वारा विचार किया गया।

पं० फूलचन्द्रजीने जयपुर-खानिया तत्त्वचर्चाके सम्पादकीय पृष्ठ ३३ पर उसी जैसे अन्य नियमोंके उल्लंघनके विषयमें लिखा है कि 'सम्मेलनकी कार्यवाही तारीख २१-१०-६३ से १-११-६३ तक चली थी। इन दिनोंमें तत्त्वचर्चाके दो दौर सम्पन्न हो चुके थे। तीसरा दौर होना शेष था। किन्तु सभी विद्वान् अपने-अपने घर जानेके लिये उत्सुक थे। इसलिये तीसरे दौरको सम्पन्न करनेके लिये अलगसे नियम बनाये गये। किन्तु उन नियमोंमेंसे पृष्ठसंख्या और समयकी मर्यादा निश्चित करने वाले नियमोंका दोनों ओरसे समुचित पालन न हो सका। परन्तु इससे तीसरे दौरको सम्पन्न करनेमें कोई बाधा नहीं आयी।'

इससे सहज ही इस निष्कर्षपर पहुँचा जा सकता है कि यतः पृष्ठसंख्या और समयकी मर्यादा निश्चित करनेवाले नियमोंका उल्लंघन सोनगढ़ पक्षने भी किया था, फिर भी उसे तो उन्होंने युक्त बतला दिया, लेकिन मध्यस्थके हस्ताक्षर सम्बन्धी नियमका उल्लंघन यतः केवल अपरपक्षने किया था, अतः उसको ही उन्होंने अयुक्त बतलाया। पं० फूलचन्द्रजी और समस्त सोनगढ़का यह कार्य न्याय और विवेकके अनुसरणका नहीं माना जा सकता है। मैं तो इसे उनका चातुर्य ही कहूँगा कि उन्होंने अपने अनुकूल और अपरपक्षके प्रतिकूल प्रचार करने हेतु संगत-असंगत और सच-झूठ सभी उपायोंका सुन्दर ढंगसे उपयोग किया है! अस्तु।

प्रस्तुत समीक्षा-ग्रन्थ

१. प्रस्तुत ग्रन्थ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षाका प्रथम खण्ड है। इसमें उक्त चर्चाके सभी—१७ प्रश्नोत्तरोंमेंसे केवल आदिके चार प्रश्नोत्तरोंकी समीक्षा की गई है। शेष १३ प्रश्नोत्तरोंकी समीक्षा आगामी खण्डोंमें की जायेगी।

२. इस खण्डमें उक्त चारों प्रश्नोत्तरोंकी समीक्षाके चार-चार प्रकरण निर्धारित किये गये हैं—(१) सामान्य समीक्षा, (२) प्रथम दौरकी समीक्षा, (३) द्वितीय दौरकी समीक्षा और (४) तृतीय दौरकी समीक्षा।

विषय-परिचय

१. अपरपक्ष और सोनगढ़पक्षके मध्य विवादका प्रथम विषय यह था कि जहाँ अपरपक्ष द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणके होनेमें सहायक मानता है वहाँ सोनगढ़पक्षका कहना है कि संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण द्रव्यकर्मके उदयके सहयोगके बिना स्वकीय योग्यताके आधारपर स्वयं (अपने-आप) ही होता है। द्रव्यकर्मका उदय उसमें सर्वथा अकिंचितकर ही बना रहता है। इस विवादको समाप्त करनेके लिये ही अपर पक्षने सोनगढ़पक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया था कि "द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?" परन्तु इस प्रश्नके उत्तरमें सोनगढ़पक्षने जो यह लिखा है कि 'द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।' इस उत्तरसे एक तो अपरपक्षके प्रश्नका समाधान नहीं होता, क्योंकि प्रश्नमें यह नहीं पूछा गया है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध व्यवहारसे है या निश्चयसे ? तथा यह भी नहीं पूछा गया है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृ-कर्म सम्बन्ध है या नहीं ? जबकि इनका समाधान ही इस उत्तरवचनसे हो सकता है और जो यह पूछा गया है कि 'द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?' इसका उससे समाधान नहीं होता। दूसरी बात यह है कि अपरपक्ष भी द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति-भ्रमणमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको निश्चयसे न मानकर व्यवहारसे ही मानता है तथा सोनगढ़पक्षके समान उसमें कर्तृ-कर्म सम्बन्धको अपरपक्ष भी नहीं मानता है और मानता भी है तो सोनगढ़पक्षके समान ही उपचारसे मानता है। इस तरह सोनगढ़पक्षने प्रश्नके विषयकी उपेक्षा करके अप्रकृत और निर्विवाद विषयको ही अपने उत्तर वचनका विषय बनाया है। सो उसका यह प्रयत्न तत्त्वचर्चाकी दृष्टिसे अनुचित है। यद्यपि अपरपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें इन सब बातोंको स्पष्ट किया है परन्तु सोनगढ़पक्षने उसपर ध्यान नहीं दिया है, इसलिये इस समीक्षाग्रन्थमें इन सब बातोंपर पुनः विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

२. अपरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियाके पृथक्-पृथक् दो भेद मान्य करता है—एक है जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवितशरीरकी क्रिया और दूसरा है शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवितशरीरकी क्रिया। इनमेंसे अपरपक्ष भी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित-शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म नहीं मानता है, परन्तु वह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे तो आत्मामें धर्म-अधर्म नियमसे मानता है। सोनगढ़पक्ष जीवित-शरीरकी क्रियाके उपर्युक्त प्रकार पृथक्-पृथक् दो भेद न मानकर शरीरकी क्रियाके रूपमें दोनोंको सम्मिलित कर एक भेद ही स्वीकार करता है और उससे वह आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति नहीं मानता है। इस तरह दोनों पक्षोंके मध्य विवादका दूसरा विषय यह था कि जहाँ अपरपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म मानता है वहाँ सोनगढ़पक्ष एक तो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको शरीरकी क्रियासे पृथक् नहीं मानता है। दूसरे, वह उस क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति नहीं मानता है। फलतः इस विवादको समाप्त करनेकी दृष्टिसे ही अपरपक्षने सोनगढ़पक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया था कि "जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?" परन्तु सोनगढ़पक्षने इस प्रश्नका जो यह उत्तर दिया है कि "जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गलद्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीवतत्वमें अन्तर्भाव होता है, इसलिये वह स्वयं जीवका न तो धर्म भाव है और न अधर्म भाव ही है।"

इस उत्तरसे भी अपरपक्षके प्रश्नका समाधान नहीं होता, क्योंकिउक्त प्रश्नमें यह नहीं पूछा गया है कि जीवित शरीरकी क्रिया आत्माका धर्मभाव है या अधर्मभाव ? जबकि इसका समाधान ही उस उत्तरवचनसे हो सकता है और जो यह पूछा गया है कि जीवितशरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ? इसका उससे समाधान नहीं होता। दूसरी बात यह है कि अपरपक्ष भी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको आत्माका धर्मभाव या अधर्मभाव नहीं मानता है। साथ ही वह जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया रूप जीवितशरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति भी नहीं मानता है। वह तो केवल शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवितशरीरकी क्रियासे ही आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति मानता है। इन सब बातोंको भी अपरपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें स्पष्ट किया है। परन्तु सोनगढ़पक्षने उसपर भी ध्यान नहीं दिया है। अतः इस समीक्षामें इन सब बातोंपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

३. अपरपक्ष और सोनगढ़पक्षके मध्य विवादका तीसरा विषय यह था कि जहाँ अपरपक्ष पुण्यभावरूप जीवदयासे पृथक् निश्चयधर्म और व्यवहारधर्मके रूपमें धर्मरूप जीवदयाको भी मान्य करता है वहाँ सोनगढ़-पक्ष पुण्यभावरूप जीवदयासे पृथक् निश्चयधर्मरूप जीवदयाको मान्य करके भी व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको निश्चित ही नहीं मानता है। अतः इस विवादको समाप्त करनेके लिए ही अपरपक्षने सोनगढ़पक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया था कि जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ? इस प्रश्नका उत्तर सोनगढ़पक्षने यह दिया है कि 'इस प्रश्नमें यदि धर्मपदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नहीं है।' तथा 'यदि इस प्रश्नमें धर्मपदका अर्थ वीतरागपरिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है।' तात्पर्य यह है कि जहाँ अपरपक्षने अपने प्रश्नमें यह बतलाया है कि जिस तरह जीवदया पुण्यभावरूप होती है उसी तरह वह धर्मरूप भी होती है। परन्तु सोनगढ़पक्षने प्रश्नका आशय इस रूपमें ग्रहण किया है, मानो अपरपक्ष पुण्यरूप जीवदयाको ही धर्मरूप जीवदया मानता हो। सो यह सोनगढ़पक्षकी भूल है। इसका स्पष्टीकरण अपरपक्षने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें किया है। परन्तु सोनगढ़पक्षने उसपर ध्यान नहीं दिया। अतः इस समीक्षाग्रन्थमें इसपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

४. अपरपक्ष और सोनगढ़पक्षके मध्य विवादका चौथा विषय यह था कि जहाँ अपरपक्ष व्यवहारधर्मको निश्चयधर्ममें साधक मानता है वहाँ सोनगढ़पक्ष व्यवहारधर्मको निश्चयधर्ममें साधक नहीं मानता। अतः इस विवादको समाप्त करनेकेलिए अपरपक्षने सोनगढ़पक्षके समक्ष यह प्रश्न प्रस्तुत किया था कि "व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?" इसका उत्तर सोनगढ़पक्षने यह दिया है कि "निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है।" यद्यपि अपरपक्षने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें आगमप्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है, परन्तु सोनगढ़पक्षने उसपर ध्यान नहीं दिया है। अतः इस समीक्षामें इसपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

अपरपक्षका सोनगढ़के साथ इसी विषयके अन्तर्गत दूसरा विवाद यह था कि जहाँ अपरपक्ष व्यवहार-धर्मको अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिके रूपमें शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया मानता है वहाँ सोनगढ़पक्ष व्यवहारधर्मको अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिके रूपमें जीवके सहयोगसे होने-वाली शरीरकी क्रिया मानता है। यद्यपि अपरपक्षने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें इसपर भी विचार करते हुए बतलाया है कि व्यवहारधर्म जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया न होकर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी ही क्रिया है। परन्तु सोनगढ़पक्षने इसपर भी ध्यान नहीं दिया है। अतएव इस समीक्षाग्रंथमें उसपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

स्वमतकी पुष्टिमें सोनगढ़पक्षके असम्यक् प्रयत्न

सोनगढ़पक्षके मुख्य प्रतिनिधि पं० फूलचन्द जीने तत्त्वचर्चा होनेसे पूर्व पत्रव्यवहारमें बार-बार तत्त्व-चर्चामें वीतरागभाव अपनानेकी बात लिखी थी तथा तत्त्वचर्चाके अवसरपर खानियामें सोनगढ़पक्षकी प्रेरणासे दिनांक २१-१०-६२ की बैठकमें यह नियम पारित किया गया था कि 'तत्त्वचर्चा वीतरागभावसे होगी'। परन्तु तत्त्वचर्चामें सोनगढ़पक्षकी ओरसे जो भी प्रयत्न किये गये हैं उन्हें सम्यक् नहीं कहा जा सकता। यहाँ इसी बातको स्पष्ट किया जाता है :—

१. सोनगढ़पक्षने प्रश्नोंके उत्तरमें यत्र-तत्र ऐसी तर्क-पद्धतिको अपनाया है जो अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्ष-के विरुद्ध होनेसे तत्त्व-निर्णय करनेमें ग्राह्य नहीं मानी जा सकती हैं। वास्तवमें उस तर्कपद्धतिको अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्षके विरुद्ध होनेसे 'तर्कपद्धति' कहना ही अयुक्त है। उदाहरणार्थ सोनगढ़पक्षने त०च०पृ० ६४पर लिखा है कि "अपरपक्ष कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिकी इच्छा और दर्जीकी इच्छाके आधारपर कोट-कपड़ा कब कोट बन सका, यह निर्णय करके कोटकार्यमें बाह्य सामग्रीके साम्राज्यकी भले ही घोषणा करे। किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अपरक्षके उक्त कथनको उलटकर हम यह भी कह सकते हैं कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिने बाजारसे कोटका कपड़ा खरीदा और बड़ी उत्सुकतापूर्वक वह उसे दर्जीके पास ले भी गया। किन्तु अभी उस कपड़ेका कोटपर्यायरूपसे परिणत होनेका स्वकाल नहीं आया था, इसलिये उसे देखते ही दर्जीकी ऐसी इच्छा हो गई कि अभी हम इसका कोट नहीं बना सकते और जब उस कपड़ेकी कोटपर्याय सन्निहित हो गई तो दर्जी, मशीन आदि भी उसकी उत्पत्तिमें निमित्त हो गये।" इस कथनमें जो यह तर्क उपस्थित किया गया है कि "अभी उस कपड़ेके कोटपर्यायरूपसे परिणत होनेका स्वकाल नहीं आया था, इसलिए उसे देखते ही दर्जीकी ऐसी इच्छा हो गई कि अभी हम इसका कोट नहीं बना सकते और जब उस कपड़ेकी पर्याय सन्निहित हो गई तो दर्जी, मशीन आदि भी उसकी उत्पत्तिमें निमित्त हो गये।" सो यह तर्क प्रत्येक मानवके अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्ष दोनोंके विरुद्ध है, क्योंकि अनुभवमें और देखनेमें यही आता है कि जबतक दर्जी और मशीन आदिका व्यापार कपड़ेकी कोटपर्यायके अनुकूल नहीं होता तबतक उस कपड़ेसे कोटपर्यायका निर्माण नहीं हो सकता है और जब दर्जी और मशीन आदिका व्यापार उसके अनुकूल होने लगता है तो वह कपड़ा भी कोट पर्यायका रूप धारण कर लेता है। मैं इस बातको भी बार-बार स्पष्ट कर चुका हूँ कि जिसे सोनगढ़पक्ष स्वकाल कहता है वह कपड़ेमें दर्जी और मशीनके व्यापार करने पर ही प्रगट होता है। उक्त तर्ककी अयुक्तताको इस समीक्षामें पृ० १३८ पर विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।

२. सोनगढ़पक्षने अपरपक्षके प्रश्नोंके जो उत्तर दिये हैं उनकी उन प्रश्नोंके साथ सोनगढ़पक्षने संगति बिठलानेका भी ध्यान नहीं रखा है। उदाहरणार्थ—कहा जा सकता है कि सोनगढ़पक्षने प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रश्नोंके जो उत्तर दिये हैं उनकी संगति उन प्रश्नोंके साथ नहीं बैठती है। इस बातको 'विषय-परिचय' प्रकरणमें ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

३. सोनगढ़पक्षने तत्त्वचर्चामें जानते हुए भी यत्र-तत्र अपरपक्षके अभिप्रायके प्रतिकूल विकल्प उठाकर उनके खण्डन करनेका प्रयत्न किया है, जो असम्यक् है। उदाहरणार्थं त०च० पृ० ३२ पर सोनगढ़-पक्षने लिखा है कि "अपरपक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिका २३,७ का 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस वचनको उद्धृत कर जो विकारको दोका कार्य बतलाया है सो यहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है ? वह दो द्रव्यों-की मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको

त्रिकालमें नहीं कर सकते ।' यह कथन अपरपक्षके अभिप्रायके प्रतिकूल होनेसे अनावश्यक है । इसका स्पष्टीकरण मैंने इसी समीक्षाग्रन्थमें पृ० ३३ पर विस्तारसे किया है । इसी तरह सोनगढ़पक्षने तत्त्वचर्चाके पृ० ३२ पर भी लिखा है कि "इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमें ही हम यह बतला आये हैं कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्त मात्र है । विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमणका मुख्यकर्त्ता तो स्वयं आत्मा ही है ।" सो सोनगढ़पक्षका यह लिखना भी शक्तिका दुरुपयोग है, क्योंकि अपरपक्षने कहीं पर भी यह नहीं लिखा है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणका मुख्य कर्ता है । यह प्रश्नोत्तर एकके सामान्यसमीक्षा-प्रकरणमें किये गये सोनगढ़पक्ष और अपरपक्षके मतैक्य और मतभेदके स्पष्टीकरणसे समझा जा सकता है ।

४. सोनगढ़पक्षने सर्वत्र अधिकतर निरर्थक वितण्डावादका आश्रय लिया है । यह भी प्रत्येक प्रश्नोत्तरकी समीक्षासे समझा जा सकता है ।

५. सोनगढ़पक्षने तत्त्वचर्चामें अनेक स्थलोंपर निःसंकोच छलवृत्तिको भी अपनाया है । उदाहरणार्थ—उसने त०च० पृ० ७४-७५ पर लिखा है कि "यहाँ अपरपक्षने 'स्वयं' पदके 'अपने आप' अर्थका विरोध दिखलानेके लिये जो प्रमाण दिये हैं उनके विषयमें तो हमें विशेष कुछ कहना नहीं है । किन्तु यहाँ हम इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि एक तो प्रस्तुत प्रश्नके प्रथम व दूसरे उत्तरमें हमने 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'अपने आप' न करके 'स्वयं ही' किया है । इस पदका 'अपने आप' यह अर्थ अपरपक्षने हमारे कथनके रूपमें प्रस्तुत प्रश्नकी दूसरी प्रतिशंकामें मानकर टीका करनी प्रारंभ कर दी है जो युक्त नहीं है । हमने इसका विरोध इसलिये नहीं किया कि निश्चयकर्त्ताके अर्थमें 'स्वयमेव' पदका यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं । ऐसी अवस्थामें 'अपने आप' पदका अर्थ होगा 'परकी सहायता बिना आप कर्त्ता होकर' । आशय इतना ही है कि जिसकी क्रिया अपनेमें हो कार्य अपनेमें हो वह दूसरेकी सहायता लिये विना अपने कार्यका आप ही कर्त्ता होता है अन्य पदार्थ नहीं ।" यहाँ सोनगढ़पक्ष द्वारा अपनाई गई छलवृत्तिका मैंने इस समीक्षाके पृ० १८६-१८७ पर विस्तारसे प्रकाशन किया है ।

६. सोनगढ़पक्षने तत्त्वचर्चामें आगमप्रमाणोंका निर्भयताके साथ अनर्थ किया है, यह बात भी तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके स्वाध्यायसे अवगत हो जायगी ।

ये सब तथ्य ऐसे हैं जिनसे सोनगढ़पक्षके स्वमत-समर्थनमें किये गये प्रयत्न स्पष्टतया असम्यक् सिद्ध होते हैं ।

ग्रन्थ-मुद्रणमें कुछ भूलें

१. खानिया तत्त्वचर्चा पृ० १५ पंक्ति ४ में "आगे-पीछे करनेका" इस वाक्यांशके स्थानपर "आगे-पीछे न करनेका" यह मुद्रित हो गया है । इसका मुद्रण पाद-टिप्पणीके रूपमें होना था । यह हमारी अनवधानताके कारण हुआ है ।

२. खानिया तत्त्वचर्चा पृ० १९ पंक्ति ८ में भी "जो परिणमन होता है" इस वाक्यांशके स्थान पर "जो परिणमित होता है" यह मुद्रित हो गया है । यह भी हमारी अनवधानताके कारण हुआ है । इसका भी मुद्रण पाद-टिप्पणीके रूपमें होना था ।

३. खानिया तत्त्वचर्चा पृ० १९ पर हीपाद-टिप्पणीके रूपमें 'पूर्व पक्षके पत्रकमें लाल स्याहीसे चिह्नित वाक्यांश निम्न प्रकार है'—यह वाक्य मुद्रित हो गया है जो मुद्रित नहीं होना था । वह भी हमारी अनवधानताके कारण हुआ है ।

श्रद्धांजलि, सद्भावना और शुभकामना

१. खानिया तत्त्वचर्चाके प्रथम और द्वितीय दौर खानियामें संघ सहित विराजमान श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराजके तत्त्वावधानमें सम्पन्न हुए थे। उनका अब स्वर्गारोहण हो गया। उनके प्रति मैं भक्ति और विनयपूर्वक हार्दिक श्रद्धांजलि सर्मापित करता हूँ।

२. तत्त्वचर्चाको व्यवस्थित रूप देनेके लिए दोनों पक्षोंकी सम्मतिसे श्री पं० वंशीधर न्यायालंकारको मध्यस्थ निर्वाचित किया गया था। वे भी हमारे बीच नहीं हैं। तथा तत्त्वचर्चामें अपरपक्षके निर्वाचित प्रतिनिधि सर्वश्री पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य, पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार और पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ भी स्वर्गस्थ हो चुके हैं। इन सब महाविद्वानोंके प्रति मैं हार्दिक सद्भावना प्रगट करता हूँ।

३. तत्त्वचर्चाके आयोजनमें तन, मन और धनकी पूर्ण शक्ति लगानेवाले ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई भी स्वर्गस्थ हो चुके हैं, उनके प्रति भी मेरी हार्दिक सद्भावना है।

४. सि० र० ब्र० पं० रतनचन्द्रजी मुख्तार सहारनपुरका भी स्वर्गवास हो चुका है। मुख्तार सा० महान् आगमज्ञानी थे और अपरपक्षके तो वे प्राण ही थे। तत्त्वचर्चामें अपरपक्षकी सामग्री तैयार करनेमें उन्होंने बेजोड़ श्रम किया था। तत्त्वचर्चाकी समीक्षाका यह प्रथम भाग उन्हें सर्मापित करके मैं उनके प्रति हार्दिक सद्भावनाके साथ अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

५. सोनगढ़के सन्त श्री कानजी स्वामीका भी स्वर्गवास हो चुका है। वे सोनगढ़ विचारधाराके संस्थापक और आधारस्तम्भ थे। मैं उनके प्रति भी हार्दिक सद्भावना प्रगट करता हूँ।

६. तत्त्वचर्चामें सक्रिय भाग लेनेवाले सर्वश्री पं० राजेन्द्रकुमारजी मथुरा और पं० अजितकुमारजी शास्त्री दिल्ली तथा दिल्लीमें प्रतिशंका तीनकी तैयारीमें सहयोगी श्री पं० दयाचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री सागर भी हमारे बीच नहीं हैं। इन सबके प्रति भी मैं हार्दिक सद्भावना प्रगट करता हूँ।

७. तत्त्वचर्चाके अवसरपर खानियामें अपरपक्षकी ओरसे उपस्थित सर्वश्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार दिल्ली, पं० इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुर और पं० परमानन्दजी शास्त्री दिल्ली उपस्थित थे। इनका भी स्वर्गवास हो गया। इन सबके प्रति भी मेरी हार्दिक सद्भावना है।

८. मैं तत्त्वचर्चामें अपरपक्षके अन्यतम प्रतिनिधि श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य और तत्त्वचर्चामें सक्रिय भाग लेने वाले बाबू नेमिचन्दजी वकील सहारनपुरके दीर्घ जीवनकी शुभकामना करता हूँ।

९. मैं सोनगढ़पक्षके प्रतिनिधि सर्वश्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी, पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी और पं० नेमिचन्द्रजी पाटनी आगराके भी दीर्घ जीवनकी हार्दिक शुभकामना करता हूँ। ये हो तत्त्वचर्चाकी आधारभूमि थे। यदि ये तत्त्वचर्चामें सम्मिलित न होते तो तत्त्वचर्चाका आधार ही कोई नहीं रहता।

१०. तत्त्वचर्चाके आयोजक और व्यवस्थापक श्री ब्र० लाडमलजी जयपुरका तत्त्वचर्चामें योगदान अत्यन्त सराहनीय रहा। मैं उनके भी दीर्घ जीवनकी हार्दिक शुभकामना करता हूँ।

११. श्री पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी भी तत्त्वचर्चाके अवसरपर तटस्थभावसे खानिया में उपस्थित थे तथा उभयपक्षके अनेक विद्वान् और श्रीमान् तत्त्वचर्चाके अवसरपर सम्मिलित हुए थे। इन सबके दीर्घ जीवनकी भी मैं हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूँ।

कृतज्ञता-प्रकाशन

१. श्री डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया वाराणसी मेरे भ्रातृज हैं। उन्होंने इस ग्रन्थके सम्पादनमें अपनी विद्वत्ताका प्रभावपूर्ण परिचय दिया है तथा सम्पादन संलग्नता और श्रमपूर्वक किया है। उनकी इस कर्त्तव्यनिष्ठाके प्रति मेरे हृदयमें अत्यन्त आदरभाव है।

२. मेरे भ्रातृज पं० दुलीचन्द्र बीना और सेठ रवीन्द्रकुमार जैन, सुदर्शन प्रेस, बीनाने शुद्धिपत्र तैयार करनेमें अपना कार्य छोड़कर सहायता की है। इनका यह सेवाभाव स्मरणीय है।

धन्यवाद-वचन

सुन्दर मुद्रणके लिए मैं महावीर प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसीके स्वामी श्री बाबूलालजी फागुल्ल व उनके समस्त परिकरको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

खेद प्रकाश

मैं ऊपर स्पष्ट कर चुका हूँ कि सोनगढ़पक्षने अपरपक्षके मतखण्डनमें और स्वमतपुष्टिमें अनेक असम्यक् प्रयत्न किये हैं। मिथ्या तर्कपद्धतिको अपनाना, जानते हुए भी अनावश्यक विकल्प उपस्थित कर उनका खण्डन करना, प्रश्नोंके अनुसार उत्तर न देकर अपरपक्षपर असत्य आरोप स्वयं कल्पित करना और फिर उनका खण्डन करना, वितण्डावाद और छलवृत्तिका आश्रय लेना एवं आगमप्रमाणोंका अनर्थ करके आगमका अवर्णवाद करना आदि उनके उदाहरण हैं। फलतः समीक्षा करते समय तत्तत्सन्दर्भमें प्रकृत समीक्षाग्रन्थमें कुछ कठोर शब्दोंका भी प्रयोग करना पड़ा है, इसका हार्दिक खेद है।

अन्तिम वक्तव्य

खानिया तत्त्वचर्चाकी समीक्षाका प्रकाशन दीर्घ समयके पश्चात् हो रहा है। समयके दीर्घ होनेमें एक हेतु यह है कि खानिया तत्त्वचर्चाकी समीक्षा लिखनेसे पूर्व मैं सोनगढ़ विचारधाराके विषयमें अधिकाधिक गम्भीरतासे विचार कर लेना चाहता था। इस दृष्टिसे मैंने खानिया तत्त्वचर्चाके पूर्व पं० फूलचंद्रजीकी "जैन तत्त्वमीमांसा" पर "जैन तत्त्वमीमांसाकी मीमांसा" पुस्तक लिखी और पश्चात् "जैन दर्शनमें कार्य-कारण-भाव और कारकव्यवस्था" ग्रन्थ लिखा। ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः सन् १९७२ व १९७३ में प्रकाशित हुए। इसके अनन्तर "जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थ लिखा। इसका प्रकाशन सन् १९७८ में हुआ। इन तीनोंका खानिया तत्त्वचर्चाकी समीक्षा लिखनेमें अत्यधिक सम्बन्ध है। दूसरा हेतु यह है कि "जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थकी रचनाके मध्य मैं अस्वस्थ हो गया और आगे "खानिया तत्त्वचर्चा" के लेखनके समय मेरी अस्वस्थता बढ़ती ही गई, जिसके कारण मेरा शारीरिक दौर्बल्य भी काफी हो गया। इसी मध्य आँखोंमें मोतियाबिन्द हो जानेके कारण पढ़ने-लिखनेमें सर्वथा असमर्थ हो गया। बादको एक आँखका ऑपरेशन कराना पड़ा। दूसरी आँखका ऑपरेशन कराना है।

इन प्रत्यवायोंके कारण प्रकृत ग्रन्थ यद्यपि अधिक दीर्घकालके पश्चात् प्रकाशित हो रहा है। फिर भी मुझे इसके प्रकाशित होनेका अत्यन्त हर्ष है, क्योंकि आज भी इसका महत्त्व कम नहीं हुआ है और तब तक कम नहीं होगा जब तक सोनगढ़की एकान्त विचारधाराका सद्भाव रहेगा। इसके अतिरिक्त इसमें जैन संस्कृतिके सैद्धान्तिक पहलूको समझनेके लिए विस्तृत सामग्री समविष्ट है। मैंने इसका स्वाध्याय करनेवालों-की सुविधाके लिए आरंभमें समीक्षाके पूर्व खानिया तत्त्वचर्चाको भी दे दिया है।

अब मैं दूसरे नेत्रके मोतियाबिन्दुका आपरेशन करानेके पश्चात् खानिया तत्त्वचर्चा-समीक्षाके दूसरे आदि शेष भागोंको लिखनेकी सोच रहा हूँ। मेरी हार्दिक भावना है कि जब तक जीवन है और सोचने तथा लिखनेकी शक्ति है तबतक मैं इसी कार्यमें संलग्न रहूँ।

इस ग्रन्थको अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष (लोकव्यवहार), तर्क और आगमप्रमाणोंके आधारपर जितना व्यवस्थित बना सकता था, बनानेका प्रयत्न किया है। तथापि मेरी अल्पज्ञताके कारण इसमें त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है। अतएव निष्पक्ष विद्वानोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे सिद्धान्तकी सुरक्षाकी दृष्टिसे उन त्रुटियोंकी जानकारी मुझे दें, ताकि मैं उन्हें परिष्कृत कर सकूँ। त्रुटियोंके परिष्कारसे मुझे अत्यन्त हर्ष होगा। इसके साथ ही मेरा दृढ़ विश्वास है कि सोनगढ़मतसे जैन संस्कृतिका सैद्धान्तिक पक्ष विकृत हुआ है, जिसका दूषित प्रभाव दि० जैन संस्कृतिके आचारपक्षपर भी पड़ा है। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें जैन संघका प्रथम विघटन हुआ था तथा उसके पश्चात् आगे भी विघटनकी प्रक्रिया चालू रही तथापि जैन-संस्कृतिके सैद्धान्तिक पक्षको सभीने सुरक्षित रखा। परन्तु सोनगढ़ने अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (लोक-व्यवहार), तर्क और आगमप्रमाणोंकी उपेक्षा करके उसका महत्त्व नष्ट करनेका प्रयत्न किया है। इसलिये विद्वानोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे व्यक्तिगत स्वार्थको त्याग कर जैन संस्कृतिके सैद्धान्तिक पक्षको उजागर करनेमें अपनी विद्वत्ताका उपयोग करें। पाठकोंसे निवेदन है कि वे शुद्धिपत्रको देखकर ही इस ग्रंथका स्वाध्याय करें। तथा अनवधानताके कारण बहुत-सी अशुद्धियोंका शुद्धीकरण न हो सका हो, यह भी सम्भव है। अतः उनकी सूचना मुझे देनेकी कृपा करें।

दिनांक २०-२-८२ —वंशीधर शास्त्री

सम्पादकीय

जैन शासनमें वस्तु-व्यवस्था या पदार्थज्ञानके लिए दो साधन स्वीकार किये गये हैं[1]। एक है प्रमाण और दूसरा है नय। प्रमाणके दो भेद हैं—१. परोक्ष और २. प्रत्यक्ष। इन्द्रियों और मनकी सहायतासे जो अविशद (धुँधला-अस्पष्ट) ज्ञान होता है वह परोक्ष है[2] तथा इन्द्रियों और मनकी सहायताके बिना मात्र आत्माकी अपेक्षासे जो विशद (स्पष्ट) ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष[3] है। आगममें ज्ञानमार्गणाके अन्तर्गत आठ ज्ञानोंका कथन किया गया है। इन आठ ज्ञानोंमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा विपरीत मति, विपरीत श्रुत और विभङ्गावधि ये तोन ज्ञान मिथ्याज्ञान प्रतिपादित किये गये हैं। पाँचों सम्यग्ज्ञानोंको प्रमाण[4] और तीनों मिथ्याज्ञानोंको प्रमाणाभास[5] भी कहा गया है।

आचार्योंने इन सभीका विस्तारपूर्वक अपने मूलग्रन्थों तथा टीकाग्रन्थोंके द्वारा निरूपण किया है।

ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त पाँच ज्ञानोंमें श्रुतको छोड़कर अन्य चार (मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल) ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। अर्थात् ज्ञाता इन चार ज्ञानोंसे ज्ञेयको स्वयं जानता है, दूसरोंको उनसे ज्ञेयका बोध नहीं करा सकता। किन्तु श्रुत प्रमाणकी विशेषता है कि वह स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकारका है। स्वार्थ श्रुत ज्ञानात्मक है और परार्थ श्रुत वचनात्मक है। उन्हींके भेद नय हैं। ज्ञाननय स्वार्थ श्रुतके तथा वचननय परार्थ श्रुतके भेद हैं[6]।

प्रमाण वस्तु (जीवादि पदार्थों) को अखण्ड (समग्र—धर्म-धर्मीके भेदसे रहित) विषय करता है और नय वस्तु (जीवादि) को खण्ड (धर्म-धर्मीके भेद) रूपमें ग्रहण करता है। इसीसे सकलादेशको प्रमाण और विकलादेशको नय कहा गया है[7]। धर्मीको विषय करने वाला द्रव्यार्थिक तथा धर्म (पर्याय, गुण, स्वभाव) को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक है। वस्तुको खण्डित करके ग्रहण करनेके कारण द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके रूपमें नयोंका निरूपण किया गया है। प्रमाण और नयमें यही भेद है। जहाँ उल्लिखित मति आदि चारों ज्ञान मात्र स्वार्थ प्रतिपत्तिके साधन होनेसे प्रमाण हैं वहाँ श्रुत स्वार्थ तथा परार्थ दोनों प्रतिपत्तियोंका साधन होनेसे प्रमाण और नय दोनों है। यह ज्ञेयमीमांसाकी दृष्टिसे दार्शनिक निरूपण है।

हेयोपादेयमीमांसाकी दृष्टिसे उक्त नयोंसे भिन्न निश्चय और व्यवहार इन दो नयोंका भी विवेचन किया गया है, जिसे आध्यात्मिक निरूपण कहा गया है। अध्यात्मका अर्थ है वस्तुका निजी (असंयोगी) रूप। इस असंयोगी रूपको जो नय जनाता या बतलाता है वह निश्चयनय है और जो वस्तुके संयोगी रूपको प्रदर्शित करता है वह व्यवहारनय है। आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकमें जीवादि सभी द्रव्योंमें इन दोनों नयोंका उपयोग किया है। इन नयोंके विवेचनका लक्ष्य वस्तुको परखने और जाननेका है। निश्चयनय जहाँ स्वरूपस्पर्शी है वहाँ व्यवहारनय संयोगस्पर्शी है। ये दोनों ही नय यथार्थ हैं—अपने-अपने विषय (असंयोगी और संयोगी रूप) को सही रूपमें ग्रहण करनेसे सम्यक् नय हैं। इनमें निश्चयको सम्यक् और व्यवहारको मिथ्या मानना या कहना अनेकान्तदृष्टि नहीं है, जो जैन तत्त्वज्ञानका प्राण है। आचार्य समन्तभद्रने निरपेक्षताको मिथ्या और सापेक्षताको सम्यक् बतलाया है। निश्चयनयका ही उपदेश और व्यवहारनयका अनुपदेश अनेकान्तदर्शनमें नहीं है। उसमें दोनों नयोंका उपदेश है। वास्तवमें अनेकान्त और उसके प्रतिपादक स्या-

---

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः'—त. सू. १-६। २. वही, १-९, १०, १२। ३. वही, १-१२।
४. वही, १-९। ५. वही, १-३१।
६. स० सि० १-६। ७. वही, १-६।

द्वाददर्शनमें परस्पर सापेक्ष ही निश्चय और व्यवहार दोनोंको मान्य किया गया है—किसी एककी भी उपेक्षा उसमें नहीं है। इसी तथ्यको व्यक्त करनेवाली निम्न गाथा है, जो पूर्वाचार्योक्त प्राचीनतम है और जिसे आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा १२ की व्याख्यामें उद्धृत किया है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

'जिनमतकी यदि प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारको छोड़ देने पर तीर्थका और निश्चयको त्याग देनेपर तत्त्व—वस्तुस्वरूपका उच्छेद हो जायगा'।

आचार्य अमृतचन्द्रने इतना ही नहीं कहा, किन्तु इसी गाथाके कलश ४ में समग्र जिनवचनको उभय नयके विरोधको दूर करने वाले 'स्यात्' पदसे युक्त भी कहा है और तभी उन वचनोंसे कल्याण बतलाया है। यही जिनशासन है।

पर इधर ३०-४० वर्षोंसे सोनगढ़से व्यवहारोपदेशनिरपेक्ष निश्चयनयकी विचार-धारा प्रवाहित हुई है। इस विचार-धाराका प्रभाव कुछ विद्वानों और अनेक जन-सामान्य पर पड़ा है और वे जिन-वाणीकी अनेकान्तपद्धतिका त्याग करने लगे हैं। भले ही उनके जीवनमें वह सुखद अध्यात्म न भी आया हो, किन्तु व्यवहारका पलायन अवश्य ही हुआ। इसके अनेक उदाहरण हैं। कविवर पं० बनारसीदास आरम्भमें बड़े अय्याश थे। एक उपन्यास भी लिखा। किन्तु बादको जब वे सम्हले और आगराके अध्यात्मियोंके सम्पर्कमें आये तो अध्यात्मी बन गये तथा व्यवहारको छोड़ दिया। जब उन्हें अपना वह अध्यात्म भी एकान्त मालूम पड़ा, क्योंकि उसमें व्यवहार न था, तब उन्होंने जीवनशुद्धिके हेतु दोनों नयोंको अपनाकर स्याद्वाद-पद्धति स्वीकार कर ली। फलतः उन्होंने जैनी नीतिको, जो सहजगम्य नहीं है, समझा और अपनी रचनाओं द्वारा उसीका प्रचार-प्रसार किया।

इसमें सन्देह नहीं कि जिस अध्यात्मके इने-गिने ज्ञाता थे, श्रीकानजी स्वामीने उसके अनेकों ज्ञाता पैदा कर दिये और अनेकोंकी सर्वथा व्यवहारपरक रुचि एवं प्रवृत्तिको अध्यात्मकी ओर मोड़ दिया। इसके लिए समाजको श्रीकानजी स्वामीका आभार मानना चाहिए।

किन्तु उनसे सबसे बड़ी भूल यह हुई कि उन्होंने अध्यात्मका एकाङ्गी उपदेश दिया व प्रचार किया। व्यवहारका कथन भी उसके साथ होना आवश्यक था। बिना तप, त्याग और साधनाके सही अर्थमें अध्यात्म-की उपलब्धि नहीं हो सकती। यही कारण है कि वे मृत्युके अन्तमें वेदनाको नहीं सह सके। सुकमाल, सुकौ-शल आदिके सैंकड़ों उदाहरण हैं, जिन्हें वेदनाने विचलित नहीं किया। समयसारी होना बुरा नहीं है, बहुत अच्छा है। मुमुक्षुका लक्ष्य तो वही है। किन्तु व्यवहारमें उसे उतारना चाहिए। उनकी भूलका परिणाम यह हुआ कि जिसे देखो उसीके हाथमें समयसार है और उसीका वह प्रवचन करता है। भले ही वह द्रव्यसंग्रह भी न पढ़ा हो, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, मूलाचार आदि सिद्धान्तग्रन्थोंकी बात तो दूर है।

ऐसी स्थितिमें उसके विरुद्ध आवाज उठना स्वाभाविक है। बनारसीदासने भूल की। उसका परि-मार्जन भी स्वयं कर लिया। नियमसार-टीकाके कर्ता पद्मप्रभमलधारिने उसकी ५३ वीं गाथाका अर्थ करनेमें भूल की। किन्तु वे उसका परिमार्जन नहीं कर सके। उनकी भूलको श्रीकानजी स्वामी भी नहीं जान पाये और टीकाके अनुसार उन्होंने प्रवचन प्रस्तुत किये। सोनगढ़से प्रकाशित नियमसारकी टीकाका हिन्दी अनुवाद भी अनुवादकने वैसा ही भूलभरा किया। सोनगढ़ और अब जयपुरसे प्रकाशित आत्मधर्ममें दिये स्वामीजीके उन 'मूल गाथा और टीका दोनों' पर किये प्रवचनको भी उसी भूलके साथ प्रकट किया है। सम्पादक डॉ० हुकमचन्द्र भारिल्लने भी उसका संशोधन नहीं किया।

यहाँ हम उसे स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं। नियमसारकी वह गाथा और टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेवकी उसकी टीका निम्न प्रकार है—

सम्मत्तस्य णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

'अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति। ये मुमुक्षवः तेप्युपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अन्तरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशात् इति।'—टीका पृ० १०९, सोनगढ़-संस्करण।

गाथा और उसकी इस टीकाका हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जैनने इस प्रकार किया है—'सम्यक्त्वका निमित्त, जिनसूत्र है। जिनसूत्रके जाननेवाले पुरुषोंको (सम्यक्त्वके) अन्तरंगहेतु कहे हैं। क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक हैं।' (गाथार्थ)। 'इस सम्यक्त्व परिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञके मुखकमलसे निकला हुआ समस्त वस्तुके प्रतिपादनमें समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी उपचारसे पदार्थनिर्णयके हेतुपनेके कारण (सम्यक्त्व परिणाम) के अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयादिक हैं।'

ऐसा ही प्रवचन स्वामीजीने भी गाथा और टीकाका किया है। उनका यह प्रवचन (सम्भवतः जून १९८१ के) आत्मधर्ममें प्रकाशित किया गया है।

किन्तु उक्त गाथाकी टीकाकार द्वारा की गयी टीका, उनका हिन्दी अनुवाद और प्रवचन न मूलकार आचार्य कुन्दकुन्दके आशयानुसार हैं और न सिद्धान्तके अनुकूल है।

यथार्थमें इस गाथामें आचार्य कुन्दकुन्दने सम्यग्दर्शनके बाह्य और अन्तरंग दो कारणोंका निर्देश किया है और कहा है कि सम्यग्दर्शनका बाह्य निमित्त जिनसूत्र और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीयकर्मके क्षय, क्षयोपशम और उपशम हैं। यही सिद्धान्त भी है। आचार्य पूज्यपादने 'निर्देशस्वामित्वसाधन' आदि सूत्रकी व्याख्यामें सम्यग्दर्शनके बाह्य और अभ्यन्तर दो साधनोंको बतलाते हुए बाह्य साधन जिनबिम्बदर्शनादिको तथा अभ्यन्तर साधन दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयादिकको प्रतिपादित किया है। जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुष जिनसूत्रकी तरह एकदम पर (भिन्न) हैं वे अन्तरंग कारण कदापि नहीं हो सकते। उन्हें अन्तरंग कारण कहना ही गलत है। दर्शनमोहनीयकर्मके क्षय, क्षयोपशम और उपशमको सम्यक्त्वका अन्तरंग कारण मानना संगत है, क्योंकि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें उनका साक्षात् सम्बन्ध है।

कुन्दकुन्द भारतीके संकलयिता एवं सम्पादक पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने भी नियमसारकी उक्त गाथाका वही अर्थ किया है, जो हमने ऊपर प्रदर्शित किया है। उन्होंने लिखा है कि 'सम्यक्त्वका बाह्य निमित्त जिनसूत्र-जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय आदि कहा गया है।' इसका भावार्थ भी उन्होंने दिया है। उसमें लिखा है कि 'निमित्त कारणके दो भेद हैं—एक बहिरंग निमित्त और दूसरा अन्तरंग निमित्त। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका बहिरंग निमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति एवं अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशमका होना है। बहिरंग निमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु अन्तरंग निमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि नियमसे होती है।'

इस कथनसे इतना ही अभिप्रेत है कि पद्मप्रभमलधारिदेवने उल्लिखित गाथाके अर्थमें जो महान्

भूल की उसीकी पुनरावृत्ति सोनगढ़ने की। पता नहीं, इसकी परम्परा कबतक चलेगी। वस्तुतः यह सिद्धान्त विरुद्ध और खतरनाक है।

पद्मप्रभमलधारिदेवकी तरह स्वामीजीने जान-अनजानमें एकाङ्गी अध्यात्मके उपदेश एवं प्रचारकी महान् भूल की है। उसका परिमार्जन हो सकेगा, यह कठिन दिखाई देता है। किन्तु उसका परिमार्जन यथा-शीघ्र आवश्यक एवं अनिवार्य है। इस परम्पराको रोकने अथवा उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेका प्रयत्न होना ही चाहिए।

जयपुर (खानिया) में इसी उद्देश्यसे आचार्य शिवसागरजीके सान्निध्यमें एक विद्वत्संगोष्ठी अक्तूबर १९६३ में आयोजित की गयी थी। यह संगोष्ठी लगभग ११ दिन तक चली थी, संगोष्ठीमें कई प्रश्नोंपर विचार हुआ। सोनगढ़पक्ष और इतरपक्षके रूपमें यह संगोष्ठी आरम्भ हुई। सोनगढ़पक्षके प्रमुख प्रतिनिधि पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी और इतर पक्षके प्रमुख प्रतिनिधि पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य थे। इस संगोष्ठीसे आशा थी कि तत्त्वचर्चा वीतरागकथाके रूपमें होगी, जिससे तत्त्व-निर्णय हो सके। किन्तु गोष्ठीका रूप विजिगीषुकथाके रूपमें परिणत हो गया, जैसाकि सोनगढ़ पक्षकी ओरसे प्रकाशित 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा' के दो भागोंके अध्ययनसे अवगत होता है। अन्यथा तत्त्वचर्चाका प्रकाशन, सम्पादन और उसका धुँआधार प्रचार-प्रसार सोनगढ़पक्षकी ओरसे न होता! दोनों पक्षोंकी ओरसे ही होता या किसी तटस्थ प्रकाशन-संस्थासे होता। इसके अतिरिक्त प्रश्नोंके उत्तर घुमा-फिराकर न देकर आगमानुसार दिये जाने चाहिए थे। यह सब विजिगीषुकथामें होता है, वीतरागकथामें नहीं। तत्त्वनिर्णयके लिए की जाने वाली विशिष्ट विद्वानोंकी तत्त्वचर्चा ही वीतरागकथा है। जिस कथामें जय-पराजयकी भावना जागृत रहे और उसके लिए वैसे प्रयत्न भी किये जायें तो वह कथा (चर्चा) वीतरागकथा नहीं है, विजिगीषुकथा है और विजिगीषुकथामें तत्त्व-निर्णय नहीं हो पाता।

हमें खेद है कि जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाने समाजकी उत्सुकतापूर्ण तत्त्व-जिज्ञासाको शान्त नहीं किया।

अतएव सिद्धान्ताचार्य पण्डित वंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री व्याकरणाचार्य, बीना (म० प्र०) ने उक्त तत्त्वचर्चाके प्रश्नोत्तरोंकी समीक्षा करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी समझा और उसीके फलस्वरूप उन्होंने प्रारम्भिक चार प्रश्नोत्तरोंकी समीक्षा इस प्रथम खण्डमें प्रस्तुत की है। व्याकरणाचार्यजीके चिन्तनकी यह विशेषता है कि वे हर विषयपर गम्भीरतासे विचार करते हैं और जल्दबाजीमें वे नहीं लिखते। फलतः उनके चिन्तनमें जहाँ गहराई रहती है वहाँ मौलिकता एवं समतुला भी दृष्टिगोचर होती है। यह सब भी जैनागम, जैन दर्शन और जैन न्याय शास्त्रके समवेत प्रकाशमें उन्होंने किया है। इस दृष्टिसे उनका यह समीक्षा-ग्रन्थ निश्चय ही तत्त्व-निर्णयपरक एवं महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि मैं पूज्य व्याकरणाचार्यजीका भ्रातृज हूँ और उनकी प्रतिभा एवं चिन्तन-दृष्टिके समक्ष नगण्य हूँ। किन्तु उनके आदेशको टाल न सका। उसे शिरोधार्य करके उनके इस ग्रन्थका सम्पादक बना। अन्तिम प्रूफ मैंने स्वयं देखा, फिर भी अशुद्धियाँ रह गयीं। इसके लिए मैं पाठकों तथा उनसे क्षमा याचना करता हूँ।

१५-४-१९८२,
चमेली-कुटीर,
१/१२८, डुमरांव कॉलोनी, अस्सी,
वाराणसी—५ (उ० प्र०)

—दरबारीलाल कोठिया
सेवानिवृत्त रीडर, जैन बौद्ध दर्शन
का० हि० वि० वि०

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी विषय-सूची

१. शंका-समाधान १–७५

मंगलाचरण १

प्रथम दौर १-२

शंका १ और उसका समाधान १–२

द्वितीय दौर ३-१०

प्रतिशंका २ ३–६

प्रतिशंका २ का समाधान ६–१०

तृतीय दौर १०-७५

प्रतिशंका ३ १०–३१

प्रतिशंका ३ का समाधान ३२–७५

१. अध्यात्ममें रागादिको पौद्गलिक बतलानेका कारण ३८

२. समयसार गाथा ६८ की टीकाका आशय ४१

३. कर्मोदय जीवकी अन्तरंग योग्यताका सूचक है, जीव भावका कर्ता नहीं ४२

४. प्रस्तुत प्रतिशंकामें उल्लिखित अन्य उद्धरणोंका स्पष्टीकरण ४३

५. सम्यक् नियतिका स्वरूप निर्देश ४५

६. प्रसंगसे प्रकृतोपयोगी नयोंका खुलासा ४९

७. कर्ता-कर्म आदिका विचार ५०

२. शंका-समाधान ७६–९२

प्रथम दौर ७६

शंका २ और उसका समाधान ७६

द्वितीय दौर ७७-८०

प्रतिशंका २ ७७–७८

प्रतिशंका २ का समाधान ७८–८०

तृतीय दौर ८०–९२

प्रतिशंका ३ ८०-८४

प्रतिशंका ३ का समाधान ८५–९२

१. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार ८५

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार ८५

३. शंका-समाधान ९३–१२८

प्रथम दौर ९३

शंका ३ और उसका समाधार ९३

द्वितीय दौर ९४–१००

प्रतिशंका २ ९४–९८

प्रतिशंका २ का समाधान ९८–१००

तृतीय दौर १०१–१२८

प्रतिशंका ३ १०१–११०

प्रतिशंका ३ का समाधान ११०–१२८

१. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार ११०

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार १११

४. शंका-समाधान १२९–१५७

प्रथम दौर १२९

शंका ४ और उसका समाधान १२९

द्वितीय दौर १३०–१३३

प्रतिशंका २ १३०–१३२

प्रतिशंका २ का समाधान १३२–१३३

तृतीय दौर १३३–१५७

प्रतिशंका ३ १३३–१४०

१. प्रश्न चारका परिशिष्ट १४२

प्रतिशंका ३ का समाधान १४४–१५७

१. उपसंहार १४४

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विवेचन १४४

३. प्रश्न चारके परिशिष्टका ऊहापोह १५७

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षाकी विषय-सूची

विषय — पृष्ठांक

प्रश्नोत्तर १ की समीक्षा १-८९

मंगलाचरण १

१. प्रश्नोत्तर १ की सामान्य समीक्षा १-९

प्रश्नोत्तर १ के आवश्यक अंशोंके उद्धारण १-२

इन उद्धरणोंको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन २-३

उत्तर प्रश्नसे बाहर है ३

उत्तर अप्रासंगिक है ३

उत्तर अनावश्यक है ४

मतैक्यके विषय ४

मतभेदके विषय ४-५

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर दो विचारणीय बातें ५-६

समीक्षा लिखनेमें हेतु ६-७

उत्तरपक्ष द्वारा अपने उत्तरमें विपरीत परिस्थितियोंका निर्माण ७

उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर उलटा आरोप ७-९

२. प्रश्नोत्तर १ के प्रथम दौरकी समीक्षा ९-११

समयसार गाथा ८१ के अर्थमें उत्तरपक्षकी भूल ९

प्रश्नके उत्तरमें उक्त गाथाओंकी अनुपयोगिता ९

उक्त गाथाएँ उत्तरपक्षकी मान्यताके विपरीत हैं १०

प्रश्नके उत्तरमें अन्य प्रमाण भी अनुपयोगी हैं १०

उक्त प्रमाण भी उत्तरपक्षकी मान्यता के विपरीत प्रयोजन सिद्ध करते हैं १०-११

३. प्रश्नोत्तर १ के द्वितीय दौरकी समीक्षा ११-३२

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति ११-१२

उत्तरपक्ष द्वारा पूर्वपक्षके विषयका पांच भागोंमें विभाजन १२

प्रथम भागकी समीक्षा १२-२९

१. उत्तरपक्षका कथन १२

२. समीक्षा १२-१३

३. दोनों निमित्तोंके लक्षणोंका निर्धारण १३-१४

४. उत्तरपक्ष द्वारा सम्मत दोनों निमित्तोंके लक्षण सम्यक् नहीं हैं १४-१५

५. पूर्वपक्ष द्वारा अभिहित दोनों निमित्तोंके लक्षण सम्यक् हैं १५

६. उक्तलक्षणोंके सम्यक्पने और असम्यक्पनेकी आगम द्वारा पुष्टि १५-१८

७. प्रकृत विषयका उपसंहार १८-१९

८. उत्तरपक्षका संभावित भय और उसका निराकरण १९-२०

९. निमित्तोंका कार्यमें प्रवेश संभव क्यों नहीं ? २०

१०. निमित्तोंका कार्यमें प्रवेश अनावश्यक क्यों ? २०-२१

११. कर्त्ताका लक्षण २१-२२

१२. यहाँ योग्यतासे वस्तुकी नित्य उपादान शक्ति ही अभिप्रेत है २२-२३

१३. कार्योत्पत्तिके विषयमें उत्तरपक्षका एक अन्य दृष्टिकोण और उसका निराकरण २३-२७

१४. उत्तरपक्षके दृष्टिकोणका अन्य प्रकारसे निराकरण २७-२९

द्वितीय भागकी समीक्षा २९-३०

तृतीय भागकी समीक्षा ३०-३१

चतुर्थ भागकी समीक्षा ३१

पंचम भागकी समीक्षा ३१-३२

४-प्रश्नोत्तर १ के तृतीय दौरकी समीक्षा ३२-१८९

तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति ३२

तृतीय दौरमें उत्तरपक्षकी स्थिति ३२-३३

विषय	पृ०
उत्तरपक्षकी उस स्थितिकी समीक्षा	३३–३४
उत्तरपक्षका द्रव्यकर्मोदयको प्रकृत कार्यके प्रति निमित्त मानना छल पूर्ण है	३४
उत्तर प्रश्नके आशयके विपरीत	३४–३५
निमित्तको अकिंचित्कर सिद्ध करनेका प्रयत्न अयुक्त	३५–३६
क्या जयधवलाका वचन बाह्य कारणका निषेधक है ?	३६–३७
उक्त विवादपर सूक्ष्म विमर्श और सिद्धान्तका निर्णय	३७–३८
उत्तरपक्षके विरोधी वक्तव्योंपर विचार	३८–४०
उत्तरपक्षका अनुपयोगी वक्तव्य	४०
उत्तरपक्षका एक अन्य वक्तव्य और उसपर विमर्श	४०–४१
प्रकृतमें पूर्वपक्ष द्वारा उद्धृत 'सदकारणवन्नित्यम्' वचनका प्रयोजन	४१–४२
संख्या १ से ९९ तकके कथन और उनकी समीक्षा	४२–१८९
विषयका उपसंहार	१८९
प्रश्नोत्तर २ की समीक्षा	**१९०–२३६**
१. प्रश्नोत्तर २ की सामान्य समीक्षा	**१९०–१९३**
पूर्वपक्षके प्रश्नका उद्धरण	१९०
उत्तरपक्षके उत्तरका उद्धरण	१९०
प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षका अभिप्राय	१९०
जीवित शरीरकी क्रियासे पूर्वपक्षका आशय	१९०
उत्तरपक्षके उत्तरपर विमर्श	१९०
उत्तरपक्षके समक्ष एक विचारणीय प्रश्न	१९०-१९१
प्रकृत विषयके सम्बन्धमें कतिपय आधारभूत सिद्धान्त	१९१-१९२
२. प्रश्नोत्तर २के प्रथम दौरकी समीक्षा	**१९३-१९५**
उत्तर प्रश्नके आशयके प्रतिकूल	१९३
प्रकृत विषयमें उत्तरपक्षकी आगमसे विपरीत मान्यताएँ	१९३-१९४
उत्तर प्रश्नकी सीमासे बाह्य होनेसे अनावश्यक और उसकी पुष्टिका प्रयास भी अनावश्यक	१९४
उत्तरपक्षका एक अन्य कथन और उसकी समीक्षा	१९४-१९५
३. प्रश्नोत्तर २ के द्वितीय दौरकी समीक्षा	**१९६-२०४**
द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति	१९६
द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षके विविध कथन और उनकी समीक्षा	१९६-२०४
४. प्रश्नोत्तर २ के तृतीय दौरकी समीक्षा	**२०५-२३६**
तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति	२०५
तृतीय दौरमें उत्तरपक्षका प्रारम्भिक कथन और उसकी समीक्षा	२०५
तृतीय दौरमें प्रतिशंका ३ के आधारसे प्रकट उत्तरपक्षके बिचारोंकी समीक्षा	२०५-२३६
१. कथन १ और उसकी समीक्षा	२०६-२११
२ कथन २ और उसकी समीक्षा	२११-२१२
३. कथन ३ और उसकी समीक्षा	२१२-२१५
४. कथन ४ और उसकी समीक्षा	२१५
५. कथन ५ और उसकी समीक्षा	२१५-२१६
६. कथन ६ और उसकी समीक्षा	२१६-२१७
७. कथन ७ और उसकी समीक्षा	२१७-२२०
८. कथन ८ और उसकी समीक्षा	२२०-२२१
९. कथन ९ और उसकी समीक्षा	२२१-२२३
१०. कथन १० और उसकी समीक्षा	२२३-२२४
११. कथन ११ और उसकी समीक्षा	२२४-२२५
१२. कथन १२ और उसकी समीक्षा	२२५-२२६
१३. कथन १३ और उसकी समीक्षा	२२६-२३२
१४. कथन १४ और उसकी समीक्षा	२३३
१५. कथन १५ और उसकी समीक्षा	२३४
१६. कथन १६ और उसकी समीक्षा	२३४-२३५
१७. कथन १७ और उसकी समीक्षा	२३५-२३६
प्रश्नोत्तर ३ की समीक्षा	**२३६-२७२**
१. प्रश्नोत्तर ३ की सामान्य समीक्षा	**२३६-२४९**
पूर्वपक्षके प्रश्नका उद्धरण	२३६

उत्तरपक्षके उत्तरका उद्धरण　२३६
जीवदयाके प्रकार　२३६-२३७
पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण　२३७
निश्चयधर्मरूप दयाका विशेष स्पष्टीकरण　२३७-२३९
व्यवहारधर्मरूप दयाका विशेष स्पष्टीकरण　२३९
'जीवकी भाववती और क्रियावती शक्तियोंके सामान्य परिणमनोंका विवेचन　२३९-२४०
जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका विवेचन　२४०-२४१
जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदयारूप परिणमनोंका विवेचन　२४१
व्यवहारधर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य　२४१-२४२
आचार्य वीरसेनके वचनमें 'सुह-सुद्ध-परिणामेहिं' पदका ग्राह्य अर्थ　२४२-२४५
प्रकृतमें कर्मोके आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरणकी प्रक्रिया　२४५-२४७
उपर्युक्त विवेचनका फलितार्थ　२४७-२४९

२. प्रश्नोत्तर ३ के प्रथम दौरकी समीक्षा २४९-२५०

प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षकी दृष्टि　२४९
उत्तरपक्षका उत्तर विसंगत भी है, अर्थसम्मत भी है और अनुचित भी है　२४९-२५०

३. प्रश्नोत्तर ३ के द्वितीय दौरकी समीक्षा २५०-२५५

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति　२५०-२५१
द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षका प्रारम्भिक कथन और उसकी समीक्षा　२५१-२५२
प्रकृतमें उत्तरपक्ष द्वारा प्रस्तुत आगमवचनोंपर विचार　२५२-२५५

४. प्रश्नोत्तर ३ के तृतीय दौरकी समीक्षा २५५-२७२

तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति　२५५-२५६
तृतीय दौरमें उत्तरपक्षका प्रारम्भिक कथन और उसकी समीक्षा　२५६-२६०
तृतीत दौरमें निर्दिष्ट उत्तरपक्षके आगेके कथनोंकी समीक्षा　२६०-२७२

प्रश्नोत्तर ४ की समीक्षा २७२-३०९

१. प्रश्नोत्तर ४ की सामान्य समीक्षा २७२-२७८

पूर्वपक्षके प्रश्नका उद्धरण　२७२
उत्तरपक्षके उत्तरका उद्धरण　२७२
धर्मका लक्षण　२७२-२७३
आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण　२७३
निश्चयधर्मकी व्याख्या　२७४
व्यवहारधर्मकी व्याख्या　२७४-२७५
प्रासंगिक स्पष्टीकरण　२७५-२७६
कतिपय ज्ञातव्य विशेषताएँ　२७६-२७७
जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्म पूर्वक होती है　२७७
जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है　२७८

२. प्रश्नोत्तर ४ के प्रथम दौरकी समीक्षा २७८-२८२

प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षकी दृष्टि　२७८
उत्तरपक्षके उत्तरकी समीक्षा　२७८-२८२

३ प्रश्नोत्तर ४ के द्वितीय दौरकी समीक्षा २८३-२८७

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति　२८३
द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षकी स्थिति और उसकी समीक्षा　२८३-२८७

४. प्रश्नोत्तर ४ के तृतीय दौरकी समीक्षा २८७-३०९

तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति　२८७
तृतीय दौरमें उत्तरपक्षकी स्थिति और उसकी समीक्षा　२८७-२९९
निष्कर्ष　२९९-३०३
जैन शासनमें नयव्यवस्थाका आधार　३०३-३०६
नयव्यवस्थाको मान्य करना अनिवार्य है　३०६
वस्तुविज्ञानकी दृष्टिसे नयव्यवस्थाका रूप　३०७
लोकजीवनमें नयव्यवस्थाका रूप　३०७
आध्यात्मिक जीवनमें नयव्यवस्थाका रूप　३०७-३०८
आगमद्वारा व्यवहारनयकी उपयोगिताकी पुष्टि　३०८-३०९
मोक्षमार्गमें व्यवहारधर्मका महत्त्व　३०९

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा
और उसकी समीक्षा

... दि. जैन (शोध) संस्थान
4542
3-8-99
(का. दि. वि. सं.) वाराणसी

श्री वीतरागाय नमः

प्रथम दौर

: १ :

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १

द्रव्य कर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

समाधान

द्रव्य कर्मोंके उदय और संसारी आत्माके विकार भाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। भगवान् कुन्दकुन्द इसी विषयको स्पष्ट करते हुए समय-प्राभृतमें लिखते हैं—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

अर्थ—पुद्गल जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूप परिणमित होते हैं तथा जीव भी पुद्गल कर्मके निमित्तसे परिणमन करता है। जीव कर्ममें विशेषताको (पर्यायको) उत्पन्न नहीं करता। उसी प्रकार कर्म जीवमें विशेषताको (पर्यायको) उत्पन्न नहीं करता, परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो। इस कारणसे आत्मा अपने ही भावसे कर्ता है परन्तु पुद्गल कर्मके द्वारा किये गये समस्त भावोंका कर्ता नहीं है ॥८०-८२॥

दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहार नयसे है इसका स्पष्टीकरण पञ्चास्तिकायकी गाथा ८९ की श्रीमत् अमृताचन्द्राचार्यकृत टीकासे हो जाता है। टीका इस प्रकार है—

……………तत एकेषामपि गति-स्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किन्तु व्यवहारव्यवस्थापितौ उदासीनौ।

इस कारण एकके ही गति और स्थिति देखनेमें आती है, इसलिए अनुमान होता है कि वे गति-स्थितिके मुख्य हेतु नहीं हैं। किन्तु व्यवहारनय द्वारा स्थापित उदासीन हेतु हैं।

इस प्रकार परमागमके इस उद्धरणसे यह फलित होता है कि दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं।

दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्ता-कर्मसंबंध क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचनसारमें कहा है—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥२-७७॥१६९॥

अर्थ—कर्मत्वके योग्य स्कन्ध जीवकी परिणतिको प्राप्त करके कर्मभावको प्राप्त होते हैं, जीव उनको परिणमाता नहीं है।। २-७७।१६९ ॥

इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य उक्त गाथाकी टीकामें लिखते हैं—

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाहजीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥१६९॥

अर्थ—कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाले पुद्गलस्कंध तुल्यक्षेत्रावगाहसे युक्त जीवके परिणाममात्रका—जो कि बहिरंग साधन है उसका—आश्रय लेकर जीव उनको परिणमानेवाला नहीं होने पर भी स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डोंके कर्मपनेका कर्त्ता आत्मा नहीं है ॥ १६९ ॥

इसीप्रकार इस उल्लेखसे यह भी फलित होता है कि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड जीवके भावोंका कर्ता नहीं है।

इसप्रकार दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, फिर भी आगममें जहाँ भी दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्ता-कर्मसंबंध कहा है सो वह वहाँपर उपचारमात्रसे कहा है।

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥ (समयसार)

अर्थ—जीव निमित्तभूत होनेपर कर्मबन्धका परिणाम होता हुआ देखकर जीवने कर्म किया यह उपचारमात्रसे कहा जाता है ॥ १०५ ॥

इसकी टीकामें इसी विषयको स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः ॥१०५॥

अर्थ—इस लोकमें वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मका निमित्तभूत न होने पर भी अनादि अज्ञानके कारण उसके निमित्तभूत अज्ञान भावरूप परिणमन करनेसे पुद्गल कर्मका निमित्तरूप होनेपर पुद्गल कर्मकी उत्पत्ति होती है, इसलिए आत्माने कर्मको किया ऐसा विकल्प उन जीवोंके होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघनसे भ्रष्ट होकर विकल्पपरायण हो रहे हैं। परन्तु आत्माने कर्मको किया यह उपचार ही है, परमार्थ नहीं ॥ १०५ ॥

द्वितीय दौर

: २ :

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥

शंका १

द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नका उत्तर जो आपने यह दिया है कि 'व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है' सो यह उत्तर हमारे प्रश्नका नहीं है, क्योंकि हमने द्रव्यकर्म और आत्माका निमित्त-नैमित्तिक तथा कर्तृ-कर्मसम्बन्ध नहीं पूछा है।

इस विषयमें आपने जो समयसारकी गाथा ८०, ८१, ८२ का प्रमाण दिया है वह प्रमाण आपके उत्तरके विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि इन गाथाओंका स्पष्ट अर्थ यह है कि—

'पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमन जीवके भावोंके निमित्तसे होता है और जीवके भावोंका परिणमन पुद्गल कर्मके निमित्तसे होता है।' ऐसा ही अर्थ आपने भी किया है। किन्तु ८१वीं गाथाका अर्थ करते हुए आपने जो उसमें विशेषता (पर्याय) शब्दका प्रयोग किया है वह मूल गाथासे विपरीत है, क्योंकि विशेषता (पर्याय) परिणामको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। इसके सिवाय आपने इन गाथाओंका जो निष्कर्ष निकाला है वह भी बाधित है। साथ ही इस सम्बन्धमें जो कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निषेध किया है वह भ्रम उत्पादक है, क्योंकि हमारा प्रश्न निमित्त-कर्त्ताके उद्देश्यसे ही है उपादान कर्ताके उद्देश्यसे नहीं है। जैसा कि पञ्चास्तिकायकी ८८वीं गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट रूपसे ध्वजाके फहरानेमें वायुकी हेतुकर्तृता बतलाई है।

यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते।

इसी टीकामें—

यथा गतिपूर्वस्थितिपरिणतस्तुरङ्गो अश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते।

वाक्य द्वारा घुड़सवारके रुकनेमें रुके हुए घोड़ेको हेतुकर्ता माना है।

पञ्चास्तिकायकी निम्नलिखित ५५ और ५८वीं गाथाओंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि कर्म प्रकृतियाँ जीवके नर-नारकादि पर्यायरूप भावोंके सत्का नाश और असत्का उत्पाद करती हैं।

णेरइय-तिरिय-मणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ॥५५॥
कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं दु कम्मकदं ॥५८॥

प्रवचनसारकी निम्नलिखित गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने जीवकी मनुष्य आदि पर्यायोंका कर्मको कर्ता माना है—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

इसकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने भी इसकी पुष्टि की है। समयसारकी निम्नलिखित गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने निमित्तकर्त्ता स्वीकृत किया है। यथा—

अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ ।

द्रव्यसंग्रहमें लिखा है—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी निम्नलिखित गाथामें लिखा है कि पुद्‌गलमें ऐसी शक्ति है कि वह आत्माके केवलज्ञानका विनाश कर देती है—

कावि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥

देवागमकी—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

कारिका सम्बन्धी अष्टशतीमें श्री अकलङ्कदेवने लिखा है कि—

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः ।

इसकी व्याख्यामें श्री विद्यानन्द स्वामीने अष्टसहस्रीमें अज्ञान, मोह आदि दोष तथा ज्ञानावरण, मोहनीय आदि पौद्‌गलिक कर्मोमें परस्पर कार्य-कारणभाव विस्तारसे बतलाया है।

समयसारकी गाथा १३ की टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है—

तत्र विकार्य-विकारकोभयं पुण्यं तथा पापं, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्य-संवारकोभयं संवरः·········स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः । तदुभयं च जीवाजीवाविति ।

श्री अमृतचन्द्र सूरिने समयसारकलश १७४ में आत्माके रागादि विकारभाव केवल आत्मामात्र (उपादान) में नहीं होता। उसके लिए पर (कर्म) सम्बन्ध आवश्यक कारण बतलाया है।

न जातु रागादिविकारभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

समयसारकी निम्नलिखित गाथामें व्यवहारसे जीवको द्रव्यकर्मोका कर्ता बतलाया है—

ववहारस्स दु आदा पुद्‌गलकम्मं करेदि णेयविहं ॥८४॥

श्री विद्यानन्द स्वामीने कर्मका लक्षण करते हुए आप्तपरीक्षाके पृष्ठ २४६ पर लिखा है—

जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि ।

अर्थात् जो आत्माको परतन्त्र करते हैं वे कर्म हैं।

समयसारकी निम्नलिखित गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने पौद्गलिक कर्मका फल आत्माको दुःख होना बतलाया है—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुद्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ६ पर लिखा है—

तं आवरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं।

अर्थात् आत्माके ज्ञानगुणका जो आवरण करता है वह ज्ञानावरण कर्म है।

धवला पुस्तक ५ पृष्ठ १८५ तथा २२३ तथा पुस्तक १६ पृष्ठ ५१२ पर रागादि विभावभावोंको कर्मजनित कहा है—

तत्थ ओघभवो णाम अट्ठकम्माणि अट्ठकम्मजणिदजीवपरिणामो वा।

इनके अतिरिक्त समस्त धवल, जयधवल, महाधवल, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें आत्मा तथा द्रव्यकर्मोंका परस्पर विकार्य-विकारभाव स्पष्ट बतलाया है।

इसके आगे आपने जो पञ्चास्तिकायकी गाथा ८९ का उद्धरण दिया है, वह भी हमारे प्रश्नसे संगत नहीं है, क्योंकि यह उद्धरण उदासीन निमित्त कारणसे सम्बन्धित है। साथ ही स्वयं अमृतचन्द्र सूरिने उसी पञ्चास्तिकायकी ८७ और ९४ वीं गाथाकी टीकामें उदासीनको भी अनिवार्य निमित्तकारण बतलाया है।

गाथा ८७ की टीका—

तत्र जीव-पुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेतां तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थितिपरिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत ?

अर्थ—वहाँ जीव और पुद्गल स्वभावसे ही गति और स्थिति परिणामको प्राप्त हैं। सो उनके इस परिणमनको स्वयं अनुभव करते हुए यदि धर्म और अधर्म द्रव्य बहिरङ्ग कारण न हों तो उनका यह परिणमन निरर्गल—निर्बाध हो जायगा और इस दशामें उनका सद्भाव अलोकमें भी कौन रोक सकेगा ?

गाथा ९४ की टीका—

यदि गतिस्थित्योराकाशमेव निमित्तमिष्येत् तदा तस्य सर्वत्र सद्भावाज्जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योर्निःसीमत्वात्प्रतिक्षणमलोको हीयते।

अर्थ—यदि आकाश ही गति और स्थितिका कारण माना जाय तो उसका सर्वत्र सद्भाव होनेसे जीव और पुद्गलकी गति तथा स्थिति सीमा रहित हो जायगी अर्थात् वह अलोकमें भी होने लगेगी और ऐसा होनेसे अलोकका परिमाण प्रति समय कम होता जायगा।

सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र २२ में काल द्रव्यकी अनिवार्य उदासीन कारणता बतलाई है—

धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितः कालः।

अर्थ—धर्मादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायकी उत्पत्तिके प्रति यद्यपि स्वयं ही प्रवृत्ति करते हैं तथापि बाह्य सहायकके बिना उनकी वह प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उन्हें प्रवर्तनेवाला काल द्रव्य है।

आपने जो प्रवचनसारकी गाथा १६९ तथा उसकी भी अमृतचन्द्र सूरिकृत टीकाका उद्धरण दिया है उसमें स्वयं शब्दका अर्थ '**स्वयमेव**' (अपने आप) न होकर 'अपने रूप' है। इसके अतिरिक्त उनसे जो यह फलितार्थ निकाला है कि दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है उसका आशय केवल उपादान कारणकी दृष्टिसे है, निमित्तकारणकी दृष्टिसे नहीं।

समयसारकी गाथा १०५ में जो उपचार शब्द आया है वह इस अर्थका द्योतक है कि पुद्गलका कर्म रूप परिणमन पुद्गलमें ही होता है, जीव रूप नहीं होता। किन्तु जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर होता है अर्थात् जीव पुद्गल कर्मोंका उपादान कर्ता नहीं, निमित्त कर्ता है।

आशा है आप हमारे मूल प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करेंगे।

■

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १

द्रव्य कर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारी भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं?

प्रतिशंका २ का—समाधान

प्रतिशंका नं० २ में शंकारूपमें उपस्थित किये गये विषयोंका वर्गीकरण—

(१) पंचास्ति० गा० ८८ तथा ५५-५८; प्र० सार० गा० ११७; स० सार गा० १०० की टीका, द्रव्य सं० गा० ८, स्वा० कार्तिके० गा० २११; दे० स्तो० श्लो० ४; स० सार गा० १३ टीका; स० सार कलश १७५; स० सार गा० ८४; आप्तप० पृ० २४६; स० सार गा० ४५, धवला पु० ६ पृ० ६; और धवला पु० ५ पृ० १८५-२२३ तथा पुस्तक १६ पृष्ठ ५१२; इस प्रकार विविध ग्रन्थोंके लगभग १७ प्रमाणोंके आधारसे निमित्तमें हेतुकर्तृता सिद्ध करते हुए संसारी जीव और कर्मोदयमें जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसे गौण दिखानेका प्रयत्न किया गया है।

(२) पंचास्ति० गा० ८९ का उद्धरण किसी भी प्रकारके निमित्तिको व्यवहार हेतु बतानेके लिए उद्धृत किया गया है, पर उसे प्रकृतमें असंगत बतलाया गया है।

(३) पंचास्ति० गा० ८७-९४ तथा सर्वा० सि०, अ० ५ सू० २२ के उद्धरणों द्वारा उदासीन निमित्तोंकी कार्यके प्रति अनिवार्य निमित्तता सिद्ध की गई है।

(४) प्र० सार गा० १६९ में स्वयमेव पदका अर्थ प्रतिशंकामें अपने आपका निषेधकर 'अपने रूप' किया गया है।

(५) स० सार, गा० १०५ में आये हुए उपचार शब्दके अर्थको बदलनेका प्रयत्न किया गया है।

समाधान इस प्रकार है—

(१) प्रतिशंका १ में विविध प्रमाण देकर जो संसारी जीव और कर्मोदयमें हेतुकर्तृता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है सो ऐसा करनेमें क्या उद्देश्य रहा है यह समझमें नहीं आया। यदि हेतुकर्तृता सिद्ध करते हुए निमित्तोंमें उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ऐसा भेद करनेका अभिप्राय रहा हो तो वह इष्ट हैं, क्योंकि पंचास्तिकाय गाथा ८८ में यह भेद स्पष्ट शब्दोंमें दिखलाया गया है। परन्तु वहाँ ऐसे भेदको दिखलाते हुए भी उक्त वचनके आधारसे यदि यह सिद्ध करनेका अभिप्राय हो कि प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यमें कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो यह सिद्ध करना संगत न होगा, क्योंकि 'हेतुकर्तृ' पदका व्यपदेश निमित्तमात्रमें देखा जाता है ऐसा आगम प्रमाण है। सर्वार्थसिद्धिमें कहा भी है—

यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्यो अधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति ? नैष दोषः, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता।

अर्थ—शंका—यदि ऐसा है तो कालको क्रियावत्त्व प्राप्त होता है। यथा—शिष्य पढ़ता है, अध्यापक पढ़ाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्तृ व्यपदेश देखा गया है। यथा—कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। इस प्रकार कालकी हेतुकर्तृता है।

यह आगमवचन है। इससे यह ज्ञात तो होता है कि निमित्तकारण दो प्रकारके हैं—एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होते हैं और दूसरे वे जो चाहे क्रियावान् द्रव्य हों और चाहे अक्रियावान् द्रव्य हों; परन्तु जो क्रियाके माध्यमसे निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्योंके समान अन्य द्रव्योंके कार्यमें निमित्त होते हैं। आचार्य पूज्यपाद सब निमित्तोंको समान मानते हैं इस सिद्धान्तकी पुष्टि उनके द्वारा रचित इष्टोपदेशके इस वचनसे भी होती है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—अज्ञ विज्ञपनेको प्राप्त नहीं होता और विज्ञ अज्ञपनेको प्राप्त नहीं होता। किन्तु अन्य द्रव्य अपनी विवक्षित पर्यायके द्वारा उस प्रकार निमित्त है जिस प्रकार धर्मास्तिकाय गतिका निमित्त है ॥३५॥

इसका स्पष्टीकरण करते हुए इसी श्लोककी टीकामें लिखा है—

भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्—

स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतोऽज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशमुपायसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्—

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात्।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह—अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्, तत्र योग्यताया एव साधकत्वात् ।

कस्याः को यथा—इत्यत्राह—गतेरित्यादि । अयमर्थो यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका । तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्तुमशक्यत्वात् । धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यात् । एवं प्रकृतेऽपि । अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या ।

हे भद्र ! अज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके लिए अयोग्य अभव्य आदि विज्ञपनेको अर्थात् तत्त्वज्ञपनेको धर्माचार्य आदिके हजारों उपदेशोंसे भी नहीं प्राप्त होता । कहा भी है—

कार्यकी उत्पत्तिमें स्वाभाविक क्रिया गुण अपेक्षित हैं, क्योंकि सैकड़ों व्यापार करनेपर भी बक तोतेके समान नहीं पढ़ाया जा सकता ।

उसी प्रकार विज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञानरूपसे परिणत हुआ जीव अज्ञपनेको अर्थात् तत्त्वज्ञानसे भ्रंशको हजारों उपायोंके द्वारा भी नहीं प्राप्त होता । उसी प्रकार कहा है—

भयसे भागते हुए समस्त लोकपर वज्रके गिरनेपर भी मोक्षमार्गमें उपशमको प्राप्त हुए जीव योगसे चलायमान नहीं होते । तो फिर बोधरूपी प्रदीपसे जिनका मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव शेष परीषहोंसे चलायमान कैसे हो सकते हैं ।

किस योग्यताका कौन निमित्त है । यथा—इसलिए यहाँ कहा है—गतेरित्यादि ।

जिस प्रकार एक साथ होनेवाली गति परिणामके सम्मुख हुए पदार्थोंकी अपनी गति शक्ति ही गतिकी साक्षात् जनिका है । उसके विरुद्ध योग्यताके होनेपर उसे कोई भी करनेमें समर्थ नहीं है । धर्मास्तिकाय द्रव्य तो गतिका उपग्राहक द्रव्य विशेष होकर उस (योग्यता) का सहकारी कारणमात्र है । इसीप्रकार प्रकृतमें भी जानना चाहिये । इसलिए व्यवहारसे ही गुरु आदिकी शुश्रूषा जाननी चाहिए ।

इस प्रकार इष्टोपदेशके उक्त आगम वचन और उसकी टीकासे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निमित्त कारणोंमें पूर्वोक्त प्रकारसे दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है । कार्यका साक्षात् उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं ।

यह ठीक है कि प्रश्न १ का उत्तर देते हुए समयसारकी ८० से ८२ तककी जिन तीन गाथाओंका उद्धरण देकर निमित्त-नैमित्तिकभाव दिखलाया गया है वहाँ कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निर्देश मात्र इसलिए किया गया है ताकि कोई ऐसे भ्रममें न पड़ जाय कि यदि आगममें निमित्तमें कर्तृपनेका व्यवहारसे व्यपदेश किया गया है तो वह यथार्थमें कर्ता बनकर कार्यको उत्पन्न करता होगा । वस्तुतः जैनागममें कर्ता तो उपादानको ही स्वीकार किया है और यही कारण है कि जिनागममें कर्ताका लक्षण 'जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है' यह किया गया है । समयसार कलशमें कहा भी है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

जो परिणमन करता है वह कर्ता है, जो परिणाम होता है वह कर्म है और जो परिणति होती है वह क्रिया है । वास्तवमें ये तीनों अलग नहीं हैं ।

अतएव निमित्तकर्ताको व्यवहार (उपचार) से ही कर्ता मानना युक्ति-संगत है, क्योंकि एक द्रव्यका कर्तृधर्म दूसरे द्रव्यमें नहीं उपलब्ध होता। मात्र कार्यमें कौन द्रव्य उस समय निमित्त हेतु है यह दिखलानेके लिए ही कर्ता आदि रूपसे निमित्तका उपचारसे उल्लेख किया जाता है। स्पष्ट है कि प्रथम प्रश्नका जो उत्तर दिया गया है वह यथार्थ है।

(२) पञ्चास्तिकाय गाथा ८९ में निःसन्देहरूपसे उदासीन निमित्तकी व्यवहारहेतुता सिद्ध की गई है। पर इतने मात्रसे क्रियाके द्वारा निमित्त होनेवाले निमित्तोंको व्यवहार हेतु माननेमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि अभी पूर्वमें इष्टोपदेश टीकाका जो उद्धरण दे आये हैं उसमें स्पष्टरूपसे ऐसे निमित्तोंको व्यवहार हेतु बतलाकर इस दृष्टिसे दोनोंमें समानता सिद्ध की गई है।

(३) ऐसा नियत है कि प्रत्येक द्रव्यके किसी भी कार्यका पृथक् उपादान कारणके समान उसके स्वतन्त्र एक या एकसे अधिक निमित्त कारण भी होते हैं। इसीका नाम कारक-साकल्य है। और इसीलिए जिनागममें सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि उभय निमित्तसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। श्री समन्तभद्र स्वामीने इसे द्रव्यगत स्वभाव इसी अभिप्रायसे कहा है। वे लिखते हैं—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानां॥—स्वयंभू-स्तोत्र॥६०॥

कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है, यह द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा अर्थात् ऐसा स्वीकार नहीं करनेपर पुरुषोंकी मोक्ष-विधि नहीं बन सकती। यही कारण है कि ऋषि स्वरूप आप बुधजनोंके द्वारा वन्दनीय हैं।

यह तो है कि कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है, क्योंकि ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है कि जब निश्चय उपादान अपना कार्य करता है तब अन्य द्रव्य पर्यायद्वारा उसका व्यवहार हेतु होता है। पर नियम यह है कि प्रत्येक समयमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार होती है। तभी जीवोंकी मोक्षविधि भी बन सकती है। जैसा कि भावलिंगके होनेपर द्रव्यलिंग होता है इस नियमसे भी सिद्ध होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंगके प्राप्त होनेके पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है पर उस द्वारा भावलिंगकी प्राप्ति द्रव्यलिंगको स्वीकार करते समय ही हो जाती हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है। तीर्थंकरादि किसी महान् पुरुषको दोनोंकी एक साथ प्राप्ति होती हो यह बात अलग है, इसलिए प्रत्येक कार्यमें निमित्त अनिवार्य है ऐसा मानना यद्यपि आगमविरुद्ध नहीं है, पर इस परसे यदि कोई यह फलितार्थ निकालना चाहे कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है आगम-संगत नहीं है। उपचारसे ऐसा कथन करना अन्य बात है और उसे यथार्थ मानना अन्य बात है।

(४) प्रवचनसार गाथा १६९ में 'स्वयमेव' पदका अर्थ स्वयं ही है अपने रूप नहीं। इसके लिए समयसार गाथा ११६ आदि तथा १६८ संख्याक गाथाओंका अवलोकन करना प्रकृतमें उपयोगी होगा। आगममें सर्वत्र 'स्वयमेव' पद 'स्वयं ही' इसी अर्थमें व्यवहृत हुआ है। यदि कहीं 'अपने रूप' अर्थ किया गया हो तो वह प्रमाण सामने आना चाहिये।

(५) समयसार गाथा १०५ में उपचारका जो अर्थ प्रथम प्रश्नके उत्तरमें किया गया है वह अर्थ संगत है। इसकी पुष्टि धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ५९ में होती है। प्रमाण इस प्रकार है—

मुह्यत इति मोहनीयम् । एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा उत्तीदो ।

जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है ।

शंका—ऐसा होनेपर जीवको मोहनीय कर्मपना प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जीवसे अभिन्न (विशेष संयोगरूप, परस्पर विशिष्ट एक क्षेत्रावगाही) कर्मसंज्ञक पुद्गल-द्रव्यमें उपचारसे कर्तापनेका आरोप कर वैसा कहा है ।

इस आगम वचनमें 'उवयारेण' और 'आरोविय' पद ध्यान देने योग्य हैं । स्पष्ट है कि कार्यका निष्पादक वस्तुतः उपादान कर्ता ही होता है । निमित्तमें तो उपचारसे कर्तापनेका आरोप किया जाता है ।

●

तृतीय दौर

शंका

द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नका आशय यह था कि जीवमें जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं क्या वे द्रव्यकर्मोदयके बिना होते हैं या द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते हैं । संसारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गति भ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या यह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतन्त्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गति भ्रमण कर रहा है ?

आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था । आपने अपने दोनों वक्तव्योंमें निमित्त कर्त्ता-कर्मकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है ।

यह तो सर्व सम्मत है कि जीव अनादि कालसे विकारी हो रहा है । विकारका कारण कर्मबन्ध है, क्योंकि दो पदार्थोंके परस्पर बन्ध विना लोकमें विकार नहीं होता । कहा भी है—

द्वयकृतो लोके विकारो भवेत् । —पद्मनन्दिपंचविंशति २३-७ ।

यदि क्रोध आदि विकारी भावोंको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान ये भी जीवके स्वभाव भाव हो जायेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आजावेगा, क्योंकि—

सदकारणवन्नित्यम् । —आप्तपरीक्षा कारिका २ टीका

जो सत् (मौजूद) है और अकारण है वह नित्य होता है ।

अथवा मुक्त जीवके भी विकारी भावोंका प्रसंग आ जायगा। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किसीमें ज्ञान अधिक है और किसीमें ज्ञान हीन है। एक ही पुरुषमें ज्ञानकी हीनाधिकता देखी जाती है। यह तर-तमभाव निष्कारण नहीं हो सकता है। अतः ज्ञानमें जो तर-तमभावका कारण है वह ज्ञानावरण कर्म है। कहा भी है—

एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणितरतमभावो ण ताव णिक्कारणो, वड्ढि-हाणीहि विणा एगसरूवेणावट्ठाणप्पसंगादो। ण च एवं, तहाणुवलंभादो। तम्हा सकारणाहि ताहि होदव्वं। जं तं हाणितर-तमभावकारणं तमावरणमिदि सिद्धं।—जयधवल १–५६

इसका तात्पर्य भाव ऊपर दिया जा चुका है।

इस कर्मोदयसे जीवकी नाना अवस्था तथा विचित्र विकारी भाव हो रहे हैं, जिनका समयसार आदि ग्रन्थोंमें विवेचन किया है और वह इस प्रकार है—

समयसारकी बत्तीसवीं गाथामें आत्माको 'भाव्य' और फल देनेकी सामर्थ्य सहित उदय होनेवाले मोहनीय कर्मको 'भावक' बतलाया है। एकसौ-अठानवी गाथामें कर्मोदय विपाकसे उत्पन्न होनेवाले विविध भावोंको आत्मस्वभाव नहीं बतलाया है। गाथा १९९ में—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।

और इसकी टीकामें—

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः।

ये वाक्य दिये हैं, जिनमें बतलाया है कि राग पुद्गलकर्म है और पुद्गल कर्मके विपाककर उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है। और गाथा २८१ की टीकामें लिखा है कि रागादिक भाव कर्म-विपाक उदयसे उत्पन्न हुए हैं।

पंचास्तिकायकी गाथा १३१ की टीकामें—

इह हि दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः, विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ।

इन वाक्योंमें बतलाया है कि निश्चयसे इस जीवके जब दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होता है तब उसके रस विपाकसे समुत्पन्न अश्रद्धानरूप भावका नाम मोह है।

गाथा १४८ की टीकामें बताया है कि जीवके राग द्वेष मोहरूप परिणाम मोहनीय कर्मके विपाकसे उत्पन्न हुए विकार हैं—

जीवभावः पुना रतिरागद्वेषमोहयुतः मोहनीयविपाकसंपादितविकार इत्यर्थः।

१५० वीं गाथाकी टीकामें बतलाया है कि वास्तवमें संसारी जीव अनादि मोहनीय कर्मके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिसे अशुद्ध है। और गाथा १५६ में बतलाया है कि वास्तवमें मोहनीय कर्मके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिके वशसे रंजित उपयोगवाला वर्तता हुआ जीव परद्रव्यमें शुभ या अशुभ भावको करता है।

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥१-६६॥—परमात्मप्रकाश

अर्थ—हे जीव ! यह आत्मा पंगुके समान है। आप न कहीं जाता है, न आता है। तीन लोकमें इस जीवको कर्म ही ले जाता है, कर्म ही ले आता है ॥१-६६॥

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्जसमाइँ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइँ ॥१-७८॥—प० प्र०

अर्थ—वे ज्ञानावरण आदि कर्म बलवान् हैं, बहुत हैं, जिनका विनाश करना अशक्य है; इसलिये चिकने हैं, भारी हैं और वज्रके समान अभेद्य हैं, इस ज्ञानादि गुणसे चतुर जीवको खोटे मार्गमें पटकते हैं ॥

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे।
सव्व बलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणि वणं ॥१६२१॥—मूलाराधना

अर्थ—जगतमें कर्म ही अतिशय बलवान् हैं, उससे दूसरा कोई भी बलवान् नहीं है। जैसे हाथी कमलवनका नाश करता है, वैसे ही यह बलवान् कर्म भी सर्व बन्धु विद्या द्रव्य शरीर परिवार सामर्थ्य इत्यादिका नाश करता है ॥१६२१॥

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावे विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥—स्वा० का० अ०

अर्थ—पुद्गल द्रव्यकी कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जो जीवके केवलज्ञानस्वभावको भी नष्ट कर देती है।

प्रश्न नं० ५ के द्वितीय उत्तरमें स्वा० का० अ० गाथा ३१९ उद्धृत करते हुए आपने स्वयं स्वीकार किया है कि जीवका उपकार या अपकार शुभाशुभ कर्म करते हैं। तथा प्रश्न नं० १६ के प्रथम उत्तरमें भी आपने यह स्वीकार किया है कि जीवमें बहुतसे धर्म ऐसे हैं जो आगन्तुक हैं और जो संसारकी विवक्षित भूमिका तक आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं, उसके बाद उसमें उपलब्ध नहीं होते।

इन आगम प्रमाणोंसे सिद्ध होता हैं कि वास्तव में विकारी भाव द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते हैं। समयसार गाथा ८९ व २७८-२७९ में स्फटिक मणिका दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया गया है कि यद्यपि जीवका परिणमन स्वभाव है तथापि उसके भाव कर्मोदय द्वारा किये जाते हैं, इसीलिये ५० से ५६ तक की गाथाओं में यह बतलाया है कि ये रागादिक भाव पौद्गलिक हैं और व्यवहार नयसे जीवके हैं। समयसार गाथा ६८ की टीकामें यह कहा गया है कि जिस प्रकार जौसे जौ उत्पन्न होता है उसी प्रकार रागादि पुद्गल कर्मोंसे रागादि उत्पन्न होते हैं, इसी कारण निश्चय नयसे रागादिक (भाव) पौद्गलिक हैं। समयसार गाथा ११३-११५ में कहा है कि जिस प्रकार उपयोग जीवसे अनन्य है उस प्रकार क्रोध जीवसे अनन्य नहीं है।

अन्य कारणों और कर्मोदयरूप कारणोंमें मौलिक अन्तर है, क्योंकि बाह्य सामग्री और अन्तरंगकी योग्यता मिलने पर कार्य होता है। किन्तु घातिया कर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यता का सूचक है। जैसा कि स्वयं श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी ने कर्मग्रंथ पुस्तक ६ की प्रस्तावना पृ० ४४ पर लिखा है—

अन्तरंगमें वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगीके राग भाव नष्ट हो गये हैं, उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होनेपर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरंग योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्मके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है।

कर्म वैसी योग्यताका सूचक है, पर बाह्य सामग्रीका वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यता के सद्‌भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और उसके अभाव में भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है, किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मामें रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। अतः कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है।

इसी बातको इष्टोपदेश पद्य ७ की टीकामें कहा है—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥

अर्थ—जिस तरह मलके सम्बन्धसे मणिके अनेक रूप दीखने लगते हैं उसी तरह कर्मके सम्बन्धसे आत्माकी भी अनेक अवस्थाएँ दीखने लगती हैं॥

इसी प्रकार पद्य ७ की टीकामें भी मदिराका दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि जीव मोहनीय कर्मोदयके कारण पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकता। इष्टोपदेशका वह पद्य इस प्रकार है—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥७॥

अर्थ—जिस तरह मादक कोदोंके खानेसे उन्मत्त हुआ पुरुष पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता; उसी प्रकार मोहनीय कर्मके द्वारा आच्छादित ज्ञान भी पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता॥७॥

कर्म बलवान् है, उदयमें आकर नवीन कर्मोंका बन्ध जीवके साथ कर देता है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्म बंधाय तत्॥११०॥—कलश

अर्थ—किन्तु आत्मामें अवशपने जो कर्म प्रगट होता है वह बंधका कारण है॥११०॥

श्री पं० फूलचन्द्रजी भी कर्मकी बलवत्ताको इन शब्दोंमें स्वीकार करते हैं—

कर्म तो आत्माकी विविध अवस्थाओंके होनेमें निमित्त है और उसमें ऐसी योग्यता उत्पन्न करता है जिससे वह अवस्थानुसार शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वासके योग्य पुद्गलोंको योग द्वारा ग्रहण करके तद्रूप परिणमाता है।—पचाध्यायी पृ० १५९ विशेषार्थ (वर्णी ग्रन्थमाला)

कर्मोंकी सदा एकसी दशा नहीं रहती। कभी कर्म बलवान् होता है और कभी जीव बलवान् हो जाता है। जब जीव बलवान् होता है तो वह अपना कल्याण कर सकता है। कहा भी है—

कत्थ वि बलिओ जीवो कत्थ वि कम्मा हुंति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइ॥—इष्टोपदेश गा० ३१की टी०

अर्थ—कभी यह जीव बलवान् हो जाता है और कभी कर्म बलवान् होता है। इस तरह जीव और कर्मोंका अनादि कालसे परस्पर विरुद्ध वैर है॥

इस कर्मकी बलवत्ताके कारण यह जीव अनादि कालसे चतुर्गति भ्रमण कर रहा है इस बातको श्री अकलंकदेव राजवार्तिक पृ० २ में कहते हैं—

यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगर्तभ्रान्ति घटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभावे चारगर्तभ्रान्त्यभावाद् घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिं च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतो दृष्टादनुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्ति शारीर-मानसविविधवेदनाघटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारित्राग्निनिर्दग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्त्या भवितव्यमित्यनुमीयते यासौ संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिः स एव मोक्ष इति ।

अर्थात्—जैसे घटीयंत्र (रेंहट) का घूमना उसके धुरेके घूमनेसे होता है और धुरेका घूमना उसमें जुते हुए बैलके घूमने पर । यदि बैलका घूमना बन्द हो जाय तो धुरेका घूमना रुक जाता है और धुरेके रुक जाने पर घटीयन्त्रका घूमना बन्द हो जाता है । उसी तरह कर्मोदयरूपी बैलके चलनेपर ही चार गतिरूपी धुरेका चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी धुरा ही अनेक प्रकारकी शारीरिक मानसिक आदि वेदनारूपी घटी-यन्त्रको घुमाता रहता है । कर्मोदयकी निवृत्ति होने पर चतुर्गतिका चक्र रुक जाता है और उसके रुकनेसे संसाररूपी घटीयंत्रका परिचलन समाप्त हो जाता है. इसीका नाम मोक्ष है ।

इसी सम्बन्धमें निम्न प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यत कर्मणा ।
एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०६॥—उपासकाध्ययन पृ० २९

अर्थ—जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है । इन दोनोंका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है, कोई तीसरा इन दोनोंका प्रेरक नहीं है ॥१०६॥

क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि ।
नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम् ॥२४७॥—उपासकाध्ययन पृ० १२०

अर्थ—आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेशका कारण है । जैसे जल स्वयं गरम नहीं होता, आगके सम्बन्धसे उसमें गर्मी आ जाती है ॥२४७॥

उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव विश्वं वेधाः स्वयं गतघृणष्ठकवद्यथेष्टम् ।
संसारभीकरमहागहनान्तराले हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥७७॥—आत्मानुशासन

अर्थ—कर्मरूपी ब्रह्मा समस्त विश्वको ही मोहरूपी मदिरामें मूर्छित करके तत्पश्चात् स्वयं ही ठगके समान निर्दय बनकर इच्छानुसार संसाररूपी भयानक महावनके मध्यमें उसका घात करता है । उससे रक्षा करनेके लिए भला दूसरा कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ॥७७॥

आपने स्वयं भी प्रश्न नं० ५ के उत्तर में कर्मकी बलवत्ता स्वीकार करते हुए माना है कि सुख दुःख मरण आदि सब कर्मोदयके अनुसार होता है । किन्तु इस प्रश्नके उत्तरमें आप उसको स्वीकार नहीं कर रहे हैं यह आश्चर्यकी बात है ।

यह हमारे प्रश्नका आगम सम्मत उत्तर है । प्रश्नका उत्तर न देकर आपने जो अप्रासंगिक विवेचन एकान्त नियतिवाद तथा नोकर्म आदि निमित्तों के विषयमें कर दिया है अब उस पर भी विचार किया जाता है—

आपने लिखा है कि—'प्रेरक कारणसे किसी द्रव्य में कार्य आगे पीछे कभी भी किया जा सकता है, सो यह सिद्ध करना संगत न होगा ।' आपका ऐसा लिखना उचित नहीं है ।

(अ) सर्व कार्योंका सर्वथा कोई नियत काल हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि प्रवचनसारमें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने कालनय और अकालनय, नियतिनय और अनियतिनय इन नयोंकी अपेक्षा कार्यकी सिद्धि बतलाई है और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है, और किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है। अतः आगे पीछे न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

(आ) कर्मस्थितिबंधके समय निषेक रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्म वर्गणा अमुक समय उदयमें आवेगी, किन्तु बन्धावलिके पश्चात् उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिकांडकघात, उदीरणा, अविपाक-निर्जरा आदिके द्वारा कर्मवर्गणा आगे पीछे भी उदयमें आती हैं जिसको कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ भलीभांति जानते हैं। किन्तु इतना नियत है कि कोई भी कर्म स्वमुख या परमुखरूपसे अपना फल दिये बिना अकर्म-भावको प्राप्त नहीं होता। (जयधवल पु० ३ पृ० २४५)। इस विषयका विशेष विवेचन प्रश्न नं० ५ के पत्रक में किया जावेगा तथा आगे भी यथा अवसर कुछ लिखा जावेगा।

आपने लिखा है कि—'दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं।' सर्वत्र स्थान २ पर इसीपर जोर दिया गया है। 'व्यवहारनय'के पूर्व 'मात्र' शब्द लगाकर या उसका अर्थ 'उपचार' करके यह भी दर्शाया गया है कि व्यवहारसे जो कथन है वह वस्तुतः वास्तविक नहीं है।

यदि नयोंके स्वरूप तथा विषयपर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका कथन निश्चयनयसे होनेका प्रसंग ही उत्पन्न नहीं हो सकता है। जो विषय जिस नयका है उसका कथन उस ही नयसे किया जा सकता है, अन्य नयसे नहीं। यदि उस ही विषयको अन्य नयका विषय बना दिया जायगा तो सर्व विप्लव हो जायगा और नय विभाजन अर्थात् नय व्यवस्था भी समीचीन नहीं रह सकेगी। जैसे प्रत्येक द्रव्य व्यवहार नयकी अपेक्षासे अनित्य है। यदि निश्चयनयकी अपेक्षासे भी द्रव्यको अनित्य कहा जायगा तो व्यवहारनय तथा निश्चयनयमें कोई अन्तर ही न रहेगा। दोनों एक ही हो जायेंगे। द्रव्यको नित्य बतलानेवाला कोई नय ही न रहेगा। इस प्रकार द्रव्यके दूसरे धर्मका कथन नहीं हो सकनेके कारण वस्तु स्वरूपका ज्ञान एकांगी (सर्वथा एकान्तरूप) एवं मिथ्या हो जायगा। अर्थात् द्रव्य एकान्ततः (सर्वथा) अनित्य हो जायगा और इस प्रकार पूर्ण क्षणिकवाद आ जायगा। अतः अनित्यताका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं हो सकता है। निश्चयनय तो व्यवहारनयके विषयको ग्रहण करनेमें अंध-पुरुषके समान है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारनयका विषय होनेसे अनित्यता प्रामाणिक, वास्तविक या सत्य नहीं है। अनित्यता भी उतनी ही प्रामाणिक, वास्तविक व सत्य है जितनी नित्यता।

यदि व्यवहारनयके विषयको प्रामाणिक नहीं माना जायगा तो व्यवहार नय मिथ्या हो जायगा, किन्तु आगममें प्रत्येक नय प्रामाणिक माना गया है। जो परनिरपेक्ष कुनय होता है उसीको मिथ्या माना गया है, सम्यक् नयको मिथ्या नहीं माना गया है।

एक द्रव्यके खण्ड या दो द्रव्योंका सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। अतः दो द्रव्योंका सम्बन्ध होनेके कारण निमित्त-नैमितिक सम्बन्धका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं। जैसे पर द्रव्यों के साथ जो ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है उसका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं। चूंकि यहाँ भी दो द्रव्योंका सम्बन्ध है। जैसे वर्णको आँख ही बतला सकती है, नाक आदि अन्य इन्द्रियाँ नहीं।

अतः नाकादि अन्य इन्द्रियोंसे वर्ण नहीं है—यह कहनेका प्रसंग ही नहीं आता है। इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध निश्चय नयसे नहीं यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दो द्रव्योंका सम्बन्ध निश्चय-नयका विषय ही नहीं है।

पुनश्च—आपने लिखा है कि 'संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्य कर्मोंके उदयका व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं है।' आगे आपने अपने उत्तरमें एक स्थान पर यह भी लिखा है कि 'द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं हैं, फिर भी आगममें जहाँ भी दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृ-कर्मसम्बन्ध कहा है वहाँ वह उपचारमात्रसे कहा है।' इससे यह तो फलित हो ही जाता है कि आगममें द्रव्यकर्मोंके उदयका आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणके साथ कर्तृकर्म-सम्बन्धका प्रतिपादन किया गया है और आगमका यह प्रतिपादन आपको भी स्वीकार है। केवल आप उस कर्तृ-कर्मसम्बन्धको उपचारमात्र स्वीकार करके कार्यके प्रति निमित्तकी अकिंचित्करता सिद्ध कर देना चाहते हैं। इस तरह हमारे आपके मध्य मतभेद केवल इतना ही रह जाता है कि जहाँ हमारा पक्ष आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयरूप निमित्तकारण या निमित्तकर्त्ताको सहकारी कारण या सहकारी कर्ताके रूपमें सार्थक (उपयोगी) मानता है वहाँ आपका पक्ष उसे उपचरित कहकर उक्त कार्यमें अकिंचित्कर अर्थात् निरर्थक (निरुपयोगी) मानता है और तब आपका पक्ष अपना यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि कार्य केवल उपादानकी अपनी सामर्थ्यसे स्वतः ही निष्पन्न हो जाता है। उसकी निष्पत्तिमें निमित्तकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती है। जब कि हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्यकी निष्पत्ति उपादानमें हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है फिर भी उपादान की उस कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकी अपेक्षा बराबर बनी हुई है अर्थात् उपादानकी जो परिणति आगममें स्वपरप्रत्यय स्वीकार की गयी है वह परिणति उपादानकी अपनी परिणति होकर भी निमित्तकी सहायतासे ही हुआ करती है, अपने आप नहीं हो जाया करती है। चूंकि आत्माके रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमणको उसका (आत्माका) स्वपरप्रत्यय परिणमन आगम द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अतः वह परिणमन आत्माका अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मोंके उदयकी सहायतासे ही हुआ करता है। जैसे—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

—समयसार-आत्मख्याति टीका कलश

इसमें अमृतचन्द्रसूरिने स्पष्ट कर दिया है।

कलशका भाव यह है कि आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादिभावोंका आत्मा स्वयं निमित्त नहीं है, किन्तु परवस्तुके संसर्गसे ही आत्मामें रागादिभाव उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार कि सूर्यकान्तमणि परके संसर्गसे ही तदनुरूप विविध रंगोंके रूप परिणत होता है। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि परवस्तुके संयोगसे वह तदनुरूप परिणमन करती रहती है।

इसी बातको 'जीवपरिणामहेदुं'......इत्यादि समयसारकी ८०वीं गाथा भी पुष्ट कर रही है, जिसको आपने अपने पक्षकी पुष्टिके लिये अपने उत्तरमें उपस्थित किया है, लेकिन जिसके विषयमें हम अपनी द्वितीय प्रतिशंकामें लिख चुके हैं कि यह गाथा आपके मन्तव्यके विरुद्ध ही अभिप्राय प्रकट करती है। याने जीवके

परिणमनकी सहायतासे ही पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं और पुद्गल कर्मकी सहायतासे ही जीव रागादि विभावरूप परिणमन करता है।

समयसारकी ८२वीं गाथा भी ऐसी बातको बतला रही है कि ८० और ८१वीं गाथाओंके अनुसार चूँकि पुद्गलोंका ही कर्मरूप परिणमन होता है। पुद्गलोंमें होनेवाला कर्मरूप वह परिणमन आत्माका परिणमन नहीं है, वह तो उस परिणमनमें केवल निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्त कर्ता (सहकारी कर्ता) ही होता है। इसी प्रकार आत्माका ही रागादिरूप परिणमन होता है। आत्मामें होनेवाला रागादिरूप वह परिणमन पुद्गलका परिणमन नहीं है, वह तो उस परिणमनमें केवल निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्त कर्ता (सहकारी कर्ता) ही होता है, इसलिए आत्मामें जो भी परिणमन होता है उसके होनेमें यद्यपि पुद्गल कर्मका सहयोग अपेक्षित होता है, लेकिन उस परिणमनका उपादान कारण या कर्ता आत्मा ही होता हैं, पुद्गल कर्म नहीं। इसी तरह पुद्गलमें जो भी (कर्म नोकर्मरूप) परिणमन होता है, यद्यपि उसके होनेमें आत्माके रागादि भावोंका सहयोग अपेक्षित होता है, लेकिन उस परिणमनका उपादान कारण या कर्ता पुद्गल ही होता है आत्माके रागादिभाव नहीं।

समयसारकी ८०, ८१ और ८२वीं गाथाओंके उक्त अभिप्रायको लक्ष्यमें रखकर ही समयसारकी निम्नलिखित गाथाका अर्थ करना चाहिए—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उपयारमत्तेण ॥ १०५ ॥

वह अर्थ इस प्रकार है कि चूंकि जीवका सहयोग मिलने पर ही पुद्गल कर्मका बन्धरूप परिणमन देखा जाता है, इसलिए जीवने पुद्गलका कर्मरूप परिणमन कर दिया—ऐसा उपचारमात्रसे अर्थात् निमित्त-नैमित्तिकभावकी अपेक्षासे कहा जाता है। यहाँ पर 'उपचारमात्रसे' इस पदका अर्थ निमित्त-नैमित्तिकभावसे ही उल्लिखित ८०, ८१ और ८२वीं गाथाओंके आधार पर करना सुसंगत है। तात्पर्य यह है कि लोकव्यवहारमें जिस प्रकार उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा शिष्यका अध्ययन करना और निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा उपाध्यायका शिष्यको पढ़ाना दोनों ही वास्तविक हैं उसी प्रकार उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा पुद्गल का कर्मरूप परिणत होना और आत्माका रागादिरूप परिणत होना तथा निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा जीव द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना और पुद्गल द्वारा आत्माका रागादिरूप किया जाना दोनों ही वास्तविक हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय प्रथम सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्दिने भी पृष्ठ १५१ पर उपादानोपादेयभावके समान निमित्त-नैमित्तिक भावको वास्तविक ही कहा है। वह कथन निम्न प्रकार है—

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तद् (कार्यकारणत्वम्) स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। न चेदं सहकारित्वं क्वचिद् भावप्रत्यासत्तिः क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्वा, नियमाभावात्। निकटदेशस्यापि चक्षुषो रूपज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वदर्शनात्, संदंशकादेश्चासुवर्णस्वभावस्य सौवर्णकटकोत्पत्तौ। यदि पुनर्यावत् क्षेत्रं यद्यस्योत्पत्तौ सहकारि दृष्टं यथाभावं च तत्तावत् क्षेत्रं तथाभावमेव सर्वत्रेति नियता क्षेत्रभावप्रत्यासत्तिः सहकारित्वं कार्ये निगद्यते, तदा न दोषो, विरोधाभावात्। तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

अर्थ—सहकारी कारणके साथ कार्यका कार्यकारणभाव कैसे सिद्ध होता है ? क्योंकि सहकारी कारण और कार्यमें एक द्रव्यताका अभाव है, यदि ऐसा कहा जाय तो इसका उत्तर यह है कि सहकारिकारणके साथ कार्यका कार्यकारणभाव कालप्रत्यासत्तिके रूपमें माना गया है, क्योंकि जिसके अनन्तर जो अवश्य होता है वह सहकारी कारण कहा जाता है और दूसरा कार्य कहलाता है ऐसा ही प्रतीत होता है। ऐसा सहकारित्व कहीं पर भी भावप्रत्यासत्ति अथवा क्षेत्रप्रत्यासत्ति रूप नहीं होता है, क्योंकि इनका नियम बनता नहीं है। देखनेमें आता है कि निकट देशमें स्थित चक्षुको भी रूपज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारिता होती है इसी प्रकार सुवर्णभावसे रहित अर्थात् लोह धातुसे निर्मित संदंशक (संडासी) आदि को भी सुवर्णनिर्मित कटक आदि की उत्पत्तिमें सहकारिता होती है। यदि जितने क्षेत्रमें जो जिस कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण होता है, इसी प्रकार जो जिस भावरूपसे सहकारी कारण होता है वह उतने क्षेत्रमें और उस भावरूपमें सहकारी होता है—ऐसी क्षेत्र और भावरूप प्रत्यासत्तिको कार्यमें सहकारित्व कह दिया जाय तो फिर कालप्रत्यासत्तिकी तरह क्षेत्रप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्तिरूप भी सहकारित्वको माना जा सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार व्यवहारनयका आश्रय लेने पर दो पदार्थोंमें रहनेवाला कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध भी संयोग और समवाय आदिके समान प्रतीतिसिद्ध होनेके सबब पारमार्थिक ही है, कल्पना द्वारा आरोपित नहीं है; कारण कि यह सर्वथा निर्दोष है।

इसी प्रकार अष्टशतीमें श्रीमद् भट्टाकलंकदेवने भी सहकारी कारणको कार्यके प्रति उपादानके लिए सहयोगदाताके रूपमें प्रतिपादित किया है। वह वचन निम्न प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?

—अष्टसहस्री पृष्ठ १०५

अर्थ—उसकी अर्थात् उपादानकी असामर्थ्यका खण्डन नहीं करते हुए सहकारिकारण यदि अकिंचित्कर ही बना रहता है तो उस हालतमें वह सहकारी कारण कहला सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कहला सकता है।

ये सब आगमके प्रमाण सहकारी कारणको और निमित्तनैमित्तिकभावको वास्तविक तथा कार्यके प्रति सार्थक और उपयोगी ही सिद्ध करते हैं, केवल कल्पनारोपित या उपचरित नहीं। इसलिए समयसारकी 'जीवम्हि हेदुभूदे—' गाथामें पठित उपचार शब्दका अर्थ कल्पना या आरोप न करके निमित्तनैमित्तिकभावरूप जो अर्थ हमने किया है वही सुसंगत है।

इसी प्रकार उक्त गाथाकी 'इह खलु पौद्गलिककर्मण..............' इत्यादि रूप जो टीका आचार्य अमृतचन्द्रने की है उसमें भी उपचार शब्दका अर्थ निमित्तनैमित्तिकभावरूप ही किया गया है। संपूर्ण टीका निम्न प्रकार है—

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानान्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः स तूपचार एव न तु परमार्थः ॥१०५॥

अर्थ—यद्यपि आत्मा (शुद्ध) स्वभावरूपसे पौद्गलिक कर्मका (पुद्गलके कर्मरूप परिणमनका) निमित्तभूत नहीं है तथापि अनादिकालसे उसकी विभावस्थिति रहनेके कारण पौद्गलिक कर्ममें निमित्तभूत अज्ञानके रूपमें परिणमन होनेसे उसके (आत्माके) निमित्त बन जाने पर ही पुद्गलका कर्मरूप परिणमन

होता है, इसलिए आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप परिणमन किया गया--ऐसा विकल्प उन लोगोंका होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघनसे भृष्ट अर्थात् विकारी परिणतिमें वर्तमान अतएव विकल्पपरायण हैं। लेकिन 'आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना' यह उपचार ही है अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षासे ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् उपादानोपादेयभावकी अपेक्षासे नहीं हैं ॥१०५॥

आचार्य अमृतचन्द्रने जो यह समयसार कलश रचा है--

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

इसमें 'जो परिणमित होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है वह कर्ता है' कर्ताका यह लक्षण उपादानोपादेयभावको लक्ष्यमें रखकर ही माना गया है, परन्तु इस पर ध्यान न देते हुए उस लक्षणको सामान्यरूपसे कर्ताका लक्षण मानकर निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा आगममें प्रतिपादित कर्तृ-कर्मभावको उपचरित (कल्पनारोपित) मानते हुए आपके द्वारा निमित्तकर्ताको अकिंचित्कर (कार्यके प्रति निरुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है, क्योंकि निमित्तकर्ताको समयसार गाथा १०० में आचार्य कुन्दकुन्दने तथा इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने सार्थकरूपमें ही स्वीकार किया है, जो निम्न प्रकार है—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

गाथाका अर्थ—जीव घट, पट और शेष सभी द्रव्योंको नहीं करता है, किन्तु जीवके योग और उपयोग ही उनके कर्ता हैं तथा उनका कर्ता आत्मा है ॥१००॥

टीका—यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषंगात् निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ, योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥१००॥

अर्थ—जो घटादि अथवा क्रोधादिरूप परद्रव्यात्मक कर्म है उसको यह आत्मा नामका द्रव्य व्याप्य-व्यापकभावसे अर्थात् उपादानोपादेयभावसे तो करता नहीं है, क्योंकि इस तरहसे* उसमें तन्मयत्व (पर-द्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्ममयत्व) का प्रसंग उपस्थित होता है तथा वह आत्मा नामका द्रव्य परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्मको निमित्तनैमित्तिकभावरूपसे भी नहीं करता है, क्योंकि निमित्त-नैमित्तिकभावरूपसे कर्ता मानने पर उसका (आत्माका) शाश्वत होनेके कारण परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्मके करनेमें नित्यकर्तृत्व प्रसक्त हो जायगा; अतः आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता न होकर उसकी अनित्य-भूत योग और उपयोगरूप पर्याय ही परद्रव्यात्मक घटादि अथवा क्रोधादिरूप कर्मकी निमित्तरूपसे कर्ता होती है। यद्यपि आत्मा स्वके विकल्प और व्यापाररूप योग तथा उपयोगको कदाचित् अपनी विभाव परिणतिके कारण करता है, अतः आत्मा भी कर्ता होता है तो भी वह (आत्मा) परद्रव्यात्मक कर्मका कर्ता नहीं होता है। अर्थात् आत्माके अनित्यभूत योग और उपयोग ही परद्रव्यात्मक कर्मके निमित्तरूपसे कर्ता होते हैं ॥१००॥

इस प्रकार 'यः परिणमति स कर्ता' कर्ताके इस लक्षणके आधार पर आपके द्वारा निमित्तकर्तृत्वको उपचारसे (कल्पनारोपितरूपसे) कर्तृत्व बताना असंगत ही है।

---

* पूर्वपक्षके पत्रकमें लाल स्याहीसे चिह्नित वाक्यांश निम्न प्रकार है—
उसमें (परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्ममें) तन्मयत्व (आत्ममयत्व)।

आपने अपने उत्तरमें निमित्तकर्ताको उपचारसे (कल्पनारोपितरूपसे) कर्ता माननेमें यद्यपि यह युक्ति दी है कि 'एक द्रव्यका कर्तृधर्म दूसरे द्रव्यमें नहीं उपलब्ध होता' लेकिन इससे भी निमित्तकर्ताका उपचारसे (कल्पनारोपितरूपसे) कर्तृत्व समर्थित नहीं होता है, क्योंकि इस युक्तिसे केवल इस बातका ही समर्थन होता है कि निमित्तका कोई भी धर्म कार्यमें प्रवेश नहीं पाता है, निमित्तरूप कोई कर्ता ही नहीं होता—यह बात इससे समर्थित नहीं होती है और चूँकि ऊपर लिखे अनुसार निमित्तरूप कर्ता आगम प्रतिपादित है, इसलिए निमित्तरूप कर्ताको वास्तविक स्वीकार करना गलत नहीं है, बल्कि उसे आपके द्वारा उपचारसे अर्थात् केवल कल्पितरूपसे स्वीकार करना ही गलत है।

आगममें सर्वत्र कार्यकारणभावको अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर ही माना गया है अर्थात् जिस वस्तुका जिस कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह वस्तु उस कार्यके प्रति कारण होती है ऐसा कथन आगमका है यथा—

अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति।

—प्रमेयरत्नमाला, तृतीय समुद्देश, सूत्र ६३ की व्याख्या।

कार्यकारणभाव सर्वत्र अन्वय और व्यतिरेकके आधार पर ही मानना चाहिए। वे अन्वय और व्यतिरेक कार्यके प्रति कारणव्यापारसापेक्ष ही उपपन्न होते हैं, जैसे कि कलशके प्रति कुम्हारके अन्वय और व्यतिरेक उपपन्न होते हैं।

इसमें उपादान कारणके समान निमित्तकारणमें भी कार्यके प्रति अन्वय और व्यतिरेक माने गये हैं, अतः जिस प्रकार कार्यके प्रति उपादानभूत वस्तु अपने ढंगसे अर्थात् आश्रयरूपसे वास्तविक कारण होती है उसी प्रकार कार्यके प्रति निमित्तभूत वस्तु भी अपने ढंगसे अर्थात् उपादानके सहकारिरूपसे वास्तविक कारण होती है। उसकी (निमित्तभूत वस्तुकी) यह उपादान सहकारितारूप कारणता काल्पनिक नहीं है।

वास्तविक बात यह भी है कि आगममें स्वपरप्रत्यय परिणामरूप कार्यको समानरूपसे उभयशक्तिजन्य माना गया है। यथा—

एवं दुसंजोगादिणा अणुभागपरूवणा कायव्वा, जहा (मट्टिआ) पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारादीणं घडुप्पायणाणुभागो। —धवल पु० १३, पृ० ३४९.

अर्थ—इसी प्रकार द्विसंयोगादिरूपसे अनुभागका कथन करना चाहिए। जैसे—मिट्टी पिंड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार आदिका घटोत्पादनरूप अनुभाग।

धवलाका यह वचन स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उभयशक्तिजन्यताका स्पष्ट उपदेश दे रहा है।

आगममें उपचारकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते। —आलापपद्धति

अर्थ—मुख्यका अभाव रहते हुए यदि प्रयोजन और निमित्त उपस्थित हों तो उपचारकी प्रवृत्ति होती है।

उपचारकी यह व्याख्या स्पष्ट बतला रही है कि जहाँ उपचारकी प्रवृत्तिके लिए प्रयोजन तथा निमित्त हों वहीं पर वह उपचारप्रवृत्ति हुआ करती है। जैसे अन्नमें प्राणोंका या बालकमें सिंहका उपचार लोकमें किया जाता है। इन दोनों स्थलोंमें चूंकि उपचारप्रवृत्तिके लिए प्रयोजन तथा निमित्त दोनोंका सद्भाव पाया जाता है, अतः अन्नमें प्राणोंका और बालकमें सिंहका उपचार संगत है। अन्नमें प्राणोंका उपचार करनेके लिए अन्नमें पायी जानेवाली प्राणसंरक्षकता ही निमित्त है और लोकमें इस तरह

प्राणसंरक्षकताके रूपमें अन्नका महत्त्व प्रस्थापित करना ही प्रयोजन है। इसी प्रकार बालकमें सिंहका उपचार करनेके लिए बालकमें पाया जानेवाला सिंह सदृश शौर्य ही निमित्त है और इस तरह सिंहके सदृश शौर्य गुण संपन्नताके रूपमें बालककी प्रसिद्धि करना ही प्रयोजन है। इस तरह निमित्त और प्रयोजनका सद्भाव रहते हुए ही अन्नमें प्राणोंका तथा बालकमें सिंहका उपचार किया गया है। इसी प्रकार आगममें भी उपचार प्रवृत्तिके दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। जैसे परार्थानुमान यद्यपि ज्ञानात्मक ही है, परन्तु उसका उपचार वचनमें किया गया है, क्योंकि वचन ज्ञानरूप परार्थानुमानका कारण होता है।

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वादिति। —परीक्षामुखसूत्र ३-५६

यहाँपर कारणमें कार्यका उपचार किया गया है। इसमें भी उपचार प्रवृत्तिके लिए निमित्त और प्रयोजनका सद्भाव है। इन सब दृष्टान्तोंके आधारपर प्रकृतमें हमारा आपसे यह कहना है कि निमित्त नामकी वस्तुमें कारणत्व या कर्तृत्वका जब आपको उपचार करना है तो इस उपचार प्रवृत्तिके लिए यहाँपर निमित्त तथा प्रयोजनके सद्भावकी भी आपको खोज करनी होगी, जिसका (निमित्त तथा प्रयोजनके सद्भावका) यहाँपर सर्वथा अभाव है। यदि आपकी दृष्टिमें निमित्तमें कारणता या कर्तृत्वका उपचार करनेके लिए यहाँपर निमित्त तथा प्रयोजनका सद्भाव हो, तो बतलाना चाहिए। यदि आप कहें कि कार्यके प्रति निमित्त नामकी वस्तुका जो उपादानके लिए सहयोग अपेक्षित रहता है यही यहाँपर उपचार प्रवृत्तिमें निमित्त है और इस तरह कार्यके प्रति निमित्त नामकी वस्तुकी उपयोगिताको लोकमें प्रस्थापित कर देना ही प्रयोजन है तो इस विषयमें हम आपसे केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि निमित्तका कार्यके प्रति उपादानको सहयोग देना यदि आपको मान्य हो जाता है तो इससे फिर निमित्तकी वास्तविकता ही सिद्ध हो जाती है। ऐसी हालतमें उसे उपचरित कैसे कहा जा सकता है?

'उपादीयते अनेन' इस विग्रहके आधारपर 'उप' उपसर्गपूर्वक आदानार्थक 'आ' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे कर्ताके अर्थमें "ल्युट्" प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो परिणमनको स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्यका आश्रय ठहरता है। इसी प्रकार 'निमेद्यति' इस विग्रहके आधारपर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे कर्ताके अर्थमें 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी 'मिद्' धातुसे 'क्र' प्रत्यय होकर बना है। इस प्रकार जो मित्रके समान उपादानका स्नेह न करे अर्थात् उसकी कार्य-परिणतिमें जो मित्रके समान सहयोगी हो वह निमित्त कहलाता है। इस विवेचनसे यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि कार्यके प्रति निमित्त उपचरित (काल्पनिक) नहीं है, बल्कि उपादानके सहयोगीके रूपमें वह वास्तविक ही है।

इस प्रकार आगममें जहाँ भी निमित्तनैमित्तिकभावको लेकर उपचारहेतु या उपचारकर्ता, व्यवहारहेतु या व्यवहारकर्ता, बाह्य हेतु या बाह्य कर्ता, गौण हेतु या गौण कर्ता आदि शब्दप्रयोग पाये जाते हैं उन सबका अर्थ निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्तकर्ता (सहकारी कर्ता) ही करना चाहिए। उनका आरोपित हेतु (काल्पनिक हेतु) या आरोपित कर्ता (काल्पनिक कर्ता) अर्थ करना असंगत ही जानना चाहिए। इसी प्रकार आगममें जहाँ भी उपादानोपादेयभावको लेकर परमार्थ हेतु या परमार्थ कर्ता, निश्चय हेतु या निश्चय कर्ता, अन्तरंग हेतु या अन्तरंग कर्ता, मुख्य हेतु या मुख्य कर्ता आदि शब्दप्रयोग पाये जाते हैं उन सबका अर्थ उपादान कारण या उपादान कर्ता ही करना चाहिए। इसका कारण यह है कि कार्यकरणत्वकी

दृष्टिसे जब विचार किया जाता है तो निमित्त और उपादान दोनों ही कारण स्वपरप्रत्ययरूप कार्यमें समानरूपसे ही अपने-अपने स्वभावानुसार अपने-अपने ढंगसे सार्थक या उपयोगी हुआ करते हैं। ऐसा नहीं है कि उक्त स्वपरप्रत्ययरूप कार्यको केवल उपादान ही सम्पन्न कर लेता है और निमित्त बैठा-बैठा केवल हाजिरी ही दिया करता है। इस विषयमें आचार्य विद्यानन्दिके निम्नलिखित वचनोंपर भी ध्यान देना जरूरी है—

सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यार्थादेशात् सदेव, केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थादेशाच्चासदिति तथा परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः, सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते।

—अष्टसहस्री पृ० १५०

अर्थ—सुवर्णत्वादि द्रव्यांशरूपमें सत् और केयूरादिके आकारभूत पर्यायांशरूपमें असत् सुवर्ण द्रव्य ही केयूरादिके आकारोंसे परिणत होनेकी शक्तिरूप अन्तरंग सामग्री और स्वर्णकारके व्यापार आदिरूप बहिरंग सामग्रीका सन्निपात हो जानेपर केयूरादिके आकाररूपसे उत्पन्न होता है।

इसके साथ ही इस बातपर भी ध्यान देना आवश्यक है कि उपादान कारणकी समानता रहते हुए भी निमित्तकारणोंकी विचित्रताके अवलम्बनसे कार्योंमें भी विचित्रता देखी जाती है। स्वामी समन्तभद्रने कहा भी है—

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः ॥९९॥ —देवागमस्तोत्र

—अष्टसहस्री पृष्ठ २६७

अर्थ—पौद्गलिक कर्मोंके बन्धके अनुसार ही जीवोंमें कामादिकी विविधरूपता हुआ करती है।

इस विषयमें प्रवचनसार गाथा २५५ की टीकाकी निम्नलिखित पंक्तियां भी द्रष्टव्य हैं—

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात्।

अर्थ—जिस प्रकार भूमिकी विपरीततासे एक ही प्रकारके बीजोंमें कार्योत्पत्तिकी विपरीतता देखी जाती है उसी प्रकार एक ही तरहका शुभोपयोग भी पात्रोंकी विपरीतताके कारण फलमें विपरीतता ला देता है, क्योंकि कारणविशेषसे कार्यमें विशेषताका होना अवश्यंभावी है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि निमित्तकारण उपादानकी कार्यपरिणतिमें केवल हाजिरी ही नहीं दिया करता है, बल्कि अपने ढंगसे उपादानका अनुरंजन किया करता है।

हमने अपनी द्वितीय प्रतिशंकामें भी ऐसे बहुतसे आगम प्रमाण उपस्थित किये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि निमित्तोंका कार्य उपादानको कार्यके प्रति सहायता पहुँचाना ही रहा करता है। इसलिए जिस प्रकार उपादानकारण अपने रूपमें याने कार्यके आश्रयरूपमें वास्तविक है, यथार्थ है और सद्भूत है उसी प्रकार निमित्तकारण भी अपने रूपमें याने कार्यके प्रति उपादान सहकारीरूपमें वास्तविक है, यथार्थ है और सद्भूत है।

आपने अपने उत्तरमें उदासीन और प्रेरक ऐसे दो भेद स्वीकार कर लिए, यह तो प्रसन्नताकी बात है, परन्तु आप इन दोनोंके कार्यभेदको अभी तक माननेके लिए तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें आपकी इस भेदद्वयकी मान्यताका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। आप लिखते हैं कि 'पंचास्तिकाय गाथा ८८ में

निमित्तोंके उदासीन और प्रेरक ऐसे दो भेद स्वीकार किये गये हैं। मालूम पड़ता है कि केवल इसीलिये ही आप निमित्तोंके प्रेरक और उदासीन ये दो भेद माननेके लिए बाध्य हुए हैं, परन्तु इनमें पाया जानेवाला अन्तर आपको मान्य नहीं है। यही कारण है कि इस प्रसंगमें आपने 'शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयति' इस प्रेरक निमित्तके उदाहरणके साथ 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' इस उदासीन निमित्तको समकक्ष रख दिया है और अपने इस अभिप्रायको सर्वार्थसिद्धिके वचन द्वारा समर्थित करनेका भी प्रयत्न किया है। लेकिन इस प्रयत्नमें आप इसलिए सफल नहीं हो सकते हैं कि सर्वार्थसिद्धिका वह वचन केवल इतनी ही बात बतलाता है कि हेतुकर्तृ शब्दका प्रयोग उदासीन और प्रेरक दोनों प्रकारके निमित्तोंके विषयमें आगममें किया गया है, जिसके माननेमें हमें भी कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु उनमें पाये जानेवाले अन्तरका निषेध उससे समर्थित नहीं होता है। इस विषयमें आपने अपने उत्तरमें सर्वार्थसिद्धिके उस वचनको उद्धृत किया है और उसका अर्थ भी किया है, परन्तु उसका अभिप्राय ही आपने गलत लिया है; अतः आप इस पर पुनः ध्यान दें।

आगे आपने लिखा है कि 'निमित्त कारण दो प्रकार के हैं—एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होते हैं और दूसरे वे जो चाहे क्रियावान् हों और चाहे अक्रियावान् हों, परन्तु जो क्रियाके माध्यमसे निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्योंके समान ही अन्य द्रव्योंके कार्योंमें निमित्त होते हैं।' इस विषयमें हमारा कहना यह है कि यदि सभी प्रकारके निमित्त उपादानके कार्य करते समय केवल हाजिरी ही दिया करते हैं तो क्रियाके माध्यमसे निमित्त होना तथा क्रिया करते हुए या न करते हुए भी क्रियाके माध्यमके विना ही निमित्त होना इन दोनों अवस्थाओंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है। कारण कि आपके मतानुसार सभी निमित्तोंका कार्य उपादानके कार्य करते समय उसकी केवल हाजिरी बजाना ही है, इसलिये जब आगममें प्रेरक और उदासीन दो प्रकारके पृथक्-पृथक् निमित्त बतलाये गये हैं और उन्हें आपने भी निश्छलभावसे स्वीकार कर लिया है तो इन दोनोंके अन्तरको भी आपको स्वीकार कर लेना चाहिये। वह अन्तर यह है कि जिस अन्य वस्तुके व्यापारके अनुसार उपादानके कार्यमें वैशिष्ट्य आता है वह वस्तु प्रेरक निमित्त कहलाती है। जैसे द्वितीय प्रतिशंकामें ऐसे आगम प्रमाणोंका हम उल्लेख कर आये हैं जिनमें प्रेरक निमित्तोंके उदाहरण दिये गये हैं। उनमेंसे एक यह है कि गतिरूपसे परिणत वायु पताकाकी गतिमें कारण होती है। इसमें प्रेरकता यह है कि हवाका रुख जिस ओर होगा ध्वजा उसी ओर अवश्य फहरायगी।

आगे आपने लिखा है कि 'प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यके कार्यको आगे पीछे कभी भी नहीं किया जा सकता है,' सो इस विषयमें हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कर्मबन्धकी नानारूपतासे कामादिमें भी नानारूपता आ जाती है तथा भूमिकी विपरीततासे बीजकी उत्पत्तिमें भी विपरीतता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य कभी भी किया जा सकता है। आपने भी प्रश्न नं० ५ के द्वितीय उत्तरमें कर्मानुसार कार्य होना स्वीकार किया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

थोड़ा विचार कीजिये, कि एक व्यक्तिने शीत ऋतुके आ जाने पर गर्म (ऊनी) कपड़ाका कोट बनवाना आवश्यक समझकर बाजारसे कपड़ा खरीदा, परन्तु जब वह उसे दर्जीके पास ले गया तो दर्जीने समयाभावके कारण उसकी आकांक्षाके अनुसार शीघ्र कोट बनानेमें अपनी असमर्थता बतलायी, इस तरह कोटका बनना तब तक रुका रहा जब तक कि दर्जीके पास कोटके बनानेका अवकाश नहीं निकल आया। इस दृष्टान्तमें विचारना यह है कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा खरीदे हुए उस कपड़ेमें, जब कि उसे दर्जीकी मर्जी पर छोड़ दिया गया है, कौनसी ऐसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अभाव बना हुआ है कि वह कपड़ा कोटरूपसे परिणत नहीं हो पा रहा है और जिस समय वह दर्जी कोटके सीनेका व्यापार

करने लगता है तो उस कपड़ेमें कौनसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अपने आप सद्भाव हो जाता है कि वह कपड़ा कोट बनकर तैयार हो जाता है। विचार कर देखा जाय तो यह सब साम्राज्य निमित्तकारण सामग्रीका ही है, उपादान तो बेचारा अपनी योग्यता लिये तभीसे तैयार बैठा है जब वह दर्जीके पास पहुँचा था। यहाँ पर हम उस कपड़ेकी एक एक क्षणमें होनेवाली पर्यायोंकी बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि कोट पर्याय के निर्माणसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यह कह रहे हैं कि पहले से ही एक निश्चित आकारवाले कपड़ेका वह टुकड़ा कोटके आकारको क्यों तो दर्जीके व्यापार करने पर प्राप्त हो गया और जब तक दर्जीने कोट बनाने रूप अपना व्यापार चालू नहीं किया तब तक वह क्यों जैसाका तैसा पड़ा रहा। जिस अन्वय व्यतिरेकगम्य कार्यकारणभावकी सिद्धि आगम प्रमाणसे हम पहले कर आये हैं उससे यही सिद्ध होता है कि सिर्फ निमित्तकारणभूत दर्जीकी बदौलत ही उस कपड़ेकी कोटरूप पर्याय आगेको पिछड़ गयी। कोटके निर्माण कार्यको उस कपड़ेकी सम्भाव्य क्षणवर्ती क्रमिक पर्यायोंके साथ जोड़ना कहाँतक बुद्धिगम्य हो सकता है ? यह आप ही जानें, क्योंकि एक तो प्रत्येक वस्तुमें अगुरुलघुगुणोंके आधार पर क्षणिक पर्यायोंका होना सम्भव प्रतीत होता है, दूसरे कालिक सम्बन्धसे समयादिकी अपेक्षा नवीनसे पुराने रूप परिवर्तनके रूपमें पर्यायोंका क्षणिकत्व सम्भव है। इसमें विचारनेकी बात यह है कि क्या इन पर्यायोंकी क्रमोत्पत्तिके आधार पर कपड़ेमें कोटरूप स्थूल पर्यायका निर्माण सम्भव है ? यदि नहीं, तो फिर और कौनसी ऐसी क्षणिक पर्यायोंका ताँता उस कपड़ेमें विद्यमान है जिनकी क्रमिकताके आधार पर कपड़ेकी अन्तिम पर्याय दर्जी आदि बाह्य सामग्रीके व्यापारकी अपेक्षाके बिना ही कोटका रूप धारण करनेमें समर्थ हो सकी। यह बात अनुभवगम्य है कि दर्जीके द्वारा कपड़ेकी कोट पर्यायके निर्माणके अनुरूप व्यापार करनेसे पहले उस कपड़ेमें जो भी पर्यायें क्रम या अक्रम रूपसे होती आ रही हों, उन पर्यायोंके साथ कोट पर्यायका कोई भी क्रमिक सम्बन्ध नहीं जुड़ता है, क्योंकि कोट पर्यायके निर्माणसे पहले जहाँ तक सम्भव है वहाँ तक कपड़ेका स्वामी कोटको छोड़कर यदि अन्य कोई वस्तुका निर्माण दर्जीसे करानेका निर्णय कर लेता है तो दर्जी उस कपड़ेके विषयमें अपना व्यापार कोट पर्याय के अनुरूप न करके उस वस्तुके अनुरूप करने लगता है जिसको कपड़ेका स्वामी उससे बनवाना चाहता है। इतनी बात अवश्य है कि दर्जी जब कोट पर्यायके निर्माणका कार्य प्रारम्भ करता है तो कोटके जितने अंग उसे काटने हैं और उनकी सिलाई करना है उन सब अंगोंके काटने व सीनेका कोई क्रम न होते हुए भी उनमेंसे जिस अंगको जब वह काटना व सीना प्रारम्भ करता है तब उस कपड़ेकी उस अंग रूप कटाई और सिलाईमें क्रमिकता विद्यमान रहेगी ही याने उस अंगके जितने सिलसिलेवार प्रदेश हैं उन्हें क्रमसे ही काटेगा और क्रमसे ही उनकी सिलाई होगी, फिर भी इसमें भी यह सम्भव है कि कटाई व सिलाईके व्यापारके विषयमें स्वतन्त्र होनेके कारण वह दर्जी कपड़ेकी कटाई व सिलाईको बीचमें अधूरी छोड़कर भी दूसरा व्यापार कर सकता है और बादमें कटाई व सिलाईके व्यापारको पुनः चालू कर सकता है। या दूसरा अन्य व्यक्ति भी उस कटाई व सिलाई रूप व्यापारको चालू कर सकता है। हमें आश्चर्य होता है कि यह सब व्यवस्था अनुभवगम्य और आपके पक्ष द्वारा जीवन व्यवहारमें अनिवार्य रूपसे अपनाई जाने पर भी इस वस्तु तत्त्व व्यवस्थामें आप इसकी उपेक्षा कर रहे हैं।

आगे आपने आचार्य पूज्यपादके इष्टोपदेशका 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि श्लोक उपस्थित करके यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि 'जो कुछ होता है वह केवल उपादानकी अपनी योग्यताके बलपर ही होता है' परन्तु इसके विषयमें हम आपको बतला देना चाहते हैं कि इससे भी आप अपने मतकी पुष्टि करनेमें असमर्थ ही रहेंगे। कारण कि उक्त श्लोक एक तो द्रव्यकर्मके विषयमें नहीं है। दूसरे वह हमें इतना ही

बतलाता है कि जिसमें जिस कार्यके निष्पन्न होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है उसमें निमित्त अपने बलसे उस कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है और यह बात हम भी मानते ही हैं कि मिट्टीमें जब पटरूपसे परिणत होनेकी योग्यता नहीं पायी जाती है तो जुलाहा आदि निमित्तोंका सहयोग मिल जाने पर भी मिट्टीसे पटका निर्माण असम्भव ही रहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उपादानमें अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमनकी योग्यता न हो, लेकिन निमित्त सामग्री विद्यमान हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। इसी तरह उपादानमें अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमनकी योग्यता हो लेकिन निमित्त सामग्री प्राप्त न हो तो कार्य नहीं होगा, यदि उपादानमें उक्त प्रकारकी योग्यता हो और निमित्त सामग्री विद्यमान हो, लेकिन प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री उपस्थित हो जावे तो भी कार्य नहीं होगा। इस भौतिक विकासके युगमें व्यक्ति या राष्ट्र जितनी अभूतपूर्व एवं आश्चर्यमें डालनेवाली वैज्ञानिक खोजें कर रहे हैं ये सब हमें निमित्तोंके असीम शक्तिविस्तारकी सूचना दे रही हैं।

पूज्यपाद आचार्यके उक्त श्लोकमें जो 'निमित्तमात्रमन्यस्तु' पद पड़ा हुआ है उसका आशय यह नहीं है कि निमित्त उपादानकी कार्य परिणतिमें अकिंचित्कर ही बना रहता है जैसा कि आप मान रहे हैं, किन्तु उसका आशय यह है कि उपादानमें यदि कार्योत्पादनकी क्षमता विद्यमान हो तो निमित्त उसे केवल अपना सहयोग प्रदान कर सकता है। ऐसा नहीं, कि उपादानमें अविद्यमान योग्यताकी निष्पत्ति भी निमित्त द्वारा की जा सकती है। इससे यह तथ्य फलित होता है कि जिस प्रकार जैन संस्कृति वस्तुमें स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंको स्वीकार करती है उसी प्रकार वह मात्र परप्रत्यय परिणमनका दृढ़ताके साथ निषेध भी करती है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें स्व अर्थात् उपादान और पर अर्थात् निमित्त दोनोंके संयुक्त व्यापारसे निष्पन्न होनेवाले स्वपरप्रत्यय परिणमनोंके साथ साथ जैन संस्कृति ऐसे परिणमन भी स्वीकार करती है जो निमित्तोंकी अपेक्षाके बिना केवल उपादानके अपने बल पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हें वहाँ स्वप्रत्यय नाम दिया गया है, परन्तु किसी भी वस्तुमें ऐसा एक भी परिणमन किसी क्षेत्र और किसी कालमें उत्पन्न नहीं हो सकता है जो स्व अर्थात् उपादानकी उपेक्षा करके केवल पर अर्थात् निमित्त के बलपर निष्पन्न हो सकता हो। इस तरह जैन संस्कृतिमें मात्र परप्रत्यय परिणमनको दृढ़ताके साथ अस्वीकृत कर दिया गया है।

इस प्रकार आपका यह लिखना असंगत है कि 'निमित्त कारणोंमें पूर्वोक्त दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है। कार्यका साक्षात् उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं।' क्योंकि इस तरहकी मान्यताकी संगति हमारे ऊपर लिखे कथनके अनुसार जैन संस्कृति की मान्यताके विरुद्ध बैठती है।

आगे आपने स्वामी समन्तभद्रकी 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं' इस कारिकाका उल्लेख करके बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंकी अर्थात् उपादान और निमित्तकारणोंकी समग्रताको कार्योत्पत्तिमें साधक मान लिया है यह तो ठीक है, परन्तु कारिकामें पठित 'द्रव्यगतस्वभावः' पदका अर्थ समझनेमें आपने भूल कर दी है और उस भूलके कारण ही आप निमित्तको उपादानसे कार्योत्पत्ति होनेमें उपचरित अर्थात् कल्पनारोपित कारण मानकर केवल उपादानसे ही कार्योत्पत्ति मान बैठे हैं। इसके साथ अपना एक कल्पित सिद्धान्त भी आपने बिना आगमप्रमाणके अनुभव और तर्कके विपरीत प्रस्थापित कर लिया है कि प्रत्येक समयमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार ही होती है; जिसका आशय सम्भवतः आपने यह लिया है कि उपादान स्वयं कार्योत्पत्तिके समय अपने अनुकूल निमित्तोंको एकत्रित कर लेता है। और इस संभावनाकी सत्यता इस आधारपर भी मानी जा सकती है कि आपने—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

इस पद्यको अपने अभिप्रायके अनुसार अर्थ कर प्रश्नके उत्तरमें प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है।

इस पद्यकी प्रमाणता और अप्रमाणता तथा आपके द्वारा स्वीकृत इसके अर्थकी समालोचना तो हम उसी प्रश्नके प्रकरणमें ही करेंगे, यहाँ तो सिर्फ हमें इतना ही कहना है कि स्वामी समन्तभद्रकी 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं' इस कारिकामें पठित 'द्रव्यगतस्वभावः' पदका अर्थ जो आपने समझा है वह ठीक नहीं है। उसका अर्थ तो यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें परिणमन करनेके विषयमें दो प्रकारके स्वभाव विद्यमान हैं। उनमेंसे एक स्वभाव तो यह है कि वह कितने ही परिणमनों (षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमनों) की केवल अपने ही बलपर क्षण-क्षणमें उत्पत्ति होनेकी योग्यता रखता है। और उसका दूसरा स्वभाव यह है कि कितने ही परिणमनोंकी अनुकूल निमित्तोंके सहयोगपूर्वक यथायोग्य प्रत्येक क्षणमें अथवा नाना क्षणोंके एक समूहमें उत्पत्ति होनेकी योग्यता उसमें पायी जाती है। ये दोनों वस्तुके स्वभाव ही हैं अर्थात् निमित्तकी अपेक्षाके बिना केवल उपादानके अपने ही बलपर परिणमनका होना और निमित्तोंका सहयोग लेकर उपादानके परिणमनका होना ये दोनों ही स्वभाव द्रव्यगत हैं।

आगे आपने लिखा है कि 'यदि प्रत्येक क्षणमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार न मानी जाय तो मोक्षविधि नहीं बन सकती है।' इस विषयमें हमारा कहना यह है कि जीवकी मोक्षपर्याय स्वप्रत्यय पर्याय न होकर स्वपरप्रत्यय पर्याय ही है। कारण कि मुक्तिका स्वरूप आगमग्रन्थोंमें द्रव्यकर्म, नो-कर्म और भावकर्मोंके क्षपणके आधारपर ही निश्चित किया गया है।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। —तत्त्वा० अ० १०, सूत्र २।

अर्थ—संवर और निर्जरापूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाना ही मोक्षका स्वरूप है। इस तरह आगामी कर्मोंके आस्रवका निरोध और विद्यमान कर्मोंकी निर्जराको आत्माकी पूर्ण स्वातंत्र्यदशाके विकसित होनेमें निमित्तरूपसे जैन संस्कृतिमें स्वीकृत किया गया है। इसी प्रकार चरणानुयोगपर आधारित पंचमहाव्रतादि बाह्य अर्थात् व्यवहार चारित्र और करणानुयोगपर आधारित आत्मविशुद्धि स्वरूप अन्तरंग अर्थात् निश्चय चारित्रके समन्वयको ही मुक्तिका साधन जैन संस्कृतिमें स्वीकार किया गया है। इस तरह जब जीव चरणानुयोग और करणानुयोगके अनुसार पुरुषार्थ करता हुआ अपने भाव शुद्ध करता है तब इन शुद्ध भावोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका संवर तथा बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है और इस प्रकार घातिया कर्मोंका क्षय कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है। तथा अन्तमें शेष सभी प्रकारके कर्मोंका नाश कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अतः आगम सम्मत सिद्धान्तानुसार तो मोक्षकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं आती। किन्तु आपके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तके अनुसार जीव पुरुषार्थ करनेके लिये स्वतन्त्र नहीं रहता है, वह तो नियतिके अधीन रहता है, अतः मोक्षकी विधि नहीं बन सकती है।

आगे आपने लिखा है कि 'यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंगके प्राप्त होनेके पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है, पर उस द्वारा भावलिंगकी प्राप्ति द्रव्यलिंगको स्वीकार करते समय ही हो जाती हो, ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है। तीर्थंकरादि किसी महान् पुरुषको दोनोंकी एक साथ प्राप्ति होती हो, यह बात अलग है।'

इसके विषयमें हमारा कहना है कि आगममें व्यवहार चारित्रको निश्चय चारित्रमें कारण स्वीकार किया गया है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरन्स्त्वम्. आध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ॥

—स्वयंभूस्तोत्र, कुन्थजिन स्तुति, पद्य ८३

अर्थ—हे भगवन् ! आपने अन्तरंग तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त दुर्धर बाह्य तपका आचरण किया था।

इस विषयके अन्य अनेकों प्रमाण प्रश्न नं० ३, ४ व १३ के उत्तरोंमें देखनेको मिलेंगे।

उपरोक्त आपके कथनमें भी प्रकारान्तरसे यह तो स्वीकार कर ही लिया गया है कि भावलिंगकी प्राप्तिके लिए द्रव्यलिंग अनिवार्य कारण है अर्थात् द्रव्यलिंग ग्रहण किये बिना भावलिंगकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। जहाँ इन दोनोंकी एक साथ प्राप्ति बतलाई गई है वहाँ भी वास्तवमें द्रव्यलिंग पूर्वमें ही ग्रहण किया जाता है और कुछ क्षण पश्चात् ही भावलिंग हो जानेसे, वह अन्तर ज्ञानमें नहीं आता है, इस कारण एक साथ प्राप्ति कहलाती है। यदि बिल्कुल एक साथ भी प्राप्ति मानी जाती है, तब भी द्रव्यलिंग कारण है और भावलिंग कार्य है। जैसे—

युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तैं होई। —छहढाला चौथी ढाल छन्द २

भावलिंगकी प्राप्तिके लिए जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अनिवार्य कारणरूपसे द्रव्यलिंगको ग्रहण करता है। भावलिंगकी प्राप्तिके समय द्रव्यलिंग स्वयमेव, बिना जीवके पुरुषार्थके, आकर उपस्थित नहीं हो जाता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि 'भावलिंग होने पर द्रव्यलिंग होता है।' प्रत्युत भावलिंग होनेसे पूर्व द्रव्यलिंगको तो उसकी उत्पत्तिके लिये कारणरूपसे मिलाया जाता है। द्रव्यलिंगके ग्रहण करनेपर ही भावलिंगकी उत्पत्ति हो सकती है, इसके ग्रहण किये बगैर उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसे धूम्र अग्निके होनेपर ही हो सकता है, अग्निके बिना नहीं हो सकता है; अपितु अग्निके होनेपर हो भी या न भी हो। किन्तु भावलिंगकी उत्पत्तिके लिए मात्र द्रव्यलिंग ही कारण नहीं है। उसके साथ अन्य कारणोंकी भी आवश्यकता है—जैसे चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम, क्षेत्रकी अपेक्षा कर्मभूमिका आर्य खण्ड, कालकी अपेक्षा दुषमा-सुषमा या दुषमा काल तथा स्वयं जीवका पुरुषार्थ आदि। यदि अन्य यह सब या इनमेंसे कोई कारण नहीं मिलेगा तो भावलिंगकी उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति समस्त कारणोंके मिलनेपर ही होती है। किन्तु अन्य कारण न मिलनेपर कार्य न होनेका यह अर्थ नहीं कि जो कारण मिले हैं उनमें कारणत्व भाव (धर्म) नहीं है। यदि इनमें कारणत्व न हो तो इनके बगैर भी, अन्य कारणोंके मिल जाने मात्रसे ही कार्य हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः इनमें स्वभावतः वास्तविकरूप कारणत्व शक्ति सिद्ध हो जाती है और इसी प्रकार अन्य कारणोंमें भी सिद्ध हो जाती है। कारणका लक्षण भी मात्र इतना ही है कि—'जिसके बिना कार्य न हो।'

जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं। —श्री धवल १४-९०

अर्थ—जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण है।

यह बात दूसरी है कि कार्यके हो जाने पर, उस कार्यको देखकर यह अनुमान लगा लिया जाय कि इस कार्यके लिए जो-जो कारण आवश्यक थे वह सब मिले हैं, क्योंकि सर्व कारण मिले बिना उस कार्यका होना असम्भव था। यह भी अनुमान हो ज़ाता है कि जो कारण साथमें रहनेवाले हैं वे साथमें हैं और जो पूर्वमें हो जानेवाले हैं वे हो चुके हैं। जैसे प्रकाशको देखकर दीपकका या धूमको देखकर अग्निका अनुमान

लगाया जा सकता है। इस प्रकार कार्य अपने कारणोंका मात्र ज्ञापक ही हो सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जब प्रकाश या धूम अपने उपादानके अनुसार उत्पन्न हुआ तो दीपक या अग्निको स्वयमेव ही उसके निमित्तरूपसे उपस्थित होना पड़ा। जिसको प्रकाश या धूमकी आवश्यकता होती है उसको उसके कारणभूत दीपक या अग्निको अपने पुरुषार्थ द्वारा जुटाना पड़ता है। अतः आपका उपर्युक्त सिद्धान्त प्रत्यक्षके भी विरुद्ध है।

यदि आपका उपर्युक्त सिद्धान्त माना जायगा तो कार्य-कारणभाव बिल्कुल उल्टा हो जायगा, क्योंकि जब स्वयमेव उपादानसे होनेवाले कार्यके अनुसार कारणों को उपस्थित होना पड़ा तो वह कार्य उन कारणोंकी उपस्थितिमें कारण हो गया अर्थात् कार्य कारण बन गया और कारण कार्य बन गये। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उपरोक्त दृष्टान्तोंमें भावलिंग, प्रकाश या धूम (जो कार्य हैं) द्रव्यलिंग, दीपक या अग्निके होनेमें कारण बन गये, क्योंकि जब भावलिंग आदि अपने उपादानसे हुए तो अनिवार्यरूपसे द्रव्यलिंग आदिको होना पड़ा। यह बात आगम तथा प्रत्यक्षके विरुद्ध है।

'उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है' केवल यह मान्यता भी ठीक नहीं है। भावलिंग क्षायोपशमिक भाव है। इसकी प्राप्ति चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमरूप निमित्तके अनुसार ही उपादानमें होती है।

तत्र···क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः। –श्री पञ्चास्तिकाय गा० ५६ की टीका

अर्थ—कर्मोंके क्षयोपशम सहित जो भाव है वह क्षायोपशमिक भाव है।

इस भावको, पौद्गलिक कर्मके क्षयोपशम द्वारा जन्य होनेके कारण ही कथंचित् मूर्तीक तथा अवधिज्ञानका विषय माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे ही भावलिंग आत्मामें उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। अतः आपका यह फलितार्थ निकालना कि 'निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार होती है' आगम विरुद्ध है।

आपके उपरोक्त सिद्धान्तके अनुसार जब उपादान अपने अनुसार कार्य कर ही लेता है, तब निमित्तकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है। चूँकि आगममें सर्वत्र यह प्ररूपण किया गया है कि निमित्त तथा उपादान रूप उभय कारणोंसे ही कार्य होता है और निमित्त हेतु कर्ता भी होता है, अतः शब्दोंमें तो आपने उसे (निमित्तको) इन्कार नहीं किया, किन्तु मात्र शब्दोंमें स्वीकार करते हुए भी, आप निमित्तभूत वस्तुमें कारणत्वभाव स्वीकार नहीं करते हैं, तथा निमित्तको अकिंचित्कर बतलाते हुए, मात्र उपादानके अनुसार ही अर्थात् एकान्ततः मात्र उपादानसे ही कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं। आगमके शब्दोंको केवल निबाहनेके लिये यह कह दिया गया है कि निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार हुआ करती है। ताकि यह न समझा जाय कि आगम माननीय नहीं है। इस एकान्त सिद्धान्तकी मान्यतासे यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त कारण मात्र शब्दोंमें ही माना जा रहा है, वास्तवमें उसको कारणरूपसे नहीं माना जा रहा है।

हमने अपनी दूसरी प्रतिशंकामें यह स्पष्ट किया था कि प्रवचनसारकी गाथा १६९ तथा उसकी श्री अमृतचन्द्रकृत टीकामें जो 'स्वयं' शब्द आया है उसका अर्थ 'अपने आप' न होकर 'अपने रूप' ही है। इसके अनन्तर पुनः आपने अपने प्रत्युत्तरमें यह कहा है कि 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'स्वयं ही' है अपने रूप नहीं।

इस विषयमें हमारा कहना यह है कि 'स्वयमेव' पद कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोंमें जहाँ भी कार्यकारण-भावके प्रकरणमें आया है वहाँ सर्वत्र उसका अर्थ 'अपने रूप' अर्थात् 'स्वयं की वह परिणति है' 'या स्वयंमें ही वह परिणति होती है' ऐसा ही करना चाहिए। 'बिना सहकारी कारणके अपने आप वह परिणति होती है' ऐसा अर्थ कदापि संगत नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि समयसार गाथा ८० व ८१ में तथा गाथा १०५ में और इसके अतिरिक्त अन्य बहुतसे स्थानोंमें भी आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा तथा इसी प्रकार समस्त आचार्य परम्पराके आगमसाहित्यमें उपादानकी स्वपरप्रत्ययरूप प्रत्येक परिणति निमित्तसापेक्ष ही स्वीकार की गयी है और यह हम पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं कि निमित्त भी उपादानकी तरह कार्योत्पत्तिमें सहकारी कारणके रूपमें वास्तविक तथा अनिवार्य ही है, कल्पित नहीं; अतः उपादानकी स्वपरप्रत्यय परिणति निमित्तकारणके सहयोगके बिना अपने आप ही हो जाया करती है—यह मान्यता आगम विरुद्ध है। इसलिए यही मानना श्रेयस्कर है कि कार्यकारणभावके प्रकरणमें जहाँ भी आगम साहित्यमें 'स्वयमेव' पद आया है वहां पर उसका अर्थ वही करना चाहिए जो हमने ऊपर लिखा है।

आपने लिखा है कि प्रवचनसार गाथा १६९ में 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'स्वयं ही' है, 'अपने रूप' नहीं। और आगे लिखा है कि 'इसके लिए समयसार गाथा ११६ आदि तथा १६८ संख्याक गाथाओंका अवलोकन करना प्रकृतमें उपयोगी होगा।'

इस पर हमारा कहना यह है कि किसी भी शब्दका अर्थ प्रकरणके अनुसार निश्चित किया जाता है। जैसे प्रवचनसार गाथा १६८ की श्री अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीकामें पठित 'स्वयमेव' शब्दका अर्थ प्रकरणानुसार 'अपने आप' ही आपने ठीक माना है और हम भी वहाँ इसी अर्थको ठीक समझते हैं। कारण कि वहाँ प्रकरणके अनुसार यह दिखलाया गया है कि लोक पुद्गलकायोंसे स्वतः ही व्याप्त हो रहा है, उसका कारण अन्य नहीं है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आगममें जहाँ भी 'स्वयमेव' पदका पाठ किया गया है वहाँ सर्वत्र उक्त १६८वीं गाथाकी टीकाके 'स्वयमेव' पदके समान 'अपने आप' अर्थ करना ही उचित होगा। जैसे भोजनके समय 'सैन्धव' शब्दका नमक अर्थ लोकमें लिया जाता है और युद्धादि कार्योंके अवसर पर 'सैन्धव' शब्दका 'घोड़ा' ही अर्थ लिया जाता है इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

समयसार गाथा ११६ आदिमें जो 'स्वयं' शब्द आया है उसका भी अर्थ 'अपने आप' नहीं माना जा सकता है। कारण कि उन गाथाओंमें पठित 'स्वयं' शब्दका इतना ही प्रयोजन ग्राह्य है कि पुद्गल कर्म-वर्गणाएँ ही कर्मरूपसे परिणत होती हैं, जीवका पुद्गलमें कर्मरूपसे परिणमन नहीं होता। वे गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं तु परिणामयदि चेदा॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा॥११९॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥ (पंचकम्)

इन गाथाओं द्वारा आचार्य कुन्दकुन्दने पुद्गलद्रव्यके परिणामी स्वभावकी सिद्धि की है। जैसे—

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामिस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति।
—उल्लिखित गाथाओंकी अवतरणिका

अर्थ—उक्त गाथाओंके द्वारा सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यका परिणामी स्वभाव सिद्ध करते हैं।

यहाँपर पहली बात तो यह है कि सांख्यमतानुयायी पुद्गल द्रव्यके परिणामी स्वभावको नहीं मानता है, इसलिए आचार्यको इसके सिद्ध करनेकी आवश्यकताकी अनुभूति हुई है। दूसरी बात यह है कि इस अवतरणिकामें 'स्वयं' शब्दका पाठ नहीं होनेसे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तुके परिणामी स्वभावकी सिद्धि करना ही आचार्यको अभीष्ट रही है, अपने आप परिणामी स्वभावकी नहीं। अब विचारना यह है कि यदि आचार्य कुन्दकुन्दको उक्त गाथाओंके द्वारा अपने आप अर्थात् अन्य (आत्मा) की सहायताकी अपेक्षा रहित पुद्गलद्रव्यका कर्मरूपसे परिणामी स्वभाव सिद्ध करना अभीष्ट होता तो आचार्य अमृतचन्द्र इनकी उक्त अवतरणिकामें 'स्वयमेव' शब्दका पाठ अवश्य करते। दूसरी बात यह है कि गाथा ११७ के उत्तरार्धमें जो संसारके अभावकी अथवा सांख्यमतकी प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है वह पुद्गलको परिणामी स्वभाव न माननेपर ही उपस्थित हो सकती है 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभावमें नहीं। कारण कि परिणामी स्वभावके अभावमें तो उक्त दोनों आपत्तियोंकी प्रसक्ति सम्भव है, परन्तु 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभावमें वे आपत्तियाँ इसलिए सम्भव नहीं मालूम देतीं कि पुद्गल द्रव्यमें 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभावमें परसापेक्ष परिणामी स्वभावका सद्भाव सिद्ध हो जायगा। ऐसी हालतमें संसारका अभाव अथवा सांख्य समय कैसे प्रसक्त हो सकेगा? यह बात विचारणीय है। एक बात और विचारणीय है कि यदि इन गाथाओंमें 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' ग्राह्य माना जायगा तो गाथा ११७ के पूर्वार्धमें भी 'स्वयं' शब्दके पाठकी आवश्यकता अनिवार्य हो जायगी, ऐसी हालतमें उसमें आचार्य कुन्दकुन्द 'स्वयं' शब्दके पाठ करनेकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इन सब कारणोंसे स्पष्ट है कि ११६ आदि गाथाओंमें आचार्य कुन्दकुन्दको 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' अभीष्ट नहीं था, बल्कि 'अपने रूप' ही अभीष्ट था। इस निष्कर्षके साथ जो इन गाथाओंका अर्थ होना चाहिए वह निम्न प्रकार है—

अर्थ—यदि पुद्गलद्रव्य जीवमें अपने रूपसे बद्ध नहीं होता और उसकी अपने रूपसे कर्मरूप परिणति नहीं होती तो ऐसी हालतमें वह अपरिणामी ही ठहरता है। इस तरह जब कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूपसे परिणत न हों तो एक तो संसारका अभाव हो जायगा, दूसरे शब्दोंमें परिणामी स्वभावका निषेध करनेवाले सांख्यमत की प्रसक्ति हो जायगी। यदि कहा जाय कि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणत करा देगा, इसलिए न तो संसारका अभाव होगा और न सांख्यमतकी प्रसक्ति ही प्राप्त होगी, तो जीवद्रव्य कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता रखनेवाले पुद्गलद्रव्यको कर्मरूपसे परिणत करायगा अथवा ऐसे पुद्गलको कर्मरूपसे परिणत करायगा जिसमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है। यदि जीव उन पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणत करावेगा जिनमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है तो जिन पुद्गलोंमें कर्मरूपसे

परिणत होनेकी योग्यता का अभाव है याने जो कभी कर्मरूपसे परिणत हो ही नहीं सकते हैं उन्हें जीव द्रव्य कैसे कर्मरूप बना सकेगा, इसलिए यदि यह माना जाय कि ऐसे पुद्गलोंको जीवद्रव्य कर्मरूपसे परिणत करेगा जिनमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान है तो फिर 'जीव अपरिणमनशील अर्थात् परिणमनकी योग्यतासे रहित पुद्गलको कर्मरूपसे परिणमन कराता है' यह ऊपर गाथा ११८ के पूर्वार्द्धमें प्रतिज्ञात सिद्धान्त मिथ्या हो जाता है। इस तरह गाथा ११६ से संसूचित यह सिद्धान्त ही ठीक है कि जीवके साथ पुद्गलकी अपनी बद्धता होती है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीवके साथ संयोग होनेपर भी पुद्गल स्वयं अबद्ध ही बना रहता है। इसी तरह 'जीवके साथ संयुक्त होनेपर पुद्गलमें स्वयंकी कर्मरूप परिणति हो जाया करती है।' ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीवके साथ संयुक्त होकर भी पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणतिसे अलग ही बना रहता है। इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि कर्मरूप परिणतिको प्राप्त पुद्गल-द्रव्यकी ही कर्मरूप अवस्था है और इस तरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप जितनी भी अवस्थाएँ बनती हैं वे सब पुद्गलकी ही अवस्थाएँ हैं।

इस विवेचनसे बिल्कुल स्पष्ट है कि ११६ आदि गाथाओंमें पठित 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' न होकर 'अपने रूप' ही करना चाहिये।

हम अब आगमके एक दो और भी ऐसे प्रमाण यहाँ दे रहे हैं जिनमें 'स्वयमेव' या 'स्वयं' शब्दका 'अपने आप' अर्थ न होकर 'आप ही' अर्थ होता है। इसके लिये समयसारकी ३०६ व ३०७ गाथाओंकी आत्मख्याति टीकाको देखिये। इन गाथाओंकी टीकामें पठित 'स्वयमेवापराधत्वात्' तथा 'स्वयममृतकुम्भो भवति' इन वाक्योंमें 'स्वयं' शब्दका 'आप ही' यह अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार समयसार-गाथा १३ की आत्मख्याति टीकामें पठित स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः' इस वाक्यमें भी 'स्वयं' शब्दका 'आप रूप' अर्थ ही अभीष्ट है।

आगे आपने लिखा है कि 'समयसार गाथा १०५ में उपचारका जो अर्थ प्रथम प्रश्नके उत्तरमें किया गया है वह अर्थ संगत है।' इस विषयमें हमने द्वितीय प्रतिशंकामें जो आशय व्यक्त किया था, उसके ऊपर आपने गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। अब इस प्रतिशंकामें भी पूर्वमें उपचारके अर्थके विषयमें हम विस्तार पूर्वक लिख आये हैं जिसपर आप अवश्य ही गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

आपने उपचार शब्दके अपने द्वारा किये अर्थकी संगतिके लिये जो धवल पुस्तक ६ पृष्ठ ११ का प्रमाण उपस्थित किया है उसके विषयमें हमारा कहना यह है कि उक्त प्रकरणमें आत्मामें विद्यमान कर्तृत्वका उपचार उससे (आत्मासे) अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) पुद्गलद्रव्यमें किया गया है, इसलिये 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते' उपचारकी यह व्याख्या यहाँपर घटित हो जाती है, परन्तु ऐसा उपचार प्रकृतमें सम्भव नहीं है। कारण कि आत्माके कर्तृत्वका उपचार यदि द्रव्यकर्ममें आप करेंगे तो इस उपचारके लिये सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजनको देखना होगा, जिनका कि यहाँपर सर्वथा अभाव है। इस विषयका विवेचन हम इस लेखमें पहले कर ही चुके हैं।

नोट—इस विषयमें प्रश्न ५,६,११ और १७ पर भी दृष्टि डालिये।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १

द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमें ही हम यह बतला आये हैं कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। विकारभाव तथा चतुर्गति परिभ्रमण-का मुख्यकर्ता तो स्वयं आत्मा ही है। इस तथ्यकी पुष्टिमें हमने समयसार, पंचास्तिकायटीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाके अनेक प्रमाण दिये हैं किन्तु अपर पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान माननेके लिए तैयार प्रतीत नहीं होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमणमें व्यवहार नयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धको अपने मूल प्रश्नका उत्तर नहीं मानता इसका हमें आश्चर्य है। हमारे प्रथम उत्तर-को लक्ष्य कर अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशंका २ के उत्तरमें भी हमारी ओरसे अपने प्रथम उत्तरमें निहित अभिप्रायकी ही पुष्टि की गई है।

तत्काल हमारे सामने हमारे द्वितीय उत्तरके आधारसे लिखी गई प्रतिशंका ३ विचारके लिए उपस्थित है। इस द्वारा सर्वप्रथम यह शिकायत की गई है कि हमारी ओरसे अपर पक्षके मूल प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें ही दिया गया है और न ही दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है। 'संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गति परिभ्रमणमें कर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्तमात्र है, मुख्य कर्ता नहीं' इस उत्तरको अपर पक्ष अप्रासंगिक मानता है। अब देखना यह है कि वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासंगिक है या अपर पक्षका वह कथन अप्रासंगिक ही नहीं सिद्धान्तविरुद्ध है जिसमें उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है।

अपर पक्षने पद्मनन्दि पंचविंशतिका २३, ७ का 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस वचनको उद्धृत कर जो विकारको दोका कार्य बतलाया है सो यहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभाव परिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभाव परिणति है ? वह दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभाव परिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमें नहीं कर सकते। इसी बातको समयसार आत्मख्याति टीकामें स्पष्ट करते हुए बतलाया है—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

इसकी टीका करते हुए पं० श्री जयचन्द जी लिखते हैं—

दो द्रव्य एक होके नहीं परिणमते और दो द्रव्यका एक परिणाम भी नहीं होता तथा दो द्रव्यकी एक परिणति क्रिया भी नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं वे अनेक ही हैं एक नहीं होते ॥ ५३ ॥

इसके भावार्थमें वे लिखते हैं—

दो वस्तु हैं वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेदरूप ही हैं, दोनों एकरूप होकर नहीं परिणमतीं, एक परिणामको भी नहीं उपजातीं और एक क्रिया भी उनकी नहीं होती ऐसा नियम है। जो दो द्रव्य एकरूप हो परिणमैं तो सब द्रव्योंका लोप हो जाय।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाशमें 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्'। इस वचनका वास्तविक यही अर्थ फलित होता है कि संयोगरूप भूमिकामें एक द्रव्यके विकार परिणतिके करनेपर अन्य द्रव्य विवक्षित पर्यायके द्वारा उसमें निमित्त होता है। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि निश्चय व्यवहार दोनों नयवचनों-को स्वीकार कर 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' यह वचन लिखा गया है। स्पष्ट है कि मूल प्रश्नका उत्तर लिखते समय जो हम यह सिद्ध कर आये हैं कि 'संसारी आत्माके विकार भाव और चतुर्गति परिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। उसका मुख्य कर्ता तो स्वयं आत्मा ही है।' वह यथार्थ लिख आये हैं। पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके उक्त वचनसे भी यही सिद्ध होता है।

अपर पक्षका कहना है कि 'यदि क्रोध आदि विकारी भावोंको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान ये भी जीवके स्वभाव हो जायेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आजावेगा।' आदि,

समाधान यह है कि क्रोध आदि विकारी भावोंको जीव स्वयं करता है, इसलिए निश्चयनयसे वे पर-निरपेक्ष ही होते हैं इसमें सन्देह नहीं। कारण कि एक द्रव्यके स्वचतुष्टयमें अन्य द्रव्यके स्वचतुष्टयका अत्यन्ताभाव है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर श्री जयधवला पु० ७ पृ० ११७ में कहा है—

बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक वस्तुका परिणाम बाह्य कारण निरपेक्ष होता है।

किन्तु जिस-जिस समय जीव क्रोधादि भावरूपसे परिणमता है उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्मके उदयकी नियमसे कालप्रत्यासत्ति होती है, इसलिए व्यवहार नयसे क्रोधादि कषायके उदयको निमित्तकर क्रोधादि भाव हुए यह कहा जाता है। कारण दो प्रकारके हैं—बाह्य कारण और आभ्यन्तर कारण। बाह्य कारणको उपचरित कारण कहा है और आभ्यन्तर कारणकी अनुपचरित कारण संज्ञा है। इन दोनोंकी सम-ग्रतामें कार्यकी उत्पत्ति होनेका नियम है। अतएव न तो संसारका ही अभाव होता है और न ही मोक्षमें क्रोधादि भावोंकी उत्पत्तिका प्रसंग ही उपस्थित होता है।

क्रोधादि कर्मोंको निमित्त किये बिना क्रोधादि भाव होते हैं ऐसा हमारा कहना नहीं है और न ऐसा आगम ही है। हमारा कहना यह है कि क्रोधादि विकारी भावोंको स्वयं स्वतन्त्र होकर जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नहीं। आगमका भी यही अभिप्राय है। यदि ऐसा न माना जायगा तो न तो क्रोधादि भावोंका कभी अभाव होकर इस जीवको मुक्तिकी ही प्राप्ति हो सकेगी और न ही दो द्रव्योंमें भिन्नता सिद्ध हो सकेगी। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर तत्त्वानुशासनमें यह वचन उपलब्ध होता है—

अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरः ॥२९॥

जिस द्रव्यके उसी द्रव्यमें कर्ता और कर्म आदिको विषय करनेवाला निश्चयनय है तथा विविध द्रव्योंमें एक-दूसरेके कर्ता और कर्म आदिको विषय करनेवाला व्यवहारनय है ॥२९॥

यहाँ विविध द्रव्योंमें एक-दूसरेके कर्ता आदि धर्मोंको व्यवहारनयसे स्वीकार किया गया है सो यह कथन तभी बन सकता है जब एकके धर्मको दूसरेमें आरोपित किया जाय। इसीको असद्भूत व्यवहार कहते हैं। इस तथ्यको विशदरूपसे समझनेके लिए आलापपद्धतिके 'अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः—अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है' इत्यादि वचनपर दृष्टिपात कीजिए।

अपर पक्षने आप्तपरीक्षा कारिका २ से 'सदकारणवन्नित्यम्' वचनको क्यों उद्धृत किया, इसका विशेष प्रयोजन हम नहीं समझ सके। क्या ऐसा एकान्त नियम है कि जो-जो जीवका स्वभाव होता है वह सर्वथा नित्य होता है। अपर पक्ष इस बातको भूल जाता है कि जैन दर्शनके अनुसार आप्तपरीक्षाका उक्त वचन द्रव्यार्थिकनयका ही वक्तव्य हो सकता है, पर्यायार्थिकनयका वक्तव्य नहीं, क्योंकि जैन-दर्शनमें कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य नहीं स्वीकार की गई है। और स्वभाव पर्याय सर्वथा कारणके अभावमें होती हो यह भी नहीं है। वहाँ भी प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रताको जैनदर्शन स्वीकार करता है। जहाँ भी आगममें स्वभाव कार्यको परनिरपेक्ष बतलाया है वहाँ उसका आशय इतना ही है कि जिस प्रकार क्रोधादि भाव कर्मोदय आदिको निमित्तकर होते हैं उस प्रकार स्वभाव कार्य कर्मोदय आदिको निमित्तकर नहीं होते। स्पष्ट है कि आप्तपरीक्षाका उक्त वचन प्रकृतमें उपयोगी नहीं है।

अपर पक्षने जयधवला १-५६ के वचनको उद्धृतकर जो यह प्रसिद्ध किया है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है सो इसका हमने कहाँ निषेध किया है। रागादि भावकी उत्पत्तिमें कर्मकी निमित्तताको जैसे अपर पक्ष स्वीकार करता है उसी प्रकार हम भी स्वीकार करते हैं। विवाद इसमें नहीं है। किन्तु विवाद इसमें है कि परद्रव्यकी विवक्षित पर्यायको निमित्तकर दूसरे द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका यथार्थ कर्त्ता कौन है ? अपर पक्षने परमात्मप्रकाश गाथा ६६ और ७८ को उपस्थित कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जीवको सुख-दुःख व नरक-निगोद आदि दुर्गति देनेवाला कर्म ही है। आत्मा तो पंगुके समान है। वह न कहीं जाता है और न आता है। तीन लोकमें इस जीवको कर्म ही ले जाता है और कर्म ही ले आता है। शायद अपर पक्ष निमित्त कर्ताका यही अर्थ करता है और इसीको वह अपने प्रश्नका समुचित उत्तर मानता है। किन्तु यह व्यवहारनयका वक्तव्य है इसे अपर पक्ष भूल जाता है। परका सम्पर्क करनेसे जीवकी कैसी गति होती है यह इन वचनों द्वारा प्रसिद्ध किया गया है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य बात है कि परका सम्पर्क करना और न करना इसमें जीवकी स्वतन्त्रता है। इसमें उसकी स्वतन्त्रता है कि जैसे कोई पुरुष या स्त्री अपने ऊपर किरासिन तेल डालकर और अग्नि लगाकर जल मरे। जो ऐसा करता है वह नियमसे मरकर दुर्गतिका पात्र होता है और जो ऐसा नहीं करता वह मरकर दुर्गतिका पात्र नहीं होता। ऐसा ही इनमें निमित्तनैमित्तिक योग है। इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। परमात्मप्रकाशके कर्ता इस संसारी जीवको परके सम्पर्क करनेका क्या फल है यह दिखलाकर उससे विरत करना चाहते हैं। यह तो है कि यह जीव परका सम्पर्क करके नरक-निगोदका पात्र होता है और अपना पुरुषार्थ भूलकर पंगुके समान बना रहता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि यह जीव परका सम्पर्क तो करे नहीं, फिर भी पर द्रव्य इसे सुखी-दुखी या नरक-निगोद आदिका पात्र बना देवे। परका सम्पर्क करनेसे जीवका सुखी-दुखी होना और बात है और परसे यह जीव सुखी-दुखी होता है, ऐसा मानना और बात है। परमात्मप्रकाशके कर्ताने इनमेंसे प्रथम वचनको ध्यानमें रखकर ही 'अप्पा पंगुह' तथा 'कम्मइँ दिढघणचिक्कणइँ' इत्यादि वचन

कहे हैं। यद्यपि संसारी जीव परका सम्पर्क करनेके फलस्वरूप स्वयं सुखी-दुखी तथा नरक-निगोद आदि गतियोंका पात्र होता है। पर यह कार्य जिनके सम्पर्कमें होता है उनकी निमित्तता दिखलानेके लिए ही यह कहा गया है कि आत्मा पंगुके समान है। वह न आता है और न जाता है। विधि ही तीन लोकमें इस जीव-को ले जाता है और ले आता है। इत्यादि।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि परमात्मप्रकाश दोहा ६६ में आया हुआ विधि शब्द जहाँ द्रव्य-कर्मका सूचक है वहाँ वह परमात्माकी प्राप्तिके प्रतिपक्षभूत भावकर्मको भी सूचित करता है। जब इस जीवकी द्रव्य-पर्यायस्वरूप जिस प्रकारकी योग्यता होती है तब उसकी उसके अनुसार ही परिणति होती है और उसमें निमित्त होने योग्य बाह्य सामग्री भी उसीके अनुरूप मिलती है ऐसा ही त्रिकालाबाधित नियम है, इसमें कहीं अपवाद नहीं, तथा यदि परको लक्ष्यकर परिणमन होता है तो नियमसे विभाव परिणतिकी उत्पत्ति होती है और स्वभावको लक्ष्यकर परिणमन होता है तो नियमसे स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है। जीवके संसारी बने रहने और मुक्ति प्राप्त करनेकी यह चाबी है। इसमें भी कहीं कोई अपवाद नहीं। यहाँ परके सम्पर्क करनेका अभिप्राय ही परको लक्ष्यकर परिणमन करना लिया है। पर वस्तु विभाव परिणतिमें तभी निमित्त होती है जब यह जीव उसको लक्ष्यकर परिणमन करता है, अन्यथा संसारी जीव कभी भी मुक्ति प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जब विवक्षित द्रव्य अपना कार्य करता है तब बाह्य सामग्री उसमें यथायोग्य निमित्त होती है। परमात्मप्रकाशके उक्त कथनका यही अभिप्राय है। समयसार गाथा २७८ व २७९ से भी यही सिद्ध होता है। उक्त गाथाओंमें यद्यपि यह कहा गया है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि आप शुद्ध है, वह लालिमा आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता है। किन्तु वह अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा लालिमारूप परिणमाया जाता है उसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है, वह राग आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता है। किन्तु वह रागादिरूप दोषों द्वारा रागी किया जाता है। परन्तु इस कथनका ठीक आशय क्या है इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्रने 'न जातु रागादि' इत्यादि कलश द्वारा किया है। इसमें पर पदार्थको निमित्त न बतलाकर परके संगमें निमित्तता सूचित की गई है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि आगममें जहाँ-जहाँ इस प्रकारका कथन आता है कि जीवको कर्म सुख-दुख देते हैं, कर्म बड़े बलवान् हैं, वे ही इसे नरकादि दुर्गतियोंमें और देवादि सुगतियोंमें ले जाते हैं वहाँ-वहाँ उक्त कथनका यही अर्थ करना चाहिए कि जब तक यह जीव कर्मोदयकी संगति करता है तब तक इसे संसार परिभ्रमणका पात्र होना पड़ता है। कर्मोदय जीवके सुख-दुःखादिमें निमित्त है इसका आशय इतना ही है। परमात्मप्रकाशमें इसी आशयको इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया है कि यह जीव पंगुके समान है। वह न कहीं जाता है और न आता है, कर्म ही इसे तीन लोकमें ले जाता है और ले आता है आदि।

आगममें दोनों प्रकारका कथन उपलब्ध होता है। कहीं उपादानकी मुख्यतासे कथन किया गया है और कहीं निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी मुख्यतासे कथन किया गया है। जहाँ उपादानकी मुख्यतासे कथन किया गया है वहाँ उसे निश्चय (यथार्थ) कथन जानना चाहिए और जहाँ निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी मुख्यतासे कथन किया गया है वहाँ उसे असद्भूतव्यवहार (उपचरित) कथन जानना चाहिए।

श्री समयसार गाथा ३२ की टीकामें निमित्त व्यवहारके योग्य मोहोदयको भावक और आत्माको भाव्य कहा गया है सो उसका आशय इतना ही है कि जब तक यह जीव मोहोदयके सम्पर्कमें एकत्वबुद्धि करता रहता है तभी तक मोहोदयमें भावक व्यवहार होता है और आत्मा भाव्य कहा जाता है। यदि ऐसा

न माना जाय तो सतत मोहोदयके विद्यमान रहनेके कारण यह आत्मा भेदविज्ञानके बलसे कभी भी भाव्य-भावक संकर दोषका परिहार नहीं कर सकता। इस प्रकार उक्त कथन द्वारा आत्माकी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। आत्मा स्वयं स्वतन्त्रपने मोहोदयसे अनुरंजित हो तो ही मोहोदय रंजक है, अन्यथा नहीं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

समयसार गाथा १९८ में भी इसी तथ्यको सूचित किया गया है कि जितने अंशमें जीव पुरुषार्थ-हीन होकर कर्मोदयरूप विपाकसे युक्त होता है उतने अंशमें जीवमें विभाव भाव होते हैं। अतः ये परके सम्पर्कमें हुए हैं इसलिए इन्हें परभाव भी कहते हैं और ये आत्माके विभावरूप भाव होनेसे स्वभावरूप भावोंसे बहिर्भूत हैं, इसलिए हेय हैं। यदि इनमें इस जीवकी हेय बुद्धि हो जाय तो परके सम्पर्कमें भी हेय बुद्धि हो जाय यह तथ्य इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ भी आत्माकी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। कर्मोदय बलपूर्वक इसे विभावरूप परिणमाता है यह इसका आशय नहीं है। किन्तु जब वह जीव स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मोदयसे युक्त होता है तब नियमसे विभावरूप परिणमता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। समयसार गाथा १९९ का भी यही आशय है। समयसार गाथा २८१ में उक्त कथनसे भिन्न कोई दूसरी बात कही गई हो ऐसा नहीं समझना चाहिए। जिसको निमित्त कर जो भाव होता है वह उससे जायमान हुआ है ऐसा कहना आगम परिपाटी है जो मात्र किस कार्यमें कौन निमित्त है इसे सूचित करनेके अभिप्रायसे ही आगममें निर्दिष्ट की गई है। विशेष खुलासा हम पूर्वमें ही कर आये हैं। उपादानमें होनेवाले व्यापारको पृथक् सत्ताक बाह्य सामग्री त्रिकालमें नहीं कर सकती इस तथ्यको तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा। अतएव आत्मामें उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष और मोह कर्मोदयसे उत्पन्न होते हैं ऐसा कहना व्यवहार कथन ही तो ठहरेगा। इसे परमार्थभूत (यथार्थ) कथन तो किसी भी अवस्थामें नहीं माना जा सकता। समयसारकी उक्त गाथाओंमें इसी सरणिको लक्ष्यमें रखकर उक्त कथन किया गया है। तथा यही आशय उनकी टीका द्वारा भी व्यक्त किया गया है। यदि अपर पक्ष निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीमें यथार्थ कर्तृत्वकी बुद्धिका त्याग कर दे तो पूरे जिनागमकी संगति बैठ जाय। विज्ञेषु किमधिकम्।

पञ्चास्तिकाय गाथा १३१ की टीकापर हमने दृष्टिपात किया है। इसमें मोह तथा पुण्य-पापके योग्य शुभाशुभ भावोंका निर्देश किया गया है और साथ ही वे किसको निमित्त कर होते हैं यह भी बतलाया गया है। पञ्चास्तिकाय गाथा १४८ का भी यही आशय है इस तथ्यको स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र 'बहिरङ्गा-न्तरङ्गबन्धकारणाख्यानमेतत्—यह बन्धके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणका कथन है' इन शब्दों द्वारा स्वीकार करते हैं। गाथा १५०-१५१ में तो द्रव्यकर्ममोक्षके हेतुभूत परम संवररूपसे भावमोक्षके स्वरूपका विधान है। गाथा १५६ की टीकाका 'मोहनीयोदयानुवृत्तिवशात्' पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जब यह जीव मोहनीयके उदयका अनुवर्तन करता है तभी यह उससे रञ्जित उपयोगवाला होता है और तभी यह पर द्रव्यमें शुभ या अशुभ भावको धारण करता है।

इस प्रकार समयसार और पञ्चास्तिकायके उक्त उल्लेखोंसे उसी तथ्यकी पुष्टि होती है जिसका हम पूर्वमें निर्देश कर आये हैं। बाह्य सामग्री दूसरेको बलात् अन्यथा परिणमाती है यह उक्त वचनोंका आशय नहीं है, जैसा कि अपर पक्ष उन वचनों द्वारा फलित करना चाहता है।

परमात्मप्रकाशके उल्लेखोंका आशय क्या है इसकी चर्चा हम पूर्वमें ही विस्तारके साथ कर आये हैं। मूलाराधना गा० १६२१ तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ का भी आशय पूर्वोक्त कथनसे भिन्न

नहीं है। मूलाराधनामें 'कम्माइं बलियाइं' यह गाथा उस प्रसंगमें आई है जब निर्यापकाचार्य क्षपकको अपनी समाधिमें दृढ़ करनेके अभिप्रायसे कर्मकी वलवत्ता वतला रहे हैं और साथ ही उसमें अनुरञ्जायमान न होकर समताभाव धारण करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। यह तो है कि जिस समय जिस कर्मका उदय-उदीरणा होती है उस समय आत्मा स्वयं उसके अनुरूप परिणामका कर्ता वनता है, क्योंकि अपने उपादानके साथ उस परिणामकी जिस प्रकार अन्तर्व्याप्ति है उसी प्रकार उस कर्मके उदयके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति है। फिर भी आचार्यने यहाँपर कर्मोदयकी वलवत्ता वतलाकर उसमें अनुरंजायमान न होनेकी प्रेरणा इसलिए दी है कि जिससे यह आत्मा अपनी स्वतन्त्रताके भावपूर्वक कर्मोदयको निमित्तकर होनेवाले भावोंमें अपनेको आवद्ध न किये रहे।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ द्वारा पुद्गल द्रव्यकी जिस शक्तिका निर्देश किया है उसका आशय इतना ही है कि जब यह जीव केवलज्ञानके अभावरूपसे परिणमता है तब केवलज्ञानावरण द्रव्यकर्मका उदय उसमें निमित्त होता है। यदि ऐसा न माना जाय और पुद्गल द्रव्यकी सर्वकाल यह शक्ति मानी जाय कि वह केवलज्ञान स्वभावका सर्वदा विनाश करनेकी सामर्थ्य रखता है तो कोई भी जीव केवलज्ञानी नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि उक्त वचन द्वारा आचार्यने पुद्गल द्रव्यकी केवलज्ञानावरणरूप उस पर्यायकी उदयशक्तिका निर्देश किया है जिसको निमित्तकर जीव केवलज्ञान स्वभावरूपसे स्वयं नहीं परिणमता। ऐसा ही इनमें निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जब यह जीव केवलज्ञानरूपसे नहीं परिणमता तब उसमें केवलज्ञानावरणका उदय सहज निमित्त होता है। इसीको व्यवहारनयसे यों कहा जाता है कि केवलज्ञानावरणके उदयके कारण इस जीवके केवलज्ञानका घात होता है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाका यह उपकार प्रकरण है। उसी प्रसंगसे उक्त गाथा आई है, अतएव प्रकरणको ध्यानमें रखकर उसके हार्दको ग्रहण करना चाहिए।

शंका ५ के द्वितीय उत्तरमें स्वा० का० अ० गाथा ३१९ के आधारसे जो हमने यह लिखा है कि शुभाशुभ कर्म जीवका उपकार या अपकार करते हैं सो यह कथन शुभाशुभ कर्मके उदयके साथ जीवके उपकार या अपकारकी बाह्य व्याप्तिको ध्यानमें रखकर ही किया गया है। इस जीवको कोई लक्ष्मी देता है या कोई उपकार करता है यह प्रश्न है। इसी प्रश्नका समाधान गाथा ३१९ में करते हुए वतलाया है कि लोकमें इस जीवको न तो कोई लक्ष्मी देता है और न अन्य कोई उपकार ही करता है। किन्तु उपकार या अपकार जो भी कुछ होता है वह सब शुभाशुभ कर्मको निमित्त कर होता है।

यह आचार्य वचन है। इस द्वारा दो बातें स्पष्ट की गई हैं। पूर्वार्ध द्वारा तो जो मनुष्य यह मानते हैं कि 'अमुक देवी-देवता आदिसे मुझे लक्ष्मी प्राप्त होगी या मेरी अमुक आपत्ति टल जायेगी' उसका निषेध यह कह कर किया गया है कि लोकमें जो कुछ भी होता है वह शुभाशुभ कर्मके उदयको निमित्त कर ही होता है। तूं वाह्य सामग्रीके मिलानेकी चिन्तामें आत्मवंचना क्यों करता है? अनुकूल बाह्य सामग्री हो और अशुभ कर्मका उदय हो तो बाह्य सामग्रीसे क्या लाभ? उसका होना और न होना बराबर है। तथा उत्तरार्ध द्वारा यह सूचित किया गया है कि शुभाशुभ कर्म तेरी करणीका फल है, इसलिए जैसी तूं करणी करेगा उसीके अनुरूप कर्मबन्ध होगा और उत्तर कालमें उसका फल भी उसीके अनुरूप मिलेगा। अतएव तूं अपनी करणीकी ओर ध्यान दे। शुभाशुभ कर्म तो उपकार-अपकारमें निमित्तमात्र हैं, वस्तुतः उनका कर्ता तो तूं स्वयं है। यह नय वचन है; इसे समझकर यथार्थको ग्रहण करना प्रत्येक सत्पुरुषका कर्तव्य है। अन्यथा शुभाशुभ कर्मका सद्भाव सदा रहनेसे कभी भी यह जीव उससे मुक्त न हो सकेगा।

जिसे उपकार कहते हैं वह भी मान्यताका फल है और जिसे अपकार कहते हैं वह भी मान्यताका फल है। यह संयोगी अवस्था है। अतएव जिसके संयोगमें इसके होनेका नियम है उनका ज्ञान इस वचन द्वारा कराया गया है। इतना ही आशय इस गाथाका लेना चाहिए। हमने शंका ५ के अपने दूसरे उत्तरमें जो कुछ भी लिखा है, इसी आशयको ध्यानमें रखकर लिखा है। अतएव इस परसे अन्य आशय फलित करना उचित नहीं है।

प्रश्न १६ के प्रथम उत्तरमें हमने मोह, राग, द्वेष आदि जिन आगन्तुक भावोंका निर्देश किया है उसका आशय यह नहीं कि वे जीवके स्वयंकृत भाव नहीं हैं। जीव ही स्वयं बाह्य सामग्रीमें इष्टानिष्ट या एकत्व बुद्धि कर उन भावोंरूप परिणमता है, इसलिए वे जीवके ही परिणाम हैं। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें यह वचन कहा है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

ऐसा इस जीवका परिणामस्वभाव है कि जब यह शुभ या अशुभरूपसे परिणमता है तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धरूपसे परिणमता है तब शुद्ध होता है ॥ ९ ॥

फिर भी मोह, राग, द्वेष आदि भावोंको आगममें जो आगन्तुक कहा गया है उसका कारण इतना ही है कि वे भाव स्वभावके लक्ष्यसे न होकर परके लक्ष्यसे होते हैं। हैं वे जीवके ही भाव और जीव ही स्वयं स्वतंत्र कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है, पर वे परके लक्ष्यसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें आगन्तुक कहा गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें यहाँ तक जितने भी आगम प्रमाण दिये हैं उनसे यह तो त्रिकालमें सिद्ध नहीं होता कि अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक कर्त्ता होता है। किन्तु उनसे यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादान होकर अपना कार्य करता है और उसके योग्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। समयसार गाथा २७८-२७९ का क्या आशय है इसका विशेष खुलासा हम पूर्वमें ही कर आये हैं। एक जीव ही क्या, प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाववाला है, अतएव जिस भावरूप वह परिणमता है उसका कर्त्ता वह स्वयं होता है। परिणमन करनेवाला, परिणाम और परिणमन क्रिया ये तीनों वस्तुपनेकी अपेक्षा एक हैं, भिन्न-भिन्न नहीं, इस लिये जब जो परिणाम उत्पन्न होता है उसरूप वह स्वयं परिणम जाता है, इसमें अन्यका कुछ भी हस्तक्षेप नहीं। राग, द्वेष आदि भाव कर्मोदयके द्वारा किये जाते हैं यह व्यवहार कथन है। कर्मका उदय कर्ममें होता है और जीवका परिणाम जीवमें होता है ऐसी दो क्रियाएँ और दो परिणाम दोनों द्रव्योंमें एक कालमें होते हैं, इसलिए कर्मोदयमें निमित्त व्यवहार किया जाता है और इसी निमित्त व्यवहारको लक्ष्यमें रखकर यह कहा जाता है कि इसने इसे किया। यह उसी प्रकारका उपचार वचन है जैसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहना उपचार वचन है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा १०७ में ऐसे कथनको व्यवहारनयका वक्तव्य कहा है।

१. अध्यात्म में रागादिको पौद्गलिक बतलानेका कारण

समयसार ५० से ५६ तक की गाथाओंमें रागादिकको जो पौद्गलिक बतलाया है उसका आशय यह नहीं कि उनका वास्तविक कर्त्ता पुद्गल है, जीव नहीं; या वे जीवके भाव न होकर पुद्गलकी पर्याय हैं।

हैं तो वे जीवके ही भाव और स्वयं जीव ही उन्हें उत्पन्न करता है। उनकी उत्पत्तिमें पुद्गल अणुमात्र भी व्यापार नहीं करता, क्योंकि एक द्रव्यकी परिणाम क्रियाको दूसरा द्रव्य त्रिकालमें नहीं कर सकता, अन्यथा तन्मयपनेका प्रसंग होनेसे दोनों द्रव्योंमें एकता प्राप्त होती है। (समयसार गाथा ९९), या दो क्रियाओंका कर्ता एक द्रव्यको स्वीकार करना पड़ता है (समयसार गाथा ८५)। किन्तु ऐसा मानना जिनाज्ञाके विरुद्ध है। जिनाज्ञा यह है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणमें वर्तती है वह अन्य द्रव्य और गुणमें संक्रमणको नहीं प्राप्त होती, अन्यरूपसे संक्रमणको नहीं प्राप्त होती हुई वह अन्य वस्तुको कैसे परिणमा सकती है, अर्थात् नहीं परिणमा सकती ॥१०३॥

ऐसी अवस्थामें जीवमें होनेवाले मोह, राग और द्वेष आदि भाव अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर जीव ही हैं। यह कथन यथार्थ है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर उक्त गाथाओंकी (५०-५६) टीकामें आचार्य जयसेनने अशुद्ध पर्यायार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा उन्हें जीव स्वरूप ही स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, कर्ता-कर्म अधिकार गाथा ८८ में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द उन्हें जीव भावरूपसे स्वीकार करते हैं। इसी तथ्यको आचार्य अमृतचन्द्रने उक्त गाथाकी टीकामें इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ॥८८॥

और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं वे मूर्तीक पुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्य परिणामके विकार हैं ॥८८॥

इस प्रकार उक्त विवेचनसे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि मोह, राग, द्वेष आदि भाव जीवके ही हैं। 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस नियमके अनुसार स्वयं जीव ही आप कर्ता होकर उनरूप परिणमता है। फिर भी समयसारमें उन्हें पौद्गलिक इसलिए नहीं कहा कि वे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शस्वरूप हैं या पुद्गल आप कर्ता बनकर उनरूप परिणमता है। उन्हें पौद्गलिक कहनेका कारण अन्य है। बात यह है कि परम पारिणामिक भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत चिच्चमत्कार ज्ञायकस्वरूप आत्माके लक्ष्यसे उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें उनका भान नहीं होता, इसलिए वे रागादिभाव जीवके नहीं ऐसा समयसार ५० से ५६ तककी गाथाओंमें कहा गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाओंकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

जो प्रीतिरूप राग है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि पुद्गल द्रव्यके परिणामरूप होनेसे वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है। जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम-

रूप होनेसे वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है। जो तत्त्वोंकी अप्रतिपत्तिरूप मोह है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणामरूप होनेसे वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है।

आगममें द्रव्यार्थिकनयके जितने भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें एक परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय भी है। इसके विषयका निर्देश करते हुए आलापपद्धतिमें लिखा है—

परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा—ज्ञानस्वरूप आत्मा।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसे स्वीकार करनेवाला परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है।

इसी तथ्यको नयचक्रादिसंग्रहमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

गेह्णइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥१९९॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित भावोंसे रहित द्रव्यस्वभावको ग्रहण करता है उसे सिद्धि (मुक्ति) के इच्छुक भव्य जीवों द्वारा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानना चाहिए ॥१९९॥

तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्गमें अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित भावोंको गौणकर एक त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्मा ही आश्रय करने योग्य बतलाया गया है। जो आसन्न भव्य जीव ऐसे अभेद स्वरूप आत्माको लक्ष्यकर (ध्येय बनाकर) तन्मय होकर परिणमता है उसे जो आत्मानुभूति होती है उसे उस कालमें रागानुभूति त्रिकालमें नहीं होती। यही कारण है कि समयसारकी उक्त गाथाओं द्वारा ये रागादि भाव जीवके नहीं हैं यह कहा गया है।

इस प्रकार ये रागादि भाव जीवके नहीं हैं इस तथ्यका सकारण ज्ञान हो जाने पर भी इन्हें पौद्गलिक कहनेका कारण क्या है यह जान लेना आवश्यक है। यह तो सभी मुमुक्षु जानते हैं कि जिसे जिनागममें मिथ्यादर्शन या मोह कहा गया है उसका फल स्व-परमें एकत्वबुद्धिके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है और जिसे राग-द्वेष कहा गया है उसका फल भी परमें इष्टानिष्ट बुद्धिके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। यतः परके संयोगमें एकत्व बुद्धि तथा इष्टानिष्ट बुद्धि इस जीवके अनादि कालसे होती आ रही है। इसका कर्ता यह जीव स्वयं है। पर पदार्थ इसका कर्ता नहीं। परका संयोग बना रहे फिर भी यह जीव उसके आश्रयसे एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि न करे यह तो है। किन्तु परपदार्थ स्वयं कर्ता बन कर इस (जीव) में एकत्व बुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि उत्पन्न कर दे यह त्रिकालमें सम्भव नहीं है। यतः उक्त प्रकारकी एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि पुद्गलकी विविध प्रकारकी रचनाका आलम्बन करनेसे होती है, अन्यथा नहीं होती, यही कारण है कि अध्यात्ममें मोह, राग और द्वेष आदि भावोंको पौद्गलिक कहा गया है।

यह वस्तुस्थिति है। मोक्षमार्गमें आलम्बन या ध्येयकी दृष्टिसे मोह, राग और द्वेषमें निजत्व बुद्धि करनेका तो निषेध है ही। ज्ञेयके करण (ज्ञेयको) मैं जानता हूँ इस प्रकारके विकल्पका भी निषेध है। इतना ही क्यों ? सम्यग्दर्शनादि स्वभाव भाव मेरा स्वरूप है, इन्हें आलम्बन बनानेसे मुझमें मोक्षमार्गका प्रकाश होकर मुक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसे विकल्पका भी निषेध है, क्योंकि जहाँ तक विकल्पबुद्धि है वहाँ तक राग की चरितार्थता है। ज्ञायक स्वभाव आत्माके अवलम्बनसे तन्मय परिणमन द्वारा जो सम्यग्दर्शनादिरूप शुद्धि उत्पन्न होती है, तन्मय आत्माकी अनुभूति अन्य वस्तु है और भेद-बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुई विकल्पानुभूति अन्य वस्तु है। यह रागानुभूति ही है, आत्मानुभूति नहीं। आचार्य कहते हैं कि जबतक अवलम्बन (ध्येय) निर्विकल्प नहीं होगा तबतक निर्विकल्प अनुभूतिका होना असम्भव है। यही

कारण है कि मोक्षमार्गकी दृष्टिसे सभी प्रकारके व्यवहारको गौणकर एकमात्र निश्चयस्वरूप ज्ञायक आत्माके अवलम्बन करनेका उपदेश दिया गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार कलशमें कहा भी है—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एक निखिलोऽप्यन्याश्रितस्त्याजितः।
सम्यक् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१३७॥

सर्व वस्तुओंमें जो अध्यवसान होते हैं वे सब जिनेन्द्रदेवने पूर्वोक्त रीतिसे त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिए हम यह मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवने अन्यके आश्रयसे होनेवाले समस्त व्यवहार छुड़ाया है। तब फिर, ये सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चयको ही निश्चलतया अङ्गीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप निज महिमामें स्थिरता क्यों धारण नहीं करते?

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मामें रागादिकी उत्पत्ति मुख्यतया पुद्गलका आलम्बन करनेसे ही होती है, स्वभावका आलम्बन करनेसे नहीं होती, इसलिए तो उन्हें अध्यात्ममें पौद्गलिक कहा गया है। पुद्गल आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है या वे पुद्गलकी पर्याय हैं, इसलिए उन्हें पौद्गलिक नहीं कहा गया है। इस अपेक्षासे विचार करनेपर तो जीव आप अपराधी होकर उन्हें उत्पन्न करता है और आप तन्मय होकर मोह, राग, द्वेष आदिरूप परिणमता है, इसलिए वे चिद्विकार ही हैं। फिर भी ज्ञायक स्वभाव आत्माके अवलम्बन द्वारा उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें उनका प्रकाश नहीं होता, इसलिए उससे भिन्न होनेके कारण व्यवहारनयसे उन्हें जीवका कहा गया है। इस प्रकार समयसारकी उक्त गाथाओंमें वर्णादिके समान रागादिको क्यों तो पौद्गलिक कहा गया है और क्यों वे व्यवहारनयसे जीवके कहे गये हैं इसका संक्षेपमें विचार किया।

२. समयसार गाथा ६८ की टीकाका आशय

अब समयसार गाथा ६८ की टीकापर विचार करते हैं। इसमें 'कारणके अनुसार कार्य होता है। जैसे जौपूर्वक उत्पन्न हुए जौ जौ ही हैं।' इस न्यायके अनुसार गुणस्थान या रागादि भावोंको पौद्गलिक सिद्ध किया गया है। इसपरसे अपर पक्ष निश्चयनयसे उन्हें पौद्गलिक स्वीकार करता है। किन्तु अपर पक्ष यदि पुद्गल आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है, इसलिए वे निश्चयनयसे पौद्गलिक हैं या पुद्गलके समान रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले होनेके कारण निश्चयनयसे वे पौद्गलिक हैं ऐसा मानता हो तो उसका दोनों प्रकारका मानना सर्वथा आगमविरुद्ध है, क्योंकि परके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए वे जीवके ही चिद्विकार हैं और जीवने आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न किया है। अतएव अशुद्ध पर्यायार्थिकनयसे वे जीव ही हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन उक्त गाथाकी टीकामें लिखते हैं—

यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।

गुणस्थान यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयसे चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चयनयसे नित्य-सर्वकाल अचेतन हैं। द्रव्यकर्मकी अपेक्षा आभ्यन्तर रागादिक चेतन हैं ऐसा मानकर यद्यपि अशुद्ध निश्चय वास्तवमें निश्चय संज्ञाको प्राप्त होता है तथापि शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा वह व्यवहार ही है।

इस प्रकार उक्त कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्मके उदयको आलम्बन (निमित्त) कर जो गुणस्थान या रागादि होते हैं वे अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा जीव ही हैं। यहाँ जो उन्हें जीव होनेका निषेध कर अचेतन कहा है वह शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा ही कहा है। तात्पर्य यह है कि (१) त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्माके अवलम्बनसे उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें गुणस्थानभाव या रागादि-भावका प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। (२) वे पुद्गलादि परद्रव्यका अवलम्बन करनेसे उत्पन्न होनेके कारण शुद्ध चैतन्यप्रकाश स्वरूप न होकर चिद्विकार स्वरूप हैं अतएव अचेतन हैं तथा (३) उनकी जीवके साथ त्रैकालिक व्याप्ति नहीं पाई जाती, इसलिए शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा वे जीव नहीं हैं, अतएव पौद्ग-लिक हैं। ऐसा अध्यात्म परमागममें कहा गया है। यह जीव अनादि कालसे स्वको भूलकर परका अवलम्बन करता आ रहा है और परके अवलम्बनसे उत्पन्न चिद्विकारोंमें उपादेय बुद्धि करता आ रहा है, इनमें हेय बुद्धिकर उनसे विरत करना उक्त कथनका प्रयोजन है। यही कारण है कि कर्त्ता-कर्म अधिकारमें रागादि भावोंका कर्ता स्वतन्त्रपने स्वयं जीव ही है यह बतलाकर भी जीवाजीवाधिकारमें परका अवलम्बन करनेसे [या] होनेके कारण उनमें परबुद्धि कराई गई है। आशा है अपर पक्ष समयसार गाथा ६८ की टीकासे यही तात्पर्य ग्रहण करेगा, न कि यह कि पुद्गल स्वयं स्वतन्त्रतया आप कर्ता होकर उन गुणस्थान या रागादिको करता है, इसलिए यहाँ उन्हें पौद्गलिक कहा गया है। समयसार गाथा ११३-११६ में भी यही आशय व्यक्त किया गया है। यदि अपर पक्ष निमित्त-नैमित्तिकभाव और कर्ता-कर्मभावमें निहित अभिप्रायको हृदयङ्गम करनेका प्रयत्न करे तो उसे वस्तुस्थितिको समझनेमें देर न लगे।

३. कर्मोदय जीवकी अन्तरंग योग्यताका सूचक है, जीवभावका कर्ता नहीं

आगे अपर पक्षने 'अन्य कारणों और कर्मोदय रूप कारणोंमें मौलिक अन्तर है, क्योंकि बाह्य सामग्री और अन्तरंगकी योग्यता मिलने पर कार्य होता है। किन्तु घातिया कर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है।' यह वचन लिखकर अपने इस वक्तव्यकी पुष्टिमें अपनी (पं० फूलचन्द्र शास्त्रीकी) कर्मग्रंथ पु० ६ की प्रस्तावना पृ० ४४ का कुछ अंश उद्धृत किया है।

हमें इस बातकी प्रसन्नता है कि अपर पक्षने अपने उक्त कथन द्वारा घातिया कर्मोदयको जीवकी अन्तरंग योग्यताका सूचक स्वीकार कर लिया है। इससे यह सुतरां फलित हो जाता है कि संसारी जीव कर्म और जीवके अन्योन्यावगाहरूप संयोग कालमें स्वयं कर्ता होकर अपने अज्ञानादिरूप कार्यको करता है और कर्मोदय कर्त्ता न होकर मात्र उसका सूचक होता है। इसी-को जीवके अज्ञानादि भावोंमें कर्मोदयकी निमित्तता कही गई है। हमारे जिस वचनको यहाँ प्रमाणरूपमें उपस्थित किया गया है उसका भी यही आशय है।

किन्तु अपर पक्षने हमारे उक्त वचनोंको उद्धृत करते हुए 'अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती।' इसके बाद उक्त उल्लेखके इस वचनको तो छोड़ दिया है—

'फिर भी अन्तरंगमें योग्यताके रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलनेपर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है इसलिए निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्रीकी भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परा निमित्त है, इसलिए इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानमें की गई है।'

और इसके स्थानमें हमारे वक्तव्यके रूपमें अपने इस वचनको सम्मिलित कर दिया है—

'अतः कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है।'

अब हमारे और अपर पक्षके उक्त उल्लेखके आधारपर जब अकालमरणका विचार करते हैं तो विदित होता है कि जब जब आत्मामें मनुष्यादि एक पर्यायके व्ययकी और देवादिरूप दूसरी पर्यायके उत्पादकी अन्तरंग योग्यता होती है तब तब विषभक्षण, गिरिपात आदि बाह्य सामग्री तथा मनुष्यादि आयुका व्यय और देवादि आयुका उदय उसकी सूचक होती है और ऐसी अवस्थामें आत्मा स्वयं अपनी मनुष्यादि पर्यायका व्यय कर देवादि पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि एक पर्यायके व्यय और दूसरी पर्यायके उत्पादरूप उपादान योग्यताके कालकी अपेक्षा विचार करने पर मरणकी कालमरण संज्ञा है और इसको गौणकर अन्य कर्म तथा नोकर्मरूप सूचक सामग्रीकी अपेक्षा विचार करने पर उसी मरणकी अकालमरण संज्ञा है।

यह वस्तुस्थिति है जो अपर पक्षके उक्त वक्तव्यसे भी फलित होती है। हमें आशा है कि अपर पक्ष अपने वक्तव्यके 'किन्तु घातिया कर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है।' इस वचनको ध्यानमें रखकर सर्वत्र कार्य-कारणभावका निर्णय करेगा।

४. प्रस्तुत प्रतिशंकामें उल्लिखित अन्य उद्धरणोंका स्पष्टीकरण

अब प्रस्तुत प्रतिशंकामें उद्धृत उन उल्लेखोंपर विचार करते हैं जिन्हें अपर पक्ष अपने पक्षके समर्थनमें समझता है। उनमेंसे प्रथम उल्लेख इष्टोपदेशका श्लोक ७ है। इसमें मोह अर्थात् मिथ्यादर्शनसे सम्पृक्त हुआ ज्ञान अपने स्वभावको नहीं प्राप्त करता है यह कहा गया है और उसकी पुष्टिमें 'मदनकोद्रवको निमित्त कर मत्त हुआ पुरुष पदार्थोंका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर पाता।' यह दृष्टान्त दिया गया है।

दूसरा उल्लेख समयसार कलश ११० का तीसरा चरण है। इसमें बतलाया है कि आत्मामें अपनी पुरुषार्थहीनताके कारण जो कर्म (भाव कर्म) प्रगट होता है वह नये कर्मबन्धका हेतु (निमित्त) है।

तीसरा उल्लेख पंचाध्यायी पृ० १५९ के विशेषार्थका है। इसमें कर्मकी निमित्तताको स्वीकार कर व्यवहार कर्तारूपसे उसका उल्लेख करके मन, वाणी और श्वासोच्छ्वासके प्रति जीवका भी व्यवहार कर्त्ता रूपसे उल्लेख किया गया है।

चौथा उल्लेख इष्टोपदेश श्लोक ३१ की संस्कृत टीकासे उद्धृत किया गया है। इसमें कहीं (अपने परिणामविशेषमें) कर्मकी और कहीं (अपने परिणामविशेषमें) जीवकी बलवत्ता स्वीकार की गई है।

पाँचवाँ उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिकका है। इसमें जीवके चतुर्गतिपरिभ्रमणमें कर्मोदयकी हेतुता और उसकी विश्रान्तिमें कर्मके उदयाभावको हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है।

छठा उल्लेख उपासकाध्ययनका है। इसमें व्यवहारनयसे जीव और कर्मको परस्पर प्रेरक बतलाया गया है। इसकी पुष्टि नौ और नाविकके दृष्टान्त द्वारा की गई है। सातवाँ उद्धरण भी उपासकाध्ययनका ही है। इसमें अग्निके संयोगको निमित्त कर गरम हुए जलके दृष्टान्त द्वारा कर्मको निमित्त कर जीवमें संक्लेश भावको स्वीकार किया गया है।

आठवाँ उदाहरण आत्मानुशासनका है। इसमें व्यवहारनयसे कर्मको ब्रह्मा बतला कर संसार-परिपाटी उसका फल बतलाया गया है।

अपने पक्षके समर्थनमें अपर पक्षने ये आठ प्रमाण उपस्थित किये हैं। इन सब द्वारा किस कार्यमें कौन किस रूपमें निमित्त है इसका व्यवहारनयसे निर्देश किया गया है। इसको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिये समयसारका यह वचन पर्याप्त है—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

जिस प्रकार राजा व्यवहारसे प्रजाके दोष-गुणका उत्पादक कहा गया है उसी प्रकार जीव व्यवहारसे पुद्गल द्रव्यके गुणोंका उत्पादक कहा गया है ॥१०८॥

आशय यह है कि यथार्थमें प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है और अन्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। फिर भी लोकमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा यह कहा जाता है कि— 'इसने यह कार्य किया।' पूर्वमें अपर पक्षने जो आठ आगम प्रमाण उपस्थित किये हैं वे सब व्यवहारनयके वचन हैं, अतः उन द्वारा यही सूचित किया गया है कि किस कार्यमें कौन निमित्त है। प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी युति नियमसे होती है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उपादान जैसे अपने कार्यमें स्वयं व्यापारवान् होता है वैसे बाह्य सामग्री उसके कार्यमें व्यापारवान् नहीं होती यह सिद्धान्त है। इसे हृदयंगम करके यथार्थका निर्णय करना चाहिए। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपायमें कहा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

जीवके द्वारा किये गये परिणामको निमित्तमात्र करके उससे भिन्न पुद्गल स्वयं ही कर्मरूपसे परिणम जाते हैं ॥१२॥

यहाँ 'जीवकृतं' और 'स्वयमेव' ये दोनों पद ध्यान देने योग्य हैं। जीवके राग-द्वेष आदि परिणामोंकी उत्पत्तिमें यद्यपि कर्मोदय निमित्त है फिर भी उन्हें जीवकृत कहा जाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि जिस द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका मुख्य (निश्चय-यथार्थ) कर्त्ता वही द्रव्य होता है, निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री नहीं। उसे कर्त्ता कहना उपचार कथन है। जिस द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका मुख्य कर्त्ता वह द्रव्य तो है ही, साथ ही वह परनिरपेक्ष होकर ही उसे करता है यह 'स्वयमेव' पदसे सूचित होता है। प्रस्तुत प्रतिशंकामें अपर पक्षने कर्मोदयको जीवकी आन्तरिक योग्यताका सूचक स्वीकार कर लिया है, अतः इससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। स्पष्ट है कि उक्त आठों आगम प्रमाण अपर पक्षके विचारोंके समर्थक न होकर समयसारके उक्त कथनका ही समर्थन करते हैं। अतएव उनसे हमारे विचारोंकी ही पुष्टि होती है।

अपर पक्षने इन प्रमाणोंमें एक प्रमाण 'कत्थ वि बलिओ जीवो' यह वचन भी उपस्थित किया है और इसकी उत्थानिकामें लिखा है कि—'जब जीव बलवान् होता है तो वह अपना कल्याण कर सकता है।'

यहाँ विचार यह करना है कि ऐसी अवस्थामें जीव स्वयं अपना कल्याण करता है या बाह्य सामग्री द्वारा उसका कल्याण होता है। यदि बाह्य सामग्री द्वारा उसका कल्याण होता है यह माना जाय तो 'जीव अपना कल्याण कर सकता है' ऐसा लिखना निरर्थक है और यदि वह स्वयं अपना कल्याण कर लेता है यह

माना जाय तो प्रत्येक कार्य अन्यके द्वारा होता है यह लिखना निरर्थक हो जाता है। प्रकृतमें इन दो विकल्पोंके सिवाय तीसरा विकल्प तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसके स्वीकार करने पर वाह्य सामग्री अकिंचित्कर माननी पड़ती है। अतएव 'कत्थ वि बलिओ' इत्यादि वचनको व्यवहारनयका कथन ही जानना चाहिए जो कर्मकी बलवत्तामें जीवकी पुरुषार्थ हीनताको और कर्मकी हीनतामें जीवकी उत्कृष्ट पुरुषार्थताको सूचित करता है। स्पष्ट है कि उक्त कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जब जीव पुरुषार्थहीन होता है तब स्वयं अपने कारण वह अपना कल्याण करनेमें असमर्थ रहता है और जब उत्कृष्ट पुरुषार्थी होकर आत्मोन्मुख होता है तब वह अपना कल्याण कर लेता है।

इस प्रकार उक्त आठों आगम प्रमाण किस प्रयोजनसे लिपिबद्ध किये गये हैं और उनका क्या आशय लेना चाहिए इसका खुलासा किया।

५. सम्यक् नियतिका स्वरूपनिर्देश

अब हम अपर पक्षकी प्रतिशंका ३ को ध्यानमें रखकर नियतिवादके सम्यक् स्वरूपपर संक्षेपमें प्रकाश डालेंगे। इसका विशेष विचार यद्यपि पाँचवीं शंकाके तीसरे दौरके उत्तरमें करेंगे, फिर भी जब प्रस्तुत प्रतिशंकामें इसकी चरचा की है तो यहाँ भी उसका विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

अपर पक्षने सभी कार्योंका सर्वथा कोई काल नियत नहीं है इसके समर्थनमें तीन हेतु दिये हैं—

१. आचार्य अमृतचन्द्रने कालनय-अकालनय तथा नियतिनय-अनियतिनय इन नयोंकी अपेक्षा कार्य की सिद्धि बतलाई है, इसलिए सभी कार्योंका सर्वथा कोई काल नियत नहीं है।

२. सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है और किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है, अतः आगे-पीछे करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

३. कर्म स्थितिबन्धके समय निषेक रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्मवर्गणा अमुक समय उदयमें आवेगी, किन्तु बन्धावलिके पश्चात् उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिकाण्डकघात, उदीरणा, अविपाक निर्जरा आदिसे कर्मवर्गणा आगे-पीछे भी उदय आती है। इससे भी ज्ञात होता है कि सभी कार्य सर्वथा नियत कालमें ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

ये तीन हेतु हैं। इनके आधारसे अपर पक्ष सभी कार्योंके सर्वथा नियत कालका निषेध करता है। अब आगे इनके आधारसे क्रमसे विचार किया जाता है—

१. प्रथम तो प्रवचनसारमें निर्दिष्ट कालनय-अकालनय तथा नियतिनय-अनियतिनयके आधारसे विचार करते हैं। यहाँ प्रथमतः यह समझने योग्य बात है कि वे दोनों सप्रतिपक्ष नययुगल हैं, अतः अस्तिनय-नास्तिनय इस सप्रतिपक्ष नययुगलके समान ये दोनों नययुगल भी एक ही कालमें एक ही अर्थमें विवक्षाभेदसे लागू पड़ते हैं, अन्यथा वे नय नहीं माने जा सकते। अपर पक्ष इन नययुगलोंको नयरूपसे तो स्वीकार करता है, परन्तु कालभेद आदिकी अपेक्षा उनके विषयको अलग-अलग मानना चाहता है इसका हमें आश्चर्य है। वस्तुतः कालनय और अकालनय ये दोनों नय एक कालमें एक ही अर्थको विषय करते हैं। यदि इन दोनोंमें अन्तर है तो इतना ही कि कालनय कालकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है और अकालनय कालको गौणकर अन्य हेतुओंकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है। यहाँ अकालका अर्थ है कालके सिवाय अन्य हेतु। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर तत्त्वार्थसूत्रमें

'अर्पितानर्पितसिद्धेः' (५-३२) यह सूत्र निबद्ध हुआ है। स्पष्ट है कि जो पर्याय काल विशेषकी मुख्यतासे कालनयका विषय है, वही पर्याय कालको गौण कर अन्य हेतुओंकी मुख्यतासे अकालनयका विषय है। प्रवचनसारकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकामें इन दोनों नयोंका यही अभिप्राय लिया गया है।

इन नयोंका प्रारम्भ करनेके पूर्व यह प्रश्न उठा कि आत्मा कौन है और वह कैसे प्राप्त किया जाता है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह आत्मा चैतन्य सामान्यसे व्याप्त अनन्त धर्मोंका अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मोंको ग्रहण करनेवाले अनन्त नय हैं और उनमें व्याप्त होकर रहनेवाले एक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभवसे वह जाना जाता है (प्रवचनसार परिशिष्ट)। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ जिन ४७ नयोंका निर्देश किया गया है उनके विषयभूत ४७ धर्म एक साथ एक आत्मामें उपलब्ध होते हैं, अन्यथा उन नयोंमें एक साथ श्रुतज्ञान प्रमाणकी व्याप्ति नहीं बन सकती। अतएव प्रकृतमें कालनय और अकालनयके आधारसे तो यह सिद्ध करना सम्भव नहीं है कि सब कर्मोंका सर्वथा कोई नियत काल नहीं है। प्रत्युत इनके आधारसे यही सिद्ध होता है कि कालनयकी विषयभूत वस्तु ही उसी समय विवक्षाभेदसे अकालनयकी भी विषय है। अतएव सभी कार्य अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होते है ऐसा निर्णय करना ही सम्यक् अनेकान्त है।

यह तो कालनय और अकालनयकी अपेक्षा विचार है। नियतिनय और अनियतिनयकी अपेक्षा विचार करनेपर भी उक्त तथ्यकी ही पुष्टि होती है, क्योंकि प्रकृतमें द्रव्योंकी कुछ पर्यायें क्रमनियत हों और कुछ पर्यायें अनियतक्रमसे होती हों यह अर्थ इन नयोंका नहीं है। यदि यह अर्थ इन नयोंका लिया जाता है तो ये दोनों सप्रतिपक्ष नय नहीं बन सकते। अतएव विवक्षाभेदसे ये दोनों नय एक ही कालमें एक ही अर्थको विषय करते हैं यह अर्थ ही प्रकृतमें इन नयोंका लेना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसारमें इन नयोंका जो स्पष्टीकरण किया है उससे भी इसी अभिप्रायकी पुष्टि होती है। उनके उक्त कथनके अनुसार नियति पदका अर्थ है द्रव्यकी सब अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहनेवाला त्रिकाली अन्वयरूप द्रव्य-स्वभाव और अनियति पदका अर्थ है क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील पर्याय स्वभाव। 'उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' (त० सू० ५-३०) तथा 'सद्द्रव्यलक्षणम्' (त० सू० ५-२९) इन आगम वचनोंके अनुसार भी प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें जहाँ उक्त दोनों प्रकारके स्वभावोंको लिये हुए है वहाँ विवक्षा भेदसे उसे (द्रव्यको) ग्रहण करनेवाले ये दोनों नय हैं। नियतिनय प्रत्येक द्रव्यके द्रव्यस्वभावको विषय करता है और अनियतिनय प्रत्येक द्रव्यके पर्याय स्वभावको विषय करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अतएव उक्त दोनों नयोंके आधारसे भी यह सिद्ध नहीं होता कि द्रव्योंकी कुछ पर्यायें क्रमनियत होती हैं और कुछ पर्यायें अनियत क्रमसे होती हैं, प्रत्युत इन नयोंके स्वरूप और विषयपर दृष्टिपात करनेसे यही सिद्ध होता है कि धर्मादि द्रव्योंके समान जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंकी भी सभी पर्यायें अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होती हैं। सत्का अर्थ ही यह है कि जिस कालमें जो जिसरूपमें सत् है उस कालमें वह उस रूपमें स्वरूपसे स्वतःसिद्ध स्वयं सत् है। उसकी परसे प्रसिद्धि करना यह तो मात्र व्यवहार है, जो मात्र इस तथ्यको सूचित करता है कि विवक्षित समयमें विवक्षित द्रव्य जिस रूपमें सत् है, उससे अगले समयमें सद्रूपमें वह किस प्रकारका होगा। कारण-कार्यभावकी चरितार्थता भी इसी व्यवहारको प्रसिद्ध करनेमें है। उससे अन्य प्रयोजन फलित करना यह तो सत्के स्वरूपमें हस्तक्षेप करनेके समान है। आशा है अपर पक्ष इस तथ्यपर दृष्टिपात कर हृदयसे इस बातको स्वीकार कर लेगा कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय

जिस कालमें जिस देशमें जिस विधिसे होना निश्चित है उस द्रव्यकी वह पर्याय उस कालमें उस देशमें उस विधिसे नियमसे होती है।

२. अपर पक्षका अपने पक्षके समर्थनमें दूसरा तर्क है कि सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत है ऐसा प्रत्यक्षसे ज्ञात नहीं होता। इसके साथ उस पक्षका यह भी कहना है कि उनका किसीने कोई क्रम भी नियत नहीं किया है, अतः कौन कार्य पहले होनेवाला बादमें हुआ और बादमें होनेवाला पहले हो गया यह प्रश्न ही नहीं उठता।

यह अपर पक्षका अपने कथनके समर्थनमें वक्तव्यका सार है। इस द्वारा अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें दो तर्क उपस्थित किये हैं। प्रथम तर्कको उपस्थित कर वह अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष (जो परोक्ष हैं) द्वारा यह दावा करता है कि वह अपने उक्त ज्ञान द्वारा द्रव्यमें अवस्थित कार्यकरणक्षम उस योग्यताका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है जिसे सभी आचार्योंने अतीन्द्रिय कहा है। किन्तु उस पक्षका ऐसा दावा करना उचित नहीं है, क्योंकि सभी आचार्योंने एक स्वरसे कार्यको हेतु मानकर उस द्वारा विवक्षित कार्य करनेमें समर्थ अन्तरंग योग्यताके ज्ञान करनेका निर्देश किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७ में लिखते हैं—

तत्रापि हि कारणं कार्येऽनुपक्रियमाणं यावत्प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कार्यसे उपक्रियमाण न होता हुआ कारण जब तक प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है तब तक सबको क्यों उत्पन्न नहीं करता ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इस उल्लेखमें योग्यताको परोक्ष मानकर ही यह प्रश्न किया गया है कि कार्य कारणका तो उपकार करता नहीं, फिर भी वह प्रतिनियत कार्यको ही क्यों उत्पन्न करता है, सब कार्योंको क्यों उत्पन्न नहीं करता? स्पष्ट है कि इस उल्लेखमें प्रतिनियत कार्य द्वारा कारणमें निहित प्रतिनियत कार्यकरणक्षम योग्यताका ज्ञान कराया गया है। इस प्रकार प्रकृतमें कार्यहेतुको ही मान्यता दी गई है, हमारे या अपर पक्षके प्रत्यक्ष प्रमाणको नहीं।

स्वामी समन्तभद्र तो इसी तथ्यको और भी स्पष्ट शब्दोंमें सूचित करते हुए स्वयंभूस्तोत्रमें सुपार्श्व जिनकी स्तुतिके प्रसंगसे कहते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है। किन्तु मैं इसे कर सकता हूँ ऐसे विकल्पसे पीड़ित हुआ प्राणी बाह्य सामग्रीको मिलाकर भी कार्योंके करनेमें समर्थ नहीं होता। हे जिन! आपने यह ठीक ही कहा है ॥३॥

इसमें भी यही बतलाया गया है कि कार्यको देखकर ही यह अनुमान किया जाता है कि इस कारणमें इस कालमें इस कार्यको उत्पन्न करनेकी योग्यता रही है, तभी यह कार्य हुआ है।

यद्यपि कहीं-कहीं कारणको देखकर भी कार्यका अनुमान किया जाता है, यह सच है, परन्तु इस पद्धतिसे कार्यका ज्ञान वहीं पर सम्भव है जहाँ पर विवक्षित कार्यके अविकल कारणोंकी उपस्थितिकी

सम्यक् जानकारी हो और साथ ही उससे भिन्न कार्यके कारण उपस्थित न हों। इतने पर भी इस कारणमें इस कार्यके करनेकी आन्तरिक योग्यता है ऐसा ज्ञान तो अनुमान प्रमाणसे ही होता है। अतः सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत नहीं है ऐसा दावा अपर पक्ष अपने प्रत्यक्ष प्रमाणके बलपर तो त्रिकालमें कर नहीं सकता।

अब रह गया यह तर्क 'कि किसीने कार्योंका कोई क्रम नियत भी नहीं किया है, अतः आगे पीछे करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।' सो यह तर्क पढ़नेमें जितना सुहावना लगता है उतना यथार्थताको लिये हुए नहीं है, क्योंकि हमारे समान सभी श्रुतज्ञानी 'जं जस्स जम्मि देसे' इत्यादि तथा 'पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं' इत्यादि श्रुतिके बलसे यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि जो कार्य जिस कालमें और जिस देशमें जिस विधिसे होता है वह कार्य उस कालमें और उस देशमें उस विधिसे नियमसे होता है इसमें इन्द्र, चक्रवर्ती और स्वयं तीर्थंकर भी परिवर्तन नहीं कर सकते। अतएव श्रुतिके बल पर हमारा ऐसा जानना प्रमाण है। और वह श्रुति दिव्यध्वनिके आधारसे लिपिबद्ध हुई है, इसलिए दिव्यध्वनिके बलपर वह श्रुति भी प्रमाण है। और वह दिव्यध्वनि केवलज्ञानके आधारपर प्रवृत्त हुई है, इसलिए केवलज्ञानके बलपर दिव्यध्वनि भी प्रमाण है। और केवलज्ञानकी ऐसी महिमा है कि वह तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको वर्तमानके समान जानता है। इसलिए केवलज्ञान प्रमाण है। यहाँ यह तो है कि प्रत्येक पदार्थका जिस कालमें और जिस देशमें जिस विधिसे परिणमन होनेका नियम है वह स्वयं होता है, कुछ केवलज्ञानके कारण नहीं होता। परन्तु साथमें यह भी नियम है कि प्रत्येक पदार्थका जब जैसे परिणमन होनेका नियम है उसे केवलज्ञान उसी प्रकार जानता है। ऐसा ही इनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। अतः कार्योंका किसीने कोई क्रम नियत नहीं किया यह लिखकर सम्यक् नियतिका निषेध करना उचित नहीं है। एक ओर तो अपर पक्ष 'कार्योंका किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया' यह लिखकर कार्योंका आगे-पीछे होना मानना नहीं चाहता और दूसरी ओर उत्कर्षण आदिके द्वारा कर्मवर्गणाओंका आगे-पीछे उदयमें आना भी स्वीकार करता है। यह क्या है? इसे उस पक्षकी मान्यताकी विडम्बना ही कहनी चाहिए। स्पष्ट है कि अपर पक्षने 'सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत नहीं है' इत्यादि लिखकर जो सभी कार्योंके क्रम नियमितपनेका निषेध किया है वह उक्त प्रमाणोंके बलसे तर्ककी कसौटी पर कसनेपर यथार्थ प्रतीत नहीं होता।

३. अपर पक्षने अपने तीसरे हेतुमें कर्मस्थिति आदिके आधारसे विचार कर यह निष्कर्ष फलित करनेकी चेष्टा की है कि बन्धके समय जो स्थितिबन्ध होता है उसमें बन्धावलिके बाद उत्कर्षणादि देखे जाते हैं, अतः जो कार्य जिस समय होना है उसे आगे-पीछे किया जा सकता है। यद्यपि इस विषयपर विशेष विचार शंका पाँचके अन्तिम उत्तरमें करनेवाले हैं। यहाँ तो मात्र इतना ही सूचित करना पर्याप्त है कि सत्तामें स्थित जिस कर्मका जिस कालमें जिसको निमित्तकर उत्कर्षण आदि होना नियत है उस कर्मका उस कालमें उसको निमित्तकर ही वह होता है, अन्यका नहीं ऐसी बन्धके समय ही उसमें योग्यता स्थापित हो जाती है। कर्मशास्त्रमें कर्मकी बन्ध, उदय और उत्कर्षणादि जो दस अवस्थाएँ बतलाई हैं वे इसी आधारपर बतलाई गई हैं। हाँ, जिस व्यवस्थाको कर्मशास्त्रमें स्वीकार नहीं किया गया है, कर्ममें ऐसे किसी कार्यका केवल बाह्य सामग्रीके बलपर अपर पक्ष होना सिद्ध कर सके तो अवश्य ही यह माना जा सकता है कि यह कार्य बिना उपादानशक्तिके केवल बाह्य सामग्रीके बलपर कर्ममें हो गया। व्यवस्था व्यवस्था है। व्यवस्थाके अनुसार कार्यका होना अनियममें नहीं आता। कर्मशास्त्रके प्रगाढ़ अभ्यासका हम दावा तो नहीं करते। परन्तु कर्मशास्त्रके थोड़े बहुत अभ्यासके बलपर इतना अवश्य ही निर्देश कर देना चाहते हैं कि कर्मशास्त्रकी व्यवस्थाके

अनुसार जिस कर्ममें जिस समय जो कार्य होता है वह नियमित क्रमसे ही होता है। अतः कर्मशास्त्रके अनुसार किसी भी कार्यको आगे-पीछे होनेका दावा करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार जिन तीन हेतुओंके आधारसे अपर पक्षने सम्यक् नियतिका विरोध किया है वे तीनों हेतु यथार्थ कैसे नहीं हैं इसका आगमके आधारसे यहाँ विचार किया। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि सम्यक् नियति आगमसिद्ध है, अन्यथा न तो पदार्थव्यवस्था ही बन सकती है और न ही कार्य-कारणव्यवस्था ही बन सकती है।

६. प्रसंगसे प्रकृतोपयोगी नयोंका खुलासा

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने नयोंकी चरचा करते हुए व्यवहार नयको असद्भूत माननेसे अस्वीकार किया है। उस पक्षका ऐसा कहना मालूम पड़ता है कि जितने प्रकारके व्यवहार नय आगममें बतलाये गये हैं वे सब सद्भूत ही हैं। यह प्रश्न अनेक प्रसंगों पर अनेक प्रश्नोंमें उठाया गया है। यदि अपर पक्ष आगमपर दृष्टिपात करता तो उसे स्वयं ज्ञात हो जाता कि आगममें व्यवहारनयके जो चार भेद किये हैं उनमेंसे दो सद्भूत व्यवहारनयके भेद हैं और दो असद्भूत व्यवहारनयके भेद हैं। जहाँ प्रत्येक द्रव्यको व्यवहारनयसे अनित्य कहा है वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा गया है, जिसे आगम पद्धतिमें पर्यायार्थिक निश्चय नयरूपसे स्वीकार किया गया है। किन्तु जहाँ किसी एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा निमित्त व्यवहार किया गया है वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनयका विषय न होकर असद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है। कारण कि एक द्रव्यके कार्यका कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें रहता हो यह त्रिकालमें सम्भव नहीं है। अतः एक द्रव्यके कार्यका दूसरे द्रव्यको निमित्त अर्थात् कारण कहना उपचरित ही ठहरता है। यही कारण है कि आलापपद्धतिमें असद्भूत व्यवहारका लक्षण करते हुए लिखा है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः। उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः।

अन्यत्र प्रसिद्ध हुए धर्मका अन्यत्र आरोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहारका नाम ही उपचार है। उपचारके बाद भी जो उपचार करता है वह उपचरितासद्भूतव्यवहार है। (देखो समयसार गाथा ५६ टीका, आलापपद्धति तथा नयचक्रादिसंग्रह पृ० ७९ गाथा २२३)

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि प्रत्येक द्रव्यके गुण-धर्म उसके उसीमें रहते हैं। विचार कीजिए कि कुम्भकार भिन्न वस्तु है और मिट्टी भिन्न वस्तु है। यदि मिट्टीके किसी धर्मको कुम्भकारमें या कुम्भकारके किसी धर्मको मिट्टीमें परमार्थसे स्वीकार किया जाता है तो इन दोनोंमें एकता प्राप्त होती है। किन्तु मिट्टी अपने स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भिन्न वस्तु है, उसमें कुम्भकारके स्वचतुष्टयका अत्यन्त अभाव है। उसी प्रकार कुम्भकार अपने स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भिन्न वस्तु है, उसमें मिट्टीके स्वचतुष्टयका अत्यन्त अभाव है। ऐसी अवस्थामें यदि घटका कर्ता कुम्भकारको कहा जाता है तो घटका कर्ता धर्म कुम्भकारमें आरोपित ही तो मानना पड़ेगा और इसी प्रकार कुम्भकारका कर्म यदि घटको कहा जाता है तो कुम्भकारका कर्मधर्म घटमें आरोपित ही तो मानना पड़ेगा। यही कारण है कि हमने सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको असद्भूत-व्यवहारनयका विषय बतलाकर उसे उपचरित ही प्रसिद्ध किया है। नय एक विकल्प है। वह सद्भूतको तो विषय करता ही है। कालप्रत्यासत्ति आदिकी अपेक्षा जिसमें निमित्त व्यवहार या नैमित्तिक व्यवहार

किया गया है या निक्षेप व्यवस्थाके अनुसार जो नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेपका विषय है उसे भी विषय करता है।

अथवा नैगमनयके स्वरूप द्वारा असद्भूत व्यवहारनयको समझा जा सकता है। जिस पर्यायका संकल्प है वह वर्तमानमें अनिष्पन्न है फिर भी उसके आलम्बनसे संकल्पमात्रको ग्रहण करने वाले नयको नैगमनय कहा है। इसी प्रकार असद्भूतव्यवहारनय इष्टार्थका ज्ञान करानेमें समर्थ है, इसीलिए उसे सम्यक् नयोंमें परिगणित किया है।

भेद द्वारा वस्तुको ग्रहण करना जहाँ सद्भूत व्यवहारनय कहा गया है वहाँ उसकी विवक्षाभेदसे निश्चयनय संज्ञा भी आगममें प्रतिपादित की गई है। किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको (दो द्रव्योंमें) बतलानेवाला व्यवहारनय असद्भूत व्यवहारनय ही है, वह किसी भी अवस्थामें निश्चय संज्ञाको प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं, अतएव व्यवहार कहकर भेदव्यवहार और निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार इन दोनोंको एक कोटिमें रखकर प्रतिपादन करना उचित नहीं है।

ज्ञेय स्वरूपसे ज्ञेय और ज्ञायक स्वरूपसे ज्ञायक है। यह आरोपित धर्म नहीं हैं, अतः इनका सम्बन्ध कहना भले ही व्यवहार (उपचार) होओ, इसमें बाधा नहीं, परन्तु हैं ये दोनों धर्म अपने-अपनेमें सद्भूत ही, असद्भूत नहीं। किन्तु ऐसी बात निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके विषयमें नहीं है। कुम्भकार स्वरूपसे घटका निमित्त नहीं है और न ही घट (मिट्टी) स्वरूपसे कुम्भरकारका कर्म (नैमित्तिक) ही है। फिर भी अन्यके धर्मका अन्यमें आरोप करके अर्थात् मिट्टीके कर्ता धर्मका कुम्भकारमें और कुम्भकारके कर्म धर्मका घटमें आरोप करके कुम्भकारको घटका कर्ता और घटको कुम्भकारका कर्म कहना असद्भूत व्यवहार ही है। यदि यह सद्भूत व्यवहार होता तो विवक्षाभेदसे निश्चय संज्ञाको भी प्राप्त होता। किन्तु यह व्यवहार असद्भूत ही है, अतएव यह विवक्षाभेदसे निश्चय संज्ञाको प्राप्त करनेका भी अधिकारी नहीं और इस अपेक्षासे अपर पक्ष द्वारा दिया गया नेत्रका उदाहरण प्रकृतमें अक्षरशः लागू पड़ता है। नेत्र रूपको ही जानता है, रसको नहीं। फिर भी उसे रसको जाननेवाला कहा जायगा तो वह असद्भूत व्यवहार ही ठहरेगा। उसी प्रकार कुम्भकार अपने योग और विकल्पका ही कर्ता है, घटका नहीं, फिर भी उसे घटका कर्ता कहा जायगा तो वह असद्भूत व्यवहार ही ठहरेगा, क्योंकि निश्चयसे जैसे नेत्र रसको जाननेमें असमर्थ है उसी प्रकार कुम्भकार भी निश्चयसे घटकी क्रिया करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

इस प्रकार नयोंका प्रसंग उपस्थित कर अपर पक्षने जो हमारे 'दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं।' इस कथन पर टीका की है वह कैसे आगम विरुद्ध है इसका विचार किया।

७. कर्ता-कर्म आदिका विचार

आगे अपर पक्षने कर्ता-कर्म भाव और निमित्त-नैमित्तिक भावकी चरचा उपस्थित कर अपने उन विचारोंको यहाँ भी दुहरा दिया है जिनकी विशेष चरचा शंका ५ के तीसरे दौरमें की है। इसी प्रसंगमें अपर पक्षने लिखा है—

'इस तरह हमारे आपके मध्य मतभेद केवल इतना ही रह जाता है कि जहाँ हमारा पक्ष आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयरूप निमित्त कारण

या निमित्त कर्ताको सहकारी कारण या सहकारी कर्ताके रूपमें सार्थक (उपयोगी) मानता है वहाँ आपका पक्ष उसे उपचरित कह कर उक्त कार्यमें अकिंचित्कर अर्थात् निरर्थक (निरुपयोगी) मानता है और तब आपका पक्ष अपना यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि कार्य केवल उपादानकी अपनी सामर्थ्यसे स्वतः ही निष्पन्न हो जाता है। उसकी निष्पत्तिमें निमित्तकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती है। जब कि हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्यकी निष्पत्ति उपादानमें ही हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है फिर भी उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकी अपेक्षा बराबर बनी हुई है अर्थात् उपादानकी जो परिणति आगममें स्व-परप्रत्यय स्वीकार की गई है वह परिणति उपादानकी अपनी परिणति होकर भी निमित्तकी सहायतासे ही हुआ करती है, अपने आप नहीं हो जाया करती है। चूँकि आत्माके रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमणको उसका (आत्माका) स्वपरप्रत्यय परिणमन आगम द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अतः वह परिणमन आत्माका अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मोंके उदयकी सहायतासे ही हुआ करता है।' आदि।

यह अपर पक्षके वक्तव्यका अंश है। इसमें उन सब बातोंका उल्लेख हो गया है जिन्हें अपर पक्ष सिद्ध करनेके प्रयत्नमें है। आगे इसे ध्यानमें रखकर पूरे वक्तव्यपर विचार किया जाता है—

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक अखण्ड सत्को भेद विवक्षामें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रव्यसत्, गुणसत् और पर्यायसत्। अपर पक्ष द्रव्यसत् और गुणसत्के स्वरूपको तो स्वतः सिद्ध माननेके लिए तैयार है, किन्तु पर्यायसत्के विषयमें उसका कहना है कि वह परकी सहायतासे अर्थात् परके द्वारा उत्पन्न होता है। उपादान तो स्व है और अभेद विपक्षामें जो उपादान है वही उपादेय है, इसलिए वह अपनेसे, अपनेमें, अपने द्वारा आप कर्ता होकर कर्मरूपसे उत्पन्न हुआ यह कथन यथार्थ बन जाता है। किन्तु जिस बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार किया गया है वह (वह स्वयं परके कार्यका स्वरूपसे निमित्तकारण नहीं है यह बात यहाँ ध्यानमें रखनी चाहिए।) पर है, अतः उसमें यह कार्य हुआ इसे तो यथार्थ न माना जाय और उसके द्वारा आप कर्ता होकर परके इस कार्यको उसने उत्पन्न किया इसे यथार्थ कैसे माना जा सकता है, अर्थात् त्रिकालमें यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनोंमें सर्वथा सत्ताभेद है, प्रदेशभेद है, कर्ता आदिका सर्वथा भेद तो है ही। परके द्वारा कार्य हुआ या परकी सहायतासे कार्य हुआ इसे आगम प्रमाणसे यदि हम असद्भूत व्यवहार कथन या उपचरित कथन बतलाते हैं तो अपर पक्ष उसे निरर्थक या निरुपयोगी लिखनेमें ही अपनी चरितार्थता समझता है, इसका हमें आश्चर्य है। जहाँ उपादान और उपादेयमें भेद विवक्षा करके उपादानसे उपादेयकी उत्पत्ति हुई यह कथन ही व्यवहार कथन ठहरता है वहाँ परके द्वारा उससे सर्वथा भिन्न परके कार्यकी उत्पत्ति होती है इसे असद्भूत व्यवहार कथन न मानकर सद्भूत व्यवहार या निश्चय कथन कैसे माना जा सकता है, इसका स्वमतके समर्थनका पक्ष छोड़कर अपर पक्ष ही विचार करे। क्या यह अपर पक्ष आगमसे बतला सकता है कि एक द्रव्यके कार्यके कर्ता आदि कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तवमें पाये जाते हैं ? यदि नहीं तो वह पक्ष कुम्भकार घटका कर्ता है इस कथनको असद्भूतव्यवहारनय (उपचरितोपचारनय) का कथन माननेमें क्यों हिचकिचाता है ? पहले तो उसे इस तथ्यको निःसंकोच रूपमें स्वीकार कर लेना चाहिये और फिर इसके बाद इसकी सार्थकता या उपयोगिता क्या है इस पर विचार करना चाहिये। हमें आशा है कि यदि वह इस पद्धतिसे विचार करेगा तो उसे इस कथनकी सार्थकता और उपयोगिता भी समझमें आ जायगी। यह कथन इष्टार्थ

अर्थात् निश्चयका ज्ञान करानेमें समर्थ है, इससे इसकी सार्थकता या उपयोगिता सिद्ध होती है, इससे नहीं कि वह स्वयं अपनेमें यथार्थ कथन है। इसे यथार्थ कथन मानना अन्य बात है और सार्थक अर्थात् उपयोगी मानना अन्य बात है। यह कथन उपयोगी तो है पर यथार्थ नहीं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ १५१ में सहकारी कारणका और कार्यका लक्षण करते हुए लिखा है—

यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति।

जो जिसके अनन्तर नियमसे होता है वह उसका सहकारी कारण है और इतर कार्य है।

इसका तात्पर्य ही यह है कि जब जो कार्य होता है तब उसका जो सहकारी कारण कहा गया है वह नियमसे रहता है ऐसी इन दोनोंमें कालप्रत्यासत्ति है। यह यथार्थ है। अर्थात् उस समय विवक्षित कार्यका होना भी यथार्थ है और जिसमें सहकारी कारणता स्थापित की गई है उसका होना भी यथार्थ है। यह इन दोनोंकी कालप्रत्यासत्ति है।

किन्तु इसके स्थानमें उक्त कथनका यदि यह अर्थ किया जाय कि जिसे सहकारी कारण कहा गया है वह अपने व्यापार द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न करता है तो उक्त कथनका ऐसा अर्थ करना यथार्थ न होकर उपचरित ही होगा। आचार्यने सहकारी कारणका लक्षण करते हुए जो वाक्य रचना निबद्ध की है थोड़ा उसपर दृष्टिपात कीजिए। वे सहकारी कारणका यह लक्षण नहीं लिख रहे हैं कि जिसका व्यापार जिसे उत्पन्न करता है वह सहकारी कारण है। किन्तु इसके स्थानमें यह लिख रहे हैं कि जिसके अनन्तर जो नियमसे होता है वह सहकारी कारण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य सामग्रीका व्यापार अन्य द्रव्यमें कार्यको त्रिकालमें उत्पन्न नहीं करता। यदि उसे अन्य द्रव्यके कार्यका सहकारी कारण कहा भी गया है तो केवल इसलिए कि उसके अनन्तर अन्य द्रव्यका यह कार्य नियमसे होता है।

इससे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त कथनका क्या तात्पर्य है यह आसानीसे समझमें आ जाता है। समयसार कलशमें जो 'न जातु' इत्यादि कलश निबद्ध किया गया है वह भी इसी अभिप्रायसे निबद्ध किया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमाता नहीं। इसमें आया हुआ 'परसंग' पद ध्यान देने योग्य है। अपने रागरूप परिणामके कारण आत्मा परकी संगति अर्थात् परमें रागवृद्धि करता है और इसलिए वह परके संयोगमें सुख-दुःखादि रूप फलका भोक्ता होता है। यदि वह परमें रागबुद्धि करना छोड़ दे तो परके संयोगमें जो उसे सुख-दुःखादि फलका भागी होना पड़ता है उससे बच जाय। स्पष्ट है कि यहाँ परको सुख-दुःखादि रूप परिणमानेवाला नहीं कहा गया है, किन्तु परकी संगति करनेरूप अपने अपराधको ही सुख-दुःखादिका मूल हेतु कहा गया है।

समयसारकी "जीवपरिणामहेदुं" इत्यादि ८०वीं गाथा भी यही प्रकट करती है कि किसकी संगति करनेके फलस्वरूप किसकी कैसी परिणति होती है। वह परका दोष नहीं है, अपना ही दोष है इस तथ्यको सूचित करनेके लिए "ण वि कुव्वइ" इत्यादि ८१वीं गाथा लिखी है। और अन्तमें "एएण कारणेण" इत्यादि ८२वीं गाथा द्वारा उपसंहार करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि सब द्रव्य अपने-अपने परिणामके ही वास्तवमें कर्ता हैं, कोई किसी दूसरेके परिणामका वास्तविक कर्ता नहीं है। फिर भी यदि अपर पक्ष

सहकारी कारणका यह अर्थ करता है कि वह दूसरे द्रव्यकी क्रियाको सहायक रूपमें करता है तो उसे अपने इस सदोष विचारके संशोधनके लिए समयसार गाथा ८५-८६ पर दृष्टिपात करना चाहिए और यदि वह उसका कालप्रत्यासत्तिवश 'यदनन्तरं यद्भवति' इतना ही अर्थ करता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा अर्थ करना आगमसम्मत है। 'जीवम्हि हेदुभूदे' इत्यादि गाथामें आया हुआ 'उवयारमत्तेण' पद 'असद्भूतव्यवहार' इस अर्थका सूचक है जैसा कि हम आलापपद्धतिका उद्धरण उपस्थित कर पूर्वमें ही सूचित कर आये हैं। पर द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक निमित्त नहीं और न वह कार्य उसका नैमित्तिक है। यह व्यवहार है जो असद्भूत है। यही बात 'उवयारमत्तेण' इस पद द्वारा सूचित की गई है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ के उद्धरणका जो अभिप्राय है इसका खुलासा हमने पूर्वमें ही किया है। उससे अधिक उसका दूसरा आशय नहीं है।

मीमांसादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य मानकर सहकारी कारणसे ध्वनिकी प्रसिद्धि मानता है और फिर भी वह कहता है कि इससे शब्द अविकृतरूपसे नित्य ही बना रहता है। अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० १०५) का 'तदसामर्थ्यमखण्डयत्' इत्यादि वचन इसी प्रसंगमें आया है। इस द्वारा भट्टाकलंकदेवने मीमांसादर्शन पर दोषका आपादान किया है, इस द्वारा जैनदर्शनके सिद्धान्तका उद्घाटन किया गया है ऐसा यदि अपर पक्ष समझता है तो उसे हम उस पक्षकी भ्रमपूर्ण स्थिति ही मानेंगे। हमें इसका दुःख है कि उसकी ओरसे अपने पक्षके समर्थनमें ऐसे वचनोंका भी उपयोग किया गया है। सर्वथा नित्यवादी मीमांसक यदि शब्दको सर्वथा नित्य मानता रहे, फिर भी वह उसमें ध्वनि आदि कार्यकी प्रसिद्धि सहकारी कारणोंसे माने और ऐसा होनेपर भी वह शब्दोंमें विकृतिको स्वीकार न करे तो उसके लिए यही दोष तो दिया जायगा कि सहकारी कारणोंने उसकी सामर्थ्यका यदि खण्डन नहीं किया है तो उन्होंने ध्वनि कार्य किया, यह कैसे कहा जा सकता है, वे तो अकिंचित्कर ही बने रहे। स्पष्ट है कि इस वचनसे अपर पक्षके अभिप्रायकी अणुमात्र भी पुष्टि नहीं होती।

अपर पक्षने अष्टशतीके उक्त वचनमें आये हुए 'तत्' पदका अर्थ उपादान जानबूझ कर किया है। जब कि उसका अर्थ 'सर्वथा नित्य शब्द' है। यह सूचना हमने बुद्धिपूर्वक की है और इस अभिप्रायसे की है कि जैनदर्शनमें उपादानका अर्थ नित्यानित्य वस्तु लिया गया है। किन्तु मीमांसादर्शन शब्दको ऐसा स्वीकार नहीं करता।

अपर पक्षने समयसार गाथा १०५ की आत्मख्याति टीकाको उपस्थित कर जो अपने विचारकी पुष्टि करनी चाही है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त टीकाके अन्तमें आये हुए 'स तूपचार एव न तु परमार्थः' इस पदका अर्थ है—'वह विकल्प तो उपचार ही है अर्थात् उपचरित अर्थको विषय करनेवाला ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् यथार्थ अर्थको विषय करनेवाला नहीं है।' किन्तु इसे बदलकर अपर पक्षसे इस वाक्यका यह अर्थ किया है—'आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना यह उपचार ही है अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षासे ही है परमार्थरूप नहीं है अर्थात् उपादानोपादेय भावकी अपेक्षासे नहीं है।' हमें आश्चर्य है कि अपर पक्षने उक्त वाक्यके प्रारम्भमें आये हुए 'सः' पदका अर्थ 'विकल्प' न करके 'आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना' यह अर्थ कैसे कर लिया। अपर पक्षको यह स्मरण रखना चाहिए कि निमित्त व्यवहार और नैमित्तिक व्यवहार उपचरित होता है और यह तब बनता है जब परने परके कार्यको किया ऐसे विकल्पकी उत्पत्ति होती है। यही तथ्य उक्त गाथा और उसकी टीका द्वारा प्रकट किया गया है।

अपर पक्षने 'यः परिणमति स कर्ता' इत्यादि कलशको उद्धृत कर 'यः परिणमति' पदका अर्थ किया है—'जो परिणमित होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है।' जब कि इस पदका वास्तविक अर्थ है—'जो परिणमता है या परिणमन करता है।' उक्त पदमें 'यः परिणमति' पद है 'यत्परिणमनं भवति' पद नहीं हैं, फिर नहीं मालूम, अपर पक्षने उक्त पदके यथार्थ अर्थको न करके स्वमतिसे अन्यथा अर्थ क्यों किया। स्पष्ट है कि वह पक्ष उपादानको यथार्थ कर्ता बनाये रखनेमें अपने पक्षकी हानि समझता है तभी तो उस पक्षके द्वारा इस प्रकारसे अर्थमें परिवर्तन किया गया।

आगममें निमित्त व्यवहार या निमित्तकर्ता आदि व्यवहारको सूचित करनेवाले वचन पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होते हैं इसमें सन्देह नहीं, पर उसी आगममें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ये सब वचन असद्भूतव्यवहारनयको लक्ष्यमें रखकर आगममें निबद्ध किये गये हैं। (इसके लिये देखो समयसार गाथा १०५ से १०८ तथा उनकी आत्मख्याति टीका, बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका आदि।)

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार आगममें उपादानकर्ता और उपादान कारणके लक्षण उपलब्ध होते हैं और साथ ही उन्हें यथार्थ कहा गया है उस प्रकार आगममें निमित्तकर्ता या निमित्त कारणके न तो कहीं लक्षण ही उपलब्ध होते हैं और न ही कहीं उन्हें यथार्थ ही कहा गया है। प्रत्युत ऐसे अर्थात् निमित्तकर्ता या निमित्तकारणपरक व्यवहारको अनेक स्थलोंपर अज्ञानियोंका अनादि रूढ़ लोकव्यवहार ही बतलाया गया है (देखो समयसार गाथा ८४ व उसकी दोनों संस्कृत टीकाएँ आदि)।

अपर पक्षने हमारे कथनको लक्ष्य कर जो यह लिखा है कि 'परन्तु इस पर ध्यान न देते हुए उस लक्षणको सामान्यरूपसे कर्ताका लक्षण मानकर निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा आगममें प्रतिपादित कर्तृ-कर्मभावको उपचरित (कल्पनारोपित) मानते हुए आपके द्वारा निमित्तकर्ताको अकिंचित्कर (कार्यके प्रति निरुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है।'

किन्तु अपर पक्षकी हमारे कथनपर टिप्पणी करना इसलिए अनुचित है, क्योंकि परमागममें एक कार्यके दो कर्ता वास्तवमें स्वीकार ही नहीं किये गये हैं। समयसार कलशमें कहा भी है—

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

एक द्रव्य (कार्य) के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता ॥५४॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि जब एक कार्यके परमार्थरूप दो कर्ता ही नहीं हैं, ऐसी अवस्थामें परमागममें दो कर्ताओंके दो लक्षण निबद्ध किया जाना किसी भी अवस्थामें सम्भव नहीं है, इसलिए प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि 'यः परिणमति स कर्ता' इस रूपमें कर्ताका जो लक्षण निबद्ध किया गया है वह सामान्यरूपसे भी कर्ताका लक्षण है और विशेषरूपसे भी, क्योंकि जहाँ पर दो या दोसे अधिक एक जातिकी वस्तुएँ हों वहाँ पर ही सामान्य और विशेष ऐसा भेद करना सम्भव है। यहाँ जब एक कार्यका कर्ता ही एक है तो एक कर्ताके दो लक्षण हो ही कैसे सकते हैं? यही कारण है कि एक कार्यका एक कर्ता होनेसे परमागममें कर्ताका एक ही लक्षण लिपिबद्ध किया गया है। निमित्तकर्ता वास्तवमें कर्ता नहीं, इसलिए परमागममें उसका लक्षण भी उपलब्ध नहीं होता। वह तो व्यवहारमात्र है। अतएव इस सम्बन्धमें हमारा जो कुछ भी कथन है वह यथार्थ है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें समयसार गाथा १०० को उपस्थित किया है, किन्तु यह गाथा किस अभिप्रायसे निबद्ध की गई है, इसके लिए समयसार १०७ गाथा अवलोकनीय है। उसके प्रकाशमें इस गाथाको पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा १०० में आचार्य कुन्दकुन्दने जो कुम्भकारके योग और विकल्पको घटका उत्पादक कहा है और आचार्य अमृतचन्दने कुम्भकारके योग और विकल्पको जो निमित्त कर्त्ता कहा है वह किस अभिप्रायसे कहा है। गाथा १०७ में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि आत्मा पुद्गल कर्मको उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह सब कथन व्यवहारनय का वक्तव्य है। गाथा १०० में तो मात्र निमित्त कर्ताके अर्थमें किस प्रकारका प्रयोग किया जाता है यह बतलाया गया है। किन्तु गाथा १०७ में ऐसा प्रयोग किस नयका विषय है इसे स्पष्ट किया गया है। अतः इस परसे भी अपर पक्षके अभिप्रायकी पुष्टि न होकर हमारे ही अभिप्रायकी पुष्टि होती है।

अपर पक्ष यह तो बतलाये कि जब जिसमें निमित्त व्यवहार किया गया है उसका कोई भी धर्म जिसमें नैमित्तिक व्यवहार किया गया है उसमें प्रविष्ट नहीं होता तो फिर वह उसका यथार्थमें निमित्त कर्ता-कारण-रूपसे कर्ता कैसे बन जाता है? आगममें जब कि ऐसे कथनको उपचरित या उपचरितोपचरित स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया गया है तो अपर पक्षको ऐसे आगमको मान लेनेमें आपत्ति ही क्या है। हमारी रायमें तो उसे ऐसे कथनको बिना हिचकिचाहटके प्रमाण मान लेना चाहिए।

अपर पक्षने प्रमेयरत्नमाला समुद्देश ३ सू० ६३ से 'अन्वय-व्यतिरेक' इत्यादि वचन उद्धृत कर अपने पक्षका समर्थन करना चाहा है, किन्तु इस वचनसे भी इतना ही ज्ञात होता है कि जिसके अनन्तर जो होता है वह उसका कारण है और इतर कार्य है। यही बात इसी सूत्रकी व्याख्यामें इन शब्दोंमें कही गई है—

तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वम्।

उसके अर्थात् कारणके होने पर कार्यका होना यह तद्भावभावित्व है।

किन्तु यह सामान्य निर्देश है। इससे बाह्य सामग्रीको उपचरित कारण क्यों कहा और आभ्यन्तर सामग्रीको अनुपचरित कारण क्यों कहा यह ज्ञान नहीं होता। इसका विचार तो उन्हीं प्रमाणोंके आधार पर करना पड़ेगा जिनका हम पूर्वमें निर्देश कर आये हैं।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक द्रव्यमें एक कालमें एक ही कारण धर्म होता है और उस धर्मके अनुसार वह अपना कार्य भी करता है। जैसे कुम्भकारमें जब अपनी क्रिया और विकल्प करनेका कारण धर्म है तब वह अपनी क्रिया और विकल्प करता है, मिट्टीकी घट निष्पत्तिरूप क्रिया नहीं करता। ऐसी अवस्थामें कुम्भकारको घटका कर्ता उपचारसे ही तो कहा जायगा। और उस उपचारका कारण यह है कि जब कुम्भकारकी विवक्षित क्रिया और विकल्प होता है तब मिट्टी भी उपादान होकर घटरूपसे परिणमती है। इस प्रकार कुम्भकारकी विवक्षित क्रियाके साथ घट कार्यका अन्वय-व्यतिरेक बन जाता है। यही कारण है कि कुम्भकारको घटका कर्ता उपचारसे कहा गया है। किन्तु ऐसा उपचार करना तभी सार्थक है जब वह यथार्थका ज्ञान करावे, अन्यथा वह व्यवहाराभास ही होगा। यह वस्तुस्थितिका स्वरूप निर्देश है। इससे बाह्य सामग्रीमें अन्य द्रव्यके कार्यकी कारणता काल्पनिक ही है यह ज्ञान हो जाता है। फिर भी आगम-में इस कारणताको काल्पनिक न कहकर जो उपचरित कहा है वह सप्रयोजन कहा है। खुलासा पूर्वमें ही किया है और आगे भी करेंगे।

धवला पु० १३ पृ० ३४९ का उद्धरण (जिसे अपर पक्षने प्रस्तुत किया है) संयोगकी भूमिकामें उपचरित अनुभागका ही निरूपण करता है। प्रत्येक द्रव्यका वास्तविक अनुभाग क्या है यह 'तत्थ असेस-दव्वावगमो जीवाणुभागो' इत्यादि वचनसे ही जाना जाता है।

अपर पक्षने 'मुख्याभावे सति' इत्यादि वचनको उपचारकी व्याख्या माना है जो अयुक्त है। इस वचन द्वारा तो मात्र उसकी प्रवृत्ति कहाँ होती है यह बतलाया गया है। उपचारकी व्याख्या उसी आलाप-पद्धतिमें इस प्रकार दीं हैं—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।

अन्यत्र प्रसिद्ध हुए धर्मका अन्यत्र आरोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार ही उपचार है।

अपर पक्षने उपचार कहाँ प्रवृत्त होता है इसके समर्थनमें तीन उदाहरण दिये हैं, किन्तु उनका आशय क्या है इसे समझना है। एक उदाहरण बालकका है। बालकमें यथार्थमें सिंहपना तो नहीं है। हाँ जिस प्रकार सिंहमें क्रौर्य-शौर्य गुण होता है, उसके समान जिस बालकमें यह गुण उपलब्ध होता है उस बालकमें सिंहका उपचार किया जाता है। यहाँ तत्सदृश गुण उपचारका कारण है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिंहमें जो गुण है वही गुण बालकमें तो नहीं है। फिर भी बालकको जो सिंह कहा गया है वह केवल तत्सदृश गुणको देखकर ही कहा गया है। अतएव यह उपचार कथन ही है, वास्तविक नहीं। यह दृष्टान्त है अब इसे दार्ष्टान्तिपर लागू कीजिए।

प्रकृतमें कार्य-कारणभावका विचार प्रस्तुत है। कार्य एक है और कारण दो—एक बाह्य सामग्री, जो अपने स्वचतुष्टय द्वारा कार्यके स्वचतुष्टयको स्पर्श करनेमें सर्वथा असमर्थ है और दूसरी अन्तःसामग्री जो कार्यके अव्यवहित प्राक् रूपस्वरूप है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों कारणोंमें कार्यका वास्तविक कारण कौन ? दोनों या एक ? इसे यथार्थरूपमें समझनेके लिए कारकोंके स्वरूपपर दृष्टिपात करना होगा। कारक दो प्रकारके हैं—एक निश्चय कारक और दूसरे व्यवहार कारक। निश्चय कारक जिस द्रव्यमें कार्य होता है उससे अभिन्न होते हैं और व्यवहार कारक जिस द्रव्यमें कार्य होता है उससे भिन्न माने गये हैं। प्रत्येक द्रव्यमें अपना कार्य करनेमें समर्थ उससे अभिन्न छह कारक नियमसे होते हैं, इसको समझनेके लिए पंचास्ति-काय गाथा ६२ और उसकी टीका देखने योग्य है। इसकी उत्थानिकाका निर्देश करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अत्र निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूपकर्तृत्वमुक्तम्।

निश्चयसे अभिन्न कारक होनेसे कर्म और जीव स्वयं स्वरूपके (अपने-अपने स्वरूपके) कर्ता हैं ऐसा यहाँ कहा है।

आगममें जहाँ स्वरूप प्राप्तिका निर्देश किया गया है वहाँ यही कहा गया है।

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।
समादधानो हि परां विशुद्धि प्रतिपद्यते॥ १-११३॥-अनगारधर्मामृत।

स्वसंवेदनसे सुव्यक्त हुआ यह आत्मा स्वसंवेदनरूप अपने द्वारा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अपनी प्राप्तिके लिए इन्द्रिय ज्ञान और अन्तःकरण ज्ञानरूप अपनेसे भिन्न होकर निर्विकल्पस्वरूप अपनेमें शुद्ध चिदानन्द-स्वरूप अपनेको ध्याता हुआ उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है॥१-११३॥

इसी तथ्यको परमात्मप्रकाश अध्याय एकमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

भवतणुभोयविरत्तमणु जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टइ ॥३२॥

संसार, शरीर और भोगोंमें विरक्त मन हुआ जो जीव आत्माको ध्याता है उसकी बड़ी भारी संसाररूपी बेल छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥३२॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक समयमें निश्चय षट्कारकरूपसे परिणत हुआ प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करनेमें समर्थ है । इसको विशदरूपसे समझनेके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४१० का 'ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता' यह वक्तव्य दृष्टिपथमें लेने योग्य है। इसमें स्पष्ट बतलाया है कि निश्चयनयसे (यथार्थरूपसे) विचार करनेपर प्रत्येक द्रव्यमें स्थितिरूप, गमनरूप और परिणमन आदि रूप जो भी कार्य होता है उसे वह द्रव्य स्वयं अपने द्वारा अपनेमें आप कर्ता होकर करनेमें समर्थ है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप जो भी स्वरूप है वह विस्रसा है। अभेद विवक्षामें ये तीनों एक हैं, भेदविवक्षामें ही ये तीन कहे जाते हैं ।

इसपर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों जब कि द्रव्यस्वरूप हैं तो कालभेदसे प्रत्येक द्रव्य अन्य-अन्य क्यों प्रतीत होता है, उसे जो प्रथम समयमें है वही दूसरे समयमें रहना चाहिए ? इसी प्रश्नका समाधान व्यवहारनयसे करते हुए यह वचन लिखा है—

व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः ।
व्यवहारनयसे ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं ।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि व्यवहारनयके दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय । सद्भूत व्यवहारनयमें भेदविवक्षा मुख्य है और असद्भूतव्यवहारनयमें उपचारविवक्षा मुख्य है । इससे दो तथ्य फलित होते हैं कि सद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करनेपर किस पर्याययुक्त द्रव्यके बाद अगले समयमें किस पर्याय युक्त द्रव्य रहेगा यह ज्ञात होता है और असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करनेपर बाह्य किस प्रकारके संयोगमें किस प्रकारकी पर्यायसे युक्त द्रव्य रहेगा यह ज्ञात होता है । यहाँ आचार्य विद्यानन्दिने जो उत्पादादिको व्यवहारनयसे सहेतुक कहा है उसका आशय भी यही है । इसी तथ्यको उन्होंने अष्टसहस्री पृ० ११२ में इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

स्वयमुत्पित्सोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षणप्रसंगात् । एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तम्, विस्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रयव्यवस्थानात् । तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात् ।

स्वयं उत्पादशील है फिर भी उसमें यदि स्वभावान्तरकी अपेक्षा मानी जाय तो जो स्वयं विनाशशील है उसमें भी स्वभावान्तरकी अपेक्षा माननेका प्रसंग आता है । इससे स्वयं स्थितिशीलमें स्वभावान्तरकी अपेक्षा नहीं होती यह कहा गया है, क्योंकि विस्रसा परिणमनशील पदार्थमें कारणान्तरकी अपेक्षा किये बिना उत्पादादित्रयकी व्यवस्था है; तद्विशेषमें ही हेतुका व्यापार स्वीकार किया है ।

यहाँ 'तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्' इस वचनके तात्पर्यको समझनेके लिए अष्टसहस्री

पृ० १५० के 'परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते' पद ध्यान देने योग्य है। इस द्वारा कैसी अन्तःसामग्री और कैसी बाह्य सामग्रीका सन्निपात होने पर कैसा उत्पाद होता है यह बतलाया गया है। इससे यही ज्ञात होता है कि स्वभावसे द्रव्य उत्पादादि त्रयस्वरूप होनेके कारण अपने परिणामस्वभावके आलम्बन द्वारा यद्यपि इन तीन रूप स्वयं परिणमता है, अन्य कोई उसे इनरूप परिणमाता नहीं है। फिर भी अन्तः-बाह्य सामग्रीके किस रूप होने पर किस रूप परिणमता है इसकी प्रसिद्धि उससे होती है, अतः सद्भूत व्यवहारनयसे अन्तःसामग्रीको और असद्भूत व्यवहार नयसे बाह्य सामग्रीको उसका उत्पादक कहा गया है। एकको दूसरेका उत्पादक कहना यह व्यवहार है और स्वयं उत्पन्न होता है कहना निश्चय है। अर्थात् निश्चय नयका विषय है।

यहाँ सद्भूत व्यवहारनयका खुलासा यह है कि उपादान और उपादेयका स्वरूप स्वतःसिद्ध होनेपर भी यह नय उपादेयको उपादान सापेक्ष स्वीकार करता है।

असद्भूत व्यवहारनयका खुलासा यह है कि बाह्य सामग्री स्वरूपसे अन्यके कार्यका निमित्त नहीं है फिर भी यह नय उसे अन्य बाह्य सामग्री सापेक्ष स्वीकार करता है।

यहाँ इन दोनों व्यवहारोंमें हमने उपचरितोपचारकी विवक्षा नहीं की है। उसकी विवक्षामें उपादान उपादेयका उत्पादक है यह कथन उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय होगा और कुम्भकार घटका कर्ता है यह कथन उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय ठहरेगा। अन्यत्र जहाँ कहीं हमने उपादानसे उपादेयकी उपपत्तिको यदि निश्चयनयका वक्तव्य कहा भी है तो वहाँ अभेद विवक्षामें ही वैसा प्रतिपादन किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाशमें जब हम बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा विचार करते हैं तो विदित होता है कि कुम्भकारमें जो षट् कारक धर्म हैं वे अपने हैं, मिट्टीके नहीं। तथा मिट्टीमें जो षट् कारक धर्म हैं वे मिट्टीके हैं, कुम्भकारके नहीं। अतएव कुम्भकारको अपने कर्तादि धर्मोंके कारण योग और विकल्पका कर्ता कहना तथा मिट्टीको अपने कर्तादि धर्मोके कारण घटका कर्ता कहना तो परमार्थभूत है। फिर भी जिस समय मिट्टी अपना घटरूप व्यापार करती है उस समय कुम्भकार भी अपना योग और विकलरूप ऐसा व्यापार करता है जो घट परिणामके अनुकूल कहा जाता है। वस्तुतः यही कुम्भकारमें घटके कर्तापनेके उपचारका हेतु है। इसी तथ्यको समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका 'कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः—कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको करता हुआ' इन शब्दोंमें व्यक्त करती है। जैसे बालक सिंहका कार्य तो नहीं करता, फिर भी वह अपने क्रौर्य-शौर्य गुणके कारण सिंह कहनेमें आता है। यही उपचार है। वैसे ही कुम्भकार मिट्टीमें घटक्रिया तो नहीं करता, फिर भी वह मिट्टी द्वारा की जानेवाली घटक्रियाके समय अपनी योग और विकल्परूप ऐसी क्रिया करता है जिससे उसे मिट्टीमें घट क्रियाका कर्ता कहा जाता है। यही उपचार है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष पूर्वोक्त उदाहरण द्वारा आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें इस तथ्यको ग्रहण करेगा।

अपर पक्षने उपचार कहाँ प्रवृत्त होता है यह दिखलानेके लिए जो अन्य दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनका आशय भी यही है। अन्न अपने परिणाम लक्षण क्रियाका कर्ता है और प्राण अपने परिणाम लक्षण क्रियाके कर्ता हैं। ये परस्पर एक-दूसरेकी क्रिया नहीं करते। फिर भी कालप्रत्यासत्ति वश यहाँ अन्नमें प्राणोंकी निमित्तता उपचरित की गई है। अतएव अन्न जैसे प्राणोंका उपचरित हेतु है उसी प्रकार प्रकृतमें

जान लेना चाहिए। वचनमें परर्थानुमानका उपचार क्यों किया जाता है इसका खुलासा भी इससे हो जाता है और इस उदाहरणसे यही ज्ञात होता है कि कुम्भकार वास्तवमें घटोत्पत्तिका हेतु नहीं है।

अपर पक्षने अपने प्रकृत विवेचनमें सबसे बड़ी भूल तो यह की है कि उसने बाह्य सामग्रीको स्वरूपसे अन्यके कार्यका निमित्त स्वीकार करके अपना पक्ष उपस्थित किया है। किन्तु उस पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त कथनको वास्तविक मानने पर अन्य द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तवमें रहता है यह स्वीकार करना पड़ता है और ऐसा स्वीकार करने पर दो द्रव्योंमें एकताका प्रसंग उपस्थित होता है। अतएव अपर पक्षको प्रकृतमें यह स्वीकार करना चाहिए कि बाह्य सामग्रीको अन्यके कार्यका हेतु कहना यह प्रथम उपचार है और उस आधारसे उसे वही कहना या उसका कर्ता कहना यह दूसरा उपचार है। 'अन्नं वै प्राणाः' यह वास्तवमें उपचरितोपचारका उदाहरण है। सर्व प्रथम तो यहाँ व्यवहार (उपचार) नयसे अन्नमें प्राणोंकी निमित्तता स्वीकार की गई है और उसके बाद पुनः व्यवहार (उपचार) नयका आश्रय कर अन्न प्राण ही है ऐसा कहा गया है। यहाँ व्यवहार पद उपचारका पर्यायवाची है। अतएव आगममें जहाँ भी एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यके कार्यका व्यवहारनयसे निमित्त कहा गया है वहाँ उसे उस कार्यका उपचारनयसे निमित्त कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।

उपचार और व्यवहार ये एकार्थवाची हैं। इसके लिए देखो समयसार गाथा १०८ तथा उसकी आत्मख्याति टीका। समयसारकी उक्त गाथामें 'ववहारा' पद आया है और उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने उसके स्थानमें 'उपचार' पदका प्रयोग किया है। समयसार गाथा १०६ और १०७ तथा उनकी आत्मख्याति टीकामें भी यही बात कही गई है। इतना ही क्यों, इसी अर्थको बतलानेके लिए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने गाथा १०५ में 'उपचारमात्र' पदका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि आगममें जहाँ जहाँ व्यवहारसे निमित्त है, हेतु है या कारण है ऐसा कहा गया है वहाँ वह कथन उपचारसे किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १२ से भी यही तथ्य फलित होता है। यहाँ भट्टाकलंकदेवने जब 'सब द्रव्य परमार्थसे स्वप्रतिष्ठ हैं' इस वचनकी स्वीकृति दी तब यह प्रश्न उठा कि ऐसा मानने पर तो अन्योन्य आधारके व्याघातका प्रसंग उपस्थित होता है। इसी प्रश्नका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि एक को दूसरेका आधार बतलाना यह व्यवहारनयका वक्तव्य है, परमार्थसे तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। यदि कोई शंका करे कि यहाँ परमार्थका अर्थ द्रव्यार्थिक है तो यह बात भी नहीं है। किन्तु यहाँ परमार्थ पदका अर्थ पर्यायार्थिक निश्चयरूप एवम्भूतनय ही लिया गया है। इस प्रकार इस विवेचनसे भी यही ज्ञात होता है कि समयसारमें जिस प्रकार व्यवहार पद उपचारके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है उसी प्रकार अन्य आचार्योंने भी इस (व्यवहार) पदका उपचारके अर्थमें ही प्रयोग किया है।

यह तथ्य है। इस तथ्यको ध्यानमें रखकर आलापपद्धतिके 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।' इस पदका असद्भूत व्यवहारनयसे यह अर्थ फलित होता है कि यदि मुख्य (यथार्थ) प्रयोजन और निमित्त (कारण) का अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा असद्भूत व्यवहार प्रयोजन और असद्भूत व्यवहार निमित्तकी विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।

तथा अखण्ड द्रव्यमें भेदविवक्षा वश इसका यह अर्थ होगा कि मुख्य अर्थात् द्रव्यार्थिक नयका विषयभूत यथार्थ प्रयोजन और यथार्थ निमित्तका अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा सद्भूत व्यवहाररूप प्रयोजन और सद्भूत व्यवहाररूप निमित्तकी विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।

यही कारण है कि 'मुख्याभावे' इत्यादि वचनके बाद उस उपचारको कहीं अविनाभाव सम्बन्धरूप, कहीं संश्लेषसम्बन्धरूप और कहीं परिणामपरिणामिसम्बन्ध आदि रूप बतलाया गया है।

इसलिए आलापपद्धतिके उक्त वाक्यको ध्यानमें रखकर अपर पक्षने उसके आधारसे यहाँ जो कुछ भी लिखा है वह ठीक नहीं, यह तात्पर्य हमारे उक्त विवेचनसे सुतरां फलित हो जाता है।

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें उपादान पदकी निरुक्ति तथा व्याकरणसे सिद्धि करते हुए लिखा है कि 'जो परिणमनको स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्यका आश्रय ठहरता है।' तथा निमित्त पदकी निरुक्ति और व्याकरणसे सिद्धि करते हुए उसके विषयमें लिखा है कि 'जो मित्रके समान उपादानका स्नेहन करे अर्थात् उसकी कार्यपरिणतिमें जो मित्रके समान सहयोगी हो वह निमित्त कहलाता है।'

उपादान और निमित्तके विषयमें यह अपर पक्षका वक्तव्य है। इससे विदित होता है कि अपर पक्ष उपादानको मात्र आश्रय कारण मानता है और निमित्तको सहयोगी। अतएव प्रश्न होता है कि कार्यका कर्ता कौन होता है ? अपर पक्ष अपने उक्त कथन द्वारा कार्यको उपादानका तो स्वीकार कर लेता है इसमें सन्देह नहीं, अन्यथा वह उपादानके लिए 'उसकी कार्यपरिणतिमें' ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं करता। परन्तु वह उपादानको कार्यका मुख्य (वास्तविक) कर्ता नहीं मानना चाहता इसका हमें आश्चर्य है। समयसार कलशमें यदि जीव पुद्गलकर्मको नहीं करता है तो कौन करता है ऐसा प्रश्न उठा कर उसका समाधान करते हुए लिखा है कि यदि तुम अपना तीव्र मोह (अज्ञान) दूर करना चाहते हो तो कान खोलकर सुनो कि वास्तवमें पुद्गल ही अपने कार्यका कर्ता है, जीव नहीं। समयसार कलशका वह वचन इस प्रकार है—

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥६३॥

अपर पक्ष जब कि कार्यके प्रति व्यवहार कर्ता या व्यवहार हेतु आदि शब्दों द्वारा प्रयुक्त हुए बाह्य पदार्थको उपचार कर्ता या उपचारहेतु स्वीकार कर लेता है, ऐसी अवस्थामें उसे आगममें किये गये 'उपचार' पदके अर्थको ध्यानमें रखकर इस कथनको अवास्तविक मान लेनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे उपादानकर्ता वास्तविक है, यह सुतरां फलित हो जाता है। बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहारको लक्ष्यमें रखकर उपचार कर्ता या उपचार हेतुका आगममें कथन क्यों किया गया है इसका प्रयोजन है और इस प्रयोजनको लक्ष्यमें रख कर यह कथन व्यर्थ न होकर सार्थक और उपयोगी भी है। किन्तु इस आधारपर अपर पक्ष द्वारा उस कथनको ही वास्तविक ठहराना किसी भी अवस्थामें उचित या परमार्थभूत नहीं कहा जा सकता।

अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें आगमके जो तीन उदाहरण उपस्थित किये हैं उनमेंसे अष्टसहस्री पृ० १५० का उदाहरण निश्चय उपादानके साथ बाह्य सामग्रीकी मात्र कालप्रत्यासत्तिको सूचित करता है। देवागम कारिका ९९ से मात्र इतना ही सूचित होता है कि यह जीव अपने रागादि भावोंको मुख्य कर जैसा कर्मबन्ध करता है उसके अनुसार उसे फलका भागी होना पड़ता है। फलभोगमें कर्म तो निमित्तमात्र है, उसका मुख्य कर्ता तो स्वयं जीव ही है। अपर पक्षने इस कारिकाके उत्तरार्ध को छोड़कर उसे आगम प्रमाणके रूपमें उपस्थित किया है। इससे कर्म और जीवके रागादि भावोंमें

निमित्त-नैमित्तिक योग कैसे वनता है इतना ही सिद्ध होता है, अतएव उससे अन्य अर्थ फलित करना उचित नहीं है। तीसरा उदाहरण प्रवचनसार गाथा २५५ की टीकाका है। किन्तु इस वचनको प्रवचनसार गाथा २५४ और उसकी टीकाके प्रकाशमें पढ़ने पर विदित होता है कि इससे उपादानके कार्यकारी पनेका ही समर्थन होता है। रसपाक कालमें बीजके समान भूमि फलका स्वयं उपादान भी है इसे अपर पक्ष यदि ध्यानमें ले ले तो उसे इस उदाहरण द्वारा आचार्य किस तथ्यको सूचित कर रहे हैं इसका ज्ञान होनेमें देर न लगे। निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा विचार करनेपर इस आगमप्रमाणसे यह विदित होता है कि बीजका जिस रूप अपने कालमें रसपाक होता है तदनुकूल भूमि उसमें निमित्त होती है और उपादान-उपादेय भावकी अपेक्षा विचार करने पर इस आगमप्रमाणसे यह विदित होता है कि भूमि बीजके साथ स्वयं उपादान होकर जैसे अपने कालमें इष्टार्थको फलित करती है वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए। स्पष्ट है कि इन तीन आगमप्रमाणोंसे अपर पक्षके मतका समर्थन न होकर हमारे अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है। बाह्य सामग्री उपादानके कार्यकालमें उपादानकी क्रिया न करके स्वयं उपादान होकर अपनी ही क्रिया करती है, फिर भी बाह्य सामग्रीके क्रियाकालमें उपादानका वह कार्य होनेका योग है, इसलिए बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। इसे यदि अपर पक्ष निमित्तकी हाजिरी समझता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री उपादानके कार्यका अनुरंजन करती है, उपकार करती है, सहायक होती है आदि यह सब कथन व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य है, निश्चयनयका नहीं। अपने प्रतिषेधक स्वभावके कारण निश्चयनयकी दृष्टिमें यह प्रतिषेध्य ही है। आशा है कि अपर पक्ष इस तथ्यके प्रकाशमें उपादानके कार्य कालमें बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको वास्तविक (यथार्थ) माननेका आग्रह छोड़ देगा।

हमने पञ्चास्तिकाय गाथा ८८ के प्रकाशमें बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्तव्यवहारको जहाँ दो प्रकारका बतलाया है वहाँ उसी टीका वचनसे इन भेदोंको स्वीकार करनेके कारणका भी पता लग जाता है। जो मुख्यतः अपने क्रिया परिणाम द्वारा या राग और क्रिया परिणाम द्वारा उपादानके कार्यमें निमित्त व्यवहार पदवीको धारण करता है उसे आगममें निमित्तकर्ता या हेतुकर्ता कहा गया है। इसीको लोकमें प्रेरक कारण भी कहते हैं और जो उक्त प्रकारके सिवाय अन्य प्रकारसे व्यवहार हेतु होता है उसे आगममें उदासीन निमित्त कहनेमें आया है। यही इन दोनोंमें प्रयोगभेदका मुख्य कारण है। पंचास्तिकायके उक्त वचनसे भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार हमने इन दोनों भेदोंको क्यों स्वीकार किया है, इसका यह स्पष्टीकरण है।

अपर पक्ष इन दोनोंको स्वीकार करनेमें उपादानके कार्यभेदको मुख्यता देता है सो उपादानमें कार्य भेद तो दोनोंके सद्भावमें होता है। प्रश्न यह नहीं है, किन्तु प्रश्न यह है कि उस कार्यको वास्तवमें कौन करता है ? जिसे आगममें हेतुकर्ता कहा गया है वह कि उपादान ? यदि जिसे आगममें हेतुकर्ता कहा गया है वह करता है तो उसे उपादान ही मानना होगा। किन्तु ऐसा मानना स्वयं अपर पक्षको भी इष्ट नहीं होगा, इसे हम हृदयसे स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्थामें फलित तो यही तथ्य होता है कि उपादानने स्वयं यथार्थ कर्ता होकर अपना कार्य किया और बाह्य सामग्री उसमें व्यवहारसे हेतु हुई। इस अपेक्षासे विचार करने पर बाह्य सामग्रीकी व्यवहारहेतुता एक ही प्रकारकी है, दो प्रकारकी नहीं, यह सिद्ध होता है। आचार्य पूज्यपादने इष्टोपदेशमें 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि वचन इसी अभिप्रायसे लिखा है। इस वचन द्वारा

वे यह सूचित कर रहे हैं कि व्यवहारहेतुता किसी प्रकारसे क्यों न मानी गई हो, अन्यके कार्यमें वह वास्तविक न होनेसे इस अपेक्षासे समान है। अर्थात् अन्यका कार्य करनेमें धर्मद्रव्यके समान दोनों ही उदासीन हैं।

अब रही प्रेरक निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीके अनुरूप परिणमनकी बात सो यह हम अपर पक्षसे ही जानना चाहेंगे कि यह अनुरूप परिणमन क्या वस्तु है? उदाहरणार्थ कर्मको निमित्त कर जीवके भावसंसारकी सृष्टि होती है और जीवके राग-द्वेषको निमित्त कर कर्मकी सृष्टि होती है। यहाँ कर्म निमित्त है और राग-द्वेष परिणाम नैमित्तिक। इसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम निमित्त हैं और कर्म नैमित्तिक। तो क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि निमित्तमें जो गुणधर्म होते हैं वे नैमित्तिकमें संक्रमित हो जाते हैं, या क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि जिसको उपादान निमित्त बनाता है उस जैसा क्रिया परिणाम या भाव परिणाम अपनी उपादान शक्तिके बलसे वह अपना स्वयं उत्पन्न कर लेता है? प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि एक द्रव्यके गुण-धर्मका दूसरे द्रव्यमें संक्रमण नहीं होता। ऐसी अवस्थामें दूसरा पक्ष ही स्वीकार करना पड़ता है। समयसार गाथा ८०-८२ की आत्मख्याति टीकामें 'निमित्तीकृत्य' पदका प्रयोग इसी अभिप्रायसे किया गया है। अन्य द्रव्य दूसरेके कार्यमें स्वयं निमित्त नहीं है। किन्तु अन्य द्रव्यको लक्ष्य कर—आलम्बन कर अन्य जिस द्रव्यका परिणाम होता है उसकी अपेक्षा उसमें प्रेरक निमित्त व्यवहार किया जाता है। पुद्गल द्रव्य अपनी विशिष्ट स्पर्श पर्यायके कारण दूसरेका सम्पर्क करके अपनी उपादान शक्तिके बलसे जिसका सम्पर्क किया है उसके समान कर्मरूपसे परिणम जाता है और जीव अपने कषायके कारण दूसरेको लक्ष्य करके अपनी उपादान शक्तिके बलसे जिसको लक्ष्य किया है वैसा रागपरिणाम अपनेमें उत्पन्न कर लेता है। यही संसार और तदनुरूप कर्मबन्धका बीज है। यही कारण है कि प्रत्येक मोक्षार्थीको आत्मस्वभावको लक्ष्यमें लेनेका उपदेश आगममें दिया गया है, इसलिए प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि प्रत्येक उपादानके कार्यमें जो वैशिष्ट्य आता है उसे अपनी आन्तरिक योग्यता वश स्वयं उपादान ही उत्पन्न करता है, बाह्य सामग्री नहीं। फिर भी कालप्रत्यासत्ति वश क्रियाकी और परिणामकी सदृशता देखकर जिसके लक्ष्यसे वह परिणाम होता है उसमें प्रेरक निमित्त व्यवहार किया जाता है। अन्य द्रव्यके कार्यमें प्रेरक निमित्त व्यवहार करनेकी यह सार्थकता है। इसके सिवाय अपर पक्षने इसके सम्बन्धमें अन्य जो कुछ भी लिखा है वह यथार्थ नहीं है।

हमने जो यह लिखा है कि प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यके कार्यको आगे-पीछे कभी भी नहीं किया जा सकता है, वह य र्थ लिखा है, क्योंकि उपादानके अभावमें जब कि बाह्य सामग्रीमें प्रेरक निमित्त व्यवहार भी नहीं किया जा सकता तो उसके द्वारा कार्यका आगे-पीछे किया जाना तो अत्यन्त ही असम्भव है। कर्मकी नानारूपता भावसंसारके उपादानकी नानारूपताको तथा भूमिकी विपरीतता बीजकी वैसी उपादानताको ही सूचित करती है। अतएव उपादानके अभावमें जब कि बाह्य सामग्रीमें प्रेरक निमित्त व्यवहार ही नहीं किया जा सकता, ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष द्वारा 'प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य कभी भी किया जा सकता है' ऐसा लिखा जाना उसके एकान्त आग्रहको ही सूचित करता है।

अपर पक्षने यहाँपर शीतऋतु, कपड़ा और दर्जीका उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि कपड़ेसे बननेवाले कोट आदिके समान जितने भी कार्य होते हैं उनमें एकमात्र निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका ही बोलवाला है। इस सम्बन्धमें अपर पक्ष अपने एकान्त आग्रहवश क्या लिखता है उसपर ध्यान दीजिए। उसका कहना है कि—

'इस तरह कोटका बनना तबतक रुका रहा जबतक कि दर्जीके पास कोटके बनानेका अवकाश नहीं निकल आया। इस दृष्टान्तमें विचारना यह है कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा खरीदे हुए उस कपड़ेमें, जब कि उसे दर्जीकी मर्जीपर छोड़ दिया गया है, कौनसी ऐसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अभाव बना हुआ है कि वह कपड़ा कोटरूपसे परिणत नहीं हो पा रहा है और जिस समय वह दर्जी कोटके सीनेका व्यापार करने लगता है तो उस कपड़ेमें कौनसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अपने-आप सद्भाव हो जाता है कि वह कपड़ा कोट बनकर तैयार हो जाता है। विचार कर देखा जाय तो यह सब साम्राज्य निमित्तकारण सामग्रीका ही है, उपादान तो बेचारा अपनी योग्यता लिए तभीसे तैयार बैठा है जब वह दर्जीके पास पहुँचा था। यहाँपर हम उस कपड़ेकी एक एक क्षणमें होनेवाली पर्यायोंकी बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि कोट पर्यायके निर्माणसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यह कह रहे हैं कि पहलेसे ही एक निश्चित आकारवाले कपड़ेका वह टुकड़ा कोटके आकारको क्यों तो दर्जीके व्यापार करनेपर प्राप्त हो गया और जब-तक दर्जीने कोट बनानेरूप अपना व्यापार चालू नहीं किया तबतक वह क्यों जैसा-का-तैसा पड़ा रहा। जिस अन्वय-व्यतिरेकगम्य कार्य-कारणभावकी सिद्धि आगमप्रमाणसे हम पहले कर आये हैं उससे यही सिद्ध होता है कि सिर्फ निमित्त कारणभूत दर्जीकी बदौलत ही उस कपड़ेकी कोटरूप पर्याय आनेको पिछड़ गई, कोटके निर्माण कार्यको उस कपड़ेकी सम्भाव्य क्षणवर्ती क्रमिक पर्यायोंके साथ जोड़ना कहाँतक बुद्धिगम्य हो सकता है यह आप ही जानें।' आदि।

यह प्रकृतमें अपर पक्षके वक्तव्यका कुछ अंश है। इस द्वारा अपर पक्ष यह बतलाना चाहता है कि अनन्त पुद्गल परमाणुओंका अपने-अपने स्पर्श विशेषके कारण संश्लेष सम्बन्ध होकर जो आहारवर्गणाओंकी निष्पत्ति हुई और उनका कार्पास व्यञ्जन पर्यायरूपसे परिणमन होकर जुलाहेके विकल्प और योगको निमित्त-कर जो वस्त्र बना उस वस्त्रकी कोट आदिरूप पर्याय दर्जीके योग और विकल्पपर निर्भर है कि जब चाहे वह उसकी कोटपर्यायका निष्पादन करे। न करना चाहे न करे। जो व्यवहारनयसे उस वस्त्रका स्वामी है वह भी अपनी इच्छानुसार उस वस्त्रको नानारूप प्रदान कर सकता है। वस्त्रका अगला परिणाम क्या हो यह वस्त्रपर निर्भर न होकर दर्जी और स्वामी आदिकी इच्छापर ही निर्भर है। ऐसे सब कार्योंमें एकमात्र निमित्तका ही बोलबाला है, उपादानका नहीं। अपर पक्षके कथनका आशय यह है कि विवक्षित कार्य परिणाम के योग्य उपादानमें योग्यता हो, परन्तु सहकारी सामग्रीका योग न हो या आगे-पीछे हो तो उसीके अनुसार कार्य होगा। किन्तु अपर पक्षका यह सब कथन कार्य-कारणपरम्पराके सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जिसे व्यवहार नयसे सहकारी सामग्री कहते हैं उसे यदि उपादान कारणके समान कार्यका यथार्थ कारण मान लिया जाता है तो कार्यको जैसे उपादानसे उत्पन्न होनेके कारण तत्स्वरूप माना गया है वैसे ही उसे सहकारी सामग्री-स्वरूप भी मानना पड़ता है, अन्यथा सहकारी सामग्रीमें यथार्थ कारणता नहीं बन सकती। दूसरे दर्शनमें सन्निकर्षको प्रमाण माना गया है। किन्तु जैनाचार्योंने उस मान्यताका खण्डन यह कह कर ही किया है कि सन्निकर्ष दोमें स्थित होनेके कारण उसका फल अर्थाधिगम दोनोंको प्राप्त होना चाहिए। (सर्वार्थसिद्धि अ० १. सू० १०) वैसे ही एक कार्यकी कारणता यदि दोमें यथार्थ मानी जाती है तो कार्यको भी उभयरूप मानने का प्रसंग आता है। यतः कार्य उभयरूप नहीं होता, अतः अपर पक्षमें सहकारी सामग्रीको निर्विवादरूपसे उपचरित कारण मान लेना चाहिए।

अपर पक्ष जानना चाहता है कि बाज़ारसे कोटका कपड़ा खरीदनेके बाद जब तक दर्जी उसका कोट

नहीं बनाता तब तक मध्य कालमें कपड़ेमें कौन सी ऐसी उपादान योग्यताका अभाव बना हुआ है जिसके बिना कपड़ा कोट नहीं बनता। समाधान यह है कि जिस अव्यवहित पूर्व पर्यायके बाद कपड़ा कोट पर्यायको उत्पन्न करता है वह पर्याय जब उस कपड़ेमें उत्पन्न हो जाती है तब उसके बाद ही वह कपड़ा कोट पर्याय-रूपसे परिणत होता है। इसके पूर्व उस कपड़ेको कोटका उपादान कहना द्रव्यार्थिक नयका वक्तव्य है।

अपर पक्ष कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिकी इच्छा और दर्जीकी इच्छाके आधारपर कोटका कपड़ा कब कोट बन सका यह निर्णय करके कोट कार्यमें बाह्य सामग्रीके साम्राज्यकी भले ही घोषणा करे। किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अपर पक्षके उक्त कथनको उलटकर हम यह भी कह सकते हैं कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिने बाजारसे कोटका कपड़ा खरीदा और बड़ी उत्सुकता पूर्वक वह उसे दर्जीके पास ले भी गया। किन्तु अभी उस कपड़ेके कोट पर्यायरूपसे परिणत होनेका स्वकाल नहीं आया था, इसलिए उसे देखते ही दर्जीकी ऐसी इच्छा हो गई कि अभी हम इसका कोट नहीं बना सकते और जब उस कपड़ेकी कोट पर्याय सन्निहित हो गई तो दर्जी, मशीन आदि भी उसकी उत्पत्तिमें निमित्त हो गये।

अपर पक्ष यदि इस तथ्यको समझ ले कि केवल द्रव्यशक्ति जैन दर्शनमें कार्यकारी नहीं मानी गई है, क्योंकि वह अकेली पाई नहीं जाती और न केवल पर्याय शक्ति ही जैन दर्शनमें कार्यकारी मानी गई है, क्योंकि वह भी अकेली पाई नहीं जाती। अतएव प्रतिविशिष्ट पर्याय शक्ति युक्त असाधारण द्रव्यशक्ति ही जैनदर्शनमें कार्यकारी मानी गई है। तो कपड़ा कब कोट बने यह भी उसे समझमें आ जाय। और इस बातके समझमें आने पर उसके विशिष्ट कालका भी निर्णय हो जाय। प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है। हरिवंश-पुराण सर्ग ५२ में लिखा है—

> चतुरंगबलं कालः पुत्रा मित्राणि पौरुषम्।
> कार्यकृत्तावदेवात्र यावद्दैवबलं परम् ॥७१॥
> दैवे तु विकले काल-पौरुषादिर्निरर्थकः।
> इति यत्कथ्यते विद्भिस्तत्तथ्यमिति नान्यथा ॥७२॥

जब तक उत्कृष्ट दैवबल है तभी तक चतुरंग बल, काल, पुत्र, मित्र और पौरुष कार्यकारी हैं। दैवके विकल होने पर काल और पौरुष आदि सब निरर्थक हैं ऐसा जो विद्वत्पुरुष कहते हैं वह यथार्थ है, अन्यथा नहीं है ॥७१-७२॥

यह आगम प्रमाण है। इससे जहाँ प्रत्येक कार्यके विशिष्ट कालका ज्ञान होता है वहाँ उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि दैव अर्थात् द्रव्यमें कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके सद्भावमें ही बाह्य सामग्रीकी उप-योगिता है, अन्यथा नहीं।

यहाँ पर हमने 'दैव' पदका अर्थ 'कार्यकारी अन्तरंग योग्यता' आप्तमीमांसा कारिका ८८ की अष्ट-शती टीकाके आधार पर ही किया है। भट्टाकलंकदेव 'दैव' पदका अर्थ करते हुए वहाँ पर लिखते हैं—

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्।

योग्यता और पूर्व कर्म इनकी दैव संज्ञा है। ये दोनों अदृष्ट हैं। किन्तु इहचेष्टितका नाम पौरुष है जो दृष्ट है।

आचार्य समन्तभद्रने कार्यमें इन दोनोंके गौण-मुख्यभावसे ही अनेकान्तका निर्देश किया है। इससे

स्पष्ट विदित होता है कि कपड़ा जब भी कोट बनता है अपनी द्रव्य-पर्यायात्मक अन्तरंग योग्यताके बलसे ही बनता है और तभी दर्जीका योग तथा विकल्प आदि अन्य सामग्री उसकी उस पर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्त होती है।

अपर पक्ष यद्यपि केवल बाह्य सामग्रीके आधारपर कार्य-कारणभावका निर्णय करना चाहता है और उसे वह अनुभवगम्य बतलाता है। किन्तु उसकी यह मान्यता कार्यकारी अन्तरंग योग्यताको न स्वीकार करनेका ही फल है जो आगमविरुद्ध होनेसे प्रकृतमें स्वीकार करने योग्य नहीं है। लोकमें हमें जितना हमारी इन्द्रियोंसे दिखलाई देता है और उस आधार पर हम जितना निश्चय करते हैं, केवल उतनेको ही अनुभव मान लेना तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। हमारी समझसे अपर पक्ष प्रकृतमें कार्यकारी अन्तरंग योग्यताको स्वीकार किये बिना इसी प्रकारकी भूल कर रहा है जो युक्त नहीं है। अतएव उसे प्रतिविशिष्ट बाह्य सामग्रीकी स्वीकृतिके साथ यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिस समग्र कोट पर्यायके अनुरूप प्रतिविशिष्ट द्रव्य-पर्याय योग्यता उस कपड़ेमें उत्पन्न हो जाती है तभी वह कपड़ा कोट पर्यायका उपादान बनता है, अन्य कालमें नहीं। बाह्य सामग्री तो निमित्तमात्र है।

अपर पक्ष कालक्रमसे होनेवाली क्षणिक पर्यायोंके साथ कपड़ेकी कोटरूप पर्यायका सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं मानता, किन्तु कोई भी व्यंजन पर्याय क्षण-क्षणमें होनेवाली पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न हो ऐसा नहीं है। अपने सदृश परिणामके कारण हम किसी भी व्यंजन पर्यायको घटी, घंटा आदि व्यवहार कालके अनुसार चिरस्थायी कहें यह दूसरी बात है, पर होती हैं वे प्रत्येक समयमें उत्पाद-व्ययशील ही। पर्यायदृष्टिसे जब कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य होता है, ऐसी अवस्थामें उक्त कपड़ेको भी प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य रूपसे स्वीकार करना ही तर्क, आगम और अनुभवसम्मत माना जा सकता है। अतएव कपड़ेकी कोट पर्याय कालक्रमसे होनेवाली नियत क्रमानुपाती ही है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अपर पक्षने बाह्य सामग्रीको कारण मानकर जो कुछ भी लिखा है वह सब व्यवहारनयका ही वक्तव्य है। निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर अनन्त पुद्गलोंके परिणामस्वरूप कपड़ेकी जिस कालमें अपने उपादानके अनुसार संघात या भेदरूप जिस पर्यायके होनेका नियम है उस कालमें वही पर्याय होती है, क्योंकि प्रत्येक कार्य उपादान कारणके सदृश होता है ऐसा नियम है। इसी तथ्यको प्रगट करते हुए आचार्य जयसेन समयसार गाथा ३७२ की टीकामें लिखते हैं—

उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात्।

दर्जी जब उसकी इच्छामें आता है तब कपड़ेका कोट बनाता है यह पराश्रित अनुभव है और कपड़ा उपादानके अनुसार स्वकालमें कोट बनता है यह स्वाश्रित अनुभव है। अनुभव दोनों हैं। प्रथम अनुभव पराधीनताका सूचक है और दूसरा अनुभव स्वाधीनताका सूचक है। यह अपर पक्ष ही निर्णय करे कि इनमेंसे किसे यथार्थके आश्रय माना जाय।

अपर पक्ष इष्टोपदेशके 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि श्लोकको द्रव्यकर्मके विषयमें स्वीकार नहीं करता। क्यों स्वीकार नहीं करता इसका उसकी ओरसे कोई कारण नहीं दिया गया है। वस्तुतः इस द्वारा कर्म और नोकर्म सबका परिग्रह किया गया है। अपर पक्ष मिट्टीमें पट बननेकी योग्यताको स्वीकार नहीं करता। किन्तु मिट्टी पुद्गल द्रव्य है। घट और पट दोनों ही पुद्गलकी व्यंजन पर्यायें हैं। ऐसी अवस्थामें मिट्टीमें पटरूप बननेकी योग्यता नहीं है यह तो कहा नहीं जा सकता। परस्परमें एक दूसरे रूप परिणमनेकी

योग्यताको ध्यानमें रखकर ही इनमें आचार्योंने इतरेतराभावका निर्देश किया है। फिर क्या कारण है कि मिट्टीसे जुलाहा पट पर्यायका निर्माण करनेमें सर्वथा असमर्थ रहता है। यदि अपर पक्ष कहे कि वर्तमानमें मिट्टीमें पटरूप बननेकी पर्याय योग्यता न होनेसे ही जुलाहा मिट्टीसे पट बनानेमें असमर्थ है तो इससे सिद्ध हुआ कि जो द्रव्य जब जिस पर्यायके परिणमनके सन्मुख होता है तभी अन्य सामग्री उसमें व्यवहारसे निमित्त होती है और इस दृष्टिसे विचार कर देखने पर यही निर्णय होता है कि बाह्य सामग्री मात्र अन्यके कार्य करनेमें वैसे ही उदासीन है जैसे धर्मद्रव्य गतिमें उदासीन है। सब द्रव्य प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करनेमें ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें तीनों कालोंमें एक क्षणका भी विश्राम नहीं मिलता कि वे अपना कार्य छोड़कर दूसरे द्रव्यका कार्य करने लगें। अतएव इष्टोपदेशके उक्त वचनके अनुसार प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जिस प्रकार धर्म द्रव्य अन्यका कार्य करनेमें उदासीन है उसी प्रकार अन्य सभी द्रव्य अन्य द्रव्यका कार्य करनेमें उदासीन हैं। यह तो काल प्रत्यासत्तिका ही साम्राज्य समझिए कि कभी और कहीं वे अन्यके कार्यमें प्रेरक निमित्त व्यवहार पदवीको प्राप्त हो जाते हैं और कभी तथा कहीं वे अन्यके कार्यमें उदासीन निमित्त व्यवहार पदवीको प्राप्त हो जाते हैं।

बौद्ध दर्शन, कारणको देखकर भी कार्यका अनुमान किया जा सकता है, इसे स्वीकार नहीं करता। इसी बातको ध्यानमें रखकर कैसा कारणरूप लिंग कार्यका अनुमापक होता है यह सिद्ध करनेके लिये यह लिखा है कि जहाँ कारणसामग्रीकी अविकलता हो और उससे भिन्न कार्यकी ज्ञापक सामग्री उपस्थित न हो वहाँ कारणसे कार्यका अनुमान करनेमें कोई बाधा नहीं आती। किन्तु हमें खेद है कि अपर पक्ष इस कथनका ऐसा विपर्यास करता है जिसका प्रकृतमें कोई प्रयोजन ही नहीं। इसका विशेष विचार हम छठी शंकाके तीसरे दौरके उत्तरमें करनेवाले हैं, इसलिए इस आधारसे यहाँ इसकी विशेष चर्चा करना हम इष्ट नहीं मानते। किन्तु यहाँ इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी विवक्षित बाह्य सामग्री ही नियत हेतु होती है उसी प्रकार उसकी विवक्षित उपादान सामग्री ही नियत हेतु हो सकेगी। अतएव प्रत्येक कार्य प्रत्येक समयमें प्रतिनियत आभ्यन्तरबाह्य सामग्रीको निमित्त कर ही उत्पन्न होता है ऐसा समझना चाहिए। स्व-परप्रत्यय परिणमनका अभिप्राय भी यही है। इस परसे उपादानको अनेक योग्यतावाला कह कर बाह्य सामग्रीके बलपर चाहे जिस कार्यकी उत्पत्तिकी कल्पना करना मिथ्या है।

अपर पक्षका कहना है कि बाह्य सामग्री उपादानके कार्यमें सहयोग करती है सो यह सहयोग क्या वस्तु है? क्या दोनों मिलकर एक कार्य करते हैं यह सहयोगका अर्थ है? किन्तु यह तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नहीं कर सकते ऐसा द्रव्यस्वभाव है (देखो समयसार कलश ५४)। क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रिया कर देता है यह सहयोगका अर्थ है? किन्तु यह कथन भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यकी क्रिया करनेमें सर्वथा असमर्थ है (देखो प्रवचनसार अ० २ गा० ९५ जयसेनीय टीका)। क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें विशेषता उत्पन्न कर देता है यह सहयोगका अर्थ है? किन्तु जब कि एक द्रव्यका गुणधर्म दूसरे द्रव्यमें संक्रमित ही नहीं हो सकता ऐसी अवस्थामें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें विशेषता उत्पन्न कर देता है यह कहना किसी भी अवस्थामें परमार्थभूत नहीं माना जा सकता (देखो समयसार गाथा १०३ और उसकी आत्मख्याति टीका)। उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए बाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य करनेमें ही

प्रवृत्त करती रहती है क्या यह सहयोगका अर्थ है ? किन्तु अपर पक्षकी यह तर्कणा भी असंगत है, क्योंकि आगममें विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्यको ही कार्यकारी माना गया है (देखो अष्टसहस्री पृ० १५०, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २३०, श्लोकवार्तिक पृ० ६९ तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २०० आदि)। क्या क्षेत्रप्रत्यासत्ति या भावप्रत्यासत्तिके होनेपर उपादानमें कार्य होता है यह सहयोगका अर्थ है ? किन्तु सहयोगका यह अर्थ करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्तिके होनेपर अन्य द्रव्य नियमसे अन्यके कार्यको उत्पन्न करता है ऐसा कोई नियम नहीं है (देखो श्लोकवार्तिक पृ० १५१)। इस प्रकार सहयोगका अर्थ उक्त प्रकारसे करना तो बनता ही नहीं। उक्त विकल्पोंके आधारपर जितनी भी तर्कणाएँ की जाती हैं वे सब असत् ठहरती हैं। अब रही कालप्रत्यासत्ति, सो यदि अपर पक्ष बाह्य सामग्री उपादानके कार्यमें सहयोग करती है इसका अर्थ कालप्रत्यासत्तिरूप करता है तो उसके द्वारा सहयोगका यह अर्थ किया जाना आगम, तर्क और अनुभवसम्मत है, क्योंकि प्रकृतमें 'कालप्रत्यासत्ति' पद जहाँ कालकी विवक्षित पर्यायको सूचित करता है वहाँ वह विवक्षित पर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको भी सूचित करता है। प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्यको अपना कार्य करनेके लिए ऐसा योग नियमसे मिलता है और उसके मिलनेपर प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति भी होती है, ऐसा ही द्रव्यस्वभाव है। उसमें किसीका हस्तक्षेप करना सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि प्रकृतमें निमित्तके सहयोगकी चर्चा करके अपर पक्षने स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय परिणमनोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा है वह आगम, तर्क और अनुभवपूर्ण न होनेसे तत्त्वमीमांसामें ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनके आधारपर हमारा यह लिखना सर्वथा युक्तियुक्त है कि 'निमित्त कारणोंमें पूर्वोक्त दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है।' यही जैनदर्शनका आशय है। अनादिकालसे जैन संस्कृति इसी आधारपर जीवित चली आ रही है और अनन्त काल तक एकमात्र इसी आधारपर जीवित रहेगी। इससे अपर पक्ष यह अच्छी तरहसे जान सकता है कि जैन संस्कृतिके विरुद्ध अपर पक्षकी ही मान्यता है, हमारी नहीं। विचारकर देखा जाय तो हरिवंशपुराण सर्ग ५८ का यह कथन तो जैन संस्कृतिका प्राण है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१२॥

यह आत्मा स्वयं अपना कार्य करता है, स्वयं उसके फलको भोगता है, स्वयं ही संसारमें परिभ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है ॥१२॥

मालूम नहीं अपर पक्ष पराश्रित जीवनका समर्थनकर किस उलझनमें पड़ा हुआ है, इसे वह जाने। वैज्ञानिकोंकी भौतिक खोजसे हम भलीभाँति परिचित हैं। उससे तो यही सिद्ध होता है कि किस विशिष्ट पर्याय युक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके सद्भावमें क्या कार्य होता है। हमें मालूम हुआ है कि जापानमें दो नगरोंपर अणुबमका विस्फोट होनेपर जहाँ असंख्य प्राणी कालकवलित हुए वहाँ बहुतसे क्षुद्र जन्तु रेंगते हुए भी पाये गये। क्या इस उदाहरणसे उपादानके स्वकार्यकर्तृत्वकी प्रसिद्धि नहीं होती है, अपि तु अवश्य होती है।

आगे अपर पक्षने हमारे द्वारा उल्लिखित स्वामी समन्तभद्रकी 'बाह्येतरोपाधि' इत्यादि कारिकाकी चर्चा करते हुए हमारी मान्यताके रूपमें लिखा है कि सम्भवतः हम यह मानते हैं कि 'उपादान स्वयं कार्योत्पत्तिके समय अपने अनुकूल निमित्तोंको एकत्रित कर लेता है। किन्तु अपर पक्षने हमारे किस कथनके

आधारपर हमारा यह अर्थ फलित किया है यह हम नहीं समझ सके। हमने भट्टाकलंकदेवकी अष्टशतीके 'तादृशी जायते बुद्धिः' इस वचनको प्रमाणरूपमें अवश्य ही उद्धृत किया है और वह निर्विवादरूपसे प्रमाण है। पर उससे भी उक्त आशय सूचित नहीं होता। निमित्तोंको जुटानेकी बात अपर पक्षकी ओरसे ही यथार्थ मानी जाती है। उसकी ओरसे इस आशयका कथन ५वीं शंकाके तीसरे दौरमें किया भी गया है। हम तो ऐसे कथनको केवल विकल्पका परिणाम ही मानते हैं। अतएव इस बातको लेकर अपर पक्षने यहाँ पर 'द्रव्यगतस्वभावः' पदकी जो भी विवेचना की है वह युक्त नहीं है। किन्तु उसका आशय इतना ही है कि जिसे आगममें स्वप्रत्यय परिणाम (स्वभाव पर्याय) कहा है और जिसे आगममें स्व-परप्रत्यय (विभाव पर्याय) कहा है वह सब बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें होता है ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है।

आगे अपर पक्षने हमारे कथनको उद्धृतकर मोक्षको स्व-परप्रत्यय सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु आगममें इसे किस रूपमें स्वीकार किया गया है इसके विस्तृत विवेचनमें तत्काल न पड़कर उसकी पुष्टिमें एक आगमप्रमाण दे देना उचित समझते हैं। पंचास्तिकाय गाथा ३६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें लिखा है—

सिद्धो हि उभयकर्मक्षये स्वयमात्मानमुत्पादयन्नान्यत्किंचिदुत्पादयति।

उभय कर्मका क्षय होनेपर सिद्ध स्वयं आत्मा (सिद्ध पर्याय) को उत्पन्न करते हुए अन्य किसीको उत्पन्न नहीं करते।

इससे स्वप्रत्यय पर्याय और स्व-परप्रत्यय पर्यायके कथनमें अन्तर्निहित रहस्यका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। किन्तु अपर पक्ष इन दोनोंको एक कोटिमें रखकर उक्त रहस्यको दृष्टिपथमें नहीं ले रहा है इतना ही हम यहाँ कहना चाहेंगे।

हमने पंचास्तिकायका अनन्तर पूर्व ही वचन उद्धृत किया है। उसका जो आशय है वही आशय तत्त्वार्थसूत्रके 'बन्धहेत्वभाव-' इत्यादि वचनका भी है।

यहाँ अपर पक्षने करणानुयोग और चरणानुयोगकी चर्चाकर जो निश्चयचारित्र और व्यवहार-चारित्रके एक साथ होनेका संकेत किया है सो उसका हमारी ओरसे कहाँ निषेध किया गया है। हमारा कहना तो इतना ही है कि निश्चयचारित्रके साथ होनेवाला पंच महाव्रतादिरूप परिणाम व्यवहारचारित्र संज्ञाको प्राप्त होता है। अन्यथा मोक्षमार्गकी दृष्टिसे वह निष्फल है। साथ ही पंच महाव्रतादिरूप परिणाम उसी अवस्थामें निश्चयचारित्रका कारण अर्थात् व्यवहारहेतु कहा जाता है जब कि निश्चयचारित्रसे वह अनु-प्राणित होता रहे। स्वभावके आलम्बन द्वारा अन्तर्मुख होनेसे आत्मामें जो निश्चयचारित्ररूप शुद्धि उत्पन्न होती है उसका मूल हेतु तो आत्माका आत्मस्वभावके सन्मुख होना ही है। अबुद्धिपूर्वक या बुद्धिपूर्वक संज्वलन परिणाम मात्र उसके अस्तित्वका विरोधी नहीं, इसलिए व्यवहारचारित्र संज्ञक वह व्यवहारनयसे निश्चयचारित्रका साधक कहा गया है। एतद्विषयक आगममें जितने वचन मिलते हैं उनका एकमात्र यही आशय है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार कलशमें कहा भी है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

कोई जीव दुष्करतर और मोक्षसे पराङ्मुख कर्मोंके द्वारा स्वयमेव (जिनाज्ञाके बिना) क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञामें कथित) महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश करें तो करो, किन्तु जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामयका स्थान है और स्वयं संवेद्यमान है ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके विना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते ॥१४२॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि परम वीतराग चारित्रकी प्राप्तिका साक्षात् मार्ग एकमात्र स्वभाव सन्मुख हो तन्मय होकर परिणमना ही है, इसके सिवाय अन्य सब निमित्तमात्र है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें गृहस्थ और मुनियों द्वारा ग्रहण किये गये द्रव्यलिंगके विकल्पको छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें अपने आत्माको युक्त करनेका उपदेश दिया है। समयसारका वह वचन इस प्रकार है—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं व गहिए।
दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शन-ज्ञान-चारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ॥४११॥

यतः द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, अतः सभी द्रव्यलिंगोंको छोड़कर मोक्षमार्ग होनेसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें ही आत्माको युक्त करना चाहिए ऐसा परमागमका उपदेश है ॥४११॥

अपर पक्षका कहना है कि 'भावलिंग होनेसे पूर्व द्रव्यलिंगको तो उसकी उत्पत्तिके लिए कारणरूपसे मिलाया जाता है।' किन्तु अपर पक्षका यह कथन इसीसे भ्रान्त ठहर जाता है कि एक द्रव्यलिंगी साधु आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि काल तक द्रव्यलिंगको धारण करके भी उस द्वारा एक क्षणके लिए भी भावलिंगको धारण नहीं कर पाता और आत्माके सन्मुख हुआ एक गृहस्थ परिणाम विशुद्धिकी वृद्धिके साथ बाह्यमें निर्ग्रन्थ होकर अन्तर्मुहूर्तमें क्षपकश्रेणिका अधिकारी होता है। स्पष्ट है कि जो द्रव्यलिंग भावलिंगका सहचर होनेसे निमित्त संज्ञाको प्राप्त होता है वह मिलाया नहीं जाता, किन्तु परिणाम विशुद्धिकी वृद्धिके साथ स्वयमेव प्राप्त होता है। आगममें द्रव्यलिंगको मोक्षमार्गका उपचारसे साधक कहा है तो ऐसे ही द्रव्यलिंगको कहा है। मिथ्या अहंकारसे पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकाण्डके प्रतीकस्वरूप द्रव्यलिंगको नहीं। अपरपक्षने

युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तें होई।—छहढाला ढाल ४,१

वचनको उद्धृत कर यह स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि निश्चय चारित्रका सहचर द्रव्यलिंग ही आगममें व्यवहारनयसे उसका साधन कहा गया है। अतः पूर्वमें धारण किया गया द्रव्यलिंग भावलिंगका साधन है, अपर पक्षके इस कथनका महत्त्व सुतरां कम हो जाता है। थाली भोजनका साधन कहा जाता है, पर जैसे थालीसे भोजन नहीं किया जाता उसी प्रकार अन्य जिन साधनोंका उल्लेख यहाँ पर अपर पक्षने किया है उनके विषयमें जान लेना चाहिए। वे यथार्थ साधन नहीं हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। मुख्य साधन वह कहलाता है जो स्वयं अपनी क्रिया करके कार्यरूप परिणमता है। अन्यको यथार्थ साधन कहना कल्पनामात्र है। यह प्रत्यक्षसे ही दिखलाई देता है कि बाह्य सामग्री न तो स्वयं कार्यरूप ही परिणमती

है और न कार्यद्रव्यकी क्रिया ही करती है। ऐसी अवस्थामें उन्हें यथार्थ साधन कहना मार्गमें किसीको लुटता हुआ देखकर 'मार्ग लुटता है' इस कथनको यथार्थ माननेके समान ही है।

अपर पक्षने हमारे कथनको ध्यानमें लिये बिना जो कार्य-कारणभावका उल्टा चित्र उपस्थित किया है वह इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि न तो उपादानके कारण निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीको उपस्थित होना पड़ता है और न ही निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीके कारण उपादानको ही उपस्थित होना पड़ता है। यह सहज योग है जो प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक समयमें सहज ही मिलता रहता है। 'मैंने अमुक कार्यके निमित्त मिलाये' यह भी कथनमात्र है जो पुरुषके योग और विकल्पको लक्ष्यमें रखकर किया जाता है। वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रियाका कर्ता त्रिकालमें नहीं हो सकता। अतः यहाँ हमारे कथनको लक्ष्यमें रखकर अपर पक्षने कार्य-कारणभावका जो उल्टा चित्र उपस्थित किया है उसे कल्पनामात्र ही जानना चाहिए।

हमारा 'उपादानके अनुसार भावलिंग होता है।' यह कथन इसलिए परमार्थभूत है, क्योंकि कर्मके क्षयोपशम और भावलिंगके एक कालमें होनेका नियम होनेसे उपचारसे यह कहा जाता है कि योग्य क्षयोपशमके अनुसार आत्मामें भावलिंगकी प्राप्ति होती है। जिस पंचास्तिकायका यहाँ अपर पक्षने हवाला दिया है उसी पंचास्तिकाय गाथा ५८ में पहले सब भावोंको कर्मकृत बतलाकर गाथा ५९ में उसका निषेध कर यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्माके भावोंको स्वयं आत्मा उत्पन्न करता है, कर्म नहीं। अतः चारित्र-मोहनीय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार भावलिंग होता है इसे यथार्थ कथन न समझकर अपने उपादानके अनुसार भावलिंग होता है इसे ही आगमसम्मत यथार्थ कथन जानना चाहिए। इस परसे अपर पक्ष भी स्वयं निर्णय कर सकता है कि यथार्थ कथन अपर पक्षका न होकर हमारा ही है।

आगे अपर पक्षने निमित्त व्यवहारको यथार्थ सिद्ध करनेके लिए उलाहनेके रूपमें जो कुछ भी वक्तव्य दिया है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि अपर पक्ष किस नयकी अपेक्षा क्या वक्तव्य आगममें किया गया है इस ओर ध्यान न देकर मात्र अपनी मान्यताको आगम बनानेके फेरमें है, अन्यथा वह पक्ष असद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यको असद्भूत मानकर इस नयकी अपेक्षा कथन आगममें किस प्रयोजनसे किया गया है उसपर दृष्टिपात करता। विशेष खुलासा हम पूर्वमें ही कर आये हैं, इसलिए यहाँ उन सब तथ्योंका पुनः खुलासा नहीं करते।

प्रवचनसार गाथा १६९ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें 'स्वयं' पद आया है। हमने इसका अर्थ प्रकृत शंकाके प्रथम उत्तरमें 'स्वयं' ही किया है। किन्तु अपर पक्षको यह मान्य नहीं। वह इसका अर्थ 'अपने रूप' करता है। इसके समर्थनमें उस पक्षकी मुख्य युक्ति यह है कि सहकारी कारणके बिना कोई भी परिणति नहीं होती, इसलिए कार्य-कारणभावके प्रसंगमें सर्वत्र इस पदका अर्थ 'अपने रूप' या 'अपनेमें' करना ही उचित है। इस प्रकार अपर पक्षके इस कथनसे मालूम पड़ता है कि वह पक्ष उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप प्रत्येक सत्की उत्पत्ति परकी सहायतासे या परसे होती है यह सिद्ध करना चाहता है। किन्तु उस पक्षकी यह मान्यता सर्वथा आगमविरुद्ध है, अतएव जहाँ भी निश्चयनयकी अपेक्षा कथन किया गया है वहाँ प्रत्येक कार्य यथार्थमें परनिरपेक्ष ही होता है इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर 'स्वयमेव' पदका 'स्वयं ही' अर्थ करना उचित है। इतना अवश्य है कि यदि विस्तारसे ही इस पदका अर्थ करना हो तो निश्चय षट्कारकरूप भी इस पदका अर्थ किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निश्चयसे आप कर्ता

होकर अपनेमें अपने लिए अपनी पिछली पर्यायका अपादान करके अपने द्वारा अपनी पर्यायरूपको आप उत्पन्न करता है। इसमें परका अणुमात्र भी योगदान नहीं होता। हाँ, असद्भूत व्यवहारनयसे परसापेक्ष कार्य होता है यह कहना अन्य बात है। किन्तु इस कथनको परमार्थभूत नहीं जानना चाहिए। यही कारण है कि समयसारमें सर्वत्र व्यवहार पक्षको उपस्थितकर निश्चयनयके कथन द्वारा असत् कहकर उसका निषेध कर दिया गया है। कार्य-कारणभावमें भी इसी पद्धतिको अपनाया गया है।

अपर पक्षने प्रवचनसार गाथा १६९ की उक्त टीकाके आधारसे यह चर्चा चलाई है। उसमें 'पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति' यह वाक्य आया है, जिसका अर्थ होगा—'पुद्गलस्कन्ध स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमते हैं।' जैसा कि अपर पक्षका कहना है उसके अनुसार यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि—'पुद्गलस्कन्ध अपनेरूप कर्मरूपसे परिणमते हैं।' क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर 'अपने रूप' तथा 'कर्मरूपसे' इन दोनों वचनोंमें एक वचन पुनरुक्त हो जाता है।

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें समयसार ११६ से १२० तककी गाथाएँ उपस्थित कर इन गाथाओंकी अवतरणिकामें 'स्वयमेव' पद न होने के कारण सर्व प्रथम यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द इन गाथाओं द्वारा परिणामस्वभावकी सिद्धि कर रहे हैं, अपने आप (स्वतःसिद्ध) परिणाम-स्वभावकी सिद्धि नहीं कर रहे हैं। किन्तु अपर पक्ष इस बातको भूल जाता है कि जिसका जो स्वभाव होता है वह उसका स्वरूप होनेसे स्वतःसिद्ध होता है, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रने उक्त गाथाओंकी अवतर-णिकामें 'स्वयमेव' पद न देकर प्रत्येक द्रव्यकी स्वतःसिद्ध स्वरूपस्थितिका ही निर्देश किया है। अतएव उक्त अवतरणिकाके आधारसे अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तुके परिणाम-स्वभावकी सिद्धि करना ही आचार्यको अभीष्ट रही है अपने आप परिणामस्वभावकी नहीं।' वह युक्त प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रसंगमें दूसरी आपत्ति उपस्थित करते हुए अपर पक्षने लिखा है कि 'गाथा ११७ के उत्तरार्धमें जो संसारके अभावकी अथवा सांख्यमतकी प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है वह पुद्गलको परिणामी स्वभाव न मानने पर ही उपस्थित हो सकती है अपने आप (स्वतःसिद्ध) परिणामी स्वभावके अभावमें नहीं।' आदि। किन्तु यह आपत्ति इसलिए ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्यको परतः परिणामस्वभावी मान लेनेपर एक तो वह द्रव्यका स्वभाव नहीं ठहरेगा और ऐसी अवस्थामें द्रव्यका ही अभाव मानना पड़ेगा। दूसरे यह जीव पुद्गल कर्मसे सदा ही बद्ध बना रहेगा, अतएव मुक्ति के लिए यह आत्मा स्वतन्त्ररूपसे प्रयत्न भी न कर सकेगा। यदि अपर पक्ष इस आपत्तिको उपस्थित करते समय गाथा ११६ के पूर्वार्धपर दृष्टिपात कर लेता तो उसके द्वारा यह आपत्ति ही उपस्थित न की गई होती। पुद्गल अपने परिणाम स्वभावके कारण आप स्वतन्त्र कर्ता होकर जीवके साथ बद्ध है और आप मुक्त होता है, इसीसे बद्ध दशामें जीवका संसार बना हुआ है। यदि ऐसा न माना जाय और पुद्गलको स्वभावसे अपरिणामी माना जाय तो एक तो संसारका अभाव प्राप्त होता है, दूसरे सांख्यमतका प्रसंग आता है यह उक्त गाथाओंका तात्पर्य है, न कि यह जिसे अपर पक्ष फलित कर रहा है। स्पष्ट है कि यह दूसरी आपत्ति भी प्रकृतमें अपर पक्षके इष्टार्थकी सिद्धि नहीं करती। आचार्य अमृतचन्द्रने इस विषयको विशदरूपसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः ? किं स्वय-मपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणम-

मानं परेण परिणमयितुं पार्येत। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्येत। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते। ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु। तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म स्यात्। इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम्।

इसका अर्थ करते हुए पं० श्री जयचन्दजी लिखते हैं—

और जो ऐसा तर्क करे कि जीव पुद्गल द्रव्यको कर्म भावकर परिणमाता है इसलिये संसारका अभाव नहीं हो सकता? उसका समाधान यह है कि पहले दो पक्ष लेकर पूछते हैं—जो जीव पुद्गलको परिणमाता है वह स्वयं अपरिणमतेको परिणमाता है या स्वयं परिणमतेको परिणमाता है? उनमेंसे पहला पक्ष लिया जाय तो स्वयं अपरिणमतेको नहीं परिणमा सकता, क्योंकि आप न परिणमतेको परके (द्वारा) परिणमानेकी सामर्थ्य नहीं होती, स्वतः शक्ति जिसमें नहीं होती वह पर कर भी नहीं की जा सकती। और जो पुद्गलद्रव्यको स्वयं परिणमतेको जीव कर्मभावकर परिणमाता है ऐसा दूसरा पक्ष लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अपने आप परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवालेकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वस्तुकी शक्ति परकी अपेक्षा नहीं करती। इसलिये पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभाव स्वयमेव होवे। ऐसा होने पर जैसे कलशरूप परिणत हुई मिट्टी अपने आप कलश ही है उसी तरह जड़ स्वभाव ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य ही आप ज्ञानावरण आदि कर्म ही है। ऐसे पुद्गल द्रव्यको परिणामस्वभावता सिद्ध हुआ।

यह परमागमकी स्पष्टोक्ति है जो निश्चयपक्ष और व्यवहारपक्षके कथनका आशय क्या है इसे विशदरूपसे स्पष्ट कर देती है। निश्चयनयसे देखा जाय तो प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणामस्वभाववाला होनेसे अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणामको अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिए, आप ही करता है। उसे इसके लिये परकी सहायताकी अणुमात्र भी अपेक्षा नहीं होती। यह कथन वस्तुस्वरूपको उद्घाटन करनेवाला है, इसलिए वास्तविक है, कथनमात्र नहीं है। व्यवहारनयसे देखा जाय तो कुम्भकारके विवक्षित क्रिया परिणामके समय मिट्टीका विवक्षित क्रियापरिणाम दृष्टिपथमें आता है, यतः कुम्भकारका विवक्षित क्रिया परिणाम मिट्टीके घटपरिणामकी प्रसिद्धिका निमित्त (हेतु) है, अतः इस नयसे यह कहा जाता है कि कुम्भकारने अपने क्रियापरिणामद्वारा मिट्टीमें घट किया। यतः यह कथन वस्तुस्वरूपको उद्घाटन करनेवाला न होकर उसे आच्छादित करनेवाला है, अतः वास्तविक नहीं है, कथनमात्र है। परमागममें निश्चयनयको प्रतिषेधक और व्यवहारनयको प्रतिषेध्य क्यों बतलाया गया है यह इससे स्पष्ट हो जाता है। स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन करना यह जब कि वस्तुका वस्तुत्व है। ऐसी अवस्थामें उस द्वारा असत् पक्षको कहनेवाले व्यवहारनयका अपोहन अपने आप हो जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० १३१ में लिखा है—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य।

अर्थ पूर्वमें लिखा ही है।

व्यवहारनय असत् पक्षको कहनेवाला है यह इसीसे स्पष्ट है कि वह अन्यके धर्मको अन्यका कहता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ५६ की टीकामें यह वचन लिखा है—

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबन्धपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परस्य विदधाति ।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होनेसे कुसुम्बी रंगसे रंगे हुए तथा सफेद रूईसे बने हुए वस्त्रके औपाधिक भावकी भाँति पुद्गलके संयोगवश अनादिकालसे जिसकी बन्ध पर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीवके औपाधिक भावका अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ दूसरेके कहता है ।

पण्डितप्रवर टोडरमलजीने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७ के अनेक स्थलोंपर निश्चय-व्यवहारके विषयमें इसी कारण यह लिखा है—

यहाँ जिन आगम विषै निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है । तिनविषै यथार्थका नाम निश्चय है, उपचारका नाम व्यवहार है। (पृ० २८७)

एक ही द्रव्यके भावको तिस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है। उपचारकरि तिस द्रव्यके भावकौं अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है। (पृ० ३६९)

इस प्रकार इतने विवेचन द्वारा यह सुगमतासे समझमें आ जाता है कि समयसारकी उक्त गाथाओं द्वारा पुद्गल द्रव्यके स्वतःसिद्ध परिणामस्वभावका ही कथन किया गया है। जब कि पुद्गलद्रव्य परकी अपेक्षा किये विना स्वरूपसे स्वयं परिणामीस्वभाव है ऐसी अवस्थामें वह परसापेक्ष परिणामीस्वभाव है इसका निषेध ही होता है, समर्थन नहीं यह बात इतनी स्पष्ट है जितना कि सूर्यका प्रकाश।

अपर पक्षका कहना है कि 'यदि इन गाथाओंमें 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' ग्राह्य माना जायगा तो गाथा ११७ के पूर्वार्धमें भी 'स्वयं' शब्दके पाठकी आवश्यकता अनिवार्य हो जायगी । ऐसी हालतमें उसमें आचार्य कुन्दकुन्द 'स्वयं' शब्दके पाठ करनेकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे।'

इसका समाधान यह है कि एक तो गाथा ११६ और गाथा ११८ में आये हुए 'स्वयं' पदकी अनुवृत्ति हो जानेसे गाथा ११७ के अर्थकी संगति बैठ जाती है, इसलिए अपर पक्षने गाथा ११७ के पूर्वार्धमें 'स्वयं' पदको न देखकर जो आपत्ति उपस्थित की है वह ठीक नहीं । दूसरे समयसारकी इस गाथाको गाथा १२२ के प्रकाशमें पढ़नेपर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस गाथामें आचार्यको 'स्वयं' पद इष्ट है । गाथा १२२ में वही बात कही गयी है जिसका निर्देश गाथा ११७ में आचार्यने किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि गाथा १२२ में जीवको विवक्षित कर उक्त विषयका विवेचन किया गया है और गाथा ११७ में पुद्गलको विवक्षित कर उक्त विषयका विवेचन किया गया है। अभिप्रायकी दृष्टिसे दोनोंका प्रतिपाद्य विषय एक ही है । अतः गाथा ११७ के पूर्वार्धमें 'स्वयं' पदको न देखकर अपर पक्षने जो उक्त सभी गाथाओंमें 'स्वयं' पदके 'अपने आप' 'स्वयं ही' अर्थ करनेमें आपत्ति उपस्थित की है वह ठीक नहीं ।

इस प्रकार उक्त विवेचनसे एकमात्र यही सिद्ध होता है कि पुद्गल स्वयं परिणामी स्वभाव है और साथ ही उक्त विवेचनसे यह अभिप्राय सुतरां फलित हो जाता है कि अपर पक्षने अपने तर्कोंके आधारपर उक्त गाथाओंका जो अर्थ किया है वह ठीक नहीं है । वैसे तो यहाँपर उक्त गाथाओंका अर्थ देनेकी आवश्यकता नहीं थी । किन्तु अपर पक्षने जब उनका अपनी मतिसे कल्पित अर्थ अपनी प्रस्तुत प्रतिशंकामें दिया है, ऐसी अवस्थामें यहाँ सही अर्थ दे देना आवश्यक है । वह इस प्रकार है—

यदि यह पुद्गल द्रव्य जीवमें स्वयं नहीं बँधा और कर्मभावसे स्वयं नहीं परिणमता तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है । ऐसी अवस्थामें कर्मवर्गणाओंके कर्मरूपसे स्वयं नहीं परिणमनेपर संसारका अभाव प्राप्त होता

है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है। यदि यह माना जाय कि जीव पुद्गल द्रव्योंको कर्मरूपसे परिणमाता है तो (प्रश्न होता है कि) स्वयं नहीं परिणमते हुए उन पुद्गल द्रव्योंको चेतन आत्मा कैसे परिणमा सकता है। इसलिए यदि यह माना जाय कि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मरूपसे परिणमता है तो जीव कर्म अर्थात् पुद्गल द्रव्यको कर्मरूपसे परिणमाता है यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिए जैसे नियमसे कर्मरूप परिणत पुद्गल द्रव्य कर्म ही है वैसे ही ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि ही है ऐसा जानो ॥११६-१२०॥

इस प्रकार इस अर्थपर दृष्टिपात करनेसे ये दो तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—प्रथम तो यह कि अपर पक्षने उक्त गाथाओंका जो अर्थ किया है वह उन गाथाओंकी शब्दयोजनासे फलित नहीं होता। दूसरे इन गाथाओंमें आये हुए 'स्वयं' पदका जो मात्र 'अपने रूप' अर्थ किया है वह ऐकान्तिक होनेसे ग्राह्य नहीं है। कर्त्ताके अर्थमें उसका अर्थ 'स्वयं ही' या 'आप ही' करना संगत है। और यह बात आगमविरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य आप कर्ता होकर अपने परिणामको उत्पन्न करता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसारमें कहा भी है—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

आत्मा जिस शुभ या अशुभ अपने भावको करता है उस भावका वह वास्तवमें कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है और वह आत्मा कर्मरूप उस भावका भोक्ता होता है ॥१०२॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग ५८ में भी कहा है—

अविद्यारागसंश्लिष्टो बम्भ्रमीति भवार्णवे।
विद्यावैराग्यशुद्धः सन् सिद्धगत्यविकलस्थितिः ॥१३॥
इत्यध्यात्मविशेषस्य दीपिका दीपिकेव सा।
रूपादेः शमयत्याशु तमिस्रं तत्र सन्ततम् ॥१४॥

अविद्यारागसे संश्लिष्ट हुआ यह जीव संसाररूपी समुद्रमें घूमता रहता है और विद्यावैराग्यसे शुद्ध होकर सिद्धगतिमें अविकल स्थितिवाला होता है ॥१३॥ यह अध्यात्म विशेषको बतानेवाली दीपिका है। इसलिए जैसे दीपक रूपादि विषयक अन्धकारको शीघ्र नष्ट कर देता है उसी प्रकार यह भी अज्ञानान्धकारको शीघ्र नष्ट कर देता है ॥१४॥

इससे प्रकृतमें स्वयं पदका क्या अर्थ होना चाहिए यह स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ अपर पक्षने 'स्वयं' पदके 'अपने आप' अर्थका विरोध दिखलानेके लिए जो प्रमाण दिये हैं उनके विषयमें तो हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। किन्तु यहाँ हम इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि एक तो प्रस्तुत प्रश्नके प्रथम व दूसरे उत्तरमें हमने 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'अपने आप' न करके 'स्वयं ही' किया है। इस पदका 'अपने आप' यह अर्थ अपर पक्षने हमारे कथनके रूपमें प्रस्तुत प्रश्नकी दूसरी प्रतिशंकामें मानकर टीका करनी प्रारम्भ कर दी है, जो युक्त नहीं है। हमने इसका विरोध इसलिए नहीं किया कि निश्चयकर्ताके अर्थमें 'स्वयमेव' पदका यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं। ऐसी अवस्थामें 'अपने आप' पदका अर्थ होगा 'परकी सहायता बिना आप कर्ता होकर।' आशय

इतना ही है कि जिसकी क्रिया अपनेमें हो, कार्य अपनेमें हो वह दूसरेकी सहायता लिये बिना अपने कार्यका आप ही कर्ता होता है, अन्य पदार्थ नहीं।

इस प्रकार प्रवचनसार गाथा १६९ की टीकामें 'स्वयमेव' पदका क्या अर्थ लेना चाहिए इसका खुलासा किया। अन्यत्र जहाँ-जहाँ कार्य-कारणभावके प्रसंगसे यह पद आया है वहाँ-वहाँ इस पदका अर्थ करनेमें यही स्पष्टीकरण जानना चाहिये। यदि और गहराईसे विचार किया जाय तो यह पद निश्चय-कर्ताके अर्थमें तो प्रयुक्त हुआ ही है, इसके सिवाय इस पदसे अन्य निश्चयकारकोंका भी ग्रहण हो जाता है।

आगे अपर पक्षने 'उपचार' पदके अर्थके विषयमें निर्देश करते हुए धवल पु० ६ पृ० ११ के आधारसे जो उस पदके 'अन्यके धर्मको अन्यमें आरोपित करना उपचार है।' इस अर्थको स्वीकार कर लिया है वह उचित ही किया है। उसी प्रकार वह पक्ष समयसार गाथा १०५ में आये हुए 'उपचार' पदका भी उक्त अर्थ ग्रहण करेगा ऐसी हमें आशा है, क्योंकि जिस प्रकार धवल पु० ६ पृ० ११ में जीवके कर्तृत्व धर्मका उपचार जीवसे अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) मोहनीय द्रव्यकर्ममें करके जीवको मोहनीय कहा गया है उसी प्रकार समयसार गाथा १०५ में कर्मवर्गणाओंके कर्तृत्व धर्मका आरोप जीवमें करके जीवको पुद्गल कर्मका कर्ता कहा गया है। दोनों स्थलोंपर न्याय समान है। यहाँ मोहनीय कर्मोदय जीवके अज्ञानभावके होनेमें निमित्त है। समयसार गाथा १०५ में जीवका अज्ञान परिणाम ज्ञानावरणादिरूप कर्म परिणाममें निमित्त है। इस प्रकार दोनों स्थलोंपर बाह्य सामग्रीरूपसे व्यवहार हेतुका सद्भाव है। अतएव समयसार गाथा १०५ में 'मुख्याभावे सति प्रयोजने' इत्यादि वचनकी चरितार्थता बन जाती है।

समयसार गाथा १०५ को लक्ष्यमें रखकर अपर पक्षका कहना है कि 'परन्तु ऐसा उपचार प्रकृतमें सम्भव नहीं है, कारण कि आत्माके कर्तृत्वका उपचार यदि द्रव्यकर्ममें आप करेंगे तो इस उपचारके लिए सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजन देखना होगा कि जिसका सर्वथा अभाव है।' समाधान यह है कि यहाँपर व्यवहारहेतु और व्यवहार प्रयोजनका न तो अभाव ही है और न ही आत्माके कर्तृत्वका उपचार द्रव्यकर्ममें कर रहे हैं। किन्तु प्रकृतमें हम कर्मपरिणामके सन्मुख हुई कर्मवर्गणाओंके कर्तृत्वका आरोप व्यवहारहेतु संज्ञाको प्राप्त अज्ञानभावसे परिणत आत्मामें कर रहे हैं। अतएव 'अतः यहाँ बाह्य हेतु और बाह्य प्रयोजन-का सर्वथा अभाव है, इसलिए उपचारकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती' अपर पक्षका ऐसा अभिप्राय व्यक्त करना आगम विरुद्ध तो है ही, तर्क और अनुभवके भी विरुद्ध है। अपर पक्ष यदि उक्त गाथाकी रचनापर दृष्टि-पात करे तो उसे ज्ञात होगा कि स्वयं आचार्यने गाथाके पूर्वार्धमें 'हेदुभूदे' पदका उल्लेख कर बाह्य निमित्तका निर्देश कर दिया है तथा 'बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं' वचनका उल्लेख कर मुख्यकर्ता और मुख्य कर्मकी सूचना कर दी है। फिर भी बाह्य निमित्तके ज्ञान करानेरूप बाह्य प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर मुख्यकर्ताके स्थानमें पुद्गलकर्मवर्गणाओंके कर्तृत्वका उनसे अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) अज्ञान परिणत जीवमें उपचार करके उपचारसे उक्त जीवको कर्मका कर्ता कहा गया है। स्पष्ट है कि समयसार गाथा १०५ में उपचार पदका वही अर्थ लिया गया है जिसका कि हम पिछले उत्तरमें संकेत कर आये हैं और जिसे धवल पु० ६ पृ० ११ के 'मुह्यत इति मोहनीयम्' वचनके अनुसार अपर पक्षने भी स्वीकार कर लिया है।

इस प्रकार अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये मूल प्रश्नका अवान्तर विषयोंके साथ सांगोपांग विचार किया।

प्रथम दौर

: १ :

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

समाधान

जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है। मात्र जीवित शरीरकी क्रिया धर्म नहीं है इसे स्पष्ट करते हुए नाटक समयसारमें पण्डितप्रवर बनारसीदासजी कहते हैं—

जे व्यवहारी मूढ़ नर पर्यायबुद्धि जीव।
तिनके बाह्य क्रिया ही को है अवलंब सदीव ॥१२१॥
कुमति बाहिज दृष्टि सो बाहिज क्रिया करंत।
माने मोक्ष परंपरा मनमें हरष धरंत ॥१२२॥
शुद्धातम अनुभव कथा कहे समकिती कोय।
सो सुनिके तासों कहें यह शिवपंथ न होय ॥१२३॥

इस तथ्यका समर्थन आचार्यवर्य अमृतचन्द्रके इस कलशसे होता है—

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥२४२॥

इस कलशका अर्थ पूर्वोक्त दोहोंसे स्पष्ट है।

इसी विषयपर विशेष प्रकाश डालते हुए परमात्मप्रकाशमें भी कहा है—

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु।
परमसमाहिविवज्जियउ ण वि देक्खइ सिउ संतु ॥२-१९१॥

अर्थ—जो घोर तपश्चरण करता है और सकल शास्त्रका भी मनन करता है, परन्तु परम समाधिसे रहित है वह राग, द्वेष और मोह आदि दोषोंसे रहित मोक्षको प्राप्त नहीं होता ॥२-१९१॥

फिर भी जीवित शरीरकी क्रियाका धर्म-अधर्मके साथ नोकर्मरूपसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेके कारण जीवके शुभ, अशुभ और शुद्ध जो भी परिणाम होते हैं उनको लक्ष्यमें लेते हुए उपचार नयका आश्रय कर जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म अधर्म होता है यह कहा जाता है।

द्वितीय दौर

: २ :

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २

हमारे उक्त प्रश्नके उत्तरमें जो आपने यह लिखा है कि 'जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यको पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है।' सो आपका यह लिखना आगम, अनुभव तथा प्रत्यक्षसे विरुद्ध है, क्योंकि जीवित शरीरको सर्वथा अजीव तत्त्व मान लेनेपर जीवित तथा मृतक शरीरमें कुछ अन्तर नहीं रहता। जीवित शरीर इष्ट स्थानपर जाता है, पर मृतक शरीर इष्ट स्थानपर नहीं जा आ सकता। दाँतोंसे काटना, मारना, पीटना, तलवार बन्दूक लाठी चलाकर दूसरेका घात करना, पूजा-प्रक्षाल करना, सत्पात्रोंको दान देना, लिखना, केशलोंच करना, देखना, सुनना, सूँघना, बोलना, प्रश्न-उत्तर करना, शराब पीना, मांस खाना आदि क्रियाएँ यदि अजीव तत्त्वकी ही हैं तो इन क्रियाओं-द्वारा आत्माको सम्मान, अपमान, दण्ड, जेल आदि क्यों भोगना पड़ता है ? तथा स्वर्ग-नरक आदि क्यों जाना पड़ता है ?

अणुव्रत, महाव्रत, बहिरङ्ग तप, समिति आदि जीवित शरीरसे ही होते हैं, भगवान् ऋषभदेवने १००० वर्षतक तपस्या शरीर द्वारा की थी। अर्हन्त भगवान्‌का विहार तथा दिव्यध्वनि शरीर द्वारा ही होती है।

कायवाङ्मनःकर्म योगः (६-१ त० सू०) इस सूत्रके अनुसार कर्मास्रवमें शरीर तथा तत्सम्बन्धी वचन एवं द्रव्यमन कारण हैं। अजीवाधिकरण आस्रवका कारण है। वह भी जीवित शरीरके अनुसार है। जीवित शरीरसे ही उपदेश दिया जाता है, प्रवचन किया जाता है, शास्त्र लिखा जाता है, प्रवचन सुना जाता है।

आपने जो अपने कथनकी पुष्टिमें श्री पं० बनारसीदास जीके नाटक समयसार कलश तथा परमात्म-प्रकाशके पद्योंका अवतरण दिया है, उनका आशय तो केवल इतना है कि मिथ्यादृष्टि मात्र अपनी शारीरिक क्रियासे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी बहिरात्माका शरीर द्वारा बालतपसे स्वर्गगमन होता ही है। तथा असत् शारीरिक क्रियाओं द्वारा संसारभ्रमण होता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है। (त० सू० ६-२०)

वज्रवृषभनाराचसंहननवाले जीवित शरीरसे शुक्लध्यान होकर मुक्ति होती है, उसी संहननवाले शरीरसे तीव्रतम पापमयी क्रिया द्वारा सातवां नरक भी मिलता है।

पञ्चास्तिकायकी गाथा १७१ की टीकामें लिखा है—

संहननादिशक्त्यभावात् शुद्धात्मस्वरूपे स्थातुमशक्यत्वात् वर्तमानभवे पुण्यबन्धं करोति ।

अर्थ—शारीरिक संहननशक्तिके अभावसे शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिर न हो सकनेके कारण वर्तमान-भवमें पुण्यबन्ध करता है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने रयणसारमें कहा है—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ॥११॥

अर्थ—दान करना और पूजा करना श्रावक धर्ममें मुख्य है, उनके बिना श्रावक नहीं होता ॥११॥

कुन्दकुन्दाचार्यका बतलाया हुआ यह धर्म जीवित शरीर द्वारा ही होता है ।

अन्तमें आपने स्वयं अशुभ, शुभ और शुद्धभावोंका नोकर्म शरीरको निमित्तकारण मान लिया है, किन्तु निराधार उपचार शब्दका प्रयोगकर अर्थान्तर करनेका प्रयास किया है ।

•

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २ का समाधान

प्रतिशंका नं० २ को उपस्थित करते हुए तत्त्वार्थसूत्र अ० ६, सू० १, ६ व ७ तथा पंचास्ति० गा० १७१ और रयणसार गा० ११ को प्रमाणरूपमें उपस्थित कर तथा कतिपय लौकिक उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है ।

यह तो सुविदित सत्य है कि आगममें निश्चयरत्नत्रयको यथार्थ धर्म कहकर उसके साथ जो देवादिकी श्रद्धा, संयमासंयम और संयमसम्बन्धी व्रतादिमें प्रवृत्तिरूप परिणाम होता है उसे व्यवहार धर्म कहा है । और सम्यग्दृष्टिके शरीरमें एकत्वबुद्धि नहीं रहती । यदि कोई जीव शरीरमें एकत्वबुद्धि कर शरीरकी क्रियाको आत्माकी क्रिया मानता है तो उसे अप्रतिबुद्ध कहा है । वहाँ (समयसारमें) कहा है—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ १९ ॥

अर्थ—कर्म और नोकर्म (देहादि तथा शरीरकी क्रिया) में मैं हूँ, तथा मैं कर्म-नोकर्म हूँ 'जो ऐसी बुद्धि करता है तबतक वह अप्रतिबुद्ध है ॥ १९ ॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा १६० में भी कहा है—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ १६० ॥

अर्थ—मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी हूँ । उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ॥ १६० ॥

इसकी टीकामें कहा है—

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये । ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथाहि न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्य-मस्मि । तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीर-वाङ्मनः-पक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । इत्यादि ।

अर्थ—मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। यथा—वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूप-का आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मेरे स्वरूपाधार हुए विना ही वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं। इसलिए मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

आगे पुनः लिखा है—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥१६१॥

अर्थ—देह, मन और वाणी पुद्‌गलद्रव्यात्मक हैं ऐसा जिनदेवने कहा है। और वे पुद्‌गलद्रव्य परमाणु द्रव्योंका पिण्ड हैं ॥१६१॥

प्रवचनसार गाथा १६२ तथा नियमसारमें भी यही स्वीकार किया गया है, इसलिए इनका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव नहीं होता यह तो कहा नहीं जा सकता।

प्रतिशंका २ द्वारा श्री तत्त्वार्थसूत्र आदिके उद्धरण देकर जो जीवित शरीरसे धर्मकी प्राप्तिका समर्थन किया गया है सो वह आस्रवका प्रकरण है। उस अध्यायमें धर्मका निर्देश नहीं किया गया है। उसमें भी जहाँ कहीं निमित्तकी अपेक्षा निर्देश भी हुआ है सो निमित्त तो अनेक पदार्थ होते हैं तो क्या इतने मात्रसे उन सबसे धर्मकी प्राप्ति मानी जायगी। शरीर आदि पदार्थोंको जहाँ भी निमित्त लिखा है सो वह विजातीय असद्‌भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा ही निमित्त कहा है। इसी तथ्यको स्वीकार करते हुए सोलापुरसे मुद्रित नयचक्र पृ० ४५ में इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है—

शरीरमपि यो जीवं प्राणी प्राणिनो वदति स्फुटम् ।
असद्‌भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः ॥ १ ॥

अर्थ—जो प्राणियोंके शरीरको भी जीव कहता है उसे जिनदेवके उपदेशानुसार विजातीय असद्‌भूत व्यवहार जानना चाहिए ॥१॥

स्वयंभूस्तोत्रमें श्री वासुपूज्य भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमाभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥५९॥

अर्थ—आभ्यन्तर अर्थात् उपादानकारण जिसका मूल हेतु है ऐसी गुण और दोषोंकी उत्पत्तिका जो बाह्य वस्तु निमित्तमात्र है, मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए जीवके लिए वह गौण है, क्योंकि हे भगवन्! आपके मतमें उपादान हेतु कार्य करनेके लिए पर्याप्त है ॥५९॥

तात्पर्य यह है कि जो अपने उपादानकी सम्हाल करता है उसके लिए उपादानके अनुसार कार्य कालमें निमित्त अवश्य ही मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उपादान अपना कार्य करनेके सम्मुख हो और उस कार्यमें अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें। इस जीवका अनादिकालसे पर द्रव्यके साथ संयोग बना चला आ रहा है, इसलिए वह संयोगकालमें होनेवाले कार्योंको जब जिस पदार्थका संयोग होता है उससे मानता आ रहा है, यही इसकी मिथ्या मान्यता है। फिर भी यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म माना जावे तो मुनिके ईर्यापथसे गमन करते समय कदाचित् किसी जीवके पगका निमित्त पाकर मरनेपर उस क्रियासे मुनिको भी पापबन्ध मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है। जिनागममें कहा भी है—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते। —सर्वार्थसिद्धि ७-१३

दूसरेको निमित्तकर दूसरेके प्राणोंका वियोग हो जाता है, फिर भी वह हिंसाका भागी नहीं होता।

अत एव प्रत्येक प्राणीके अपने परिणामोंके अनुसार ही पुण्य, पाप और धर्म होता है, जीवित शरीरकी क्रियाके अनुसार नहीं यही यहाँ निर्णय करना चाहिए और ऐसा मानना ही जिनागमके अनुसार है।

■

तृतीय दौर

: ३ :

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं?

प्रतिशंका ३

इसके उत्तरमें आपने यह लिखा कि 'जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीवका न तो धर्म भाव है और न अधर्मभाव ही है। मात्र जीवित शरीरकी क्रिया धर्म नहीं।'

इस उत्तरमें आपने जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं, इस मूल प्रश्नको तो छुआ नहीं, सिर्फ़ इतना लिख दिया कि शरीरकी क्रिया धर्म-अधर्म नहीं है। जैसा कि हमने पूछा हो कि जीवित शरीरकी क्रिया धर्म है या अधर्म?

यह सर्व विदित है कि धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियाँ है और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु उनके अभिव्यक्त होनेमें जीवित शरीरकी क्रियाएँ निमित्त पड़ती हैं। यदि ऐसा न हो तो शरीर द्वारा होनेवाली समीचीन और असमीचीन प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जावें। कार्यकी सिद्धिमें निमित्त और उपादान—दोनों कारण आवश्यक हैं, परन्तु केवल उपादानकी मान्यता शास्त्र सम्मत कार्य-कारण व्यवस्था पर कुठाराघात कर रही है।

आपने नाटक समयसारके दोहे उद्धृत करते हुए मात्र जीवित शरीरकी क्रियाको धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टिका उल्लेख किया है सो उससे प्रश्नका समाधान नहीं होता, क्योंकि शरीरकी क्रियाको तो सर्वथा हम भी धर्म-अधर्म नहीं मानते। हमारा अभिप्राय तो यह है कि आत्माकी धर्म और अधर्म परिणतिमें जीवित शरीरकी क्रिया निमित्त है, जिसे आप निमित्त या उपचार मात्र कहकर अवस्तुभूत—असत्यार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, पर क्या वास्तवमें यह सब अवस्तुभूत है? यदि अवस्तुभूत ही है तो मोक्षप्राप्तिके लिए कर्मभूमिज मनुष्यका देह और ध्यानकी सिद्धिके लिए उत्तम संहनन आदिकी अनिवार्यता शास्त्र संमत नहीं रह जायगी।

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥६०॥

—स्वयंभूस्तोत्र

समन्तभद्र स्वामीके इस उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि कार्यकी उत्पत्तिमें बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणोंकी पूर्णता आवश्यक है। द्रव्यका—पदार्थका कार्योत्पत्तिके विषयमें यही स्वभाव है। अन्यथा—मात्र बाह्य या आभ्यन्तरके ही कारण माननेपर पुरुषके मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वयंभूस्तोत्रके इससे पूर्ववर्ती श्लोक—'यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः'—का जो अर्थ आपने अपने प्रत्युत्तरमें किया है उससे बाह्येतरोपाधि—श्लोकके साथ पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है, इसलिए हमारी दृष्टि-से यदि उसका निम्न प्रकार अर्थ किया जाय तो उससे पूर्वापर विरोध ही दूर नहीं होता, बल्कि संस्कृत टीका-कारके भावकी भी सुरक्षा होती है।

अर्थ—गुण-दोषकी उत्पत्तिमें जो बाह्य वस्तु निमित्त है वह चूँकि अध्यात्मवृत्त—आत्मामें होनेवाले शुभाशुभ लक्षणरूप अन्तरंग मूल कारणका अंगभूत है—सहकारी कारण है, अतः केवल अन्तरंग भी कारण कहा जा सकता है।

फिर यह पात्रकी विशेषताको लक्ष्यमें रखकर कथन किया गया है, अतः इससे कार्यकारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता। पात्रकी विशेषताको दृष्टिमें रखकर किसी कथनको विवक्षित—मुख्य और अविवक्षित—गौण तो किया जा सकता है। परन्तु उसे अवस्तुभूत—अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता॥२२॥ —अष्टसहस्री

समन्तभद्र स्वामीने अंग शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ टीकाकारने—

शेषान्तानां स्याच्छब्दसूचितान्यधर्माणां तदंगता तद्गुणभावः।

पंक्ति में गौण अर्थ किया है और गौणका अर्थ—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।

—स्वयंभूस्तोत्र ५३

श्लोक द्वारा अविवक्षित बतलाया है, परन्तु अविवक्षितको निरात्मक—असद्भूत नहीं बतलाया।

तत्त्वार्थसूत्रके उद्धरणोंके विषयमें आपने लिखा सो उसका स्पष्टीकरण यह है कि मूल प्रश्नमें धर्म-अधर्म दोनोंकी चर्चा है, न केवल धर्म की। वहाँ अभिप्राय मात्र इतना है कि कार्यसिद्धिमें पर पदार्थ कारण पड़ता है या नहीं। उसकी ओर आपकी समन्वयात्मक दृष्टि नहीं गई मालूम होती है।

आगे आप लिखते हैं कि 'जो उपादानकी सम्हाल करता है उसके लिए उपादानके अनुसार कार्य-कालमें निमित्त अवश्य मिलते है। ऐसा नहीं है कि उपादान अपना कार्य करनेके सन्मुख हो और उस कार्यमें अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें।' सो आपका ऐसा लिखना आगम विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि धवला पु० १ पृ० १५० पर

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः, उक्तञ्च—

सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण उ मलविगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव ॥

इस गाथाका अर्थ लिखते हुए लिखा है कि जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है उसको भव्य कहते हैं। कहा भी है—जो जीव सिद्धत्वके योग्य हैं उन्हें भव्य कहते हैं, किन्तु उनके कनकोपलके समान मलका नाश होनेका नियम नहीं है।

इसके विशेषार्थमें पं० फूलचन्द्रजी ने स्वयं लिखा है—

सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जो भव्य होते हुए भी सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकते हैं उनके लिए यह कारण बतलाया है कि जिस प्रकार स्वर्ण पाषाणमें सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है उसी प्रकार सिद्ध अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्रीके न मिलनेसे सिद्ध पदवी प्राप्त नहीं होती है।

इस प्रकार यह स्वीकार किया गया है कि भव्य जीवमें योग्यता होते हुए भी उपदेश आदि सामग्री रूप निमित्तोंके न मिलनेसे सिद्धपदकी प्राप्ति नहीं होती। इसीके लिए शीलवती विधवा स्त्री का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार शीलवती विधवा स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करनेकी योग्यता तो है, किन्तु पतिका मरण हो जानेके कारण पतिरूप निमित्तका संयोग न मिलनेसे पुत्रोत्पत्ति नहीं होती।

ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि उपादानमें योग्यता है, परन्तु निमित्त न मिलनेसे कार्य नहीं होता। वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रके पृ० २१८ पर पं० फूलचन्द्रजीने स्वयं इस प्रकार लिखा है—

जो कारण स्वयं कार्यरूप परिणम जाता है वह उपादान कारण कहलाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण और निमित्तकारण इन दोके मेलसे होता है, केवल एक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। छात्र सुबोध है पर अध्यापक या पुस्तकका निमित्त न मिले तो वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ उपादान है किन्तु निमित्त नहीं, इसलिए कार्य नहीं हुआ। छात्रको अध्यापक या पुस्तकका निमित्त मिल रहा है पर वह मन्दबुद्धि है, इसलिए भी वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ निमित्त है किन्तु उपादान नहीं, इसलिए कार्य नहीं हुआ। निमित्तके बिना केवल उपादानसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार जब यह स्वीकार किया जा चुका है कि उपादान उपस्थित है, किन्तु निमित्त नहीं है, इसलिए कार्य नहीं हुआ, इसके विरुद्ध आपकी 'ऐसा नहीं कि उपादान अपना कार्य करनेके सन्मुख हो और उस कार्यमें अनुकूल निमित्त न मिलें', इस बातको कौन ठीक मान लेगा ?

प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि मनुष्य देखना चाहता है, किन्तु मोतियाबिन्द आ जानेसे अथवा अन्य कोई चीजकी आड़ आ जानेसे नहीं देख सकता। चलना चाहता है पर लकवा मार जानेसे चल नहीं सकता।

चित्तकी स्थिरतारूप ध्यानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता और चित्तकी स्थिरता शरीर बलके बिना नहीं हो सकती। कहा भी है—

विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावान्निरन्तरं तत्र स्थातुं न शक्नोति।

—पञ्चास्तिकाय गाथा १७० की टीका

अर्थात् विशिष्ट शक्तिके अभावके कारण निजस्वभावमें निरन्तर नहीं ठहर सकता।

इसी बातको पं० फूलचन्द्रजीने तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें लिखा है—

चित्तको स्थिर रखनेके लिए आवश्यक शरीरबल अपेक्षित रहता है जो उक्त तीन संहनन-वालोंके सिवा अन्यके नहीं हो सकता।

अतः मोक्षमार्गमें शरीरबल अपेक्षित रहता है अर्थात् शरीरबलरूप निमित्तके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। पार्श्वपुराणमें कहा भी है—

यह तन पाय महा तप कीजे यामें सार यही है।

मात्र शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्म नहीं होता ऐसा एकान्त नियम भी नहीं है, क्योंकि कहीं-कहीं मात्र शरीरकी क्रियासे भी धर्म-अधर्म होता है। जैसे कि मात्र शरीरकी चेष्टासे संयमका छेद होना। प्रवचनसारकी गाथा २११-२१२ की टीका देखिये—

द्विविधः किल संयमस्य छेदः—बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च। तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरंगः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरङ्गः। तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरङ्गच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्य-वहारविधिविदग्धश्रमणाश्रयालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम्।

अर्थ—संयमका छेद दो प्रकारका है—बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टासम्बन्धी बहि-रंगच्छेद है और उपयोगसम्बन्धी अन्तरंग छेद है। उसमें यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमणके प्रयत्नकृत काय-चेष्टाका कथंचित् बहिरंगच्छेद होता है तो वह सर्वथा अन्तरंग छेदसे रहित है इसलिए आलोचना पूर्वक क्रियासे ही उसका प्रतीकार होता है, किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होनेसे साक्षात् छेदमें ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहार विधिमें कुशल श्रमणके आश्रयसे, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठानद्वारा प्रतिसंधान होता है।

इस प्रकार प्रवचनसारके उक्त उल्लेखसे यह सिद्ध है कि मात्र कायचेष्टासे भी अधर्म होता है। यह ही बात श्री १०८ मणिमालीकी कथासे भी सिद्ध होती है कि मात्र शरीरकी क्रियासे कायगुप्तिरूपी संयमका छेद हो गया। वह कथा इस प्रकार है—श्री १०८ मणिमाली मुनिराज विहार करते हुए एक दिन उज्जयिनी पहुँचे और वहाँकी श्मशान भूमिमें ध्यानकी सिद्धि निमित्त निश्चलरूपसे स्थिर हो गये। उसी समय एक कोरिया मंत्रवादी महावेताली विद्या सिद्ध करनेके लिए वहाँ आया। ध्यानमें स्थित मुनि महाराजके शरीरको उसने मुर्देका शरीर समझा। कहींसे वह एक दूसरा मस्तक उठा लाया और पीछेसे मुनिराजके मस्तकके साथ जोड़ दिया। खीर पकानेके लिए उस कोरियाने एक मस्तकका चूला बनाया और अग्नि जला दी। अग्निके तापसे मुनि महाराजकी नसें संकुचित हो गईं, जिससे उनके दोनों हाथ ऊपरको उठ गये। इससे

उनकी कायगुप्ति भंग हो गई। (महारानी चेलनाचरित्र पृ० ११२, सूरतसे प्रकाशित वीर सं० २४८६)।

अब यह बात सिद्ध की जाती है कि मात्र शरीरकी क्रियासे ऐसा धर्म होता है जो सर्व कर्मक्षयका व संसार विच्छेदका कारण है।

यह तो सुनिश्चित है कि केवली जिनके मोह राग द्वेषका अभाव है, इसलिए उनके जो पुण्योदयसे चलने बैठने तथा उपदेश देने रूप शारीरिक क्रिया होती है वह बन्धका कारण नहीं होती, अपि तु कथंचित् क्षायिकी होनेसे मोक्षका कारण होती है। प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्द स्वामीने कहा भी है—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइय त्ति मदा ॥४५॥

अर्थ—पुण्यफलवाले अरहन्त हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है। अरहन्त भगवान् मोहादिसे रहित हैं, इसलिए उनकी क्रिया क्षायिकी मानी गई है।

इसकी टीकामें भी अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है—

मोह-राग-द्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत।

अर्थ—मोह-राग-द्वेषरूपी उपरंजकों (विकारी भावों) का अभाव होनेसे अरहन्त भगवान्‌की बिहार आदि क्रिया चैतन्य विकारका कारण नहीं होती, इसलिए कार्यभूत बन्धकी अकारणभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों नहीं माननी चाहिए, अर्थात् अवश्य माननी चाहिए।

केवली भगवान्‌के वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थिति यदि आयुकर्मकी स्थितिसे अधिक होती है तो वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी अधिक स्थितिका नाश करनेके लिए उस रूप प्रयत्न या उपयोगके विना ही केवलीसमुद्‌घात होता है, क्योंकि इन तीन कर्मोंकी अधिक स्थितिका नाश हुए बिना संसारका विच्छेद नहीं हो सकता।

श्री धवलसिद्धान्त पु० २ पृ० ३०२ में कहा भी है—

संसारविच्छित्तौ किं कारणम्? द्वादशांगावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च।

अर्थ—संसार विच्छेदका क्या कारण है? द्वादशांगका ज्ञान, उनमें तीव्रभक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसार विच्छेदके कारण हैं।

चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेसे केवलि जिनका उपयोग स्थिर हो जाता है। किसी भी शारीरिक क्रियाके लिए उस रूप प्रयत्न या उपयोगकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वे क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं, अतः केवलिसमुद्घातरूप क्रिया भी स्वाभाविक होती है जो संसार विच्छेदका कारण है। संसार विच्छेदका जो भी कारण हैं वह सब धर्म है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध हो गया कि धर्म-अधर्ममें शरीरकी क्रिया सहकारी कारण तो है ही, किन्हीं अवस्थाओंमें मात्र शरीरकी क्रियासे संयमका छेद रूपी अधर्म तथा संसारविच्छेदका कारण रूप धर्म भी होता है।

■

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार

इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें हमने सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर दिया था कि जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, इसलिए उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है। वह न तो जीवका धर्मभाव ही है और न अधर्मभाव ही। दूसरी यह बात स्पष्ट कर दी थी कि इसकी नोकर्ममें परिगणना की गयी है। अतएव जीवभावमें यह निमित्तमात्र कही गयी है। किन्तु निमित्तकथन असद्भूत व्यवहारनयका विषय होनेसे इस कथनको उपचरित ही जानना चाहिए।

किन्तु अपर पक्ष जीवित शरीरको क्रियाका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करनेके लिए तैयार नहीं है। इसका खुलासा करते हुए प्रतिशंका २ में उसका कहना है कि 'जीवित शरीरको सर्वथा अजीव तत्त्वमें मान लेने पर जीवित तथा मृतक शरीरमें कुछ अन्तर नहीं रह जाता।' इस प्रतिशंकामें अन्य जो भी कथन हुआ है वह इसी आशयकी पुष्टि करता है।

अतएव इसके उत्तरमें निश्चय-व्यवहार धर्मका स्वरूप बतलाकर हमने लिखा है कि शरीर और शरीरकी क्रियामें एकत्व बुद्धि यह अप्रतिबुद्धका लक्षण है अतएव सम्यग्दृष्टि उससे धर्मकी प्राप्ति नहीं मानता। अधर्मकी प्राप्ति भी उससे होती है ऐसी भी मान्यता उसकी नहीं रहती। वह तो कार्यकालमें निमित्तमात्र है।

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार

हमने प्रथम उत्तरमें ही यह स्पष्टीकरण किया है कि जीवित शरीरकी क्रिया जीवका न धर्म है और न अधर्म ही। इसपर अपर पक्षका कहना है कि यह हमारे मूल प्रश्नका उत्तर नहीं है। समाधान यह है कि यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्मकी प्राप्ति स्वीकार की जाय तो उसे आत्माका धर्म-अधर्म मानना भी अनिवार्य हो जाता है। समयसारमें बन्ध और मोक्षके कारणोंका निर्देश करते हुए लिखा है—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

जीवकृत रागादि युक्त भाव नये कर्मका बन्ध करानेवाला कहा गया है। किन्तु रागादिसे रहित भाव बन्धक नहीं है, वह मात्र ज्ञायक ही है ॥१६७॥

इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर मुक्ति और संसारके कारणोंका निर्देश करते हुए रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी कहा है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

तीर्थंकरादि गणधर देवोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा हैं तथा इनसे उलटे मिथ्यादर्शनादि तीनों संसारके कारण हैं ॥३॥

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जो धर्म और अधर्मके कारण हैं वे स्वयं धर्म और अधर्म भी हैं। यतः अपर पक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म और अधर्मकी प्राप्ति मानता है अतः उस पक्षके इस कथनसे जीवित शरीरकी क्रिया भी स्वयं धर्म-अधर्म सिद्ध हो जाती है। यही कारण है कि मूल प्रश्नके उत्तरके प्रारम्भमें ही हमने यह स्पष्टीकरण करना उचित समझा कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं आत्माका धर्म ही है और न अधर्म ही। अपर पक्षने अपनी इस प्रतिशंका ३ में विधिमुखसे यह तो स्वीकार कर लिया है कि 'धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियाँ हैं और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होते हैं।' किन्तु निषेध मुखसे वह पक्ष यह और स्वीकार कर लेता कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं धर्म है और न अधर्म ही, तो उस पक्षके इस कथनसे यह शंका दूर हो जाती कि वह पक्ष अपनी मूल शंका द्वारा कहीं जीवित शरीरकी क्रियाको ही तो धर्म-अधर्म नहीं ठहराना चाह रहा है। यतः इस शंकाका निर्मूलन हो जाय इसी भावको ध्यानमें रखकर हमने प्रथम उत्तरके प्रारम्भमें यह खुलासा किया है कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं आत्माका धर्म है और न अधर्म ही।

अपर पक्षका कहना है कि आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें जीवित शरीरकी क्रियाएँ निमित्त हैं सो इसको हमारी ओरसे अस्वीकार कहाँ किया गया है। अपने दोनों उत्तरोंमें हमने इसे स्पष्ट कर दिया है। किन्तु शरीर द्वारा होनेवाली समीचीन और असमीचीन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि आत्माके शुभाशुभ परिणामोंके आधारपर ही उन्हें समीचीन और असमीचीन कहा जाता है। वे स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं होतीं। यदि वे स्वयं समीचीन और असमीचीन होने लगें तो अपने परिणामोंके सम्हालकी आवश्यकता ही न रह जाय। सागारधर्मामृत अ० ४ में इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्षत।
भावैकसाधनौ बन्ध-मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥२३॥

यदि बन्ध और मोक्षके भाव ही एकमात्र कारण न हों तो जीवोंसे व्याप्त पूरे लोकमें कहाँ विचरता हुआ कोई भी प्राणी मोक्षको प्राप्त करे ॥२३॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करनेवाला सर्वार्थसिद्धिका यह वचन भी लक्ष्यमें लेने योग्य है। उसके छठे अध्याय सूत्र तीनमें कहा है—

कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् ? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः।

शंका—योगका शुभाशुभपना किस कारणसे है ?

समाधान—जो योग शुभ परिणामोंको निमित्त कर होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामोंको निमित्त कर होता है वह अशुभ योग है।

इससे स्पष्ट है कि जीवित शरीरकी क्रिया स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं हुआ करती, किन्तु जीवके शुभाशुभ परिणामोंके आधारसे उसमें समीचीन और असमीचीनपनेका व्यवहार किया जाता है।

हमें विश्वास है कि इस स्पष्टीकरणके आधारपर अपर पक्ष जीवित शरीरकी क्रियाओंके स्वयं समीचीन और असमीचीन होनेके विचारका त्यागकर अपने इस विचारको मुख्यता देगा कि प्रत्येक प्राणीको मोक्षके साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामोंकी सम्हालमें लगना चाहिए। संसारके छेदका एकमात्र यही भाव मूल कारण है, अन्यथा संसारकी ही वृद्धि होगी।

बाह्य क्रिया धर्म नहीं है इस अभिप्रायकी पुष्टिमें ही हमने नाटक समयसारके वचनका उल्लेख किया था।

अपर पक्षका कहना है कि क्रियाको तो सर्वथा धर्म-अधर्म हम भी नहीं मानते। तो क्या इस परसे यह आशय फलित किया जाय कि अपर पक्ष जीवित शरीरकी क्रियाको कथंचित् धर्म-अधर्म मानता है ? यदि यही बात है तो अपर पक्षके इस कथनकी कि 'धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियाँ हैं और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होते हैं' क्या सार्थकता रही ? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। यदि यह बात नहीं है तो उस पक्षको इस बातका स्पष्ट खुलासा करना था।

यह तो अपर पक्ष भी जानता है कि निमित्त और कारण पर्यायवाची संज्ञाएँ हैं। वह बाह्य भी होता है और आभ्यन्तर भी। उनमें-से आभ्यन्तर निमित्त कार्यका मुख्य—निश्चय हेतु है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्र कारिका ५९ में मोक्षमार्गमें बाह्य निमित्तकी गौणता बतलाकर आभ्यन्तर हेतुको पर्याप्त कहा है। इस कारिकामें आया हुआ 'अंगभूतम्' पद गौणपनेका ही सूचक है और तभी 'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते' इस वचनकी सार्थकता बन सकती है। 'अंगभूत' पदका अर्थ 'गौण' है इसके लिए अष्टसहस्री पृ० १५३ 'तदंगता तद्गुणभावः' इस वचनपर दृष्टिपात करना चाहिए।

अपर पक्षने जीवित शरीरकी क्रियाको आत्माके धर्म-अधर्ममें निमित्त स्वीकार करके यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों कारणोंकी पूर्णता आवश्यक है और इसके समर्थनमें स्वयंभूस्तोत्रका 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयम्' वचन उद्धृत किया है। किन्तु प्रकृतमें विचार यह करना है कि मोक्ष दिलाता कौन है ? क्या शरीर मोक्ष दिलाता है या वज्रवृषभनाराचसंहनन या शरीरकी क्रिया मोक्ष दिलाती है ? मोक्षकी प्राप्तिमें विशिष्ट कालको भी हेतु कहा है। क्या वह मोक्ष दिलाता है ? यदि यही बात होती तो आचार्य गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' १–१ इस सूत्रकी रचना न कर इसमें बाह्याभ्यन्तर सभी सामग्रीका निर्देश अवश्य करते। क्या कारण है कि उन्होंने बाह्य सामग्रीका निर्देश न कर मात्र आभ्यन्तर सामग्रीका निर्देश किया है, अपर पक्षको इसपर ध्यान देना चाहिए। किसी कार्यकी उत्पत्तिके समय आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रताके साथ बाह्य सामग्रीकी समग्रताका होना अन्य बात है और आभ्यन्तर सामग्रीके समान ही बाह्य सामग्रीको भी कार्यकी उत्पादक मानना अन्य बात है। अन्तरं महदन्तरम्। इस महान् अन्तरको अपर पक्ष ध्यानमें ले यही हमारी भावना है। यदि वह इस अन्तरको ध्यानमें ले ले तो उस पक्षको यह हृदयंगम करनेमें सुगमता हो जाय कि हम बाह्य सामग्रीको उपचरित कारण और आभ्यन्तर सामग्रीको अनुपचरित कारण क्यों कहते हैं। यह तो कोई भी साहस पूर्वक कह सकता है कि आत्मसम्मुख हुआ आत्मा रत्नत्रयको उत्पन्न करता है और रत्नत्रयपरिणत आत्मा मोक्षको उत्पन्न करता है, परन्तु यह बात कोई साहसपूर्वक नहीं कह सकता कि जीवित शरीरकी क्रिया रत्नत्रय या मोक्षको उत्पन्न करती है। सर्वार्थ-सिद्धि अ० १ सू० १ में सम्यक्चारित्रका लक्षण करते हुए लिखा है—

संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् ।

संसारके कारणकी निवृत्तिके प्रति उद्यत हुए ज्ञानी पुरुषके कर्मके ग्रहणमें निमित्तभूत क्रियाका उपरत होना सम्यक्चारित्र है।

यह आगम वचन है। इससे तो यही विदित होता है कि रागमूलक या योगमूलक जो भी क्रिया होती है यह मात्र बन्धका हेतु है। अब अपर पक्ष ही बतलावे कि उक्त क्रियाके सिवाय और ऐसी शरीरकी कौन-सी क्रिया बचती है जिसे मोक्षका हेतु माना जाय। हमने भी जीवित शरीरकी क्रियाको धर्म-अधर्मका निमित्त कहा है। किन्तु उसका इतना ही आशय है कि बाह्य विषयमें इष्टानिष्ट बुद्धि होने पर उसके साथ जो भी शरीरकी क्रिया होती है उसे उपचारसे अधर्मका निमित्त कहा जाता है और इसी प्रकार आत्मसम्मुख हुए जीवके धर्मपरिणतिके कालमें शरीरकी जो भी क्रिया होती है उसे उपचारसे धर्मका निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्रको लक्ष्यकर शुभभावके होने पर उसके साथ जो भी क्रिया होती है उसे उपचारसे उसी भावका निमित्त कहा जाता है।

आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६५ में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए बतलाया है कि विशिष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही साक्षात् मोक्षमार्ग है। इसपर शंका हुई कि इस प्रकार अवधारण करने पर एकान्तकी प्रसक्ति होती है। तब इसका समाधान करते हुए वे क्या लिखते हैं इस पर ध्यान दीजिए—

नन्वेवमप्यवधारणे तदेकान्तानुषंग इति चेत् ? नायमनेकान्तवादिनामुपालम्भः, नयार्पणादेकान्तस्येष्टत्वात्, प्रमाणार्पणादेवानेकान्तस्य व्यवस्थितेः।

शंका—इस प्रकार भी अवधारण करने पर उस (मोक्षमार्ग) के एकान्तका अनुषंग होता है ?

समाधान—नहीं, यह एकान्तवादियोंका उपालम्भ ठीक नहीं, क्योंकि नय (निश्चयनय) की मुख्यतामें ऐसा एकान्त हमें इष्ट है। प्रमाणकी मुख्यतासे ही अनेकान्तकी व्यवस्था है।

कथंचित् सम्यग्दर्शन आदि एक-एकको और साथ ही कथंचित् सम्यग्दर्शनादि तीनोंको मिलाकर युगपत् मोक्षका कारण कहना यह प्रमाणदृष्टि है। निश्चयनय दृष्टि तो यही है कि सम्यग्दर्शनादि तीनरूप परिणत आत्मा ही मोक्षका साक्षात् कारण है। इसी तथ्यको श्लोकवार्तिकके उक्त वचन द्वारा स्पष्ट किया गया है।

यह प्रमाणदृष्टि और निश्चयनयदृष्टिका निर्देशक वचन है। इससे हमें यह सुस्पष्ट रूपसे ज्ञात हो जाता है कि सम्यग्दर्शनादि एक-एकको मोक्षका कारण कहना यह सद्भूत होकर भी जब कि व्यवहारनयका सूचक वचन है। ऐसी अवस्थामें विशिष्ट काल या शरीरकी क्रियाको उसका हेतु कहना यह तो असद्भूत-व्यवहार वचन ही ठहरेगा। इसे यथार्थ कहना तो दो द्रव्योंको मिलाकर एक कहनेके बराबर है।

अपर पक्षका कहना है कि 'मात्र बाह्य या आभ्यन्तरके ही कारण माननेपर पुरुषके मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती।' आदि।

समाधान यह है कि जिस समय जो कार्य होता है उस समय उसके अनुकूल आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रताके समान बाह्य सामग्रीकी समग्रता होती है। इसीका नाम द्रव्यगत स्वभाव है। किन्तु इन दोनोंमें-से किसमें किस रूपसे कारणता है इसका विचार करनेपर विदित होता है कि बाह्य सामग्रीमें कारणता असद्भूत व्यवहारनयसे ही बन सकती है। आभ्यन्तर सामग्रीमें कारणताको जिस प्रकार सद्भूत माना गया

है उसी प्रकार यदि बाह्य सामग्रीमें भी कारणताको सद्भूत माना जाय तो पुरुषकी मोक्षविधि नहीं बन सकती यह उक्त कारिकाका आशय है।

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें 'यद्वस्तु बाह्यं' इत्यादि कारिकाका उल्लेख कर अपनी दृष्टिसे उसका अर्थ दिया है। किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि उसका अर्थ करते समय एक तो 'अभ्यन्तरमूलहेतोः' पदको 'गुण-दोषसूतेः' का विशेषण नहीं बनाकर 'अध्यात्मवृत्तस्य अभ्यन्तरमूलहेतोः तत् अङ्गभूतम्' ऐसा अन्वय कर उसका अर्थ किया है। दूसरे 'अङ्गभूतम्' पदका अर्थ प्रकृतमें 'गौण' है। किन्तु यह अर्थ न कर उसका अर्थ करते समय साभिप्राय उस पदको वैसा ही रख दिया है। तीसरे चौथे चरणमें आये हुए 'अलम्' पदकी सर्वथा उपेक्षा करके उसका ऐसा अर्थ किया है जिससे पूरी कारिकासे ध्वनित होनेवाला अभिप्राय ही मटियामेट हो गया है।

उसका सही अर्थ इस प्रकार है—अभ्यन्तर वस्तु मूल हेतु है जिसका ऐसे गुण-दोषकी उत्पत्तिमें जो बाह्य वस्तु निमित्त है वह अध्यात्मवृत्त अर्थात् मोक्ष-मार्गीके लिए गौण है, क्योंकि उसके लिए अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है।

इस कारिकामें आया हुआ 'अपि' पद 'एव' अर्थको सूचित करता है।

अपर पक्षने उक्त कारिकाका अपने अभिप्रायसे अर्थ करनेके बाद जो यह लिखा है कि 'फिर यह पात्रकी विशेषताको लक्ष्यमें रखकर कथन किया गया है, अतः इससे कार्य-कारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता। पात्रकी विशेषताको दृष्टिमें रखकर किसी कथनको विवक्षित—मुख्य और अविवक्षित—गौण तो किया जा सकता है, परन्तु उसे अवस्तुभूत—अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।' उसका समाधान यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि पात्र विशेषको लक्ष्यमें रखकर यह कारिका लिखी गई है, क्योंकि जो अध्यात्मवृत्त जीव होता है उसकी दृष्टिमें असद्भूत और सद्भूत दोनों प्रकारका व्यवहार गौण रहता है, क्योंकि परम भाव-ग्राही निश्चयको दृष्टिमें गौण कर तथा सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहारको दृष्टिमें मुख्यकर प्रवृत्ति करना यह तो मिथ्यादृष्टिका लक्षण है, सम्यग्दृष्टिका नहीं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २ में स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) और परसमय (मिथ्यादृष्टि) का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थित है वह स्वसमय है और जो पुद्गल कर्मप्रदेशोंमें स्थित है वह परसमय है। यह दृष्टिकी अपेक्षा कथन है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर पण्डितप्रवर दौलतरामजी एक भजनमें कहते हैं —

हम तो कबहूँ न निज घर आये
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।
परपद निजपद मान मगन ह्वै पर परिणति लिपटाये।
शुद्ध बुद्ध चित्कन्द मनोहर चेतन भाव न भाये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।

अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'अतः इससे कार्य-कारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता।' हम इसे भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि उपचरित और अनुपचरित दोनों दृष्टियोंको मिलाकर प्रमाण दृष्टिसे आगममें कार्य-कारणकी जो व्यवस्था की गई वह 'बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें प्रत्येक कार्य होता है यह द्रव्यगत स्वभाव है' इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर ही की गई है। दोनोंकी समग्रतामें

प्रत्येक कार्य होता है यह यथार्थ है, कल्पना नहीं। किन्तु इनमेंसे अभ्यन्तर कारण यथार्थ हैं और वह यथार्थ क्यों है तथा बाह्य कारण अयथार्थ है और वह अयथार्थ क्यों है यह विचार दूसरा है। इसे जो ठीक तरहसे जानकर वैसी श्रद्धा करता है वह कार्य-कारण भावका यथार्थ ज्ञाता होता है ऐसा यदि हम कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

विचार तो कीजिए कि यदि बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारकी सामग्री यथार्थ होती तो आचार्य अध्यात्म-वृत्तके लिए निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीको दृष्टिमें गौण करनेका उपदेश क्यों देते और क्यों मोक्षकी प्रसिद्धिमें अभ्यन्तर कारणको ही पर्याप्त बतलाते। वस्तुतः इसमें संसारी बने रहने और मुक्त होनेका बीज छिपा हुआ है। जो पुरुष बाह्य सामग्रीको यथार्थ कारण जान अपनी मिथ्या बुद्धि या रागबुद्धिके कारण उसमें लिपटा रहता है वह सदाकाल संसारी बना रहता है और जो पुरुष अपने आत्माको ही यथार्थ कारण जान तथा व्यवहारसे कारण संज्ञाको प्राप्त बाह्य सामग्रीमें हेयबुद्धि कर अपने आत्माकी शरण जाता है वह परमात्मपदका अधिकारी होता है।

अपर पक्षने अपने प्रत्यक्षको प्रमाण मानकर और लौकिक दृष्टिसे दो-तीन दृष्टान्त उपस्थित कर इस सिद्धान्तका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है कि 'उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।' किन्तु उस पक्षका यह समग्र कथन कार्यकारणकी विडम्बना करनेवाला ही है, उसकी सिद्धि करनेवाला नहीं। हम पूछते हैं कि मन्दबुद्धि शिष्यके सामने अध्यापन क्रिया करते हुए अध्यापकके रहनेपर शिष्यने अपना कोई कार्य किया या नहीं? यदि कहो कि उस समय शिष्यने अपना कोई कार्य नहीं किया तो शिष्यको उस समय अपरिणामी मानना पड़ेगा। किन्तु इस दोषसे बचनेके लिये अपर पक्ष कहेगा कि शिष्यने उस समय भी अध्ययन कार्यको छोड़कर अपना अन्य कोई कार्य किया है। तो फिर अपर पक्षको यह मान लेना चाहिए कि उस समय शिष्यका जैसा उपादान था उसके अनुरूप उसने अपना कार्य किया और उसमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री निमित्त हुई, अध्यापक निमित्त नहीं हुआ। जिस कार्यको लक्ष्यमें रखकर अपर पक्षने यहाँ दोष दिया है, वस्तुतः उस कार्यका शिष्य उस समय उपादान ही नहीं था। यही कारण है कि अध्यापन क्रियामें रत अध्यापकके होनेपर भी वह निमित्त व्यवहारके अयोग्य ही बना रहा। यह कार्यकारण व्यवस्था है, जो प्रत्येक द्रव्यके परिणाम स्वभावके अनुरूप होनेसे इस तथ्यकी पुष्टि करती है कि 'उपादानके कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।'

प्रकृतमें अपर पक्षकी सबसे बड़ी भूल यह है कि विवक्षित कार्य तो हुआ नहीं फिर भी वह, जिसमें उस समय उसने जिस कार्यकी कल्पना कर रखी है, उसे उस समय उसका उपादान मानता है और इस आधारपर यह लिखनेका साहस करता है कि सुबोध छात्र है पर अध्यापक आदि नहीं मिले, इसलिए कार्य नहीं हुआ। अपर पक्षको समझना चाहिए कि सुबोध छात्रका होना अन्य बात है और छात्रका उपादान होकर अध्ययन क्रियासे परिणत होना अन्य बात है। इसी प्रकार अपर पक्षको यह भी समझना चाहिए कि अध्यापकका अध्यापनरूप क्रियाका करना अन्य बात है और उस क्रिया द्वारा अन्यके कार्यमें व्यवहारसे निमित्त बनना अन्य बात है।

अध्यापक अध्यापन कला सीखनेके लिए एकान्तमें भी अध्यापन क्रिया कर सकता है और मन्दबुद्धि छात्रके सामने भी इस क्रियाको कर सकता है। पर इन दोनों स्थलोंपर वह निमित्त व्यवहार पदवीका पात्र

नहीं । उसमें अध्यापनरूप निमित्त व्यवहार तभी होता है जब कोई छात्र उसे निमित्त कर स्वयं पढ़ रहा है । यह कार्य-कारण व्यवस्था है जो सदाकाल प्रत्येक कार्यपर लागू होती है । अतः अपर पक्षने अपने प्रत्यक्ष ज्ञानको प्रमाण मानकर जो कुछ भी यहाँ लिखा है वह यथार्थ नहीं है ऐसा समझना चाहिए ।

अपर पक्षने प्रकृतमें पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका, पं० फूलचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र टीका और पार्श्वपुराणके प्रमाण देकर प्रत्येक कार्यमें बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता सिद्ध की है। समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है इस सिद्धान्तके अनुसार नियत बाह्य सामग्री नियत आभ्यन्तर सामग्रीकी सूचक होनेसे व्यवहार नयसे आगममें ऐसा कथन किया गया है। किन्तु इतने मात्रसे इसे यथार्थ कथन न समझकर व्यवहार कथन ही समझना चाहिए । एकके गुण-धर्मको दूसरेका कहना यह व्यवहारका लक्षण है। अतएव व्यवहारनयसे ऐसा ही कथन किया जाता है जो व्यवहार वचन होनेसे आगममें और लोकमें स्वीकार किया गया है।

अपर पक्षने प्रवचनसार गाथा २११-२१२ की टीकाका प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'कहीं-कहीं मात्र शरीरकी क्रियासे भी धर्म-अधर्म होता है। जैसे कि मात्र शरीरकी चेष्टासे संयमका छेद होना।' किन्तु अपर पक्षका यह कथन एकान्तका सूचक होनेसे ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतमें यथामार्ग न की गई कायचेष्टाके अभावको सूचित करनेके लिए आचार्यने कायचेष्टामात्राधिकृत संयम-छेदको बहिरंग संयमछेद कहा है और इसलिए आचार्यने इसका अल्प प्रायश्चित्त कहा है। स्पष्ट है कि इस वचनसे अपर पक्षके अभिमतकी सिद्धि नहीं होती। प्रत्युत इस वचनसे तो वही सिद्ध होता है कि आत्म-कार्यमें सावधान व्यक्ति यदि बाह्य शरीरचेष्टाको प्रयत्नपूर्वक भी करता है तो भी शरीर क्रिया करनेका भाव दोषाधायक माना गया है और यही कारण है कि परमागममें सूत्रोक्त विधिपूर्वक की गई प्रत्येक क्रिया का प्रायश्चित्त कहा है ।

यहाँ अपर पक्षने जो मणिमाली मुनिकी कथा दी है वह शयन समयकी घटनासे सम्बन्ध रखती है। उस समय मुनिकी कायगुप्ति ऐसी होनी चाहिए थी कि उसको निमित्त कर शरीर चेष्टा नहीं होती। किन्तु मुनि अपनी कायगुप्ति न रख सके । यह दोष है। इसी दोषका उद्घाटन उस कथा द्वारा किया गया है। मालूम पड़ता है कि यहाँ अपर पक्ष ऐसे उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहता है कि आत्मकार्यमें सावधान अन्तरंग परिणामोंके अभावमें भी शरीरकी क्रियामात्रसे धर्म हो जाता है जो युक्त नहीं है।

केवली जिनके पुण्यको निमित्तकर चलने आदि रूप क्रिया होती है इसमें सन्देह नहीं, पर इतने मात्रसे वह मुक्तिकी साधन नहीं मानी जा सकती। अन्यथा योगनिरोध करके केवली जिन सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यानको क्यों ध्याते। जिस जिनागममें क्षायिक-चारित्रके होनेपर भी योगका सद्भाव होनेसे क्षायिक चारित्रको सम्पूर्ण चारित्ररूपसे स्वीकार न किया गया हो उस जिनागमसे यह फलित करना कि केवली जिनकी चलने आदि रूप क्रिया मोक्षका कारण है उचित नहीं है। प्रत्युत इससे यही मानना चाहिए कि केवली जिनके जबतक योग और तदनुसार बाह्य क्रिया है तबतक ईर्यापथ आस्रव ही है।

केवली जिन समुद्घात अपने वीर्य विशेषसे करते हैं और उसे निमित्त कर तीन कर्मोंका स्थितिघात होता है। अन्तरंगमें वीतराग परिणाम नहीं है और वीर्यविशेष भी नहीं है, फिर भी यह क्रिया हो गई और उसे निमित्तकर उक्त प्रकारसे कर्मोंका स्थितिघात हो गया ऐसा नहीं है।

अपर पक्षने धवल पु० १ पृ० ३०२ का प्रमाण उपस्थित करनेके बाद लिखा है कि 'चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेसे केवलि जिनका उपयोग स्थिर हो जाता है। किसी भी शारीरिक क्रियाके लिए उस रूप प्रयत्न या उपयोगकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वे क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं, अतः केवलिसमुद्घातरूप क्रिया भी स्वाभाविक होती है जो संसार विच्छेदका कारण है। संसारविच्छेदका जो भी कारण हैं वह सब धर्म है।'

समाधान यह है कि केवली जिनके जो भी शारीरिक क्रिया होती है वह रागपूर्वक नहीं होती इसी अर्थमें आचार्योंने उसे स्वाभाविकी अतएव क्षायिकी कहा है। परन्तु केवलिसमुद्घातरूप क्रिया तो आत्मप्रदेशों की क्रिया है, शरीरकी क्रिया नहीं और उसका हेतु योग तथा आत्माका वीर्यविशेष है, अतः वह तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिघातका हेतु (निमित) रही आओ, इसमें बाधा नहीं। किन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है, अर्थात् त्रिकालमें सिद्ध नहीं होता। अतएव पूर्वोक्त विवेचनके आधारसे यही निर्णय करना समीचीन है कि शरीरकी क्रिया पर द्रव्य (पुद्गल) की पर्याय होनेसे उसका अजीव तत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है, अतः उसे आत्माके धर्म-अधर्ममें उपचारसे निमित्त कहना अन्य बात है। वस्तुतः यह आत्मा अपने शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामोंका कर्ता स्वयं है, अतः वही उनका मुख्य (निश्चय) हेतु है। विशेष स्पष्टीकरण पूर्वमें किया ही है।

प्रथम दौर

: १ :

शंका ३

जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

समाधान १

इस श्नमें यदि धर्म पदका अर्थ पुण्य भाव है तो जीवदयाको पुण्य भाव मानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि जीवदयाकी परिगणना शुभ परिणामोंमें की गई है और शुभ परिणामको आगममें पुण्य भाव माना है। परमात्मप्रकाशमें कहा भी है—

सुहपरिणामेँ धम्मु पर असुहेँ होइ अहम्मु।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥२-७१॥

अर्थ—शुभ परिणामसे मुख्यतया धर्म—पुण्य भाव होता है और अशुभ परिणामसे अधर्म—पाप भाव होता है तथा इन दोनों ही प्रकारके भावोंसे रहित शुद्ध परिणामवाला, जीव कर्मबन्ध नहीं करता ॥२-७१॥

सुह इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। 'सुहपरिणामें धम्मु पर' शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्या। 'असुहेँ होइ अहम्मु' अशुभपरिणामेन भवत्यधर्मः पापम्।

टीकाका तात्पर्य गाथार्थसे स्पष्ट है।

यदि इस प्रश्नमें 'धर्म' पदका अर्थ वीतराग परिणति लिया जाय तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरातत्त्वमें अन्तर्भाव नहीं होता। जैसा कि श्री समयसारकी गाथा २६४ से स्पष्ट है—

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२६४॥

और इसी प्रकार सत्यमें, अचौर्यमें, ब्रह्मचर्यमें और अपरिग्रहमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यका बन्ध होता है ॥२६४॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

…………यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः तथा यश्च सत्य-दत्त-ब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबन्धहेतुः।

…………और जो अहिंसामें अध्यवसाय किया जाता है, उसी प्रकार, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें भी जो अध्यवसाय किया जाता है वह भी एकमात्र पुण्यबन्धका ही कारण है।

■

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ३

जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नके उत्तरमें आपने जीवदयाको धर्म मानते हुए उसकी शुभ परिणामोंमें परिगणना की है। यह एक अपेक्षासे ठीक होते हुए भी आपका यह कथन कि 'उसका आस्रव और बन्धतत्वमें अन्तर्भाव होता है, 'संबर और निर्जरामें नहीं' यह आगमके अनुकूल नहीं है। आपने अपने कथनकी पुष्टिमें जो समयसारकी गाथा २६४ को उद्धृत किया है उसमें अहिंसा आदिको पुण्यबन्धका कारण नहीं कहा है किन्तु इसके विषयमें होनेवाले अध्यवसानको ही पुण्यबन्धका कारण कहा है। टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरिने गाथाकी टीका प्रारम्भ करते हुए जो 'एवमयमज्ञानात्' पदका प्रयोग किया है उससे भी सिद्ध होता है कि अध्यवसान ही कर्मबन्धका कारण है। यह प्रकरण ग्रन्थकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने २४७ वीं गाथासे प्रारम्भ किया है और इन गाथाओंमें मूढ़, अज्ञानी आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए यह दर्शाया है कि मिथ्यादृष्टिका अज्ञानमय अध्यवसान भाव ही बन्धका कारण है।

आपने अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिये जो परमात्मप्रकाश की ७१ वीं गाथाको प्रमाण रूपमें उपस्थित किया है उसमें भी 'सुहपरिणामे धम्मु' पद द्वारा शुभ परिणामको धर्म बतलाया गया है। टीकाकार श्री ब्रह्मदेवने 'धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या' पद में मुख्यवृत्त्या शब्दसे शुभपरिणाम द्वारा संवर निर्जरा होना भी द्योतित किया है। इसके समर्थनमें अन्य आगम प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संवर भावनाकी गाथा २ क्रमिक संख्या ९७ निम्न प्रकार है—

गुत्ती जोगणिरोहो समिदी य पमादवज्जणं चेव।
धम्मो दयापहाणो सुतत्तचिंता अणुप्पेहा ।।९७।।

अर्थ—योगनिरोधरूप गुप्ति, प्रमादत्यागरूप समिति, दयाप्रधान धर्म और सुतत्त्व चिन्तनरूप अनुप्रेक्षा है।

संवर भावनामें कही जानेके कारण इस गाथामें प्रोक्त चारों क्रियाएँ संवरकी कारण हैं। उक्त गाथामें स्पष्ट रूपसे धर्मको दयाप्रधान बतलाया है। संस्कृत टीकाकारने भी इसी बातका समर्थन किया है।

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकामें लिखा है—

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत् ।। ६-६० ।।

अर्थ—विशुद्ध आत्मा अन्तस्तत्त्व है और प्राणियोंकी दया बहिस्तत्त्व है। अन्तस्तत्त्व तथा बहिस्तत्त्व—इन दोनोंके मिलने पर मोक्ष होता है इसलिये इन दोनोंका आश्रय करना चाहिये।

इसकी पुष्टि संस्कृत टीकाकारने भी की है। बोधपाहुडमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ॥२॥

अर्थ—दयासे विशुद्ध धर्म, समस्त परिग्रहसे रहित मुनिदीक्षा (प्रव्रज्या); वीतराग देव ये तीनों भव्य जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें कहा है—

आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकै-
र्धिङ्नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥१-८॥

अर्थ—यहाँ धर्मात्मा सज्जनोंको सबसे पहले प्राणियोंकी सदा दया करनी चाहिये, क्योंकि वह समीचीन व्रतसमूहकी आद्य—प्रमुख है, सुख एवं उत्कृष्ट सम्पदाओंकी जननी है, धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है तथा अविनश्वर पद (मोक्षमहल) पर चढ़नेके लिये अपूर्व नसैनी हैं। निर्दय पुरुषके नामको भी धिक्कार है, उसके लिये समस्त दिशाएँ शून्यरूप हैं।

इसी ग्रन्थमें आगे कहा है—

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो,
धर्मः स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्या।
तत् किं तपो गुरुरथास्ति न यत्र बोधः
सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम् ॥२-१८॥

अर्थ—वह देव क्या? जिसमें कि विकार भाव हो, वह धर्म क्या? जहाँ कि प्राणियोंमें दया नहीं है, वह तप भी क्या है? जिसमें विशाल ज्ञान नहीं है और वह विभूति भी क्या है? जिसमें पात्रदान नहीं किया जाता।

दयाको धर्म बतलानेका यही कथन इसी ग्रन्थके छठे अधिकारके ३७ से ४० तकके श्लोकोंमें भी स्पष्ट किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुडमें लिखा है—

मोहमयगारवेहिं य मुक्का करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥

अर्थ—जो व्यक्ति मोह, मद, गारवसे रहित और करुणाभावसे सहित हैं वे अपने चारित्ररूपी खड्ग द्वारा समस्त पापरूपी स्तम्भको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं।

श्री धवलामें भी वीरसेनाचार्यने दयाको जीवका स्वभाव बतलाया है, जो निम्न प्रकार है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

—धवल पुस्तक १३ पृष्ठ ३६२

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है, अतः उसे कर्मजनित कहनेमें विरोध आता है।

श्री राजवार्तिक अ० १ सू० २ में सम्यग्दृष्टिके जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार लक्षण श्री अकलंकदेवने बतलाये हैं। उनमें अनुकम्पा (दया) भी सम्मिलित है। प्रमाण देखिए—

'प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्।

अर्थ—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी अभिव्यक्ति हो जाना सराग सम्यग्दर्शनका लक्षण है।

इनमेंसे अनुकम्पाका अर्थ दया किया गया है। इस कारण दया सम्यग्दर्शनका अङ्ग होनेसे धर्म-रूप है।

आपने दयाको शुभ भाव बतलाकर मात्र आस्रव और बन्धका कारण बतलाया है यह उचित नहीं है, क्योंकि शुभ भाव संवर और निर्जराके भी कारण हैं। प्रमाण निम्न प्रकार है। श्री वीरसेनाचार्यने जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें कहा है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—यदि शुभ और शुद्ध परिणामोंसे कर्मोंका क्षय न माना जाय तो फिर कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता।

इसके आगे वीरसेनाचार्य जयधवला पु० १ पृ० ९ में लिखते हैं—

अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो।

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥३॥

अर्थ—अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जराका कारण है, इसलिये सरागसंयमके समान उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहन्तको नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

जिणसाहुगुणुक्कित्तणपसंसणविणयदाणसंपण्णा।
सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणं मुणेयव्वा ॥५५॥

किं फलमेदं धम्मज्झाणं? अक्खवयेसु विउलामरसुहफलं गुणसेणीये कम्मणिज्जराफलं च। खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेढिकम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभागविहाणफलं च। अतएव धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानमिति सिद्धं। एत्थ गाहाओ—

होंति सुहासवसंवरणिज्जरासुहाइं विउलाइं।
ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥५६॥
जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥५७॥

—धवला पु० १३ पृ० ७६-७७

अर्थ—जिन और साधुके गुणोंका कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानसम्पन्नता, श्रुत, शील और संयममें रत होना ये सब बातें धर्मध्यानमें होती हैं ऐसा जानना चाहिये।

शंका—इस धर्मध्यानका क्या फल है ?

समाधान—अक्षपक जीवोंको देव पर्यायसम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुणश्रेणीमें कर्मोंकी निर्जरा होना भी उसका फल है। तथा क्षपक जीवोंके तो असंख्यात गुणश्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा होना और शुभ कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागका होना उसका फल है। अतएव जो धर्मसे अनपेत वह धर्मध्यान है यह बात सिद्ध होती है। इस विषयमें गाथाएँ—

उत्कृष्ट धर्मध्यानसे शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा और देवोंके सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं ॥ ५६ ॥

जैसे मेघपटल पवनसे ताडित होकर क्षणमात्रमें विलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यानरूपी पवनसे उपहृत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते हैं ॥ ५७ ॥

देवसेनाचार्य कृत भावसंग्रहमें भी कहा है—

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं च दाण-पूजाइं।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥६१०॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रतिदिन अपने आवश्यकोंका पालन करता है, व्रत, नियम आदिका पालन करता है, वैयावृत्य करता है, पात्रदान देता है और भगवान् जिनेन्द्रका पूजन करता है उस पुरुषका वह सब कार्य कर्मोंको निर्जराका कारण है।

श्री प्रवचनसारमें गाथा ७९ के बाद श्री जयसेन स्वामीकी निम्न प्रकार गाथा है—

तं देवदेवं जदि गणवसहं गुरुतिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥२॥

अर्थ—उन देवाधिदेव जिनेन्द्रको, गणधरदेवको और साधुमहाराजको जो मनुष्य वन्दन करता है वह अक्षय अर्थात् मोक्ष सुखको प्राप्त करता है।

श्री धवल पुस्तक ६ पृष्ठ ४२७ पर निम्नलिखित उल्लेख है—

कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्ति-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

अर्थ—शंका—जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण किस प्रकार है ?

समाधान—जिनबिम्ब दर्शनसे निधत्ति और णिकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण है।

जयधवल पुस्तक १ पृष्ठ ३६९ पर उल्लेख है—

तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो।

अर्थ—रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है।

आपने दयाको पुण्यरूप धर्म स्वीकृत किया है सो पुण्य भी साधारण वस्तु नहीं है। उसे भी जिनसेन स्वामीने

पुण्यात्तीर्थंकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते।

महापुराणके प्रथम भाग पृष्ठ ९५ श्लोक १२९ में मुक्तिलक्ष्मीका साधक बतलाया है।

श्री भावसंग्रहमें भी कहा है :—

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ देउं जइ वि णियाणं ण सा कुणइ ॥४०४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि द्वारा किया हुआ पुण्य संसारका कारण नियमसे नहीं होता है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष द्वारा निदान न किया जाय तो वह पुण्य मोक्षका ही कारण है।

यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्त्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधकं भवति। नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति ॥

—परमात्मप्रकाश अ० २ गा० १९१ टीका

अर्थ—यदि निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ऐसा मानकर उसके साधकपनेसे उसके अनुकूल तप करता है और शास्त्र पढ़ता है तो वह परम्परासे मोक्षका ही कारण है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि वह केवल पुण्यबंधका ही कारण है।

●

शंका ३

जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका २ का समाधान

उक्त शंकाका जो उत्तर दिया गया था उस पर प्रतिशंका करते हुए लगभग ऐसे २० शास्त्रोंके प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है कि जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें संवरके कारणोंमें दयाका अन्तर्भाव हुआ है। जयधवलाका एक ऐसा भी प्रमाण है जिसमें शुद्ध भावके साथ शुभ भावको भी कर्मक्षयका कारण कहा है। श्री धवलाजीके एक प्रमाणमें यह भी बतलाया है कि जिनबिम्बदर्शनसे निधत्ति-निकाचित बन्धकी व्युच्छित्ति होती है। इसीप्रकार भावसंग्रहमें यह भी कहा है कि जिनपूजासे कर्मक्षय होता है। ऐसे ही यहाँ जो अनेक प्रमाण संग्रह किये गये हैं उनके विविध प्रयोजन बतलाकर उन द्वारा पर्यायान्तरसे दयाको पुण्य और धर्म उभयरूप सिद्ध किया गया है। ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममें-से ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जाय तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाय। पर इन प्रमाणोंके आधारसे क्या पुण्यभावरूप दयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है ? आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें निर्जरा और पुण्यके कारणरूप सिद्धान्तका निर्देश करते हुए लिखा है—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

इस जीवके जिस अंशसे सम्यग्दर्शन है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है। परन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्धन है। जिस अंशसे इसके ज्ञान है उस अंशसे इसके बंधन नहीं है। परन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्धन है। जिस अंशसे इसके चारित्र है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है। परन्तु जिस अंशसे इसके राग है उस अंशसे इसके बन्धन है ॥२१२-२१४॥

आगे इसी आगमके २१६ वें श्लोकमें वे इसी तथ्यका समर्थन करते हुए पुनः कहते हैं—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

आत्मश्रद्धाका नाम सम्यग्दर्शन है, आत्मज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं और आत्मामें स्थितिका नाम सम्यक्चारित्र है, इनसे बन्ध कैसे हो सकता है ॥२१६॥

श्री समयसारजीमें कहा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य प्राप्त जीव कर्मसे छूटता है, यह जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है, इसलिए हे भव्यजीव ! तू कर्मोंमें प्रीति—राग मत कर।

इसकी टीकामें लिखा है—

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति।

अर्थ—'रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्मसे छूटता है' ऐसा जो यह आगम वचन है सो सामान्यतया रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभाशुभ दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिए दोनों कर्मोंका निषेध करता है ॥१४०॥

इस प्रकार इस कथनसे स्पष्ट है कि शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्ब दर्शन हो, व्रतोंका पालन करना हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है। जिस प्रकार कोई मनुष्य भोजन करनेके बाद भी यदि यह मानता है कि मेरे उपवास है उसी प्रकार पर द्रव्यमें प्रीति करनेवाला उससे यदि अपनी कर्मक्षपणा मानता है तो उसका ऐसा मानना आगम, अनुभव और युक्ति तीनोंके विरुद्ध है।

श्री समयसारजीमें सम्यग्दृष्टिको जो अबन्धक कहा है इसका यह अर्थ नहीं कि उसके बन्धका सर्वथा प्रतिषेध किया है। उसका तो मात्र यही अर्थ है कि सम्यग्दृष्टिके रागभावका स्वामित्व न होनेसे उसे अबन्धक कहा है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और रागदृष्टिमें बड़ा अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि होता है वह रागदृष्टि नहीं होता और जो रागदृष्टि होता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर श्री समयसारजीमें कहा भी है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

अर्थ—राग पुद्गल कर्म है । उसका विपाकरूप उदय यह है । यह मेरा भाव नहीं है । मैं तो निश्चयसे एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९९॥

वहीं पुनः कहा है—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्च वियाणंतो ॥२००॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्माको (अपनेको) ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्वको अर्थात् यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ कर्मके विपाकरूप उदयको छोड़ता है ॥२००॥

चेतना तीन प्रकारकी है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना । उनमेंसे सम्यग्दृष्टि अपनेको ज्ञानचेतनाका स्वामी मानता है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका नहीं । किन्तु शुभ रागरूप दयाका अन्तर्भाव कर्मचेतनामें होता है, इसलिए कर्मके विपाकस्वरूप उसके ऐसी दया अवश्य होती है पर वह इसका स्वामी नहीं होता ।

यदि प्रकृतमें दयासे वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है और इसके फल स्वरूप जिन उल्लेखोंके आश्रयसे प्रतिशंका २ में दयाको कर्मक्षपणा या मोक्षका कारण कहा है तो उसे उस रूप स्वीकार करनेमें तत्त्वकी कोई हानि नहीं होती, क्योंकि राग परिणाम एक मात्र बन्धका ही कारण है, फिर भले ही वह दसवें गुणस्थानका सूक्ष्मसाम्पराय रूप राग परिणाम ही क्यों न हो और वीतराग भाव एक मात्र कर्मक्षपणाका ही हेतु है, फिर भले ही वह अविरत सम्यग्दृष्टिका वीतराग परिणाम क्यों न हो । इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर श्री समयसारजीके कलशोंमें कहा भी है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

अर्थ—ज्ञान एक द्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होनेसे ज्ञानके स्वभावसे सदा ज्ञानका भवन बनता है, इसलिए ज्ञान ही मोक्षका कारण है ॥१०६॥

कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होनेसे कर्मके स्वभावसे ज्ञानका भवन नहीं बनता, इसलिए कर्म मोक्षका कारण नहीं है ॥१०७॥

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ३

प्रश्न था कि—

जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नके उत्तरमें आपने पहले पत्रकमें जीवदयाको धर्म न माननेके लिए तीन बातें लिखी थीं—

१. जीव दया पुण्यभाव है, जो कि शुभ परिणामरूप तो है किन्तु धर्म रूप नहीं है ।

२. परमात्मप्रकाशकी ७१वीं गाथाका प्रमाण दिया जिसमें शुभपरिणामको धर्म बतलाया है । परन्तु टीकाकारके 'शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या' अर्थात् 'शुभपरिणामसे धर्म होता है जो कि मुख्यवृत्तिसे पुण्यरूप है । इस वाक्यके आधारसे आपने शुभ परिणामको धर्मरूप होनेकी उपेक्षा कर पुण्यरूप निश्चित कर दिया । ऐसा करते हुए ग्रन्थकार तथा टीकाकार द्वारा शुभ परिणामोंको धर्मरूप बतलाये जानेपर भी आपने उसे पुण्यका आधार लेकर, जीवदयाको आस्रव-बन्ध तत्त्वमें बलात् स्वेच्छासे अधर्ममें डाल दिया । तथा च जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व भी बतला दिया ।

३. समयसारकी २६४वीं गाथाका उद्धरण देकर जीवदयाको अध्यवसान (कषायप्रभावित गलत अभिप्राय—अभिमान आदिके कारण यों मान लेना कि मैंने उसे मरनेसे बचा लिया आदि) रूप बतलाया, तदनुसार जीवदयाको धर्म न मानकर मात्र पुण्यबन्धरूप बतलाया ।

आपके इस उत्तरके निराकरणमें हमने आपको दूसरा पत्रक दिया जिसमें श्री आचार्य कुन्दकुन्द, वीरसेन, अकलंक, देवसेन, स्वामी कार्तिकेय आदि ऋषियोंके प्रणीत प्रामाणिक-आर्षग्रन्थों—धवल, जयधवल, राजवार्तिक, बोधपाहुड, भावपाहुड, भावसंग्रह, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदिके लगभग २० प्रमाण देकर दो बातें सिद्ध की थीं—

१. जीवदया करना धर्म है ।

२. पुण्यभाव धर्मरूप है । पुण्यभाव या शुभभावोंसे संवर निर्जरा तथा पुण्य कर्मबन्ध होता है ।

आर्षग्रन्थोंके श्रद्धालु बन्धु इन ऋषियों तथा उनके ग्रन्थोंकी प्रामाणिकतापर अप्रामाणिकताकी अँगुली नहीं उठा सकते, क्योंकि हमको सैद्धान्तिक एवं धार्मिक पथप्रदर्शन इन ऋषियों तथा इनके आर्षग्रन्थोंसे ही प्राप्त होता है और उसका कारण है कि उनमें निर्विवाद जिनवाणी निबद्ध है । यह तो हो सकता है कि इन आर्षग्रन्थोंकी कोई बात कदाचित् हमारी समझमें न आवे, किन्तु यह बात कदापि नहीं हो सकती कि उन ग्रन्थोंकी कोई भी बात अप्रामाणिक या अमान्य हो ।

तदनुसार आशा थी कि इन ग्रन्थोंके प्रमाण देखकर चरणानुयोग तथा जैनधर्मके मूलाधार दयाभावको धर्मरूप स्वीकार कर लिया जाता, परन्तु आशा फलवती नहीं हुई ।

आपके दूसरे पत्रकमें उन आर्ष प्रमाणोंकी प्रामाणिकताकी उपेक्षा करते हुए उनकी अवहेलनामें निम्न

पंक्तियाँ लिखी गई हैं—'ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं, यदि पूरे जिनागममें-से ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जावे तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाय, पर इन प्रमाणोंके आधारपर क्या पुण्यभावरूप दयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है ?'.....फिर पुनः अप्रासंगिक उद्धरण देकर लिखा गया है—'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्बदर्शन हो, व्रतोंका पालन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।' इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उपर्युक्त महान् आचार्योंका यह कथन कि शुभभावसे संवर व निर्जरा भी होती है....असंभव होनेके कारण मिथ्या है। आश्चर्य है कि कोई भी जिनवाणीका भक्त इन महान् आचार्यों एवं महान् ग्रन्थोंके स्पष्ट कथनको मिथ्यारूप कहनेका साहस कैसे कर सकता है ?

इसके साथ ही मूल विषयको अछूता रखकर विषयान्तरमें प्रवेश किया गया है। उसमें जो समयसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा समयसार कलशके ४–५ प्रमाण उद्धृत किये गये हैं उनमेंसे एक भी प्रमाण, एक भी वाक्य तथा एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसमें जीवदयाको धर्म माननेपर मिथ्यात्वकी संभावना सिद्ध होती है।

आपने अपने इस पत्रकमें केवल रागभावको बन्धका कारण बतलानेकी चेष्टा की है, उस विषयमें हम असहमत नहीं हैं, अतः उक्त दोनों ग्रन्थोंके उद्धरण हमें स्वीकार हैं। कितना अच्छा होता कि आप भी उन आर्ष ग्रन्थोंको प्रमाण मानकर 'धम्मो दयापहाणो'—धर्म दया प्रधान है।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

—बोधपाहुड़

अर्थ—दयासे विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रह रहित दीक्षा—साधु मुद्रा और मोह रहित वीतराग देव ये तीनों भव्य जीवोंके अभ्युदयको करनेवाले हैं।

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है, अतः उसे कर्मजनित कहनेमें विरोध आता है।

—धवल पु० १३ पृ० ३६२

तथा—

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाणं ण सो कुणइ ॥४०४॥

—भावसंग्रह

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका पुण्य संसारका कारण नहीं है, नियमसे मोक्षका कारण है।

आदि निर्विवाद वाक्योंको श्रद्धाभावसे ही यदि स्वीकार कर लेते तो जैनधर्मके मूल तत्त्व पर हमारा और आपका मतभेद दूर हो जाता।

रागभावकी कर्मबन्धकी कारणतापर विचार करनेसे पहले हम एक महत्त्वपूर्ण आर्ष विधानकी ओर पुनः आपका ध्यान आकर्षित करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकते। आशा है आप उस शिरसा मान्य वाक्य पर एकबार पुनः गम्भीरतासे विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

सुहसुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—शुभ और शुद्ध भावों द्वारा यदि कर्मोंका क्षय न हो तो फिर कर्मोंका क्षय किसी तरह हो ही नहीं सकता।

जयधवल पु० १ पृ० ६ के इस मुद्रित अर्थसे भी स्पष्ट हो जाता है कि शुभसे भी कर्मोंका क्षय होता है और शुद्धसे भी। अतः आपका 'शुद्धके साथ शुभ' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है।

हम आशावादी हैं, अतः आशा रखते हैं कि ये पुष्ट प्रमाण दया और पुण्यविषयक आपकी धारणाको परिवर्तित करनेमें सहायक होंगे। आपने रागभावको केन्द्र बना कर पुण्यभावों या शुभभावोंको केवल कर्म-बन्धके साथ बाँधनेका प्रयत्न किया है यह शुभभावोंकी अवान्तर परिणतियों पर दृष्टि न जानेका फल जान पड़ता है। इतनी बात तो अवश्य है कि दशवें गुणस्थान तक रागभाव लघु, लघुतर, लघुतम रूपसे पाया जाता है और यह भी सत्य है कि रागभावसे कर्मोंका आस्रव तथा बन्ध हुआ करता है। तथा च अमृतचन्द्र सूरिने जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयतके मिश्रित भावोंको अपनी प्रज्ञा छैनीसे भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्मके बन्धन और अबन्धनकी सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थके तीन श्लोकोंमें की है उनमें एक अखण्डित मिश्रित भावका विश्लेषण समझानेके लिए प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्ड भाव ही शुभ भाव है, अतः उससे आस्रव बन्ध भी होता है तथा संवर निर्जरा भी होती है। यह मिश्रित शुभ भावकी अखण्डता निम्न प्रकारसे स्पष्ट होती है—

हम जिस प्रकार दाल भात रोटी शाक पानी आदि पदार्थोंका मिश्रित भोजन करते रहते हैं, काली मिर्च, सौंठ, पीपल, हरड़, गिलोय आदि सम्मिलित पदार्थोंको पानीमें मिलाकर आगकी गर्मीसे जिस प्रकार काढ़ा बनाया जाता है जिसका कि मिला हुआ रस होता है, उसमें वात पित्त कफसे उत्पन्न हुए विविध प्रकारके खाँसी ज्वर आदि रोगोंको कम करने, दूर करने तथा शरीरमें बल उत्पन्न करने आदिकी सम्मिलित शक्ति होती है उसी प्रकार मुख द्वारा पहुँचे हुए उस विविध प्रकारके खाये हुए भोजनसे एक ही साथ अनेक तरहके सम्मिलित परिणाम हुआ करते हैं। पेटमें काढ़ेकी तरह रस बनता है उससे खून, मांस, हड्डी आदि धातु-उपधातुओंकी रचना होती है। उसी भोजनसे अनेक प्रकारके रोग भी दूर होते हैं तथा अनेक प्रकार-के छोटे-मोटे नवीन रोग भी उत्पन्न हुआ करते हैं। ठीक ऐसी ही बात कर्मबन्ध और कर्मफलके विषयमें प्रति समय हुआ करती है। इन्द्रियों, शरीर, मन, वचन, कषाय आदिकी सम्मिलित क्रियासे प्रति समय सात कर्मोंका बन्ध हुआ करता है और किसी एक समय आयु कर्म सहित ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंका भी बन्ध हुआ करता है। योगों और कषायोंकी तीव्र, मन्द आदि परिणतिके अनुसार उन कर्म प्रकृतियोंकी स्थिति, अनुभाग आदिमें विविध प्रकारका परिणमन होता है। किसी कर्मप्रकृतिमें तीव्रता आती है, किसीमें मन्दता, किसीमें कर्मप्रदेश कम और किसीमें अधिक आते हैं।

इसी तरहकी सम्मिलित विविधता आठों कर्मोंके उदय कालमें भी हुआ करती है। ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आत्मशक्ति आदि गुणोंका हीनाधिक होना, आकुलता—व्याकुलता होना, चिन्ता, राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि कषायोंकी तरतमता होना आदि विविध प्रकारके फल प्रति समय मिला करते हैं। जिस तरह अनेक प्रकारके खाये हुए सम्मिलित भोजनमें उसके द्वारा होनेवाले सम्मिलित परिणमनमें बुद्धि द्वारा विभाजन किया जाता है कि अमुक पदार्थके कारण अमुक-अमुक शरीरके धातु उपधातु रोग आदिपर अमुक-अमुक तरहका प्रभाव हुआ आदि। इसी तरह सम्मिलित कर्म बन्ध और कर्म उदयके विषयमें भी आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा विभाजन किया जाता है। अतएव कर्मोदयके समय आत्मामें विविध प्रकारका मिश्रित परिणाम

होता रहता है। उस सम्मिलित परिणामके विभाजनको विचारा तो जा सकता है किन्तु किया नहीं जा सकता। जब हम शुभोपयोगके विषयमें विचार करते हैं तब वहाँ भी ऐसा ही मिश्रित फल प्रगट होता हुआ प्रतीत होता है। राग और विराग अंशोंका सम्मिलित रूप शुभोपयोग हुआ करता है जिसको कि अंश विभाजन द्वारा विचारा तो जा सकता है कि इसमें इतना अंश राग परिणामका है और इतना अंश विराग परिणामका है, परन्तु उस मिश्रित परिणामका क्रियात्मक विभाजन नहीं किया जा सकता।

तदनुसार चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थानोंकी शुभ परिणतिमें सम्मिलित सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, चारित्राचारित्रकृत विराग अंश भी होता है और कुछ कषाय नोकषायकृत रागांश भी होता है, तदनुसार उन गुणस्थानोंमें सम्मिलित एक विचित्र प्रकारका परिणाम होता है जैसा कि मिश्र गुणस्थानमें सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व भावसे पृथक् विचित्र प्रकारका मिश्र परिणाम होता है, उस मिश्र गुणस्थानके विचित्र मिश्रित परिणाममें श्रद्धा, अश्रद्धाका क्रियात्मक विभाजन अशक्य होता है। तदनुसार शुभ परिणतिकी मिश्रित अवस्था हुआ करती है जिससे कि कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा ये तीनों कार्य एक साथ हुआ करते हैं।

यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है, अन्य कोई शुद्धोपयोगांश आदि उन गुणस्थानोंमें नहीं होता, क्योंकि एक समयमें एक ही उपयोग होता है और आत्मा उस समय अपने उपयोगसे तन्मय होता है। एक समयमें दो उपयोग साथ साथ नहीं हो सकते हैं। इसके प्रमाणमें श्री प्रवचनसारकी गाथा ८ व ९ देखनेकी कृपा करें—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

अर्थ—जब यह परिणाम स्वभाववाला जीव शुभ-अशुभ या शुद्धभावकरि परिणमता है, तब शुभ-अशुभ या शुद्ध रूप ही होता है।

जिस तरह जलता हुआ दीपक अपने एक ही ज्वलित परिणामसे प्रकाश, अन्धकारनाश, उष्णता, तैलशोष (तेलसुखाना), बत्ती जलाना आदि अनेक कार्य करता है उसी तरह एक समयमें होनेवाले केवल एक शुभ उपयोग परिणाम द्वारा कार्यकारणभावसे कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरारूप तीनों कार्य होते रहते हैं। यही शुभ उपयोगरूप पुण्य आत्माको मुक्तिके निकट लाता है।

पहला गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वके सम्मुख होता है तब शुद्ध परिणामोंके अभावमें भी असंख्यातगुणी निर्जरा, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता ही है। तद्वत् शुभोपयोग रूप पुण्यका प्रत्येक भाव कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा, कर्मबन्धरूप तीनों कार्य प्रतिसमय किया करता है, अतः जीव-दया, दान, पूजा, व्रत आदि कार्य गुणस्थानानुसार संवर, निर्जराके भी निर्विवाद कारण हैं। जिसके कुछ अन्य प्रमाण भी नीचे दिए जाते हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी निम्न गाथा ध्यानमें देनेके योग्य है—

णिज्जियदोसं देवं सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु होदि सद्दिट्ठी ॥३१७॥

अर्थ—जो क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित देव, सर्व जीवोंपर दया करने वाले धर्म और ग्रन्थ—परिग्रह रहित गुरुको मानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

संस्कृत टीकाका अंश भी द्रष्टव्य है—

च पुनः धर्मं वृषं श्रेयः मन्यते श्रद्दधाति। कथंभूतं धर्मम् ? सर्वजीवानां दयापरं सर्वेषां जीवानां प्राणिनां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकानां शरीरिणां मनोवचनकायकृतकारितानुमतप्रकारेण दयापरं कृपोत्कृष्टं धर्मं श्रद्दधाति यः। तथा च धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो। रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥ इति धर्मं मनुते।

इस टीकासे भी दयाको धर्म मानना सिद्ध है।

नियमसार गाथा ६ की टीकामें उद्धृत प्राचीन गाथा द्रष्टव्य है, जिसमें दयाको धर्म कहा गया है—

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जस्स।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो॥

अर्थ—धर्म वही है जिसमें दया है, तप वही है जहाँ विषयोंका निग्रह है और देव वही है जिसमें अठारह दोष नहीं हैं।

दया-दम-त्याग-समाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥१०७॥

—आत्मानुशासन

अर्थ—हे भव्य! तूं प्रयत्न करके सरल भावसे दया, इन्द्रियदमन, दान और ध्यानकी परम्पराके मार्गमें प्रवृत्त हो जा, वह मार्ग निश्चयमे किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचनोंसे अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पसे रहित है।

एकजीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः।
परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव॥३६१॥

—यशस्तिलक उपासकाध्ययन

अर्थ—अकेली जीवदया एक ओर है और शेषकी सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं। शेष क्रियाओंका फल खेतीके समान है और जीवदयाका फल चिन्तामणिके समान है।

उपसम दया य खंती वड्ढइ वेरागदा य जह जह से।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ॥६२॥

—मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा

अर्थ—उपशम, दया, शान्ति और वैराग्य जैसे-जैसे जोवके बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है।

छज्जी वसडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोगेहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं॥१३३॥ —भावपाहुड़

अर्थ—हे मुनिवर! तू मन, वचन, कायसे छः कायके ज़ीवोंकी दया कर, छः अनायतनको छोड़ और अपूर्व महासत्त्व (चेतना भाव) को भाय!

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुता।
ते सव्वदूरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५८॥ —भावपाहुड़

अर्थ—जे मुनि मोह मद, गारव इन करि रहित अर करुणा भाव कर सहित हैं, वे चारित्ररूपी खड्ग करि पापरूपी स्तम्भको हणें हैं।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं वंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारा ॥१९॥ —शीलपाहुड़

अर्थ—जीवदया, इन्द्रियनिका दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शीलके परिवार हैं।

आगे गाथा २० में कहा है—सीलं मोक्खस्स सोपाणं—शील मोक्षके लिए नसैनीके समान है।

जह-जह णिव्वेदसयं वेरागदया पवट्टंति।
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८६४॥

—मूलाराधना

अर्थ—जैसे जैसे निर्वेद, प्रशम, वैराग्य, दया और इन्द्रियोंका दमन बढ़ता है वैसे-वैसे ही पुरुषके पास मोक्ष आता जाता है ॥१८६४॥

जीवदया संयम है और संयम केवल बंधका ही कारण नहीं, किन्तु संवर-निर्जराका भी कारण है, क्योंकि संयम आत्मधर्म है। उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंमें संयम भी एक धर्म है। संयम धर्मके स्वरूपका कथन करते हुए श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः ॥१।९६॥

अर्थात्—जिसका मन जीवदयासे भीग रहा है तथा जो ईर्या-भाषा आदि पांच समितियोंमें प्रवर्तमान है ऐसे साधुके द्वारा जो षट्काय जीवोंकी रक्षा और अपनी इन्द्रियोंका दमन किया जाता है उसे गणधर देवादि महामुनि संयम कहते हैं।

इसी बातको श्री फूलचन्द्रजीने स्वयं इन शब्दोंमें लिखा है—

षट्कायके जीवोंकी भले प्रकारसे रक्षा करना और इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें नहीं प्रवृत्त होने देना संयम है।

—तत्त्वार्थसूत्र पृ० ४१७, वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित।

मिथ्यादृष्टिके जो दया आदिक शुभभाव सांसारिक सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जाते हैं वे मात्र रागरूप होनेसे और इन्द्रियसुखकी इच्छा लिए हुए होनेसे केवल बन्धके ही कारण हैं। ऐसे ही शुभभावोंको श्री प्रवचनसार (प्रथम-अध्याय) आदिक ग्रन्थोंमें हेय बतलाया है। जो शुभभाव सम्यग्दृष्टिके वीतरागता एवं मोक्षप्राप्तिके लिए होते हैं उनसे संवर निर्जरा भी होती है। उन्हींसे सम्बन्धित यह प्रश्न है। उनका कथन प्रवचनसार (तृतीय अध्याय) आदिक ग्रन्थोंमें है। इन्हींको निरतिशय तथा सातिशयके नामसे भी कहा जा सकता है। सम्यग्दृष्टिका दया आदि शुभभाव, कर्मचेतना न मानकर ज्ञानचेतना माना गया है, इसलिए उसे मात्र बन्धका कारण मानना आगमविरुद्ध है।

आपने अन्तमें लिखा है—यदि 'प्रकृतमें दयासे वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है………' आदि। इसके विषयमें हमारा कहना है कि जब आगमके आधार पर सैद्धान्तिक चर्चा होती है तब किसी व्यक्ति विशेषकी मान्यताका प्रश्न नहीं रह जाता। हमारी तो आगमपर ही पूर्ण श्रद्धा है और आगमके उल्लेखोंकी संगति बैठानेका ही प्रयत्न करते हैं यही हमारी मान्यता है। किसी व्यक्ति विशेषकी स्वेच्छानुसार मान्यता या प्रतिपादनके अनुसार अपना पूर्वका आगमानुकूल श्रद्धान बदला नहीं जा सकता है और न बदलना ही चाहिए। आगममें क्या माना गया है यह सिद्ध करनेके लिए आपके समक्ष आर्ष ग्रन्थोंके प्रमाण उपस्थित हैं, उन पर आप विचार करेंगे ऐसी आशा है।

अन्तमें आपने समयसार कलश १०६-१०७ वें श्लोक उद्धृत कर मथितार्थके रूपमें निम्नलिखित शब्द लिखे हैं—'इसलिए ज्ञान ही मोक्षका कारण है।' इसपर हमारा इतना ही संकेत है कि आपने जैसा समझा है वह ठीक नहीं है।

यदि ज्ञानमात्र ही मोक्षका कारण होता तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य मोक्षपाहुड़ ग्रन्थमें यों न लिखते—

धुवसिद्धी तित्थयरा चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥

अर्थ—तीर्थंकरको उसी भवसे अवश्य आत्मसिद्धि (मुक्ति) होती है, तथा वे जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ज्ञान सहित और मुनिदीक्षा लेते ही मनःपर्ययज्ञानसहित चार ज्ञानधारक हो जाते हैं, चार ज्ञानधारक होकर भी वे तपश्चरण करते हैं। (तपस्या करनेके बाद ही तीर्थंकर मुक्त होते हैं।) ऐसा जानकर ज्ञान-सहित व्यक्तिको अवश्य तपस्या करना चाहिए। यानी बिना चारित्रके ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं होती।

तथात्र—

तीर्थंकरा जगज्ज्येष्ठा यद्यपि मोक्षगामिनः।
तथापि पालितञ्चैव चारित्रं मोक्षहेतुकम् ॥

अर्थ—यद्यपि तीर्थंकर जगत्श्रेष्ठ तथा मुक्तिगामी होते हैं तो भी तीर्थंकरोंने मोक्षके कारणभूत चारित्रका पालन अवश्य किया है। सूत्रपाहुड़में श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

अर्थ—जैनधर्ममें वस्त्रधारक (संयमरहित) तीर्थंकर भी क्यों न हों, वह मुक्त नहीं हो सकते। मोक्ष-मार्ग नग्न दिगम्बर रूप है, शेष सभी उन्मार्ग हैं।

मोक्षप्राभृतमें श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं—

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥५७॥

अर्थात्—चारित्रसे रहित ज्ञान सुखकारी नहीं है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १-१।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) मोक्षका मार्ग है। राजवार्तिकमें इसी सूत्रकी टीकामें श्री अकलंकदेवने लिखा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।

अर्थ—चारित्र रहित ज्ञान मोक्षमार्गमें कार्यकारी नहीं है।

इत्यादि अनेक आर्ष प्रमाणों द्वारा आपका यह लिखना कि 'ज्ञान ही मोक्षका कारण है।' अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

इस विषयमें समयसार (अहिंसा मन्दिर, १ दरियागंज, दिल्लीसे प्रकाशित) के पृष्ठ ११८ की टिप्पणी में लिखा है—

एकान्तेन ज्ञानमपि न बन्धनिरोधकं, एकान्तेन क्रियापि न बन्धनिरोधिका इति सिद्धं उभाभ्यामेव मोक्षः।

अर्थ—एकान्तसे न तो मात्र ज्ञान ही कर्म-बन्धका रोकनेवाला है और न केवल चारित्र-क्रिया ही कर्म-बन्धको रोकनेवाली है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान चारित्र दोनोंके द्वारा ही मोक्ष होता है।

इसी विषयको श्री कुन्दकुन्द आचार्यने समयसार की १५५वीं गाथामें कहा है—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥

अर्थ—जीव अजीव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उन तत्त्वोंका जानना ज्ञान है, राग आदि भावोंका परिहार सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है।

इस गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।

अर्थ—मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन तो जीवादिक तत्त्वोंके श्रद्धानस्वभावसे ज्ञानका होना है। जीवादिके ज्ञानस्वभावसे ज्ञानका होना ज्ञान है। राग आदिके परिहार स्वभावसे ज्ञानका होना चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र एक ही ज्ञानरूप होना सिद्ध हुआ। इसलिए ज्ञान ही परमार्थसे मोक्षका कारण है।

श्री अमृतचन्द्र सूरिके इस कथनके अनुरूप ही १०६-१०७ वें कलशका अभिप्राय है। तदनुसार 'ज्ञान मोक्षका कारण है' इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि 'सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र सहित ज्ञान मोक्षका कारण है'—मात्र ज्ञान (जीवादि तत्त्वोंका अधिगम) मोक्षका कारण नहीं है।

इन उपर्युक्त आर्ष प्रमाणों द्वारा स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जीवदया संयमरूप है तथा संवर और निर्जराका कारण होनेसे धर्म है।

आपने व्रतपालनको शुभ भावमें गर्भित करके उससे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव बतलाया है। इस विषयका निर्णय करनेके लिए सर्व प्रथम व्रतोंका स्वरूप देखना आवश्यक हो जाता है। श्री तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय ७ के सूत्र १ में व्रतोंका लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रहसे विरक्ति व्रत है।

उक्त लक्षणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रत विरक्ति अर्थात् निवृत्तिरूप हैं, प्रवृत्तिरूप नहीं हैं। इसी कारण यह सम्यक्चारित्रमें गर्भित हैं। जितनी भी निवृत्ति है वह केवल संवर तथा निर्जराकी ही कारण है, वह कभी भी वन्धका कारण नहीं हो सकती है। अतः व्रतोंका पालन संवर-निर्जराका कारण है। सिद्धान्तमें अणुव्रती एवं महाव्रतीके प्रत्येक समय असंख्यातगुणी निर्जरा बतलाई है। अव्रत सम्यग्दृष्टिके लिये ऐसा नियम नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ व्रत ही असंख्यातगुणी निर्जराके कारण हैं।

दत्तादान ग्रहण करना या सत्य बोलना आदि व्रतोंका लक्षण नहीं है। इनको व्रतोंका लक्षण स्वीकार कर लेने पर अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि दत्तादानको न ग्रहण करनेकी अवस्थामें या मौनस्थ आदि अवस्थामें मुनियोंके, यह लक्षण घटित न होनेके कारण, महाव्रत ही न रहेंगे। किन्तु यह इष्ट नहीं हो सकता है, क्योंकि मुनियोंके हर समय महाव्रत रहते हैं, श्रेणी आदिके गुणस्थानमें स्थित मुनियोंके भी महाव्रत होना स्वीकार किया गया है। १२वें गुणस्थानमें अप्रमाद बतलाते हुए कहा है—

पंच महव्वयाणि पंच समिदीयो तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसाय.भावो च अप्पमादो णाम।
—धवल पु० १४ पृ० ८९

अर्थ—पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायोंके अभावका नाम अप्रमाद है। इससे प्रमाणित होता है कि १२वें गुणस्थानमें भी पंच महाव्रत आदिक होते हैं और वे अप्रमाद-रूप हैं।

यह व्रत सम्यक्चारित्ररूप है। इसके कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्र्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अर्थ—हिंसासे, असत्यभाषणसे, चोरीसे, कुशीलसे और परिग्रहसे सर्वदेश तथा एकदेश त्याग से, वह चारित्र दो प्रकारका होता है।

हिंसानृतचौरेभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥—रत्नकरण्डश्रावकाचार

अर्थ—हिंसा, अनृत, चौर्य, मैथुनसेवन, परिग्रह ये पाप आवनेके प्रनाला हैं, इनसे जो विरक्त होना सो सम्यग्ज्ञानीके चारित्र है।

पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ॥९७॥—रयणसार

अर्थ—पापारम्भसे निवृत्ति तथा पुण्यारम्भमें प्रवृत्ति भी सर्व जीवोंके ज्ञान एवं धर्म्यध्यान हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्यने व्रतोंको ज्ञान एवं धर्मध्यान प्ररूपित किया है तथा चारित्रपाहुड़ गा० २७ में इनको संयम और चारित्र बतलाया है—

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥२७॥

अर्थ—पंचेन्द्रियोंका संवरण, पंच व्रत, पच्चीस क्रिया, पंच समिति तथा तीन गुप्ति मुनियोंके संयम एवं चारित्र हैं।

प्रत्येक जैन आगम अभ्यासीको यह तो सुविदित ही है कि चारित्र, संयम तथा धर्म्यध्यान संवर-निर्जरा एवं मोक्षसिद्धिके कारण हैं। व्रत भी चारित्र, संयम एवं धर्म्यध्यानरूप होनेसे संवर-निर्जरा एवं मोक्षसिद्धिके कारण सिद्ध हो जाते हैं। अतः यह कहना कि व्रतपालनसे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव है—सर्वथा आगमविरुद्ध है।

यह प्रश्न हो सकता है कि कहीं-कहीं आगममें व्रतोंको शुभ आस्रव-बन्धका भी कारण क्यों वतलाया है? उसका समाधान यह है कि उन व्रतोंके साथ दत्तादानका ग्रहण, सत्यभाषण आदिरूप जो रागसहित प्रवृत्ति अंश रहता है और जिसका इन व्रतोंमें त्याग नहीं किया गया है, उससे ही शुभ आस्रव-बन्ध होता है। जैसे कि देव आयुके आस्रवके प्रत्ययोंमें तत्त्वार्थसूत्रमें 'सम्यक्त्वं च' अर्थात् सम्यक्त्वसे भी देव आयुका बन्ध होता है, ऐसा कहा गया है। वास्तवमें सम्यक्त्व बन्धका कारण नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहनेवाला रागांश ही देव आयुके वन्धका कारण है। जैसे एक मिश्रित अखण्ड पर्याय होनेके कारण सम्यक्त्व-को बन्धका कारण कहा जाता है उसी प्रकार एक मिश्रित अखण्ड पर्याय होनेके कारण व्रतोंको भी शुभ बन्धका कारण कहा जाता है।

एक मिश्रित अखण्ड पर्यायमें निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनों अंश सम्मिलित हैं। अतः उससे आस्रव-बन्ध भी है और संवर-निर्जरा भी है। क्रमशः प्रवृत्ति (राग) अंशके क्षीण हो जाने पर मात्र संवर-निर्जरा ही होती है। रागके साथ जो पापोंसे निवृत्ति वनी रहती है, उससे उस समय भी संवर-निर्जरा बराबर होती रहती है।

आगममें जिस-जिस स्थानपर व्रतोंको छोड़नेका उपदेश पाया जाता है, वहाँ सविकल्पसे निर्विकल्प समाधिमें पहुँचानेके लिये व्रतोंमें होनेवाला अध्यवसान या उसके प्रवृत्तिरूप रागांश अथवा व्रतोंके विकल्पको ही छुड़ानेका उपदेश हैं, न कि निवृत्तिरूप स्वयं व्रतोंको छोड़नेका। क्योंकि पापोंसे निवृत्तिरूप व्रतोंके छोड़ने-का अर्थ होगा पापोंमें प्रवृत्ति करना, जो कि कभी इष्ट नहीं हो सकता है। जैसे ऊपर सप्रमाण बतलाया गया है—व्रत तो ऊपरके श्रेणीके गुणस्थान आदिमें भी कायम रहते हैं छोड़े नहीं जाते हैं।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका ३

जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार

जीवदया पदके स्वदया और परदया दोनों अर्थ सम्भव हैं। किन्तु प्रकृतमें मूल प्रश्न परदयाको ध्यानमें रखकर ही है, इस बातको ध्यानमें रखकर हमने प्रथम उत्तरमें यह स्पष्टीकरण किया कि यदि

धर्म पदका अर्थ पुण्यभाव लिया जाय तो जीवदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है। इस उत्तरमें आगम प्रमाण भी इसी अर्थकी पुष्टिमें दिये गये।

अपर पक्षने अपनी प्रथम प्रतिशंकामें एक अपेक्षासे हमारे उक्त कथनको तो स्वीकार कर लिया। किन्तु साथमें आगमके लगभग बीस प्रमाण उपस्थित कर यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि जीवदयाका संवर और निर्जरा तत्त्वमें भी अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह मोक्षका भी कारण है।

अपर पक्षने जो प्रमाण उपस्थित किये उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें धर्मको दयाप्रधान कहा गया है, या करुणाको जीवका स्वभाव कहा गया है या शुभ और शुद्धभावोंसे कर्मोंकी क्षपणा कही गई हैं और साथ ही ऐसे प्रमाण भी उपस्थित किये जिनमें स्पष्टरूपसे रागरूप पुण्यभावकी सूचना है। किन्तु इनमेंसे किस प्रमाणका क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं किया गया। वे कहाँ किस अपेक्षासे लिखे गये हैं यह भी नहीं खोला गया। इसलिए हमें अपने दूसरे उत्तरमें यह टिप्पणी करनेके लिए बाध्य होना पड़ा कि 'ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममेंसे ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जाय तो स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जाय।'

फिर भी उन प्रमाणोंको ध्यानमें रखकर हमने अपने दूसरे उत्तरमें यह स्पष्टीकरण कर दिया कि पुण्य (शुभराग) भावरूप जो दया है वह तो मोक्षका कारण नहीं है। हाँ, इसका अर्थ वीतरागभाव आदि लिया जाय तो वह संवर और निर्जरारूप होनेसे अवश्य ही मोक्षका कारण है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगममें सराग सम्यक्त्वको या सरागचारित्र आदिको जहाँ बन्धका कारण कहा है वहाँ उन्हें परम्परा मोक्षका कारण भी कहा है। पर उसका आशय दूसरा है, इसलिए प्रकृतमें उसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो निर्णय इस बातका करना है कि रागरूप शुभभाव या पुण्यभाव भी क्या उसी तरह मोक्षका कारण है जिस तरह निश्चय रत्नत्रय। इन दोनोंमें कुछ अन्तर है या दोनों एक समान हैं। पूरी चर्चाका केन्द्रबिन्दु भी यही है। हमने अपने प्रथम और दूसरे उत्तरमें इसी आशयको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार

तत्काल प्रतिशंका ३ विचारके लिए प्रस्तुत है। इसके आरम्भमें हमारे प्रथम उत्तरको लक्ष्यमें रखकर तीन निष्कर्ष फलित किये गये हैं। प्रथम उत्तर हमने अन्य जीवोंकी दयाको लक्ष्यमें रखकर दिया था, इसलिए इस अपेक्षासे अपर पक्षने हमारे प्रथम उत्तरका जो यह निष्कर्ष फलित किया है कि 'जीवदया पुण्यभाव है, जो कि शुभ परिणामरूप तो है, किन्तु धर्मरूप नहीं है। वह यथार्थ है, पर जीवोंकी दया पर भाव अर्थात् रागभाव है, इसलिए वह धर्म अर्थात् वीतराग भाव कथमपि नहीं हो सकता।

दूसरा निष्कर्ष हमारे आशयको स्पष्ट नहीं करता। परमात्मप्रकाश गाथा ७१ में भावोंके तीन भेद किये गये हैं—धर्म, अधर्म और शुद्ध। स्पष्ट है कि यहाँ धर्म पद शुद्धभावोंसे भिन्न शुभभावके अर्थमें आया है। इसकी टीकाका भी यही आशय है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि शुभभावसे धर्म अर्थात् मुख्यरूपसे पुण्य होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुभभावसे वीतराग भावरूप धर्म होता है यह उपचार कथन है। किन्तु अपर पक्षने इसका ऐसा अर्थ किया है जिससे भ्रम होना सम्भव है।

तीसरे निष्कर्षके विषयमें मात्र यही खुलासा करना है कि पर जीवोंकी दयाका विकल्प तो सम्यग्दृष्टियों यहाँ तक कि मुनियोंको भी होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो इनके पूजा, भक्ति, व्रतग्रहण

आदि व्यवहार धर्म नहीं बन सकता। हमारी समझसे यह बात अपर पक्षको भी मान्य होगी, अतः अपर पक्षको निःसंकोचरूपसे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि पुण्यबन्धरूप जीवदया सम्यग्दृष्टियोंके भी होती है।

अपर पक्षने अपने प्रतिशंकारूप दूसरे पत्रकमें विविध ग्रन्थोंके अनेक आगमप्रमाण दिये हैं। यह सच है और उनमेंसे कुछमें जीवदया धर्म है तथा शुभभावसे कर्मक्षय होता है यह भी कहा गया है। किन्तु कहाँ किस आगमवाक्यका नयदृष्टिसे क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण करना विवेकियोंका काम है। हमने अपने दूसरे उत्तरमें वही किया है। क्या इसे आर्ष ग्रंथोंकी प्रामाणिकता पर अपर पक्ष द्वारा अप्रामाणिकताकी अंगुली उठाना कहना उपयुक्त है? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। यदि यही बात है तो वह स्वयं अपनेको इस दोषसे बरी नहीं रख सकता। अपर पक्षको यह समझना चाहिए कि किसी आर्षवाक्यको अप्रमाणित घोषित करना अन्य बात है और जहाँ जिस दृष्टिसे विवेचन किया गया है, नयदृष्टिसे उसके आशयको खोलना अन्य बात है।

अपर पक्ष यदि व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म दोनोंको मिलाकर निश्चयधर्म कहना चाहता है और वह हमसे भी ऐसा कहलानेकी यदि आशा रखता है तो उसकी यह आशा कम-से-कम हमारे द्वारा कभी भी पूरी नहीं की जा सकेगी। जब कि जिनागममें ये दो भेद किये हैं और उनके कारणों तथा फलका अलग-अलग विवेचन किया है ऐसी अवस्थामें हम तो वही कहेंगे जिसे स्थान-स्थानपर जिनागममें स्पष्ट किया गया है।

श्री प्रवचनसारमें शुभ, अशुभ और शुद्ध भावका निर्देश करते हुए लिखा है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

परिणामस्वभावाला यह जीव जब शुभ या अशुभरूपसे परिणमता है तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धरूपसे परिणमता है तब शुद्ध होता है ॥९॥

आगे इनमेंसे किसमें उपादानबुद्धि की जाय और किसमें त्यागबुद्धि रखी जाय, इस अभिप्रायसे इनके फलका निर्देश करते हुए लिखा है—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

धर्मसे परिणित स्वभाववाला यह आत्मा यदि शुद्धोपयोगमें युक्त होता है तो मोक्षसुखको प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला होता है तो स्वर्गसुखको प्राप्त करता है ॥११॥

ये आगम प्रमाण है। इनकी प्रामाणिकतापर कोई भी श्रद्धालु बन्धु अप्रामाणिकताकी अंगुली उठानेका साहस नहीं कर सकता। ऐसी अवस्थामें दूसरे जीवोंकी दयारूप शुभभावोंको यदि हमने पुण्यबन्धका कारण लिखा तो आगमकी अवहेलना कहाँ हुई। इस कथन द्वारा तो हमने आगमका रहस्य खोलकर मोक्षमार्ग ही प्रशस्त किया। क्या अपर पक्ष यह चाहता है कि प्रत्येक भव्य जीव परजीवोंकी दयाको मोक्षका कारण जान उसीमें उलझा रहे और आत्मस्वभावके सन्मुख हो सच्चे आत्मकल्याणके मार्गमें न लगे। हम नहीं समझते कि वह ऐसा चाहता होगा। यदि यही बात है तो उस पक्षको प्रवचनसारके उक्त उल्लेखोंके आधारपर शुभ और अशुभभावोंमें अन्तर तो करना ही चाहिए। साथ ही उनके कारणभेद और फलभेदको भी अपने दृष्टिपथमें लेना चाहिए।

अपर पक्षने अपने दूसरे पत्रकमें जो आगम प्रमाण दिये हैं, भला वह पक्ष ही बतलावे कि उनकी उपेक्षा करनेका साहस हम कैसे कर सकते थे। तभी तो हमने जीवदयाके स्वदया और परदया ऐसे दो भेद करके स्वदयाका अन्तर्भाव वीतरागभावमें और परदयाका अन्तर्भाव रागरूप पुण्यभावमें करके अपने दूसरे उत्तरमें उनके फलका भी पृथक्-पृथक् निर्देश कर दिया है। अपर पक्षने सब प्रमाणोंको एक पंक्तिमें रख कर और उनका आशय खोले बिना उन सभी प्रमाणोंसे अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनी चाही है। यह देखकर ही हमें अपने दूसरे उत्तरमें यह लिखना पड़ा है कि 'ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममें-से ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जावे तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाय, पर इन प्रमाणोंके आधारसे क्या पुण्यभावरूप दयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है।'

हमने अपने पिछले उत्तरमें जो यह लिखा है कि 'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिन-बिम्बदर्शन हो, व्रतोंका पालन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है। उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।' वह प्रवचनसार गाथा ११ तथा उसकी दोनों आचार्यों द्वारा रचित संस्कृत टीकाओंको लक्ष्यमें रखकर ही लिखा है। हम आशा करते थे कि अपर पक्ष भी इसी प्रकार प्रत्येक आगम प्रमाणको उपस्थित करते हुए आगमका कौन वचन किस आशयसे लिखा गया है इसे सुस्पष्ट करता जाता। उदाहरणार्थ जयधवलामें कहा है—

सुभ-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

यदि शुभ और शुद्धपरिणामोंसे कर्मोंका क्षय नहीं होता तो कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता।

इसमें शुभ परिणामोंको शुद्ध परिणामोंके समान कर्मक्षयका कारण कहा है। इसलिये ऐसे स्थलपर अपर पक्षको चाहिये था कि वह इस वचनका आशय अन्य आगम वचनके प्रकाशमें अवश्य ही स्पष्ट कर देता तो इससे कौन कथन किस विवक्षासे किया गया है यह सबकी समझमें सुगमतासे आ जाता। प्रकृतमें कमसे कम इसका खुलासा किस प्रकारसे किया जाना इष्ट था इसके लिए प्रवचनसार गाथा ११ की आचार्य जयसेनकृत टीकापर दृष्टिपात कीजिए—

तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं तेन निर्वाणं लभते। निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधि-सामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते।

वहाँ जो शुद्ध संप्रयोग शब्दका वाच्य शुद्धोपयोग स्वरूप वीतराग चारित्र है उससे निर्वाणको प्राप्त करता है। तथा निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोगरूप शक्तिके अभावमें जब शुभोपयोगरूप सरागचारित्र रूपसे परिणमता है तब अनाकुलत्वलक्षण पारमार्थिक सुखसे विपरीत आकुलताके उत्पादक स्वर्गसुखको प्राप्त करता है। पश्चात् परम समाधिरूप सामग्रीके सद्भावमें मोक्षसुखको प्राप्त करता है।

यह आगमप्रमाण है। इस द्वारा शुभ और शुद्ध दोनों प्रकारके भावोंका क्या फल है यह स्पष्ट किया गया है। इस द्वारा हम यह अच्छी तरह जान लेते हैं कि शुभ भावोंको जो श्रीजयधवलामें कर्मक्षयका हेतु कहा है वह किस रूपमें कहा है। वस्तुतः तो वह पुण्यबन्धका ही हेतु है। उसे जो कर्मक्षयका हेतु कहा गया है वह इस अपेक्षासे ही कहा गया है कि उसके अनन्तर जो शुद्धोपयोग होता है वह वस्तुतः कर्मक्षयका

हेतु है, इसलिये उपचारसे उसे भी कर्मक्षयका हेतु कहा गया है। शुभभाव बन्धका कारण है इसका निर्देश करते हुए पंचास्तिकायमें भी कहा है—

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बद्धो पोग्गलकम्मेण विविहेणं ॥१४७॥

यदि आत्मा विकारी वर्तता हुआ उदीर्ण शुभ-अशुभ भावको करता है तो वह उस भावके निमित्तसे नाना प्रकारके पुद्गल कर्मोंसे बद्ध होता है ॥१४७॥

इससे शुभ परिणाम करनेका क्या फल है इसका सहज पता लग जाता है।

यह अपर पक्ष द्वारा अपने द्वितीय पत्रकमें उपस्थित किया गया एक उदाहरण है जिसका यहाँ हमने दो आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें स्पष्टीकरण किया है। अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाणोंके विषयमें भी इसीप्रकार स्पष्टीकरण जान लेना चाहिये। हमारी तो दृष्टि सदा कालसे तत्त्वविमर्शकी रही है और रहेगी। इसका विचार तो अपर पक्षको ही करना है कि कोई भी जिनवाणीका भक्त महान् आचार्य और महान् ग्रन्थोंके नयविशेषसे किये गये कथनको उसी रूपमें ग्रहण न कर उसे सर्वथा रूपमें क्यों स्वीकार करता है ? इसका हमें विशेष आश्चर्य है।

हमने तो जीवदया किस अपेक्षासे शुभभाव है और किस अपेक्षासे वीतराग भाव है, मात्र इसका अपने पिछले उत्तरोंमें खुलासा किया। यदि अपर पक्ष उसे हमारा मूल विषयको छुए बिना विषयान्तरमें प्रवेश करना मानता है तो भले ही मानता रहे, उसकी इच्छा। किन्तु जिसका हमने पिछले उत्तरोंमें निर्देश किया है वह हमारा विषयान्तरमें प्रवेश करना नहीं है, अपि तु मूल प्रश्नका स्पष्टीकरण मात्र है।

जीवदया स्वतन्त्र कोई द्रव्य नहीं है। वह जीवका परिणाम है जो नयविशेषसे शुभ भी हो सकता है और शुद्ध भी। पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा इसीका स्पष्टीकरण किया गया है कि यदि जीवदयाको शुभ परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें होता है और उसे शुद्ध परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वमें होता है। अपर पक्ष इसे निर्विवादरूपमें स्वीकार कर ले यही इस प्रयासका फल है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसारमें लिखा है—

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। तथा जो परिणाम अन्यको लक्ष्यकर नहीं होता है उसे शास्त्रमें दुःखके क्षयका कारण कहा है ॥१८१॥

हमने पिछले उत्तरमें इसी जिनागमको लक्ष्यमें रखकर दूसरे जीवोंकी दयाको पुण्यभाव और स्वदया-को वीतराग भाव कहा है। शुभभावका फल कर्मास्रव है और शुद्धभावका फल कर्मनिरोध है, इसके लिये प्रवचनसार गाथा १५६ तथा २४५ पर दृष्टिपात कीजिए।

दया कहो, करुणा कहो या अनुकम्पा कहो इन तीनोंका आशय एक ही है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रव-चनसारमें जीवोंमें की गई अनुकम्पाको शुभोपयोग बतलाते हुए लिखते हैं—

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ।।१५७।।

जो जिनेन्द्रको जानता है, सिद्धों तथा अनगारोंकी श्रद्धा करता है और जीवोंके प्रति अनुकम्पायुक्त है उसका वह शुभोपयोग है ।।१५७।।

यदि अपर पक्ष कहे कि हम इन सब प्रमाणोंको प्रकृतमें उपयोगी नहीं मानते । हमें तो ऐसा प्रमाण दीजिए जिसमें स्पष्टरूपसे दयाका उल्लेख हो और उसे आस्रव भाव बतलाया गया हो तो इसके लिए तत्त्वार्थ-सारके आस्रव प्रकरणके इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए :—

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा ।
वैयावृत्त्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा ।। २५ ।।
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा ।
भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्वेद्यास्रवहेतवः ।। २६ ।।

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, दम, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिनपूजा, आर्जव, सरागसंयम, संयमासंयम तथा जीवों और व्रतियोंपर अनुकम्पा ये सब सातावेदनीयके आस्रवके हेतु हैं ।। २५–२६ ।।

इस प्रकार उक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि हम प्रथम और द्वितीय उत्तरमें जो कुछ भी लिख आये हैं वह आगमका आशय होनेसे प्रमाण है ।

अपर पक्षने बोधप्राभृतका उद्धरण उपस्थित कर जो धर्मको दयाप्रधान बतलाकर अपने अभिमतकी सिद्धि करनी चाही है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ भी धर्मको दयाप्रधान कहा है वहाँ 'दया' पद मुख्य-तया वीतरागभावका सूचक ही लिया गया है । यह इसीसे स्पष्ट है कि स्वयम्भूस्तोत्रमें अभिनन्दन जिनकी स्तुति करते समय उन्हें दयावधूका आश्रय करनेवाला तथा शान्ति जिनकी स्तुति करते समय उन्हें दयामूर्ति कहा गया है । जिनसहस्रनाम तो स्पष्टतः सर्वज्ञ वीतराग जिनकी स्तुति है । इसमें जिनदेवको दयाध्वज, महाकारुणिक, दयागर्भ, दयायाग और दयानिधि नामों द्वारा सम्बोधित किया गया है । जिनदेवके ये सब नाम अर्थगर्भ अर्थात् गुणनाम हैं । इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'दया' यह शब्द जहाँ जिनागममें शुभ रागरूप पुण्यभावके अर्थमें आता है वहाँ वह वीतरागरूप धर्मके अर्थमें भी आता है । इसलिए बोधप्राभृतके 'धम्मो दयाविसुद्धो' इस उल्लेखके आधार पर 'धर्म' पदका अर्थ मुख्यरूपसे वीतराग भाव ही लेना चाहिए, क्योंकि जिससे रागकी पुष्टि होती हो वह जिनागम ही नहीं हो सकता ।

धवल पुस्तक १३ के 'करुणाए जीवसहावस्स' इत्यादि उल्लेखका भी यही आशय है । तभी तो उसमें करुणाके कर्म जनित होनेका विरोध किया गया है । जो कर्मको निमित्त कर उत्पन्न नहीं होता वह तो मात्र निश्चय रत्नत्रयरूप आत्मपरिणाम ही हो सकता है ।

अपने अभिमतकी पुष्टिमें अपर पक्षने भावसंग्रहकी 'सम्माइट्ठीपुण्णं' इत्यादि गाथा उपस्थित की है । यदि अपर पक्ष इसके अन्तिम चरणपर ध्यान दे तो नयविशेषसे कहे गये इस वचनका अर्थ सहज ही स्पष्ट हो जाय । आगममें व्यवहार रत्नत्रयको व्यवहारसे मोक्षका हेतु बतलाया ही है । इस वचनसे उसी अभिप्राय-की पुष्टि होती है । अथवा सम्यग्दृष्टिका पुण्य दीर्घ संसारका कारण नहीं है, अल्प कालमें ही वह मोक्षका पात्र होगा यह आशय भी इस गाथाका हो सकता है ।

जयधवला पु० १ पृ० ६ के 'सुभ-सुद्धपरिणामेहिं' का क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण इस उत्तरमें हम पहले ही कर आये हैं।

अब तक प्ररूपित समग्र कथनका सार यह है—

१. दया पद आगममें दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है—शुभ भावके अर्थमें भी और वीतरागभावके अर्थमें भी।

२. शुभभाव परभाव होनेके कारण उसका यथार्थमें आस्रव और बन्ध तत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है। जहाँ भी इसे निर्जराका हेतु कहा है वहाँ वैसा कथन व्यवहारनयसे ही किया गया है।

३. वीतरागभाव निजभाव होनेसे उसका अन्तर्भाव संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्वमें ही होता है।

४. वीतरागभाव व्यवहारसे आस्रव और बन्धका कारण है यह व्यवहार वीतरागभाव पर लागू नहीं होता, क्योंकि वह सब प्रकारके व्यवहारको दृष्टिमें गौण कर एकमात्र निश्चयस्वरूप ज्ञायक आत्माके आलम्बनसे तन्मयस्वरूप उत्पन्न होता है। अतः वह स्वरूपसे ही सब प्रकारके व्यवहारसे अतीत है। उस पर किसी प्रकारका उपचार लागू नहीं होता।

अपर पक्ष जिस प्रकार आशावादी है, उसी प्रकार हम भी आशावादी हैं। क्या ही अच्छा हो कि अपर पक्ष रागरूप पुण्यभाव और वीतराग भावमें वास्तविक अन्तरको समझकर 'दया'पदका जहाँ जो अर्थ इष्ट हो उसे उसी रूपमें स्वीकार कर ले और इस प्रकार शुभभाव और वीतरागभावमें एकत्व स्थापित करनेसे अपनेको जुदा रखे।

हमें शुभ भावोंकी अवान्तर परिणतियोंका पूरा ज्ञान हो या न हो। पर हम इतना निश्चयसे जानते हैं कि जो भी शुभभाव उत्पन्न होता है वह कर्म तथा नोकर्मके सम्पर्कके फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है, इसलिए वह कर्मस्वभाववाला होनेसे नियमसे कर्मबन्धका हेतु है वह मोक्षका हेतु त्रिकालमें नहीं हो सकता। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार गाथा १५६ की टीकामें लिखते हैं—

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्।

कितने ही प्राणी परमार्थरूप मोक्षहेतुके सिवाय व्रत, तप आदि शुभकर्म मोक्षके हेतु हैं ऐसा मानते हैं। किन्तु वह सभी निषिद्ध है, क्योंकि वह द्रव्यान्तरस्वभाव है, उसके स्वभावसे ज्ञानका होना नहीं बनता।

इसी अर्थको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए इस कलश पर दृष्टिपात कीजिए—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७ ॥

कर्मस्वभावसे वर्तना ज्ञानका होना नहीं है, इसलिए वह (शुभ भाव) मोक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि वह अन्य (पुद्गल) द्रव्यके स्वभाववाला है ॥ १०७ ॥

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने रागमात्रको बन्धका हेतु मान लिया है। किन्तु इतना स्वीकार करनेके बाद भी उसकी ओरसे जो रागांश और रत्नत्रयांशमें एकत्व स्थापित करनेके लिए युक्ति दी गई है वह सर्वथा अयोग्य है। इस सम्बन्धमें उस पक्षका कहना है—

'तथा च अमृतचन्द्रसूरिने जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयतके मिश्रित भावोंको अपनी प्रज्ञा छैनीसे भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्मके बन्धन और अबन्धनकी सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्धचुपाय ग्रन्थके तीन श्लोकोंमें की है उनमें एक अखण्डित मिश्रित भावका विश्लेषण समझानेके लिए प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्ड भाव ही शुभ भाव है, अतः उससे आस्रव-बन्ध भी होता है तथा संवर-निर्जरा भी होती है।'

अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिके लिये अपर पक्षने भोजन, काढ़ा और कर्मको दृष्टान्त रूपमें उपस्थित किया है। किन्तु उसका यह सब कथन वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेवाला न होनेसे प्रकृतमें ग्राह्य नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—

सर्व प्रथम विचार यह करना है कि आचार्य अमृतचन्द्रने रागांश और रत्नत्रयांशको भिन्न-भिन्न क्यों बतलाया। आचार्य श्री कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

जीव और बन्ध ये दोनों निश्चित अपने-अपने लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छैनीसे इस तरह छेदने चाहिए कि जिस तरह छेदे हुए वे दोनों नाना हो जांय ॥२९४॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आत्मा और बन्धके द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता आत्माके करण सम्बन्धी विचार करनेपर निश्चयतः अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है। उसके द्वारा छिन्न हुए वे दोनों नानापनेको अवश्य ही होते हैं। इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध भिन्न-भिन्न किये जाते हैं।

शंका—आत्मा और बन्ध चेत्य-चेतकभावके कारण अत्यन्त प्रत्यासन्न होनेसे एकीभूत हैं तथा भेदविज्ञानका अभाव होनेके कारण वे एक चेतक ही हों ऐसे व्यवहारको प्राप्त होते हैं, अतः उनका प्रज्ञाके द्वारा छेदना कैसे शक्य है?

समाधान—आत्मा और बन्धके नियत स्वलक्षण हैं, उनकी सूक्ष्म अन्तःसन्धिमें प्रज्ञारूपी छैनीको सावधान होकर पटकनेसे उनको छेदा जा सकता है ऐसा हम जानते हैं।—गाथा २९४ की टीकाके कुछ अंशका अर्थ।

ऐसा करनेका फल (प्रयोजन) क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए गाथा २९५ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आत्मा और बन्धको प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणोंके ज्ञान द्वारा सर्वथा ही छेदना चाहिए। तत्पश्चात् रागादिलक्षणवाले समस्त बन्धको तो छोड़ना चाहिए और उपयोग लक्षणवाले शुद्ध आत्माको ही ग्रहण करना चाहिए। आत्मा और बन्धके द्विधा करनेका वास्तवमें यही प्रयोजन है कि बन्धके त्यागसे शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जाय।

अत्यन्त प्रत्यासन्न दो को भिन्न-भिन्न करनेकी यह रीति है। एकमात्र इसी पद्धतिसे दोको भिन्न-भिन्न जाना जाता है। जो उत्पाद है वही व्यय है ऐसा होनेपर भी लक्षण भेदसे आगममें उन्हें दो बतलाया

है। (आप्तमीमांसा कारिका ५८।) प्रकृतमें आचार्य अमृतचन्द्रने इसी न्यायसे पुरुषार्थसिद्धयुपायमें 'येनांशेन विशुद्धिः' इत्यादि वचन लिखे हैं।

रागका कारण कर्मोपाधिसे संपृक्त होकर परिणमना है और निश्चय रत्नत्रयका कारण ज्ञायक स्वभाव आत्माके आलम्बन द्वारा तन्मय होकर परिणमना है। रागका (शुभाशुभका) लक्षण पराश्रय भाव करना है और रत्नत्रयका लक्षण शुद्ध चैतन्यका स्वाश्रय प्रकाशमात्र है। रागका फल संसारकी परिपाटी है और निश्चय रत्नत्रयका फल शुद्ध आत्माकी प्राप्ति है। इस प्रकार कारणभेद, लक्षणभेद और कार्यभेदसे ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें इन्हें मिश्रित कहकर दोनोंका कार्य आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा मानना संगत नहीं है।

जब कि अपर पक्ष ही उन्हें मिश्रित स्वीकार करता है तो इससे वे दो अंश सुतरां सिद्ध हो जाते हैं। इससे नो वे दोनों अंश मिले हुए सरीखे दीखते हैं, एक नहीं हैं यही सिद्ध होता है। और जब कि वे दोनों एक नहीं हैं, दो हैं तो उनके दो होनेका कारणभेद, कार्यभेद और लक्षणभेद भी अपर पक्षको निर्विवाद रूपमें स्वीकार कर लेना चाहिए। स्पष्ट है कि शुभभावका कार्य निश्चयसे एकमात्र आस्रव और बन्ध है तथा निश्चय रत्नत्रयका कार्य एकमात्र संवर और निर्जरा तथा अन्तमें मोक्ष है यही सिद्ध होता है।

एक बात और है कि रागभाव और रागपर्याय विकारसंपृक्त और विभावभाव होनेसे स्वयं बन्धस्वरूप हैं। ऐसी अवस्थामें वह संवर और निर्जराका हेतु कैसे हो सकता है, अर्थात् त्रिकालमें नहीं हो सकता। संवर और निर्जराका हेतु वही हो सकता है जो स्वयं संवर-निर्जरास्वरूप है। फिर भी अपर पक्ष निश्चयसे रागको यदि संवर और निर्जराका हेतु मानना चाहता है तो उसका यह मानना रागको संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप मानना ही कहा जायगा, क्योंकि आगमका ऐसा अभिप्राय है कि निश्चयसे जो जिसका हेतु होता है वह स्वयं तत्स्वरूप ही होता है। किन्तु जहाँ जितने अंशमें वीतरागता उत्पन्न होती है वह उतने अंशमें रागका अभाव होकर ही उत्पन्न होती है, अतः राग निश्चयसे वीतरागताको त्रिकालमें उत्पन्न नहीं कर सकता ऐसा ही यहाँ निर्णय करना चाहिए। फिर भी आगममें जो रागको निश्चय रत्नत्रयका व्यवहारनयसे हेतु कहा गया है वह सहचर सम्बन्धको देखकर उपचारसे ही कहा गया है। विवक्षित रत्नत्रयके साथ विवक्षित रागांशके रहनेमें कोई हानि नहीं यह ज्ञान कराना ही इसका प्रयोजन है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार कलशमें कहा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

जब तक ज्ञानकी कर्मविरति भलीभाँति पूर्णताको नहीं प्राप्त होती तबतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय भी विहित है, उसमें कोई हानि या विरोध नहीं। किन्तु इस अवस्थामें भी आत्मामें अवशपने जो कर्म उदित होता है वह तो बन्धका हेतु है और परद्रव्य-भावोंसे स्वयं भिन्न जो परम ज्ञान है वह एक ही मोक्षका हेतु है ॥११०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त कथनसे अपर पक्षके इस मतका खण्डन हो जाता है कि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें रागांश और रत्नत्रयांशरूप जो मिश्रित शुभभाव है वह आस्रव और बन्धका भी हेतु है तथा संवर और

निर्जराका भी हेतु है। किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि जो रागांश है वह एकमात्र आस्रव और बन्धका हेतु है और जो रत्नत्रयांश है वह संवर और निर्जराका हेतु है।

यह तो अपर पक्षने भी स्वीकार कर लिया है कि रागांश १०वें गुणस्थानके अन्त तक पाया जाता है ऐसी अवस्थामें वह रागांश और रत्नत्रयांशके मिश्रित रूप शुभभावको छठे गुणस्थान तक ही क्यों स्वीकार करता है, आगे क्यों नहीं स्वीकार करता? यदि वह कहे कि आगे ध्यानकी भूमिका है, इसलिए वहाँ पर लक्ष्यसे बुद्धिपूर्वक रागकी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। अतः वहाँ रागांश एकमात्र बन्धका ही हेतु है। तव तो इससे यही सिद्ध होता है कि अबुद्धिपूर्वक जितना भी रागांश है वह तो मात्र बन्धका कारण है ही। बुद्धिपूर्वक राग भी बन्धका ही कारण है। और इस कथनसे यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि रत्नत्रयांश स्वयं आत्मस्वरूप होनेसे अणुमात्र भी बन्धका हेतु नहीं।

अपर पक्षने अपने विचारोंके समर्थनमें एक भोजनका उदाहरण दिया है और दूसरा काढ़ेका उदाहरण दिया है। किन्तु ये उदाहरण ही इस बातका समर्थन करते हैं कि भोजनमें या काढ़ेमें जिन तत्त्वोंका समावेश होता है उनसे उन्हीं तत्त्वोंकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ काढ़ेमें कफ क्षयकारक द्रव्यका समावेश करने पर ही उस काढ़ेके पान करने पर कफकी हानि होती है, अन्यथा नहीं होती। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक तत्त्व अपना-अपना ही कार्य करता है, अन्यका नहीं। कर्मशास्त्र भी इसी आशयका समर्थन करता है। बारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरणका उदय है। पर उससे मोह या रागपर्यायकी उत्पत्ति त्रिकालमें नहीं हो सकती। कर्मका विपाक किस प्रकार होता है इसका ज्ञान कराते हुए तत्त्वार्थसूत्र अ० ८ सू० २२ में बतलाया है—'स यथानाम।' जिस कर्मका जो नाम है, उसके अनुसार ही उसका फल होता है। इससे सिद्ध है कि जिसका जो कार्य है उससे उसी कार्यकी निष्पत्ति होती है, अन्यके कार्यकी निष्पत्ति होना निकालमें सम्भव नहीं। फिर भले ही वे मिलकर ही क्यों न रहें। किन्तु करेंगे अपना-अपना ही कार्य। इसी प्रकार रागभाव और रत्नत्रयके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

अपर पक्षने चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तकके परिणामको मिश्रगुणस्थानके परिणामके समान बतलाते हुए लिखा है कि 'उन गुणस्थानोंमें सम्मिलित एक विचित्र प्रकारका परिणाम होता है जैसा कि मिश्र गुणस्थानमें सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्वभावसे पृथक् विचित्र प्रकारका परिणाम होता है, उस मिश्र गुणस्थानके विचित्र मिश्रित परिणाममें श्रद्धा-अश्रद्धाका क्रियात्मक विभाजन अशक्य होता है। तदनुसार शुभ परिणतिकी मिश्रित अवस्था हुआ करती है जिससे कि कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा ये तीनों कार्य एकसाथ हुआ करते हैं।' किन्तु अपर पक्षका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इससे पूरी मोक्षमार्गकी व्यवस्था ही गड़बड़ा जाती है। जो कर्मशास्त्रका साधारण जानकार भी होगा वह भी ऐसे विचित्र कथनको त्रिकालमें स्वीकार नहीं करेगा।

यह तो सभी जानते हैं कि तीसरे गुणस्थानमें कारण एक है—सर्वघाति मिश्रप्रकृतिका उदय। तदनुसार उसका कार्य भी एक है—मिश्र परिणाम। इसलिए उसे अशक्यविवेचन कहा है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें कहा भी है—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥

जात्यन्तर सर्वघातिके कार्यस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे जो सम्यक्त्व भी नहीं है, मिथ्यात्व भी नहीं है ऐसा सम्मिश्र परिणाम होता है ॥२१॥

किन्तु यह स्थिति चतुर्थादि गुणस्थानोंमें क्षायोपशमिक भावोंकी नहीं है। वहाँ कारणभेदके अनुसार कार्यभेदका आगममें स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप वेदक सम्यक्त्वको लीजिए। इसे वेदक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय बना रहता है। और सम्यक्त्व इसलिए है, क्योंकि यह मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे होता है। अब विचार कीजिए कि क्या वेदक सम्यक्त्वकी तुलना मिश्र गुणस्थानके मिश्रभावसे की जा सकती है? दोनोंका लक्षण भिन्न है। मिश्र गुणस्थानका मिश्रभाव सर्वघाति प्रकृतिके उदयसे होनेके कारण विभाव भाव है। और वेदक सम्यक्त्व सर्वघाति प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होनेके कारण आत्माका स्वभावभाव है। इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानके विरताविरत परिणामकी स्थिति है। यहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नहीं है इसलिए तो विरत भाव है और प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है, इसलिए अविरतभाव है। तदनुसार इनके कार्य भी पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। विरतभावके कारण यह जीव त्रसहिंसासे विरत रहता है और अविरतभावके कारण स्थावरहिंसाका त्याग नहीं कर पाता। इस प्रकार जब यहाँ कार्यभेद है तो उससे होनेवाले फलमें भी भेद हो जाता है। जितने अंशमें आत्मस्थितिरूप चारित्र प्रगट हुआ है उतने अंशमें इस जीवके संवर-निर्जरा है और जितने अंशमें अविरतिभाव है उतने अंशमें आस्रव-बन्ध है। इसलिए चतुर्थादि गुणस्थानोंके क्षायोपशमिक भावोंकी मिश्र गुणस्थानके मिश्रभावके साथ तुलना करना सर्वथा असंगत है। मिश्र गुणस्थानका मिश्रभाव जहाँ अशक्यविवेचन है, वहाँ चतुर्थादि गुणस्थानोंका क्षायोपशमिकभाव शक्यविवेचन है।

अपर पक्षका कहना है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है। अन्य कोई शुद्धोपयोग आदि उन गुणस्थानोंमें नहीं होता। किन्तु यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें आत्मानुभूति होती ही नहीं यह मानना आगमविरुद्ध है। बृहद्द्रव्यसंग्रहमें गाथा ४७ की टीकामें लिखा है—

तद् द्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति।

उस दोनों प्रकारके मोक्षमार्गको मुनि निर्विकार स्वसंवित्तिस्वरूप परम ध्यानके द्वारा प्राप्त करता है।

यह सम्यक्चारित्रका प्रकरण है, इसलिए यहाँ मुनिको लक्ष्य कर उक्त कथन किया गया है। इससे विदित होता है कि निर्विकार स्वसंवित्तिरूप परम ध्यान मुनिके नियमसे होता है।

इसी आर्षग्रन्थकी ४६वीं गाथामें 'णाणिस्स' पद आया है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकामें लिखा है—

इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति? 'णाणिस्स' निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः।

शंका—उभय क्रियानिरोधलक्षण चारित्र किसके होता है?

समाधान—ज्ञानीके अर्थात् निश्चय रत्नत्रयात्मक अभेद ज्ञानीके होता है।

इन प्रमाणोंसे हम जानते हैं कि सातवें गुणस्थानमें मुनिके शुद्धोपयोग नियमसे होता है, क्योंकि वहाँ पर बाह्य विषयमें शुभाशुभ वचन-काय व्यापाररूप क्रियाव्यापारका तथा भीतर शुभाशुभ मानसिक विकल्परूप क्रियाव्यापारका सर्वथा निरोध होकर यह आत्मा निष्क्रिय नित्य निरंजन विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव द्वारा

अपने आत्मामें तन्मय होकर परिणम जाता है। इसीका नाम परम ध्यान है और इसीका नाम आत्मानुभूति है। ऐसी आत्मानुभूति यदि मुनिके न हो तो वह मुनि कहलानेका पात्र नहीं।

किन्तु ज्ञानी यह संज्ञा तो सम्यग्दृष्टिकी भी है। कोई अपने आत्माको न जाने (न अनुभवे) और रागके परवश हुआ बाह्य विषयोंमें ही इष्टानिष्ट या हेयोपादेय बुद्धि करता रहे तो वह सच्चा ज्ञानी नहीं। ज्ञानीका लक्षण ही यह है कि जो ज्ञान स्वभावरूपसे परिणमता है वह ज्ञानी। और इसके विपरीत जो रागस्वभावरूपसे परिणमता है यह अज्ञानी। ज्ञानी यह सम्यग्दृष्टिकी संज्ञा है और अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० ३२ में कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास इन तीनका निर्देश किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सम्यग्दृष्टिको कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूप-विपर्यास नहीं होता। वह परसे भिन्न आत्मस्वरूपको यथावत् जानता है और परद्रव्य-भावोंसे भिन्न जाननक्रियारूप आत्माका परिणमना इसीका नाम आत्मानुभूति है। स्पष्ट है कि ऐसी आत्मानुभूति सम्यग्दृष्टिके भी होती है जिसे शुभोपयोग कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि शुभोपयोगका विषय परपदार्थ है। आत्मानुभूति उससे भिन्न है। अतएव सिद्ध हुआ कि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें भी शुद्धोपयोग होता है।

अपर पक्ष कहेगा कि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोग होता है इसका आगममें कहाँ निर्देश है? समाधान यह है कि चतुर्थादि गुणास्थानोंमें धर्मध्यान बहुलतासे होता है और आत्मानुभूति दीर्घकाल बाद अल्प होती है, इसलिए इन गुणस्थानोंमें उसका निर्देश नहीं किया। इसी विषयको स्पष्ट करते हुए पण्डित-प्रवर टोडरमलजी अपनी रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें लिखते हैं—

यहाँ प्रश्न—जो ऐसे अनुभव कौन गुणस्थानमें कहे हैं?

ताका समाधान—चौथे ही से होय है, परन्तु चौथे तो बहुत कालके अन्तरालमें होय है और ऊपरके गुणठाने शीघ्र-शीघ्र होय है।

बहुरि प्रश्न—जो अनुभव तो निर्विकल्प है तहाँ ऊपरके और नीचेके गुणस्थाननिमें भेद कहा?

ताका उत्तर—परिणामनकी मग्नता विषै विशेष है। जैसे दोय पुरुष नाम ले हैं अर दो ही का परिणाम नाम विसै है, तहाँ एक कै तो मग्नता विशेष है अर एक के स्तोक है तैसे जानना।

इससे स्पष्ट है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक केवल शुभोपयोग ही होता है ऐसा जानना-समझना मिथ्या है। इतना अवश्य है कि इन गुणस्थानोंमें जो आत्मानुभूति होती है उसे धर्मध्यान ही कहते हैं, शुक्ल-ध्यान नहीं। शुक्लध्यानमें एक मात्र शुद्धोपयोग ही होता है, परन्तु धर्मध्यानमें शुभोपयोग भी होता है और शुद्धोपयोग भी यही इन दोनोंमें विशेषता है।

चतुर्थादि गुणस्थानोंमें शुभोपयोगके कालमें उससे आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा दोनों होते होंगे ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तब आत्मामें जो सम्यग्दर्शनादिरूप विशुद्धि होती है इसके कारण संवर-निर्जरा होती है और शुभोपयोगके कारण आस्रव-बन्ध होता है। तथा जब आत्मानुभूति होती है तब इसके कारण संवर-निर्जरा होती है और अबुद्धिपूर्वक रागके कारण आस्रव-बन्ध होता है। इससे एक कालमें एक ही उपयोग होता है यह व्यवस्था भी बन जाती है और किसका कौन यथार्थ कारण है इसका भी ज्ञान हो जाता है।

अपर पक्षका कहना है कि एक कारणसे अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं। समाधान यह है कि शुभोपयोग संवर-निर्जराका विरोधी है। पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें बतलाया है—

शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः ।

शुभ और अशुभ परिणामका निरोध करना संवर है ।

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १४२ में कहा है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४२॥

जिसका सब द्रव्योंमें राग, द्वेष या मोह परिणाम नहीं है, सुख-दुखमें सम परिणामवाले उस भिक्षुके शुभ और अशुभ कर्मका आस्रव नहीं होता ॥१४२॥

इसलिए शुभोपयोगसे संवर निर्जरारूप कार्य मानना योग्य नहीं है ।

अपर पक्षका कहना है कि 'पहला गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वके सन्मुख होता है तब शुद्ध परिणामोंके अभावमें भी असंख्यातगुणी निर्जरा, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता ही है । तद्वत् शुभोपयोगरूप पुण्यका प्रत्येक भाव कर्मसंवर, कर्म-निर्जरा, कर्मबन्धरूप तीनों कार्य प्रतिसमय किया करता है । अतः जीवदया, दान, पूजा, व्रत आदि कार्य गुणस्थानानुसार संवर, निर्जराके भी निर्विवाद कारण हैं ।'

समाधान यह है कि प्रथम गुणस्थानमें इस जीवके परद्रव्य-भावोंसे भिन्न आत्मस्वभावके सन्मुख होनेपर जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह विशुद्धि ही असंख्यातगुणी निर्जरा आदिका कारण है, परद्रव्य-भावोंमें प्रवृत्त हुआ शुभोपयोग परिणाम नहीं । यह जीव जब कि मिथ्यादृष्टि है, ऐसी अवस्थामें उसके शुद्धोपयोगके समान शुभोपयोग कहना भी उपयुक्त नहीं है । फिर भी वहाँपर जो भी विशेषता देखी जाती है वह आत्मस्वभाव सन्मुख हुए परिणामका ही फल है ।

अपर पक्षने दया धर्म है इसकी पुष्टिमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, उसकी टीका, नियमसार गाथा ६ की टीका, आत्मानुशासन, यशस्तिलक, आचार्य कुन्दकुन्दकृत द्वादशानुप्रेक्षा, भावपाहुड, शीलपाहुड और मूलाराधनाके अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं । किन्तु उन सब प्रमाणोंसे यही प्रख्यापन होता है कि जो निश्चय दया अर्थात् वीतरागपरिणाम है वही आत्माका यथार्थ धर्म है, सराग परिणाम आत्माका यथार्थ धर्म नहीं है, फिर चाहे वह व्रत परिणाम हो, भूतदया हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो । सरागभाव होनेसे वह जीवका निश्चयस्वरूप यथार्थ धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि मोह, राग और द्वेषरूपसे परिणत हुए जीवके नाना प्रकारका बन्ध होता है, इसलिए उनका क्षय करना ही उचित है । प्रवचनसारमें इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए लिखा भी है—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

मोहसे, रागसे और दोषसे परिणत हुए जीवके विविध प्रकारका बन्ध होता है, इसलिए उन्हें उत्तरोत्तर घटाना चाहिए ॥८४॥

अतएव परजीवोंमें किये गये करुणाभाव या दयाभावको धर्म माननेके प्रति ज्ञानी जीवोंकी क्या दृष्टि होनी चाहिए इसके लिए प्रवचनसारके इस वचनपर दृष्टिपात कीजिए—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुव-तिरिएसु ।
विसएसु अ प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥७५॥

पदार्थोंका अयथाग्रहण, तिर्यञ्चों तथा मनुष्योंमें करुणाभाव और विषयोंकी संगति ये मोहके लक्षण हैं ॥ ८५ ॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

पदार्थोंकी अयथातथ्य प्रतिपत्ति द्वारा तथा तिर्यंच और मनुष्यमात्र प्रेक्षायोग्य हैं फिर भी उनमें करुणाबुद्धि द्वारा मोहको, अभीष्ट विषयोंके प्रसंगसे रागको और अनभीष्ट विषयोंमें अप्रीतिसे द्वेषको इस प्रकार इन तीन लिंगोंसे इन तीनोंको जानकर जैसे ही यह तीन प्रकारका मोह उत्पन्न हो वैसे ही उसे नष्ट कर देना चाहिए। संस्कृत-टीकाग्रन्थमें देखिए।

इसी गाथापर टीका करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं—

शुद्ध आत्मादि पदार्थ यथास्वरूप अवस्थित हैं, फिर भी उन्हें विपरीताभिनिवेश वश अयथार्थरूपसे ग्रहण करना तथा मनुष्यों और तिर्यंचोंमें शुद्धात्मोपलब्धिलक्षण परम उपेक्षासंयमके विपरीत करुणाभाव और दयाभाव करना अथवा व्यवहारसे करुणा नहीं करना यह दर्शनमोहका चिन्ह है। निर्विषय सुखके आस्वादसे रहित बहिरात्मा जीवोंका जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंमें प्रकर्षरूपसे संसर्ग होता है उसे देखकर प्रीति और अप्रीतिलक्षण चारित्रमोहसंज्ञावाले राग-द्वेष जाने जाते हैं। विवेकीजन उक्त चिन्हों द्वारा मोह, राग और द्वेषको जान लेते हैं। इसलिए उनका परिज्ञान होनेके अनन्तर ही निर्विकार स्वशुद्धात्मभावना द्वारा राग, द्वेष और मोहका नाश कर देना चाहिए। संस्कृतटीका मूलमें देखिए।

आशय यह है परजीवोंके लक्ष्यसे उत्पन्न हुई दया शुभराग है, उसे आत्माका निश्चयधर्म मानना मिथ्यात्व है और व्यवहारधर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है।

ज्ञानी जीवके कृपा या करुणाभावसे जीवोंमें अनुकम्पा होती है पर वह मनःखेद ही है इसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १३७ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

कञ्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रतिचिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनःखेद इति।

तृषादि दुःखसे पीड़ित प्राणीको देखकर करुणाके कारण उसका प्रतीकार करनेकी इच्छासे आकुलित चित्त होना अज्ञानीकी अनुकम्पा है तथा जन्मार्णवमें निमग्न जगत्के अवलोकनसे किंचित् मनःखेद होना यह सविकल्प भूमिकामें वर्तते हुए ज्ञानीकी अनुकम्पा है।

दया, करुणा, क्षमा, व्रत, संयम, दम, यम, नियम और तप इत्यादि शब्द निश्चय धर्मके अर्थमें भी आगममें प्रयुक्त हुए हैं और व्यवहार धर्मके अर्थमें भी प्रयुक्त हुए हैं। यह विवेकियोंका कर्तव्य है कि कहाँ किस अर्थमें इनका प्रयोग हुआ है इसे जानकर यथार्थका निर्णय करें। दोनोंको मिलाकर एक कहना और मानना उचित नहीं है।

अज्ञानीका शुभ और अशुभभाव बन्धका हेतु है ही। ज्ञानीका भी शुभ भाव पुण्यरूप और अशुभभाव पापरूप होनेसे निश्चयसे एकमात्र बन्ध करानेवाला ही है। पुण्य और पापपदार्थका निर्णय करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १०८ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

शुभपरिणामो जीवस्य तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पुण्यम्। अशुभपरिणामो जीवस्य तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पापम्।

जीवका शुभ परिणाम और तन्निमित्तक पुद्गलोंका कर्मपरिणाम पुण्य है। तथा जीवका अशुभपरिणाम और तन्निमित्तक पुद्गलोंका कर्मपरिणाम पाप है।

अपर पक्षने सम्यग्दृष्टिके शुभभावोंको वीतरागता और मोक्ष प्राप्तिका हेतु कहा है और उसकी पुष्टिमें प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंका नामोल्लेख भी किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'सम्यग्दृष्टिका शुभभाव कर्मचेतना न होकर ज्ञानचेतना माना गया है।' किन्तु यह सब कथनमात्र है, क्योंकि आगममें न तो कहीं शुभभावोंको वीतरागता और मोक्षप्राप्तिका निश्चय हेतु बतलाया है और न कर्मचेतनाका अन्तर्भाव ज्ञानचेतनामें ही किया है। इन दोनोंके लक्षण ही आगममें जुदे-जुदे प्ररूपित किये गये हैं। समयसार गाथा ३८७ आदिकी टीकामें कर्मचेतनाका लक्षण करते हुए लिखा है—

तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना।

उसमें, ज्ञानसे भिन्न अन्य भावोंमें ऐसा चेतना कि 'मैं इसको करता हूँ।' कर्म चेतना है।

इससे स्पष्ट है कि शुभभावोंका ज्ञानचेतनामें कथमपि अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

दया शब्द सरागभाव और वीतरागभाव दोनोंके अर्थमें आगममें प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि अपरपक्ष द्वारा उपस्थित किये गये आगमप्रमाणोंसे भी विदित होता है, मात्र इसी अभिप्रायसे हमने 'यदि प्रकृतमें दयासे वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है' इत्यादि कथन अपने दूसरे उत्तरमें किया था। इस आधारसे अपर पक्षने जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह प्रधानतासे स्वयं उस पक्षको ही ध्यान देने योग्य है, हमारा तो उस ओर ध्यान सदासे रहा है और इसीलिए हम शुद्ध परिणति और शुभपरिणतिको मिलाकर एक नहीं लिख या कह रहे हैं। अपर पक्षको भी इन दोनोंके वास्तविक भेदको स्वीकार कर लेना चाहिए। समग्र आगममें सुमेल बिठलानेका एकमात्र यही मार्ग है।

ज्ञान आत्माका प्रधान गुण है, उस द्वारा अखण्ड आत्माका कथन हुआ है, इसलिए मोक्षप्राभृतके साथ संगति बैठ जाती है। समयसार कलश १०६, १०७ में इसी अर्थमें 'ज्ञान' शब्द आया है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिए। इसका विशेष खुलासा आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारके परिशिष्टमें किया ही है। उस पर दृष्टिपात कीजिए।

मोक्षप्राभृत गाथा ६० में जो तपश्चरण करनेकी प्रेरणा की है वह इच्छानिरोधरूप तपश्चरण करनेके लिए ही कहा गया है। 'इच्छानिरोधस्तपः' यह प्रसिद्ध आगम वचन है 'चारित्र भी 'स्वरूपस्थिति' का दूसरा नाम है—'स्वरूपे चरणं चारित्रम्।' प्रवचनसार गाथा ७, आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका। बाह्य तप या चारित्रको जो तप या चारित्र संज्ञा प्राप्त है वह निश्चयतप और निश्चय चारित्रका सहचर होनेसे ही प्राप्त है। आचार्यने मोक्षप्राभृत गा० ६० में ऐसे ही तपश्चरण करनेकी प्रेरणा की है। मुनिदीक्षा स्वरूपस्थितिका दूसरा नाम है। वह न हो और बाह्य तप करनेका विकल्प और क्रियाकाण्ड मात्र हो तो वह न सच्ची मुनिदीक्षा है और न सच्चा तपश्चरण ही है।

अपर पक्षने आगे सूत्रप्राभृत, मोक्षप्राभृत तथा तत्त्वार्थसूत्र-तत्त्वार्थवार्तिकके जो प्रमाण दिये हैं वे पूर्वोक्त अभिप्रायकी ही पुष्टि करते हैं। तभी तो तत्त्वार्थवार्तिकमें चारित्रका यह लक्षण किया है—

संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम्।

संसारके कारणोंकी निवृत्तिके प्रति उद्यत हुए ज्ञानीके बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाका उपरम होना सम्यक्चारित्र है।

देखिए, इस वचनमें बाह्य अनशनादि और आभ्यन्तर विकल्परूप क्रियाके प्रति उपरमभावको सम्यक्-चारित्र कहा है, इन क्रियाओंको नहीं। इससे स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञानी वही है जो इन क्रियाओंके करनेमात्रसे आत्माका हित न मानकर स्वरूपमें रमणता करनेके लिए प्रयत्नशील रहता है। अन्तस्तत्त्व समझनेके लिए कठिन तो है पर वह हितकारी होनेसे समझने योग्य अवश्य है।

अपर पक्षने अहिंसा मन्दिर दरियागंज १ दिल्लीसे प्रकाशित समयसार पृ० ११८ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया सो वहाँ पर 'क्रिया' शब्द आत्मा और आस्रवोंमें भेदको जानकर आत्मस्वरूप परिणमनेके अर्थमें ही आया है। इसे गाथा ७२ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीकासे समझा जा सकता है। ४७ संख्याक कलश भी इसी अभिप्रायको सूचित करता है।

अपर पक्षने समयसार गाथा १५५ और उसकी टीकाका प्रमाण दिया है, उससे हमारे इसी अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है कि रागादिकी निवृत्तिका नाम ही सच्चा चारित्र है। ज्ञान पदसे सम्यग्दर्शनादि तीनरूप परिणत आत्मा ही लिया गया है इसमें हमें तो विवाद नहीं, अपर पक्ष भी इस विकल्पको छोड़ दे कि समयसार कलश १०६-१०७ में 'ज्ञान' पद अकेले ज्ञानके अर्थमें आया है। यदि वह ऐसा नहीं समझता था तो उसकी ओरसे यह शंका ही उपस्थित नहीं की जानी चाहिए थी, क्योंकि प्रकृत विषयसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ पर अपर पक्षने उक्त प्रमाणोंके आधारसे जो यह फलित किया है कि 'जीवदया संयम तपरूप है तथा संवर और निर्जराका कारण होनेसे धर्म है,' वह ठीक नहीं, क्योंकि एक तो उन प्रमाणों द्वारा दूसरी वस्तु कही गई है, दूसरे जीवदया पदसे वह पक्ष यदि शुभभावको ग्रहण करता है तो न तो वह यथार्थ तप-संयमरूप है और न ही निश्चयधर्मका यथार्थ हेतु है, अतएव उसे यथार्थ धर्म नहीं माना जा सकता। हाँ उसे व्यवहार धर्म माननेमें आगमसे कोई बाधा नहीं आती और इसलिए उसे आगममें निश्चय धर्मका उपचरित हेतु कहा गया है।

अपर पक्षने हमारे एक कथनको गलतरूपमें उपस्थित कर जो आशय लिया है वह ठीक नहीं। दूसरे उत्तरमें हमारा कहना यह है—'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्बदर्शन हो, व्रतोंका पालन करना हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।'

इसके स्थानमें अपर पक्षने हमारे इस कथनको इन शब्दोंमें उपस्थित किया है—

'आपने व्रतपालनको शुभभावमें गर्भित करके उससे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव बतलाया है।'

अपर पक्षको हम बतला देना चाहते हैं कि हमने व्रतपालनको शुभभावमें गर्भित नहीं किया है। किन्तु हमने यह लिखा है 'शुभभाव चाहे वह .. ....व्रतोंका पालन करना हो,.... ...यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा, मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।'

कोई भी निष्पक्ष विचारक यह जान सकता है कि अपर पक्षके उक्त वाक्यमें और हमारे इस कथनमें कितना अन्तर है। अस्तु,

अपर पक्षने यहाँ तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० १ को उपस्थितकर और उस द्वारा प्रतिपादित व्यवहार

चारित्रको निवृत्तिरूपसे सम्यक्चारित्रमें गर्भित कर लिखा है कि 'जितनी भी निवृत्ति है वह केवल संवर तथा निर्जराकी ही कारण है, वह कभी भी बन्धका कारण नहीं हो सकती है। अतः व्रतोंका पालन संवर-निर्जरा है।'

किन्तु अपर पक्ष यह भूल जाता है कि इस सूत्र द्वारा मात्र अशुभसे निवृत्ति कही गई है, शुभ और अशुभ दोनोंसे निवृत्ति नहीं कही गई है। अतः इस सूत्र द्वारा आस्रव तत्त्वका ही निरूपण हुआ है, संवरनिर्जरा या मोक्षतत्त्वका नहीं। हमारे इस कथनकी पुष्टि उस सूत्रकी उत्थानिकासे हो जाती है। सर्वार्थसिद्धिमें इसकी उत्थानिकामें लिखा है—

आस्रवपदार्थो व्याख्यातः। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभः पुण्यस्य' इति तत् सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं कः पुनः शुभः इत्युक्ते इदमुच्यते।

आस्रव पदार्थका व्याख्यान किया। इसके प्रारम्भ कालमें ही कहा है—'शुभः पुण्यस्य।' पर वह सामान्यरूपसे कहा है। उसके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए 'शुभ क्या है' ऐसी पृच्छा होनेपर यह सूत्र कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि इस सूत्र द्वारा आस्रवतत्त्वका ही कथन किया गया है, संवर, निर्जरा और मोक्ष-तत्त्वका नहीं।

तत्त्वार्थसूत्रके उक्त सूत्रमें किस प्रकारकी निवृत्ति कही गई है इसके लिए बृहद्द्रव्यसंग्रहके इस वचन-पर दृष्टिपात कीजिए—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥ ४५ ॥

जो अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति है उसे चारित्र जानो। इसे जिनदेवने व्यवहारनयसे व्रत, समिति और गुप्तिरूप कहा है ॥४५॥

अपर पक्षका कहना है कि 'दत्तादानग्रहण करना या सत्य बोलना आदि व्रतोंका लक्षण नहीं है। इनको व्रतोंका लक्षण स्वीकार कर लेनेपर अव्याप्ति दोष आता है।' किन्तु अपर पक्षका यह लिखना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि इसे स्वीकार कर लेनेपर एक तो बृहद्द्रव्यसंग्रहके उक्त आगम वचनके साथ विरोध आता है। उसमें स्पष्ट शब्दों द्वारा शुभमें प्रवृत्तिको चारित्र घोषित किया गया है। दूसरे, साधुके जबतक आहार आदिके ग्रहणका विकल्प या कषायांश बना हुआ है तब तक व्यवहारसे शुभ प्रवृत्तिका सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। आगेके गुणस्थानोंमें यथायोग्य संज्ञाओंका सद्भाव और छेदोपस्थापना संयम इसी आधारपर स्वीकार किया गया है। इसके लिए नौवें अध्यायमें २२ परीषहोंका प्रकरण द्रष्टव्य है।

धवल पु० १४ पृ० ८९ में जो अप्रमादका लक्षण दिया है, उसका आशय इतना ही है कि पाँच महाव्रत और पाँच समितिरूप विकल्प तो छठवें गुणस्थानमें होता है। आगे छेदोपस्थापना संयम रूपसे इनका सद्भाव स्वीकार किया गया है। उसके भी आगे सूक्ष्मसांपराय संयम और यथाख्यात संयममें इन्हें गर्भित कर लिया है।

इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके ७वें अध्यायके प्रारम्भमें जिन व्रतोंका निर्देश है उनका आस्रव तत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है। यही कारण है कि देवायुके आस्रवोंमें सरागसंयम और संयमासंयमको भी परिगणित किया गया है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ६ सू० २० में लिखा है—

प्राक् शुभपरिणामाः सरागसंयमादयः व्याख्याताः। ते दैवस्यायुष आस्रवहेतवो भवन्तीति संक्षेपः।

पहले शुभपरिणाम सरागसंयमादिक कह आये हैं, वे देवायुके आस्रवके हेतु हैं यह इस सूत्रका संक्षेप है।

अतः तत्त्वार्थसूत्रके उक्त वचनके आधारपर तो अशुभसे निवृत्तिरूप और शुभमें प्रवृत्तिरूप व्रतोंको संवर-निर्जराका कारण कहा नहीं जा सकता। अब रहे पुरुषार्थसिद्धयुपाय, रत्नकरण्डश्रावकाचार, रयणसार और चारित्रप्राभृतके अन्य प्रमाण सो इन प्रमाणोंका भी पूर्वोक्त कथनमें ही अन्तर्भाव होता है। इन सभी प्रमाणों द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्रके साथ होनेवाले व्यवहार सम्यक्चारित्रका ही स्वरूप निर्देश किया गया है।

प्रत्येक जैन आगमाभ्यासीको उक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें यह अच्छी तरह ज्ञात है कि निश्चयस्वरूप चारित्र, संयम तथा धर्मध्यान संवर-निर्जरा एवं मोक्षसिद्धिके कारण हैं। व्यवहार नयसे कहे गये चारित्र, संयम तथा धर्मध्यान नहीं। ये तो स्वयं आस्रव होनेसे बन्धके ही कारण हैं। व्यवहार नयसे कहे गये व्रतोंका व्यवहार चारित्र, संयम और धर्मध्यानमें ही अन्तर्भाव होता है, अतः इनसे संवर-निर्जरा और मोक्षकी निश्चयसे सिद्धि होती है ऐसा कहना सर्वथा आगमविरुद्ध है।

हमें प्रसन्नता है कि रागसहित प्रवृत्त्यंशकी अपेक्षा अपर पक्षने व्रतोंको आस्रव-बन्धका हेतु मान लिया है। किन्तु उस पक्षका यह लिखना कि 'दत्तादानग्रहण, सत्यभाषण आदि रूप जो रागसहित प्रवृत्त्यंश है उसका इन व्रतोंमें ग्रहण नहीं किया गया है' सर्वथा आगमविरुद्ध है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष ऐसा लिखकर व्यवहारमें व्रतरूपसे स्वीकृत पूजा, भक्ति, दान, स्वाध्याय, दया आदि सभी सत्प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मकी उपेक्षा कर देना चाहता है। ये सभी दत्तादान और सत्यभाषणके समान सत्प्रवृत्तियाँ व्रत ही तो हैं। मोक्षमार्गमें निश्चयधर्मके साथ होनेवाली इन सभी सत्प्रवृत्तियोंको आचार्योंने व्यवहारधर्म ही तो कहा है। हम इसी उत्तरमें बृहद्द्रव्यसंग्रहका उद्धरण उपस्थित कर आये हैं, उसमें स्पष्टतया बतलाया है कि जिस प्रकार अशुभरूप हिंसा, असत्य आदिसे निवृत्ति व्यवहार सम्यक्चारित्र है उसी प्रकार अहिंसा, सत्यभाषण आदि शुभमें प्रवृत्ति भी व्यवहार सम्यक्चारित्र है।

अपर पक्षने 'जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या?' यह प्रश्न किया है। साथ ही इसकी पुष्टिमें अनेक आगमप्रमाण देकर यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जीवदया धर्म है और उससे संवर-निर्जरा भी होती है। अब पूछना यह है कि अपर पक्षके मतानुसार यदि जीवदया धर्म है तो सत्यभाषण और दत्तादानादि धर्म क्यों नहीं? क्या जीवदया रागसहित प्रवृत्त्यंश नहीं है? हम यह अच्छी तरह समझ रहे हैं कि अपर पक्ष अशुभसे निवृत्तिको धर्म कह कर उसे संवररूप सिद्ध करनेकी चेष्टामें है, परन्तु इससे उसने जिस अन्यथा प्ररूपणाको जन्म दिया है उससे वह परस्पर विरुद्ध कथनके दोषसे अपनी रक्षा नहीं कर सकता। एक ओर तो जीवदयाको धर्म मानना और दूसरी ओर सत्यभाषण तथा दत्तादानादिको व्रत नहीं मानना यह परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है तो और क्या है? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे।

अपर पक्षका हमारे पक्षके ऊपर यह दोषारोपण है कि हमारा पक्ष व्यवहार धर्मका लोप करने पर तुला हुआ है। किन्तु उसके उक्त आगमविरुद्ध कथनसे जिस अनर्थ परम्पराको जन्म मिलेगा उसे वह पक्ष अभी नहीं समझ रहा है। पक्षव्यामोह इसीका दूसरा नाम है। यदि इसे उल्टी गंगा बहाना कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हम तो अपर पक्षके उक्त कथनसे यह समझे हैं कि हमारा पक्ष व्यवहार धर्मका

लोप करना चाहता है। यह तो उस पक्षका प्रचारमात्र है। वस्तुतः वह पक्ष स्वयं लोकमेंसे पूजा, भक्ति, दान आदि सभी सत्प्रवृत्तियोंका लोप कर देना चाहता है तभी तो वह पक्ष सत्यभाषण आदिको व्रतरूपसे स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं दिखाई देता।

अपर पक्षका कहना है कि 'दत्तादान ग्रहण करना या सत्य बोलना व्रतोंका लक्षण नहीं है, इनको व्रतोंका लक्षण स्वीकार करनेपर अव्याप्ति दोष आता है। कारण कि दत्तादानको न ग्रहण करनेकी अवस्था-में या मौनस्थ आदि अवस्थामें मुनियोंके यह लक्षण घटित न होनेके कारण महाव्रत ही न रहेंगे।'

समाधान यह है कि अभिप्रायमें दत्तादानका ग्रहण या सत्य बोलनेरूप परिणामके बने रहनेके कारण दत्तादानको न ग्रहण करनेकी अवस्थामें या मौनस्थ अवस्थामें भी व्रतोंका लक्षण घटित हो जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोष नहीं आता।

साधुओंके २८ मूलगुण बतलाये हैं। उनमें पाँच समितियाँ भी सम्मिलित हैं। ये पाँचों समितियाँ प्रवृत्तिरूप ही स्वीकार की गई हैं। इसी प्रकार गृहस्थोंके १२ व्रतोंमें अतिथिसंविभाग व्रत भी प्रवृत्तिरूप ही स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार धर्ममें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति ही मुख्यरूपसे ली गई है, क्योंकि अशुभ निवृत्तिका अर्थ ही शुभप्रवृत्ति है। इनको इस प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता जैसा कि अपर पक्षने इनका पृथक् रूपसे विधान किया है। इतने विवेचनके बाद भी यदि अपर पक्ष सत्य-भाषण आदिको व्यवहार व्रतरूपसे स्वीकार नहीं करना चाहता तो इन्हें अव्रत तो कहा जा सकता नहीं और व्रतोंमें इनकी गणना आप करना चाहते नहीं ऐसी अवस्थामें इनकी क्या स्थिति होगी इसका अपर पक्ष स्वयं निर्णय करे।

यहाँ पर अपर पक्षने जिस प्रकार यह स्वीकार कर लिया है कि वास्तवमें सम्यक्त्व बन्धका कारण नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहनेवाला रागांश ही देव आयुके बन्धका कारण है। उसी प्रकार वह यह भी स्वीकार कर लेगा कि शुभ-अशुभकी निवृत्तिरूप निश्चय चारित्रांश या रत्नत्रयांश वास्तवमें बन्धका कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ रहनेवाला रागांश ही वास्तवमें बन्धका कारण है। इसे स्वीकार कर लेने पर उस पक्षने जो यह लिखा है कि 'एक मिश्रित अखण्ड पर्यायमें निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनों अंश सम्मिलित हैं। अतः उससे आस्रव-बंध भी है और संवर निर्जरा भी है।' इसका सुतरां निरास हो जायगा। निश्चय रत्नत्रयांशमें केवल अशुभकी ही निवृत्ति नहीं है, किन्तु शुभकी भी निवृत्ति है। अतः सिद्ध हुआ कि जो निश्चय रत्नत्रयांश है उससे संवर और निर्जरा है और गृहस्थों तथा मुनियोंके उस उस पदके योग्य जो शुभ-अशुभरूप प्रवृत्त्यंश या रागांश है उससे आस्रव और बन्ध हैं।

आगममें अपर पक्षके कथनानुसार व्रतोंके छोड़नेका उपदेश तो कहीं नहीं है। इन व्रतोंके धारण करनेमात्रसे ही मैं मुक्तिका पात्र बनूँगा ऐसे विकल्पके छुड़ानेका उपदेश अवश्य है। जब यह जीव स्वभाव सम्मुख हो निर्विकल्प समाधिका अधिकारी बनता है तब व्रतरूप विकल्प स्वयं विलयमान हो जाते हैं इतना अवश्य है। शुभ-अशुभकी निवृत्तिरूप जो व्रत है वह तो एक मात्र वीतरागभाव है। उसकी संज्ञा कुछ भी रख ली जाय, है वह स्वयं एक मात्र वीतराग भाव ही। सप्तमादि गुणस्थानोंमें यदि व्रतोंका सद्भाव है भी तो एक मात्र इसी रूपमें है।

इस प्रकार किस रूपमें दया आत्मधर्म है और किस रूपमें पुण्यभाव है इसका स्पष्टीकरण किया।

■

प्रथम दौर

: १ :

शंका ४

व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक है या नहीं ?

समाधान

निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चय धर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक नहीं है, क्योंकि निश्चय धर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। श्री नियमसारजी में कहा भी है—

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥
चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छि त्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। जो केवल इन्द्रिय रहित और असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा गया है। तथा चक्षु अचक्षु और अवधि ये तीनों विभाव दर्शन कहे गये हैं, क्योंकि पर्याय दो प्रकारकी है—स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष ॥१३-१४॥

तात्पर्य यह है कि सर्वत्र विभाव पर्याय स्वपरसापेक्ष होती है और स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष होती है।

पुद्गल द्रव्यकी अपेक्षा इसी बातको स्पष्ट करते हुए इसी नियमसारकी गाथा २८ में भी कहा है—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जावो ॥२८॥

अर्थ—अन्य निरपेक्ष जो परिणाम होता है वह स्वभावपर्याय है और स्कन्धरूप जो परिणाम होता है वह विभाव पर्याय है ॥२८॥

यतः निश्चय रत्नत्रय स्वभाव पर्याय है, अतः उसकी उत्पत्तिका साधक व्यवहार धर्म नहीं हो सकता यह उक्त प्रमाणसे स्पष्ट है।

तथापि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सविकल्प दशामें व्यवहार धर्म निश्चय धर्मके साथ रहता है, इसलिये व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक (निमित्त) कहा जाता है।

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ४

व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक है या नहीं ?

प्रतिशंका २

इसका उत्तर आपने यह दिया है—'निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है।'

अपने इस अभिप्रायकी सिद्धिके लिये नियमसारकी गाथा १३ और १४ का प्रमाण उपस्थित किया है, जिसके आधार पर आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि चूँकि स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष हैं और इस तरह निश्चयधर्म जब परनिरपेक्ष सिद्ध होता है तो इसे व्यवहारधर्म सापेक्ष कैसे माना जा सकता है।

आपके उत्तरसे यह मालूम होता है कि सबसे बड़ी चिन्ता आपको यही हैं कि यदि निश्चयधर्मको व्यवहारधर्म सापेक्ष माना जाता है तो फिर निश्चयधर्मको आत्माकी विभाव पर्याय माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म दोनों आत्माके ही धर्म हैं। निश्चयधर्ममें व्यवहारधर्मकी साध्यता मान लेने पर भी परनिरपेक्षताका सद्भाव बना रहनेसे (निश्चय धर्मके समान व्यवहारधर्म भी पर नहीं है, इसलिये) निश्चयधर्मको आत्माकी स्वभावपर्यायताका अभाव नहीं हो सकता।

आगममें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक बतलाया है। जिसके कुछ प्रमाण निम्नलिखित हैं—

निश्चय-व्यवहारयोः साध्य-साधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्—

अर्थ—निश्चय और व्यवहारमें परस्पर साध्य-साधनभाव है, जैसे सोना साध्य है और सुवर्णपाषाण साधन है। पंचास्तिकाय गा० १५९, श्री अमृतचन्द्रजीकृत टीका तथा परमात्मप्रकाश अ० २-१२ टीका।

भिन्नविषयश्रद्धान-ज्ञान-चारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्य-साधनभावस्य रजकशिलातलस्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोषपरिष्वङ्गमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्य-साधनभावाभावाद्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसमाहितस्वरूपे विश्रान्तसकलक्रियाकाण्डाडम्बरनिस्तरंगपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूत्रयन्तः।

—पंचास्तिकाय गा० १७२ अमृतचन्द्रसूरिकृत टीका

अर्थ—जीव पहले भिन्नस्वरूप श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहाररत्नत्रयसे शुद्धता करते हैं—जैसे मलीन वस्त्रको धोबी भिन्न साध्य-साधनभावकर शिलाके ऊपर साबुन आदि सामग्रियोंसे उज्ज्वल करता है, तैसे ही जीव व्यवहार नयका अवलम्बन पाय भिन्न साध्यसाधन भावके द्वारा क्रमसे विशुद्धताको प्राप्त होता है। तदनन्तर निश्चय नयकी मुख्यतासे भिन्न साध्य-साधनभावका अभाव होनेसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप विषैं सावधान होकर अन्तरंग गुप्त अवस्थाको धारण करता है।

श्री जयसेनजीने भी पंचास्तिकाय गा० १०५ की टीकामें लिखा है—

निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतं व्यवहारमोक्षमार्गः।

अर्थ—व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परा करके निश्चय मोक्षमार्गका कारणभूत है।

इसी ग्रन्थकी गाथा १६० तथा १६१ के शीर्षकमें सूरिजीने निम्नप्रकार दिये हैं—

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। तथा व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।

अर्थ—निश्चय मोक्षमार्गका साधनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्गसे साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग।

इसी प्रकार इन्हीं गाथाओंकी टीकामें श्री जयसेनजीने भी स्पष्टरूपसे व्यवहार मोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका साधक बतलाया है।

निश्चयमोक्षमार्गसाधकव्यवहारमोक्षमार्गकथनरूपेण। पृष्ठ २६२

श्री प्रवचनसार गा० २०२ की टीकामें सूरिजीने व्यवहार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारके विषयमें स्पष्ट कहा है कि इनके प्रसादसे जीव शुद्धात्मस्थितिको प्राप्त होता है।

श्री परमात्मप्रकाशजी श्लोक ७ की टीकामें भी व्यवहार पंचाचारको निश्चय पंचाचारका साधक बतलाया है।

अध्याय २ श्लोक की टीका में भी व्यवहार रत्नत्रयको निश्चयरत्नत्रयका साधक बतलाया है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि।

श्रीद्रव्यसंग्रहजीकी टीकाके प्रमाण निम्न प्रकार हैं—

निश्चयरत्नत्रयं तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं। –पृ० ८१

निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरंगसहकारिकारणभूतं पंचपरमेष्ठ्याराधनं च शरणम्।' –पृ० १०२

अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चय-व्यवहारनयसाध्य-साधकभावेन मन्यते........सम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। –पृ० २३

अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेत्? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्य-साधकभावज्ञापनार्थमिति। –पृ० १७६

निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानम्। पृ० २०४

निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परंपरया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गसाधकं परमसाधुभक्तिरूपं। –पृ० २१५

द्वादशविधं तपः। तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं निश्चयतपश्च। –पृ० २२३

आपने अपने उत्तरके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सविकल्प दशामें व्यवहार धर्म निश्चयधर्मके साथ रहता है, इसलिए व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक कहा गया है।' इसके विषयमें हमारा आपसे यह निवेदन है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक किस उद्देश्यसे माना जाता है? कृपया इसका स्पष्टीकरण कीजिये। पदार्थोंमें सहचरभाव तो

बहुतसे विद्यमान रहते हैं फिर भी उनमें एकका दूसरेके साथ साध्य-साधकभाव माना जाना अनिवार्य नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि जिस तरह आप सहचर होनेके कारण व्यवहार धर्मको निश्चयधर्मका साधक कहते हैं उसी तरह सहचर रहनेवाले निश्चयधर्मको क्या आप व्यवहारधर्मका साधक मानते हैं ?

उपरोक्त प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि आगममें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक सहचर होनेके कारण नहीं माना गया है। यदि माना गया हो तो कृपया आप स्पष्ट कीजिये।

■

शंका ४

व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है, या नहीं ?

प्रतिशंका २ का—समाधान

शंका ४ में व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक है या नहीं ? यह पृच्छा की गई थी। इसके उत्तर स्वरूप बतलाया गया था कि उत्पत्तिकी अपेक्षा तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी सर्वदा सर्वत्र एकमात्र स्वभावके आश्रयसे ही उत्पत्ति होती है। नयचक्रमें कहा भी है—

> ववहारदो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो ।
> तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले ॥७७॥

अर्थ—अतः व्यवहारसे बन्ध होता है और स्वभावका आश्रय लेनेसे मोक्ष होता है, इसलिए स्वभावकी आराधनाके कालमें अर्थात् मोक्षमार्गमें व्यवहारको गौण करो ॥७७॥

इस सम्बन्धी प्रतिशंकामें प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रहके विविध प्रमाण उपस्थितकर जो यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक है सो वह कथन असद्भूत व्यवहारकी अपेक्षासे ही किया गया है। यही कारण है कि श्रीजयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकाय गाथा १०५ की टीकामें और द्रव्यसंग्रह पृ० २०४ में व्यवहार रत्नत्रयको परंपरासे निश्चयरत्नत्रयका साधक कहा है। श्री पण्डितप्रवर टोडरमलजी सा० ने मोक्षमार्गप्रकाशकमें इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सम्यग्दृष्टिकै शुभोपयोग भए निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोगकौं शुद्धोपयोगका कारण भी कहिए है। पृ० ३७७ दिल्ली संस्करण

श्री पंचास्तिकाय गाथा १०५ की जयसेनाचार्यकृत टीकामें और बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका पृ० २०४ में जो व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका परम्परासे साधक कहा है सो वह इसी अभिप्रायसे कहा है। वस्तुतः मोक्षमार्ग एक ही है। उसका निरूपण दो प्रकारका है। इसलिए जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहारधर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है और यतः वह सहचर होनेसे निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल है, इसलिए उपचारसे निश्चय मोक्षमार्गका साधक भी कहा है। श्रीपंडितप्रवर टोडरमलजीने खुलासा करते हुए लिखा है—

जहां सांचा मोक्षमार्गकौ मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग

तो है नाहीं, परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है वा सहचारी है ताको उपचार करि मोक्षमार्ग कहिए सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दोय प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानैं है सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय-व्यवहारका स्वरूप तौ परस्पर विरोध लिए है। —मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ३६५-३६६ देहली संस्करण

तात्पर्य यह है कि निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म दोनों ही आत्माके धर्म अर्थात् पर्यायांश हैं। किन्तु निश्चयधर्म आत्माका स्वाश्रित पर्यायांश है और व्यवहार धर्म आत्माका पराश्रित पर्यायांश है। प्राथमिक भूमिकामें ये दोनों मिश्ररूप होते हैं। ऐसी अवस्थामें निश्चयधर्मकी उत्पत्ति व्यवहार धर्मके द्वारा मानने पर आत्माको स्वभाव सन्मुख होनेका प्रसंग ही नहीं आ सकता। अतएव इस सम्बन्धमें जो पूर्वमें स्पष्टीकरण किया है वैसा श्रद्धान और ज्ञान करना ही शास्त्रानुकूल है।

श्री प्रवचनसारमें इन दोनोंमें महान् भेद है इस तथ्यका बहुत सारगर्भित शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। उसे अपनी सूक्ष्मेक्षणिकासे ध्यानमें लेनेपर व्यवहार धर्मको निश्चय धर्मका जो साधक कहा है वह कथन उपचरितमात्र है यह तथ्य अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा है—

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम्॥ ६॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञानप्रधान चारित्रसे, यदि वह (चारित्र) वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही, यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्रके वैभवक्लेशरूप बन्धकी प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षुओंको इष्टफलवाला होनेसे वीतराग चारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है, और अनिष्ट फलवाला होनेसे सराग चारित्र त्यागने योग्य (हेय) है॥ ६॥

■

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ४

हमारा प्रश्न था—

व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक है या नहीं?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नके उत्तरमें आपके पत्रकमें मूल प्रश्नको न छूते हुए स्वभाव और विभाव दर्शनोपयोगपर तथा पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव विभाव पर्यायपर प्रकाश डालकर नियमसारकी तीन गाथाएँ उद्धृत की गई थीं, परन्तु उन प्रमाणोंका मूल विषयसे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

आपके उस पत्रकपर हमने प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रह ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया था कि व्यवहारधर्म (व्यवहार रत्नत्रय) साधन है और निश्चयधर्म (निश्चय रत्नत्रय) साध्य है। परमप्रमाणभूत, मूलसंघके प्रतिष्ठापक श्रीकुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक प्रामाणिक आचार्योंके आर्ष प्रमाण देखकर जिनवाणीका श्रद्धालु तत्त्ववेत्ता नतमस्तक होकर उन्हें स्वीकार कर लेता है, ऐसी ही आशा आपसे भी थी; किन्तु आपने उन प्रमाणोंको स्वीकार नहीं किया और असद्भूत व्यवहारनयकी आड़ लेकर उन्हें टाल दिया है जब कि उक्त कथन असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे नहीं है और न उसकी अपेक्षासे हो ही सकता है। इसके लिये आलापपद्धतिके अन्तमें दिया हुआ अध्यात्म नयोंका प्रकरण द्रष्टव्य है। वहाँ सद्भूत तथा असद्भूत व्यवहारनयका निम्न प्रकार लक्षण दिया है।

व्यवहारो भेदविषयः, एकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।

अर्थ—व्यवहारनय भेद विषयवाला है। एक ही वस्तु जिसका विषय है वह सद्भूतव्यवहारनय है और भिन्न वस्तु जिसका विषय है वह असद्भूतव्यवहारनय है।

इस विवेचनसे आत्माका व्यवहार रत्नत्रय है यह सद्भूतव्यवहारनयका विषय ठहरता है। अपनी पक्षपुष्टिके लिये आपने कोई भी ऐसा आगम प्रमाण उपस्थित नहीं किया जो व्यवहार धर्मको निश्चयधर्मका साधन न मानता हो।

हमारे प्रश्न १२ के उत्तरमें आपने स्पष्टरूपसे स्वीकार कर लिया है कि 'कुगुरु कुधर्म कुशास्त्रकी श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव सुशास्त्र सुगुरुकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।' इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए श्री नियमसारमें निम्न गाथा दी है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥५॥

अर्थ—आप्त, आगम और तत्त्वोंकी श्रद्धासे सम्यक्त्व होता है।

उसकी टीकामें स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

व्यवहारसम्यक्त्वाख्यानमेतत्।

यह व्यवहार सम्यक्त्वके स्वरूपका कथन है।

'सम्यग्दृष्टिके ऐसी श्रद्धा अवश्य होती है और वह ऐसे कथनको शास्त्रोक्त मानता है' आपका यह उत्तर ठीक है, अतः हमने इसे स्वीकार कर लिया है। परन्तु आपने हमारे चौथे प्रश्नके उत्तरमें जो लिखा है वह आपके इस उक्त १२ वें प्रश्नके उत्तरसे विरुद्ध है।

आपने इस चौथे प्रश्नके उत्तरमें लिखा है कि 'व्यवहार धर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है' तथा यह भी कहा है कि 'वह (रागपरिणाम) सहचर होनेसे निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल है।' आपका राग परिणामको निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल लिखना उचित नहीं है। राग परिणाम तो निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल नहीं हो सकता। अतः आपका यह लिखना आगम सम्मत नहीं है, क्योंकि किसी भी आगम ग्रन्थमें मात्र राग परिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं कहा है। यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयके साथ प्रशस्त रागभाव रहता है, परन्तु मोक्षमार्ग मात्र रागभावको नहीं बतलाया गया है। सर्वत्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय या मोक्षमार्ग कहा है। जैसा कि निम्न प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है—

नियमसारकी उल्लिखित ५ वीं गाथामें व्यवहार सम्यक्त्वका लक्षण आप्त, आगम और तत्त्वकी श्रद्धा बतलाया है, रागको नहीं।

श्रीपञ्चास्तिकायमें गाथा १०६ के पश्चात् श्रीजयसेनाचार्यकृत टीकामें भी एक गाथा आई है, जो इस प्रकार है—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दमाणस्स भावदो भावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदि जुत्ते॥

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत पदार्थोंमें रुचिरूप श्रद्धान करते हुए पुरुषको जो मति श्रुत ज्ञान होते हैं उनसे युक्त जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

श्रीजयसेनाचार्य इसकी टीकामें लिखते हैं—

अत्र सूत्रे यद्यपि क्वापि निर्विकल्पसमाधिकाले निर्विकारशुद्धात्मरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं स्पृशति तथापि प्रचुरेण बहिरंगपदार्थरुचिरूपं यद् व्यवहारसम्यक्त्वं तस्यैव तत्र मुख्यता।

अर्थ—इस आगम वाक्यमें यद्यपि कभी निर्विकल्प समाधिकालमें निर्विकार शुद्धात्मरुचिरूप निश्चय सम्यक्त्वका स्पर्श होता है तो भी अधिकतासे बहिरंग पदार्थ रुचिरूप जो व्यवहार सम्यक्त्व रहता है उसीकी यहाँ पर मुख्यता है।

रुचि, प्रतीति, श्रद्धा एकपर्यायवाची शब्द है।

इसी ग्रन्थमें व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया है—

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥१६०॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्योंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, अंग-पूर्वगत ज्ञान और तपश्चरणरूप चारित्र यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इस गाथाका शीर्षक वाक्य श्री अमृतचन्द्र सूरिने निम्न प्रकार दिया है—

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।

अर्थ—आगे निश्चय मोक्षमार्गके साधनरूपसे पहले कहे गये व्यवहार मोक्षमार्गका निर्देश हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरिने टीकामें इसीका विस्तारसे कथन किया है तथा व्यवहार मोक्षमार्गका साधकभाव और निश्चय मोक्षमार्गका साध्यभाव सिद्ध किया है।

द्रव्यसंग्रहकी १३वीं गाथाकी टीका (पृ० ३५) में भी स्पष्ट लिखा है—

अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चय-व्यवहारनय साध्य-साधकभावेन मन्यते .... सम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।

अर्थ—श्री अर्हन्त सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा कहे हुए निश्चय-व्यवहारनयको जो साध्यसाधक भावसे मानता है वह सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।

इसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि जो निश्चयनयको साध्य और व्यवहारनयको साधकभावसे नहीं मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

परमात्मप्रकाशके दूसरे अध्यायकी १४ वीं गाथाकी टीका देखिये—

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः।

अर्थ—वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्यादिका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा व्रतादिका अनुष्ठानरूप व्यवहारमोक्षमार्ग है।

श्री नियमसारमें पूर्वोक्त ५ वीं गाथाके अतिरिक्त ५१ से ५५ तक पाँच गाथाओंमें रत्नत्रयका विस्तृत स्वरूप कथन है—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविज्जियं होदि सण्णाणं ॥५१॥
चल-मलिनमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावे णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ॥५२॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहार-णिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥५४॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

अर्थ—विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, संशय-विमोह-विभ्रम रहित सम्यग्ज्ञान होता है ॥५१॥ चल-मलिन-अगाढ़ रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व होता है। हेय उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ॥५२॥ जिनसूत्र तथा उनका ज्ञापक पुरुष सम्यक्त्वका बहिरंग निमित्त है, और दर्शनमोहके क्षयादिक अन्तरंग हेतु कहे गये हैं ॥५३॥ हे भव्य जीव ! सुन, मोक्षके लिये सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होते हैं, इसलिये व्यवहार तथा निश्चय चारित्रका कथन करता हूँ ॥५४॥ व्यवहारनयके चारित्रमें व्यवहारनयका तपश्चरण होता है और निश्चयनयके चारित्रमें निश्चयनयका तपश्चरण होता है ॥५५॥

इन गाथाओंके टीकाकारने निम्नलिखित टीका द्वारा गाथार्थका विस्तार करते हुए स्पष्ट किया है कि ५५वीं गाथाके उत्तरार्धके अतिरिक्त शेष सब व्यवहाररत्नत्रयके स्वरूपका कथन है। टीका देखिये—

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरम्पराहेतुभूतानां पञ्चपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढवर्जितसमयजनितनिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव। विपरीते हरिहरहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः। संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव। तत्र संशयस्तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति। विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः। विभ्रमो ह्यज्ञानमेव। पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्रम्। इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः। तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्।

अर्थ—भेदोपचार रत्नत्रय भी विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान, आत्मसिद्धिके परम्परा कारणभूत पञ्च परमेष्ठी भगवान्की चल, मलिन एवं अगाढ़ रहित निश्चल भक्ति ही है, जो कि हरि, हर, ब्रह्मादिप्रणीत विपरीत पदार्थसमूहमें अभिनिवेशका अभावरूप है और सम्यग्ज्ञान भी संशय, विमोह, विभ्रमसे रहित ही है। इनमें संशयका रूप यह है कि 'जिन' देव है ? या 'शिव' देव है ? शाक्यादि—बौद्धादि द्वारा कही हुई वस्तुओंमें निश्चय होना विमोह है। विभ्रम अज्ञानता ही है और पापक्रियासे निवृत्तिरूप परिणाम चारित्र है। यह भेदोपचार रत्नत्रयकी परिणति है। इनमें जिनप्रणीत हेयोपादेय तत्त्वका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

आगे चलकर इसी ग्रन्थके चौथे अध्यायमें व्यवहारचारित्रका कथन है, जिसमें पांच पापोंसे निवृत्ति अर्थात् पञ्च व्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तिको व्यवहार चारित्र कहा है। इस अध्यायकी अन्तिम गाथा ७६ द्वारा यह स्पष्ट किया है कि इस अध्यायमें व्यवहार चारित्रका कथन किया है। पञ्च पापोंके त्यागका नाम व्रत बतलाया है, क्रिया करते समय प्रमाद असावधानीका त्याग समिति है और मन, वचन, कायकी क्रियाका निरोध करना गुप्ति है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शनपाहुडमें लिखते हैं—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

अर्थ—जिनेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट छह द्रव्य, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय तथा सप्त तत्त्वोंके स्वरूपका जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥१९॥

श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचारमें लिखते हैं—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अर्थ—सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरुका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह तीन मूढता रहित, आठ अंग सहित और आठ मद रहित होता है।

ऐसे अन्य भी बहुत प्रमाण हैं। इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार रत्नत्रयको मात्र रागरूप कहना अर्थात् 'निश्चय रत्नत्रयके साथ जो राग रहता है उस रागांशका नाम व्यवहार रत्नत्रय है' कहना आगम विरुद्ध है। प्रत्युत 'राग, भेद या विकल्प सहित जो सप्त तत्त्व आदिका श्रद्धान व ज्ञान तथा पापोंसे निवृत्तिरूप चारित्र है वह व्यवहाररत्नत्रय या व्यवहारमोक्षमार्ग है।' इसीको उपचार रत्नत्रय भी कहा जाता है। यह निश्चयरत्नत्रय एवं मोक्षका हेतु है। जिसके कुछ प्रमाण पहले पत्रकमें तथा इसी लेखमें ऊपर दिये हैं। और भी देखिये—

श्री अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थमें निश्चयके साथ व्यवहार रत्नत्रयको मुक्तिका कारण बतलाते हैं—

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार यह पूर्व कथित निश्चय और उपचार-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्माको परमात्मपद प्राप्त कराता है।

पञ्चास्तिकायकी गाथा ७० की टीकामें जयसेनाचार्य लिखते हैं—

निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गचारी......गच्छति......निर्वाणनगरम्।

अर्थ—निश्चय तथा व्यवहार मोक्ष मार्गपर चलनेवाला व्यक्ति मोक्ष नगरको पहुँच जाता है।

निश्चय-व्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं सम्भवति।

—पञ्चास्तिकाय गाथा १०६ जयसेनीया टीका

वीतरागत्वं निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकम् ।

—पञ्चास्तिकाय १७२ गाथा श्री जयसेनाचार्यकृत टीका

अर्थ—वीतरागता, निश्चय तथा व्यवहार नयके साध्यसाधक भावसे परस्पर सापेक्ष होनेपर ही मुक्तिकी सिद्धिके लिये होती है, दोनों नयोंके निरपेक्ष होनेपर वह वीतरागता मुक्तिसिद्धिके लिये नहीं होती ।

श्री पं० दौलतरामजी छहढाला ग्रंथकी तीसरी ढालमें लिखते हैं—

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई ॥२॥

अर्थ—अब व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप सुनो, जो कि निश्चय मोक्षमार्गका कारण है ।

छठवीं ढालके अन्तमें वे निष्कर्ष (ग्रंथका निचोड़) कहते हैं—

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरें ।
अरु धरेंगे ते शिव लहें तिन सुयश-जल जगमल हरें ॥

अर्थ—इस प्रकार जो भाग्यशाली पुरुष निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रयको धारण करते हैं अथवा भविष्यमें धारण करेंगे वे मोक्ष प्राप्त करते हैं और उनका स्वच्छ यशरूपी जल संसारके मैलको दूर करता है ।

यहाँ दोनों ढालोंमें पं० दौलतरामजीने व्यवहाररत्नत्रयको भी निश्चयरत्नत्रयका कारण बतलाते हुए मोक्षका कारण बतलाया है ।

अब प्रसंगवश निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) का स्वरूप दिखलानेके लिये कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य पञ्चास्तिकायमें लिखते हैं—

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥१६२॥

अर्थ—जो (आत्मा) आत्माको आत्मासे अनन्यमय आचरता है, जानता है वह (आत्मा ही) चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है ऐसा निश्चय रत्नत्रय है ।

ये ही कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुडमें लिखते हैं—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्मादिट्ठी हवेइ फुड जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥३१॥

अर्थ—जो आत्मामें रत है वह सम्यग्दृष्टि है, उसे जानना सम्यग्ज्ञान है और उसमें आचरण करना सो सम्यक्चारित्र है ।

अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें एक प्रश्नका उत्तर देते हुए लिखते हैं—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

अर्थ—अपनी आत्माका विनिश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्माका विशेष ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें स्थिरता सम्यक्चारित्र है । इन तीनोंसे बन्ध कैसे हो सकता है ?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अपने द्रव्यसंग्रहमें लिखते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको व्यवहारसे मोक्षका कारण जानो और निश्चयसे सम्यग्दर्शनादि त्रिरूप आत्मा मोक्षका कारण है ॥

परमात्मप्रकाश अध्याय २ दोहक १४ की टीकामें लिखा है—

वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणम् ।
वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वम् ॥

अर्थ—वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण स्वशुद्धात्मानुभूति है और वह वीतराग चारित्रका अविनाभूत है। वह ही निश्चय सम्यक्त्व है।

पं० दौलतराम जी ने भी छहढाला तीसरी ढालमें निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

पर द्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है
आप-रूपको जानपनौं सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आप-रूपमें लीन रहे थिर सम्यक्चारित्र सोई
अब व्यवहार मोक्ख मग सुनिये हेतु नियतको होई ॥२॥

अर्थ—अन्य द्रव्योंसे पृथक् अपनी आत्माकी रुचि होना निश्चय सम्यग्दर्शन है, केवल निज आत्मा को जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और अपने आत्मामें लीन होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। अब व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन करते हैं जो कि निश्चय मोक्षमार्गका कारण है।

उपर्युक्त प्रमाणों और व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रयके स्वरूपपर विचार करनेसे यह स्फुट रूपसे प्रकट हो जाता है कि सहचरताके कारण निश्चय व्यवहार रत्नत्रयमें साध्य-साधकभाव नहीं माना गया है, अपि तु कार्य-कारण भावसे होनेसे माना गया है।

इस प्रकार यह कहना कि 'जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप राग परिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है' आगम संगत नहीं जान पड़ता है, क्योंकि मात्र रागांशका नाम व्यवहार रत्नत्रय नहीं है और न मात्र रागांश निश्चय रत्नत्रयका साधक हो सकता है।

आपसे पहले उत्तरमें निवेदन किया गया था कि 'आप ऐसे प्रमाण देनेकी कृपा करें जहाँ मात्र रागांशको व्यवहाररत्नत्रय कहा गया हो और इस प्रकार सहचरताके कारण साध्य-साधक भाव सिद्ध किया गया हो' किन्तु उनके लिए आपने एक भी प्रमाण नहीं दिया, प्रत्युत पञ्चास्तिकाय गाथा १०५ पर श्री जयसेनाचार्यकृत टीका और बृहद्द्रव्यसंग्रह पृ० २०९ का प्रमाण देकर यही सिद्ध किया है कि व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रयका परम्परासे साधक है।

'व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक है या नहीं?' इस प्रश्नके मूलमें आशय यह था कि आज समाजके अन्दर प्रवचनकी ऐसी धारा चल पड़ी है जिसमें कहा जाता है—"मैं शुद्ध बुद्ध निरञ्जन हूँ, त्रैकालिक

अखण्ड द्रव्य हूँ, बाह्य चारित्रसे आत्माका कल्याण होनेवाला नहीं, प्रत्युत कर्मबन्ध होता है। इसे धारण कर तो यह जीव अनन्त बार ग्रैवेयकमें उत्पन्न हो चुका है।' इसके फलस्वरूप समाजमें व्यवहार धर्म से अरुचि फैलने लगी है। कितने ही त्यागियोंने गृहीत व्रत छोड़ दिये हैं, जनतामें रात्रिभोजन और अभक्ष्यभक्षणकी प्रवृत्ति चल पड़ी है। और साधारण गृहस्थका जो कुलाचार है उसे भी लोग छोड़ रहे हैं। फिर देशव्रत और महाव्रतकी ओर लोगोंकी अभिरुचि जागृत हो यह दूरकी बात रह गई है। लोगोंकी यह मान्यता बनती जाती है कि धर्म तो एक निश्चय धर्म है, व्यवहार धर्म कोई धर्म नहीं है। वह तो मात्र बन्धका कारण है, उसके पालनेसे कुछ लाभ नहीं होता। अनादि कालसे लगे हुए मोहके संस्कारवश जनता तो त्यागके मार्गसे दूर रहती है, उस पर उसे ऐसे उपदेश मिलें कि व्यवहार धर्ममें क्या रखा है? तब तो उसे त्यागकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ हो जायगी। इसी अभिप्रायसे यह प्रश्न था कि "व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें कारण है या नहीं?" पर इस ओर आपका लक्ष्य नहीं गया ऐसा जान पड़ता है।

मोक्षमार्गप्रकाशकके जो अवतरण आपने दिये हैं उनसे यह अभीष्ट सिद्ध नहीं होता कि व्यवहार निश्चयका साधक नहीं है। किन्तु उससे तो यही सिद्ध होता है कि व्यवहार निश्चयका साधक है, क्योंकि वहाँ पर भी व्यवहारको निश्चयका निमित्त कहा गया है। जिनागमका उपदेश नयवादको लिये हुए है और नयवाद पात्रके अनुसार होता है। इसीलिए नयको परार्थ श्रुतज्ञानका भेद माना गया है। श्री अमृतचन्द्र स्वामीने पञ्चास्तिकायकी टीकाके अन्तमें प्राथमिक शिष्योंके विषयमें निम्नांकित पंक्तियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण लिखी हैं—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

अर्थ—जिनकी बुद्धि अनादि कालसे भेदभाव कर वासित हो रही है ऐसे प्राथमिक शिष्य भिन्न साध्यसाधनभावका अवलम्बन लेकर सुखसे ही धर्मतीर्थमें अवतीर्ण हो जाते हैं। धर्मको अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

इसके आगेकी पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं, जिनमें उन्होंने प्राथमिक शिष्य व्यवहार धर्मसे आत्मसाधना करता हुआ निश्चय धर्मको प्राप्त होता है इसका उल्लेख किया है—

तथाहीदं श्रद्धेयमिदमश्रद्धेयमयं श्रद्धातेदं श्रद्धानमिदमश्रद्धानमिदं ज्ञेयमिदमज्ञेयमयं ज्ञातेदं ज्ञानमिदमज्ञानमिदं चरणीयमिदमचरणीयमयं चरितेदं चरणमिति कर्त्तव्याकर्त्तव्यकर्तृकर्मविभागावलोकनोल्लसितपेशलोत्साहाः शनैः शनैर्मोहमल्लमुन्मूलयन्तः कदाचिदज्ञानान्मदप्रमादतन्त्रतया शिथिलितात्माधिकारस्यात्मनो न्याय्यपथप्रवर्तनाय प्रयुक्तप्रचण्डदण्डनीतयः पुनः पुनर्दोषानुसारेण दत्तप्रायश्चित्ताः सन्ततोद्युक्ताः सन्तोऽथ तस्यैवात्मनो भिन्नविषयश्रद्धानज्ञानचारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्यसाधनभावस्य रजकशिलातलस्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोषपरिष्वंगमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्यसाधनभावाभावाद्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहितत्वरूपे विश्रान्तसकलक्रियाकाण्डाडम्बरनिस्तरंगपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूचयन्तः क्रमेण समुपजातसमरसीभावाः परमवीतरागभावमधिगम्य साक्षान्मोक्षमनुभवन्तीति।

अर्थ—'तीर्थ क्या है? सो दिखाते हैं—जिन जीवोंके ऐसे विकल्प होंहि कि यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य है, यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, श्रद्धा करनेवाला पुरुष ऐसा है, यह श्रद्धान है, इसका नाम अश्रद्धान है, यह वस्तु जानने योग्य है, यह नहीं जानने योग्य है, यह स्वरूप ज्ञाताका है, यह ज्ञान है,

यह अज्ञान है, यह आचरने योग्य है, यह वस्तु आचरने योग्य नहीं है, यह आचारमयी भाव है, यह आचरण करनेवाला है, यह चारित्र है. ऐसे अनेक प्रकारके करने न करनेके कर्ता कर्मके भेद उपजते हैं, उन विकल्पोंके होते हुए उन पुरुष तीर्थोंको सुदृष्टिके बढ़ावसे बार-बार उन पूर्वोक्त गुणोंके देखनेसे प्रकट उल्लास लिए उत्साह बढ़े हैं। जैसे द्वितीयाके चन्द्रमाकी कला बढ़ती जाती है तैसें ही ज्ञान दर्शन चारित्ररूप अमृत-चन्द्रमाकी कलाओंका कर्तव्याकर्तव्य भेदोंसे उन जीवोंकी बढ़वारी होती है। फिर उन्हीं जीवोंके शनैः शनैः मोहरूप महामल्लका सत्तासे विनाश होता है। किस ही एक कालमें अज्ञानताके आवेश हैं प्रमादकी आधीनतासे उनही जीवोंके आत्मधर्मकी शिथिलता है, फिर आत्माको न्याय मार्गमें चलानेके लिए आपको दण्ड देते हैं। शास्त्र न्यायसे फिर ये ही जिनमार्गी बारंबार जैसा कुछ रत्नत्रयमें दोष लगा होय उसी प्रकार प्रायश्चित्त करते हैं। फिर निरन्तर उद्यमी रहकर अपनी आत्माको जो आत्मस्वरूपसे भिन्न स्वरूप (भिन्न पदार्थोंको विषय करनेवाला) श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप व्यवहार रत्नत्रयसे शुद्धता करते हैं, जैसे मलीन वस्त्रको धोबी भिन्न साध्य-साधनभाव कर शिलाके ऊपर साबुन आदि सामग्रियोंसे उज्ज्वल करता है। तैसें ही व्यवहारनयका अवलम्ब पाय भिन्न साध्यसाधनभावके द्वारा गुणस्थान चढ़नेकी परिपाटीसे क्रमसे विशुद्धताको प्राप्त होता है। फिर उन ही मोक्षमार्गके साधक जीवोंके निश्चयनयकी मुख्यतासे भेदस्वरूप पर अवलम्बी व्यवहारमयी भिन्न साध्य-साधनका अभाव है, इस कारण अपने दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप विषैं सावधान होकर अन्तरंग गुप्त अवस्थाको धारण करता है। और जो समस्त बहिरंग योगोंसे उत्पन्न है क्रियाकाण्डका आडम्बर तिनसे रहित निरन्तर संकल्प-विकल्पोंसे रहित परम चैतन्य भावोंके द्वारा सुन्दर परिपूर्ण आनन्दवंत भगवान् परम ब्रह्म आत्मामें स्थिरताको करे हैं ऐसे जे पुरुष हैं वे ही निश्चयावलम्बी जीव हैं। व्यवहारनयसे अविरोधी क्रमसे परम समरसीभावके भोक्ता होते हैं।

—पांडे हेमराज कृत हिन्दी टीका पृ० २४७-४८

श्रीकुन्दकुन्द स्वामीकी निम्नलिखित गाथा भी हमें यही पथ प्रदर्शन करती है कि कहाँ किसके लिए कौन नय प्रयोजनवान् है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥—समयसार

अर्थ—जो शुद्ध नय तक पहुँचकर श्रद्धावान् हुए तथा पूर्ण ज्ञान चरित्रवान् हो गये उनको तो शुद्ध नयका उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है। और जो अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा ज्ञान और चारित्रके पूर्णभावको नहीं पहुँच सके तथा साधक अवस्थामें ही ठहरे हुए हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

लोकमें जिनधर्मकी देशना, परस्पर सापेक्ष उभयनयके ही आधीन है, एकनयके आधीन नहीं। जैसा कि कहा है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

—समयसार गाथा १२ की आत्मख्यातिटीक

अर्थ—यदि तुम जैनधर्मका प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो,

क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ—व्यवहार मार्गका नाश हो जायगा और दूसरे निश्चयके बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायगा।

नोट—निश्चयनय और व्यवहारनयके स्वरूपको समझानेके लिए प्रश्न संख्या १, ५, ६, १६ व १७ भी देखिये। इसके साथ इसका परिशिष्ट भी है।

प्रश्न चार का परिशिष्ट

संक्षेपमें इसका अन्तिम फलितार्थ यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और संयमी मुनियोंका जो बाह्य आचार जैन संस्कृतिमें निश्चित किया गया है वह तो व्यवहार धर्म कहलाता है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप आत्माकी विशुद्ध अविकारी-वीतरागता पूर्ण जो स्थिति बनती है उसे निश्चय धर्म कहते हैं।

वीतरागी देव, वीतरागी गुरु और वीतरागताके पोषक आगमके प्रति भक्ति प्रगट करना, इनके प्रति आकृष्ट हो जाना यह सब अविरत सम्यग्दृष्टिका बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शनरूप व्यवहार धर्म कहलाता है और सांसारिक प्रवृत्तियोंके एकदेश त्यागने रूप अणुव्रतोंको धारण करना यह सब श्रावकका बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार चारित्र रूप व्यवहार धर्म तथा उन्हीं सांसारिक प्रवृत्तियोंके सर्वदेश त्यागने रूप महाव्रतोंका धारण करना यह सब संयमी मुनियोंका बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार चारित्र रूप व्यवहार धर्म कहलाता है।

प्राणीका लक्ष्य आत्माको विशुद्ध-निर्विकार-वीतराग और स्वतन्त्र बनानेका जैन संस्कृतिमें निर्धारित किया गया है इसलिये इस प्रकारका निश्चयधर्म प्राणीके सामने साध्यके रूपमें उपस्थित होता है और जब वह प्राणी यथायोग्य प्रकारसे क्रमशः अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनियोंके उपर्युक्त बाह्याचारके रूपमें व्यवहार धर्मको अपनाता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनियोंके बाह्याचार रूप व्यवहारधर्मको द्रव्यलिंग और इनके अन्तरंग आत्मविशुद्धिमय निश्चयधर्मको भावलिंग भी कहते हैं। व्यवहारधर्मका प्रतिपादक चरणानुयोग है और निश्चयधर्मका प्रतिपादक करणानुयोग है। चतुर्थ, पंचम और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव जीवनकी बाह्य स्थितिमें प्रवर्तमान रहते हैं, अतः ऐसे जीवोंका मुख्यतया बाह्य पुरुषार्थ पर लक्ष्य रहना आवश्यक हो जाता है और यही कारण है कि इन जीवोंके व्यवहार धर्मकी मुख्यता तथा निश्चयधर्मकी गौणता स्वभावतः रहती है। सप्तम गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव जीवनकी अन्तरंग स्थितिमें प्रवर्तमान हो जाते हैं, अतः ऐसे जीवोंकी वृत्ति बाह्य पुरुषार्थसे हटकर अन्तरंग पुरुषार्थके उन्मुख हो जाती है। यही कारण है कि सप्तम आदि गुणस्थानोंमें पहुँचे हुए जीवोंके निश्चय धर्मकी प्रधानता तथा व्यवहार धर्मकी गौणता स्वभावतः हो जाती है। इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही आचार्य कुन्दकुन्दने निम्नलिखित गाथाकी रचना की है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥ —समयसार

अर्थ—जो जीव जीवनकी बाह्य स्थितिसे हटकर अन्तरंग स्थितिमें पहुँच गये हैं उन्हें अपने परम (उत्कृष्ट) स्वाश्रित भावके दर्शन होते हैं इस कारण उन जीवोंके शुद्ध (स्वाश्रित) निश्चयधर्मकी प्रमुखता

पायी जाती है। तथा जो अभी अपने जीवनकी बाह्य स्थितिमें ही प्रवर्तमान हैं उन्हें इस हालतमें अपरम भावके ही दर्शन हुआ करते हैं, अतः इन जीवोंके पराश्रित व्यवहार धर्मकी ही प्रमुखता पायी जाती है।

व्यवहार धर्मका सद्भाव निश्चय धर्मके अभावमें भी पाया जाता है और जहाँ निश्चय धर्मका सद्भाव होगा वहाँ व्यवहार धर्मका सद्भाव रहना ही चाहिए। इससे व्यवहार धर्मकी कारणता और निश्चय धर्मकी कार्यतामें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है, क्योंकि आगमका अभिप्राय व्यवहार धर्मको कारण और निश्चय धर्मको उसका कार्य स्वीकार करनेमें यह है कि निश्चय धर्मकी उत्पत्ति और स्थिति व्यवहार धर्मको अंगीकार किये बिना असम्भव है, इसलिये आपका ऐसा सोचना भी गलत है कि निश्चय धर्मको प्राप्त होनेपर व्यवहार धर्मकी प्राप्ति अपने आप हो जाती है। समयसारकी "अपडिक्कमणं दुविहं" इत्यादि २८३ से २८५ वीं गाथाओंकी आत्मख्याति टीकासे स्पष्ट रूपमें यह बात सिद्ध होती है कि व्यवहार धर्म निश्चय धर्मकी उत्पत्ति और स्थितिमें कारण होता है। वह टीका निम्न प्रकार है—

ततः एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्। तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसज्येच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च। यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात्। यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च। यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षात् अकर्तैव स्यात्॥२८३, २८४, २८५॥

अर्थ—इस तरह यह निश्चित हो जाता है कि पर द्रव्य निमित्तकारण है और आत्माके रागादिविकार परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आगममें द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यानमें जो आत्माके राग-द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्तिकी निमित्तता प्रतिपादित की गयी है वह अनर्थक हो जायगी। इसके अनर्थक हो जाने पर एक आत्मामें ही रागादिकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त हो जाने पर आत्मामें रागादिके नित्यकर्तृत्वकी भी प्रसक्ति हो जानेसे मोक्षके अभावका भी प्रसंग उपस्थित हो जायगा, इसलिये आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारोंका निमित्त पर द्रव्य ही ठहरता है। इस तरह यद्यपि आत्मा स्वयं तो रागादिका अकारक ही है तो भी जब तक जीव निमित्तभूत पर द्रव्यका प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण नहीं करेगा तब तक भावरूप रागादि विकारोंका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं हो सकता है। इस तरह तब तक आत्मा रागादिका कर्ता ही बना रहता है और जब निमित्तभूत पर द्रव्यका प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान जीव करता है तभी वह उसके निमित्तसे होनेवाले रागादिका भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है। इस प्रकार जब रागादि विकारोंका भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जाता है तब आत्मा रागादिका साक्षात् अकर्ता हो जाता है। २८३, २८४, २८५॥

इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि आत्माकी परिणतिमें जो क्रोधादिरूपता पायी जाती है उसका कारण क्रोधादि द्रव्यकर्मोंका उदय ही होता है। आत्मामें क्रोधादि विकारोंकी उत्पत्ति स्वतः अपने आप नहीं हो जाती है। पण्डित दौलतरामजीने छहढालाकी तीसरी ढालमें व्यवहार धर्मकी निश्चय धर्ममें कारणताका स्पष्ट उल्लेख किया है—

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो ववहारो।

इसी प्रकार स्वामी समन्तभद्रने भी लिखा है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥८३॥

—स्वयंभूस्तोत्र

अर्थ—हे भगवन्! आपने आध्यात्मिक (निश्चय) तपकी वृद्धिके लिये बाह्य (व्यवहार) तपका कठोरताके साथ आचरण किया था।

नोट—व्यवहारनय और निश्चयनयके स्वरूपको समझनेके लिये अन्य प्रश्नोंपर भी दृष्टि डालिये।

■

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ४

व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. उपसंहार

हमने अपने प्रथम उत्तरमें लिखा है कि निश्चय रत्नत्रय स्वभावभाव है, इसलिये निश्चयसे व्यवहार धर्म उसका साधक नहीं है। तथापि सहचर सम्बन्धके कारण व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक (निमित्त) कहा जाता है।

अपर पक्षने इसपर शंका करते हुए अपने दूसरे पत्रकमें कुछ आगम प्रमाण देकर व्यवहार धर्म निश्चयधर्मका साधक है यह सिद्ध किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि व्यवहार धर्मको निश्चयधर्मका साधक मान लेनेपर भी निश्चयधर्म परनिरपेक्ष बना रह सकता है।

इसका उत्तर देते हुए हमने अपने दूसरे उत्तरमें लिखा कि व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका असद्भूत व्यवहार नयसे साधक बतलाया है। साथ ही व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका सहचर होनेसे अनुकूल है, इसलिए इसमें निश्चय मोक्षमार्गके साधकपनेका व्यवहार किया है यह भी बतलाया है।

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विवेचन

तत्काल प्रतिशंका ३ के आधारसे तृतीय पत्रक पर विचार करना है। इसके प्रारम्भमें अपर पक्षने यह संकेत किया है कि हमने प्रथम उत्तरमें नियमसारकी जो तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं उनका प्रकृत विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु बात ऐसी नहीं है। उन गाथाओं द्वारा हमारा यह दिखलाना ही प्रयोजन था कि निश्चय मोक्षमार्ग निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा है वह आत्मस्वभावके अवलम्बन करनेसे ही उत्पन्न होता है। अतः व्यवहार धर्मको उसका साधक व्यवहारनयसे ही माना जा सकता है। यह परमार्थ कथन नहीं है, निमित्तका ज्ञान कराना मात्र इसका प्रयोजन है।

अपने दूसरे पत्रकमें अपर पक्षने प्रवचनसार आदि अनेक ग्रन्थोंके प्रमाण दिये हैं इसमें सन्देह नहीं किन्तु किस नयसे उन शास्त्रोंमें वे प्रमाण उल्लिखित किये गये हैं और उनका आशय क्या है इस विषयमें अपर पक्षने एक शब्द भी नहीं लिखा है। हमारी दृष्टि तो नयदृष्टिसे उनका आशय स्पष्ट करनेकी है, जब कि अपर पक्ष उस स्पष्टीकरणको उपेक्षाकी दृष्टि देखकर उसकी अवहेलना करता है। क्या इसे ही परम प्रमाणभूत, मूलसंघके प्रतिष्ठापक श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक प्रामाणिक आचार्योंके आर्ष वाक्योंको परम श्रद्धालु और तत्त्ववेत्ता बनकर स्वीकार करना कहा जाय इसका अपर पक्षको ही निर्णय करना है। पूरे जिनागमको दृष्टिमें रखकर उसके हार्दको ग्रहण कर अपने कल्याणके मार्गमें लगा जाय यह हमारी दृष्टि है और इसी दृष्टिसे प्रत्येक उत्तरमें हम यथार्थका निर्णय करनेका प्रयत्न करते आ रहे हैं। अपर पक्ष भी इस मार्गको स्वीकार कर ले ऐसा मानस है। स्व-परके कल्याणका यदि कोई मार्ग है तो एकमात्र यही है।

हमने अपने दूसरे उत्तरमें व्यवहार धर्मको असद्भूत व्यवहार नयसे निश्चय धर्मका साधक लिखकर उन प्रमाणोंको टालनेका प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु उनके हार्दको ही स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। व्यवहारधर्म आत्माका धर्म किस नयकी अपेक्षा कहा गया है इसका स्पष्टीकरण करते हुए बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ में बतलाया है—

तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण।

उसमें बाह्यमें जो पाँचों इन्द्रियोंके विषय आदिका त्याग है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे चारित्र है।

यह आगम प्रमाण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ही व्यवहार धर्म चारित्र या धर्म संज्ञाको धारण करता है। वह वास्तवमें आत्माका धर्म नहीं है। ऐसी अवस्थामें उसे निश्चय धर्मका साधक उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे ही तो माना जा सकता है। निश्चय धर्म केवल हो और व्यवहार धर्म न हो ऐसा नहीं है। ये चतुर्थादि गुणस्थानोंमें युगपत् वर्तते हैं ऐसा एकान्त नियम है। परस्पर अविनाभावी हैं। इसीसे आगममें व्यवहार धर्मको निश्चय धर्मका साधन (निमित्त) कहा गया है ऐसी जिसकी श्रद्धा होती है उसके निश्चय धर्मके साथ व्यवहार धर्म होता ही है। किन्तु इसके विपरीत जिसकी यह श्रद्धा बनी हुई है कि व्यवहार धर्मको अंगीकार करना मेरा परम कर्तव्य है, मात्र उसके पालन करनेसे आत्मधर्मकी उत्पत्ति हो जायगी और ऐसी श्रद्धावश ज्ञायकस्वभाव स्वरूप यथार्थ साधन आत्माके अवलम्बनकी ओर दृष्टिपात नहीं करता वह त्रिकालमें निश्चयधर्मका अधिकारी बननेका

पात्र नहीं होता। इससे यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है कि मोक्षमार्गकी प्राप्तिका यथार्थ साधन तो निर्विकार चिद्‌घनस्वरूप आत्माका अवलम्बन ही है। वही मेरा परम कर्तव्य है, उसका अवलम्बन लेनेपर निश्चय मोक्षमार्गकी उत्पत्तिमें व्यवहार धर्म निमित्तमात्र है, निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्तिका निश्चय साधन नहीं। पंचास्तिकाय आदि परमागममें इसी रहस्यको स्पष्ट किया गया है और इसीलिए ही पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनाको उभयनयायत्त कहा गया है। पंचास्तिकाय गाथा १५९ की अमृतचन्द्रसूरि रचित टीका।

निश्चयधर्मकी प्राप्ति तभी निरपेक्ष समझमें आती है जब कि अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्माकी प्राप्ति आत्मामें अभेदरत्नत्रयके परम साधनभूत आत्मासे स्वीकार की जाय और इसके वितरीत व्यवहारधर्मसे उसकी उत्पत्ति यथार्थमें मानी जाय तो वह निरपेक्षता कैसी ? वह तो निरपेक्षताका उपहासमात्र है। यही कारण है कि आगममें उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनयसे ही व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधन कहा है।

अपर पक्षने आलापपद्धतिका उद्धरण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि आत्माका व्यवहार रत्नत्रय असद्‌भूत व्यवहारनयका विषय नहीं है, किन्तु अपर पक्षका यह लिखना इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय आत्माका यथार्थ रत्नत्रय नहीं है। उसमें यथार्थ रत्नत्रयका समारोप करके उसे रत्नत्रय कहा गया है, इसलिए तो वह (व्यवहार रत्नत्रय) असद्‌भूत व्यवहारनयका विषय ठहरता है, क्योंकि निश्चय रत्नत्रय भिन्न वस्तु है और व्यवहार रत्नत्रय भिन्न वस्तु है। ये दोनों एक नहीं। यदि एक होते तो ये दो कैसे कहलाते और एक आत्मामें एक साथ अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हुए कैसे रहते ?

इसकी पुष्टिमें अपर पक्षने प्रमाण न देनेकी शिकायत की है सो एक प्रमाण तो हमने बृहद्‌द्रव्यसंग्रह-का पूर्वमें दिया ही है। दूसरा प्रमाण यह है—

पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं इतिं भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः।

पापक्रियानिवृत्ति चारित्र है यह भेदोपचार रत्नत्रय परिणति है।

अपर पक्षने लिखा है कि हमने प्रश्न १२ के उत्तरमें 'कुगुरु कुधर्म कुशास्त्रकी श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव सुशास्त्र सुगुरुकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।' ऐसा स्वीकार किया है। निवेदन यह है कि सुदेवादि-की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है यह कथन हमने व्यवहारनयसे ही स्वीकार किया है। अपर पक्षने यहाँ जो नियम-सारका प्रमाण दिया है उससे भी यही सिद्ध होता है।

हमने प्रस्तुत प्रश्नके दूसरे उत्तरमें व्यवहार धर्मको रागपरिणाम लिखकर उसे निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल लिखा है। यह अपर पक्षको मान्य नहीं। उसका कहना है कि 'रागपरिणाम तो निश्चय मोक्षमार्ग-के अनुकूल नहीं हो सकता।' आदि।

निवेदन है कि अपर पक्षने हमारे कथनका हवाला देते हुए एक तो उसे पूरा उद्‌धृत नहीं किया, दूसरे उसके एक शब्दको पकड़कर टीका करनी प्रारम्भ कर दी। यह तत्त्वविमर्शका मार्ग नहीं कहा जा सकता। हमारा वह पूरा वाक्य इस प्रकार है—

'वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है और यतः वह सहचर होनेसे मोक्षमार्गके अनुकूल है इसलिए उसे उपचारसे निश्चय मोक्षमार्गका साधक भी कहा है।'

अपर पक्षने इसी वाक्यको अपने तीसरे पत्रकमें उद्धृत किया है। किन्तु उसे उद्धृत करते हुए एक तो 'वहाँ उसके साथ होने वाले' प्रारम्भके इस वचनको छोड़ दिया है। दूसरे, बीचका कुछ अंश छोड़कर दो कथनके रूपमें उसे उद्धृत किया है। तीसरे हमारे वाक्यमें आये हुए 'वह' पदके आगे कौंसमें (रागपरिणाम) यह पद अपनी ओरसे जोड़ दिया है। और इस प्रकार उस वाक्यके आशयको नष्टकर अपनी टीका प्रारम्भ कर दी है।

अपर पक्षका कहना है कि मात्र रागपरिणामको किसी भी आगम ग्रन्थमें व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं कहा है। किन्तु अपर पक्षका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि मात्र रागपरिणामको हमने भी मोक्षमार्ग नहीं लिखा है और ऐसा है भी नहीं कि जो जो रागपरिणाम होता है वह सब मोक्षमार्ग ही होता है। किन्तु ऐसा अवश्य है कि निश्चय मोक्षमार्गके साथ सच्चे देवादिकी श्रद्धा, सच्चे शास्त्रके अभ्यास तथा अणुव्रत-महाव्रत आदिके पालनरूप जो शुभ परिणति होती है उसे परमागममें व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। इससे हमारा यह कथन सिद्ध हो जाता है कि निश्चय मोक्षमार्गके साथ होनेवाला व्यवहार धर्मरूप रागपरिणाम व्यवहार मोक्षमार्ग है। हमारे उक्त कथनकी पुष्टिमें बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३९ की टीकाके इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए—

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः। निजनिरंजनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चयमोक्षमार्गः।

श्रीवीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और व्रत आदिरूप आचरणके विकल्परूप व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा निज निरंजन शुद्ध आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणकी एकाग्र परिणतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है।

सराग चारित्रका लक्षण करते हुए इसी ग्रन्थकी ४५वीं गाथामें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको व्यवहार चारित्र कहा है और उसे व्रत, समिति तथा गुप्तिरूप बतलाया है। तथा इसकी व्याख्यामें देशचारित्रको इसका एक अवयवरूप बतलाया है।

आगे इसी गाथाकी व्याख्यामें यह भी लिखा है—

तच्चाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पंचमहाव्रतपंचसमिति-त्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।

और वह आचार-आराधना आदि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें कहे अनुसार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप होता हुआ भी अपहृत संयम नामक शुभोपयोग लक्षणवाला सराग संयम नामवाला होता है।

पंचास्तिकायमें लिखा है—

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥

अरिहन्त, सिद्ध और साधुओंके प्रति भक्ति, धर्ममें नियमसे चेष्टा और गुरुओंका अनुगमन वह प्रशस्त राग कहलाता है ॥१३६॥

यहाँ टीकामें धर्मका अर्थ व्यवहार धर्म किया है और लिखा है कि प्रशस्त (अरिहन्तादि) इसके विषय हैं, इसलिए यह प्रशस्त राग है।

प्रशस्त राग क्या है इसका निर्देश करते हुए मूलाचार (षडावश्यक अधिकार) में लिखा है—

अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु।
धम्मम्हि य जो राओ सुदे यजो बारसविधम्हि ॥७३॥
आइरिएसु य राओ समणेसु य वहुसुदे चरितड्ढे।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥७४॥

रागद्वेषसे रहित अरिहंतोंमें जो राग है, धर्ममें और बारह प्रकारके श्रुतमें जो राग है, तथा चारित्रसे विभूषित आचार्यों, श्रमणों और उपाध्यायोंमें जो राग है वह प्रशस्त राग है। यह सब सराग जीवोंके होता है ॥७३-७४॥

यहाँ तक हमने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उनको ध्यानमें रखकर यदि विचारकर देखा जाय तो निश्चय सम्यक्त्वके साथ होनेवाला यह प्रशस्त राग ही व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। तथा अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप जो प्रशस्त राग है वही व्यवहार सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार सम्यक्चारित्र भी नियमसे निश्चय सम्यक्चारित्रका अविनाभावी है।

मूलाचार मूलगुणाधिकार गाथा ३ की टीकामें व्रतका लक्षण करते हुए लिखा है—

व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षावाप्तिनिमित्ताचरणे वर्तते।

व्रत शब्द भी सावद्यकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष प्राप्तिके निमित्तभूत आचरणमें व्यवहृत होता है।

ये जितने भी व्रत हैं वे अशुभसे निवृत्तिरूप और शुभमें प्रवृत्तिरूप ही हैं। इसीसे द्रव्यसंग्रहमें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको चारित्र बतलाया है। व्रतोंका आस्रव तत्त्वमें अन्तर्भाव करनेका कारण भी यही है। इनके लक्ष्यसे शुभोपयोग होता है, शुद्धोपयोग नहीं होता, इसका भी यही कारण है। शुभोपयोग संवर और निर्जराका कारण न होकर मात्र आस्रव बन्धका हेतु है इसका विशेष खुलासा हम तीसरे प्रश्नके तीसरे उत्तरमें विशेष रूपसे कर आये हैं।

नियमसारमें जो आप्त, आगम और पदार्थोंके श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है उसका आशय ही इतना है कि इनके यथार्थ स्वरूपको जानकर इनमें प्रगाढ़ रुचि अर्थात् प्रगाढ़ भक्ति रखनी चाहिए और भक्ति प्रशस्त रागका उद्रेक विशेष है। अरिहन्तादिकमें ऐसा प्रशस्त राग सम्यग्दृष्टिके ही होता है, इसलिए इसे निश्चय सम्यक्त्वसे भिन्न व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम होनेपर जो श्रद्धागुणकी मिथ्यात्व पर्यायका व्यय होकर सम्यक्त्वरूप परिणाम होता है, जो कि आत्माकी विशुद्धिरूप है वह निश्चय सम्यक्त्व है। और उसके होनेपर जो सच्चे देवादिमें विशेष अनुराग होता है वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इस प्रकार इन दोनोंमें महान् अन्तर है।

सम्भवतः अपर पक्षका यह ख्याल बना हुआ है कि रागविशेषके कारण निश्चय सम्यक्त्वको ही व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं, किन्तु यह बात नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि निश्चय सम्यक्त्वके साथ जो सच्चे देवादि परद्रव्य विषयक प्रशस्त राग होता है उसे ही व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार

सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्रके विषयमें खुलासा कर लेना चाहिए। अध्यात्ममें व्यवहारका लक्षण ही यह है कि जो जिस रूप न हो उसको उस रूप कहना व्यवहार कहलाता है। व्यवहारका यह लक्षण सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकारके व्यवहारोंमें घटित होता है। यदि इनमें अन्तर है तो इतना ही कि सद्भूत रूप वस्तु है तो, परन्तु सर्वथा पृथक् नहीं है। पर असद्भूत व्यवहारकी विषयभूत वस्तु मात्र उपचरित होती है उदाहरणार्थ हम पहले वृहद्द्रव्यसंग्रहका प्रमाण उपस्थित कर आये हैं। उसमें व्यवहार चारित्रको चारित्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे बतलाया गया है। उसका आशय ही यह है कि व्यवहार चारित्र वास्तवमें चारित्र नहीं है किन्तु निश्चय चारित्रका सहचर होनेसे व्रतादिरूप प्रशस्त रागको उपचारसे चारित्र कहा गया है।

अपर पक्षने वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ के 'दुविहं पि मोक्खहेउं' इस वचनपर तो दृष्टिपात किया ही होगा। उसने आगममें यह भी पढ़ा होगा कि व्यवहार मोक्षमार्ग मोक्षका परम्परा हेतु है और निश्चय मोक्षमार्ग साक्षात् हेतु है। वह यह लिख ही रहा है कि व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है। ऐसी अवस्थामें वह पक्ष दोको एक ही क्यों बतलाने लगा है यह हमारी समझके बाहर है। जो निश्चयमोक्षमार्ग है वही यदि व्यवहार मोक्षमार्ग है तो फिर वे दोनों एक हुए। इनमें साधकसाध्यभावकी चरचा करना ही व्यर्थ है। और यदि वह इन्हें वास्तवमें दो मानता है तो इन दोनोंके पृथक्-पृथक् लक्षण भी स्वीकार करने चाहिए। साथ ही उन दोनोंको इस रूपमें मानना चाहिए कि एक आत्मामें उन दोनोंका सद्भाव एक साथ बन जाय। तभी तो उनमें-से एकको साधन (निमित्त) और दूसरेको साध्य कहा जा सकेगा। मिट्टी घटरूप परिणम रही हो, फिर भी उसका बाह्य साधन कुम्भकारादि न हो ऐसा मानना विचित्र बात है। तात्पर्य यह है कि निश्चय रत्नत्रयके साथ उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिए जिसमें साधन व्यवहार किया जा सके और वे दोनों परस्पर अविनाभावी होने चाहिए। स्पष्ट है कि यहाँपर श्रद्धाके विषयभूत देवादिकमें प्रशस्त रागको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है, ज्ञानोपयोगके विषयभूत आगमाभ्यासमें प्रशस्त रागको व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहा गया है और चर्याके विषयभूत व्रतातिके नियमरूप प्रशस्त रागको व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा गया है। तथा आत्माके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रकी शुद्धिरूप परिणतिको निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र कहा गया है।

अपरपक्षने तीसरे प्रश्नके अपने तीसरे पत्रकमें तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० १ के आधारसे एक बात यह भी लिखी है कि 'व्रत विरक्ति अर्थात् निवृत्तिरूप हैं, प्रवृत्तिरूप नहीं हैं।' मालूम पड़ता है कि इसी कारण अपरपक्षको व्यवहार रत्नत्रयको देवादि विषयक प्रशस्त रागरूप माननेमें बाधा पड़ रही है। परन्तु उस पक्षका यह विधान मोक्षमार्गपर गहरा प्रहार करनेवाला है इसे वह पक्ष नहीं समझ रहा हैं। यह जीव मोक्षमार्गी कैसे बनता है उसका क्रम यह है कि 'सर्वप्रथम यह जीव तत्त्वज्ञानपूर्वक कुदेवादिका त्यागकर सच्चे देवादिमें रुचि करता है, कुशास्त्रोंको छोड़कर सम्यक् शास्त्रोंका अध्ययन करता है, गुरुका उपदेश सुनता है और मिथ्यात्वकी पोषक क्रियाओंको छोड़कर देवपूजा आदि क्रिया करता है। इस प्रकार अशुभसे निवृत्त होकर शुभमें प्रवृत्त होता है।' किन्तु इतना करनेमात्रसे उसे सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ये मोक्ष प्राप्तिके साक्षात् साधन नहीं हैं। मोक्षमार्गकी प्राप्तिके कालमें निमित्तमात्र हैं। इतनी भूमिका तो मिथ्यादृष्टिके ही बन जाती है फिर भी सम्यक्त्व नहीं होता है। कारण

यह है कि इतना तो उसने अनन्त बार किया, परन्तु इसके साथ उसने स्वभाव सम्मुख होकर अपने आत्माका अनुभव एक बार भी नहीं किया। सम्यक्त्व-प्राप्तिका जो साक्षात् साधन है उसका अवलम्बन करे नहीं और सम्यक्त्व हो जाय, यह नहीं हो सकता। और स्वभाव सम्मुख होनेका उपाय यह है कि उक्त जीवको 'शुभमें न मग्न होय शुद्धता विसरनी नहीं' वचनके अनुसार शुभमें मग्न होकर उपयोगमय चिच्चमत्काररूप आत्माके साथ सतत अनुगमन करनेवाले अपने आत्मस्वभावको दृष्टि ओझल नहीं कर देना चाहिए। कुम्भकारका मिट्टीको संयोगकर व्यापार हो नहीं तथा मनमें घट बनानेका विकल्प रखे नहीं। मात्र क्रिया तो वह दूसरेको लक्ष्यमें रखकर करे और विकल्प भी दूसरेका करता रहे फिर भी घटका निमित्त कहलावै। जैसे यह सम्भव नहीं है उसी प्रकार शुभ क्रियामें रत यह जीव क्रिया तो आत्मासे भिन्न अन्यको लक्ष्य कर करता रहे और मनमें विचार भी अन्यका करता रहे फिर भी वह क्रिया आत्मशुद्धिका निमित्त कहलावे यह भी सम्भव नहीं है। पहले आत्मप्राप्ति रूप प्रयोजन समझना चाहिए और उस प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर क्रिया होनी चाहिए, तभी वह क्रिया या वह विचार उसका निमित्त कहलानेका पात्र होता है। यहाँ मुख्य प्रयोजन संवर, निर्जरा और मुक्ति है। वह आत्माके अवलम्बन करनेसे ही होते हैं, परके अवलम्बन करनेसे नहीं। सच्चे देव, गुरु और शास्त्र आत्माके प्रतिनिधि हैं, इसलिए उनका गुणानुवाद, भक्ति और श्रद्धा करनेका उपदेश आगममें दिया गया है। जिन पुण्य पुरुषोंने आत्मस्वभावका अवलम्बनकर उसे प्राप्त किया है, निरन्तर उसका अपनी वाणी द्वारा भान कराते रहते हैं ऐसे सत्पुरुषोंके निरन्तर समागम करनेका उपदेश भी आगममें इसीलिए दिया गया है। किन्तु यही करना मुख्य नहीं है, मुख्य तो आत्मस्वभावका अवलम्बनकर तद्रूप परिणमन द्वारा अपनेमें संवरादिरूप शुद्धि उत्पन्न करना है। अतएव प्रकृतमें यही तात्पर्य समझना चाहिए कि अशुभ क्रियाके निरोधसे शुभ क्रिया होती है। स्वभाव सन्मुख होनेके लक्ष्यसे की गई वही क्रिया व्यवहारमें कहलाती है। संवर शुभाशुभपरिणामके निरोधस्वरूप होनेके कारण इन दोनोंसे भिन्न है। अनगारधर्मामृत अ० २ श्लोक ४१ की टीकामें कहा भी है—

भावसंवरः शुभाशुभपरिणामनिरोधः द्रव्यपुण्य-पापसंवरस्य हेतुरित्यर्थः।

शुभाशुभ परिणामका निरोध भावसंवर है। वह द्रव्य पुण्य-पापके संवरका निमित्त है।

जो जीव मोक्षमार्गके सन्मुख होता है या उत्तरोत्तर भावसंवर-निर्जरारूप विशुद्धि उत्पन्न करता है उसके लिए उसे प्राप्त करनेका क्रम ही यही है कि स्वभावके लक्ष्यसे पहले यह जीव अशुभसे निवृत्त होकर शुभमें जाता है। किन्तु शुभमें जाना ही इसका मुख्य प्रयोजन न होनेसे उसमें भी अशुभके समान हेय बुद्धि रखता हुआ स्वभाव सन्मुख होनेका उपक्रम करता रहता है। ऐसा करते रहनेसे कोई ऐसा अपूर्व अवसर आता है जब वह स्वभावमें मग्न हो तत्स्वरूप परिणमन द्वारा अपने संवरादिरूप शुद्धिको उत्पन्न करता है या उसमें वृद्धि करता है।

अपरपक्षने पंचास्तिकाय गाथा १०६ तथा जयसेनाचार्य कृत उसकी टीकाका जो उद्धरण दिया है उनका भी यही आशय है। आचार्य जयसेनने व्यवहार सम्यक्त्वका स्वरूप निर्देश करते हुए स्पष्ट कहा है—'बहिरंगपदार्थरुचिरूपम्।' यह वचन ही सच्चे आप्त, आगम, पदार्थ विषयक प्रगाढ़ अनुरागको सूचित करता है। यहाँ रुचि शब्द प्रगाढ़ अनुरागके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। यही भाव पंचास्तिकाय गाथा १६० का भी है। उसमें अन्य बात नहीं कही गई है। उस गाथाके शीर्षकके भावको हम मनसा स्वीकार करते

हैं। वहाँ साधन शब्द निमित्तके अर्थमें आया है। इसे अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा। और एकको दूसरेका निमित्त कहना यह उपचार है। तभी वह व्यवहार मोक्षमार्ग संज्ञाका अधिकारी हैं और तभी उस रूप परिणामको आस्रवतत्त्वमें गर्भित कर उसे बन्धका हेतु कहा गया है और तभी उसे संवर तत्त्वसे विलक्षण बतलाया गया है। उसकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाका यही आशय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो बृहद्द्रव्यसंह गाथा १३ की टीकाके वचनानुसार व्यवहारनयको साध्यभूत निश्चयनयका उपचरित हेतु स्वीकार न कर उसे परमार्थरूप मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। हमने परमात्मप्रकाशके दूसरे अध्यायकी गाथा १४ पर दृष्टिपात किया है, उस द्वारा उसी व्यवहार मोक्षमार्गका निर्देश किया गया है जिसका हम पूर्वमें स्पष्टीकरण कर आये हैं। नियमसारकी ५१ प्रभृति पाँच गाथाओंपर हमने दृष्टिपात किया है। इनकी टीका करते हुए श्री पद्मप्रभमलधारीदेव भेदोपचार रत्नत्रयको निश्चयभक्ति रूप घोषित कर रहे हैं। टीका पर दृष्टिपात कीजिए। पदकी श्रद्धा आदि इसके सिवा और अन्य क्या हो सकता है। अपर पक्ष यदि इसे दृष्टिपथमें ले तो उसे यह स्वीकार करनेमें देर न लगे कि निश्चय रत्नत्रयसे भिन्न वह निश्चय भक्तिरूप अनुराग ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं।

नियमसारके चौथे अध्यायमें पाँच पापोंकी निवृत्तिको व्रत बतलाया है और उसे व्रत, समिति, गुप्ति-रूप कहा है। इसीसे यह स्पष्ट है कि पापक्रियाओंसे निवृत्ति और व्रतादिरूप पुण्यक्रियाओंमें प्रवृत्तिका नाम ही व्रत है। दर्शनप्राभृतके उल्लेखसे भी यही सिद्ध होता है कि छह द्रव्यादिकी सच्ची श्रद्धा सम्यग्दृष्टिके ही होती है। यही बात रत्नकरण्डश्रावकाचारके वचनसे भी ज्ञात होती है। इसमें विरोध किसे है यह हमारी समझमें नहीं आया। यहाँ तो विचार इस बातका हो रहा है कि व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय क्या वस्तु है, क्या वे दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न वस्तु हैं और उनमें साध्य-साधन भाव किस नयसे कहा गया है। यह अपर पक्ष ही विचार करे कि क्या उल्लेखोंका आशय स्पष्ट किये बिना उनके उपस्थित कर देने मात्रसे देवादिविषयक प्रशस्त राग व्यवहार रत्नत्रय नहीं है इसकी पुष्टि हो जाती है? पूर्वोक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार कर देखा जाय तो अपर पक्षको विदित होगा कि आगम विरुद्ध हमारा कथन न होकर वस्तुतः अपर पक्ष ही ऐसा प्रयत्न कर रहा है जिसे आगम विरुद्ध कहना उपयुक्त होगा। दूसरेको शब्दों द्वारा लांछित करनेकी चेष्टा करना अन्य बात है और आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें यथार्थका निर्णय करना अन्य बात है।

अपर पक्षने लिखा है कि 'राग, भेद या विकल्प सहित जो सप्ततत्त्व आदिका श्रद्धान व ज्ञान तथा पापोंसे निवृत्तिरूप चारित्र है वह व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग है।'

हमने अपर पक्षके इस कथन पर दृष्टिपात किया। किन्तु अपर पक्ष हमारी इस धृष्टताको क्षमा करेगा कि वह जो कहना चाहता है वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं हो पा रहा है। हमारी समझसे सद्भूत व्यवहार नयका आश्रय लेकर वह कहना यह चाहता है कि निश्चय सम्यक्त्वादि तीनोंमें-से एक-एकको मुक्ति-का साधन कहना व्यवहार रत्नत्रय है। यहाँ तीनों मिलकर मुक्तिके साधन हैं, एक-एक नहीं, इसलिए तो यह व्यवहार उपचरित हुआ और प्रत्येकमें मुक्तिकी साधनता विद्यमान है, इसलिए वह व्यवहार सद्भूत हुआ। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रयमें-से एक-एकको साधन कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विषय है। या मुक्तिरूप परिणत आत्मा कार्य है और रत्नत्रय परिणत आत्मा उसका कारण है ऐसा भेद द्वारा कथन करना सद्भूत व्यवहार नयका विषय है। किन्तु अपर पक्षने वाक्य योजनाकर उस द्वारा जो कथन किया

है वह असद्भूत व्यवहार नयसे ही कहा जा सकता है और ऐसी अवस्थामें देवादि विषयक श्रद्धा आदि प्रशस्त रागरूप ही ठहरते हैं। निश्चय नयकी दृष्टिमें प्रथम दो तो उपचरित हैं ही, क्योंकि अन्य कारण हो और अन्य कार्य हो या एक-एक कारण हो और मुक्ति कार्य हो यह यथार्थ न होनेसे इसे यह नय स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत उसका निषेध ही करता है। इसके लिए समयसार गाथा २७२ पर दृष्टिपात कीजिए। किन्तु उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे जो कुछ कहा जाता है, वस्तु वैसी न होनेसे यह निश्चयनयकी दृष्टिमें सर्वथा हेय है। क्योंकि एक तो यह नय वस्तु जैसी नहीं है वैसी कहता है। दूसरे, उसका साधन-साध्य आदि भावसे अन्यके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, अतएव यह उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका ही विषय है।

अपर पक्षने यहाँ जो पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पंचास्तिकायकी आचार्य जयसेन कृत टीका तथा छहढालाके जो उदाहरण उपस्थित किये हैं वे सब उक्त कथनकी ही पुष्टि करते हैं। कोई समझे कि मोक्षमार्गीके व्यवहार रत्नत्रय होता ही नहीं, मात्र निश्चय रत्नत्रय ही होता है इस एकान्तका परिहार उन वचनोंसे होता है। किन्तु इन दोनोंका स्वरूप क्या है इसे समझना अन्य बात है। परमात्मप्रकाशमें धर्म-पुरुषार्थ (व्यवहारधर्म) से मोक्षपुरुषार्थ (निश्चयधर्म) भिन्न है यह बतलाते हुए लिखा है—

धम्मह अत्थहँ कामहँ वि एवहँ सयलहँ मोक्खु।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु ॥२-३॥

हे जीव! धर्म, अर्थ काम और और इन सब पुरुषार्थोंमें ज्ञानी पुरुष मोक्षको उत्तम कहते हैं, क्योंकि अन्य पुरुषार्थोंसे परम सुख नहीं मिलता ॥२-३॥

व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्गमें साधन-साध्यभाव किस रूपमें है इसके लिए परमात्म-प्रकाश अ० २ दोहा १४ के इस टीकावचनपर दृष्टिपात कीजिए—

अत्राह शिष्यः—निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः, तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति, कथं साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह—भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति। अथवा सविकल्प-निर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा। तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है—निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (व्यवहार रत्नत्रयरूप) मोक्षमार्ग नहीं है, वह साधक कैसे होता है?

यहाँ समाधान करते हैं—भूत नैगमनयकी अपेक्षा परम्परासे साधन है। अथवा सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। उनमें-से 'मैं अनन्त ज्ञानरूप हूँ' ऐसे विकल्पका नाम सविकल्प मोक्षमार्ग साधक है और निर्विकल्प समाधिरूप साध्य है यह इस कथनका भावार्थ है—

इससे व्यवहार मोक्षमार्ग क्या है और उसे साधन किस रूपमें कहा है इसका कुछ हद तक ज्ञान हो जाता है।

अपर पक्षने निश्चय रत्नत्रयका ज्ञान करानेके लिए यहाँ पंचास्तिकाय, भावपाहुड, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाश और छहढालाके कुछ प्रमाण उपस्थित किये हैं। उनसे इन बातोंका ज्ञान होता है—

१. आत्माकी आत्मा द्वारा आत्मामें जो श्रद्धा, ज्ञान और आत्मस्थितिरूप स्वभाव परिणति होती है उसका नाम निश्चय रत्नत्रय है।

२. ऐसे रत्नत्रयसे बन्ध कैसे हो सकता है, अर्थात् त्रिकालमें नहीं होता।

३. निश्चयसे ऐसे रत्नत्रयकी उत्पत्तिका साधन आत्मा ही है। वह करण साधन होकर अपने द्वारा अपने आत्मामें आप कर्ता बनता हुआ निश्चय रत्नत्रयको उत्पन्न करता है।

किन्तु व्यवहार रत्नत्रय इससे विरुद्ध स्वभाववाला है। इसका विषय स्व नहीं है, पर है, वह बन्ध स्वभाववाला है और वह निश्चय रत्नत्रयका कारण होनेसे रत्नत्रय कहलाता है। साथ ही वह वीतराग देवादि पर पदार्थोंको साधन बनाकर उत्पन्न होता है, इसलिए वह प्रशस्त रागस्वभाववाला होनेके कारण सहचर सम्बन्धवश साधक कहा गया है। अतएव हमने जो यह लिखा है कि 'जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है वह आगम संगत ही लिखा है।

अपर पक्षने उक्त कथनके स्पष्टतः पोषक जिन प्रमाणोंकी जिज्ञासा की थी वे यहाँ दिये ही हैं। हमें विश्वास है कि अपर पक्षको उनके आधार पर यथार्थका निर्णय करनेमें सहायता मिलेगी।

तत्त्वार्थसूत्रमें हिंसादि क्रियाकी निवृत्तिका आस्रवतत्त्वमें अन्तर्भाव करना और द्रव्यसंग्रहमें व्रत, समिति और गुप्तिको शुभक्रिया लिखकर उस रूप प्रवृत्तिको व्यवहार धर्म कहना ही यह सिद्ध करता है कि व्यवहार धर्म सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त राग परिणामका ही दूसरा नाम है। जो भी बन्ध होता है वह पर्यायार्थिक नयसे योग और कषायको निमित्त कर ही होता है और व्यवहारधर्म बन्धका हेतु है, क्योंकि आचार्योंने उसका आस्रव तत्त्वमें अन्तर्भाव किया है; इसलिए उसे सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त रागरूप ही जानना चाहिए यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

अपर पक्षने 'व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?' यह प्रश्न किस अभिप्रायसे किया है इसे हम तत्काल समझ गये थे। किन्तु अपर पक्षने वर्तमानमें प्रवचनकी जो धारा चल रही है उसके आशयकी ओर लक्ष्य न देकर उसके प्रति विरोधका जो वातावरण बतलाया है वह उचित नहीं है। इससे समाजकी जो हानि हो रही है वह वचनातीत है। हम कुछ काल पूर्व हो गये ऐसे मनुष्योंको जानते हैं जिन्होंने मुनिलिंग तक धारण कर अपना पतन तो किया ही, समाजमें मोक्षमार्गके प्रति अश्रद्धा भी उत्पन्न की, पूर्वमें हो गये ऐसे त्यागियोंको भी जानते हैं। वर्तमानकालकी हम बात नहीं करना चाहते, क्या इतने मात्रसे जैसे व्यवहार कथनीका निषेध नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यह देखकर कि कुछ मनुष्योंने निश्चय कथनीको सुनकर यद्वा तद्वा प्रवृत्तिको प्रारम्भ कर दिया है यह बात सच्ची हो तो, निश्चय कथनीका निषेध करना और उसके लिए आन्दोलन तकका मार्ग ग्रहण करना कहाँ तक उचित है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। जहाँ तक समाजके उस वर्गका प्रश्न है जो निश्चय कथनीके शास्त्रोंका विशेषरूपसे अभ्यास करते हैं, उनके अनुरूप प्रवचनोंमें सम्मिलित होते हैं, उसके सम्बन्धमें हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि न तो उनमेंसे बहुधा आलू आदि कन्दमूल, बेगन और शहद आदि अभक्ष्य भक्षण करते हैं, जो पूर्वमें करते रहे हैं उन्होंने उनका त्याग कर दिया है। प्रतिदिन देवदर्शन करना या देवपूजा करना तथा शास्त्रस्वाध्यायमें सम्मिलित होना यह उनका प्रधान कर्तव्य हो गया है। रात्रिभोजन भी उनमें प्रायः नहीं देखा जाता। किन्तु इसके विपरीत जो स्थिति समाजमें है उसकी हम अपर पक्षके समान लांछनके रूपमें चर्चा नहीं करना चाहते। हम

तो यही चाहते हैं कि जिससे समाजमें प्रचलित व्यवहारधर्म प्राणवान् बन जाय और रही सही कुरीतियाँ भी नामशेष हो जायँ ऐसे मार्गको अंगीकार करना ही श्रेयस्कर है। क्या हम आशा करें कि अपर पक्ष विरोधके रुखको छोड़कर हमारे इस प्रयत्नमें सहयोगी बनेगा। हमारी ओरसे स्वागत है। वीतरागताकी दृष्टिसे एक मात्र यही मार्ग है जिस पर सबको मिलकर चलनेका संकल्प करना चाहिए।

यदि अपर पक्ष मोक्षमार्गप्रकाशकके आधारसे ही यह स्वीकार कर लेता है कि निश्चय धर्मकी प्राप्तिमें व्यवहारधर्म निमित्तमात्र है तो समस्या ही हल हो जाती है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्षको व्यवहार धर्मका वही अर्थ स्वीकार करना होगा जिसका निर्देश हम पूर्वमें कर आये हैं।

अपर पक्षका कहना है कि 'नयवाद पात्रके अनुसार होता है।' इसका आशय इतना ही है कि पात्र उपदेशको सुनकर अपनी शक्तिके अनुसार उसे अंगीकार कर अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करता है।

आचार्य अमृतचन्द्रने 'व्यवहारनयेन' इत्यादि पंक्ति सविकल्प बुद्धिवाले जीवोंको लक्ष्यमें रखकर ही लिखी है। यहाँ 'प्राथमिकाः' पदका अर्थ सविकल्प बुद्धिवाले जीव ही है। जब कोई जीव विकल्पकी भूमिकामें होता हैं तो वह अपना उपयोग क्या श्रद्धान करने योग्य है और क्या श्रद्धान करने योग्य नहीं है इत्यादि तथ्योंके निर्णय करनेमें ही लगाता है। और ऐसा निर्णय करके वह अपने पुरुषार्थ द्वारा क्रमशः निर्विकल्पताकी ओर ढलने लगता है। जो अनादि कालसे भेदबुद्धिसे वासित चित्तवाले हैं उन्हें ऐसे निर्णय द्वारा तीर्थपर आरोहण करना सुगम होता है यह आचार्यके कथनका सार है। उनके द्वारा दिये गये उदाहरणसे भी यही सिद्ध होता है।

अपर पक्षने समयसारकी १२वीं गाथा उद्धृत की है। उसके द्वारा जिस तत्त्वका प्रतिपादन हुआ है उसके लिए पद्मनन्दिपंचविंशतिकान्तर्गत एकत्वसप्तति अधिकारका यह श्लोक मार्गदर्शक है—

प्रमाण-नय-निक्षेपा अर्वाचीने पदे स्थिताः।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासते॥ १६॥

सविकल्प अवस्थामें प्रमाण, नय और निक्षेप सब हैं। केवल निर्विकल्प अवस्थामें तो एक चैतन्य ही अनुभवमें आता है॥१६॥

यहाँ अर्वाचीन पदका अर्थ व्यवहारपद सविकल्प अवस्था है और 'केवले तस्मिन्' पदसे निर्विकल्प अवस्थाका ग्रहण हुआ है। यही तथ्य समयसारकी १२वीं गाथामें प्ररूपित हुआ है। वहाँ भी "परमभावदरसीहिं" पद द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वको अनुभवनेवाले जीवोंका ग्रहण किया गया है और 'अपरमे ट्ठिदा भावे' पद द्वारा सविकल्प अवस्थाका ग्रहण हुआ है। इस तथ्यको समझनेपर ही उक्त गाथाका आशय स्पष्ट समझमें आता है। आचार्य अमृतचन्द्रने सोलह वानके सोनेका उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार यह सोना अत्यन्त निर्मल होता है उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नयका विषयभूत आत्मा समस्त परद्रव्य-भावोंसे भिन्न होनेके कारण अत्यन्त निर्मल है। ऐसा आत्मा ही शुद्धनयका विषय है। जो परम भावदर्शी—शुद्धात्म-भावदर्शी जीव हैं वे ऐसे ही आत्माको अनुभवते हैं। किन्तु जो सविकल्प अवस्थामें स्थित जीव हैं उनका अशुद्ध सोनेके समान अशुद्ध आत्मा जाना हुआ प्रयोजनवान् है। इससे निश्चय-व्यवहार नयके कथनका प्रयोजन क्या है यह समझमें आ जाता है। यही परस्पर सापेक्ष उभय नयकी देशनाका तात्पर्य है। संसारी आत्मा परमभावग्राही द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अत्यन्त शुद्ध है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अत्यन्त अशुद्ध है। इस प्रकार

एक ही आत्मा एक कालमें कथंचित् शुद्ध है और कथंचित् अशुद्ध है। जिनवाणी भी यही है ऐसा जानकर और पर्यायार्थिक नयके विषयको गौण कर जो द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत आत्माको दृष्टिमें अवलम्बनकर तत्स्वरूप परिणमता है वही परम पदका अधिकारी होता है। यह १२वीं गाथा और उसकी दोनों टीकाओंका आशय है। इससे व्यवहारनयका विषय जाननेके लिए तो प्रयोजनवान् बतलाया पर आदर करने योग्य नहीं बतलाया, यह तथ्य भी समझमें आ जाता है, क्योंकि कौन ऐसा मुमुक्षु जीव है कि जो जिस गुणस्थानमें है उसीमें रहना चाहेगा। उसका प्रयत्न तो निरन्तर आगे बढ़नेका ही होगा। और आगे बढ़ना उसी गुणस्थानके भावोंमें रत रहनेसे बन नहीं सकता। वह जिस गुणस्थानमें है उस गुणस्थानके अनुरूप ही प्रवृत्ति करेगा, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उस प्रवृत्तिको आगे बढ़ानेका साधन न मानकर अन्तरंगमें उस साधनको अपनानेकी चेष्टा करता रहेगा जो उसे वर्तमान गुणस्थानसे उठाकर यथायोग्य आगेके गुणस्थानोंमें पहुँचा देगा। ऐसा यदि कोई साधन है तो वह एकमात्र ज्ञायक भावका अवलम्बन ले तत्स्वरूप परिणमना ही है। इसमें जितनी प्रगाढ़ता आती जायगी उतना ही वह आगे बढ़ता जायगा। इसके सिवा मोक्षमार्गमें आगे बढ़नेका अन्य कोई साधन नहीं। यही कारण है कि निश्चय धर्मकी प्राप्तिमें व्यवहार धर्मको निमित्त मात्र कहा है। साक्षात् साधन तो ज्ञायक स्वभावका अवलम्बन कर तत्स्वरूप परिणमना ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जो 'जइ जिणमयं' इत्यादि गाथा उद्धृत की है उसका भी यही आशय है। व्यवहार नयके अनुसार गुणस्थानभेद हैं, मार्गणास्थानभेद हैं और जीवसमासभेद हैं आदि। भला ऐसा कौन मुमुक्षु जीव है जो इसकी सत्ता नहीं मानेगा। यदि इन्हें न स्वीकार किया जाय तो उत्कृष्ट तीर्थकी प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती और उसके अभावमें व्यवहार तीर्थकी सिद्धि नहीं होती। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें उत्तम तीर्थका निर्देश करते हुए लिखा है—

रयणत्तयसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरेइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए॥ १९१॥

रत्नत्रयके संयुक्त यही जीव उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नावसे संसारको पार करता है॥ १९१॥

और इसी प्रकार ऐसा कौन मुमुक्षु जीव है जो शुद्ध नयके विषयभूत नित्य चिद्घनस्वभाव शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं स्वीकार करेगा, क्योंकि उसके अभावमें तत्त्वकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। फिर तो भेद व्यवहार या उपचरित व्यवहारकी बात करना ही व्यर्थ हो जाता है—'मूलो नास्ति कुतः शाखा।'

इस प्रकार दो नय हैं और दोनोंके विषय हैं ऐसा प्रत्येक ज्ञानी जानता ही है। जिनमतकी प्रवृत्तिका यह मूल है।

३. प्रश्न चारके परिशिष्टका ऊहापोह

इस परिशिष्टके प्रारम्भमें यह तो स्वीकार कर लिया है कि सच्चे देवादि विषयक भक्ति प्रमुख उत्कृष्ट अनुराग व्यवहार धर्म है। साथ ही इसमें बाह्य क्रियाको भी व्यवहार धर्ममें गर्भित किया गया है। किन्तु उस बाह्य क्रियासे आत्माकी प्रशस्त रागरूप परिणति ली गई है या पुद्गल द्रव्यकी क्रिया ली गयी है इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। क्रिया शब्द परिणामके अर्थमें भी आता है और परिस्पन्दके अर्थमें भी आता है। यदि अपर पक्षको बाह्य क्रियासे सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त राग अपेक्षित है तो सम्यग्दृष्टिके

ऐसे परिणामको सम्यक् व्यवहार धर्म मानना उपयुक्त ही है। किन्तु यदि बाह्य क्रियासे पुद्गलद्रव्यकी क्रिया ली गयी है तो वह परद्रव्यका परिणाम है। सम्यग्दृष्टिके उसमें परबुद्धि हो गई, इसलिए उसे आत्माका व्यवहार-धर्म कहना उचित नहीं है। प्रशस्त रागपरिणतिमें वह निमित्त है, इसलिए उसे व्यवहार धर्म कहनेमें आता है यह तो उपचरितोपचारका भी उपचरितोपचार है। तथ्य समझमें आ जावे, इसलिए यह स्पष्टीकरण किया है।

अपर पक्षने परिशिष्टके तीसरे पैरामें आत्माके विशुद्ध-निर्विकार-वीतराग और स्वतन्त्र बननेके लक्ष्यको निश्चयधर्म संज्ञा दी है। किन्तु ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि लक्ष्यका नाम निश्चय धर्म न होकर विशुद्ध-निर्विकार-वीतरागरूप परिणतिका नाम निश्चय धर्म है।

अपर पक्षका कहना है कि "अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनियोंके बाह्याचाररूप व्यवहार धर्मको द्रव्यलिंग और इनके अन्तरंग आत्मविशुद्धिमय निश्चय धर्मको भावलिंग भी कहते हैं।" समाधान यह है कि अपर पक्षने जो लिखा है उसपर विशेष ऊहापोह न करके मात्र उसका ध्यान भावप्राभृतके इस वचनकी ओर आकर्षित कर देना चाहते हैं—

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥ ४८ ॥

भावसे ही मुनि लिंगी होता है, द्रव्य मात्रसे लिंगी नहीं होता। इसलिए भाव लिंगको धारण करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यलिंगसे क्या कार्य सध सकता है ॥ ४८ ॥

इस गाथामें द्रव्यलिंगी पद भावशून्य मुनिके लिए ही आया है। गाथा ५० में इसके लिए द्रव्य श्रमण पदका भी प्रयोग किया गया है। गाथा ७२ में तो ऐसे मुनिको ही द्रव्यनिर्ग्रन्थ लिखा है जो रागसंयुक्त है और जिनभावनासे रहित है। देखिए—

जे रागसंगजुत्ता जिणभावण रहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमला ॥ ७२ ॥

जो द्रव्यनिर्ग्रन्थ रागसंगसे युक्त होकर जिनभावनासे रहित हैं वे जिनशासनमें समाधि और बोधिको नहीं प्राप्त होते ॥ ७२ ॥

अपर पक्षका कहना है कि 'निश्चयधर्मका प्रतिपादक करणानुयोग है' किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मका कथन मुख्यतया द्रव्यानुयोगका विषय है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें द्रव्यानुयोगके स्वरूपका निर्देश करते हुए लिखा है—

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्ध-मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥

द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षतत्त्वरूपसे श्रुतविद्यारूपी आलोकको विस्तारता है ॥ ४६ ॥

निश्चयधर्मका संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है। अतः निश्चयधर्मका कथन द्रव्यानुयोगमें किया गया है ऐसा निर्णय करना ही उचित है।

अपर पक्षका कहना है कि 'चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवाले जीवोंका लक्ष्य मुख्यतया बाह्य पुरुषार्थ पर रहना आवश्यक है।' किन्तु ऐसा विधान करते हुए अपर पक्षने यहाँ बाह्य पुरुषार्थसे अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ लिया है या धर्मपुरुषार्थ लिया है, यह उक्त कथनसे ज्ञात न हो सका। जो कुछ भी हो, अपर पक्षका यह कथन है आगमविरुद्ध ही, क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि और श्रावक जो भी बाह्य क्रिया करता है वह हेयबुद्धिसे ही करता है, अन्यथा वह अविरतसम्यग्दृष्टि और श्रावक कहलानेका पात्र नहीं। समयसार निर्जराधिकारमें ऐसे जीवोंकी बाह्य परिणतिको तीन दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया गया है—पहला उदाहरण विष खानेवाले वैद्यका दिया है, दूसरा उदाहरण अरतिभावसे मद्य पीनेवालेका दिया है और तीसरा उदाहरण पर घरमें प्रकरणचेष्टा करनेवालेका दिया है। सागारधर्मामृतमें कोतवालके द्वारा पकड़े गये चोरके समान सम्यग्दृष्टिको बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि उक्त जीवोंके व्यवहार धर्मको करते हुए भी अन्तरंगमें मुख्यता निश्चयधर्मकी ही रहती है। सागारधर्मामृतके मंगलाचरणका 'तद्धर्मरागिणाम्' पद विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। नीची पदवीमें रहना यह न तो सम्यग्दृष्टिको ही इष्ट होता है और न श्रावकको ही। अब रही मुनिकी बात, सो उसके तो संज्वलन कषायजन्य अल्प प्रमादके कालमें ही अन्तर्मुहूर्त कालके लिए बाह्य प्रवृत्ति देखी जाती है। उनकी जो सामायिक आदि षट्क्रियाएँ होती हैं वे नियमसे सामायिक पूर्वक ही होती है। इसीसे उन्हें निश्चय षट्क्रिया संज्ञा मूलाचारमें दी गई है। मूलाचार प्रथम भाग गा० ३ की टीका में लिखा है—

आवश्यककर्तव्यानि आवश्यकानि निश्चयक्रियाः सर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थनियमाः।

इससे स्पष्ट है कि बाह्यक्रिया करते हुए भी मुनिके जीवनमें निश्चयधर्म गौण हो ही नहीं सकता।

अपर पक्षने यहाँ पर अपने विचारोंकी पुष्टिमें समयसार गाथा १२ का उपयोग किया है। किन्तु उस गाथाका आशय ही दूसरा है। इसका स्पष्ट खुलासा थोड़े ही पहले हम कर आये हैं। अपर पक्षने इसका जो आशय लिया है वह ठीक नहीं यह उक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है।

अपर पक्षका यह लिखना भी आगम विरुद्ध है कि व्यवहारधर्मका सद्भाव निश्चयधर्मके अभावमें भी पाया जाता है, क्योंकि जैसे सम्यग्दर्शनके पूर्व जितना भी ज्ञान होता है वह मिथ्याज्ञान माना गया है इसी प्रकार निश्चयधर्मके पूर्व जितनी भी क्रिया होती है वह यथार्थ नहीं मानी गई है। निश्चयधर्मके साथ होनेवाली पुण्यपरिणतिरूप बाह्य क्रियाको ही आगममें व्यवहार धर्म कहा है, अन्यथा अट्ठाईस मूलगुण रूप द्रव्यलिंगकी आगममें निन्दा नहीं की गई होती। इससे स्पष्ट है कि निश्चयधर्मके पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नहीं। जो होता है वह उस पदका व्यवहारधर्म नहीं। अन्तरंगमें अनन्तानुबन्धी आदिका उदय बना रहे और कोई जीव मन्दकषाय वश बाह्य क्रिया करने लगे, फिर भी वह निश्चयधर्मके कालमें होनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि आदि पदका व्यवहारधर्म कहलावे यह विचित्र बात है। निमित्त-नैमित्तिक योग एक कालमें होता है। पहले निमित्त था और बादमें नैमित्तिक हुआ ऐसा कार्य-कारणभाव नहीं है। हाँ अपर पक्ष अपने विधान द्वारा यह स्वीकार करना चाहता है कि निश्चयधर्मकी प्राप्तिके पूर्व जो क्रिया होती थी वह निश्चयधर्मकी प्राप्तिके कालमें व्यवहारधर्म संज्ञाको प्राप्त हो जाती है, तो बात दूसरी है। किन्तु अपर पक्ष उससे जो यह अर्थ फलित करना चाहता है कि पहलेकी क्रियाके कारण निश्चयधर्मकी प्राप्ति होती है वह गलत है। कौन कार्य किस क्रमसे होता है इसका कथन करना अन्य बात है और निमित्त-नैमित्तिकपनेके आधारपर कार्य-कारणका विचार करना अन्य बात है।

अपर पक्षने समयसारकी 'अप्पडिकमणं दुविहं' गाथा उद्धृत कर तीन गाथाओंकी टीका दी है। और उस परसे यह सिद्ध किया है कि 'पर द्रव्य निमित्त कारण है और आत्माके रागादि विकार पर द्रव्यके निमित्तसे होते हैं।' पर अपर पक्ष इस तथ्यको भूल जाता है कि पर द्रव्यमें रागादिकी निमित्तताका व्यवहार कब होता है, उनके प्रति प्रीति-अप्रीति करने पर या सदा काल ही। यदि वे सदा काल निमित्त हैं तो इस जीवके रागादिका परिहार होना सदा काल असम्भव है। यदि इस दोषसे बचनेके लिए अपर पक्षका यह कहना हो कि जब यह जीव उनके प्रीति-अप्रीतिरूप परिणाम करता है तभी वे रायादिकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं, अन्यथा नहीं। तो इससे सिद्ध हुआ कि यह रागाविष्ट जीव आप कर्ता होकर रागादिको उत्पन्न करता है, पर जिनको लक्ष्य कर यह रागादिको उत्पन्न करता है उनके साथ रागादि परिणामोंका निमित्त-नैमित्तिकपना बन जानेसे उनका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कराया जाता है। जैसे आत्मा स्वभावसे रागादिका कर्ता नहीं है, वैसे ही परद्रव्य भी स्वभावसे रागादिकके उत्पादक नहीं हैं। उनमें उत्पादकताका व्यवहार तभी बनता है जब कि उनके लक्ष्यसे आत्मा रागी, द्वेषी हो परिणमता है। आत्मामें पायी जानेवाली क्रोधादिरूपताके सम्बन्धमें भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए। इसका विशेष ऊहापोह ५वें प्रश्नके तीसरे उत्तरमें करनेवाले हैं ही। पण्डितप्रवर दौलतरामजीने छहढालाकी तीसरी ढालमें व्यवहारधर्ममें जो निश्चयधर्मकी हेतुताका उल्लेख किया है वह व्यवहारहेतुताकी दृष्टिसे ही किया है। व्यवहार धर्म जब कि स्वयं उपचरित धर्म है तो वह निश्चयधर्मका उपचरित हेतु ही हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका परमार्थसे साधक नहीं है। उसे निश्चयधर्मका साधक उपचार नयका आश्रय करके ही कहा गया है।

■

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षा

ॐ श्रीतत्त्वदर्शिभ्यो नमः।

मंगलाचरण

देवशास्त्रगुरून् नत्वा जैनसिद्धान्तदीपिका।
खानियातत्त्वचर्चायाः समीक्षा लिख्यते मया ॥

१-प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षा

प्रश्नोत्तर १ के आवश्यक अंशोंके उद्धरण

पूर्वपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ? त० च० पृ० १।

उत्तरपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म-सम्बन्ध नहीं है।—त० च० पृ० १।

पूर्वपक्ष २—इस प्रश्नका उत्तर जो आपने यह दिया है कि व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है, सो यह उत्तर हमारे प्रश्नका नहीं है, क्योंकि हमने द्रव्यकर्म और आत्माका निमित्त-नैमित्तिक तथा कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं पूछा है।—त० च० पृ० ४।

उत्तरपक्ष २—यह ठीक है कि प्रश्नका उत्तर देते हुए समयसारकी ८० से ८२ तककी जिन तीन गाथाओंका उद्धरण देकर निमित्त-नैमित्तिकभाव दिखलाया गया है वहाँ कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निर्देश मात्र इसलिए किया गया है, ताकि कोई ऐसे भ्रममें न पड़ जाय कि यदि आगममें निमित्तमें कर्तृपनेका व्यवहारसे व्यपदेश किया गया है तो वह यथार्थमें कर्त्ता बनकर कार्यको करता होगा। वस्तुतः जैनागममें कर्त्ता तो उपादानको ही स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि जिनागममें कर्त्ताका लक्षण "जो परिणमन करता है वह कर्त्ता होता है" यह किया गया है।—त० च० पृ० ८।

पूर्वपक्ष ३—इस प्रश्नका आशय यह था कि जीवमें जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं क्या वे द्रव्यकर्मोदयके बिना होते हैं या द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते हैं। संसारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गतिभ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या वह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतंत्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है।

आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था। आपने अपने दोनों वक्तव्योंमें निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है।

यह तो सर्वसम्मत है कि जीव अनादिकालसे विकारी हो रहा है। विकारका कारण कर्मबन्ध है, क्योंकि दो पदार्थोंके परस्पर बन्ध बिना लोकमें विकार नहीं होता। कहा भी है—"द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्"—पद्मनन्दि-पंचविंशतिका २३-७।

यदि क्रोध आदि विकारीभावोंको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान वे भी जीवके स्वभाव-भाव हो जायेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारीभावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आ जावेगा।—त० च० पृ० १०।

उत्तरपक्ष ३—इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमें ही हम यह बतला आये हैं कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। विकारभाव और चतुर्गति-परिभ्रमणका मुख्यकर्त्ता तो स्वयं आत्मा ही है। इस तथ्यकी पुष्टिमें हमने समयसार, पंचास्तिकायटीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाके अनेक प्रमाण दिये हैं। किन्तु अपर पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान माननेके लिये तैयार नहीं प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमणमें व्यवहार-नयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूलप्रश्नका उत्तर नहीं मानता, इसका हमें आश्चर्य है। हमारे प्रथम उत्तरको लक्ष्यकर अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशंका २ के उत्तरमें भी हमारी ओरसे अपने प्रथम उत्तरमें निहित अभिप्रायकी ही पुष्टि की गई है।

तत्काल हमारे सामने द्वितीय उत्तरके आधारसे लिखी गई प्रतिशंका ३ विचारके लिए उपस्थित है। इस द्वारा सर्वप्रथम यह शिकायत की गई है कि हमारी ओरसे अपर पक्षके मूलप्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें ही दिया गया है और न ही इस दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है। "संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें कर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्त मात्र है, मुख्यकर्त्ता नहीं" इस उत्तरको अपर पक्ष अप्रा-संगिक मानता है। अब देखना यह है कि वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासंगिक है या अपर पक्षका यह कथन अप्रासंगिक ही नहीं, सिद्धान्तविरुद्ध है, जिसमें उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है, इसे यथार्थ कथन माना गया है।

अपर पक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिका २३-७ का "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस वचनको उद्धृत-कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो यहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है? वह दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमें नहीं कर सकते। इसी बातको समयसार आत्मख्यातिटीकामें स्पष्ट करते हुए बतलाया है।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

—त० च० पृ० ३२

इन उद्धरणोंको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन

इन उद्धरणोंको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वजिज्ञासुओंको यह समझमें आ जाए कि पूर्व पक्षने अपने प्रश्नमें जो पूछा है उसका समाधान उत्तरपक्षके उत्तरसे नहीं होता। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है—

पूर्व पक्षके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट होता है कि वह उत्तरपक्षसे यह पूछ रहा है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है या नहीं। स्वयं उत्तरपक्षने भी अपने

तृतीय दौरके अनुच्छेदमें इस बातको स्वीकार किया है[1]। इसलिये उत्तरपक्षको अपना उत्तर या तो ऐसा देना चाहिए था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है। अथवा ऐसा देना चाहिए था कि वह उसमें निमित्त नहीं होता है—संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण द्रव्यकर्मके उदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही होता रहता है।

उत्तरपक्षने प्रश्नका उत्तर यह दिया है कि "द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है।" त० च० पृ० १।

इस उत्तरमें "व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है" इस कथनका आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। स्वयं उत्तरपक्षने भी अपने तृतीय दौरके अनुच्छेद १ में यह स्वीकार किया है[2]। परन्तु पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें यह नहीं पूछा है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है या निश्चयनयका। अथवा यह नहीं पूछा है कि उक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारसे है या निश्चयसे। पूर्वपक्षका प्रश्न तो यह है कि द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं (त० च० पृ० १)। इसका आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है या नहीं। अथवा यह आशय होता है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विद्यमान है या नहीं। प्रश्नका स्पष्ट आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहांपर उस रूपमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है और संसारी आत्मा द्रव्यकर्मोदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणरूप परिणमन करता रहता है।

यतः उत्तरपक्ष द्वारा दिये गये उक्त उत्तरसे उक्त प्रश्नका उपर्युक्त प्रकार समाधान नहीं होता, अतः निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है।

उत्तर प्रश्नके बाहर भी है

उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें यह अतिरिक्त बात भी जोड़ दी है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृ-कर्मसम्बन्ध नहीं है, जिसका प्रश्नके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें उनके मध्य कर्तृ-कर्म सम्बन्ध होने या न होनेकी चर्चा ही नहीं की है। इस तरह इससे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है।

उत्तर अप्रासंगिक है

यतः उपर्युक्त विवेचनके अनुसार उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है अतः स्पष्ट हो जाता है कि उक्त उत्तर अप्रसांगिक है।

---

१. एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है।—त० च० पृ० ३२।

२. और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूल प्रश्नका उत्तर नहीं मानता, इसका हमें आश्चर्य है।—त० च० पृ० ३२।

उत्तर अनावश्यक है

एक बात यह भी है कि दोनों ही पक्ष उक्त-नैमित्तिक सम्बन्धको व्यवहारनयका विषय मानते हैं। उसमें दोनों पक्षोंके मध्य कोई विवाद ही नहीं है। इस बातको उत्तर पक्ष भी जानता है। अतः उसे अपने उत्तरमें उसका निर्देश करना अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य यह विवाद है कि जहां उत्तरपक्ष व्यवहारनयके विषयको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहां पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है, परन्तु वह प्रकृत प्रश्नके विषयसे भिन्न होनेके कारण उसपर स्वतन्त्र रूपसे ही विचार करना संगत होगा। अतएव इस पर यथावश्यक आगे विचार किया जायगा।

दूसरी बात यह है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्ष कर्तृ-कर्म सम्बन्धको नहीं मानते हैं और मानते भी हैं तो उपचारसे मानते हैं। इस बातको भी उत्तरपक्ष जानता है। अतः उसके द्वारा उत्तरमें इसका निर्देश किया जाना भी अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमें भी दोनों पक्षोंके मध्य यह विवाद है कि जहां उत्तरपक्ष उस उपचारको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहां पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है। इसपर भी यथा-वश्यक आगे विचार किया जायगा।

यतः प्रसंगवश प्रकृत विषयको लेकर दोनों पक्षोंके मध्य विद्यमान मतैक्य और मतभेदका स्पष्टीकरण किया जाना तत्त्वजिज्ञासुओंकी सुविधाके लिए आवश्यक है अतः यहां उनके मतैक्य और मतभेदका स्पष्टी-करण किया जाता है।

मतैक्यके विषय

१. दोनों ही पक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तकारण और संसारी आत्माको उपादानकारण मानते हैं।

२. दोनों ही पक्ष मानते हैं कि उक्त विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण उपादानकारणभूत संसारी आत्माका ही होता है। निमित्तिकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्कर्मका नहीं होता।

३. दोनों ही पक्षोंकी मान्यतामें उक्त कार्यका उपादानकारणभूत संसारी आत्मा यथार्थ कारण और मुख्य कर्ता है व निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म अयथार्थ कारण और उपचरित कर्ता है।

४. दोनों ही पक्षोंका कहना है कि उक्त कार्यके प्रति उपादानकारणभूत संसारी आत्मामें स्वीकृत उपादानकारणता, यथार्थकारणता और मुख्यकर्तृत्व निश्चयनयके विषय हैं और निमित्तकारणभूत उदय-पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्ममें स्वीकृत निमित्तकारणता, अयथार्थकारणता और उपचरितकर्तृत्व व्यवहारनयके विषय हैं।

मतभेदके विषय

१. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्त कारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर मानता है

वहां पूर्वपक्ष उसे वहांपर उस कार्यरूप परिणत न होने के आधारपर अकिंचित्कर और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानता है।

२. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता मानते हैं, परन्तु जहां उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर अयथार्थ-कारण और उपचरितकर्त्ता मानता है वहां पूर्वपक्ष उसे वहांपर उस कार्यरूप परिणत न होनेके सा। उपादान-कारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर अयथार्थ कारण और उप-चरितकर्त्ता मानता है।

३. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्थकारण और मुख्यकर्त्ता रूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधार पर भूतार्थ मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तर पक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, अयथार्थकारण और उपचरित कर्त्ता रूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ मानता है।

४. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता रूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर भूतार्थ मानकर निश्चयनयका विषय मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, यथार्थकारण और उपचरित कर्त्ता रूप से स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्य रूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अभूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्य रूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार पर भूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्य के प्रति दोनों पक्षोंके मध्य न तो संसारी आत्माको उपादान कारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता माननेके विषयमें विवाद है और न उसकी कार्यकारिता, भूतार्थता और निश्चयनय विषयताके विषयमें विवाद है। इसी तरह उसी कार्यके प्रति दोनों पक्षोंके मध्य न तो उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्त कारण, अय-थार्थ कारण और उपचरितकर्त्ता माननेके विषयमें विवाद है और न उसकी व्यवहारनयविषयताके विषयमें विवाद है। दोनों पक्षोंके मध्य विवाद केवल उक्त कार्यके प्रति उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मकी उत्तरपक्षको मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्व पक्षको मान्य कथंचित् अकिंचित्करता व कथंचित् कार्यकारिता तथा कथंचित् अभूतार्थता व कथंचित् भूतार्थताके विषयमें है।

उपर्युक्त विवेचनके आधार पर दो विचारणीय बातें

उपर्युक्त विवेचनके आधार पर दो बातें विचारणीय हो जाती हैं। एक तो यह कि संसारी आत्माके बिकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्षों द्वारा निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म

को पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अकिंचित्कर और उपादान कारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार पर कार्यकारी माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँ पर उस कार्य रूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अकिंचित्कर माना जाय। और दूसरी यह कि उस उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको पूर्व पक्षकी मान्यताके अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे कथंचित् अकिंचित्कर व कथंचित् कार्यकारी मानकर उस रूपमें कथंचित् अभूतार्थ और अथंचित् भूतार्थ माना जाय, व इस तरह उसे अभूतार्थ और भूतार्थरूपमें व्यवहारनयका विषय माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँ पर उपर्युक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उस रूपमें सर्वथा अभूतार्थ माना जाए व इस तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ रूपमें व्यवहारनयका विषय माना जाए।

उपर्युक्त दोनों बातोंमेंसे प्रथम बातके सम्बन्धमें विचार करनेके उद्देश्यसे ही खानिया तत्त्वचर्चाके अवसरपर दोनों पक्षोंकी सहमतिपूर्वक उपर्युक्त प्रथम प्रश्न उपस्थित किया गया था। इतना ही नहीं, खानिया तत्त्वचर्चाके सभी १७ प्रश्न उभयपक्षकी सहमति पूर्वक ही चर्चाके लिये प्रस्तुत किये गये थे।

यहाँ प्रसंगवश मैं इतना संकेत कर देना उचित समझता हूँ कि तत्त्वचर्चाकी भूमिका तैयार करनेके अवसरपर पं० फूलचन्द्रजीने मेरे समक्ष एक प्रस्ताव इस आशयका रखा था कि चर्चाके लिए जितने प्रश्न उपस्थित किये जायेंगे वे सब उभय पक्षकी सहमतिसे ही उपस्थित किये जायेंगे और उपस्थित सभी प्रश्नोंपर दोनों पक्ष प्रथमतः अपने-अपने विचार आगमके समर्थन पूर्वक एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे तथा दोनों ही पक्ष एक दूसरे पक्षके समक्ष रखे गये उन विचारोंपर आगमके आधारपर ही अपनी आलोचनाएँ एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे और अन्तमें दोनों ही पक्ष उन आलोचनाओंका उत्तर भी आगमसे प्रमाणित करते हुए एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि पं० फूलचन्द्रजीके इस प्रस्तावको मैंने सहर्ष तत्काल स्वीकार कर लिया था, परन्तु चर्चाके अवसरपर पं० फूलचन्द्रजी सोनगढ़के प्रतिनिधि नेमिचन्द्रजी पाटनीके दुराग्रहके सामने झुककर अपने उक्त प्रस्तावको रचनात्मक रूप देनेके लिए तैयार नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सभी प्रश्न उभय पक्ष सम्मत होकर दोनों पक्षोंको समान रूपसे विचारणीय थे, वे पूर्वपक्षके प्रश्न बनकर रह गये और उत्तरपक्ष उनका समाधानकर्त्ता बन गया।

यतः प्रश्नोंको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षने प्रमुख भूमिकाका निर्वाह किया था, अतः उसे एक तो पं० फूलचन्द्रजीके उक्त परिवर्तित रुखको देखकर उसको दृष्टिसे ओझल कर देना पड़ा और दूसरी बात यह भी थी कि उसके सामने तत्त्वनिर्णयका उद्देश्य प्रमुख था व उसको अणु मात्र भी यह कल्पना नहीं थी कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षकी इस सहनशीलताका दुरुपयोग करेगा। परन्तु तत्त्वचर्चा अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षकी सहनशीलताका तत्त्वचर्चामें अधिकसे अधिक दुरुपयोग किया है। यह बात तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षासे भी ज्ञात हो जायगी।

समीक्षा लिखनेमें हेतु

यतः उभय पक्ष सम्मत वे सभी प्रश्न उपर्युक्त प्रकार पूर्वपक्षके प्रश्न बन गये और उत्तरपक्ष उनका समाधानकर्त्ता। अतः इस समीक्षाका लिखना तत्त्वनिर्णय करनेकी दृष्टिसे आवश्यक हो गया है। एक बात

और है कि पं० फूलचन्द्रजीके प्रस्तावके अनुसार दोनों पक्ष प्रत्येक प्रश्नपर यदि अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते तो दोनों पक्षोंकी अन्तिम सामग्री एक-दूसरे पक्षकी समालोचनासे अछूती रहती। और इस तरह दोनों पक्षोंकी अन्तिम सामग्रीपर मतभेद रहनेपर तत्त्वनिर्णय करनेका अधिकार तत्त्वजिज्ञासुओंको प्राप्त होता। परन्तु जिस रूपमें तत्त्वचर्चा सामने है उसमें अन्तिम उत्तर उत्तरपक्षका होनेसे तत्त्वजिज्ञासुओंको तत्त्वनिर्णय कर लेना संभव नहीं रह गया है। इस दृष्टिसे भी इस समीक्षाकी उपयोगिता बढ़ गई है।

उत्तरपक्ष द्वारा अपने उत्तरमें विपरीत परिस्थितियोंका निर्माण

पूर्वमें वतलाया जा चुका है कि प्रकृत प्रश्नको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षका आशय इस बातको निर्णीत करनेका था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे अर्थात् सहायक होने रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है व संसारी आत्मा द्रव्यकर्मके उदयका सहयोग प्राप्त किये विना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमण करता रहता है। उत्तरपक्ष प्रश्नको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षके इस आशयको समझता भी था, अन्यथा वह अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमें पूर्वपक्षके प्रति ऐसा क्यों लिखता कि "एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है।" परन्तु जानते हुए भी उसने अपने प्रथम दौरमें, प्रश्नका उत्तर न देकर उससे भिन्न नयविषयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चाको प्रारंम्भ कर दिया। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें विपरीत परिस्थितियोंका निर्माण किया है और इसके कारण ही पूर्वपक्षको अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमें यह लिखना पड़ा कि 'आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें दिया गया है और न दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था। आपने अपने दोनों वक्तव्योंमें निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है।

उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर उल्टा आरोप

ऊपर किये गये स्पष्टीकरणसे यह ज्ञात हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० २ में जो यह लिखा है कि 'वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासंगिक है या अपरपक्षका यह कथन अप्रासंगिक ही नहीं सिद्धान्तविरुद्ध है जिसमें उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है'। सो उसका—उत्तरपक्षका ऐसा लिखना 'उल्टा चोर कोतवालको डाँटे' जैसा ही है, क्योंकि उसने स्वयं तो पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर न देकर नयविषयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की, लेकिन अपनी इस त्रुटिको स्वीकार न कर उसने अप्रासंगिकताका उल्टा पूर्वपक्षपर ही आरोप लगाया। इससे यही स्पष्ट होता है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर देनेमें आनाकानी की है और इसे छिपानेके लिये ही उसने उक्त अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की। यही कारण है कि उसके इस प्रयत्नको पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न कहा है। इसी तरह उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि 'विकारका कारण बाह्यसामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है' सो यह भी पूर्वपक्षके ऊपर उत्तरपक्षका मिथ्या आरोप है, क्योंकि पूर्वपक्ष, जैसाकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है, विकारकी कारणभूत बाह्यसामग्रीको उत्तरपक्षके समान अयथार्थ कारण ही मानता है।

इस विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य यह मतभेद अवश्य है कि जहाँ उत्तरपक्ष विकारकी कारणभूत उस

बाह्यसामग्रीको वहाँ पूर्वोक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर रूपमें अयथार्थ कारण मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पूर्वोक्तप्रकार ही कथंचित् अकिंचित्कर और कथंचित् कार्यकारी रूपमें अयथार्थ कारण मानता है। दोनों पक्षोंकी परस्पर विरोधी इन मान्यताओंमेंसे कौन-सी मान्यता आगमसम्मत है और कौन-सी आगमसम्मत नहीं है, इस पर आगे विचार किया जायगा।

इसी प्रकार उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० ३ में पूर्वपक्ष द्वारा तृतीय दौरमें उद्धृत 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस आगमवाक्यको लेकर उसपर (पूर्वपक्षपर) मिथ्या आरोप लगानेके लिये लिखा है कि 'अपरपक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिका २३–७ के 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस कथनको उद्धृत कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो वहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है ? वह दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकाल में नहीं कर सकते।'

इस विषयमें मेरा कहना है और उत्तरपक्ष भी जानता है कि उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय नहीं है कि दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, अपितु उसका अभिप्राय यही है कि एक वस्तुकी विकारी परिणति दूसरी अनुकूल वस्तुका सहयोग मिलनेपर ही होती है व पूर्वपक्षने इसी आशयसे उक्त आगमवाक्यको अपने वक्तव्यमें उद्धृत किया है, दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, इस आशयसे नहीं। इस तरह उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर यह आरोप लगाना भी मिथ्या है।

जान पड़ता है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षपर उक्त प्रकारका मिथ्या आरोप लगानेकी दृष्टिसे ही उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय लेना चाहता है कि दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है। इस तरह कहना चाहिए कि उत्तरपक्षकी यह वृत्ति उस व्यक्तिके समान है जो दूसरेको अपशकुन करनेके लिये अपनी आँख फोड़नेका प्रयत्नकरता है।

अन्तमें मैं कहना चाहता हूँ कि तत्त्वफलित करनेकी दृष्टिसे की जानेवाली इस तत्त्वचर्चामें ऐसे सारहीन और अनुचित प्रयत्न करना उत्तरपक्षके लिये शोभास्पद नहीं हैं। किन्तु उसने ऐसे प्रयत्न तत्त्वचर्चामें स्थान-स्थानपर किये हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरपक्षने अपने इस प्रकारके प्रयत्नों द्वारा पूर्वपक्षको उलझा देना ही अपने लिये श्रेयस्कर समझ लिया था।

उत्तरपक्षके इस तरहके प्रयत्नोंका एक परिणाम यह हुआ है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्वचर्चा न रहकर केवल वितण्डावाद बन गई है और वह इतनी विशालकाय हो गई है कि उसमेंसे तत्त्व फलित कर लेना विद्वानोंके लिए भी सरल नहीं है।

यद्यपि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योंमें शक्ति भर यह प्रयत्न किया है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्व फलित करने तक ही सीमित रहे। परन्तु इस विषयमें उत्तरपक्षका सहयोग नहीं मिल सका, यह खेदकी बात है।

वास्तविक बात यह है कि इस तत्त्वचर्चामें उत्तरपक्षने अपनी एक ही दृष्टि बना ली थी कि जिस किसी प्रकारसे अपने पक्षको विजयी बनाया जावे। इसलिए उसके आदिसे अन्त तकके सभी प्रयत्न केवल अपने उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ही हुए हैं।

यहाँ पर मैं ए ... बात यह भी कह देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जिस आगम-की पग-पग पर दु ... हाई दी है उसका उसने बहुतसे स्थानोंपर साभिप्राय अनर्थ भी किया है। जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा ... चुका है कि पद्मनन्दि पंचविंशतिका २३-७ का उसने पूर्वपक्षका मिथ्या विरोध करनेके लिए जान-बूझक ... र विपरीत अर्थ करनेका प्रयत्न किया है और इसी तरहके प्रयत्न उसने आगे भी किये हैं जिन्हें यथास् ... न प्रकाशमें लाया जायगा।

अब आगे प्रकृत प्रश्नोत्तरके प्रत्येक दौरकी सामग्रीकी पृथक्-पृथक् समीक्षा की जाती है।

२. प्रश्नोत्तर १ के प्रथम दौरकी समीक्षा

समयसार गाथा ८१ के अर्थमें उत्तरपक्षकी बौद्धिक भूल

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका जो उत्तर अपने प्रथम दौरमें दिया है उसकी पुष्टिमें उसने वहाँ पर समयसारकी ८० से ८२ तककी तीन गाथाओंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। इनमेंसे गाथा ८१ का अर्थ उसने विपरीत किया है। वह अर्थ निम्न प्रकार है—

"जीव कर्ममें विशेषताको (पर्यायको) उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार कर्म जीवमें विशेषताको (पर्यायको) उत्पन्न नहीं करता। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो।"—त० च० पृ० १

ऐसा अर्थ करनेमें उत्तरपक्षकी भूल यह है कि इसमें उसने आगमके आधारपर स्वयं स्वीकृत सिद्धान्त की उपेक्षा कर दी है। उसने आगमके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि जो परिणमता है या परिणमन करता है वह कर्ता होता है। परन्तु गाथा ८१ का अर्थ करते समय उसने इस सिद्धान्तको भुला दिया है। उक्त सिद्धान्तके अनुसार गाथाका अर्थ निम्न प्रकार है—

'जीव कर्मगुणको नहीं करता अर्थात् कर्मगुणरूप परिणत नहीं होता और कर्म जीवगुणको नहीं करता अर्थात् जीवगुणरूप परिणत नहीं होता। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो।'

ऐसा मालूम होता है कि उत्तर पक्षने गाथामें पठित 'कर्मगुण' और 'जीवगुण' इन दोनों पदोंको सप्तमी तत्पुरुषके रूपमें समस्त पद समझकर गाथाका अर्थ किया है जब कि उन पदोंको षष्ठी तत्पुरुषके रूपमें समस्त पद मानकर गाथाका अर्थ करना चाहिए था।

प्रश्नके उत्तरमें उक्त गाथाओंकी अनुपयोगिता

समयसार गाथा ८२ एक वस्तुमें अन्त वस्तुके कर्तृत्वका निषेध करती है जो निर्विवाद है। परन्तु प्रकृत प्रश्नके उत्तरमें उसकी उपयोगिता नहीं है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रश्न द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी कार्यकारिता या अकिंचित्करताका निर्णय करनेकी दृष्टिसे किया गया है। इस तरह ८० से ८२ तककी उक्त गाथाओंमेंसे केवल गाथा ८० की उपयोगीता ही प्रश्नके उत्तरमें हो सकती है। गाथा ८१ की उपयोगिता भी कुछ अंशोंमें प्रश्नके उत्तरमें हो सकती है, क्योंकि उसके उत्तरार्धसे भी उक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी पुष्टि कर्तृकर्म सम्बन्धके निषेध पूर्वक होती है। तथापि प्रश्नका जो उत्तर उत्तरपक्षने दिया है उसका जब प्रश्नके आशयसे मेल नहीं खाता तो ये दोनों गाथाएँ भी वहाँ अनुपयोगी सिद्ध होती हैं।

उक्त गाथाएँ प्रकृतमें उत्तरपक्षकी मान्यताके विपरीत हैं

एक बात यह भी है कि समयसारकी उक्त गाथाएँ द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिकभावकी उत्तरपक्षको मान्य अकिंचित्करताको सिद्ध करनेमें असमर्थ हैं, प्रत्युत पूर्वपक्षको मान्य उसकी कार्यकारिताको ही सिद्ध करती हैं, क्योंकि गाथाओंका अर्थ करते समय स्वयं उत्तरपक्षने इस बातको स्वीकार किया है कि एक दूसरेके निमित्तसे एक दूसरेका परिणाम होता है। इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा।

प्रश्नके उत्तरमें अन्य प्रमाण भी अनुपयोगी हैं

उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें पंचास्तिकाय गाथा ८९ की जिस टीकाका उद्धरण निमित्तको व्यवहार हेतु सिद्ध करनेके लिए दिया है उसके विषयमें यद्यपि पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके साथ कोई विवाद नहीं है, परन्तु उसका प्रश्नके उत्तरमें कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रश्न नयविषय को लेकर नहीं किया गया है, अपितु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी कार्यकारिता या अकिंचित्करताको सिद्ध करनेकी दृष्टिसे किया गया है। इस तरह वहाँ उक्त सम्बन्धकी व्यवहारनयविषयताको पुष्ट करनेवाली पंचा-स्तिकायकी उक्त टीकाको उद्धृत करनेकी क्या उपयोगिता रह जाती है? एक बात यह भी है कि उक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी व्यवहारनयविषयताको लेकर दोनों पक्षोंके मध्य कोई विवाद भी नहीं है। जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है।

इसी तरह उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निषेध करनेके लिए प्रवचनसार गाथा २-७७-॥१६९॥ और उसकी टीकाको भी उद्धृत किया है तथा उनमें कर्तृकर्म सम्बन्ध की उपचरितरूपताको सिद्ध करनेके लिए समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकाको भी उद्धृत किया है। परन्तु जब पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि इस विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य न तो कोई विवाद है और न प्रश्न ही इस आशयसे किया गया है तो उत्तरपक्ष द्वारा जानते हुए भी इस प्रकारका निरर्थक प्रयास किया जाना उसकी बुद्धिमानीका सूचक नहीं है।

उक्त प्रमाण भी उत्तरपक्षकी मान्यताके विपरीत प्रयोजन सिद्ध करते हैं

प्रवचनसार गाथा २-७७ ॥१६९॥ और उसकी टीकासे उत्तर पक्षकी मान्यताके विपरीत यह प्रयो-जन सिद्ध होता है कि कर्मत्वके योग्य स्कन्ध (कार्माणवर्गणाएँ) आत्माकी अनुकूल परिणतिको प्राप्त कर कर्म-भावको प्राप्त होते हैं। इसी तरह समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकासे भी उत्तरपक्षकी मान्यताके विपरीत यह प्रयोजन सिद्ध होता है कि जीवके निमित्त होनेपर कर्मबन्धका परिणाम देखा जाता है। इस तरह इनसे कार्योत्पत्तिमें पूर्वपक्षको मान्य निमित्तकी कार्यकारिता ही सिद्ध होती है। उत्तरपक्षको मान्य उसकी अकिंचित्करता सिद्ध नहीं होती।

किंच, प्रवचनसार गाथा २-७७ ॥१६९॥ और उसकी टीकासे जीवमें कर्मके कर्तृत्वका जो निषेध सिद्ध होता है वह निर्विवाद है। परन्तु उनसे कार्माणवर्गणाओंके कर्मरूप परिणमनमें जीवकी निमित्त रूपसे (सहायकरूपसे) कारणताकी तो सिद्धि ही होती है। इसी तरह समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकासे कर्मबन्धके प्रति जीवमें उपचरित कर्तृत्व सिद्ध होता है, वास्तविक कर्तृत्व नहीं, जो निर्विवाद है। परन्तु उनसे यह भी तो सिद्ध होता है कि जीवमें कर्मबन्धके प्रति उपचरित कर्तृत्व तभी सिद्ध होता है जब उस कर्मबन्धके

प्रति जीवको निमित्त रूपसे कार्यकारी स्वीकार कर लिया जावे, अन्यथा नहीं । इस तरह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथन उत्तरपक्षकी निमित्तको अकिंचित्कर स्वीकार करनेकी मान्यताका आत्मघाती है ।

तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्ष, जैसा कि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है—संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्तकारण तो मानता है, परन्तु वह वहीं उसे उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है जब कि पूर्वपक्ष उस कार्यके प्रति उस उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको जो निमित्तकारण मानता है ।वह इस आधारपर मानता है कि वह उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिंचित्कर और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी सिद्ध होता है । प्रवचनसारकी उक्त गाथा (२-७७ ॥ १६९ ॥) व उसकी टीका तथा समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकासे भी वह उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म पूर्वोक्त प्रकार संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यके प्रति सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी ही सिद्ध होता है । उत्तरपक्षको अपनी मान्यताके विरोधी इन आगमवचनोंको उपस्थित करते हुए इस स्थितिपर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए था । पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्षके प्रश्नका आशय यही था कि दोनों ही पक्षों द्वारा निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होनेरूपसे कार्यकारी होता है या वह उसमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है । परन्तु उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें उस द्रव्यकर्मके उदयके विषयमें न तो पूर्व पक्षकी इस मान्यताको स्वीकार किया है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकार भाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक रूपसे कार्यकारी होता है । और न उसके विषयमें अपनी सर्वथा अकिंचित्करता सम्बन्धी मान्यताको ही पुष्ट किया है। उसने अपने उत्तरमें केवल इतना ही बतलाया है कि द्रव्यकर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्तकारण है व साथमें यह भी कथन किया है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है जबकि इन दोनों बातोंका प्रश्नके उत्तरमें कोई उपयोग नहीं है और जैसा कि पहले हो स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्व पक्षको उत्तरपक्षके साथ न तो द्रव्यकर्मोदयगत निमित्तताको व्यवहारनयका विषय माननेमें विवाद है और न द्रव्यकर्मोदय व संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृकर्मसम्बन्धको न माननेके विषयमें ही विवाद है । पूर्वपक्षका प्रश्न केवल यह था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त (सहायक) रूपसे कार्यकारी होता है या वह उसमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है । ऐसी स्थितिमें उत्तरपक्षको प्रश्नका उत्तर देते समय यह निर्णय करना था कि क्या उसका उत्तर प्रश्नका समाधान करनेमें सक्षम है ? तत्त्वजिज्ञासुओंको इस विषयमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । आगे प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षा की जाती है ।

३. प्रश्नोत्तर १ के द्वितीय दौरकी समीक्षा

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

यतः उत्तरपक्षने अपने प्रथम दौरमें पूर्व पक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया है, अतः पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षके प्रथम दौरकी सामग्रीकी आलोचना करते हुए ऐसे आगमप्रमाणोंको उद्धृत किया है, जिनसे संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें संसारी आत्माके लिए सहायक होने रूपसे द्रव्यकर्म

उक्त गाथाएँ प्रकृतमें उत्तरपक्षकी मान्यताके विपरीत हैं

एक बात यह भी है कि समयसारकी उक्त गाथाएँ द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिकभावकी उत्तरपक्षको मान्य अकिंचित्करताको सिद्ध करनेमें असमर्थ हैं, प्रत्युत पूर्वपक्षको मान्य उसकी कार्यकारिताको ही सिद्ध करती हैं, क्योंकि गाथाओंका अर्थ करते समय स्वयं उत्तरपक्षने इस बातको स्वीकार किया है कि एक दूसरेके निमित्तसे एक दूसरेका परिणाम होता है। इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा।

प्रश्नके उत्तरमें अन्य प्रमाण भी अनुपयोगी हैं

उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें पंचास्तिकाय गाथा ८९ की जिस टीकाका उद्धरण निमित्तको व्यवहार हेतु सिद्ध करनेके लिए दिया है उसके विषयमें यद्यपि पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके साथ कोई विवाद नहीं है, परन्तु उसका प्रश्नके उत्तरमें कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रश्न नयविषयको लेकर नहीं किया गया है, अपितु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी कार्यकारिता या अकिंचित्करताको सिद्ध करनेकी दृष्टिसे किया गया है। इस तरह वहाँ उक्त सम्बन्धकी व्यवहारनयविषयताको पुष्ट करनेवाली पंचास्तिकायकी उक्त टीकाको उद्धृत करनेकी क्या उपयोगिता रह जाती है? एक बात यह भी है कि उक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी व्यवहारनयविषयताको लेकर दोनों पक्षोंके मध्य कोई विवाद भी नहीं है। जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है।

इसी तरह उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निषेध करनेके लिए प्रवचनसार गाथा २-७७-॥१६९॥ और उसकी टीकाको भी उद्धृत किया है तथा उनमें कर्तृकर्म सम्बन्धकी उपचरितरूपताको सिद्ध करनेके लिए समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकाको भी उद्धृत किया है। परन्तु जब पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि इस विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य न तो कोई विवाद है और न प्रश्न ही इस आशयसे किया गया है तो उत्तरपक्ष द्वारा जानते हुए भी इस प्रकारका निरर्थक प्रयास किया जाना उसकी बुद्धिमानीका सूचक नहीं है।

उक्त प्रमाण भी उत्तरपक्षकी मान्यताके विपरीत प्रयोजन सिद्ध करते हैं

प्रवचनसार गाथा २-७७ ॥१६९॥ और उसकी टीकासे उत्तर पक्षकी मान्यताके विपरीत यह प्रयोजन सिद्ध होता है कि कर्मत्वके योग्य स्कन्ध (कार्माणवर्गणाएँ) आत्माकी अनुकूल परिणतिको प्राप्त कर कर्मभावको प्राप्त होते हैं। इसी तरह समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकासे भी उत्तरपक्षकी मान्यताके विपरीत यह प्रयोजन सिद्ध होता है कि जीवके निमित्त होनेपर कर्मवन्धका परिणाम देखा जाता है। इस तरह इनसे कार्योत्पत्तिमें पूर्वपक्षको मान्य निमित्तकी कार्यकारिता ही सिद्ध होती है। उत्तरपक्षको मान्य उसकी अकिंचित्करता सिद्ध नहीं होती।

किंच, प्रवचनसार गाथा २-७७ ॥१६९॥ और उसकी टीकासे जीवमें कर्मके कर्तृत्वका जो निषेध सिद्ध होता है वह निर्विवाद है। परन्तु उनसे कार्माणवर्गणाओंके कर्मरूप परिणमनमें जीवकी निमित्त रूपसे (सहायकरूपसे) कारणताकी तो सिद्धि ही होती है। इसी तरह समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकासे कर्मवन्धके प्रति जीवमें उपचरित कर्तृत्व सिद्ध होता है, वास्तविक कर्तृत्व नहीं, जो निर्विवाद है। परन्तु उनसे यह भी तो सिद्ध होता है कि जीवमें कर्मबन्धके प्रति उपचरित कर्तृत्व तभी सिद्ध होता है जब उस कर्मबन्धके

प्रति जीवको निमित्त रूपसे कार्यकारी स्वीकार कर लिया जावे, अन्यथा नहीं। इस तरह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथन उत्तरपक्षकी निमित्तको अकिंचित्कर स्वीकार करनेकी मान्यताका आत्मघाती है।

तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्ष, जैसा कि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है—संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्तकारण तो मानता है, परन्तु वह वहीं उसे उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है जब कि पूर्वपक्ष उस कार्यके प्रति उस उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको जो निमित्तकारण मानता है। वह इस आधारपर मानता है कि वह उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिंचित्कर और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी सिद्ध होता है। प्रवचनसारकी उक्त गाथा (२-७७ ॥ १६९ ॥) व उसकी टीका तथा समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकासे भी वह उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म पूर्वोक्त प्रकार संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यके प्रति सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी ही सिद्ध होता है। उत्तरपक्षको अपनी मान्यताके विरोधी इन आगमवचनोंको उपस्थित करते हुए इस स्थितिपर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए था। पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्षके प्रश्नका आशय यही था कि दोनों ही पक्षों द्वारा निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होनेरूपसे कार्यकारी होता है या वह उसमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है। परन्तु उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें उस द्रव्यकर्मके उदयके विषयमें न तो पूर्व पक्षकी इस मान्यताको स्वीकार किया है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकार भाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक रूपसे कार्यकारी होता है। और न उसके विषयमें अपनी सर्वथा अकिंचित्करता सम्बन्धी मान्यताको ही पुष्ट किया है। उसने अपने उत्तरमें केवल इतना ही बतलाया है कि द्रव्यकर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्तकारण है व साथमें यह भी कथन किया है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है जबकि इन दोनों बातोंका प्रश्नके उत्तरमें कोई उपयोग नहीं है और जैसा कि पहले हो स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्व पक्षको उत्तरपक्षके साथ न तो द्रव्यकर्मोदयगत निमित्तताको व्यवहारनयका विषय माननेमें विवाद है और न द्रव्यकर्मोदय व संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृकर्मसम्बन्धको न माननेके विषयमें ही विवाद है। पूर्वपक्षका प्रश्न केवल यह था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त (सहायक) रूपसे कार्यकारी होता है या वह उसमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है। ऐसी स्थितिमें उत्तरपक्षको प्रश्नका उत्तर देते समय यह निर्णय करना था कि क्या उसका उत्तर प्रश्नका समाधान करनेमें सक्षम है? तत्त्वजिज्ञासुओंको इस विषयमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। आगे प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षा की जाती है।

३. प्रश्नोत्तर १ के द्वितीय दौरकी समीक्षा

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

यतः उत्तरपक्षने अपने प्रथम दौरमें पूर्व पक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया है, अतः पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षके प्रथम दौरकी सामग्रीकी आलोचना करते हुए ऐसे आगमप्रमाणोंको उद्धृत किया है, जिनसे संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें संसारी आत्माके लिए सहायक होने रूपसे द्रव्यकर्म

के उदयकी कार्यकारिता सिद्ध होती है अन्तमें "आशा है आप हमारे मूल प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करेंगे।"[१] इस निवेदन रूप कथन द्वारा उत्तरपक्षको प्रश्नका उत्तर देनेके लिए प्रेरित किया है।

उत्तरपक्ष द्वारा पूर्वपक्षके विषयका पांच भागोंमें विभाजन

उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षके निवेदनपर ध्यान न देते हुए उसके द्वितीय दौरकी सामग्री पर आलोचनात्मक ढंगसे विचार करनेकी चेष्टा की है तथा विचारके लिए उसकी सामग्रीको पाँच भागोंमें विभक्त किया है। यहाँ उस सामग्रीकी समीक्षा भी प्रत्येक भागके क्रमसे की जाती है।

प्रथम भागकी समीक्षा

प्रथम भागमें एकत्रित पूर्वपक्षकी सामग्रीपर विचार करते हुए उत्तरपक्षने निम्नकथन किया है—

"प्रतिशंका २ में विविध प्रकारके प्रमाण देकर जो संसारी जीव और द्रव्यकर्मोदयमें हेतुकर्तृता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है सो ऐसा करनेमें क्या उद्देश्य रहा है, यह समझमें नहीं आया। यदि हेतुकर्तृता सिद्ध करते हुए निमित्तोंमें उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ऐसा भेद करनेका अभिप्राय रहा हो तो यह इष्ट है, क्योंकि प्रवचनसार गाथा ८८ में यह भेद स्पष्ट शब्दोंमें दिखलाया गया है। परन्तु ऐसे भेदको दिखलाते हुए भी उक्त वचनके आधारसे यदि यह सिद्ध करनेका अभिप्राय हो कि प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यमें कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो यह सिद्ध करना संगत न होगा, क्योंकि हेतुकर्तृ पदका व्यपदेश निमित्त मात्रमें देखा जाता है।" —त० च० पृ० ७।

इससे आगे उसने (उत्तरपक्षने) प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंमें हेतुकर्तृ पदके व्यपदेशकी पुष्टि के लिए सर्वार्थसिद्धिके प्रमाणको उद्धृत किया है तथा दोनों निमित्तोंमें समानता सिद्ध करनेके लिए उसनें इष्टोपदेश और उसकी टीकाको भी उद्धृत किया है।

समीक्षा

पूर्वपक्षने प्रतिशंका २ में विविध प्रमाण देकर जो संसारी जीव और द्रव्यकर्मोदयमें हेतुकर्तृता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है उसमें उसका उद्देश्य उपादान कर्तृत्व और निमित्त कर्तृत्वका प्रकृतमें भेद दिखलाते हुए यह प्रकट करनेका था कि द्रव्यकर्मोदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी सहायता मात्र करता है, उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी तरह वह उस कार्यरूप परिणत नहीं होता। जैसा कि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें स्वयं लिखा है कि "हमारा प्रश्न निमित्तकर्ताके उद्देश्यसे ही है उपादानकर्त्ताके उद्देश्यसे नहीं है।"[२] तथापि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके कथनका इस अभिप्रायसे भिन्न अभिप्राय ग्रहण करते हुए उसकी (पूर्वपक्षकी) ओरसे निमित्तकारणके जो प्रेरक और उदासीन दो भेदों की स्थापना की है और जिन्हें उसने स्वयं भी प्रवचनसार गाथा ८८ के आधारसे स्वीकार किया है, इस विषयमें पूर्वपक्षको कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार उत्तरपक्षने सर्वार्थसिद्धिके उद्धरणके आधारसे जो प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तकारणोंको हेतुकर्ता स्वीकार किया है उससे भी पूर्वपक्ष सहमत है, क्योंकि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें प्रेरक निमित्तको हेतुकर्ता सिद्ध करते हुए भी उदासीन निमित्तमें हेतुकर्तृत्वके निषेधका आभास नहीं दिया है। परन्तु उत्तरपक्षके वक्तव्यसे ऐसा मालूम होता है कि वह हेतुकर्तृत्वके आधारसे उदा-

---

१. देखो, त० च० पृ० ६।
२. देखो, त० च० पृ० ३।

सीन निमित्तकी अकिंचित्करताको निर्विवाद मानकर उसके समान प्रेरक निमित्तको भी हेतुकर्तृत्वके आधारसे अकिंचित्कर मान लेना चाहता है, जब कि उसे मालूम होना चाहिए था कि पूर्वपक्ष प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही मानता है।

तात्पर्य यह है कि कार्योत्पत्तिमें उपादानको तो दोनों ही पक्ष कार्यरूप परिणत होनेके आधारसे कार्यकारी मानते हैं। परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष प्रेरक और उदासीन दोनों ही निमित्तोंको कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारसे सर्वथा अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उक्त दोनों ही निमित्तोंको कार्यरूप परिणत न होनेके आधारसे अकिंचित्कर और उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारसे कार्यकारी मानता है।

दोनों पक्षोंकी परस्पर विरोधी इन मान्यताओंमेंसे किस मान्यताको सत्य और किस मान्यताको असत्य माना जाय, इसका निर्णय करनेके लिए दोनों निमित्तोंके विषयमें विचार करनेकी आवश्यकता है। इसके लिए सर्वप्रथम इनके लक्षणोंका निर्धारण किया जाता है।

दोनों निमित्तोंके लक्षणोंका निर्धारण

यतः उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिमें दोनों ही निमित्तोंको उपर्युक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर मानता है अतः वह उनके लक्षण इस प्रकार निर्धारित करता है कि "प्रेरक निमित्त वे हैं जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होते हैं और उदासीन निमित्त वे हैं जो चाहे क्रियावान् द्रव्य हों और चाहे अक्रियावान् द्रव्य हों, परन्तु जो क्रियाके माध्यमसे निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्योंके समान अन्य द्रव्योंके कार्यमें निमित्त होते हैं।"—त० च० पृ० ७

यतः पूर्वपक्ष कार्योत्पत्तिमें दोनों ही निमित्तोंको उपर्युक्त प्रकार कथंचित् अर्थात् कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिंचित्कर और कथंचित् अर्थात् उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार पर कार्यकारी मानता है अतः उसकी मान्यताके अनुसार दोनों निमित्तोंके लक्षण इस प्रकार हो सकते हैं कि प्रेरक निमित्त वे हैं जिनके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ रहा करती हैं और उदासीन निमित्त वे हैं जिनकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां रहा करती हैं।

निमित्तोंके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका रहना और कार्यके साथ निमित्तोंकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका रहना इन दोनों लक्षणोंमें अन्तर यह है कि अनुकूल निमित्तोंका सहयोग मिलनेपर उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणति होना और जब तक अनुकूल निमित्तोंका सहयोग प्राप्त न हो तब तक उसकी (उपादानकी) विवक्षित कार्यरूप परिणति न हो सकना यह निमित्तोंके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं तथा उपादानकी कार्यरूप परिणतिके अवसर पर निमित्तोंका उपादानको अपना सहयोग प्रदान करना और उपादान जब तक अपनी कार्यरूप परिणत होनेकी प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं करता तब तक उनका (निमित्तोंका) अपनी तटस्थ स्थितिमें बना रहना यह निमित्तोंकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं। इनमेंसे पहले प्रकारकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका सद्भाव जिन निमित्तोंमें पाया जावे वे प्रेरक निमित्त कहलाने योग्य हैं और दूसरे प्रकारकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका सद्भाव जिन निमित्तोंमें पाया जावें वे उदासीन निमित्त कहलाने योग्य हैं। यतः पहले प्रकारकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका सद्भाव प्रेरक निमित्तोंमें पाया जाता है अतः उनके (प्रेरक निमित्तोंके) बल पर कार्य आगे पीछे

कभी भी किया जा सकता है और यतः दूसरे प्रकारकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका सद्भाव उदासीन निमित्तोंमें पाया जाता है अतः उनके (उदासीन निमित्तोंके) बल पर कार्य आगे पीछे तो नहीं किया जा सकता, फिर भी उनका सहयोग उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अवश्य रहा करता है।

प्रेरक निमित्तोंके विषयमें उदाहरण यह है कि जब ऐंजनमें गति होती है तभी उससे संयुक्त रेलके डिब्बोंमें गति होती है और जब तक ऐंजनमें गति नहीं होती तब तक वे रेलके डिब्बे निष्क्रिय ही बने रहते हैं। उदासीन निमित्तोंके विषयमें उदाहरण यह है कि जब रेलके डिब्बोंमें गति होती है तब रेल पटरी उसमें सहायक होती है और जब तक रेलके डिब्बोंमें गति नहीं होती तब तक रेल पटरी अपनी तटस्थ स्थितिमें ही बनी रहती है।

इसका तात्पर्य यह है कि रेलके डिब्बोमें गति तभी संभव है जब ऐंजन और रेल पटरी दोनोंका अपने-अपने ढंगसे सहयोग प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि डिब्बोंमें ब्रेक लगा हो तो ऐंजनके क्रियाशील रहते और रेल पटरीके विद्यमान रहते हुए भी उन डिब्बोंमें गति नहीं हो सकती है। इसी तरह डिब्बोंमें ब्रेक तो न लगा हो लेकिन ऐंजन और रेल पटरी दोनोंके सहयोगका या दोनोंमेंसे किसी एकके सहयोगका अभाव हो रहा हो तो भी डिब्बोंमें गति नहीं हो सकती है।

इस तरह कार्योत्पत्तिमें उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त तीनोंका अपना-अपना महत्त्व है। इनमेंसे उपादानका महत्त्व कार्यरूप परिणत होनेमें है, प्रेरक निमित्तोंका महत्त्व उपादानको कार्योत्पत्तिके प्रति तैयार करनेमें है और उदासीन निमित्तोंका महत्त्व कार्योत्पत्तिमें उद्यत उपादानको अपना सहयोग प्रदान करनेमें है। यह भी ध्यातव्य है कि उपादान उसे कहते हैं जिसमें कार्यरूप परिणत होनेकी स्वभावतः योग्यता विद्यमान हो। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रेरक निमित्त उपादानकी उस योग्यताको उत्पन्न करता है। प्रेरक निमित्तोंका कार्य तो उस योग्यताको कार्यरूपसे विकसित होनेके लिये प्रेरणा मात्र करना है।

उत्तर पक्षने ऊपर जो प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके लक्षणोंका निर्धारण किया है, वह पूर्वपक्षको मान्य नहीं है, क्योंकि उन लक्षणोंके आधारसे दोनों ही निमित्त कार्योत्पतिमें अकिंचित्कर सिद्ध होते हैं, जबकि पूर्वपक्ष दोनों ही निमित्तोंको कार्योत्पतिमें पूर्वोक्त प्रकार कार्यकारी मानता है। इसी तरह पूर्वपक्ष द्वारा कहे दोनों निमित्तोंके लक्षण उत्तरपक्षको मान्य नहीं हैं, क्योंकि उन लक्षणोंके आधारसे दोनों ही निमित्त कार्योत्पत्तिमें कार्यकारी सिद्ध होते हैं जबकि उत्तरपक्ष दोनों ही निमित्तोंको कार्योत्पत्तिमें पूर्वोक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर मानता है। अतः दोनों पक्षों द्वारा अभिहित इन दोनों निमित्तोंके दोनों प्रकारके लक्षणोंके सम्यक्पने और असम्यक्पनेके विषयमें यहाँ विशेष विचार करना उपयुक्त होगा। इतना स्पष्ट है कि दोनों ही पक्ष उपादानकी कार्यरूप परिणतिके अवसर पर दोनों निमित्तोंकी उपस्थितिको स्वीकार करते हैं। इतनी समानता पाई जाने पर भी दोनों पक्षोंके मध्य जो मतभेद है वह यह है कि उत्तरपक्ष उन्हें वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर मानता है जबकि पूर्वपक्ष उन्हें वहाँ कार्योत्पत्तिमें उपादानके सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है।

उत्तरपक्ष सम्मत दोनों निमित्तोंके लक्षण सम्यक् नहीं है

उत्तरपक्षको मान्य दोनों निमित्तोंके लक्षण सम्यक् नहीं है। इसका पहला कारण यह है कि यदि उनको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मान लिया जाता है तो कार्योत्पत्तिके अवसर पर अन्य वस्तुओंकी

उपस्थितिके समान इनकी उपस्थितिको भी निमित्त रूपसे स्वीकार करना संगत नहीं होगा। अथवा कार्योत्पत्ति के अवसर पर जिस प्रकार उक्त दोनों निमित्तोंकी उपस्थितिको निमित्त रूपसे स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार अन्य वस्तुओंकी उपस्थितिको भी वहाँ निमित्त रूपसे स्वीकार करनेका प्रसंग आयेगा। इसका दूसरा कारण यह है कि दोनों निमित्तोंको कार्योत्पत्ति के प्रति सर्वथा अकिंचित्कर मानने पर उनके पृथक्-पृथक् लक्षणोंके निर्धारणका कोई प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि दोनों निमित्तोंमें जो भेद है वह कार्योत्पत्तिके प्रति उनकी प्रेरकता और अप्रेरकता (उदासीनता) रूप पृथक्-पृथक् उपयोगिताके रूपमें ही सार्थक माना जा सकता है। लेकिन जब कार्योत्पत्तिमें दोनों निमित्तोंको अकिंचित्कर मान लिया जाता है तो उनमें कार्योत्पत्तिके प्रति चाहें क्रिया द्वारा निमित्तता स्वीकार की जावे या चाहें निष्क्रियरूपसे निमित्तता स्वीकार की जावे, इससे उनकी कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्ततामें कोई अन्तर नहीं होता है। इस तरह उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत दोनों निमित्तोंके लक्षणोंका असम्यक्पना सिद्ध हो जाता है।

पूर्वपक्ष द्वारा अभिहित दोनों निमित्तोंके लक्षण सम्यक् हैं

पूर्वपक्षको मान्य दोनों निमित्तोंके लक्षण सम्यक् हैं। इसका एक कारण यह है कि दोनों निमित्तोंको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अपने-अपने ढंगसे सहायक होने रूपसे यदि कार्यकारी मान लिया जाता है तो इससे कार्योत्पत्तिके अवसर पर उनकी निमित्तरूपसे उपस्थिति युक्तियुक्त हो जाती है। दूसरा कारण यह है कि दोनों निमित्तोंको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अपने-अपने ढंगसे सहायक होने रूपमें जब कार्यकारी मान लिया जाता है तो कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तोंके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंके आधार पर निमित्तता स्वीकार करने और निमित्तोंकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंके आधार पर निमित्तता स्वीकार करनेके रूपमें पृथक्-पृथक् सहायकत्व सिद्ध हो जानेसे प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंमें अन्तर सिद्ध है। इस तरह पूर्वपक्षको मान्य दोनों निमित्तोंके लक्षणोंका सम्यक्पना सिद्ध हो जाता है।

उक्त लक्षणोंके सम्यक्पने और असम्यक्पनेकी आगम द्वारा पुष्टि

परीक्षामुखसूत्र ३-६३ की प्रमेयरत्नमाला टीकामें ऐसा कथन पाया जाता है जो दोनों निमित्तोंके लक्षणोंका निर्धारण करता है। वह कथन निम्न प्रकार है :—

"अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारण-व्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्यन्ते कुलालस्येव कलशं प्रति ॥"

अर्थ—कार्यकारणभावका निर्णय सर्वत्र कार्य और कारणके साथ विद्यमान अन्वय और व्यतिरेकके आधारपर ही करने योग्य है। वे अन्वय और व्यतिरेक कार्यके प्रति कारणव्यापार सापेक्ष ही उपपन्न होते हैं। जैसे कलशरूप कार्यके प्रति कुम्भकाररूप कारणव्यापारसापेक्ष अन्वय और व्यतिरेक देखे जाते हैं।

इससे निर्णीत होता है कि कार्य-कारणभावकी नियामक कार्य और कारणमें विद्यमान अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ ही हैं।

कार्य-कारणभाव एक तो उपादानोपादेयभावरूप होता है जो उपादान कारण और उपादेय कार्यमें पाया जाता है। इस उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभावकी नियामक उपादान कारण और उपादेय कार्यमें विद्यमान अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ होती हैं, जो इस प्रकार हैं—जिस वस्तुमें जिस कार्यकी उपादानशक्ति (कार्य-

रूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता) विद्यमान रहती है उस वस्तुकी ही उस कार्यरूप परिणति हो सकती है और जिस वस्तुमें जिस कार्यकी उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता) का अभाव रहता है उस वस्तुकी उस कार्यरूप परिणति त्रिकालमें कभी नहीं हो सकती है।

दूसरा कार्य-कारणभाव निमित्त-नैमित्तिकभावरूप होता है जो निमित्तकारण और नैमित्तिक कार्यमें पाया जाता है। इस निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभावकी नियामक भी निमित्त और नैमित्तिक कार्यमें विद्यमान अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां होती हैं।

परीक्षामुख सूत्र ३-६३ की प्रमेय-रत्नमाला टीकाका जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उसमें जो "कुलालस्येव कलशं प्रति" के रूपमें दृष्टान्तपरक-कथन है उससे अवगत होता है कि उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभावके समान निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव भी होता है जिसकी उपयोगिता कार्योत्पत्तिमें हुआ करती है। अर्थात् उपादानकारण जो अपनी कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताके आधारपर कार्यरूप परिणत होता है वह निमित्तोंका सहयोग मिलनेपर ही होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए जिस प्रकार कार्योत्पत्तिके प्रति ऊपर बतलाये गये प्रकारकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां उपादान कारण और उपादेय कार्यमें स्वीकृत की गई हैं उसी प्रार उसी कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तकारण और नैमित्तक कार्यमें भी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां स्वीकार की गई हैं। इतना अवश्य है कि आगममें निमित्तकारण दो प्रकारके बतलाये गये हैं। एक प्रेरक निमित्तकारण और दूसरा अप्रेरक (उदासीन) निमित्तकारण। इन दोनों निमित्तकारणोंकी कार्यके प्रति अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां भी आगममें पृथक्-पृथक् रूपमें निश्चित की गई हैं। अर्थात् निमित्तोंका सहयोग मिलनेपर ही उपादानकारण कार्यरूप परिणत होता है और जब तक उनका सहयोग उपादानकारणको प्राप्त नहीं होता तब तक वह कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यताके सद्भावमें भी कार्यरूप परिणत होनेमें असमर्थ ही बना रहता है। ये कार्यके प्रति प्रेरक निमित्तकारणोंमें विद्यमान अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां हैं। इसी प्रकार जब उपादानकारण कार्यरूप परिणत होता है तब निमित्त भी उसे अपना सहयोग प्रदान किया करते हैं और जब तक उपादान कार्यरूप परिणत होनेके लिए उद्यत नहीं होता तब तक वे निमित्त भी अपनी तटस्थस्थितिमें बने रहते हैं। ये कार्यके प्रति अप्रेरक (उदासीन) निमित्तोंमें विद्यमान अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां हैं। इसप्रकार यह प्रेरक और अप्रेरक अर्थात् उदासीन दोनों निमित्तोंकी कार्यके प्रति अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका स्पष्टीकरण है।

तात्पर्य यह कि जैनागममें कार्योत्पत्तिकी व्यवस्था इस प्रकार स्वीकृत की गई है कि उपादान (कार्यरूपपरिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट पदार्थ) तो कार्यरूप परिणत होता है, परन्तु वह तभी कार्यरूप परिणत होता है जब उसे प्रेरक और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तोंका सहयोग प्राप्त हो जाता है। उसको प्रेरक निमित्तोंका सहयोग प्रेरकताके रूपमें और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तोंका सहयोग अप्रेरकता (उदासीनता) के रूपमें मिला करता है। इस तरह उपादान कारण, प्रेरक निमित्तकारण और अप्रेरक (उदासीन) निमित्तकारण इन तीनोंके रूपमें कारणसामग्रीके मिलनेपर ही कार्योत्पत्ति (उपादानकी कार्यरूप परिणति) होती है।

तीनों कारणोंमें जो कार्योत्पत्तिके प्रति पूर्वोक्त प्रकारसे पृथक्-पृथक् अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां रहा करती हैं उनमेंसे उपादान कारणमें जो कार्यके प्रति अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां पायी जाती हैं उन्हें अन्तर्व्याप्ति नाम दिया गया है, क्योंकि उपादान कार्यरूप परिणत होता है। इसके अतिरिक्त

दोनों प्रकारके निमित्तोंमें जो कार्यके प्रति अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियां पायी जाती हैं उन्हें बहिर्व्याप्ति नाम दिया गया है, क्योंकि दोनों ही निमित्त कार्यरूप परिणत न होकर कार्यरूप परिणत होने वाले उपादानके मात्र सहायक होते हैं। यह बहिर्व्याप्ति प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारके निमित्तोंमें पूर्वोक्त प्रकार भिन्न-भिन्न रूपमें हैं। इन भिन्न-भिन्न रूपमें विद्यमान व बहिर्व्याप्ति नामसे कही जाने वाली अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंके आधारपर ही प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके पूर्वोक्त लक्षण निधारित किये गये हैं।

इस प्रकार पूर्वपक्षको मान्य दोनों निमित्तोंके पूर्वोक्त लक्षण आगमके आधारपर सम्यक् सिद्ध होते हैं। तथा उत्तरपक्षको मान्य पूर्वोक्त निमित्तोंके लक्षणोंके समर्थनमें उत्तरपक्षने न तो कोई आगम प्रमाण प्रस्तुत किया है और न ऐसा आगमप्रमाण उपलब्ध ही होता है। अतः उनका असम्यक्पना स्पष्टतया विदित हो जाता है।

आगमप्रमाणोंके आधारपर ऊपर दोनों निमित्तोंके सम्यक् लक्षणोंका जो निर्धारण किया गया है उससे कार्योत्पत्तिके प्रति दोनों निमित्तोंकी कार्यकारिताका समर्थन होता है, अकिंचित्करताका नहीं। आगे आगमप्रमाणोंके आधारपर उनकी इस कार्यकारिताका और भी समर्थन किया जाता है।

पूर्वमें[1] बतलाया जा चुका है कि उत्तरपक्षके द्वारा प्रथम दौरमें उद्धृत प्रवचनसार गाथा २-७७ ॥१६९॥ और उसकी टीकासे व समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकासे कार्यके प्रति प्रेरक निमित्तोंकी उपादानका सहायक होने रूपसे कार्यकारिता स्पष्टतया सिद्ध होती है। इन आगमप्रमाणोंके अतिरिक्त समयसार गाथा ९१ से भी कार्योत्पत्तिके प्रति प्रेरक निमित्तोंकी कार्यकारिता सिद्ध होती है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९१॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस परिणामको करता है उसका वह कर्त्ता होता है और आत्माके उस परिणामके होनेपर पुद्गल द्रव्य स्वयं (अपनी योग्यतानुसार) कर्मरूप परिणत होता है।

इसी तरह पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी कारिका १२ से भी कार्योत्पत्तिके प्रति प्रेरक निमित्तोंकी कार्यकारिता सिद्ध होती है। वह कारिका भी निम्न प्रकार है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

अर्थ—जीवद्वारा कृत परिणामको मात्र निमित्तरूपसे प्राप्त कर अन्य पुद्गल वहाँ स्वयं (अपनी योग्यताके अनुसार) कर्म रूपसे परिणत होते हैं।

इन सब आगमप्रमाणोंसे प्रेरक निमित्तोंकी उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारिता स्पष्ट सिद्ध होती है, अकिंचित्करता नहीं, क्योंकि इन सब स्थलोंमें प्रेरक निमित्तोंके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हैं।

इसी तरह पूर्वपक्षने अपने द्वितीय[2] दौरमें जो पंचास्तिकायकी गाथा ८७ और ९४ की आचार्य

१. देखो, त० च० पृ० २।
२. देखो, त० च० पृ० ५।

अमृतचन्द्रकृत टीकाओंको उद्धृत किया है उनसे उदासीन निमित्तोंकी भी कार्यकारिता सिद्ध होती है, अकिंचित्करता नहीं। क्योंकि इन स्थलोंमें उदासीन निमित्तोंकी भी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ सिद्ध हैं। इसी तरह सर्वार्थसिद्धि (५-२२) में अपनी योग्यतानुसार परिणमन करने वाले धर्मादिद्रव्योंकी स्वकीय पर्यायरूप कार्योत्पत्तिमें कालको जो अनिवार्य उदासीन कारण बतलाया गया है, उससे भी उदासीन निमित्तोंकी कार्यकारिता सिद्ध होती है। सर्वार्थसिद्धिका वह उद्धरण भी पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें दिया है।[1]

इस तरह जब उपर्युक्त आगमप्रमाणोंके आधारपर प्रेरक और उदासीन दोनों ही निमित्तोंकी उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारिता सिद्ध होती है तो उत्तरपक्षने जो उन्हें वहाँ उपस्थित कर अकिंचित्कर माना है वह आगमबाधित हो जाता है। प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंकी भिन्नताका स्पष्टीकरण पूर्वमें किया ही जा चुका है।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि और इष्टोपदेश तथा उसकी टीकाके जो उद्धरण उत्तरपक्षने अपने द्वितीय[2] दौरमें दिये हैं उनसे यद्यपि प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारके निमित्तोंमें कार्योत्पत्तिके प्रति हेतुकर्तृरूप कारणताकी समानता सिद्ध होती है। परन्तु उनकी यह समानता पूर्व पक्षको मान्य कार्योत्पत्तिमें उपादानकारणके प्रति सहायक होनेके आधार पर कार्यकारिताके रूपमें ही जानना चाहिए, उत्तरपक्षको मान्य सहायक न होनेके आधार पर अकिंचित्करताके रूपमें नहीं।

तात्पर्य यह कि निमित्त चाहे प्रेरक हो, या उदासीन, दोनों ही उपर्युक्त प्रमाणोंके अनुसार कार्योत्पत्तिमें उपादानभूत कारणके प्रति सहायक होनेके आधार पर कार्यकारी ही सिद्ध होते हैं। दोनों या दोनोंमें-से कोई भी निमित्त वहाँ उपादानभूत कारणके प्रति सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर सिद्ध नहीं होते।

प्रकृत विषयका उपसंहार

प्रकृत विषयमें जो तथ्य सामने आते हैं वे इस प्रकार हैं—

१. उत्तरपक्षने पंचास्तिकाय गाथा ८८ के आधार पर जो निमित्तकारणके प्रेरक और उदासीन दो भेद स्वीकार किये हैं उन्हें पूर्व पक्ष भी स्वीकार करता है।

२. उत्तरपक्षने सर्वार्थसिद्धि (५-२२) के आधार पर प्रेरक और उदासीन दोनों ही निमित्तोंमें जो हेतुकर्तृत्व मान्य किया है उसे भी पूर्वपक्ष स्वीकार करता है।

३. जहाँ उत्तरपक्ष हेतुकर्तृत्वके आधार पर प्रेरक और उदासीन दोनों ही निमित्तोंको अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसी हेतुकर्तृत्वके आधार पर दोनोंको कार्यकारी स्वीकार करता है।

४. उत्तरपक्षने दोनों निमित्तोंकी अकिंचित्करताको सिद्ध करनेके लिए जो उनके लक्षण दिये हैं पूर्वपक्षने उनकी कार्यकारिताको सिद्ध करनेके लिए उनसे भिंन्न उनके लक्षण प्रस्तुत किये हैं और जो आगम प्रमाणोंसे समर्थित हैं।

---

१. देखो, त० च० पृ० ५।

२, देखो, त० च० पृ० ७।

५. जहाँ उत्तर पक्षका कहना है कि प्रेरक निमित्तोंके बलसे किसी द्रव्यके कार्यको आगे-पीछे नहीं किया जा सकता है वहाँ पूर्व पक्षका कहना है कि 'प्रेरक निमित्त' शब्दसे ही यह ध्वनित होता है कि उनके बलसे कार्यको आगे-पीछे भी किया जा सकता है।

इस प्रकार गहरा विमर्श करने पर अवगत होता है कि पूर्वपक्षकी मान्यताएँ संगत हैं और उत्तर-पक्षकी मान्यताएँ संगत नहीं हैं।

उत्तरपक्षका संभावित भय और उसका निराकरण

आगे उत्तरपक्षके उस भयका भी निराकरण किया जाता है जो उसे दोनों निमित्तोंको कार्यकारी मानने पर प्रेरक निमित्तोंके बलसे कार्यके आगे पीछे होनेकी मान्यतासे उत्पन्न हो गया है।

यतः पूर्व पक्षने दोनों प्रकारके निमित्तोंको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी माना है और उसने यह भी स्वीकार किया है कि प्रेरक निमित्त और कार्यमें विद्यमान पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंके अनुसार उस प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य आगे पीछे किया जा सकता है, अतः उत्तरपक्षको यदि यह भय हो कि इस तरह तो प्रेरक निमित्तके बलसे उपादानमें विपरीत कार्य भी हो सकता है। फलतः अज्ञ विज्ञताको और विज्ञ अज्ञताको प्राप्त हो जाएगा तथा शुकके समान बक (बगुला) को भी पढ़ाया जा सकेगा, तो उसका यह भय निराधार है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यताके अभावमें कोई वस्तु प्रेरक निमित्तके बलसे उस कार्य रूप परिणत नहीं हो सकती है। प्रेरक निमित्त तो कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट वस्तुको ही उस कार्य रूप परि-णत होनेमें प्रेरणा कर सकता है। अर्थात् प्रेरक निमित्त उसी वस्तुको उस कार्योत्पत्तिके प्रति प्रेरित करता है जिसमें उस कार्यकी स्वाभाविक योग्यता विद्यमान रहती है।

उपादानकी कार्योत्पत्तिके लिए प्रेरक निमित्तोंकी प्रेरणा इसलिए आवश्यक है कि उनकी प्रेरणा प्राप्त किये बिना उपादान कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यताके सद्भावमें भी अपनेमें उस कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है। क्या उत्तरपक्ष यह दावा कर सकता है कि कुम्भकाररूप प्रेरक निमित्तकी प्रेरणा प्राप्त किये बिना ही मिट्टी अपनेमें घटकार्यको उत्पन्न कर सकती है? अर्थात् नहीं कर सकती है क्योंकि वह मिट्टीसे होनेवाली घटोत्पत्तिके अवसर पर घटानुकूल व्यापार करते हुए कुम्भकाररूप प्रेरक निमित्तकी अनिवार्य उपस्थितिको स्वीकार करता है फिर भले ही वह यह मानता रहे कि उक्त अवसरपर कुम्भकार रूप प्रेरक निमित्तकी उपस्थिति रहते हुए भी मिट्टी स्वयं (अपने आप) अर्थात् कुम्भकारकी प्रेरणा प्राप्त किये बिना ही अपनेमें घटको उत्पन्न कर लेती है और कुम्भकार वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है। परन्तु उसकी यह मान्यता प्रमाणसम्मत नहीं है। जैसा कि इससे पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है।

पूर्वपक्ष आगमप्रमाणोंके आधार पर यह सिद्ध कर चुका है कि उपादानरूप पदार्थकी जो कार्यरूप परिणति उसमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप होती है वह प्रेरक और साथ ही अप्रेरक निमित्तोंका सहयोग मिलने पर ही होती है, स्वयं (अपने आप) नहीं। इस तरह उपादानकी कार्य-रूप परिणतिमें प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारके निमित्त अपने-अपने ढंगसे सहायक होनेके आधार पर कार्यकारी स्पष्ट सिद्ध होते हैं। वे वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर नहीं बने रहते हैं।

इष्टोपदेशके पद्य ३५ और उसकी टीकामें निर्दिष्ट 'स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ' व 'वज्रे पतत्यपि' इन दोनों पद्योंका इतना ही अभिप्राय है कि कार्यकी स्वाभाविक योग्यताके अभावमें केवल निमित्तोंके बलपर

ही वस्तुकी कार्यरूप परिणति नहीं होती है। इनसे यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं है कि कार्य केवल उपादानकारणभूत वस्तुकी स्वाभाविक योग्यताके बलपर ही हो जाता है और निमित्त वहाँ अकिंचित्कर ही बना रहता है। सत्य तो यह है कि कार्यरूप परिणति स्वयं उपादानकी होती है और वह उसमें विद्यमान स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप होती है। परन्तु वह प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग मिलनेपर ही होती है। इस तरह दोनों निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही सिद्ध होते हैं। वे वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर नहीं रहते हैं। यह पूर्वमें विस्तारसे स्पष्ट किया जा चुका है तथा इष्टोपदेश पद्य ३५ में व उसकी टीकाके 'नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोति' इत्यादि कथनमें भी 'निमित्त' शब्दका प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ टीकाके 'धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणं स्यात्' इस वचनके आधारपर सहकारी कारण होता है। इस तरह दोनों निमित्तोंकी कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे अनिवार्यता सिद्ध है। यहाँ इतना स्पष्ट करना इसलिए आवश्यक हुआ कि उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिमें यदि उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त इन तीनोंकी पूर्वोक्त प्रकार पृथक्-पृथक् उपयोगिताको समझ ले और यह भी समझ ले कि कार्योत्पत्ति उपादानमें ही होती है और उपादानगत कार्यानुकूल योग्यताके अनुरूप ही होती है, परन्तु प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग मिलनेपर ही वह होती है, तो प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है यह मान्यता दोनों पक्षोंके मध्य निर्विवाद सिद्ध हो जायेगी और तब उत्तरपक्षका वह भय भी समाप्त हो जायेगा।

उत्तरपक्ष संभवतः यह भी सोचता है कि यदि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें प्रेरक और उदासीन निमित्त कारणोंका सहयोग अपेक्षित माना जाये तो उपादानकी तरह दोनों निमित्तकारणोंका कार्यमें प्रवेश भी स्वीकार करना अनिवार्य हो जायेगा, सो उसका ऐसा सोचना मिथ्या है, क्योंकि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें उक्त दोनों निमित्तोंका सहयोग आवश्यक होनेपर भी उसका उपादान की तरह कार्यमें प्रवेश न तो संभव है और न आवश्यक ही है।

निमित्तोंका कार्यमें प्रवेश सम्भव क्यों नहीं ?

जिस कारणके साथ कार्यका तादात्म्य सम्बन्ध होता है उसी कारणका कार्यमें प्रवेश हो सकता है। जिस कारणके साथ कार्यका तादात्म्य सम्बन्ध न हो किन्तु संयोग सम्बन्ध हो उस कारणका कार्यमें प्रवेश कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि दो वस्तुयें परस्पर संयुक्त होकर भी एक नहीं हो सकती हैं। इस तरह तादात्म्य सम्बन्ध होनेके कारण उपादानका तो कार्यमें प्रवेश होता है लेकिन तादात्म्य सम्बन्ध न होकर संयोग सम्बन्ध होनेके कारण दोनों निमित्तोंका कार्यमें प्रवेश संभव नहीं है।

निमित्तोंका कार्यमें प्रवेश अनावश्यक क्यों ?

निमित्तोंका कार्यमें प्रवेश अनावश्यक है, क्योंकि कारणका कार्यरूप परिणत होना एक बात है और उनका उसमें सहायक होना अन्य बात है। जैसे पीतलके बर्तनमें रखा गया घी विकृत हो जाता है। इसमें ज्ञातव्य बात यह है कि विकृत तो घी होता है और वह उसमें विद्यमान विकृत होनेकी निजी स्वाभाविक योग्यताके अनुसार विकृत होता है, परन्तु वह तभी विकृत होता है जब उसे पीतलके बर्तनमें रख दिया जाता है। इसके पूर्व उसमें विकृत होनेकी स्वाभाविक योग्यताका सद्भाव रहते हुए भी वह विकृत नहीं होता है। लोकमें ऐसा जानकर ही घीको पीतलके बर्तनमें रखना अभीष्ट नहीं माना जाता है। इससे स्पष्ट समझमें आता है कि घीकी विकाररूप परिणतिमें घीमें विद्यमान उसकी स्वाभाविक योग्यताके अनुसार होकर भी पीतलके

बर्तनका संयोग मिलनेपर ही होती है उसके बिना नहीं। इसका निष्कर्ष यह है कि न तो पीतलका बर्तन घी की विकाररूप परिणतिमें प्रविष्ट होता है और न पीतलके बर्तनके संयोगके अभावमें घी ही विकृत होता है किन्तु पीतलका बर्तन घीकी विकृत परिणतिमें संयोग सम्बन्धके आश्रयसे सहायक मात्र होता है। इससे सिद्ध होता है कि पीतलके बर्तनका घीकी विकृतिमें प्रवेश आवश्यक नहीं है।

यदि कहा जाये कि जब पीतलके बर्तनका प्रवेश घीकी विकारी परिणतिमें नहीं होता तो उसे उस कार्यमें सहायक न मानना ही उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि पीतलके बर्तनमें घीके न रखनेपर उसके विकृत होनेकी संभावनाको ऊपर निरस्त किया जा चुका है। इस तरह यह मानना ही उचित है कि घीकी विकृत परिणतिमें पीतलका बर्तन सहायक या निमित्त कारण होता है तथा संयोग सम्बन्धके साथ सहायक कारणता या निमित्तकारणताका कोई विरोध भी नहीं है। इसी प्रकारकी स्थिति 'मिट्टी घड़ा बनती है' और 'कुम्भकार घड़ा बनाता है' इत्यादि स्थलोंमें भी जान लेना चाहिए।

यहाँ उत्तरपक्ष यदि यह कहे कि निमित्तका कार्यमें प्रवेश न होनेसे वह अकिंचित्कर माना गया है तो पूर्वमें ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इस मान्यताके विषयमें पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ कोई विरोध ही नहीं है। विवाद तो केवल दोनों पक्षोंके मध्य इस बातका है कि निमित्तको जहाँ पूर्वपक्ष कार्यमें उपादानका सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उसे वहाँपर उपादानका सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कर ही मान लेना चाहता है।

उत्तरपक्षके द्वितीय दौरके इसी भागमें 'यः परिणमति स कर्ता' इत्यादि समयसार कलशके आधारपर जो कर्ताका लक्षण 'जो परिणमन करता है अर्थात् परिणत होता है वह कर्ता होता है' ऐसा माना गया है सो इसके विषयमें भी पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ कोई विरोध नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी उत्तरपक्षकी तरह उपादानको ही कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कर्ता मानता है। यतः उसकी भी मान्यतामें निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता अतः उसे वह भी उत्तरपक्षकी तरह कर्ता नहीं मानता है और मानता भी है तो उत्तरपक्षके समान वह भी उसे उपचारसे ही कर्ता मानता है। दोनों पक्षोंकी इस मान्यतामें यदि कोई अन्तर है तो वह इस बातका है कि पूर्वपक्षकी मान्यतामें निमित्तको उपचरितकर्ता माननेका आधार निमित्तका कार्यरूप परिणत होनेमें उपादानकी सहायता करना है जबकि उत्तरपक्षकी मान्यतामें निमित्तको उपचरितकर्ता माननेमें कोई आधार नहीं निश्चित किया गया है, क्योंकि वह उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानता है।

इसी प्रकार उत्तरपक्षने द्वितीय दौरके इसी भागके अन्तमें यह भी लिखा है कि 'अतएव निमित्तकर्ताको व्यवहार (उपचार) से कर्ता मानना युक्तिसंगत है, क्योंकि एक द्रव्यका कर्तृधर्म दूसरे द्रव्यमें उपलब्ध नहीं होता'[1] सो दोनों पक्षोंके मध्य इस विषयमें भी कोई विरोध नहीं है। विरोध तो दोनों पक्षोंके मध्य सामान्य रूपसे प्रेरक और उदासीन दोनों ही प्रकारके निमित्तोंको कार्योत्पत्तिमें उपादानका सहायक रूपसे कार्यकारी मानने, न माननेका है और विशेषरूपसे द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें सहायकरूपसे कार्यकारी मानने, न माननेका है। इसलिये उत्तरपक्षको अपने वक्तव्यमें इसी विषयपर अपना मन्तव्य प्रकट करना चाहिए था। परन्तु उसमें अपना मन्तव्य न तो इस विषयमें स्पष्ट रूपसे

१. देखो त० च० पृ० ९।

प्रकट ही किया है और न करना ही चाहता है। यही कारण है कि वह अप्रकृत और निर्विवाद विषयोंकी चर्चामें स्वयं उलझ गया है और उनकी ही चर्चामें पूर्वपक्षको भी उसने उलझानेकी चेष्टा की है।

यहाँ योग्यतासे वस्तुकी नित्य उपादानशक्ति ही अभिप्रेत है

पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि कोई भी कार्य उसी वस्तुमें उत्पन्न होता है या वही वस्तु कार्यरूप परिणत होती है जिसमें उस कार्यकी उत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यताका सद्भाव रहता है। यहाँ कार्योत्पत्तिके प्रसंगमें स्वीकृत स्वाभाविक योग्यतासे वस्तुमें विद्यमान नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्तिका ही ग्रहण अभिप्रेत है, अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिका ग्रहण अभिप्रेत नहीं है। इसका कारण यह है कि अनित्य उपादानशक्ति कार्यरूप ही होती है और उसकी उत्पत्ति वस्तुमें (द्रव्यमें) विद्यमान नित्य उपादानशक्तिके अनुसार प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारके निमित्तोंके सहयोगसे ही हुआ करती है। उसे जो अनित्य उपादान शक्ति कहा जाता है उसका कारण यह है कि उसके अनन्तर उत्तरकालमें ही उक्त नित्य उपादानशक्तिविशिष्ट वस्तुमें दोनों ही प्रकारके निमित्तोंके सहयोगसे अन्य कार्यरूप अनित्य उपादानशक्ति प्रगट होती है। यहाँ भी यह ज्ञातव्य है कि उत्तरकालमें प्रगट होनेवाली उस अनित्य उपादान शक्तिके कार्यरूप होने पर भी उसके उत्तरकालमें प्रगट होनेवाली पर्यायरूप कार्यकी अपेक्षा उसे अनित्य उपादान शक्ति कहा जाता है। इस कथनकी संगति प्रमेयकमलमार्तण्डके निम्नलिखित उद्धरणसे जानी जाती है—

"यच्चोच्यते शक्तिर्नित्या अनित्या वेत्यादि। तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्यायशक्तौ वा प्रश्नः स्यात्? भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव अनादिनिधनस्वभावत्वाद् द्रव्यस्य। पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव, सादिसपर्यवसानत्वात् पर्यायाणाम्। न च द्रव्यशक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषंगः, द्रव्यशक्तेः केवलायाः कार्यकारित्वानभ्युपगमात्। पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षयैव इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं च।"—प्र० क० मा० २-२ पत्र ५२ शास्त्राकार, निर्णयसागरीय प्रकाशन।

अर्थ—और जो कहा जाता है कि शक्ति नित्य है या अनित्य इत्यादि? वहाँ यह प्रश्न द्रव्यशक्तिके विषयमें है या पर्यायशक्तिके विषयमें? क्योंकि पदार्थ द्रव्य और पर्याय उभयशक्ति सम्पन्न होते हैं। इनमेंसे द्रव्यशक्ति नित्य ही है, क्योंकि द्रव्य अनादिनिधन स्वभाववाला होता है। पर्यायशक्ति तो अनित्य ही है, क्योंकि पर्यायें सादि और सान्त होती हैं। यदि कहा जाये कि द्रव्यशक्तिके नित्य होनेसे सहकारी कारणोंकी अपेक्षा किये बिना ही पदार्थमें कार्यकारिताका प्रसंग आयेगा, सो ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल द्रव्यशक्तिको कार्यकारी नहीं माना गया है। पर्यायशक्तिसे समन्वित द्रव्यमें ही कार्यकारित्व स्वीकार किया गया है, क्योंकि विशिष्टपर्यायरूपसे परिणत द्रव्यमें ही कार्यकारित्वकी प्रतीति होती है। द्रव्यकी पर्यायरूप परिणति सहकारी कारणोंकी सापेक्षतामें ही होती है। इस प्रकार पर्यायशक्तिकी उत्पत्ति सहकारी कारणोंकी सापेक्षतामें ही होनेके कारण न तो सर्वदा कार्योत्पत्ति होती है और न सहकारी कारणोंकी व्यर्थता ही सिद्ध होती है।

प्रमेयकमलमार्तण्डके इस कथनसे तीन बातें निश्चित होती हैं—एक यह कि नित्य उपादानशक्ति अर्थात् द्रव्यशक्तिरूप स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट वस्तु ही कार्यरूप परिणत होती है। दूसरी यह कि जब वस्तु अनित्य उपादान शक्तिरूप पर्यायशक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है तभी वह कार्यरूप परिणत होती है और तीसरी यह कि वह अनित्य उपादानशक्ति अर्थात् पर्यायशक्तिरूप परिणति सहकारी कारणोंके मिलने

पर ही होती है। कार्योत्पत्तिकी यह प्रक्रिया प्रत्येक वस्तुमें अनादिकालसे चली आई है और अनन्तकाल तक चली जायेगी। यद्यपि कार्योत्पत्तिकी ऐसी ही प्रक्रियाको पूर्वपक्षकी तरह उत्तरपक्ष भी स्वीकार करता है। परन्तु पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंकी मान्यताओंमें अन्तर यह है कि जहां उत्तरपक्ष यह मानता है कि कार्योत्पत्ति तो वस्तुकी योग्यतानुसार होती है और सर्वदा उसके अनुकूल ही निमित्त मिलते रहते हैं वहाँ पूर्वपक्ष यह मानता है कि वस्तुमें कार्योत्पत्तिकी योग्यताके अनुसार कार्योत्पत्तिके होनेपर भी जब जैसे निमित्त मिलते हैं उनके अनुसार ही उस योग्यताके आधारपर कार्य उत्पन्न हुआ करते हैं। जैसा कि उपर्युक्त प्रमेय-कमलमार्तण्डके उद्धरणसे प्रकट है।

कार्योत्पत्तिके विषयमें उत्तरपक्षका एक अन्य दृष्टिकोण और उसका निराकरण

उत्तरपक्षने द्वितीय दौरके इसी भागमें इष्टोपदेशके पद्य ३५ और उसकी टीकाको उद्धृत कर उनका अर्थ करते हुए अन्तमें इस प्रकारका निष्कर्ष निकाला है कि "इस प्रकार इष्टोपदेशके उक्त आगम वचन और उसकी टीकासे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निमित्तकारणोंमें पूर्वोक्त प्रकारसे दो भेद होने पर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है। कार्यका साक्षात् उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं।"—त० च० पृ० ८।

उत्तरपक्ष द्वारा निकाले गए इस निष्कर्षकी समीक्षा करनेसे पूर्व यहाँ उसके द्वारा उक्त पद्य और उसकी टीकाके किये गये अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक है—

१. उक्त पद्य (३५) का अर्थ करते हुए उत्तरपक्षने लिखा है कि "अन्य द्रव्य अपनी विवक्षित पर्यायके द्वारा उस प्रकार निमित्त है जिस प्रकार धर्मास्तिकाय गतिका निमित्त है।" —त० च० पृ० ७।

इसमें "अपनी विवक्षित पर्यायके द्वारा" इस अंशका बोधक कोई पद पद्यमें नहीं है। वह पद्यार्थसे अतिरिक्त है जो अनावश्यक है। यदि उत्तरपक्षकी दृष्टिमें वह आवश्यक है तो एक तो उसका निर्देश पद्यमें किसी पदके द्वारा किया जाना चाहिए था। दूसरे, इस अंशको धर्मास्तिकायपदके साथ भी सम्बद्ध करना था। मालूम पड़ता है कि "अन्य द्रव्य" पदके साथ उसे सम्बद्ध करने और "धर्मास्तिकाय" पदके साथ सम्बद्ध न करनेमें उत्तरपक्षका अभिप्राय अन्य द्रव्य और धर्मास्तिकायमें प्रेरक निमित्तता और उदासीन निमित्तताका भेद दिखलाकर उनमें अकिंचित्करताके रूपमें समानता बतलानेका है। परन्तु वह प्रमाणसंगत नहीं है, क्योंकि उनमें कार्यकारिताकी सिद्धि और अकिंचित्करताका निषेध पुष्ट प्रमाणों द्वारा किया जा चुका है।

२. टीकागत "वज्रे पतत्यपि" इत्यादि पद्यका अर्थ उत्तरपक्षको इस प्रकार करना चाहिए था कि जिसके भयसे सम्पूर्ण लोक दोलायमान हो जाता है और जिसका मार्ग किसीसे अवरुद्ध नहीं होता, उस वज्रके गिरने पर भी विवेकरूपी प्रदीपसे मोहरूपी महान् अंधकारको नष्ट करनेवाले प्रशमवान् सम्यग्दृष्टि जीव जब योगसे चलायमान नहीं होते हैं तो वे अन्य परिषहों (उपद्रवों) से कैसे चलायमान हो सकते हैं ?

३. "नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह—अन्यः पुनर्गुरुर्विपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमितमात्रं स्यात्। तत्र योग्यताया एव साक्षात् साधकत्वात्" इस उद्धरणका अर्थ आवश्यक होते हुए भी उत्तरपक्षने नहीं किया है। वह अर्थ निम्न प्रकार है—

"यदि केवल योग्यताके बलसे ही कार्योत्पत्ति स्वीकार की जावे तो वहाँ बाह्य निमित्तोंकी सापेक्षता समाप्त हो जायेगी। सो इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि अन्य गुरु व विपक्ष आदि प्रकृतार्थके उत्पाद और भ्रंशमें निमित्त मात्र होते हैं। योग्यता ही साक्षात् उत्पादक हुआ करती है।"

यहाँ निमित्तका अर्थ सहकारी कारण है यह जानकारी टीकाके "धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्रहद्रव्य-विशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यात्" इस कथनसे प्राप्त होती है।

इस तरह "नन्वेवं" इत्यादि कथनसे और उसमें पठित "योग्यतायाः" पदका "साक्षात्" पद विशेषण होनेसे निमित्तोंकी कार्यकारिता ही सिद्ध होती है, जिसका निषेध उत्तरपक्ष करना चाहता है, क्योंकि "योग्यतायाः" पदका "साक्षात्" विशेषण तभी सार्थक हो सकता है जब निमित्तोंको कार्यके प्रति कार्यकारी माना जाए। मालूम पड़ता है कि इसीलिए "नन्वेवं" इत्यादि कथनका अर्थ उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें नहीं किया है।

४. "कस्याः को यथा" इत्यादि टीकाका अर्थ उत्तरपक्षने जो किया है उसमें "तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्तुमशक्यत्वात्" इस वाक्यांशका अर्थ उसने यह किया है कि "उसके विरुद्ध योग्यता होने पर उसे कोई भी करनेमें समर्थ नहीं है।"[1] सो इसके स्थानमें यह अर्थ करना चाहिए कि "उस योग्यता (गतिशक्ति) के अभावमें उसे (उस गतिशक्तिको) कोई भी करनेमें समर्थ नहीं है।"

"तद्वैकल्ये" पदका अर्थ "उसके विरुद्ध योग्यता होने पर" करना सर्वथा गलत है। यहाँ उसका अर्थ तो "उस योग्यता (गतिशक्ति) का अभाव होने पर" सन्दर्भसंगत है और टीकाकारको भी वही विवक्षित है।

इष्टोपदेश पद्य ३५ और उसकी टीकाके अर्थ पर ऊपर जो दृष्टि डाली गई है उसका उद्देश्य यही है कि इससे उत्तरपक्षके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष कितने अप्रामाणिक हैं, यह प्रकट हो जाता है। आगेके विवेचनसे यह और भी स्पष्ट हो जाता है।

उत्तरपक्षने इष्टोपदेशके उक्त पद्य और उसकी टीकासे जो निष्कर्ष निकाले हैं उनसे उन तीन बातोंका संकेत मिलता है जिनसे उत्तरपक्षका कार्योत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण ज्ञात हो जाता है।

१. पहली बात यह है कि उत्तरपक्ष उक्त पद्य ३५ और उसकी टीकाके आधारपर निमित्तोंके प्रेरक और उदासीन दो भेद स्वीकार कर दोनोंमें समानता मानता है।

२. दूसरी बात यह है कि वह उक्त पद्य और उसकी टीकाके आधारपर सिद्ध समानताको प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी अकिंचित्करताके रूपमें स्वीकार करता है।

३. तीसरी बात यह है कि कार्योत्पत्तिकी योग्यतासे वह नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्तिको न ग्रहण कर कार्यकालकी योग्यताके रूपमें अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिको स्वीकार करता है।

इन तीनों बातोंमें पहली और दूसरी दोनों बातोंके विषयमें आगमप्रमाणोंके आधारपर पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंकी स्वीकृति निर्विवाद है और उनमें समानताकी स्वीकृति भी निर्विवाद है। परन्तु दोनोंकी समानताको जहाँ उत्तरपक्ष कार्यके प्रति उनकी अकिंचित्करताके

१. देखो, त० च० पृ० ८।

रूपमें स्वीकार करता है वहाँ पूर्वपक्ष उनकी समानताको कार्योत्पत्तिके प्रति कार्यकारिताके रूपमें स्वीकार करता है। यह भी आगमप्रमाणोंके आधारपर पूर्वमें सिद्ध किया जा चुका है।

तीसरी बातके विषयमें हमारा कहना है कि उत्तरपक्षने इष्टोपदेश पद्य ३५ और उसकी टीकामें 'योग्यता' शब्दसे जो कार्यकालकी योग्यताके रूपमें अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिको ग्रहण किया है वह संगत नहीं है, क्योंकि उक्त पद्य और उसकी टीकासे ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है, जिसके आधारपर 'योग्यता' शब्दसे कार्यकालकी योग्यताको ग्रहण किया जाय।

उक्त पद्य और उसकी उद्धृत की गयी टीकामें कोई भी ऐसा पद या वाक्य नहीं है, जो कार्यकालकी योग्यताके रूपमें अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिका ग्रहण प्रकट करे और योग्यतासे नित्य उपादान-शक्तिरूप द्रव्यशक्तिका निषेध करे। यह गहराईसे देखनेपर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उपर्युक्त उद्धरणसे यह दिनकर प्रकाशकी तरह और भी अधिक स्पष्ट है।

प्रमेयकमलमार्तण्डके उपर्युक्त उद्धरणसे प्रकट है कि वस्तुमें अनित्यउपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिकी उत्पत्ति कार्यरूप होनेसे उस वस्तुकी स्वाभाविक नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्तिके अनुसार प्रेरक निमित्तोंका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होती है। अतः उन्हें (प्रेरक निमित्तोंको) अकिंचित्कर कदापि नहीं माना जा सकता है। दूसरे, अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिकी वस्तुमें उत्पत्ति हो जानेपर भी यह नियम नहीं माना जा सकता है कि उसके अनन्तर उत्तरकालमें विवक्षित पर्यायकी ही उत्पत्ति होती है अन्य पर्यायकी नहीं, क्योंकि आगमप्रमाणोंके आधारपर सिद्ध है कि वस्तुमें स्वाभाविक नित्य उपादान शक्तिरूप द्रव्यशक्तिके अनुसार उसी पर्यायकी उत्पत्ति होती है, जिसके अनुकूल प्रेरक निमित्तोंका सहयोग उसे उस समय प्राप्त होता है। इस तरह उत्तरपक्षकी यह मान्यता गलत हो जाती है कि द्रव्यके स्वकालमें पहुंच जानेपर नियमसे विवक्षित पर्यायकी ही उत्पत्ति होती है। प्रमेयकमलमार्तण्डके उक्त उद्धरणसे यह भी सिद्ध है कि निमित्त अकिंचित्कर न होकर कार्यकारी ही होते हैं, आगमप्रमाणों (पंचास्तिकाय गाथा ८७-९४) के आधारपर यह भी स्पष्ट है कि कार्योत्पत्तिमें प्रेरक निमित्तोंके समान उदासीन निमित्त भी कार्यकारी होते हैं—वे अकिंचित्कर नहीं बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त बाधक कारणोंका अभाव भी कार्योत्पत्तिके लिए आवश्यक होता है, जिसका समर्थन निम्न प्रकारसे होता है—

द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें जो आत्मस्वभावकी पूर्ण निर्मलता प्रगट हो जाती है उसका निमित्त कारण दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो जाना ही है तथा त्रयोदश गुणस्थानके प्रथम समयमें जो आत्मस्वभावका पूर्ण विकास होता है उसका निमित्त कारण द्वादश गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षय हो जाना ही है। लेकिन इतना होनेपर भी जब जीव सिद्ध पर्यायको प्राप्त नहीं होता तो जान पड़ता है कि वहाँ जीवकी सिद्ध पर्यायके प्रगट होनेमें बाधककारणभूत योग तथा चार अघातिया कर्मोंका सद्भाव विद्यमान है। इसी तरह चतुर्दश गुणस्थानके प्रथम समयमें उस जीवकी योगरहित अवस्था हो जानेपर भी जो उसकी सिद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती उसका भी बाधक कारण वहाँपर चार अघातिया कर्मोंका सद्भाव अवगत होता है। इस तरह जब जीव चतुर्दश गुणस्थानमें बाधक-कारणभूत चारों अघातिया कर्मोंका भी क्षय करके नोकर्मोंके साथ अपना सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है तभी उसको सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति होती है।

इससे निर्णीत होता है कि प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके सद्भावके साथ बाधक कारणोंका अभाव भी कार्योत्पत्तिमें साधक होता है। इस प्रकार कार्योत्पत्तिके लिए वस्तुकी स्वाभाविक योग्यताके रूपमें नित्य

उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्ति, प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सद्भाव तथा बाधक कारणोंका अभाव इन सभीकी समग्रता, जिसे कार्यजनिका सामग्री कहा जाता है, अनिवार्य है।

इस तरह यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि वस्तुकी स्वाभाविक योग्यताके रूपमें नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्ति ही मुख्यतया कार्योत्पत्तिमें साधक होती है। कार्यकालकी योग्यताके रूपमें अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिको कार्योत्पत्तिमें प्रधान साधक मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसके स्वयं कार्यरूप होनेसे उसके सहकारी कारणोंका योग मिलनेपर ही वह उत्पन्न होती है। दूसरे, उसके उत्पन्न हो जानेपर भी बाधक कारणोंका सद्भाव रहनेपर कार्योत्पत्ति नहीं होती है। यह अवश्य है कि जहाँ वस्तुकी पूर्व पर्याय और उत्तर पर्यायमें जो पूर्वोत्तर भाव पाया जाता है वहाँ उसके आधारपर उनमें भी कार्यकारणभावकी स्थापना करना असंगत नहीं है। परन्तु कार्यकालकी योग्यता और कार्यमें पूर्वोत्तर भावके रूपमें ही कार्यकारण भाव जानना चाहिए। उत्पाद्योत्पादक भावरूप कार्यकारण भाव तो वस्तुकी स्वाभाविक योग्यताके रूपमें नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्ति और कार्यमें मानना ही युक्त है। एक बात और है कि पूर्वपर्यायका विनाश होने पर ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति होती है अथवा पूर्वपर्यायका विनाश ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है, इसलिए भी पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायका उपादान नहीं कहा जा सकता है। इसे आगे प्रकरणानुसार और भी स्पष्ट किया जायेगा। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात भी स्पष्ट है कि वस्तुकी स्वभावभूत योग्यताके रूपमें नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्ति और कार्य दोनोंमें विद्यमान उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारण-भाव तभी कार्यक्षम होता है जब उस कार्यके अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग प्राप्त होता है तथा बाधक कारणोंका अभाव भी विद्यमान रहता है। अतएव कार्योत्पत्तिके प्रति प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारके निमित्तोंको किसी भी हालतमें अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता है। यहाँ अष्टसहस्रीगत अष्टशती का निम्न वाक्य ज्ञातव्य है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ? (पृ० १०५. निर्णयसागरीय प्रकाशन।)

अर्थ—उसकी (उपादानकी) अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट वस्तुकी असामर्थ्य अर्थात् अकेले कार्यरूप परिणत न हो सकने रूप अशक्तिका खण्डन (भेदन) न करता हुआ सहकारी कारण यदि वहाँ अकिंचित्कर ही बना रहता है तो उसे क्या सहकारी कारण कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

इससे भी सहकारी (निमित्त) कारणोंकी कार्योत्पत्तिमें कार्यकारिता ही सिद्ध होती है, अकिंचित्करता नहीं। यद्यपि अष्टसहस्रीगत अष्टशतीके उक्त कथनके विषयमें उत्तरपक्षने एक आक्षेप तत्त्वचर्चामें प्रस्तुत किया है, परन्तु उसपर इसी प्रकरणमें आगे विचार किया जायेगा।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्यकालकी योग्यता अर्थात् अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्ति कार्यरूप होनेके कारण निमित्ताधीन सिद्ध होती है। अतः उत्तरपक्षका यह लिखना कि "कार्यका साक्षात् उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं"[1] सर्वथा असंगत है। इसी प्रकार उसकी यह मान्यता भी असंगत है कि वस्तुके स्वकाल (कार्यकाल) में पहुँच जानेपर नियमसे विवक्षित कार्यकी ही

१. देखो, त० च० पृ० ८।

उत्पत्ति होती है, क्योंकि जो भी द्रव्यकी उत्तर पर्याय होगी वह उसकी स्वाभाविक योग्यताके अनुसार ही होगी। पर हाँ, निमित्तोंका सहयोग जैसा होगा वैसी ही पर्याय उसकी स्वाभाविक योग्यताके आधारपर होगी। इसका आशय यह है कि निमित्त द्रव्यमें ऐसी पर्यायको उत्पन्न नहीं कर सकता है जिसकी स्वाभाविक योग्यता उस द्रव्यमें न हो, लेकिन जिस पर्यायके उत्पन्न होनेकी योग्यता द्रव्यमें विद्यमान है वह पर्याय तभी उत्पन्न हो सकती है जब वह निमित्तोंका सहयोग पाकर अपने स्वकालमें पहुँच जायेगा और तब भी उसके अनुकूल निमित्तोंका सहयोग मिलनेपर ही वह उत्पन्न होगी। कार्यकारणभावकी व्यवस्था इसी प्रकार पायी जाती है।

उत्तरपक्षके दृष्टिकोणका अन्य प्रकारसे निराकरण

कार्योत्पत्तिके विषयमें उत्तरपक्षका जो यह दृष्टिकोण है कि "कार्यकी उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं" इसका निराकरण अन्य प्रकारसे भी किया जाता है।

वस्तुका स्वभाव परिणमन करनेका है अर्थात् वस्तुमें परिणमन करनेकी या परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता है। इसके आधार पर ही उसमें परिणमन हुआ करता है तथापि उसका वह परिणमन दो प्रकारसे होता है—एक परिणमन स्वनिमित्तक (परनिमित्तानपेक्ष) होता है और दूसरा परिणमन परनिमित्तसापेक्ष होता है। परनिमित्तानपेक्ष परिणमनको स्वनिमित्तक और परनिमित्तसापेक्ष परिणमनको स्वपरप्रत्यय परिणमन प्रतिपादित किया गया है[1]।

वस्तुका स्वनिमित्तक परिणमन व्यवहारकालके भेद—समयके रूपमें विभक्त होकर सतत षड्गुणहानिवृद्धिरूप होता है और उसका स्वपरप्रत्यय परिणमन व्यवहारकालके ही भेद—समय, आवली, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष आदिके रूपमें विभक्त होकर सतत षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमनसे पृथक् परिणमनके रूपमें होता है।

स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनों ही प्रकारके दो आदि परिणमन सतत एकके पश्चात् एक रूपमें होते हैं अर्थात् दोनों ही प्रकारके दो आदि परिणमन कभी भी युगपत् (एक साथ) नहीं होते। हाँ, सभी स्वप्रत्ययपरिणमन परनिमित्तानपेक्ष होनेके कारण नियतक्रमसे ही होते हैं जबकि सभी स्वपरप्रत्ययपरिणमन परनिमित्तसापेक्ष होनेके कारण यथायोग्य परनिमित्तोंके समागमके अनुसार नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों रूपसे होते हैं।

स्वपरप्रत्ययपरिणमनोंकी नियतक्रमता और अनियतक्रमताको इस तरह समझा जा सकता है कि जीवके जो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप विविध प्रकारके परिणमन होते हैं वे यथाक्रम क्रोध, मान, माया और लोभ रूप पुद्गलकर्मोंके उदयके निमित्तसे होते हैं। अर्थात् जब तक जीवमें क्रोधकर्मका उदय विद्यमान रहता है तबतक उसका क्रोधरूप परिणमन होता रहता है और जब उसमें क्रोधकर्मके उदयका अभाव होकर

---

१. 'द्विविध उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्क्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।'—सर्वार्थसिद्धि ५-७।

मान, माया या लोभ इन तीनों कर्मोंमेंसे किसी एकका उदय होता है तब उसका वह परिणमन भी यथाक्रम मान, माया या लोभ रूप होता है।

अब यदि उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार जीवमें होनेवाले क्रोध आदि परिणमनोंकी उत्पत्ति कार्य-कालकी योग्यताके अनुसार मानी जावे और क्रोध आदि कर्मोंके उदयको वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही मान लिया जावे तो जिस जीवकी वर्तमान समयमें क्रोधरूप परिणति हो रही है उसके पूर्व समयमें कारण-रूपसे और उत्तरसमयमें कार्यरूपसे क्रोधरूप परिणति ही उस जीवकी स्वीकार करना अनिवार्य हो जायेगा। इस तरह अनादि कालसे अनन्त काल तक उस जीवकी सतत क्रोधरूप परिणति होती रहनी चाहिए अर्थात् उसमें न तो कभी मान, माया, या लोभरूप परिणति होगी और न क्रोधरूप परिणतिका सर्वथा अभाव होकर उसकी शुद्ध स्वभावरूप परिणति ही कभी हो सकेगी। इस तरह विश्वकी सभी वस्तुयें वर्त-मानमें जिस रूपमें रह रही हैं उनका सतत उसी रूपमें रहनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। लेकिन विश्वकी सभी वस्तुओंकी इस प्रकारकी स्थिति मानवमात्रके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगम प्रमाणोंके विपरीत ही निर्णीत होती है। इसलिये कार्योत्पत्तिमें कार्यकालकी योग्यताको कारण न मानकर परिणमनोंकी विविधताके लिये निमित्तोंको कारण मानना अनिवार्य है। यह सत्य है कि वस्तुकी स्वाभाविक योग्यताके बिना निमित्त वस्तुमें कार्योत्पत्तिके प्रति असमर्थ रहते हैं। अतः वस्तुमें कार्योत्पत्तिके अनुकूल स्वाभाविक योग्यताका सद्भाव स्वीकार करना भी आवश्यक है। और वह स्वाभाविक योग्यता नित्य उपादानशक्तिके रूपमें द्रव्यशक्ति ही हो सकती है, अनित्य उपादानशक्तिके रूपमें पर्यायशक्ति, जिसे कार्यकालकी योग्यता कहा जाता है, नहीं हो सकती है, क्योंकि कार्यरूप होनेके कारण उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता है। इस विवेचनसे प्रकट है कि नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्तिके रूपमें कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यताका सद्भाव व उक्त अवसरपर अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सद्भाव तथा बाधक निमित्तोंका अभाव ये सभी वस्तुमें कार्योत्पत्तिके साधक होते हैं। यहाँ इतना और ध्यातव्य है कि प्रमेयकमलमार्तण्डके पूर्वोक्त कथनके अनुसार अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिविशिष्ट नित्य उपादानशक्तिरूप द्रव्यशक्ति कार्योत्पत्तिमें साधक होनेसे अनित्य उपादानशक्तिरूप पर्यायशक्तिको भी कार्यकालकी योग्यताके रूपमें कार्योत्पत्तिकी साधक मानना चाहिए।

यदि कहा जाए कि मिट्टीसे जो घटकी उत्पत्ति होती है वह स्थूल रूपसे स्थास, कोश और कुशूल पर्यायोंके क्रमसे ही होती है व सूक्ष्मरूपसे एक-एक क्षणकी पर्यायोंके क्रमसे होती है। इसलिए घटोत्पत्तिमें पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायमें उत्पाद्योत्पादकभावरूप कार्यकारणभाव मानना आवश्यक है तो ऐसी मान्यता भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यदि पूर्व और उत्तरपर्यायमें उत्पाद्योत्पादकभावरूप कार्यकारणभाव स्वीकार किया जाए तो जिस प्रकार घटको मिट्टीका घट कहा जाता है उसी प्रकार कुशूलकी उत्तर पर्याय होनेसे घटको कुशूलका घट कहना भी अनिवार्य हो जाएगा। दूसरी बात यह है कि पूर्व पर्याय उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिमें नियामक नहीं है। ऐसी स्थितिमें मिट्टीसे होनेवाली घटोत्पत्तिमें भी कार्यकालकी योग्यताको उत्पाद्योत्पादकभावके आधारपर कारण मानना असंगत है। तीसरी बात यह है कि लोकमें कुम्भकार द्वारा अपना क्रियाव्यापार बीचमें रोक देनेपर घट अधूरा देखा जाता है अथवा दण्डके पातसे बीचमें ही घटका विनाश देखनेमें आता है तथा कुम्भकारकी कुशलता और अकुशलताका प्रभाव उस उत्पन्न होनेवाले घटमें स्पष्ट दिखाई देता है। इससे एक तो कार्यकालकी योग्यताकी कार्यनियामकता समाप्त हो जाती है। दूसरे,

निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करताकी मान्यताका अन्त हो जाता है। तीसरे, उत्तरपक्षकी यह मान्यता भी निरस्त हो जाती है कि जब वस्तुमें कार्यकालकी योग्यता प्रगट होती है तो नियमसे विवक्षित कार्यकी ही उत्पत्ति होती है।

इस तरह कार्योत्पत्तिके विषयमें यही नियम निश्चित होता है कि वस्तुमें कार्योत्पत्तिके अनुकूल स्वाभाविक योग्यता विद्यमान हो तथा अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सद्भाव व बाधक कारणोंका अभाव हो तभी विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति होगी, अन्यथा उसी कार्यकी उत्पत्ति होगी, जिसके अनुकूल वहाँ उक्त सभी साधन सामग्रीका समागम होगा।

द्वितीय भागकी समीक्षा

पूर्वपक्षने अपनी द्वितीय प्रतिशंका (त० च० पृ० ५) में निम्नलिखित कथन किया है—

'इसके आगे आपने जो पंचास्तिकायकी गाथा ८९ का उद्धरण दिया है वह भी हमारे प्रश्नसे संगत नहीं है, क्योंकि यह उद्धरण उदासीन निमित्त कारणसे सम्बन्धित है। साथ ही स्वयं अमृतचन्द्र सूरिने उसी पंचास्तिकायकी ८७ और ९४ वीं गाथाकी टीकामें उदासीन निमित्तको भी अनिवार्य निमित्त कारण बतलाया है।'

उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें इसपर विचार करते हुए त० च० पृ० ९ में द्वितीय भागके अन्तर्गत लिखा है—

"पंचास्तिकाय गाथा ८९ में निःसन्देह रूपसे उदासीन निमित्तकी व्यवहार हेतुता सिद्ध की गयी है। पर इतने मात्रसे क्रियाके द्वारा निमित्त होनेवाले निमित्तोंको व्यवहार हेतु माननेमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि अभी पूर्वमें इष्टोपदेश टीकाका जो उद्धरण दे आये हैं उसमें स्पष्ट रूपसे ऐसे निमित्तोंको व्यवहारहेतु बतला कर इस दृष्टिसे दोनोंमें समानता सिद्ध की गयी है।"

उत्तरपक्षके इस उत्तरवक्तव्यकी यहाँ समीक्षा की जाती है—

पूर्वपक्षके कथनसे यह कहाँ सिद्ध होता है कि वह प्रेरक निमित्तको व्यवहारहेतु नहीं मानता है। वह भी उत्तरपक्षकी तरह प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंको व्यवहारहेतु मानता है। परन्तु प्रश्न प्रेरक और उदासीन निमित्तोंको व्यवहारहेतु मानने, न माननेके विषयमें नहीं है। अपितु प्रश्न यह है कि व्यवहारहेतु होते हुए भी प्रेरक निमित्तको कार्योत्पत्तिमें उपादानका सहायक होने रूपमें कार्यकारी माना जाय या उसे वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर स्वीकार किया जाय? पूर्वपक्ष तो अपने उक्त कथनमें यह भी स्पष्ट स्वीकार कर रहा है कि प्रेरक निमित्तके समान पंचास्तिकायकी गाथा ८७ और ९४ की टीकाओंके आधारपर उदासीन निमित्त भी कार्योत्पत्तिमें उपादानका सहायक होनेमें कार्यकारी है, अकिंचित्कर नहीं।

पर उत्तरपक्ष उदासीन निमित्तको तो कार्यके प्रति अकिंचित्कर मानकर व्यवहारहेतु मानता ही है। किन्तु प्रेरक निमित्तको भी वह कार्यके प्रति अकिंचित्कर मानकर व्यवहार हेतु मानना चाहता है। परन्तु उदासीन और प्रेरक दोनों ही निमित्त आगमके आधारपर पूर्वोक्त प्रकारसे कथंचित् अकिंचित्कर और कथंचित् कार्यकारी होकर व्यवहारहेतु सिद्ध हैं। प्रेरक निमित्तकी कार्यकारिता समयसार गाथा ८०, ८१ और १०५ के अनुसार तथा उदासीन निमित्तकी कार्यकारिता पंचास्तिकाय गाथा ८७ और ९४ की टीकाओंके अनुसार दिनकरप्रकाशकी तरह सुप्रसिद्ध है। अतः उत्तर पक्ष द्वारा मान्य इनकी अकिंचित्करताका निरसन

स्वतः हो जाता है। मानवीय अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, युक्ति और लोकव्यवहारके आधारपर भी दोनों निमित्तोंकी कार्यकारिताकी पुष्टि तथा अकिंचित्करताका निरास होता है।

तृतीय भागकी समीक्षा

तृतीय भागमें निर्दिष्ट पूर्व पक्षके कथनके विषयमें उत्तर पक्षने लिखा है कि "ऐसा नियत है कि प्रत्येक द्रव्यके किसी भी कार्यका पृथक् उपादान कारणके समान उसके स्वतन्त्र एक या एकसे अधिक निमित्त कारण भी होते हैं। इसीका नाम कारकसाकल्य है और इसीलिए जिनागममें सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि उभय निमित्तसे कार्यकी उत्पत्ति होती है[1]।" इसकी पुष्टिके लिए उसने समन्तभद्र स्वामीके स्वयंभूस्तोत्रके "बाह्येतरोपाधि" इत्यादि पद्य ६० को भी उद्धृत किया है। उत्तरपक्षके इस कथनके साथ पूर्व पक्षका कोई विरोध नहीं है। उत्तरपक्षको ही यह सोचना है कि यह सब कथन तो पूर्व पक्ष द्वारा मान्य निमित्तोंकी कार्यकारिताका ही समर्थन करता है, न कि उसके द्वारा मान्य उनकी अकिंचित्करताका समर्थन।

स्वयंभूस्त्रोत्रके पद्य ६० से भी यही प्रकट होता है कि द्रव्यका स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें कार्यकी उत्पत्ति बाह्य और अभ्यन्तर दोनों निमित्तोंकी समग्रतासे ही होती है। इस उद्धरणको प्रस्तुत करनेसे उत्तरपक्षकी निमित्तोंको अकिंचित्कर स्वीकार करनेकी मान्यता सिद्ध नहीं होती। प्रत्युत उसके "कार्य तो केवल उपादानके बलपर ही होता हैं निमित्त वहाँ अकिंचित्कर ही बने रहते हैं।" तथा "जिनागममें सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि उभयनिमित्तसे कार्यकी उत्पत्ति होती है।" इन दोनों विरुद्ध कथनोंमें असंगति आती है। उत्तरपक्षको यह भी विचार करना है कि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें यदि निमित्तोंके सहयोगकी आवश्यकता नहीं है तो आगममें फिर कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानमें सहायक होने रूपसे निमित्तोंको स्थान क्यों दिया गया है?

एक बात और है कि उत्तरपक्षको यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार यही भय है कि निमित्तोंको उपादानकी कार्योत्पत्तिमें सहायक माननेसे उपादानकी तरह निमित्तोंका भी कार्यमें प्रवेश स्वीकार करना होगा। परन्तु इस भयका निराकरण पूर्वमें किया जा चुका है। इसलिए इस विषयमें यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उपादानकी कार्यके साथ द्रव्यप्रत्यासत्ति रहनेके कारण उसका ही प्रवेश कार्यमें होता है। परन्तु निमित्तोंकी कार्यके साथ कालप्रत्यासत्ति ही रहती है, द्रव्यप्रत्यासत्ति नहीं, अतः उनका कार्यमें प्रवेश नहीं होता है।

यद्यपि उत्तरपक्ष कार्यके साथ निमित्तोंकी कालप्रत्यासत्ति मानकर भी उन्हें वहाँ पर अकिंचित्कर मानता है। परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि निमित्त कालप्रत्यासत्तिके आधारपर जो उपादानकी कार्यपरिणतिमें सहायक होने रूपसे कारण माने गए हैं वे वहाँ पर अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंके आधार पर ही माने गए हैं। इसका विवेचन पूर्वमें किया जा चुका है। आचार्य विद्यानन्द स्वामीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[2] (पृष्ठ १५१) में सहकारी (निमित्त) कारणका जो लक्षण निर्धारित किया है उससे भी सहकारी कारणकी कालप्रत्यासत्तिके आधारपर कार्यकारिता ही सिद्ध होती है। वह लक्षण निम्न प्रकार है—

'यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति।'

---

१. देखो, त० च० पृ० ९।

२. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई प्रकाशन।

इसका अर्थ है कि नियमसे जिसके अनन्तर जो होता है वह उसका सहकारी कारण है और दूसरा कार्य। इस ज्वलन्त प्रमाणसे भी सहकारी कारणकी कार्यकारिता स्पष्ट है। इसी तृतीय भागमें उत्तरपक्षने कार्योंमें आचार्य समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रके उद्धरण द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर उपाधियों (कारणों) की समग्रताको स्वीकार किया है, फिर भी उसने लिखा है कि "जब निश्चय उपादान अपना कार्य करता है तब अन्य द्रव्य पर्याय द्वारा उसका व्यवहार हेतु होता है[1]।" उसका यह सब कथन पूर्वापर विरुद्ध और पाठकोंको गुमराह करनेवाला है। जब सहकारी कारण अकिंचित्कर सिद्ध ही नहीं होते, तो उत्तरपक्षका घुमावमें डालना उचित नहीं है। इस पर हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। इसी प्रकार उसने इसी भागमें द्रव्यलिंग और भावलिंगकी भी अप्रासंगिक चर्चा उठायी है, जो यहाँ सर्वथा अनुपयुक्त है। फिर भी हम उसके विषयमें भी आगे विचार करेंगे।

चतुर्थ भागकी समीक्षा

इस भागमें पूर्वपक्ष द्वारा प्रवचनसार गाथा १६९ की अमृतचन्द्रीय टीकाके 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'अपने रूप' करनेपर अनावश्यक विवाद उठाते हुए उत्तरपक्षने लिखा है कि "प्रवचनसार गाथा १६९ में 'स्वयमेव' पदका अर्थ स्वयं ही है अपने रूप नहीं[2]। उत्तरपक्ष इससे यह बतलाना चाहता है कि उपादानकी कार्यरूप परिणति निमित्तका सहयोग प्राप्त किये बिना स्वयं ही अर्थात् अपने आप ही होती है। उसकी इस मान्यताका निराकरण प्रतिशंका ३ में विस्तारसे किया है तथा 'स्वयमेव' पदके अर्थपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और इस समीक्षामें भी 'स्वयमेव' पदके अर्थ पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

पंचम भागकी समीक्षा

पूर्वपक्षने लिखा था कि 'समयसार गाथा १०५ में जो उपचार शब्द आया है वह इस अर्थका द्योतक है कि पुद्गलका परिणमन पुद्गलमें ही होता है, जीवमें नहीं होता है। किन्तु जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर वह होता है। अर्थात् जीव पुद्गलकर्मोंका उपादानकर्त्ता नहीं, निमित्तकर्त्ता[3] है।' इसपर उत्तरपक्षने इस पंचम भागमें लिखा है कि "समयसार गाथा १०५ में उपचारका जो अर्थ प्रथम प्रश्नके उत्तरमें किया गया है वह अर्थ संगत है।" किन्तु प्रयत्न करनेपर भी वहाँ उसके द्वारा किया गया उपचारका वह अर्थ संगत या असंगत रूपमें उपलब्ध नहीं होता। मालूम नहीं, उत्तरपक्ष इस प्रकारके गलत वक्तव्य देकर दूसरोंकी आंखोंमें धूलिप्रक्षेपकी चेष्टा क्यों करता है? इस विषयमें भी हम आगे सप्रमाण विचार करेंगे।

यहाँ इतनी बात अवश्य स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने इसी पंचम भागके अन्तमें धवला पु० ६ पृ० ५९ का जो उद्धरण दिया है उसमें 'मुह्यत इति मोहनीयम्' इस अंशका उसने भ्रमवश विपरीत अर्थ किया है। धवला पुस्तक ६, पृ० ५९ का वह वचन और उसका उत्तरपक्ष द्वारा किया गया अर्थ निम्न प्रकार है।

'मुह्यत इति मोहनीयम्' एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं जीवादो अभिण्णम्मिह पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तथा उत्तीदो।'

---

१. देखो, त० च० पृ० ९। २. देखो, त० च० पृ० ९।

३. त० च०, पृ० ६।

इसका उत्तरपक्ष द्वारा किया गया अर्थ निम्न प्रकार है—

'जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है।

शंका—ऐसा होनेपर जीवको मोहनीय कर्मपना प्राप्त हो जाता हैं ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जीवसे अभिन्न (विशेष संयोगरूप, परस्पर विशिष्ट एकक्षेत्रावगाही) कर्मसंज्ञक पुद्गलद्रव्यमें उपचारसे कर्त्तापनेका आरोप कर वैसा कहा है।'

इस अर्थमें उत्तरपक्षने 'मुह्यत इति मोहनीयमम्' इस अंशका 'जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है।' यह अर्थ किया है सो वह अर्थ ठीक नहीं है। इसके स्थानमें उसे उसका यह अर्थ करना था कि 'जो मोहित किया जाता है 'या' जो मोहित होता है।' क्योंकि यह अर्थ करनेसे ही धवलाके उक्त शंका-समाधानरूप वचनके अर्थकी संगति होती है। उत्तरपक्षको यह भी ज्ञात होना चाहिए था कि 'मुह्यत इति मोहनीयम्' यह प्रयोग कर्मके विषयमें किया गया है। इसलिए उसका यही अर्थ है कि 'जो मोहित किया जाता है वह मोहनीय है।'

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि धवलाके उक्त वचनमें उपचारका अर्थ नहीं बतलाया गया है, तथा उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "इस आगम वचनमें' 'उवयारेण' और 'आरोविय' पद ध्यान देने योग्य हैं। स्पष्ट है कि कार्यका निष्पादक वस्तुतः उपादानकर्त्ता ही होता है। निमित्तमें तो उपचारसे कर्त्तापनेका आरोप किया जाता है।" सो इसमें विवाद नहीं है, परन्तु इससे निमित्तको अकिंचित्कर नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

४. प्रश्नोत्तर एकके तृतीय दौरकी समीक्षा

तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

पूर्वपक्षने तृतीय दौरमें सर्वप्रथम अपने प्रश्नका आशय स्पष्ट करते हुए यह कथन किया है कि उत्तरपक्षने अपने प्रथम और द्वितीय दोनों दौरोंमें प्रश्नका उत्तर नहीं दिया है। इसके पश्चात् "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस पद्मनन्दिपंचविंशतिका (२३-७) के आधारपर यह सिद्ध किया है कि वस्तुकी विकारी परिणति दूसरी वस्तुका सहयोग प्राप्त होने पर ही होती है। उसका सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने आप नहीं हो जाती। इसके भी पश्चात् "सदकारणवन्नित्यम्—" आप्त परीक्षा कारिका २ की टीकाके आधारसे बतलाया है कि जीवकी विकारी परिणति यदि कर्मोदयके बिना मानी जाए तो उपयोगके समान जीवका स्वभाव भाव हो जानेसे वह कभी नष्ट नहीं होगी। इसके आगे विविध आगमप्रमाणोंके बलसे इस बातका समर्थन किया है कि जीवमें उत्पन्न होनेवाले विकारका निमित्त पुद्गलकर्मका उदय है और अन्तमें उत्तरपक्षके द्वितीय दौरकी आलोचनापूर्वक आगमप्रमाणोंके आधारपर सिद्धान्तपक्षकी पुष्टि की है।

तृतीय दौरमें उत्तरपक्षकी स्थिति

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरमें पूर्वपक्षके कथनकी उपेक्षा करते हुए प्रश्नके उत्तरमें उसी दृष्टिकोणको अपनाया है जिस दृष्टिकोणको वह अपने प्रथम और द्वितीय दौरोंमें अपना चुका है। इसलिए उसने अपने तृतीय दौरमें पूर्वपक्षके प्रश्नका जो उत्तर दिया है उससे भी प्रश्नका समाधान नहीं हो सका है। अर्थात् उत्तर पक्षने अपने तृतीय दौरमें भी पूर्वपक्षके प्रश्नके उत्तरमें प्रथम और द्वितीय दौरोंकी उन्हीं बातोंको

१. देखो त० च० पृ० ६।

दुहराया है जिसका प्रकृत प्रश्नके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। विडम्बना यह है कि इस दौरमें उसने पूर्व पक्ष-पर अनेक कल्पित आरोप लगाये हैं और उनके आधारपर पूर्वपक्षकी यद्वा तद्वा आलोचना की है।

उत्तरपक्षकी इस स्थितिकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके प्रारम्भमें जो कुछ लिखा है उसका उद्धरण समीक्षाके सामान्य प्रकरणमें देते हुए उसकी वहाँ सामान्य समीक्षा भी की गयी है। उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस वचनका विपरीत अभिप्राय ग्रहण करके उसके आधार-से पूर्वपक्षको प्रथम तो इस रूपमें प्रदर्शित करनेका असफल प्रयत्न किया है, मानो पूर्वपक्ष दो वस्तुओंकी मिलकर एक विकारी परिणति मानता है और पश्चात् उसके विरोधमें समयसारके "नोभौ परिणमतः खलु" इत्यादि कलश पद्य ५३ को उद्धृत किया है। परन्तु जब पूर्वपक्ष दो वस्तुओं की मिलकर एक विकारी परिणति मानता ही नहीं है और उत्तरपक्ष भी इससे अनभिज्ञ नहीं है तो उसे इस तरह प्रदर्शित करनेका निरर्थक और अनुचित प्रयास नहीं करना चाहिये था।

आगे चलकर उत्तरपक्षने "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" वचनका अर्थ फलित करते हुए लिखा है कि "संयोगरूप भूमिकामें एक द्रव्यके विकारपरिणतिके करनेपर अन्य द्रव्य विवक्षित पर्यायके द्वारा उसमें निमित्त होता है[1]।" इसके आगे स्पष्टीकरणके रूपमें उसने उसमें यह भी लिखा है कि "इससे स्पष्ट विदित होता है कि निश्चय और व्यवहार दोनों नयवचनोंको स्वीकार कर "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" यह वचन लिखा गया है। स्पष्ट है कि मूल प्रश्नका उत्तर लिखते समय जो हम यह सिद्ध कर आये हैं कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्त मात्र है, उसका मुख्य कर्त्ता तो आत्मा ही है, यह यथार्थ लिख आये हैं। पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके उक्त वचनसे भी यही सिद्ध होता है"[2]।

हमें कहना पड़ता है कि उपर्युक्त प्रकार जो कुछ उत्तरपक्षने लिखा है वह सब उसका तत्त्व-जिज्ञासुओंके सामने पूर्वपक्षको गलत ढंगसे प्रस्तुत करनेका असफल प्रयास है। उसके इस प्रयासको तत्त्व-जिज्ञासुओंकी आंखोंमें धूल झोंकनेका प्रयास कहा जायेगा। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

(१) पूर्वपक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके उक्त वचनको अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिये उद्धृत किया है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है। यह बात उत्तरपक्ष भी अच्छी तरह जानता है। फिर भी उसने पूर्वपक्षके आशयको अन्यथा चित्रितकर अपने पदकी मर्यादाको भंग किया है।

(२) द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तिक संबंधको पूर्वपक्ष भी व्यवहारनयका ही विषय मानता है, इस बातसे भी उत्तरपक्ष अनभिज्ञ नहीं है। केवल दोनों पक्षोंकी मान्यताओंमें अन्तर यह है कि जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहारनयके विषयको कल्पनारोपित या कथनमात्र स्वीकार करता है वहाँ पूर्वपक्ष व्यवहारनयके विषयको कल्पनारोपित या कथनमात्र न मानकर व्यवहाररूपमें वास्तविक ही मानता है।

---

१. देखो, त० च० पृ० ३३। २. देखो, त० च० पृ० ३३।

(३) पूर्वपक्षकी मान्यतामें भी द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें उत्तरपक्षकी मान्यताके समान निमित्त मात्र होता है उसका मुख्य कर्त्ता आत्मा ही होता है, यह भी उत्तरपक्ष जानता है। दोनोंमें मतभेद यही है कि जहाँ उत्तरपक्ष द्रव्यकर्मके उदयको उक्त कार्यके प्रति उस कार्य-रूप परिणत न होने और उसमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर निमित्त कारण मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे उस कार्यके प्रति उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिंचित्कर और उसमें सहायक होनेके आधारपर किंचित्कर कार्यकारी निमित्तकारण मानता है।

पूर्वपक्षके प्रश्नका आशय यह रहा है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें कार्यकारी निमित्त कारण होता है या वह वहाँपर अकिंचित्कर रूपमें ही निमित्त कारण होता है। उसके इस प्रश्नका आशय उसे वहाँ मुख्यकर्त्ता मानने या न माननेके रूपमें नहीं रहा है, क्योंकि दोनों ही पक्ष उसे वहाँपर उपचरितकर्त्ता ही मानते हैं। यहाँ भी दोनों पक्षोंके मध्य केवल यह मतभेद है कि उत्तरपक्ष उस उपचरित कर्तृत्वको कल्पनारोपित या कथनमात्र मानता है जबकि पूर्वपक्ष उस उपचरित-कर्तृत्वको उपचरित रूपमें वास्तविक ही मानता है, कल्पनारोपित या कथनमात्र नहीं मानता।

इस विवेचनके अनुसार उत्तरपक्षको पूर्वपक्षके प्रश्नपर इस रूपमें ही विचार करना था कि द्रव्य-कर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें सहायक रूपसे कार्यकारी निमित्त कारण होता है या वह वहाँपर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर रूपमें ही निमित्त कारण होता है। उत्तरपक्षको इस अवसर पर व्यवहारनय और निश्चयनय तथा उपचरितकर्तृत्व और मुख्य कर्तृत्व जैसे अप्रकृत और अनावश्यक कथनोंमें न तो स्वयं उलझना था और न ही पूर्वपक्षको उलझाना था। यह तो दोनोंकी शक्तिका अपव्यय करना तथा बगलें झाँकना है।

द्रव्यकर्मोदयको प्रकृत कार्यके प्रति निमित्त मानना छलपूर्ण है

उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "स्पष्ट है कि मूल प्रश्नका उत्तर लिखते समय जो हम यह सिद्ध कर आये हैं कि संसारी आत्माके विकार भाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्त मात्र है, उसका मुख्यकर्त्ता तो स्वयं आत्मा ही है।"[1] सो उसका यह लिखना छलपूर्ण है, क्योंकि आगे चलकर उसने इसके विरुद्ध भी लिखा है कि "जिस जिस समय जीव क्रोधादि भावरूपसे परिणत होता है उस उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्मके उदयकी कालप्रत्यासत्ति होती है।"[2] इससे उसने यही अभिप्राय फलित करना चाहा है कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणके अवसर पर क्रोधादि द्रव्यकर्मका उदय विद्यमान तो रहता है, परन्तु वह उसमें अकिंचित्कर ही बना रहता है निमित्तरूपसे कार्यकारी नहीं होता।

उत्तर प्रश्नके आशयसे विपरीत

उत्तरपक्ष उपर्युक्त द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहकारी न होने रूपसे अकिंचित्कर मानता है और पूर्वपक्ष उसे वहाँ सहकारी रूपसे कार्यकारी मानता है। दोनों पक्षोंके इस मतभेदको समाप्त करनेके उद्देश्यसे ही प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया गया था। परन्तु उत्तरपक्षने

१. देखो, त० च० पृ० ३३।
२. देखो, वही, ३३।

प्रश्नके आशयको दुर्लक्षित करके उन बातों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनका प्रश्नके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे प्रकट है कि उत्तरपक्षका उत्तर प्रश्नके आशयसे विपरीत है।

निमित्तको अकिंचित्कर सिद्ध करनेका प्रयत्न अयुक्त

उत्तरपक्षने प्रकृत प्रश्न पर विचार करते हुए निमित्तको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए जो यह लिखा हैं कि "संयोगरूप भूमिकामें एक द्रव्यके विकार-परिणतिके करने पर अन्य द्रव्य विवक्षित पर्यायके द्वारा उसमें निमित्त होता है।"[1] परन्तु उसका यह कथन उदासीन निमित्तमें घटित होनेपर भी कार्यके प्रति उसकी अकिंचित्करताको सिद्ध करनेमें असमर्थ है, क्योंकि उदासीन निमित्त भी पंचास्तिकाय गाथा ८० और ९४ के अनुसार उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध होता है। हम पूर्वमें स्पष्ट भी कर चुके है कि जब रेलगाड़ी चलती है तो वह रेलपटरीपर ही चलती है। इसलिये यदि इस पटरीको रेलगाड़ीकी गतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी न माना जाये—उसे वहाँ उस रूपमें अकिंचित्कर ही माना जाये, तो उसको बुद्धिपूर्वक बिछाने, उसकी मजबूती और सुरक्षाका ध्यान रखने और इसके लिए धन और श्रमका उपयोग करने आदि व्यवस्थाओंकी निरर्थकता सिद्ध हो जायेगी तथा रेलपटरीका अवलम्बन लिये बिना ही रेलगाड़ीके चलनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इतना ही नहीं, रेलपटरीकी तोड़फोड़ हो जाने पर भी रेलके गिर पड़ने व जमीनमें धँसने आदिकी समस्यायें अपने आप ही समाप्त हो जावेंगी। उत्तरपक्षको उदासीन निमित्तकी अकिंचित्करता सिद्ध करनेसे पूर्व इन बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

"संयोगरूप भूमिकामें" इत्यादि उपर्युक्त कथन प्रेरक निमित्तमें तो सर्वथा घटित नहीं होता, क्योंकि प्रेरक निमित्तका कार्य उपादान (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट वस्तु) को कार्यरूप परिणत होनेके लिये सक्षम बनानेका है या यों कहिये कि उसे कार्यरूप परिणत होनेके लिये प्रेरित करनेका है। अर्थात् वस्तुमें उपादानशक्ति विद्यमान रहने पर भी जब तक प्रेरक निमित्त उसे कार्यरूप परिणत होनेके लिये सक्षम नहीं बनायेगा, तब तक उसकी विवक्षित कार्यरूप परिणतिका होना असम्भव है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि कार्योत्पत्तिमें उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त तीनों अपने अपने ढंगसे कार्यकारी हैं। उदाहरणार्थ—"जैसे शिष्य अध्यापकसे प्रदीपके प्रकाशमें पढ़ता है।" यहां उपादान कारणभूत शिष्य ही पाठनक्रियारूप परिणत होता है। उसकी इस पठनक्रियामें प्रेरणा देनेवाला अध्यापक है, अतः उसे प्रेरक निमित्त कहा जाता है। पढ़नेवाला शिष्य भी हो और पढ़ानेवाला अध्यापक भी हो, परन्तु यदि वहाँ पर उदासीन रूपसे सहायता करनेवाले प्रदीपका प्रकाश न हो, तो न अध्यापक पढ़ा सकता है और न शिष्य पढ़ सकता है। अतः दीपकका प्रकाश भी अप्रेरक (उदासीन) रूपसे निमित्त (सहायक) है। इसी प्रकार समस्त वस्तुओंकी कार्योत्पत्तिमें भी उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त तीनों ही अपने अपने ढंगसे कार्यकारी कारण सिद्ध होते हैं। तीनोंमेंसे कोई भी कारण वहाँ अकिंचित्कर नहीं है। इन तीनों कारणोंका सद्भाव रहते हुए भी यदि बाधक कारणका अभाव न हो तो कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतएव बाधकाभाव भी कार्योत्पत्तिमें सहायक है। उसे भावान्तर स्वरूप माननेपर उसका दोनों निमित्तोंमें यथायोग्य समावेश हो जाता है।

---

१. देखो, त० च० पृ० ३३।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि "शिष्य पढ़ता है," "अध्यापक पढ़ाता है" और "दीपक पढ़ाता है" जैसे वचनोंका भी प्रयोग पृथक्-पृथक् रूपमें देखनेमें आता है। किन्तु ऐसे वचन-प्रयोगोंमें मुख्यता और गौणताकी विवक्षा होती है। अर्थात् "शिष्य पढ़ता है" इस वचन-प्रयोगमें उपादानकी मुख्यता और प्रेरक एवं उदासीन निमित्तोंकी गौणता है। "अध्यापक पढ़ाता है" इस वचन प्रयोगमें प्रेरक निमित्तकी मुख्यता व उपादान व उदासीन निमित्त दोनोंकी गौणता है[1]। इसी तरह "दीपक पढ़ाता है" इस वचनप्रयोगमें उदासीन निमित्तकी प्रधानता है और उपादान तथा प्रेरक निमित्तकी गौणता है। परन्तु यह तथ्य है कि कार्योत्पत्तिमें तीनों ही कार्यकारी होते हैं। अतः तीनोंमेंसे किसीको भी अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता है।

इन तीनोंके लक्षण भी पृथक्-पृथक् हैं। जैसे उपादान वह है जो कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता अपने अन्दर रखता हो, प्रेरक निमित्त वह है जिसके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ होती हैं और उदासीन निमित्त वह है जिसकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ होती हैं। इस प्रकार लक्षणभेदके आधारपर तीनों कारण पृथक्-पृथक् सिद्ध होते हैं और कार्योत्पत्तिमें अपनी निश्चित सार्थकता प्रकट करते हैं। उपादान और दोनों—प्रेरक और उदासीन निमित्तोंमें जो भेद है, वह यह है कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है व दोनों निमित्त उसमें सहायक मात्र होते हैं। प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका भी भेद इस आधारपर है कि प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है। परन्तु उदासीन निमित्तके बलपर कार्यको आगे-पीछे नहीं किया जा सकता फिर भी उसके सहयोगके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इससे उसकी भी कार्योत्पत्तिमें अनिवार्यताको झुठलाया नहीं जा सकता।

क्या जयधवलाका वचन बाह्य कारणका निषेधक है ?

पूर्वपक्षने अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए कहा था कि 'यदि क्रोधादि विकारी भावोंको द्रव्यकर्मोदयके बिना मान लिया जावे, तो उपयोगके समान वे भी जीवके स्वभाव भाव हो जावेंगे और ऐसा माननेपर उन विकारी भावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आ जायेगा।' उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके इस कथनको उद्धृत करके उसके समाधानमें लिखा है कि "क्रोधादि विकारी भावोंको जीव स्वयं करता है, इसलिए वे निश्चयनयसे परनिरपेक्ष ही होते हैं, इसमें सन्देह नहीं, कारण कि एक द्रव्यके स्वचतुष्टयमें अन्य द्रव्यके स्वचतुष्टयका अत्यन्त अभाव है[2]।" अपने इस लेखकी पुष्टिके लिए उसने जयधवला पुस्तक ७, पृ० ११७ से "बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो" इस वचनको उद्धृत किया है तथा उसका अर्थ भी "प्रत्येक वस्तुका परिणमन बाह्यकारण निरपेक्ष होता है[3]।" दिया है।

हमें आश्चर्य है कि उत्तरपक्ष प्रश्नकर्ताके मूल प्रश्नका समाधान न करके मात्र अपने अभिप्रायको दोहराता है और उसका जरा भी पोषक कोई वचन मिलनेपर उसे प्रस्तुत कर देता है। न उसकी गहराईको देखता है, न सन्दर्भको और न वक्ताकी सन्दर्भित विवक्षाको। वस्तुकी व्यवस्था उभयनयसे है। जब एकनयसे वक्ता कथन करता है तो वहाँ दूसरा नय अविवक्षित होता है। स्याद्वादी वक्ताकी प्ररूपणा इसी प्रकार होती है।

१. त० च० पृ० १०।
२. ३, वही, पृ० ३३।

आगममान्यता है कि सभी कार्योंकी उत्पत्तिमें उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त ये तीनों कारण अनिवार्य हैं, जैसा कि हम अनेक जगह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। वस्तुका परिणाम वस्तुसे ही उत्पन्न होगा, वस्तुसे अतिरिक्तसे वह कदापि उत्पन्न नहीं होगा, ऐसा जब कथन किया जाता है तो उससे वक्ताका यही अभिप्राय होता है कि वह उपादानकी अपेक्षा कथन कर रहा है, बाह्य कारणों (प्रेरक व उदासीन निमित्तों) की सहकारिताका वह निषेध नहीं करता। कर भी कैसे सकता है। अन्यथा वस्तुकी अनेकान्तात्मकता, जो उसका प्राण है, लुप्त हो जावेगी। जयधवलाकारका उक्त वचन द्वारा उपादानपर बल देनेका अभिप्राय है—वस्तुके परिणमनमें वस्तु ही उपादान होती है, क्योंकि वही उस रूप परिणत होती है, बाह्य कारण नहीं, अतः उपादानकी दृष्टिसे वस्तुके परिणमनमें वस्तुकी ही अपेक्षा होगी, बाह्य कारणोंकी नहीं। अतएव वस्तुपरिणमनको बाह्यनिरपेक्ष कहा जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह उनके अभावमें भी हो जाता है। यह तो जैनदर्शनका सिद्धान्त है, जिसे उत्तर पक्ष भी अस्वीकार नहीं कर सकता। जयधवलाके उक्त वचनको नयविवक्षानुसार ही ग्रहण करना चाहिए। उसकी विवक्षा, सन्दर्भ और गहराईकी ओर भी ध्यान रहना चाहिए।

इसका निष्कर्ष यह है कि पूर्वपक्ष जयधवलाके उक्त कथनसे सहमत है तथा उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उसका अर्थ भी उसे मान्य है। इसके अलावा उत्तरपक्षके इस मतसे भी वह इंकार नहीं करता कि क्रोधादि विकारी भावोंका कर्ता जीव ही होता है, क्योंकि उक्त विकारी भावरूप परिणति जीवकी ही होती है, द्रव्यकर्मकी नहीं। इसके साथ ही पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके इस कथनको भी मानता है कि क्रोधादि विकारी भावरूप परिणति जीवकी अपनी ही परिणति होनेके कारण वह परनिरपेक्ष है। परन्तु परनिरपेक्षता या बाह्यकारण निरपेक्षताका यह अर्थ नहीं है कि उस परिणतिमें परकी—बाह्यकारणोंकी सहायकता नहीं है—वे उसमें अवश्य सहायक हैं और सहायकके रूपमें उनका सद्भाव वहाँ होनेसे वे अकिंचित्कर नहीं हैं। यदि उपादान जीवके साथ प्रेरक और उदासीन निमित्त (बाह्यकारण—द्रव्यकर्मोदय) न हो तो त्रिकालमें भी अकेले जीवसे क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अन्यथा मुक्त जीवोंमें भी उनकी उत्पत्तिका प्रसंग आवेगा।

अब रह जाता है प्रवचनसार गाथा १६९ की अमृतचन्द्रीय टीकामें आगत 'स्वयं' शब्दके अर्थका विचार। उसके अर्थ और अभिप्रायके सम्बन्धमें पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंमें विवाद केवल इस बातका है कि जीवके क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मोदय सहायक होनेरूपसे कार्यकारी निमित्त है अथवा वह उसमें सहायक न होनेरूपसे अकिंचित्कर निमित्त है। इसी बातका यहाँ निर्णय अभीष्ट है।

उक्त विवादपर सूक्ष्म विमर्श और सिद्धान्तका निर्णय

यहाँ उक्त विषय पर सूक्ष्म विमर्श किया जाता है। क्रोधादिविकारभाव जीवमें उत्पन्न होते हैं और इसलिए जीव उनका उपादान कारण है। इसे दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं। यह भी दोनों स्वीकार करते हैं कि वे तभी होते हैं जब द्रव्यकर्मका उदय होता है। अब विचारणीय यह है कि वे क्रोधादि विकारीभाव जीवमें द्रव्यकर्मके उदय होनेपर होते हैं और उदय न होनेपर नहीं होते, तो 'अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्यकारणभावः' इस सामान्य कार्यकारणभाव सिद्धान्तके अनुसार द्रव्यकर्मके उदयको क्रोधादि विकारभावोंका सहायक कारण—निमित्तकारण क्यों नहीं माना जाय और क्रोधादिविकारको उसका नैमित्तिक कार्य क्यों स्वीकार न किया जाय? जब क्रोधादि विकारभाव अकेले जीवके न होकर द्रव्यकर्मके उदयके सद्भावमें

होनेसे वे उसके भी कार्य हैं तो द्रव्यकर्मोदयको उनका सहायक कार्यकारी निमित्त मानना अनिवार्य है— उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है हैं। यह भी सत्य है, जिसे उभयपक्ष निर्विवाद मानते हैं कि जीव उन क्रोधादि विकारीभावोंका उपादान है और उपादान एक ही होता है, जबकि निमित्त (सहायक कारण) अनगिनत होते हैं और वे क्रोधादि विकारी भावोंके उपादान नहीं होते। ऐसी वस्तुस्थितिमें द्रव्यकर्मोदयको सहायक न होने और इसलिए उसे अकिंचित्कर होनेका कथन कैसे कोई कर सकता है। यह अन्तस्से विचारना चाहिए। हमें आश्चर्य है कि उत्तरपक्ष पूर्वाग्रहके वशीभूत होकर द्रव्यकर्मोदयको क्रोधादि विकारीभावोंका सहायक निमित्त नहीं मानता और उसे अकिंचित्कर कहता है। जबकि अन्वय और व्यतिरेकसे उसमें सहायक कारणता सिद्ध होती है। न्यायशास्त्रका ही नहीं, दर्शनशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रका भी सिद्धान्त है कि कोई भी कार्य हो, वह बाह्य (निमित्त) और इतर (आभ्यन्तर-उपादान) दोनोंकी समग्रतासे निष्पन्न होता है। अतः क्रोधादिविकार मात्र एक (उपादान) कारण जन्य नहीं हैं, अपितु उभय (उपादान और निमित्त दोनों) कारण जन्य हैं। इससे स्पष्ट है कि निमित्तकारण सहायक कारण है और वह कार्यकारी (क्रोधादि भावोंकी नैमित्तिक जन्यताको उत्पन्न करनेवाला) होनेसे कदापि अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता।

इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाका उक्त वचन उत्तर पक्षकी मान्यता (क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मोदय सहायक न होनेसे अकिंचित्कर निमित्त है, इस मत) का पोषक नहीं है। अतः उसे प्रस्तुत करना व्यर्थ है—उत्तर पक्षकी मात्र असफल चेष्टा है।

उत्तरपक्षके विरोधी वक्तव्योंपर विचार

(१) उत्तर पक्षने प्रकृत विषयमें परस्पर विरुद्ध कथन करते हुए लिखा है कि 'क्रोधादि द्रव्यकर्मोंको निमित्त किये बिना क्रोधादि भाव होते हैं, ऐसा हमारा कहना नहीं है और न ऐसा आगम ही है। हमारा कहना यह है कि क्रोधादि विकारी भावोंको स्वयं स्वतंत्र होकर जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नहीं। आगमका भी यही अभिप्राय है[1]।"

(२) एक अन्य जगहपर उसने लिखा है कि "जिस-जिस समय जीव क्रोधादि भावरूपसे परिणमता है उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्मके उदयकी नियमसे काल-प्रत्यासत्ति होती है, इसलिए व्यवहारनयसे क्रोधादिकषायके उदयको निमित्त कर क्रोधाधि भाव हुए, ऐसा कहा जाता है[2]।"

उत्तरपक्षके ये दो वक्तव्य हैं, जो स्पष्टतया परस्पर विरुद्ध हैं। पहले वक्तव्य में, पूर्वपक्ष द्वारा निमित्त कारणोंकी कार्योत्पत्तिमें अनिवार्यता सिद्ध कर देनेपर, अब वह कहता है कि 'क्रोधादि द्रव्यकर्मोको निमित्त किये बिना क्रोधादि भाव होते हैं, ऐसा हमारा कहना नहीं है और न ऐसा आगम ही है।' ऐसा कहकर उत्तरपक्ष असन्दिग्ध रूपमें जीवके क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें क्रोधादि द्रव्यकर्मोंकी निमित्तकारणताको स्वीकार कर लेता है और आगमको भी उसका समर्थक बतलाता है। उसके इस स्वीकारमें केवल अन्तर यही है कि सीधी नाक न पकड़ कर द्राविड़ी प्राणायामसे उसे पकड़ता है। अथवा अन्ध सर्पके बिलप्रवेश न्याय (अन्धा सर्प बिलमें सीधे न घुस कर उसके चक्कर लगा कर घुसता है) का वह अनुसरण करता है। आश्चर्य यह कि वह यह भी दोहराता जाता है कि 'हमारा कहना यह है कि क्रोधादि

१. त० च० पृ० ३३। २. वही, पृ० ३३।

विकारी भावोंको स्वयं स्वतंत्र जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नहीं। आगमका भी यही अभिप्राय है।' इसे क्या कहा जाय। उत्तरपक्ष कहीं भी स्थिर नहीं रहता और न यह देखता है कि मेरा कथन पूर्वापर विरुद्ध तथा असंगत है। खेद यह है कि वह आगमको दोनों ओर घसीट कर उसकी दुर्दशा कर रहा है। जब वह प्रतिपादन करता है कि हम द्रव्यकर्मोंको जीवके क्रोधादि भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेका निषेध नहीं करते और आगम भी ऐसा नहीं है। दूसरी ओर वह यह भी कहता जाता है कि क्रोधादि विकारी भावोंको स्वयं स्वतंत्र होकर जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नहीं।' तो उत्तर पक्षके कौनसे कथनको प्रमाण और संगत माना जाय। पाठक स्वयं निर्णय करें।

यदि उत्तर पक्षका यह अभिप्राय है कि जीवमें जो क्रोधादि विकारी विभाव उत्पन्न होते हैं वे यद्यपि द्रव्यकर्मोदयकी सहायतासे होते हैं, किन्तु उनमें द्रव्यकर्मोदयका प्रवेश नहीं होता, क्योंकि वे द्रव्य-कर्मोदयरूप न होकर जीवरूप ही होते हैं, तो यह पूर्वपक्षको अस्वीकार नहीं है, क्योंकि इस तरह जीवके क्रोधादि विकारी भावोंके उत्पन्न होनेमें द्रव्यकर्मोदयकी सहकारिता एवं कार्यकारिता स्पष्ट स्वीकार कर ली जाती है। परन्तु उसके इस प्रथम वक्तव्यका उसीके अगले द्वितीय वक्तव्यके साथ विरोध है, क्योंकि द्वितीय वक्तव्यमें उसने यह प्रकट किया है कि द्रव्यकर्मोदयकी जीवके क्रोधादि विकारी भावरूप परिणत होनेमें उपादान जीवके साथ कालप्रत्यासत्ति मात्र होनेसे वह उसमें सहायक न होनेके कारण अकिंचित्कर निमित्त कारण है। ये दोनों कथन कितने विसंगत हैं, यह भी उत्तर पक्षको देखना चाहिए। केवल बुद्धिकौशलका प्रकट करना या शास्त्रार्थके लटकोंका आश्रय लेना ही अभीष्ट नहीं होना चाहिए। तत्त्वनिर्णयका प्रयोजन मुख्य होना चाहिए, इसी उद्देश्यसे तत्त्वचर्चाकी योजना बनाई गयी थी।

दूसरा वक्तव्य जहाँ पहले वक्तव्यसे विरुद्ध है वहाँ वह घुमावदार भी है। जीवके क्रोधादि भावरूप परिणामोंकी उत्पत्तिमें क्रोधादि द्रव्यकर्मके उदयकी नियमसे कालप्रत्यासत्तिको स्वीकार कर क्या उत्तरपक्ष द्रव्यकर्मको निमित्त कारण अमान्य कर सकता है और जब वह लगे हाथ उसीके साथ यह भी कह रहा है कि 'इसलिए व्यवहारनयसे क्रोधादि कषायके उदयको निमित्त कर क्रोधादि भाव हुए ऐसा कहा जाता है।' कैसी विडम्बना है कि वह क्रोधादि कषायके उदयको निमित्त कर होनेवाले क्रोधादि भावोंको मान रहा है और उपादानके साथ निमित्तोंकी कालप्रत्यासत्तिको भी अंगीकार कर रहा है, फिर भी निमित्तोंकी इस महान् देन (सार्थकता—उपादान निमित्तोंके सद्भाव कालमें ही कार्यकारी होता है, अन्य कालमें नहीं)—अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध निमित्तोंकी अनिवार्य सहायकतारूप कार्यकारिताको स्वीकार करनेसे वह कतरा रहा है। उक्त रूपसे कथन करनेपर उत्तरपक्ष निमित्तोंको अकिंचित्कर कहनेका साहस कर ही नहीं सकता है।

रही व्यवहारनयसे क्रोधादिकषायके उदयको निमित्त माननेकी बात। सो उसे पूर्वपक्ष भी स्वीकार करता है। परन्तु व्यवहारनय कल्पित या मिथ्या नहीं है। यदि उसे कल्पित या मिथ्या माना जाय तो उसका विषय भी कल्पित या मिथ्या हो जायगा। वह मिथ्या या कल्पित तभी हो सकता है जब निश्चयनय और उसके विषयका वह तिरस्कार या निषेध करे। अतः परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी भांति निश्चयनय तथा व्यवहारनयको भी परस्पर सापेक्ष स्वीकार करनेपर ही उनमें सम्यक्नयपना माना गया है। अन्यथा वे दुर्नय कहे जायेंगे। व्यवहारनय अपने विषयको सही रूपमें निश्चयनयकी तरह ही जानता—ग्रहण करता है। अतः वह सम्यक्नय है और उस नयसे क्रोधादिकषायके उदयको जीवके क्रोधादि विकारी भावोंकी

उत्पत्तिमें निमित्त बतलाना या कहना सही जैन सिद्धान्त है। उसे तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करना या उसकी अन्यथा व्याख्या करना जैन सिद्धान्त नहीं है। अपने-अपने विषय-निरूपणमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी तरह निश्चय और व्यवहारनय दोनों समान हैं। इसे उत्तर पक्ष भी जानता है। किन्तु पक्षाग्रहवश वह लीपा-पोती करनेकी चेष्टा करता है।

उत्तरपक्षका अनुपयोगी वक्तव्य

उत्तर पक्षने तत्त्वानुशासन[1] पद्य २९ को उद्धृत कर एक ऐसे विषयको छेड़ा है, जिसकी प्रकृतमें जरा भी उपयोगिता नहीं है। उसने लिखा है कि "जिस द्रव्यके उसी द्रव्यमें कर्ता और कर्म आदिको विषय करनेवाला निश्चयनय है तथा विविध द्रव्योंमें एक-दूसरेके कर्ता और कर्म आदिको विषय करनेवाला व्यवहार-नय है।"[2] इसके विषयमें पूर्वपक्षको कोई विरोध नहीं है। पर प्रश्नके उत्तरमें इसकी उपयोगिता क्या है? इसे उसने नहीं सोचा।

उत्तरपक्षके एक अन्य वक्तव्य और उसपर विमर्श

उत्तर पक्षने उपर्युक्त वक्तव्यके आगे लिखा है कि "यहाँ विविध द्रव्योंमें एक-दूसरेके कर्ता आदि धर्मोंको व्यवहारनयसे स्वीकार किया गया है सो यह कथन तभी बन सकता है जब एकके धर्मको दूसरेमें आरोपित किया जाये। इसीको असद्भूत व्यवहार कहते हैं। इस तथ्यको विशद रूपमें समझनेके लिए आलाप-पद्धतिके "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः"—अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है इत्यादि वचन पर दृष्टिपात कीजिए।"[3]

इस विषयमें भी पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ कोई मतभेद नहीं है। केवल यह ध्यान रखना आवश्यक है कि एक वस्तुके धर्मका दूसरी वस्तुमें समारोपण करनेके लिये आलापपद्धतिमें ही तीन आधार स्वीकार किये गये हैं अर्थात् जहाँ मुख्यरूपताका अभाव, निमित्तका सद्भाव और प्रयोजनका भी सद्भाव हो वहीं उपचार (समारोप) की प्रवृत्ति होती है।[4]

इस सम्बन्धमें एक उदाहरण यह है कि लोकमें मृत्तिकाके रूपमें विद्यमान घटमें जो घृतरूपताका आरोप किया जाता है उसमें यह आरोप इन आधारोंपर किया जाता है कि एक तो घटका घृतरूप होना सम्भव नहीं होनेसे मुख्यरूपताका अभाव यहाँ विद्यमान है। दूसरे, घट और घृतमें संयोगसम्बन्धाश्रित आधाराधेयभावके विद्यमान रहनेसे निमित्तका सद्भाव भी यहाँ विद्यमान है और तीसरे, घटमें घृत रखने या उसमेंसे घृत निकालने रूप प्रयोजनका सद्भाव यहाँ विद्यमान है। इस तरह मिट्टीके रूपमें विद्यमान घटमें उक्त तीनों आधारोंपर घृतरूपताका आरोप संभव हो जाता है।

इस संबंधमें दूसरा उदाहरण यह दिया जा सकता है कि लोकमें मिट्टीमें विद्यमान घटकर्तृत्वका जो कुम्भकार व्यक्तिमें आरोप किया जाता है उसमें भी यह आरोप इन आधारोंपर किया जाता है कि एक तो

---

१. अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो मतः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥—त० शा०।

२. त० च० पृ० २३।

३. देखो त० च० पृ० ३४।

४. मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते।—आलापपद्धति।

कुम्भकार व्यक्तिमें घटके मुख्य कर्तृत्वका अभाव है, क्योंकि जिस प्रकार मिट्टी घटरूप परिणत होती है उस प्रकार कुम्भकार घटरूप परिणत नहीं होता। दूसरे, मिट्टीसे निर्मित होनेवाले घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकारकी सहायता अपेक्षित रहा करती है, क्योंकि कुम्भकार व्यक्तिका सहयोग प्राप्त हुए बिना मिट्टी कदापि घटरूप परिणत नहीं होती है। अतः निमित्तका सद्भाव भी वहाँ पाया जाता है और तीसरे, कुम्भकार द्वारा घट-निर्माणका प्रयोजन जलाहरण आदिके रूपमें वहाँ निश्चित रहता है। अतः प्रयोजनका सद्भाव भी वहाँ स्वीकृत करने योग्य है। इस तरह मिट्टीमें विद्यमान घटकर्तृत्वका कुम्भकार व्यक्तिमें उक्त तीन आधारोंसे आरोप होता है।

प्रकृतमें इसका समन्वय इस प्रकार होता है कि क्रोधादि विकारी भावोंका मुख्यकर्त्ता जीव होता है। परन्तु जीवमें वे क्रोधादि विकारी भाव द्रव्यकर्मके उदयका सहयोग प्राप्त होने पर ही होते हैं, द्रव्यकर्मके उदयका सहयोग प्राप्त हुए बिना नहीं होते। इसे आगमके आधारपर पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। इस तरह जीवमें विद्यमान क्रोधादि विकारी भावोंके कर्तृत्वका जो द्रव्यकर्मके उदयमें आरोप आगममें प्रतिपादित किया गया है उसमें भी उपर्युक्त तीन आधारोंको स्वीकृत किया गया है अर्थात् एक तो द्रव्यकर्मोदयमें जीवके क्रोधादि विकारी भावोंके मुख्यकर्तृत्वका अभाव है, क्योंकि जिस प्रकार जीव उन क्रोधादि विकारी भावोंके रूपमें परिणत होता है उस प्रकार उदयपर्यायविशिष्ट कर्म उन रूप परिणत नहीं होता। दूसरे, जीवमें होने-वाले क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मकी सहायता अपेक्षित रहा करती है, क्योंकि उसके सहयोगके बिना जीवकी क्रोधादि विकारीभावरूप परिणति नहीं हो सकती है, अतः निमित्तका सद्भाव भी यहाँ विद्यमान है और तीसरे क्रोधादि विकारी भावोंके उत्पन्न होनेका प्रयोजन जीवका संसार-परिभ्रमण आदिके रूपमें यहाँ स्वीकृत करने योग्य है। इस तरह जीवके क्रोधादि विकारी भावोंके कर्तृत्वका उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्ममें उक्त तीन आधारोंसे आरोप हो जाता है। इस विवेचनसे सहज ज्ञात हो जाता है कि जब आलापपद्धतिके "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः" वचनके आधारपर उत्तरपक्ष जीवमें उत्पन्न होने वाले क्रोधादि विकारी भावोंका आरोपित कर्ता या उपचरितकर्त्ता उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको स्वीकार करनेके लिए तैयार है तो उसे उस पर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस उपचरित या आरोपित कर्तृत्वकी प्रसिद्धिके लिए जीवके क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। यतः उत्तरपक्ष द्रव्यकर्मोदयको जीवके क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है क्योंकि वह तो उसे वहाँपर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण मानता है, अतः उसके मतानुसार जीवके क्रोधादि विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयको उपचरित या आरोपित कर्ता मानना किसी भी प्रकार संभव नहीं है

प्रकृतमें पूर्वपक्ष द्वारा उद्धृत "सदकारणवन्नित्यम्" वचनका प्रयोजन

पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें प्रसंगवश जो आप्तपरीक्षा कारिकाकी टीकाके उपर्युक्त वचनको उद्धृत किया है उसका प्रयोजन मात्र इतना है कि जो सत् हो और जिसका कोई कारण न हो उसे न्याय दर्शनमें नित्य माना गया है और यतः उत्तरपक्ष जीवमें विद्यमान क्रोधादि विकारी भावोंके सद्भावको द्रव्यकर्मोदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही मान लेना चाहता है अतः उसके अकारण हो जानेसे जीवमें उनके सद्भाव-को उपयोगके समान सार्वकालिक माननेका प्रसंग आता है जो उत्तरपक्षको भी अभीष्ट नहीं है।

इस विषयमें उत्तरपक्षने जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी दृष्टिसे नित्यता और अनित्यताके विकल्प प्रस्तुत किये हैं उनकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी उत्तरपक्षके समान जैन दर्शनकी इस व्यवस्थासे अपरिचित नहीं है।

वास्तवमें उत्तरपक्षका तत्त्वचर्चामें सर्वत्र ऐसा ही दृष्टिकोण देखनेको मिलता है कि प्रकृतकी उपेक्षा करके अप्रकृतकी ओर जानेका किसी-न-किसी बहाने उसने सदा प्रयत्न किया है और उस अप्रकृत विषयको उसने इस रूपमें प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की है जैसे पूर्वपक्ष उस विषयसे सर्वथा अनभिज्ञ हो।

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरमें पूर्वपक्षके विरोधमें इसी प्रकारके और भी कथन किये हैं जिनकी यहाँ क्रमशः समीक्षा की जाती है।

कथन १ और उसकी समीक्षा

(१) उत्तरपक्षने तत्त्वचर्चा पृष्ठ ३४ पर लिखा है कि "अपरपक्षने जयधवला १-५६ के वचनको उद्धृत कर जो यह प्रसिद्ध किया है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर साम्रगीकी समग्रतामें होता है, सो इसका हमने कहां निषेध किया है। रागादि भावकी उत्पत्तिमें कर्मकी निमित्तताको जैसा अपरपक्ष स्वीकार करता है उसी प्रकार हम भी स्वीकार करते हैं। विवाद इसमें नहीं है।"

इसकी समीक्षामें कहा जा सकता है कि बात वास्तवमें ऐसी नहीं है जैसी उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें कही है, क्योंकि वैसी बात कहनेपर भी वह रागादि भावकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण न मानकर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण ही मानता है जबकि पूर्वपक्ष उसे वहाँपर सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण ही मानता है, जो आगमसम्मत है व उत्तरपक्षकी मान्यता आगमविरुद्ध है, इसे पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन २ और उसकी समीक्षा

(२) उत्तरपक्षने वहींपर आगे लिखा है—"किन्तु विवाद इसमें है कि परद्रव्यकी विवक्षित पर्यायको निमित्तकर दूसरे द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका यथार्थ कर्त्ता कौन है" ?

इसकी समीक्षा इस प्रकार है—पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंके मध्य विवाद इस बातका नहीं है कि उक्त रागादि भावका यथार्थ कर्त्ता कौन है, क्योंकि पूर्वमें कहा जा चुका है और उत्तरपक्ष भी इससे अनभिज्ञ नहीं है कि परद्रव्यकी विवक्षित पर्यायको निमित्तकर दूसरे द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका यथार्थ कर्त्ता उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्षकी मान्यतामें भी वही द्रव्य होता है जिस द्रव्यमें वह कार्य उत्पन्न होता है या जो द्रव्य उस कार्यरूप परिणत होता है। जिस द्रव्यको निमित्तकर वह कार्य होता है उसे पूर्वपक्ष भी उस कार्यका उत्तरपक्षके समान अयथार्थ कर्त्ता मानता है। इस तरह दोनों पक्षोंके मध्य प्रकृतमें जो विवाद है वह किसको यथार्थकर्त्ता माना जाये, यह न होकर इस बातका है कि जहाँ उत्तरपक्ष निमित्तकारणभूत वस्तुके उस अयथार्थ कर्तृत्वको कार्योत्पत्तिके प्रति सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कर स्वीकार करता है वहां पूर्वपक्ष उसके उस अयथार्थकर्तृत्वको कार्योत्पत्तिके प्रति सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी स्वीकार करता है। दोनों पक्षोंकी परस्पर विरोधी इन मान्यताओंमें पूर्वपक्षकी मान्यता आगमसम्मत है, उत्तरपक्षकी मान्यता आगमसम्मत नहीं है, इसे भी स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन ३ और उसकी समीक्षा

(३) उत्तरपक्षने वहीं पर आगे लिखा है—"अपरपक्षने परमात्मप्रकाशकी गाथा ६६ और ७८ को उपस्थितकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जीवको सुख-दुःख और नरक-निगोद आदि दुर्गति देने वाला कर्म ही है। आत्मा तो पंगुके समान है। वह न कहीं जाता है और न आता है। तीन लोकमें इस जीवको कर्म ही ले जाता है और कर्म ही ले आता है। शायद अपरपक्ष निमित्तकर्त्ताका यही अर्थ करता है और इसीको अपने प्रश्नका उत्तर मानता है। किन्तु यह व्यवहारनयका वक्तव्य है इसे अपरपक्ष भूल जाता है।"

इसकी समीक्षामें हम कहना चाहते हैं कि पूर्वपक्ष भी उसे उत्तरपक्षके समान व्यवहारनयका ही विषय मानता है, निश्चयनयका नहीं। दोनों पक्षोंके मध्य जो विवाद है वह केवल इस बातका है कि जहाँ उत्तरपक्ष उसे व्यवहारनयका विषय कार्योत्पत्तिके प्रति सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्करके रूपमें स्वीकार करता है वहां पूर्वपक्ष उसे व्यवहारनयका विषय कार्योत्पत्तिके प्रति सहायक होनेके आधारपर कार्यकारीके रूपमें स्वीकार करता है। इनमेंसे पूर्वपक्षकी मान्यता तो आगमसम्मत है, उत्तरपक्षकी मान्यता आगमसम्मत नहीं है। इसे भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन ४ और उसकी समीक्षा

(४) उत्तरपक्षने वहीं आगे चलकर यह कथन किया है कि—"परका सम्पर्क करनेपर जीवकी कैसी गति होती है, यह इन वचनों द्वारा प्रतिपादित किया गया है"।

इसकी समीक्षामें मैं कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षके इस कथनमें विवाद नहीं है। परन्तु वह जब इस तरहके सम्पर्कको जीवके सुख-दुःख और नरक, निगोद आदि अवस्थाओंके होनेमें निमित्तकारण मान लेता है तो फिर उसका उस परसम्पर्कको जीवकी उक्त अवस्थाओंके निर्माणमें सर्वथा अकिंचित्कर मानना असंगत हो जाता है, क्योंकि इस तरहसे तो कार्योत्पत्तिमें परसम्पर्क सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी ही सिद्ध होता है, सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कर बतलाना सिद्ध नही होता। इस तरह उत्तरपक्षके सामने यह एक गंभीर समस्या खड़ी रहती है।

कथन ५ और उसकी समीक्षा

(५) उत्तरपक्षने वहीं पर आगे यह कथन किया है कि—"यहां यह स्मरण रखने योग्य बात है कि परका सम्पर्क करना और न करना इसमें जीवकी स्वतन्त्रता है"।

इसकी समीक्षामें भी मैं कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षका यह कथन हमें भी मान्य है। परन्तु परका सम्पर्क करनेमें स्वतंत्र होते हुए भी जीव जब तक यथायोग्य मोह, राग और द्वेषके वशीभूत रहता है तब तक ही वह आसक्तिवश या अशक्तिवश या कर्तव्यवश परका सम्पर्क करता है और सुखी-दुःखी व नरक, निगोद आदि अशुभ तथा शुभ गतियोंका पात्र बनता है।

कथन ६ और उसकी समीक्षा

(६) आगे उत्तरपक्षने इसी अनुच्छेदमें यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि "सुख-दुःख और नरक-निगोद आदिका पर निमित्त न होकर परका सम्पर्क ही निमित्त होता है"। इसमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वह भी इस बातसे अपरिचित नहीं है कि कार्योत्पत्तिमें पर वस्तु तभी निमित्त होती है जब

उनका यथोचित सम्पर्क कार्यरूप परिणत होने वाली अर्थात् उपादानकारणभूत वस्तुके साथ होता है। इतना अवश्य है कि मिट्टीके साथ दण्डचक्रादिका यथोचित सम्पर्क होनेपर ही घटोत्पत्ति हो सकती है, यह जान लेने पर ही कुम्भकार घटोत्पत्तिके लिये मिट्टीके साथ अपना व दण्डचक्रादिका यथोचित सम्पर्क करता है। इस तरह उत्तरपक्षने इस विषयको लेकर जो कुछ कथन किया है वह सब व्यर्थ और अनावश्यक है।

यहाँ तकके विवेचनसे स्पष्ट है कि दोनों पक्षोंके मध्यमें निम्न मान्यताएँ समान हैं—(क) रागादिभावरूप परिणति जीवकी ही होती है, कर्मकी नहीं। (ख) जीव ही रागादिभावका यथार्थ कर्ता है, कर्म उसका यथार्थ कर्ता न होकर अयथार्थ कर्ता है। (ग) कर्ममें विद्यमान यह अयथार्थ कर्तृत्व व्यवहारनयका ही विषय है, निश्चयनयका नहीं। (घ) जीव परका सम्पर्क करनेमें स्वतंत्र है और सुख-दुःख आदि परके सम्पर्कसे ही होते हैं। इन समान मान्यताओंके साथ दोनों पक्षोंके बीच निम्न मान्यताएँ विवादग्रस्त भी हैं। (क) जहाँ पूर्वपक्ष जीवकी रागादि परिणतिमें द्रव्यकर्मोदयको सहायक होनेसे कार्यकारि निमित्तकारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उक्त रागादिपरिणतिमें उस द्रव्यकर्मके उदयको सहायक न होनेसे अकिंचित्कर निमित्तकारण स्वीकार करता है। (ख) इसी तरह जहाँ पूर्वपक्ष उक्त कार्य (रागादिपरिणति) के प्रति द्रव्यकर्मोदयको सहायक होनेसे कार्यकारि होनेके आधारपर अयथार्थकर्ता मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उस कार्यके प्रति उक्त द्रव्यकर्मोदयको सहायक न होनेसे अकिंचित्कर होनेके आधारपर अयथार्थकर्ता अंगीकार करता है। (ग) इसी प्रकार जहाँ पूर्वपक्ष द्रव्यकर्मोदयकी निमित्तकारणता और उसकी अयथार्थकर्तृताको स्वीकार कर उसकी कार्यकारिताके आधारपर उसे कथंचित् भूतार्थरूपमें व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उक्त द्रव्यकर्मोदयकी निमित्तकारणता और उसकी अयथार्थकर्तृताको स्वीकार कर उक्त कार्यके प्रति सहायक न होनेसे आयी अकिंचित्करताके आधारपर उसे सर्वथा अभूतार्थरूपमें व्यवहारनयका विषय मानता है। इनके सम्बन्धमें पहले पर्याप्त स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव पूर्वपक्षकी मान्यताएँ ही आगमसम्मत हैं, उत्तरपक्षकी मान्यताएँ आगमसम्मत नहीं हैं।

कथन ७ और उसकी समीक्षा

(७) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३५ पर यह कथन किया है कि—"परमात्मप्रकाश दोहा ६६ में आया हुआ 'विधि' शब्द जहाँ द्रव्यकर्मका सूचक है वहीं पर परमात्माकी प्राप्तिके प्रतिपक्षभूत भावकर्मको भी सूचित करता है।" इस विषयमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु इसके आगे वहीं पर उत्तरपक्षने कथन किया है कि "जब इस जीवकी द्रव्य-पर्याय स्वरूप जिस प्रकारकी योग्यता होती है तब उसकी उसके अनुसार ही परिणति होती है और उसमें निमित्त होने योग्य बाह्यसामग्री भी उसीके अनुकूल मिलती है ऐसा ही त्रिकालाबाधित नियम है, इसमें कहीं अपवाद नहीं" इस कथनके अन्तिम अंश (उसमें निमित्त होने योग्य बाह्य सामग्री भी उसीके अनुकूल मिलती है ऐसा ही त्रिकालाबाधित नियम है इसमें कहीं अपवाद नहीं)—में पूर्वपक्षको विवाद है क्योंकि उसके आधारपर उत्तरपक्ष यह सिद्ध करना चाहता है कि "जब उपादान कारणभूत वस्तु विवक्षित कार्यरूप परिणत होती है तब उसको उसके अनुकूल निमित्त नियमसे मिल जाया करते हैं" परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपादान अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट वस्तुकी विवक्षित कार्यरूप परिणति पूर्वोक्त प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सम्पर्क प्राप्त होनेपर ही होती है और न मिलने पर नहीं होती। तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उपादानसे जब जैसा कार्य उत्पन्न होता है तब निमित्त भी उसीके अनुकूल प्राप्त होते हैं और पूर्वपक्षकी मान्यताके

अनुसार कार्य यद्यपि उपादानगत स्वाभाविक योग्यताके अनुकूल ही हो जाते हैं परन्तु जब उसे निमित्त मिलते हैं तभी वे उन निमित्तोंके अनुसार उपादानगत उक्त योग्यताके अनुरूप होते हैं।

कथन ८ और उसकी समीक्षा

(८) उत्तरपक्षने आगे चलकर त० च० पृ० ३५ के इसी अनुच्छेदमें यह कथन किया है कि—"जब विवक्षित द्रव्य अपना कार्य करता है तब वाह्य सामग्री उसमें यथायोग्य निमित्त होती है। परमात्मप्रकाशके उक्त कथनका यही अभिप्राय है।" उसका यह कथन भी प्रमाणसंगत नहीं है, क्योंकि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यद्यपि वही वस्तु विवक्षित कार्यरूप परिणत होती है जिसमें उस कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विद्यमान रहती है, परन्तु उसकी वह कार्यरूप परिणति अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होती है, न मिलनेपर नहीं होती। निष्कर्ष यह कि विवक्षित वस्तुकी वही परिणति होती है जिसकी योग्यता उसमें विद्यमान रहते हुए अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग उसे प्राप्त होता है। इस तरह परमात्मप्रकाशके उक्त कथनका जैसा अभिप्राय उत्तरपक्ष लेना चाहता है वह युक्त नहीं है। प्रत्युत पूर्वपक्षका अभिप्राय प्रमाणसंगत है और यही वस्तुस्थिति है।

कथन ९ और उसकी समीक्षा

(९) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३५ के इसी अनुच्छेदमें आगे लिखा है—"समयसार गाथा २७८ व २७९ से भी यही सिद्ध होता है। उक्त गाथाओंमें यद्यपि यह कहा गया है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि आप शुद्ध है वह लालिमा आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता है। किन्तु वह अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा लालिमा आदि रूप परिणमाया जाता है उसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है वह राग आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता है किन्तु वह राग आदि दोषों द्वारा रागी आदि किया जाता है। परन्तु इसका ठीक आशय क्या है इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्रने "न जातु रागादि" इत्यादि कलश द्वारा किया है। इसमें पर पदार्थको निमित्त न बतला कर परके संगमें निमित्तता सूचित की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि आगममें जहाँ-जहाँ इस प्रकारका कथन आता है कि जीवको कर्म सुख-दुःख देते हैं, कर्म बड़े बलवान हैं, ये ही इसे नरक आदि दुर्गतियोंमें और देवादि सुगतियोंमें ले जाते हैं वहाँ-वहाँ उक्त कथनका यही अर्थ करना चाहिए कि जब तक जीव कर्मोदयकी संगति करता रहता है तब तक उसे संसार-परिभ्रमणका पात्र होना पड़ता है। कर्मोदय जीवके सुख-दुःख आदिमें निमित्त है, इसका आशय इतना ही है। परमात्मप्रकाशमें इसी आशयको इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया है कि यह जीव पंगुके समान है वह न कहीं जाता है और न आता है, कर्म लोकमें इसे ले जाता है और ले आता है आदि।"

उत्तरपक्षके इस कथनके विषयमें पूर्वपक्षको अणुमात्र भी विवाद नहीं है, क्योंकि इसी आशयको ध्यानमें रखकर ही पूर्वपक्षने परमात्मप्रकाशके उक्त दोनों पद्योंको अपने वक्तव्यमें उद्धृत किया है। परन्तु जो बात विवादकी है उसको तो उत्तरपक्ष इतना लम्बा लिखनेके पश्चात् भी अपनी दृष्टिसे ओझल किये हुए है अर्थात् उत्तरपक्ष स्फटिक मणिमें उत्पन्न हुई लालिमामें लाल वस्तुको और उसीके समान जीवमें उत्पन्न होने वाले रागादि भावोंमें रागादि द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त मानकर भी जब इन निमित्तोंको उक्त कार्यके प्रति सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर मान लेता है तो निमित्तोंकी इस अकिंचित्करताका उत्तरपक्षके उपर्युक्त कथनके साथ कैसे मेल बैठ सकता है? यह उत्तरपक्षको सोचना चाहिए। साथ ही तत्त्वजिज्ञासुओं-को भी इसपर विचार करना चाहिए।

कथन १० और उसकी समीक्षा

(१०) आगे त० च० पृ० ३५ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है—"आगममें दोनों प्रकारका कथन उपलब्ध होता है। कहीं उपादानकी मुख्यतासे कथन किया गया है और कहीं निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी मुख्यतासे कथन किया गया है। जहाँ उपादानकी मुख्यतासे कथन किया गया है वहाँ उसे निश्चय यथार्थ कथन जानना चाहिए और जहाँ निमित्तव्यवहार योग्य बाह्य सामग्रीकी मुख्यतासे कथन किया गया है वहाँ उसे असद्भूत व्यवहार (उपचरित) कथन जानना चाहिए।"

उत्तरपक्षके इस कथनमें जहाँ तक आगमका समर्थन है वहाँ तक पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है अर्थात् पूर्वपक्ष आगममें विद्यमान निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके कथनोंको स्वीकार करता है। कहाँ कब किस दृष्टिसे आगममें कथन किया गया है उसे भी वह मान्य करता है और उपादानकी मुख्यतासे किये गये कथनको निश्चय (यथार्थ) व निमित्तकी मुख्यतासे कि। गये कथनको असद्भूत व्यवहार (उपचरित) वह भी मानता है। दोनों पक्षोंके मध्य जो विवाद है वह इन बातोंमें है कि जहाँ उत्तरपक्ष निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानता है और इसी अकिंचित्करताके आधारपर उसे वह अयथार्थ कारण व उपचरितकर्त्ता मानकर इसी रूपमें असद्भूत व्यवहार (उपचरित) स्वीकार करता है वहाँ पूर्वपक्ष निमित्तको कार्यमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है और इसी कार्यकारिताके आधारपर वह उसे अयथार्थकारण व उपचरितकर्त्ता स्वीकार कर इसी रूपमें असद्भूत व्यवहार (उपचरित) मानता है।

कथन ११ और उसकी समीक्षा

(११) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३५ पर ही आगे यह कथन किया है—"श्री समयसार गाथा ३२ की टीकामें निमित्तव्यवहारके योग्य मोहोदयको भावक और आत्माको भाव्य कहा गया है सो उसका आशय इतना ही है कि जब तक यह जीव मोहोदयके सम्पर्कमें एकत्वबुद्धि करता रहता है तभी तक मोहोदयमें भावक व्यवहार होता है और आत्मा भाव्य कहा जाता है। यदि ऐसा न माना जाये तो सतत मोहोदयके विद्यमान रहनेके कारण यह आत्मा भेदविज्ञानके बलसे कभी भी भाव्य-भावक संकरदोषका परिहार नहीं कर सकता। इस प्रकार उक्त कथन द्वारा आत्माकी स्वतंत्रताको अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। आत्मा स्वयं स्वतंत्रपने मोहोदयसे अनुरंजित हो तो ही मोहोदय रंजक है अन्यथा नहीं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।"

उत्तरपक्षने अपने इस कथनमें जीवको अपनी विभाव परिणतिके करनेमें स्वतंत्र रूपसे कारण सिद्ध करनेके लिये मोहोदयको उसमें सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर मान्य करना चाहा है और इसके लिये उसने समयसार गाथा ३२ की टीकाका विपरीत आशय प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की है।

समयसार गाथा ३२ का सुसंगत आशय यह है कि जब तक जीवमें सम्बद्ध मोहकर्मका उदय विद्यमान है तब तक वह जीव अपनी विभावपरिणति करता रहता है और इस आधारपर ही मोहकर्मका उदय भावक कहलाता है व आत्मा भाव्य कहलाता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जब तक जीवमें मिथ्यात्व कर्मका उदय विद्यमान रहता है तब तक वह जीव अपनी मिथ्यात्वरूप परिणति करता रहता है और उस मिथ्यात्वरूप परिणतिके कारण वह भावमिथ्यादृष्टि बना रहता है। लेकिन यदि उस जीवमें मिथ्यात्व कर्मके उदयका उस कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके रूपमें अभाव हो जाता है तो वह जीव भावसम्यग्दृष्टि हो जाता है। इस तरह जीवकी मिथ्यात्वरूप परिणति मिथ्यात्वकर्मके उदयकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण उस मिथ्यात्वकर्मको भावक कहा जाता है और आत्माको भाव्य कहा जाता है। पूर्वपक्षने भी अपने

तृतीय दौर में त० च० पृ० ११ पर दृष्टिसे समयसार गाथा ३२ की टीकाके आधारपर आत्माको भाव्य और मोहकर्मको भावक मान्य किया है।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनमें समयसारकी उक्त गाथा ३२ की टीकाके आशयके रूपमें यह कहा है कि "जब तक यह जीव मोहोदयके सम्पर्कमें एकत्वबुद्धि करता रहता है तभी तक मोहोदयमें भावक व्यवहार होता है और आत्मा भाव्य कहा जाता है।" इससे उत्तरपक्षका यही अभिप्राय हो सकता है कि जीव द्वारा मोहकर्मके उदयका सम्पर्क करते हुए भी उससे अपनी एकत्वबुद्धि नहीं करने पर न तो मोहोदयको भावक कहा जा सकता है और न आत्माको भाव्य कहा जा सकता है। परन्तु उसका यह अभिप्राय असंगत है, क्योंकि जीवमें जब तक मिथ्यात्वकर्मका उदय विद्यमान रहता है तब तक उसमें अपनी एकत्वबुद्धिका अभाव हो जानेपर भी जीव भावमिथ्यादृष्टि बना रहता है। ऐसी बात नहीं है कि वह इस अवसरपर भावसम्यग्दृष्टि हो जाता हो, क्योंकि वह भावसम्यग्दृष्टि तभी बन सकता है जब उसमें मिथ्यात्वकर्मके उदयका उस कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके रूपमें अभाव हो जाता है। इसलिये समयसार गाथा ३२ की टीकाका यही आशय ग्रहण करना उचित है कि एकत्वबुद्धिके बने रहने या न बने रहनेपर भी जब तक यह जीव मोहोदयके सम्पर्कमें रहता है तब तक उसकी मोहरूप परिणति होती रहती है। अतः उस समय तक मोहोदयको भावक और आत्माको भाव्य स्वीकार करना संगत है। समसार गाथा १६१ में आचार्य कुंदकुंदने यही कहा है कि सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। अतः उसके उदयसे जीवको मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।[1]

इस विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि मोहोदयका सम्पर्क रखते हुए जीव उक्त एकत्वबुद्धिको समाप्त तो कर सकता है, परन्तु यह नियम नहीं मान्य किया जा सकता है कि एकत्वबुद्धिके समाप्त होने मात्रसे जीवकी मोहरूप परिणतिका अभाव होकर भाव्य-भावक संकरदोषका परिहार हो ही जाता है। यह नियम न माननेका कारण यह है कि एकत्वबुद्धिका त्याग व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है और वह व्यवहारसम्यग्दर्शन मिथ्यात्वकर्मके उदयके आधारपर भावमिथ्यात्वरूपसे परिणत प्रथम गुणस्थानवर्ती अर्थात् भावमिथ्यादृष्टि जीवके भी सम्भव है, क्योंकि एकत्वबुद्धि या एकत्व बुद्धिका त्याग दोनों जीवके मानसिक, अशुभ या शुभ पुरुषार्थ हैं तथा वे अशुभ और शुभ दोनों पुरुषार्थ भव्यमिथ्यादृष्टि जीवमें और यहाँ तक कि अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवमें भी आगम द्वारा स्वीकार किये गये हैं।[2] इस तरह उस एकत्वबुद्धिके त्यागस्वरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन भव्यमिथ्यादृष्टि जीवमें जब प्रगट होता है तब जीव परपदार्थोंमें अपने मानसिक, वाचनिक और कायिक आत्म-पुरुषार्थ द्वारा ही अनासक्ति भावको सुदृढ़ करता हुआ प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भावको अपने अन्तःकरणमें विकसित कर लेता है। तथा वह यदि भव्य है तो कदाचित् अधःकरण, अपूर्वकरण और

---

१. सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥१६१॥—समयसार

२. (क) सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मखयणिमित्तं ॥२७५॥—समयसार

(ख) वदसमिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥—समयसार

अनिवृत्तिकरण परिणामोंके आधारपर यथायोग्य उक्त मोह (मिथ्यात्व) कर्मके उदयका अनादिमिथ्यादर्शनकी अपेक्षा उस कर्मका उपशमके रूपमें और सादिमिथ्यादर्शनकी अपेक्षा उस कर्मका उपशम, क्षय या क्षयोपशमके रूपमें अभाव करके उक्त भाव्य-भावकसंकरदोषका परिहार कर भावसम्यग्दृष्टि हो जाता है।

इस प्रकार इस विवेचनसे यह बात निश्चित हो जाती है कि उक्त एकत्वबुद्धिका त्याग हो जानेपर भी जब तक जीवमें मिथ्यात्वकर्मके उदयका उस कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके रूपमें अभाव नहीं हो जाता तब तक उस जीवके भाव्य-भावक संकरदोषका परिहार नहीं होता है। ऐसी हालतमें उत्तरपक्षका यह कथन कि "जब तक यह जीव मोहोदयके सम्पर्कमें एकत्वबुद्धि करता रहता है तभी तक मोहोदयमें भावक व्यवहार होता है और आत्मा भाव्य कहा जाता है। यदि ऐसा न माना जाये तो सतत मोहोदयके विद्यमान रहनेके कारण यह आत्मा भेद-विज्ञानके बलसे कभी भी भाव्य-भावक संकरदोषका परिहार नहीं कर सकता है" महत्त्वहीन और असंगत है। इसी प्रकार उत्तरपक्षका यह कथन भी उक्त हालतमें महत्त्वहीन और असंगत है कि "इस प्रकार इस कथन द्वारा आत्माकी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। आत्मा स्वयं स्वतन्त्र-पने मोहोदयसे अनुरंजित हो तो ही मोहोदय रंजक है अन्यथा नहीं' इस कथनके महत्त्वहीन और असंगत होनेका कारण यह है कि आत्माकी स्वतन्त्रता केवल इस बातमें है कि मोहरूप परिणति उसकी अपनी ही परिणति है और वह उसमें विद्यमान स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप होती है। आत्माकी स्वतन्त्रता इस बातमें नहीं है कि उसकी वह मोहरूप परिणति मोहकर्मके अथवा मोहकर्मके उदयके सम्पर्क (सहयोग) के बिना अपने आप ही होती है। अतः पूर्वपक्षके अनुसार ऐसा मानना ही आगम और युक्तिसे संगत है कि संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय सहायक होनेरूपसे कार्यकारी निमित्तकारण है। उत्तरपक्षके अनुसार ऐसा मानना आगम और युक्तिसे संगत नहीं है कि संसारी आत्माका वह विकार-भाव और चतुर्गतिभ्रमण स्वयं स्वतन्त्रपने अर्थात् द्रव्यकर्मोदयकी सहायताके बिना अपने आप ही होता है व द्रव्यकर्मका उदय उसमें सहायक न होने रूपसे सतत अकिंचित्कर ही बना रहता है। एकत्वबुद्धिका अभाव भावमिथ्यादृष्टि जीवके भी उक्त प्रकारसे सम्भव है, जिसका ऊपर पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है।

वास्तविक बात यह है कि उत्तरपक्षको पहलेसे ही यह भय सता रहा है कि यदि प्रेरक और उदासीन कारणोंको उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें अपने-अपने ढंगसे सहायक होने रूपमें कार्यकारी माना जाये तो उस कार्योत्पत्तिके प्रति उपादानकारणभूत वस्तुकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी। किन्तु उसका यह भय निरर्थक है, क्योंकि कार्योत्पत्तिमें वस्तुकी स्वतन्त्रता किस रूपमें है या हो सकती है, इस बातको पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योंमें बार-बार स्पष्ट किया है और इस समीक्षामें भी स्पष्ट किया गया है। यदि उत्तर-पक्ष इसपर ध्यान नहीं देता तो इसका क्या उपचार है? क्योंकि यह उसकी आत्माकी स्वतन्त्रता है? लेकिन वह कार्योत्पत्तिमें इस तरह यदि निमित्तोंको अकिंचित्कर सिद्ध करनेकी चेष्टा करे तो तत्त्व फलित नहीं होगा।

आगामी समीक्षाकी भूमिका

पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें पृ० ११ से पृ० १४ तक अनेक आगमप्रमाणोंको प्रस्तुत कर उनके द्वारा द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें प्रेरकरूपसे सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी निमित्तकारण सिद्ध किया है। परन्तु उत्तरपक्षने या तो आगमके आशयको यथारूपमें समझनेकी चेष्टा नहीं की है या जानबूझकर उसने उसका विपरीत आशय प्रगट किया है और पूर्वपक्षके कथनके आशय

को भी उसने यथारूपमें ग्रहण करनेका प्रयास नहीं किया है। फलतः उसने अपने तृतीय दौरमें पृ० ३६-३८ तक पूर्वपक्ष द्वारा पृ० ११ से १४ तक प्रस्तुत आगमप्रमाणोंका विपरीत आशय ग्रहण करके पूर्वपक्षके कथन का विरोध करनेमें ही अपनी शक्ति लगाई है।

उत्तरपक्षको पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर देनेमें अपना ध्यान केवल विवादग्रस्त विषयपर ही केन्द्रित रखना चाहिए था। परन्तु उसने अपने उत्तरमें जो कथन किया है वह व्यर्थ और सीमाका अतिक्रमण करके किया है। हम आगे यही स्पष्ट करेंगे।

कथन १२ और उसकी समीक्षा

पूर्वपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनमें तृतीय दौरमें पृ० ११ पर समयसार गाथा १९८ और १९९ को प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। उसके सम्बन्धमें उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरमें पृ० ३६ पर निम्न लिखित कथन किया है—

"समयसार गाथा १९८ में भी इसी तथ्यको सूचित किया गया है। जितने अंशमें जीव पुरुषार्थहीन होकर कर्मोदयरूप विपाकसे युक्त होता है उतने अंशमें जीवमें विभाव भाव होते हैं। अतः ये परके सम्पर्कमें हुए हैं इसलिए इन्हें परभाव भी कहते हैं और ये आत्माके विभावरूप भाव होनेसे स्वभावरूप भावोंसे वहि-भूत हैं, इसलिए हेय हैं। यदि इनमें इस जीवकी हेयबुद्धि हो जाये तो परके सम्पर्कमें भी हेयबुद्धि हो जाये यह तथ्य इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ भी आत्माकी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। कर्मोदय बलपूर्वक इसे विभावरूप परिणमाता है यह इसका आशय नहीं है। किन्तु जब वह जीव स्वयं स्वतन्त्रता पूर्वक कर्मोदयसे युक्त होता है तब नियमसे विभावरूप परिणमता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। समयसार गाथा १९९ का भी यही आशय है।" इस कथनकी समीक्षा निम्न प्रकार है।

समयसार गाथा १९८ और १९९ का संकेत करनेमें पूर्वपक्षका यह उद्देश्य था कि उत्तरपक्षको यह ज्ञात हो जाये कि जीवके विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मोदय प्रेरकरूपसे निमित्तकारण होता है। अर्थात् जितने भी जीवमें विभाव भाव होते हैं वे सब यद्यपि जीवकी परिणतिके रूपमें ही होते हैं व जीवमें विद्यमान तदनुकूल स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप ही होते हैं, परन्तु वे जीवमें तभी होते हैं जब उसे तदनुकूल कर्मोदय का प्रेरकरूपसे सहयोग प्राप्त होता है।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके इस कथनकी उपेक्षा करते हुए इसके विपरीत उपर्युक्त वक्तव्यमें कथन किया है कि "जब यह जीव स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मोदयसे युक्त होता है तब वह नियमसे विभावरूप परिणमता है।" इसकी पुष्टिमें उसका वहींपर यह कहना है कि 'कर्मोदय बलपूर्वक इसे विभावरूप नहीं परिणमाता है।" ऐसा कथन करनेमें उत्तरपक्षका उद्देश्य यही है कि वह कर्मोदयको उस कार्यमें सर्वथा अकिंचित्कर सिद्ध करना चाहता है। परन्तु पूर्वमें अनुभव, युक्ति और आगम प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि उस कार्यमें द्रव्यकर्मोदय अकिंचित्कर नहीं है, प्रत्युत प्रेरकरूपसे कार्यकारी है, जिसका आशय यह है कि विकाररूप कार्य उसके उपादानकारणभूत संसारी आत्मामें उसकी निजी स्वाभाविक योग्यताके होनेपर भी प्रेरक निमित्तके बलसे आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्रेरक निमित्त उपादानकारण-भूत वस्तुको बलात् परिणमानेकी क्षमता तो रखता है, परन्तु उसकी यह क्षमता इस प्रकारकी है कि वह उस क्षमताके आधारपर उपादानकारणभूत वस्तुमें विशेषता उत्पन्न कर सकता है। वह किसी भी वस्तुको जिस

किसी कार्यका उपादान नहीं बना सकता, अर्थात् प्रेरक निमित्त उपादानमें अपना कलात्मक परिचय तो दे सकता है, परन्तु वह जड़को चेतन और चेतनको जड़ नहीं बना सकता है। प्रेरक निमित्तके स्वरूप और कार्यका विस्तारसे विवेचन पूर्वमें किया ही जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें यह भी कथन किया है कि 'जितने अंशमें जीव पुरुषार्थहीन होकर कर्मोदयविपाकसे युक्त होता है उतने अंशमें जीवमें विभाव भाव होते हैं' सो इसमें विवाद नहीं है। परन्तु विवादकी बात तो यह है कि जीवमें पुरुषार्थहीनता अपने आप ही नहीं आ जाती है। उसकी उस पुरुषार्थहीनताका आधार नोकर्मभूत मन, वचन (मुख) और शरीरका प्रतिकूल होना है।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें यह भी कथन किया है कि "यतः ये परके सम्पर्कमें हुए हैं इसलिए इन्हें परभाव भी कहते हैं और ये आत्माके विभावरूप भाव होनेसे स्वभावभूत भावोंसे बहिर्भूत हैं इसलिए हेय हैं। यदि इनमें इस जीवकी हेय बुद्धि हो जाये तो परके सम्पर्कमें हेय बुद्धि हो जाये यह तथ्य इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है।"

इस सम्बन्धमें हमारा कहना है कि समयसार गाथा १९८ और १९९ से उत्तरपक्ष द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त तथ्य सूचित होता है या नहीं, यह तो अलग बात है। परन्तु उसने जो उपर्युक्त कथन किया है वह हमें भी मान्य है। किन्तु उसने जो यह कहा है कि "स्पष्ट है कि यहाँ भी आत्माकी स्वतन्त्रताको बनाये रखा गया है" सो इससे वह आत्माकी जिसरूपमें स्वतन्त्रता बतलाना चाहता है वह संगत नहीं है, क्योंकि संसारी आत्मा परतन्त्र है, इस बातको ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन १३ और उसकी समीक्षा

(१३) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३६ पर यह भी कथन किया है कि "समयसार गाथा २८१ में उक्त कथनसे भिन्न कोई दूसरी बात कही गई हो ऐसा नहीं समझना चाहिए। जिसको निमित्त कर जो भाव होता है वह उससे जायमान हुआ है ऐसा कहना आगमकी परिपाटी है जो मात्र किस कार्यमें कौन निमित्त है इसे सूचित करनेके अभिप्रायसे ही आगममें निर्दिष्ट की गई है।"

इस कथनके द्वारा उत्तरपक्षका अभिप्राय समयसार गाथा १९८ और १९९ के सम्बन्धमें उसके द्वारा किये गये विवेचनसे ज्ञात होता है। लेकिन उसका निराकरण पूर्वमें किया जा चुका है। अतः यहाँपर उत्तरपक्ष द्वारा उसका संकेत किया जाना कोई महत्व नहीं रखता है। इसके अतिरिक्त इस कथनमें उत्तरपक्षने यह भी कहा है कि "जिसको निमित्त कर जो भाव होता है वह उससे जायमान हुआ है ऐसा कहना आगमकी परिपाटी है" इस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि इस प्रकारके कथनकी परिपाटी आगममें ही नहीं, लोकमें भी पाई जाती है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसी परिपाटी आगमकी हो या लोककी हो, दोनों ही कार्योत्पत्तिमें निमित्तको सहायक होनेरूपसे कार्यकारी ही सिद्ध करती हैं। यतः उत्तरपक्ष निमित्तको कार्योत्पत्तिमें सहायक होनेरूपसे कार्यकारी माननेके लिये तैयार नहीं हैं अतः उसके मतमें आगमकी उक्त परिपाटीकी संगति बिठलाना कदापि सम्भव नहीं है। उत्तरपक्षने अपने उक्त कथनमें जो यह कहा है कि "किस कार्यका कौन निमित्त है इसे सूचित करनेके अभिप्रायसे ही उक्त परिपाटी आगममें निर्दिष्ट की गई है" सो उसका ऐसा कहना भी निरर्थक और अविचारित है, क्योंकि जब वह कार्योत्पत्तिमें निमित्तको सहायक होनेरूपसे कार्यकारी माननेके लिए तैयार नहीं है तो "कहाँ कौन निमित्त है" इसे सूचित करनेकी क्या आवश्यकता है ?

कथन १४ और उसकी समीक्षा

(१४) उत्तरपक्षने इसी अनुच्छेदमें आगे यह भी कथन किया है कि "उपादानमें होने वाले व्यापारको पृथक् सत्ताक बाह्य सामग्री त्रिकालमें नहीं कर सकती है। इस तथ्यको अपरपक्ष भी स्वीकार करेगा। अतएव आत्मामें उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष और मोह कर्मोदयसे उत्पन्न होते हैं ऐसा कहना व्यवहार कथन ही तो ठहरेगा। उसे परमार्थभूत (यथार्थ) कथन तो किसी अवस्थामें नहीं कहा जा सकता है।"

इस सम्बन्धमें मेरा कहना यह है कि उपादानमें होने वाले व्यापारको पृथक् सत्ताक बाह्य सामग्री त्रिकालमें नहीं कर सकती है, यह निर्विवाद है, परन्तु यदि इसमें उत्तरपक्षका यह अभिप्राय हो कि वह बाह्य सामग्री उपादानमें होने वाले कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक भी नहीं हो सकती है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें वह बाह्य सामग्री आवश्यक एवं अनिवार्यरूपसे होती है। उसके बिना उपादान भी पंगु रहता है। दोनोंकी संघटनासे ही कार्य होता है। यह पूर्वमें आगमके आधारपर प्रमाणित भी किया जा चुका है। अतएव यह सुनिश्चित है कि आत्मामें उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष और मोहकी उत्पत्तिमें कर्मोदय सहायक हुआ करता है और वह इस आधारपर ही व्यवहारनयका विषय होता है। यतः उत्तरपक्ष राग, द्वेष और मोहकी उत्पत्तिमें कर्मोदयको आत्माका सहायक न माननेके कारण उसे सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है अतः उसके मतमें उसे व्यवहारनयका विषय कहना भी असंगत हो जाता है उत्तरपक्षने अपने इसी कथनमें जो यह कहा है कि "इसे परमार्थभूत (यथार्थ) कथन तो किसी भी अवस्थामें नहीं माना जा सकता है" सो इसमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वह भी इसे परमार्थभूत (यथार्थ) कथन न मानकर उपचारभूत (अयथार्थ) कथन ही मानता है। किन्तु उत्तरपक्ष जहाँ उपचारको कल्पनारोपित मात्र मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे उपचाररूपमें वास्तविक ही मानता है। इसे भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन १५ और उसकी समीक्षा

(१५) उत्तरपक्षने उक्त अनुच्छेदके अन्तमें कहा है कि "यदि अपरपक्ष निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीमें यथार्थ कर्तृत्वकी बुद्धिका परित्याग कर दे तो पूरे जिनागमकी संगति बैठ जाये।" यह उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर मिथ्या आरोप लगाकर तत्त्वजिज्ञासुओंकी दृष्टिमें उसे गिरानेका मात्र दुष्प्रयत्न है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी बाह्य सामग्रीको उपादानकी कार्योत्पत्तिमें यथार्थकारण न मानकर अयथार्थकारण ही मानता है। पर पूर्व पक्ष उक्त बाह्य सामग्रीको उपादानकी कार्योत्पत्तिमें जो अयथार्थ कारण मानता है सो उत्तरपक्षकी तरह उसमें सहायक न होनेके आधारपर न मानकर पूर्वमें आगमसे प्रमाणित सहायक होनेके आधारपर ही मानता है। यदि उत्तरपक्ष उक्त बाह्य सामग्रीको पूर्वपक्षकी तरह उपादानकी कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे ही अयथार्थकारण मान ले तथा सहायक न होने रूपसे उसे वहांपर अयथार्थकारण मान्य करनेकी अपनी हठको छोड़ दे तो पूरे जिनागमकी संगति बैठ जाये।

कथन १६ और उसकी समीक्षा

(१६) पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें तत्त्वचर्चा पृ० ११ पर आत्मामें उत्पन्न होने वाले विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण सिद्ध करनेके लिए पंचास्तिकाय गाथा १३१, १४८ व १५० की टीकाओंको और गाथा १५६ को भी प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। उत्तरपक्षने इन सबका मात्र संकेत देते हुए त० च० पृ० ३६ पर अपना निम्न मन्तव्य प्रकट किया है—

"जब यह जीव मोहनीयकर्मके उदयका अनुवर्तन करता है तभी यह उसमें रंजित उपयोग वाला होता है और तभी यह परद्रव्यमें शुभ या अशुभ भावको धारण करता है"। इसमें पूर्वपक्षको कोई विवाद नहीं है। परन्तु उसने अपना यह मन्तव्य आत्मामें उत्पन्न होनेवाले विकारीभावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मोदयको सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए प्रगट किया है। इसके अतिरिक्त आगेके अनुच्छेदमें उसने यह भी लिखा है कि "इस प्रकार समयसार और पंचास्तिकायके उक्त उल्लेखोंसे उसी तथ्यकी पुष्टि होती है जिसका हम पूर्वमें निर्देश कर आये हैं। बाह्य सामग्री दूसरेको बलात् अन्यथा परिणमाती है यह उक्त वचनोंका आशय नहीं है जैसा कि अपरपक्ष उन वचनों द्वारा फलित करना चाहता है" सो यह मन्तव्य भी उत्तरपक्षने आत्मामें उत्पन्न होनेवाले विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयको प्रेरक न होने रूपसे अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए प्रगट किया है। इसकी समीक्षा निम्न प्रकार है—

पूर्वमें आगमके आधारपर स्पष्ट किया जा चुका है कि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें प्रेरक और उदासीन दोनों ही निमित्त सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही सिद्ध होते हैं। साथ ही आगमके आधारपर मैं यह भी सिद्ध कर चुका हूँ कि प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है। अतः उत्तरपक्षके उक्त दोनों मन्तव्य प्रमाणसंगत नहीं हैं। पूर्वपक्ष यह कहाँ मानता है कि बाह्य सामग्री दूसरेको बलात् अन्यथा परिणमाती है। उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर यह आरोप सर्वथा गलत एवं मिथ्या है, क्योंकि आगम, युक्ति और अनुभवके आधारपर तथा लोकव्यवहारके आधारपर भी हम पूर्वमें यह निर्णय कर आये हैं कि कार्योत्पत्ति उपादानमें विद्यमान उसकी स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप होती हैं। पर वह कार्योत्पत्ति तभी होती है जब प्रेरक निमित्तका उसके अनुकूल सहयोग उसे प्राप्त हो जाता है। इस तरह प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य आगे पीछे तो किया जा सकता है, परन्तु वह (प्रेरक निमित्त) इस प्रकारका उलट फेर नहीं कर सकता है कि उसके बलसे जड़ चेतन और चेतन जड़ बन जाये, क्योंकि जड़में चेतन बननेकी और चेतनमें जड़ बननेकी स्वाभाविक योग्यताका अभाव है। उत्तरपक्ष पूर्वपक्षपर इस प्रकारके गलत आरोप लगाकर प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी कार्योत्पत्तिमें सहायकता और उनकी कार्यकारिताका अपलाप नहीं कर ककता।

कथन १७ और उसकी समीक्षा

(१७) पूर्वपक्षने अपने मन्तव्यके समर्थनमें त० च० पृ० ११ व १२ पर परमात्मप्रकाशके जिन दो पद्योंको उद्‌धृत किया है उनका उत्तरपक्षने जो आशय ग्रहण करनेकी सूचना त० च० पृ० ३६ पर की है उसका निराकरण पूर्व (कथन नं० ३ की समीक्षा)में किया जा चुका है।

कथन १८ और उसकी समीक्षा

(१८) पूर्वपक्षने प्रेरक निमित्तोंके सम्बन्धमें अपनी उपर्युक्त मान्यताकी पुष्टिके लिये मूलाराधनाकी गाथा १६२१ और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २११ का भी त० च० पृ० १२ पर उल्लेख किया है। इनमेंसे मूलाराधना गाथा १६२१ के विषयमें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३७ पर निम्नलिखित कथन किया है—

(क) "मूलाराधनामें बलयाइं कम्माइं" "यह गाथा उस प्रसंगमें आई है जबकि निर्यापकाचार्य क्षपकको अपनी समाधिमें दृढ़ करनेके अभिप्रायसे कर्मकी बलवत्ता बतला रहे हैं और साथ ही उसमें अनुरंजायमान न होकर समताभाव धारण करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। यह तो है कि जिस समय जिस कर्मका उदय-उदीरणा

होती है उस समय आत्मा स्वयं उसके अनुरूप परिणमनका कर्त्ता बनता है, क्योंकि अपने उपादानके साथ उस परिणामकी अन्तर्व्याप्ति है। इसी प्रकार उस कर्मके उदयके साथ उसकी बहिर्व्याप्ति है। फिर भी आचार्यने यहांपर कर्मोदयकी बलवत्ता बतलाकर उसमें अनुरंजायमान न होनेकी प्रेरणा इसलिए दी है कि जिसमें यह आत्मा अपनी स्वतंत्रताके भावपूर्वक कर्मोदयको निमित्तकर होने वाले भावोंमें अपनेको आबद्ध न किये रहे"।

उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यमें जो कुछ लिखा है वह पूर्वपक्षके लिए विवादकी वस्तु नहीं है, क्योंकि सब आगमके अनुसार है। पर प्रश्न यह है कि गाथामें कर्मकी जो बलवत्ता बतलाई गई है वह क्या काल्पनिक है या यथार्थ है? यदि काल्पनिक है तो फिर आचार्यको ऐसा बतलानेका निरर्थक प्रयत्न नहीं करना चाहिए था। यतः आचार्यने क्षपकको समाधिमें दृढ़ करनेके लिए उसका उपदेश दिया है और क्षपक-पर उनके उस उपदेशका अवश्य प्रभाव पड़ता है। अतः निर्णीत होता है कि कर्मकी बलवत्ता काल्पनिक नहीं है, वास्तविक है। उससे यह भी निर्णीत होता है कि आत्मामें विकारी भावोंके उत्पन्न होनेमें कर्मोदय सहायक होनेके रूपसे कार्यकारी ही होता है, अकिंचित्कर नहीं रहता है। यही कारण है कि जब क्षपक कर्मोदयसे प्रभावित होने लगता है तो निर्यापकाचार्य उसे अपना मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थ उसके प्रति-कूल जगाने और सन्तुलन रखनेकी प्रेरणा देते हैं। इस तरह इस गाथाके आधारपर संसारी आत्माके विकार-भाव और चतुर्गतिभ्रमणके प्रति आत्मामें द्रव्यकर्मोदयकी सहायक होने रूपसे कार्यकारिताकी पुष्टि निःसन्देह होती है। उत्तरपक्ष गाथाके प्रसंग आदि द्वारा उसपर लीपापोती नहीं कर सकता। यह तथ्य ऐसा है कि वह उक्त कार्यके प्रति कर्मकी बलवत्ता अर्थात् प्रेरकरूपमें सहायक होनेरूपसे विद्यमान कार्यकारिताको टाल नहीं सकता है। यह सब व्यवहारनयका विषय इसलिए माना गया है कि कर्मोदय संसारी आत्माके विकार-रूप परिणत न होकर संसारी आत्माकी उस विकाररूप परिणतिमें सहायक मात्र हुआ करता है।

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ के सम्बंधमें भी उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३७ पर निम्न कथन किया है—

"स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ द्वारा पुद्गल द्रव्यकी जिस शक्तिका निर्देश दिया गया है उसका आशय इतना ही है कि जब यह जीव केवलज्ञानके अभावरूपसे परिणमता है तब केवलज्ञानावरण द्रव्यकर्मका उदय उसमें निमित्त होता है। यदि ऐसा न माना जाये और पुद्गलद्रव्यकी सर्वकाल यह शक्ति मानी जाये कि वह केवलज्ञानस्वभावका सर्वदा विनाश करनेकी सामर्थ्य रखता है तो कोई भी जीव केवल-ज्ञानी नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि उक्त वचन द्वारा आचार्यने पुद्गल द्रव्यकी केवलज्ञानावरणरूप उस पर्यायकी उदयशक्तिका निर्देश किया है जिसको निमित्तकर जीव केवलज्ञानस्वभावरूपमें स्वयं नहीं परिण-मता। ऐसा ही इसमें निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जब वह जीव केवलज्ञानरूपसे नहीं परिणमता तब उसमें केवलज्ञानावरणका उदय सहज निमित्त होता है। इसीको व्यवहारनयसे यों कहा जाता है कि केवल-ज्ञानावरणके उदयके कारण इस जीवके केवलज्ञानका घात होता है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाका यह उपकार प्रकरण है। इसी प्रसंगमें उक्त गाथा आई है। अतएव प्रकरणको ध्यानमें रखकर उसके हार्दको ग्रहण करना चाहिये"।

हमें आश्चर्य है कि उत्तरपक्षको पूर्वपक्षका जो उत्तर देना चाहिए वह न देकर वह मात्र व्याख्यान देने लगता है। पूर्वपक्षने इस गाथाका अपने वक्तव्यमें जो उल्लेख किया है वह केवल आत्माके विकारी भावोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयकी प्रेरकरूपसे सहायताको ध्यानमें रखकर किया है। अर्थात् इस गाथाके

आधारपर भी द्रव्यकर्मोदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त सिद्ध होता है। परन्तु उत्तरपक्षने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। लगता है कि उसे यह भय है कि यदि केवलज्ञानावरण कर्मको केवलज्ञानके विकासमें बाधक माना जाये तो उसका उदय सदा काल विद्यमान रहनेके कारण कोई भी जीव कभी भी केवलज्ञानी नहीं बन सकेगा और इसीलिये वह युक्ति, अनुभव और लोकव्यवहारके विरुद्ध कथन करता है व आगमको अपने अभिप्रायके अनुकूल तोड़ मरोड़ करता है। उसने लिखा है कि "जब यह जीव केवलज्ञानके अभावरूपसे परिणमता है तब केवलज्ञानावरण द्रव्यकर्मका उदय उसमें निमित्त होता है" और इसके आगे वह यह लिखता है कि "यदि ऐसा न माना जाये और, पुद्गल द्रव्यकी सर्वकाल यह शक्ति मानी जाये कि वह केवलज्ञानस्वभावका सर्वदा विनाश करनेकी सामर्थ्य रखता है तो कोई भी जीव केवलज्ञानी नहीं हो सकता"। परन्तु वास्तविक बात यह है कि केवलज्ञानावरण कर्मके जीवके स्वभावभूत केवलज्ञानके अभावमें प्रेरकरूपसे कार्यकारी सहायक होनेपर भी तथा उसमें केवलज्ञानके विकासको न होने देनेकी सर्वदा सामर्थ्य विद्यमान रहनेपर भी जीव जब केवलज्ञानावरण कर्मके प्रतिकूल और केवलज्ञानके विकासके अनुकूल अपना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पुरुषार्थ करने लग जाता है तब केवलज्ञानावरण कर्मका अभाव होकर केवलज्ञानका विकास जीवमें हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म जीवको अपना फल नोकर्मका सहयोग प्राप्त होनेपर ही दे सकता है। इसलिए यदि कर्मके प्रतिकूल नोकर्मका समागम जीवको प्राप्त हो जाता है तो कर्म अपना कार्य करनेमें अक्षम हो जाता है और इस तरह केवलज्ञानावरण कर्मका अभाव हो जानेपर आत्माका केवलज्ञान स्वभाव प्रकट हो जाता है तथा इसी प्रक्रियाको स्वीकार कर लेनेपर उत्तरपक्षके पूर्वोक्त भयका भी निराकरण हो सकता है। पूर्वमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मिथ्यादृष्टि अर्थात् प्रथम गुणस्थानवर्त्ती जीव अपनेमें मिथ्यात्वकर्मका उदय रहते हुए भी अपने मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थको बाह्य निमित्तसामग्रीकी अनुकूलताके आधारपर उस मिथ्यात्वकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके लिये कर सकता है। इससे निर्णीत होता है कि केवलज्ञानावरण कर्मका सर्वदा उदय रहते हुए भी बाह्य नोकर्मोंकी सहायताके आधारपर जीव उसके विनाशका पुरुषार्थ कर सकता है और ऐसा पुरुषार्थ करनेपर वह जीव केवलज्ञानावरण कर्मका सर्वथा क्षय करके केवलज्ञानी बन जाता है। इस तरह उत्तरपक्षका ऐसा कथन करना संगत नहीं है कि जब यह जीव केवलज्ञानरूपसे नहीं परिणमता तब उसमें केवलज्ञानावरण कर्मका उदय सहज ही निमित्त होता है, क्योंकि इस प्रकारके कथनसे जीवके केवलज्ञान रूपसे परिणमित न होनेमें केवलज्ञानावरण कर्मका उदय सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर सिद्ध होता है जो आगमानुकूल नहीं है, क्योंकि आगमके आधारपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रेरक निमित्त और साथ ही अप्रेरक (उदासीन) निमित्त दोनों उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही होते हैं, दोनोंमेंसे कोई भी निमित्त वहांपर अकिंचित्कर नहीं होता। अतः ऐसा कथन करना ही आगमसम्मत है कि जीवमें जब तक केवलज्ञानावरणकर्मका उदय विद्यमान रहता है तब तक उसके (जीवके) केवलज्ञानस्वभावका घात होता रहता है। इसतरह केवलज्ञानावरणके उदयकी वहांपर सहायक होने रूपसे कार्यकारिता ही सिद्ध होती है, अकिंचित्करता नहीं, और यही बात बार-बार आगमके आधारसे कही जा रही है। इसमे निर्णीत होता है कि केवलज्ञानावरणकर्मके उदयमें होनेवाला केवलज्ञानका घातरूप कार्यकारिता काल्पनिक न होकर वास्तविक ही है। इतना जरूर है कि वह कार्यकारिता उपादानके कार्यके रूपमें न होकर उस कार्यमें मात्र सहायक होने रूपसे ही उसमें रहती है। अतएव उसे निश्चयनयका विषय न माना जाकर व्यवहारनयका ही विषय माना गया है।

अन्तमें उत्तरपक्षने अपने इसी वक्तव्यमें यह कथन किया है कि "स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाका यह उपकार प्रकरण है। इसी प्रसंगमें उक्त गाथा आई है अतएव प्रकरणको ध्यानमें रखकर उसके हार्दको ग्रहण करना चाहिए" उसका यह कथन विवादका विषय न होनेपर भी उसके सम्बन्धमें इतना कहा ही जा सकता है कि यहाँ उस उपकारकी संगति तभी संभव हो सकती है जब केवलज्ञानावरण कर्मके उदयको केवलज्ञानका घात करनेमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी प्रेरक निमित्तकारण स्वीकार किया जाये। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानकी प्रकटताके अभावरूप केवलज्ञानका घात तो जीवमें ही होता है, परन्तु उसमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी प्रेरक निमित्तकारण ज्ञानावरणकर्मका उदय है। गाथाका हार्द इसी रूपमें मान्य किया जाना चाहिए।

कथन १९ और उसकी समीक्षा

(१९) पूर्वपक्षने, संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यके प्रति द्रव्यकर्मका उदय सहायक होने रूपसे कार्यकारी रूपमें निमित्तकारण है, इसे उत्तरपक्षके कथनसे भी समर्थित करनेके लिये त० च० पृ० १२ पर निम्नलिखित कथन किया है—

"प्रश्न नं० ५ के द्वितीय उत्तरमें स्वा० का० अ० गाथा ३१९ को उद्धृत करते हुए आपने स्वयं स्वीकार किया है कि जीवका उपकार या अपकार शुभाशुभ कर्म करते हैं। तथा प्रश्न नं० १६ के प्रथम उत्तरमें भी आपने यह स्वीकार किया है कि जीवमें बहुतसे धर्म ऐसे होते हैं जो आगन्तुक हैं और जो संसारकी विवक्षित भूमिका तक आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं उसके बाद उसमें उपलब्ध नहीं होते।"

उत्तरपक्षके इस कथनसे पूर्वपक्षने यह सिद्ध किया है कि जब उत्तरपक्षने प्रश्न नं० ५ के द्वितीय उत्तरमें स्वा० का० अ० गाथा ३१९ के आधारसे जीवके उपकार अपकारको करने वाला शुभाशुभ कर्मोदय है, यह स्वीकार किया है और प्रश्न नं० १६ के प्रथम उत्तरमें जीवके मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावोंको आगन्तुक माना है तो उसे संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणके प्रति द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त कारण माननेमें क्यों आपत्ति होना चाहिए?

उत्तरपक्षने प्रश्न नं० ५ के द्वितीय उत्तर और प्रश्न नं० १६ के प्रथम उत्तरमें जो उपर्युक्त प्रकारसे लिखा है उसके आधारसे पूर्वपक्षने कहा था कि उत्तरपक्ष भी पूर्वपक्षकी मान्यताका समर्थन करता है। सो पूर्वपक्षके इस कथनका उसने प्रथम प्रश्नोत्तरके तृतीय दौरमें निम्नप्रकार निराकरण करनेका असफल प्रयत्न किया है—

(१) "शंका ५ के द्वितीय उत्तरमें स्वा० का० अ० गाथा ३१९ के आधारसे जो हमने यह लिखा है कि शुभाशुभ कर्म जीवका उपकार या अपकार करते हैं सो यह कथन शुभाशुभ कर्मके उदयके साथ जीवके उपकारकी बाह्य व्याप्तिको ध्यानमें रखकर ही किया गया है। इस जीवको कोई लक्ष्मी देता है या कोई उपकार करता है? यह प्रश्न है। इसी प्रश्नका समाधान गाथा ३१९ में करते हुए बतलाया है कि लोकमें इस जीवको न तो कोई लक्ष्मी देता है और न कोई उपकार करता है। किन्तु उपकार या अपकार जो भी कुछ होता है वह सब शुभाशुभ कर्मको निमित्तकर होता है"।—त० च० पृ० ३७।

(२) "यह आचार्य वचन है। इस द्वारा दो बातें स्पष्ट की गई हैं। पूर्वार्ध द्वारा तो जो मनुष्य यह मानते हैं कि अमुक देवी देवता आदिसे मुझे लक्ष्मी प्राप्त होगी या मेरी अमुक आपत्ति टल जायेगी उसीका

निषेध यह कहकर किया है कि लोकमें जो कुछ भी होता है वह शुभाशुभ कर्मके उदयको निमित्तकर ही होता है। तूँ बाह्य सामग्री मिलानेकी चिन्तामें आत्मवंचना क्यों करता है? अनुकूल बाह्य सामग्री हो और अशुभ कर्मका उदय हो तो बाह्य सामग्रीसे क्या लाभ? उसका होना और न होना बराबर है। तथा उत्तरार्द्ध द्वारा यह सूचित किया है कि शभाशुभ कर्म तेरी करनीका फल है इसलिये जैसी तूँ करनी करेगा उसीके अनुरूप कर्मबन्ध होगा और उत्तरकालमें उसका फल भी उसीके अनुरूप मिलेगा। अतएव तूँ अपनी करनीकी ओर ध्यान दे। शुभाशुभ कर्म तो उपकार अपकारमें निमित्तमात्र हैं, वस्तुतः उनका कर्त्ता तो तूँ स्वयं है। यह नयवचन है, इसे समझकर यथार्थको ग्रहण करना प्रत्येक सद्पुरुषका कर्त्तव्य है। अन्यथा शुभाशुभ कर्मका सद्भाव सदा रहनेसे कभी भी जीव उससे मुक्त न हो सकेगा।" त० च० पृ० ३७।

(३) "जिसे उपकार कहते हैं वह भी मान्यताका फल है और जिसे अपकार कहते हैं वह भी मान्यताका फल है यह संयोगी अवस्था है। अतएव जिसके संयोगमें इसके होनेका नियम है उसका ज्ञान इस वचन द्वारा कराया गया है। इतना ही आशय इस गाथाका लेना चाहिए। हमने शंका ५ के अपने दूसरे उत्तरमें जो कुछ भी लिखा है, इसी आशयको ध्यानमें रखकर किया है अतएव इसपरसे अन्य आशय फलित करना उचित नहीं है।" त० च० पृ० ३८।

(४) "प्रश्न १६ के प्रथम उत्तरमें हमने मोह, राग, द्वेष आदि जिन आगन्तुक भावोंका निर्देश किया है उसका आशय यह नहीं कि वे जीवके स्वयंकृत भाव नहीं हैं। जीव ही स्वयं बाह्य सामग्रीमें इष्टानिष्ट या एकत्वबुद्धि कर उन भावोंरूप परिणमता है, इसलिये ये जीवके ही परिणाम हैं।" त० च० पृ० ३८।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके वक्तव्यका उपर्युक्त जिन चार अनुच्छेदों द्वारा निराकरण करनेकी चेष्टा की है उनमेंसे प्रत्येक अनुच्छेदकी समीक्षा यहाँ प्रस्तुत की जाती है—

(१) जिस प्रकार शुभाशुभ कर्म जीवका उपकार या अपकार करते हैं इस विषयमें उत्तरपक्ष शुभाशुभ कर्मके साथ जीवके उपकार या अपकारकी बहिर्व्याप्ति मानता है, उसी प्रकार द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है। इस विषयमें पूर्वपक्ष भी द्रव्यकर्मके उदयके साथ संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणकी बहिर्व्याप्ति मानता है और जिस प्रकार उत्तरपक्ष शुभाशुभ कर्मके उदयको जीवके उपकार या अपकारमें निमित्त मानता है उसी प्रकार पूर्वपक्ष भी द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें निमित्त मानता है। इसलिये उत्तरपक्ष प्रथम अनुच्छेदके द्वारा पूर्वपक्षका ही समर्थन करता है। परन्तु दोनों पक्षोंके मध्य अन्तर इस बातका है कि जहाँ पूर्वपक्ष द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त मानता है वहाँ उत्तरपक्ष शुभाशुभ कर्मके उदयको जीवके उपकार या अपकारमें सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्त मानता है।

(२) यतः उत्तरपक्षको संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त मानना अभीष्ट न होकर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्त मानना ही अभीष्ट है अतः उसने द्वितीय अनुच्छेदमें "लोकमें जो कुछ भी होता है वह शुभाशुभ कर्मके उदयको निमित्त कर ही होता है" ऐसा लिखकर भी निमित्तको अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिये यह भी लिख दिया है कि "शुभाशुभ कर्म तेरी करनीका फल है।" परन्तु इतना लिखनेपर भी उसके सामने शंका नं० ५ के द्वितीय उत्तरके अनुसार जीवकी उपकार या अपकार रूप परिणतिमें शुभाशुभ कर्मोदयको सहायक होने

रूपसे कार्यकारी निमित्त अभीष्ट न होते हुए भी उसे माननेके अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। इसका कारण यह है कि जीवकी उपकार या अपकार रूप परिणतिमें शुभाशुभ कर्मोदयको व संसारी आत्माकी विकारभाव तथा चतुर्गतिरूप परिणतिमें द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तकारण मानकर भी यदि उन्हें वहाँपर सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण न मानकर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण ही माना जाये, तो ऐसी अवस्थामें शुभाशुभ कर्मोदयको जीवकी उपकार-अपकाररूप परिणतिमें और द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माकी विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमण रूप परिणतिमें निमित्त रूपसे कारण माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जावेगी। लेकिन इस प्रकारकी अनावश्यकताका समर्थन न तो आगमसे होता है और न उत्तर पक्षको अभीष्ट ही है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट कर चुका हूँ कि आगममें कार्यके प्रति निमित्तकारणकी आवश्यकताको स्वीकार किया गया है तथा उत्तर पक्ष भी कार्यके प्रति निमित्त कारणकी आवश्यकताको स्वीकार करता है। इसलिये शुभाशुभ कर्मोदयको जीवकी उपकार-अपकार रूप परिणतिमें व द्रव्यकर्मोदयको संसारी आत्माकी विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमण रूप परिणतिमें उन्हें उस-उस कार्य रूप परिणत न होनेपर भी उस-उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त कारण मानना अनिवार्य है।

उत्तरपक्षने द्वितीय अनुच्छेदमें जो लिखा है कि "उसका कर्ता तू स्वयं है। यह नयवचन है। इसे समझकर यथार्थको ग्रहण करना प्रत्येक सत्पुरुषका कर्तव्य है। अन्यथा शुभाशुभ कर्मका सद्भाव सदा रहनेसे कभी भी यह जीव उससे मुक्त न हो सकेगा" उसके विषयमें मेरा कहना है कि जीवकी ही उपकार-अपकार रूप परिणति होती है और संसारी आत्मा ही विकारभाव तथा चतुर्गति-भ्रमण रूप परिणत होता है, इसलिए जीव या संसारी आत्मा ही उनका उपादान कारण, निश्चय कारण और मुख्य कर्ता होता है। परन्तु ये परिणतियाँ शुभाशुभकर्मोदय और द्रव्यकर्मोदयकी सहायता मिलनेपर ही होती हैं, अन्यथा नहीं, इस तथ्यको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। यह सब पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। उत्तरपक्षकी यह आपत्ति कि शुभाशुभ कर्मोदयको जीवकी उपकार-अपकार रूप परिणतिमें व द्रव्यकर्मोदयको संसारी आत्माकी विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमण रूप परिणतिमें कारण माननेपर शुभाशुभकर्मोदय और द्रव्यकर्मोदयका सद्भाव सदा रहनेसे जीव व संसारी आत्मा कभी भी उनसे मुक्त नहीं हो सकेंगे, व्यर्थ है, क्योंकि जीव या संसारी आत्मा शुभाशुभकर्मका या द्रव्यकर्मका उदय रहते हुए भी यदि उनका यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय करनेके लिए अपना मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थ अनुकूल रूपमें करने लगें, तो ऐसे पुरुषार्थके आधारपर वे उन शुभाशुभ कर्मोंके उदयको या द्रव्यकर्मके उदयको नष्ट कर सकते हैं। आगममें इस बातको स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। यह हम पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं।

उत्तरपक्षने अपने इसी द्वितीय अनुच्छेदमें स्वा० का० अ० के आधारपर ही उक्त कथनके अतिरिक्त जो भी कथन किया है उसका सम्बन्ध प्रकृत विषयसे न होनेके कारण यहाँ उसकी समीक्षा करना बेकार है और समय एवं शक्तिका अपव्यय है। इतना अवश्य कहना है कि इस (३१९वीं) गाथासे जीवकी उपकार-अपकाररूप परिणतिमें शुभाशुभकर्मोदय सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण ही सिद्ध होता है। जैसा कि उत्तरपक्षको स्वयं भी गाथाका अर्थ करते हुए स्वीकार करना पड़ा है।

(३) उत्तरपक्षने तृतीय अनुच्छेदमें जो कुछ लिखा है उससे वह यह बतलाना चाहता है कि शुभाशुभ कर्मोदय जीवके उपकार या अपकारका यथार्थ कर्ता नहीं है। उसके विषयमें पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि उत्तरपक्षकी इस मान्यतामें पूर्वपक्षको कोई विरोध नहीं है। पूर्वपक्षका तो केवल यह कहना है कि वह

उसे वहाँ उत्तरपक्षकी तरह 'सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण' नहीं मानता। अपितु सहायक होने रूपसे 'कार्यकारी निमित्तकारण' ही मानता है जो आगमसम्मत है।

(४) उत्तरपक्षने इस चतुर्थ अनुच्छेदमें प्रश्न १६ के प्रथम उत्तरका स्पष्टीकरण करते हुए जीवके राग, द्वेष और मोह रूप भावोंको उसके स्वयंकृत भाव कहा है सो इस विषयमें पूर्वपक्षको भी इस रूपमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि जीव ही उन रूप परिणत होता है। लेकिन यदि उत्तरपक्ष स्वयंकृत शब्दका अर्थ ऐसा माने कि वे रागादि भाव कर्मोदयकी सहायताके बिना अपने आप ही जीवमें उत्पन्न हो जाया करते हैं, तो उसकी यह मान्यता आगमसम्मत न होनेसे वह पूर्वपक्षको अस्वीकृत है।

प्रवचनसार गाथा ९ का भी इतना ही अभिप्राय है कि जीवमें जो अशुभ, शुभ या शुद्ध भाव होते हैं वे यथायोग्य कर्मके उदय उपशम, क्षयोपशम या क्षयकी सहायता प्राप्त होनेपर होते हुए भी जीवरूप ही होते हैं और इस आधारपर ही उन्हें वहाँपर स्वयंकृत भाव कहा है। उदयादिकी निमित्तकारणताका वहाँ निषेध नहीं है, यह स्पष्ट है।

कथन २० और उसकी समीक्षा

(२०) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३८ पर यह भी लिखा है कि "मोह, राग, द्वेष आदि भावोंको आगममें जो आगन्तुक कहा गया है उसका कारण इतना ही है कि वे भाव स्वभावके लक्ष्यसे न होकर परके लक्ष्यसे होते हैं, वे जीवके ही भाव हैं और जीव ही स्वयं स्वतन्त्र कर्त्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है, पर वे परके लक्ष्यसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें आगन्तुक कहा गया है। यह उक्त कथनका तात्पर्य है।" पूर्वपक्षको उत्तरपक्षकी इस बातको मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु प्रश्न यह है कि इन भावोंकी उत्पत्तिमें शुभाशुभ कर्मोदय या द्रव्यकर्मोदयकी सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारणता उत्तरपक्षको अभीष्ट नहीं है, जिसे किसी भी हालतमें टाला नहीं जा सकता है। वास्तवमें यही उसे स्वीकार्य होना चाहिए।

कथन २१ और उसकी समीक्षा

(२१) आगे त० च० पृ० ३८ पर ही उत्तरपक्षने यह लिखा है कि "इस प्रकार अपरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें यहाँ तक जितने भी आगम प्रमाण दिये हैं उनसे यह तो त्रिकालमें सिद्ध नहीं होता कि अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक कर्त्ता होता है। किन्तु उनसे यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादान होकर अपना कार्य करता है और उसके योग्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है।" पूर्वपक्षने यह अपने वक्तव्योंमें बार-बार स्पष्ट किया है कि पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंके मध्य प्रश्न द्रव्यकर्मोदयको संसारी आत्माके विकार भाव और चतुर्गतिभ्रमणमें उपादानकर्त्ता, यथार्थकर्त्ता या मुख्यकर्त्ता मानने, न माननेका नहीं है, क्योंकि दोनों पक्ष द्रव्यकर्मोदयको उपादानकर्त्ता, यथार्थकर्त्ता या मुख्यकर्त्ता नहीं मानते, उसे दोनों निमित्तकर्त्ता, अयथार्थकर्त्ता या उपचरितकर्त्ता ही मानते है। परन्तु दुःख और आश्चर्य इस बातका है कि उत्तरपक्ष अपने वक्तव्यमें बार-बार इसी मिथ्या बातको दोहराता मालूम पड़ता है कि पूर्वपक्ष द्रव्यकर्मको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें यथार्थकर्त्ता मानता है, जब कि वह उसे कार्यकारी निमित्त कारण बतलाता और सिद्ध करता आ रहा हैं। इससे स्पष्ट होता है कि तत्त्वचर्चामें उत्तरपक्षका लक्ष्य तत्त्व फलित करनेका न होकर केवल स्वमतकी उचित या अनुचित उपायों द्वारा पुष्टि करनेका ही रहा हैं और है।

कथन २२ और उसकी समीक्षा

(२२) आगे त० च० पृ० ३८ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है कि "समयसार गाथा २७८-२७९ का क्या आशय है इसका विशेष खुलासा हम पूर्वमें ही कर आये।" सो इस विषयमें भी मेरा कहना है कि उत्तरपक्षने जहाँ पर यह खुलासा किया है वहींपर मैं उसकी संगति-असंगतिका भी स्पष्टीकरण कर आया हूँ। अतः यहाँ उसकी समीक्षामें कुछ कहना पिष्टपेषण होगा।

कथन २३ और उसकी समीक्षा

(२३) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३८ पर आगे और लिखा है कि "एक जीव ही क्या, प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाव वाला है, अतएव जिस भाव रूप वह परिणमता है उसका कर्त्ता वह स्वयं होता है। परिणमन करनेवाला, परिणाम और परिणमन क्रिया ये तीनों वस्तुपनेकी अपेक्षा एक हैं, भिन्न-भिन्न नहीं इसलिए जब जो परिणमन उत्पन्न होता है उस रूप वह स्वयं परिणम जाता है, इसमें अन्यका कुछ भी हस्तक्षेप नहीं। राग, द्वेष आदि भाव कर्मोदयके द्वारा किये जाते हैं यह व्यवहार वचन है। कर्मका उदय कर्ममें होता है और जीवका परिणाम जीवमें होता है ऐसी दो क्रियायें और दो परिणाम दोनों द्रव्योंमें एक कालमें होते हैं, इसलिए कर्मोदयमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। और इसी निमित्त व्यवहारको लक्ष्यमें रखकर यह कहा जाता है कि इसने इसे किया। यह उसी प्रकारका उपचार वचन है जैसे मिट्टीके घड़ेको घी का घड़ा कहना उपचार वचन है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा १०७ में ऐसे वचनको व्यवहारनयका वक्तव्य कहा है।" इसकी समीक्षा इस प्रकार है—

यह तथ्य है कि जिनागममें प्रत्येक द्रव्य परिणमनस्वभाव वाला माना गया है[1], इसलिए उसका जो परिणमन होता है वह उसमें ही होता है और उस रूप ही होता है तथा उस रूप होनेके कारण उसका कर्त्ता भी वही द्रव्य होता है। इसके अनुसार उत्तरपक्षका यह कथन निर्विवाद है कि "परिणमन करनेवाला, परिणाम और परिणमन क्रिया ये तीनों वस्तुपनेकी अपेक्षा एक हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं" तथा उसका यह कथन भी निर्विवाद है कि "जिस भाव रूप वह परिणमता है उसका कर्त्ता वह स्वयं होता है।"

किन्तु उसी जिनागममें यह भी बतलाया गया है कि प्रत्येक द्रव्य परिणमनस्वभाव वाला तो है परन्तु उसका कोई परिणमन तो स्वयं अर्थात् निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने आप ही हुआ करता है और कोई परिणमन निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होता है, अपने आप नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिनागममें स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो प्रकारके परिणमन बतलाये गये हैं[2] व यह ही बतलाया गया है कि उनमेंसे स्वप्रत्यय परिणमन तो निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने आप ही होते रहते हैं, परन्तु स्वपरप्रत्यय परिणमन निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग प्राप्त होने पर ही होते हैं अपने-आप नहीं होते। इससे यह निर्णीत होता है कि संसारी आत्माका जो विकारीभाव और चतुर्गतिभ्रमण रूप परिणमन होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन है और वह द्रव्य-कर्मोदयकी सहायता प्राप्त होनेपर ही होता है, उसके बिना अपने आप नहीं होता। इस प्रकार द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव विद्यमान है। फिर भी कर्मके उदय रूप परिणामका प्रवेश संसारी आत्मामें नहीं होता व संसारी आत्माके

---

१. देखो, त० सू० ५-३०।

२. देखो, त० सू० ५-७ की स० सिद्धि टीका।

विकार भाव तथा चतुर्गतिभ्रमण रूप परिणामका प्रवेश द्रव्यकर्ममें नहीं होता। इस सिद्धान्तको उत्तरपक्षकी इस मान्यतानुसार कि "कर्मका उदय कर्ममें होता है और जीवका परिणमन जीवमें होता है।" पूर्वपक्ष भी मानता है।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनमें कहा है कि "प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाव वाला है" यहाँ द्रव्यको परिणमन स्वभाव मानना तो आगमसम्मत है, परन्तु 'स्वयं' शब्दका प्रयोग आगमसम्मत नहीं है। उसका प्रयोग उत्तरपक्षने केवल इस अभिप्रायसे किया है कि उसकी मान्यतामें प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक परिणमन निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने-आप ही हुआ करता है। परन्तु ऊपर बतलाया जा चुका है कि आगम[1] में स्वप्रत्ययपरिणमनके अतिरिक्त स्वपरप्रत्ययपरिणमन भी स्वीकार किया गया है जो निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग प्राप्त होनेपर ही हुआ करता है, उसका सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने-आप नहीं होता।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें लिखा है कि "द्रव्यमें जब जो परिणमन होता है उस रूप वह स्वयं परिणम जाता है इसमें अन्यका कुछ भी हस्तक्षेप नहीं" यहाँ भी उसने स्वयं शब्दका प्रयोग किया है। उससे वह यदि यह प्रगट करना चाहता है कि परिणमन उपादानकारणभूत वस्तुका अपना ही होता है उसमें निमित्तकारणभूत वस्तुका अणुमात्र भी प्रवेश नहीं होता, तो उसमें कोई विवाद नहीं है। परन्तु वह यदि 'स्वयं' शब्दसे वहाँ यह प्रकट करना चाहता है कि उपादानकारणभूत वस्तु का प्रत्येक परिणमन निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने-आप ही हुआ करता है जैसा कि उत्तरपक्षके "इसमें अन्यका कुछ भी हस्तक्षेप नहीं" इस कथनसे ज्ञात होता है, तो वह आगमसम्मत नहीं है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि आगममें वस्तुके स्वप्रत्ययपरिणमनके अतिरिक्त उसका स्वपरप्रत्ययपरिणमन भी स्वीकार किया गया है, जो निमित्त सापेक्ष होता है।

पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें त० च० पृ० २८ से पृ० ३१ तक इस बातको विस्तारसे स्पष्ट किया है कि आगममें प्रयुक्त 'स्वयं' शब्दका कहाँ क्या अर्थ लिखा गया है। यद्यपि उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरमें त० च० पृ० ७० और उसके आगेके पृष्ठोंपर उसकी आलोचना भी की है, परन्तु मैं उसपर यहाँ विचार न करके आगे ही विचार करूँगा। यहाँपर तो मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने 'स्वयं' शब्दका प्रयोग कार्यकारणभावके विषयमें एकान्त नियतिवाद और नियतवाद इन दोनों मान्यताओंको स्वीकार करते हुए कार्योत्पत्तिमें निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए ही किया है। परन्तु आगममें जब उपर्युक्त प्रकार स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनों प्रकारके परिणमन स्वीकार किये गये हैं तो इससे उत्तरपक्षकी एकान्त नियतिवाद और नियतवाद ये दोनों ही मान्यतायें स्वतः निरस्त हो जाती हैं।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें यह भी लिखा है कि "ऐसी दो क्रियायें और दो परिणाम दोनों द्रव्योंमें एक कालमें होते हैं, इसलिये कर्मोदयमें निमित्त व्यवहार किया जाता है"। यहाँ उत्तरपक्षको यह देखना चाहिये कि आगममें और लोकमें भी दो द्रव्योंकी दो क्रियाओं और दो परिणामोंका एक कालमें होने मात्रसे उनमें निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार नहीं स्वीकार किया गया है प्रत्युत आगममें तो यह बतलाया गया है कि निमित्त व्यवहार उसी वस्तुमें होता है जो वस्तु कार्योत्पत्तिमें उपादान कारणभूत वस्तुकी असामर्थ्यको

१. देखो त० सू० ५-७ की स० सिद्धि टीका।

नष्ट करके उसको समर्थ बना देती है[1]। अथवा यों कहिये कि कार्योत्पत्तिमें उपादान कारणभूत वस्तुको अपना सहयोग प्रदान करती है या यों कहिये कि कार्योत्पत्तिमें जिसके साथ कार्यकी या जिसकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ पाई जाती है। ये सब बातें पूर्वमें आगम प्रमाणोंके आधारपर स्पष्ट की जा चुकी हैं। इस विषयमें एक लौकिक दृष्टान्त है कि कोई व्यक्ति शिरपर बोझा रखे हुए है और उसके भारसे उसे कष्टका अनुभव हो रहा है। उस अवसरपर वह व्यक्ति यह जानता है कि बोझाका भार बोझामें है और कष्टका अनुभव उसे हो रहा है, परन्तु वह यह भी जानता है कि उसके उस कष्टानुभवनमें सहायक होने रूपसे बोझा निमित्त बना हुआ है यही कारण है कि जब उस व्यक्तिको कष्ट सहन नहीं होता तो वह उस बोझेको सिरपरसे जमीनपर पटक देता है और तब उसका वह कष्टानुभव भी समाप्त हो जाता है, तथा सुखानुभव होने लगता है। इससे कार्योत्पत्तिमें निमित्तकी सहायक होने रूपसे कार्यकारिता सिद्ध हो जाती है। जिस प्रकार बोझमें कष्टानुभवनके प्रति सहायक होने रूप कार्यकारिताके आधारपर निमित्त व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार प्रकृतमें द्रव्यकर्म या द्रव्यकर्मोदयमें भी संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणके प्रति सहायक होने रूपसे कार्यकारिताके आधारपर निमित्त व्यवहार होता है सर्वथा अकिंचित्करताके आधारपर नहीं, जैसा कि उत्तरपक्ष मानता है।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें आगे यह कहा है कि "इसी निमित्त व्यवहारको लक्ष्यमें रखकर यह कहा जाता है कि इसने इसे किया" उसमें हमें विवाद नहीं है। हम भी उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे निमित्त व्यवहारको स्वीकार करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह निमित्त व्यवहार अकिंचित्कर है। अकिंचित्कर माननेपर उसकी न उपयोगिता रहेगी और न अपेक्षा, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें और लिखा है कि "यह उसी प्रकारका उपचार कथन है जैसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहना उपचार वचन है" सो उसका यह कथन भी निर्विवाद है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी उत्तरपक्षकी तरह कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तमें किये जाने वाले "इसने इसे किया" इस कथनको उपचार कथन ही मानता है। पर यह भी तथ्य है कि उपचारकी प्रवृत्ति वहीं पर होती है जहाँ मुख्यरूपताका अभाव हो और निमित्त तथा प्रयोजन हो। मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहनेमें उपचार इसी आधार पर होता है कि एक तो उस घड़ेमें घीरूपताका अभाव पाया जाता है, इसीलिये मुख्यरूपताका अभाव वहाँ है। दूसरे घी और घड़ेमें संयोग सम्बन्धाश्रित आधाराधेयभाव पाया जाता है जो मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहनेमें निमित्त बना हुआ है और तीसरे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहनेका प्रयोजन भी वहाँ पर यह है कि उस घड़ेमें घी रखने या उसमेंसे घी निकालनेके लिये ही "घीका घड़ा लाओ" इत्यादि वाक्योंमें "घीका घड़ा" इस प्रकारका प्रयोग पाया जाता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि घी और घड़ेमें विद्यमान संयोगसम्बन्धाश्रित आधाराधेयभाव सर्वथा कल्पित नहीं है, क्योंकि मिट्टीसे निर्मित उस घड़ेको ही "घीका घड़ा" कहा जाता है जिसमें घी रखा हो या घी रखा जाता हो। ऐसा नहीं है कि मिट्टीसे निर्मित्त सभी घड़ोंको "घीका घड़ा" कहा जाता हो। यदि घी और घड़ेमें विद्यमान संयोगसम्बन्धाश्रित आधाराधेयभावको सर्वथा कल्पित ही माना जावे तो वहाँपर उप-

---

१. तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्? अष्टसहस्री पृष्ठ १०५, निर्णयसागरीय प्रकाशन।

चारकी प्रवृति होना सम्भव नहीं है। आगममें भी- संयोग-सम्बन्धाश्रित कार्य-कारणभाव व आधाराधेयभाव आदि सम्बन्धोंकी सर्वथा कल्पितरूपताका निषेध पाया जाता है[1]। इस तरह तादात्म्य-सम्बन्धके अभावमें भी उक्त आधाराधेयभावको संयोग-सम्बन्धके सद्भावके आधारपर यथार्थ मानना योग्य है, कल्पित नहीं। इसी तरह द्रव्यकर्मोदयमें उपचरित कर्तृत्वकी प्रवृत्तिका भी यही आधार है कि एक तो द्रव्यकर्मोदयमें संसारी आत्माके विकारी भाव और चतुर्गति भ्रमण रूप कार्यके मुख्य कर्तृत्वका अभाव है। दूसरे, वह द्रव्यकर्मोदय उक्त संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त-कारण है। यदि ऐसा न माना जाये और उक्त कार्यके प्रति उस द्रव्यकर्मोदयको सर्वथा अकिंचित्कर ही माना जाये, तो उसमें उक्त प्रकारके उपचरित कर्तृत्वकी सिद्धि करना असम्भव है अथवा यों कहिये कि उसमें कर्तृत्वके उपचारकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यके अन्तमें जो यह कथन किया है कि "तभी तो आचार्य कुन्द-कुन्दने समयसार गाथा १०७ में ऐसे कथनको व्यवहारनयका वक्तव्य कहा है" इसके विषयमें मेरा कहना है कि समयसार गाथा १०८ में जो कहा गया है वह सब कार्योत्पत्तिमें निमित्तकारणकी सहायक होने रूपसे कार्यकारिताकी स्वीकृतिके आधारपर ही कहा गया है। यहाँ उसे और स्पष्ट किया जाता है—

समयसार गाथा १०४ में आचार्य कुन्दकुन्दने यह उद्घोष किया है कि आत्मा स्वद्रव्य और स्वगुण-का पुद्गलकर्ममें आधान नहीं करता है और उन दोनोंको उसमें आधान न करनेपर वह उस पुद्गलकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है[2]? क्योंकि जो कार्यरूप परिणत होता है वही कर्ता होता है[3]।

इस तरह आत्मामें पुद्गल कर्मके कर्तृत्वका निषेध कर दिये जानेपर समयसार गाथा १०५ के माध्यमसे इस आधारपर आत्मामें पुद्गलकर्मके कर्तृत्वका विधान किया गया है कि यतः जीवके हेतु होनेपर ही बन्धका परिणाम देखा जाता है अतः "जीवने कर्म किया" ऐसा उपचारसे कहा जाता है[4]।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक जीवको पुद्गलके कर्म रूप परिणमनमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी हेतु नहीं माना जायेगा तब तक उसमें (जीवमें) पुद्गल कर्मके कर्तृत्वका उपचार करना सम्भव नहीं होगा।

इसके पश्चात् समयसार गाथा १०६ के माध्यमसे आचार्य कुन्दकुन्दने दृष्टान्त द्वारा इस बातको पुष्ट किया है कि योद्धा ही युद्ध करते हैं, परन्तु लोकमें युद्धका कर्ता राजाको माना जाता है, क्योंकि योद्धा राजाकी प्रेरणासे ही युद्धमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् जब तक राजाज्ञा न हो तब तक योद्धा युद्धमें कदापि प्रवृत्त

---

१. तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।—त० श्लो० वा० पृ० १५१, निर्णयसागरीय प्रकाशन।

२. दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥ समयसार

३. "यः परिणमति स कर्ता"—समयसार कलश ५१।

४. जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥—समयसार

नहीं होते हैं। इसलिये जिस प्रकार प्रेरक निमित्त होनेके आधारपर राजाको युद्धका कर्त्ता माना जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणति उपादानकारणभूत पुद्गलकी होनेपर भी जीवको व्यवहार (उपचार) से उनका कर्त्ता माना जाता है[1] क्योंकि वह जीव समयसार गाथा १०५ के अनुसार पुद्गलके उस कर्मरूप परिणमनमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी हेतु होता है।

इस तरह उपर्युक्त विवेचनके अनुसार समयसार गाथा १०७ के माध्यमसे आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि आत्माका पुद्गलको कर्मरूपसे उत्पन्न करना या करना, बांधना, परिणमाना और ग्रहण करना यह व्यवहारनयका वक्तव्य है[2]। जिसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा पुद्गल-कर्मरूपसे उत्पन्न नहीं होता या पुद्गलकर्मरूप नहीं होता, पुद्गलकर्मरूपसे नहीं बंधता, पुद्गलकर्मरूपसे नहीं परिणमता और पुद्गलकर्मरूपसे ग्रहीत नहीं होता, क्योंकि कर्मरूपसे उत्पत्ति, कर्मरूपसे रचना, कर्मरूपसे बन्ध, कर्मरूपसे परिणमन और कर्मरूपसे ग्रहण पुद्गलका ही होता है, तथापि पुद्गलकी ये सभी अवस्थायें आत्माके सहयोगके बिना सम्भव नहीं हैं। अतः आत्माका पुद्गलको कर्मरूपसे उत्पन्न करना या करना, बांधना, परिणमाना और ग्रहण करना इनमें सहायक होने रूपसे व्यवहारनयका ही कथन निर्णीत होता है अर्थात् उत्पन्न होना और उत्पन्न करना, निर्मित होना और निर्मित करना, बंधना और बांधना, परिणत होना और परिणत कराना तथा ग्रहण होना और ग्रहण करना इन पाँचों विकल्प-युगलोंमें पहला-पहला विकल्प ही निश्चयनयका विकल्प है दूसरा-दूसरा व्यवहारनयका विकल्प है।

इसका स्पष्टीकरण आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार गाथा १०८ के माध्यमसे इस प्रकार किया गया है कि जिस प्रकार प्रजा अपने स्वभावके अनुसार ही दोष और गुण रूप बनती है परन्तु "यथा राजा तथा प्रजा" की लोकोक्तिके अनुसार राजाको प्रजाके दोष और गुणका उत्पादक माना जाता है उसी प्रकार आत्माको पुद्गलके कर्मरूप परिणमनका उपर्युक्त प्रकार व्यवहार रूपसे उत्पादक कहा जाता है[3]।

कथन २४ और उसकी समीक्षा

२४. उत्तरपक्षने 'अध्यात्ममें रागादिको पौद्गलिक बतलानेका कारण' शीर्षकसे त० च० पृ० ३८ से ४१ तक जो कथन किया है वह अनुपयुक्त और निरर्थक है क्योंकि एक तो उस कथनके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें पूर्वपक्ष भी सहमत है। दूसरे, प्रकृत विषयमें उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

१. उत्तरपक्षके उक्त कथनके सम्बन्धमें पूर्वपक्षके सहमत होनेके कारण निम्न हैं—

(क) उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी रागादि भावोंका वास्तविक कर्त्ता जीवको ही मानता है, पुद्गल-को नहीं।

---

१. जोधेहिं कदे जुदे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥—समयसार

२. उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं व्यवहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥—समयसार

३. जह राया ववहारा दोस-गुणप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्व-गुणप्पादगो भणिदो ॥१०८॥—समयसार

(ख) उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी मानता है कि वे रागादि भाव जीवके ही अपने भाव हैं, पुद्गलके अपने भाव नहीं हैं और वे जीवमें ही उत्पन्न होते हैं, पुद्गलमें नहीं।

(ग) उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी मानता है कि जीव ही उन रूप परिणत होता है। पुद्गल कदापि उन रूप परिणत नहीं होता। और जीव ही उन रूप परिणत होनेका व्यापार करता है। पुद्गल उन रूप परिणत होनेका कदापि व्यापार नहीं करता। लेकिन इस विषयमें इतना मतभेद है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुद्गलको जीवकी उन रूप परिणतिमें नियमसे सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तरपक्ष पुद्गलको जीवकी उन रूप परिणतिमें सहायक न होने रूपसे कार्यकारी नहीं मानता तथा उसे सर्वथा अकिंचित्कर बतलाता है।

(घ) पूर्वपक्ष उत्तरपक्षकी इस मान्यताको भी स्वीकार करता है कि 'एक द्रव्यकी परिणमन क्रियाको दूसरा द्रव्य त्रिकालमें नहीं कर सकता, क्योंकि यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रिया करने लग जाय तो समयसार गाथा ९९ के अनुसार दोनोंमें तन्मयपनेका प्रसंग होनेसे एकताकी प्रसक्ति होती है या समयसार गाथा ८५ के अनुसार दो कियाओंका कर्त्ता एक द्रव्यको स्वीकार करनेका प्रसंग आता है, जो आगमके विरुद्ध है।' इसीप्रकार समयसार गाथा १०३ को जिज्ञासाके रूपमें जैसा उत्तरपक्ष प्रमाण मानता है उसी प्रकार पूर्वपक्ष भी मानता है।

(च) पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके इस कथनको भी स्वीकार करता है कि 'जीवमें होनेवाले मोह, राग और द्वेष आदि भाव अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर यथार्थ रूपमें जीवरूप ही है तथा उसे उत्तरपक्षके इस कथनमें भी कोई विवाद नहीं है कि "इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर उक्त (५०–५६) गाथाओंकी टीकाओंमें आचार्य जयसेनने अशुद्ध पर्यायार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा उन्हें जीवरूप ही स्वीकार किया है"।

(छ) पूर्वपक्षको उत्तरपक्षकी यह बात भी मान्य है कि "कर्त्ता-कर्माधिकार गाथा ८८ में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने ओर उसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने मोह आदि भावोंको जीवभावरूप स्वीकार किया है"।

(ज) पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके इस कथनमें भी विरोध नहीं है कि "परमपारिणामिक भावको ग्रहण करने वाले शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत चिच्चमत्कार ज्ञायक स्वरूप आत्माके लक्ष्यसे उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें उनका भान नहीं होता, इसलिये ये रागादि भाव जीवके नहीं, ऐसा समयसार गाथा ५० से गाथा ५६ तककी गाथाओंमें कहा गया है" तथा इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाओंकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने जो कुछ लिखा है और जिसे उत्तरपक्षने अपने कथनमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है वह भी पूर्वपक्षको मान्य है।

(झ) उत्तरपक्षने द्रव्यार्थिकनयके भेदोंमें परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनयको स्वीकार करते हुए उसकी पुष्टिमें जो आलापपद्धति और नयचक्रादिसंग्रहके वचनोंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है वह भी पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके समान ही मान्य है।

(ट) इसी तरह उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४० पर तात्पर्यके रूपमें जो लिखा है वह तो ठीक है, परन्तु उसने उसी अनुच्छेदमें जो यह लिखा है कि "आसन्नभव्य ऐसे अभेदस्वरूप आत्माको लक्ष्य कर (ध्येय बनाकर तन्मय होकर परिणमता है उसे जो आत्मानुभूति होती है उसे उस कालमें रागानुभूति त्रिकालमेल

नहीं होती"। इसके विषयमें मेरा कहना है कि रागानुभूतिसे पृथक् शुद्ध आत्मानुभूति ११वें गुणस्थानसे पूर्व किसी भी जीवको होना संभव नहीं है क्योंकि १०वें गुणस्थान तक जीवोंके प्रकृति और प्रदेश बन्धके अलावा स्थिति और अनुभाग बन्ध भी होता है। यह बन्ध इस बातको बतलाता है कि वहाँ रागानुभूतिसे पृथक् शुद्ध आत्मानुभूतिका होना संभव नहीं है।

(ठ) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४० पर आगे लिखा है कि "इस प्रकारके रागादि भाव जीवके नहीं हैं" इत्यादि, सो वह भी हम मानते हैं। इस अनुच्छेदके आगे जो "यह वस्तुस्थिति है" इत्यादि अनुच्छेद लिखा है तथा इसके समर्थनमें उसने जो समयसार कलश १०३ को उद्धृत किया है वह भी पूर्वपक्षको मान्य है। अन्तमें उसने त० च० पृ० ४१ पर लिखा है कि "इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मामें रागादिकी उत्पत्ति मुख्यतया पुद्गलका आलम्बन करनेसे होती है, स्वभावका आलम्बन करनेसे नहीं होती, इसलिये तो उन्हें अध्यात्ममें पौद्गलिक कहा गया है। पुद्गल आप कर्त्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है या वे पुद्गलकी पर्याय हैं इसलिये पौद्गलिक नहीं कहा गया है। इस अपेक्षासे विचार करने पर तो जीव आप अपराधी होकर उन्हें उत्पन्न करता है और आप तन्मय होकर मोह, राग, द्वेष आदि रूप परिणमता है इसलिए वे चिद्विकार ही हैं। फिर भी ज्ञायक स्वभाव आत्माके अवलम्बन द्वारा उत्पन्न हुई आत्मानुभूति-में उनका प्रकाश नहीं होता, इसलिये उससे भिन्न होनेके कारण व्यवहारनयसे उन्हें जीवका कहा गया है। इसप्रकार समयसारकी उक्त गाथाओंमें वर्णादिके समान रागादिको क्यों तो पौद्गलिक कहा गया है और क्यों वे व्यवहारनयसे जीवके कहे गये हैं इसका संक्षेपमें विचार किया"। इस कथनमें भी पूर्वपक्षको कोई विवाद नहीं है। केवल इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जीव आप अपराधी होकर उन्हें करता हुआ भी पुद्गल कर्मके सहयोगसे ही उन्हें करता है, पुद्गल कर्मके सहयोगके बिना कदापि नहीं करता है।

(२) प्रकृतमें उत्तरपक्षके उक्त शीर्षकसे किये गये कथनकी उपयोगिता न होनेका कारण यह है कि उत्तरपक्षने अपना वह कथन पूर्वपक्ष द्वारा त० च० पृ० १२ पर किये गये इस कथनको लक्ष्यमें रखकर किया है कि "यद्यपि जीव का परिणमन स्वभाव है तथापि उसके भाव कर्मोदय द्वारा किये जाते हैं, इसलिये समयसार ५० से ५६ तक की गाथाओंमें यह बतलाया गया है कि रागादि भाव पौद्गलिक हैं और व्यवहारनयसे जीवके हैं।" लेकिन पूर्वपक्षके इस कथनके आधारपर उत्तरपक्षके उक्त कथनकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है।

(क) प्रथम तो हमारे कथनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि रागादिभाव जीवके ही परिणाम हैं अर्थात् जीव ही उनका उपादान होनेसे उन रूप परिणमता है परन्तु उनका प्रधान कारण उपादानकारणभूत जीव न होकर जीवको उन रूप परिणत होनेमें सहायता प्रदान करने वाला निमित्तकारणभूत पुद्गलकर्मका उदय है। इसमें हेतु यह है कि ये रागादि भाव उपादानकारणभूत जीवमें तभी तक उत्पन्न होते हैं जब तक उसमें कर्मका उदय विद्यमान रहता है और जब उसमें कर्मके उदयका उस कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधारपर अभाव हो जाता है तब उसमें उन रागादि भावोंका भी अभाव नियमसे हो जाता है।

(ख) दूसरे, यद्यपि कार्योत्पत्तिमें उपादानकारणको वास्तविक कारण, यथार्थकारण और मुख्यकर्त्ता माना गया है व निमित्तकारणको व्यवहारकारण, अयथार्थकारण और उपचरितकर्त्ता कहा गया है। परन्तु कहीं तो कार्योत्पत्तिमें उपादानकारण प्रधान होता है और कहीं निमित्तकारण। जहाँ कार्योत्पत्तिमें उपादान कारण प्रधान होता है वहाँ उसमें निमित्तकारण गौण होता है और जहाँ कार्योत्पत्तिमें निमित्तकारण प्रधान होता है। वहाँ उसमें उपादानकारण गौण होता है। उदाहरणार्थ—

(१) मिट्टीसे उत्पन्न होने वाले घटकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत मिट्टी प्रधान कारण है क्योंकि घटकी सत्ताके साथ मिट्टीकी सत्ता अनुस्यूत रहती है। परन्तु उसी घटकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणभूत कुम्भकार गौण कारण है, क्योंकि घटकी सत्ताके साथ कुम्भकारकी सत्ता अनुस्यूत नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक घट विद्यमान रहता है तब तक वह अपनी मिट्टीरूपताको नहीं छोड़ता है, परन्तु घटकी सत्ता रहते हुए भी कुम्भकारकी सत्तासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता हैं अर्थात् कुम्भकारकी सत्ताकी घटकी सत्तामें कोई अपेक्षा नहीं रहती है। यहाँ घटोत्पत्तिमें उपादानकारणभूत मिट्टी तो प्रधान कारण हैं और निमित्तकारणभूत कुम्भकार गौण कारण है।

(२) दर्पणकी रक्तादिरूप परिणतिमें निमित्तकारणभूत रक्तादि वस्तुएँ प्रधान कारण होती हैं और उपादानकारणभूत दर्पण गौण कारण होता है, क्योंकि दर्पणको जब तक रक्तादि वस्तुओंका समागम प्राप्त रहता है तभी तक दर्पणकी रक्तादि रूप परिणति देखी जाती है और जब उन रक्तादि वस्तुओंका दर्पणके साथ समागम समाप्त हो जाता है तब दर्पणकी रक्तादि रूप परिणति भी समाप्त हो जाती है।

इसी प्रकार जीवमें उत्पन्न होने वाले रागादि भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणभूत द्रव्यकर्मोदय प्रधानकारण होता है और उपादानकारणभूत जीव गौण कारण होता है, क्योंकि जीवकी रागादि रूप परिणति तभी तक होती है जब तक निमित्तकारणभूत कर्मका उदय उसमें विद्यमान रहता है। और जब जीवमें निमित्तकारणभूत कर्मका उदय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके होनेपर समाप्त हो जाता है तब उपादानकारणभूत जीवकी वह रागादि भाव रूप परिणति भी समाप्त हो जाती है। इससे सिद्ध है कि दर्पणकी रक्तादि रूप परिणतिमें रक्तादि वस्तुएँ और जीवकी रागादि भाव रूप परिणतिमें कर्मका उदय प्रधानकारण हैं व दर्पण और जीव गौण कारण है।

(३) जिस प्रकार कार्योत्पत्तिके उपादान और निमित्त दोनों कारणोंमेंसे आगममें उपादानकारणको निश्चयशब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार निश्चयनयका विषय और निमित्तकारणको व्यवहारशब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार व्यवहारनयका विषय माना जाता है उसी प्रकार कार्योत्पत्तिमें कारणभूत प्रधान और गौण दोनों कारणोंमेंसे प्रधान कारणको निश्चयशब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार निश्चयनयका विषय और गौण कारणको व्यवहारशब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार व्यवहारनयका विषय मानना उचित है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार ५०-५६ तककी गाथाओंमें जीवके रागादि भावोंको जो पौद्गलिक कहा है उसका कारण यही है कि उनकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणभूत कर्मका उदय प्रधान कारण है और उपादानकारणभूत जीव गौण कारण है। अतएव उन्हें निश्चयनयमें पौद्गलिक तथा व्यवहारनयसे जीवरूप कहा गया है।

इस विवेचनसे संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणके प्रति द्रव्यकर्मोदयमें विद्यमान निमित्तकारणताकी सर्वथा अकिंचित्करता सिद्ध न होकर सहायक होने रूपसे कार्यकारिता ही सिद्ध होती है। उसीकी प्रसिद्धिके लिये त० च० पृ० १२ पर उपर्युक्त कथन किया है। उत्तरपक्षका कर्त्तव्य था कि वह उक्त कथनके प्रकाशमें जीवके रागादि भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोदयको सर्वथा अकिंचित्कर निमित्तकारण माननेके अपने दुराग्रहको छोड़कर उसे वहाँपर सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण स्वीकार करता। परन्तु उसने ऐसा न कर त० च० पृ० ३८ से ४१ तकके अपने कथनमें उन अप्रासंगिक बातोंकी चर्चा उठायी है, जो न तो प्रकृत विषयके लिये आवश्यक हैं और न उपयोगी। फिर भी मेरा कहना है कि उत्तरपक्षको पूर्वपक्षके उक्त कथनमें संभव विरोधको दिखाना था, न कि पूर्वपक्ष जिन बातोंको मानता है उन्हीं बातोंको दोहराना था।

आश्चर्य यह है कि उत्तरपक्षने रागादिको एक अपेक्षासे पौद्गलिक भी माना तथा व्यवहारसे जीवके भी माना और वे पौद्गलिक क्यों हैं व व्यवहारसे जीवके क्यों हैं इसका विवेचन भी किया, परन्तु जब पूर्वपक्षने पहलेसे ही उन्हें उसी अपेक्षासे पौद्गलिक माना है और व्यवहारसे जीवके माना है तो दूसरोंकी दृष्टिमें पूर्वपक्षको गिराने तथा उसका कल्पित विरोध करनेके लिये उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके ऊपर मनगढ़न्त मिथ्या आरोप गढ़कर उनका खण्डन आगमप्रमाणोंके आधारपर इस ढंगसे करनेकी चेष्टा की, जिससे तत्त्वजिज्ञासुओंको यह जान पड़े कि आगमकी जानकारी और भक्ति केवल उसीमें है, पूर्वपक्षमें न तो आगमकी जानकारी है और न भक्ति ही है। परन्तु उसका यह मात्र छल है, जो तत्त्वफलित करनेकी दृष्टिसे उसके लिये शोभास्पद नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षकी दृष्टिमें वे बातें विवादग्रस्त नहीं हैं, जिन्हें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ३८ से पृ० ४१ तक प्रस्तुत की हैं। विवादका मुख्य मुद्दा यही है कि कार्योत्पत्तिमें निमित्तकारणको सहायक होने रूपसे कार्यकारी माना जाये या उसे वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर स्वीकार कर उपादानकी कार्यरूप परिणति निमित्तकारणका सहयोग प्राप्त हुए बिना अपने आप ही हुई स्वीकार कर ली जाये? उत्तरपक्षको अपने विचार इसी मुद्देपर प्रगट करना चाहिए थे। निर्विवाद और अनावश्यक बातोंका विस्तार 'धानके भूसेपर मूसल पटकना' कहा जायेगा, जिससे कोई फल प्राप्त नहीं होता और न तत्त्व ग्रहण होता है।

कथन २५ और उसकी समीक्षा

(२५) उत्तरपक्ष ने "समयसार गाथा ६८ की टीकाका आशय" शीर्षकसे त० च० पृ० ४१ पर निम्नलिखित कथन किया है—

"अब समयसार गाथा ६८ की टीकापर विचार करते हैं—इसमें कारणके अनुसार कार्य होता है जैसे जौ पूर्वक उत्पन्न हुए जौ जौ ही हैं इस न्यायके अनुसार गुणस्थान या रागादि भावोंको पौद्गलिक सिद्ध किया गया है। इस परसे अपरपक्ष निश्चयनयसे उन्हें पौद्गलिक स्वीकार करता है किन्तु अपरपक्ष यदि पुद्गल आप कर्त्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है इसलिए वे निश्चयनयसे पौद्गलिक हैं या पुद्गलके समान रूप, रस, गंध और स्पर्श वाले होनेके कारण निश्चयनयसे वे पौद्गलिक हैं ऐसा मानता हो तो उसका दोनों प्रकारका मानना सर्वथा आगमविरुद्ध है, क्योंकि परके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए वे जीवके ही चिद्विकार हैं और जीवने आप कर्त्ता होकर उन्हें उत्पन्न किया है। अतएव अशुद्ध पर्यायार्थिकनयसे ये जीव ही हैं।"

उत्तरपक्षने यह कथन पूर्वपक्ष द्वारा त० च० पृ० १२ पर किये गये इस कथनपर विचार करते हुए किया है कि "समयसार गाथा ६८ की टीकामें यह कहा गया है कि जिस प्रकार जौसे जौ उत्पन्न होता है उसी प्रकार रागादि पुद्गल कर्मोंसे रागादि उत्पन्न होते हैं इसी कारण निश्चयनयसे रागादि भाव पौद्गलिक हैं।"

यहाँ उत्तरपक्षके कथनपर विचार करनेके पूर्व पूर्वपक्षके कथनका आशय दिया जाता है। उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके कथनका विपर्यास किया है और उसके कथनको आगमविरुद्ध कहा है। परन्तु जिस प्रकार दर्पणमें पदार्थका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह दर्पणके स्वभावभूत स्वच्छताकी विकृति मात्र होनेसे उपादानकारणभूत दर्पणकी ही परिणति है, तथापि उसे दर्पणकी परिणति न बोलकर, लोकमें यही बोला जाता है कि वह अमुक पदार्थका प्रतिबिम्ब है। ऐसा बोलनेका कारण यह है कि दर्पण उस परिणतिमें उपादान-

कारण होते हुए भी प्रधान कारण नहीं है और अमुक पदार्थ उस परिणतिमें सहायक (निमित्त) कारण होते हुए भी प्रधान कारण है। इस तरह दर्पणकी वह परिणति निश्चयनयसे तो लोकमें पदार्थका प्रतिविम्व रूपमें मानी जाती है और व्यवहार नयसे यह दर्पणकी परिणति मानी जाती है। इसी प्रकार जीवमें जो रागादि भाव उत्पन्न होते हैं वे यद्यपि जीवके शुद्ध स्वभावकी विकृति मात्र होनेसे उपादानकारणभूत जीवकी ही परिणतियाँ हैं, परन्तु उन्हें जीवकी परिणति न बोलकर आगममें यही बोला गया है कि वे पौद्गलिक हैं। ऐसा बोलनेका कारण यह है कि जीव उन परिणतियोंमें उपादानकारण होते हुए भी प्रधान कारण नहीं है और पुद्गलकर्म उन परिणतियोंमें सहायक (निमित्त) कारण होते हुए भी प्रधान कारण है। इस तरह जीवकी वे रागादिभावरूप परिणतियाँ निश्चयनयसे तो आगममें पौद्गलिक मानी गई हैं और व्यवहारनयसे ये जीवकी परिणतियाँ मानी गई हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस तरह दर्पणकी विकारी परिणतिमें उपादानकारणभूत दर्पण गौण कारण है और उसमें सहायक (निमित्त) कारणभूत अमुक पदार्थ प्रधान कारण है। उसी प्रकार जीवकी रागादिभावरूप परिणतियोंमें उपादानकारणभूत जीव गौण कारण है और उसमें सहायक (निमित्त) कारणभूत पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रधान कारण है।

पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनके आशयपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने प्रकृत प्रकरणमें समयसार गाथा ६८ की टीकाको जो प्रमाणरूपसे प्रस्तुत किया है उसमें उसका उद्देश्य संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध करना व उत्तरपक्षको मान्य उसमें सहायक न होने रूपसे उसकी (द्रव्यकर्मके उदयकी) अकिंचित्करताका निषेध करना ही है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्योत्पत्तिके विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य "उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है निमित्त नहीं"। इस विषयमें कोई विवाद नहीं है। दोनों पक्षोंमें विवाद केवल कार्योत्पत्तिमें निमित्तकी निमित्तकारणताके विषयमें ही है और वह इस रूपमें है कि जहाँ पूर्वपक्ष उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकारणको सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उसे वहाँपर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर ही मानता है और कहता है कि उपादानकी कार्यरूप परिणति निमित्तकारणकी सहायताके बिना अपने आप ही हो जाया करती है। पाठक देखेंगे कि उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनमें दोनों पक्षोंमें विद्यमान इस मतभेदको समाहित न कर पूर्वपक्षपर अनुचित आरोप लगानेकी असफल चेष्टा की है। उसने लिखा है कि—

"पूर्वपक्ष यदि जीवके रागादि भावोंको निश्चयनयसे पौद्गलिक इस आधारपर मानता हो कि पुद्गल आप कर्त्ता होकर उस रूप परिणत होता है या इस आधारपर मानता हो कि जीवके रागादि भाव पुद्गलके समान रूप, रस, गंध और स्पर्श वाले हैं तो उसकी ये दोनों प्रकारकी मान्यतायें आगमविरुद्ध हैं।"

ये दोनों ही आरोप कल्पित और दुरभिप्रायपूर्ण हैं, क्योंकि पूर्वपक्ष जीवके रागादि भावोंको निश्चयनयसे पौद्गलिक इसलिए नहीं मानता है कि पुद्गल कर्म उस रूप परिणत होता है या इसलिए नहीं मानता है कि जीवके वे रागादि भाव पुद्गल कर्मके समान रूप, रस, गंध और स्पर्श वाले हैं। प्रत्युत वह उन्हें अशुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक इसलिए मानता है कि उनकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत जीव पूर्वोक्त प्रकार गौण कारण है और निमित्तकारणभूत पुद्गल कर्मका उदय पूर्वोक्त प्रकार प्रधान कारण है। स्वयं उत्तरपक्षने भी समयसार गाथा ६८ की आचार्य जयसेन द्वारा कृत टीकाके आधारपर जीवके रागादि भावों-

को निश्चयनयसे पौद्गलिक माननेमें त० च० पृ० ४२ पर इसी प्रकारके आधारोंको स्वीकार किया है। पुनरुक्त होते हुए भी उन्हें यहाँ दिया जाता है—

"उत्तरपक्ष कहता है कि "इस प्रकार उक्त कथनसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्मके उदयको अवलम्बन (निमित्त) कर जो गुणस्थान या रागादि भाव होते हैं वे अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा जीव ही हैं। यहाँ जो उन्हें जीव होनेका निषेध कर अचेतन कहा है वह शुद्धनयकी अपेक्षा ही कहा है। तात्पर्य यह है कि (१) त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप आत्माके अवलम्बनसे उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें गुणस्थान या रागादि भावका प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। (२) वे पुद्गलादि परद्रव्यका अवलम्बन करनेसे उत्पन्न होनेके कारण शुद्ध चैतन्य प्रकाशस्वरूप न होकर चिद्विकार स्वरूप हैं अतएव अचेतन हैं तथा (३) उनकी जीवके साथ त्रैकालिक व्याप्ति नहीं पाई जाती, इसलिए शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा वे जीव नहीं हैं, अतएव पौद्गलिक हैं।" त० च० पृ० ४२।

उत्तरपक्षके इस कथनसे स्पष्ट है कि वह विभ्रान्त है और अपने कथनको भूल जाता है तथा पूर्व पक्षपर कल्पित आरोप लगानेको उद्यत रहता है।

उत्तरपक्ष जानता है कि पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके इस कथनका निषेधक नहीं है। वह तो उत्तरपक्षके इस कथनका भी पूर्ण समर्थक है कि "यह जीव अनादिकालसे स्वको भूलकर परका अवलम्बन करता आ रहा है और परके अवलम्बनसे उत्पन्न चिद्विकारोंमें उपादेय बुद्धि करता आ रहा है, इसमें हेय बुद्धि कर उनसे विरत करना उक्त वचनका प्रयोजन है। यही कारण है कि कर्तृ-कर्माधिकारमें रागादि भावोंका कर्त्ता स्वतन्त्रपने स्वयं जीव ही है यह बतलाकर भी जीवाजीवाधिकारमें परका अवलम्बन करनेसे होनेके कारण उनमें पर बुद्धि कराई गई है।" परन्तु प्रकृत प्रकरणमें पूर्वपक्षने जो समयसार गाथा ६८ की टीकाका उल्लेख किया है उस उल्लेखका प्रयोजन वह नहीं है जिसे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४२ के उपर्युक्त अनुच्छेदमें किया है, क्योंकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि एक तो इस विषयको लेकर दोनों पक्षोंके मध्य कोई मतभेद नहीं है और दूसरे प्रकृत विषयके साथ उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। प्रकृत विषय तो मात्र इतना ही है कि द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकार भाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण माना जाये या उसे वहाँपर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्त कारण ही मान लिया जाये। यद्यपि त० च० पृ० ४२ के उपर्युक्त अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने भी यह स्वीकार किया है कि जीवका जो गुणस्थान या रागादि भाव रूप परिणमन होता है वह मोहनीय कर्मका अवलम्बन (निमित्त) कर ही होता है, परन्तु आश्चर्य इस बातका है कि उत्तरपक्ष ऐसा स्वीकार करके भी मोहनीय कर्मके उदयको वहाँपर सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण न मानकर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण ही मानता है व संसारी आत्माके विकारी भाव तथा चतुर्गतिभ्रमण रूप परिणतिको उसके सहयोगके बिना अपने आप ही मान लेता है जिसे आगमविरुद्ध बार-बार कहा जा चुका है। पर उत्तर पक्ष अभी तक उसका आगमानुसार समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका और अपने आग्रहपर आरूढ़ है, जो तत्त्व-निर्णयका अवरोधक है। इस तरह उत्तरपक्षकी कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तकारणको सर्वथा अकिंचित्कर स्वीकार करनेकी मान्यता आगमविरुद्ध तदवस्थ है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४२ के अपने उपर्युक्त कथनके अन्तमें पूर्वपक्षपर एक मिथ्या आरोप और लगाते हुए लिखा है कि "आशा है अपरपक्ष समयसार गाथा ६८ की टीकासे यही तात्पर्य ग्रहण करेगा, न

कि यह पुद्गल स्वयं स्वतन्त्रतया आप कर्त्ता होकर उन गुणस्थान या रागादिको करता है इसलिए यहाँ उन्हें पौद्गलिक कहा गया है।"

हम उत्तरपक्षसे पूछना चाहते हैं कि पूर्वपक्षने समयसार गाथा ६८ की टीकाका तात्पर्य उक्त प्रकारका कहाँ ग्रहण किया है ? उत्तरपक्ष यदि पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत समयसार गाथा ६८ की टीकाके उल्लेखके आशयको समझनेकी चेष्टा करता तो उसे ज्ञात हो जाता कि जीवकी परिणतिस्वरूप गुणस्थान व रागादिकको शुद्धनिश्चयनयसे पौद्गलिक और अशुद्ध निश्चयनय या व्यवहारनयसे जीवरूप माननेके विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य कोई विवाद ही नहीं है। विवाद केवल इस विषयमें है कि जिस प्रकार पूर्वपक्ष संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण मानता है तथा उसे गुणस्थान व रागादिका शुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक माननेका आधारभूत पूर्वोक्त प्रकारसे सिद्ध प्रधान कारण और अशुद्ध निश्चयनय या व्यवहारनयसे जीव रूप माननेका आधारभूत पूर्वोक्त प्रकारसे ही सिद्ध गौण कारण स्वीकार करता है उस प्रकार उत्तरपक्ष गुणस्थान व रागादिका शुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक माननेका आधारभूत प्रधानकारण और अशुद्ध निश्चयनय या व्यवहारनयसे जीव रूप माननेका आधारभूत गौण कारण स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि वह (उत्तरपक्ष) जब संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त कारण न मानकर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्त कारण मानता है तो उसे गुणस्थान व रागादिका शुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक व अशुद्ध निश्चयनयसे या व्यवहारनयसे जीव रूप माननेका आधारभूत प्रधानकारण और गौणकारण स्वीकार करना उसके (उत्तरपक्षके) मतमें सम्भव नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप गुणस्थान व रागादिको शुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक अचेतन और अशुद्ध निश्चयनयसे या व्यवहारनयसे जीव रूप स्वीकार करनेकी त० च० पृ० ४२ पर निर्दिष्ट उसकी मान्यता ही समाप्त हो जाती है, जो उसके लिये अभीष्ट नहीं है।

कथन २६ और उसकी समीक्षा

(२६) पूर्वपक्षने संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण सिद्ध करनेके लिये त० च० पृ० १२ पर यह लिखा है कि "समयसार गाथा ११३-११५ में कहा है कि जिस प्रकार उपयोग जीवसे अनन्य है उस प्रकार जीवकी परिणति स्वरूप क्रोधभाव जीवसे अनन्य नहीं है।" यह कथन भी पूर्वपक्षने इसी अभिप्रायसे किया है जिस अभिप्रायसे उसने समयसार गाथा ६८ की टीकाका उल्लेख किया है। परन्तु उत्तरपक्ष समयसार गाथा ११३-११५ का भी यही आशय लेना चाहता है जो आशय उसने समयसार गाथा ६८ की टीकाका लिया है। इसलिये ही उसने लिखा है कि "समयसार गाथा ११३-११५ में भी यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है।" (त० च० पृ० ४२) अर्थात् इससे उत्तरपक्ष यह प्रकट करना चाहता है कि उसका जो दृष्टिकोण समयसार गाथा ६८ की टीकाके विषयमें है वही दृष्टिकोण समयसार गाथा ११३-११५ के विषयमें भी है। इस विषयमें मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि जिस प्रकार उत्तरपक्षका समयसार गाथा ६८ की टीकामें स्वीकृत दृष्टिकोण पूर्वपक्षके अभिप्रायसे विपरीत है उसी प्रकार उसका समयसार गाथा ११३-११५ में स्वीकृत दृष्टिकोण भी पूर्वपक्षके अभिप्रायसे विपरीत है। अतः समयसार गाथा ६८ की टीकाकी तरह समयसारकी गाथाएँ ११३-११५ भी उत्तरपक्षके लिए मूल प्रश्नका समाधान करनेमें सहायक नहीं हो सकती हैं।

त० च० पृ० ४२ के उपर्युक्त अनुच्छेदके अन्तमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "यदि अपरपक्ष निमित्त-नैमित्तिक भाव और कर्तृ-कर्मभावमें निहित अभिप्रायको हृदयंगम करनेका प्रयास करे तो उसे वस्तुस्थितिको समझनेमें देर न लगे।" इसके विषयमें भी मेरा कहना है कि यदि उत्तरपक्ष निमित्त-नैमित्तिक भाव और कर्तृ-कर्मभावमें निहित आगमके अभिप्रायको हृदयंगम करनेका प्रयत्न करे तो उसे वस्तुस्थितिको समझनेमें देर न लगे, क्योंकि आगमकी अवहेलना उसे इष्ट नहीं होगी। दोनों ही पक्ष कर्तृ-कर्मभावको उपादानोपादेय भावके रूपमें स्वीकार करते हैं। सिर्फ निमित्त-नैमित्तिक भावके विषयमें ही उनमें विवाद है, क्योंकि जहाँ पूर्वपक्ष कार्योत्पत्तिमें निमित्तको सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उसे वहाँ पर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर ही मानता है। इस मुद्देपर गम्भीरतासे विचार न कर उत्तरपक्ष उन्हीं बातोंमें स्वयं उलझा हुआ है और पूर्वपक्षको भी उन्हींमें उलझाए रखना चाहता है, जिनमें दोनोंको अविवाद है। इसे उसकी चाल ही कहा जा सकता है। उत्तरपक्षसे हमारा कहना है कि वह अपने इस दृष्टिकोणमें परिवर्तन करे और पूर्वपक्षके मन्तव्यपर गहराईसे विचार करे। हम आशा करते हैं कि ऐसा करनेपर वह अवश्य ही कार्योत्पत्तिमें निमित्तको पूर्वपक्षकी तरह सहायक होने रूपसे कार्यकारी स्वीकार कर लेगा, उसे अकिंचित्कर नहीं मानेगा। ऐसा करनेपर प्रकृत प्रश्नका समाधान हो सकता है।

कथन २७ और उसकी समीक्षा

(२७) पूर्वपक्षने त० च० पृ० १२ पर यह कथन किया है कि—"अन्य कारणों और कर्मोदय रूप कारणोंमें मौलिक अन्तर है, क्योंकि बाह्य सामग्री और अन्तरंगकी योग्यता मिलनेपर कार्य होता है। किन्तु घातियाकर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है। वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है। जैसा श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजीने कर्मग्रंथ पुस्तक ६ की प्रस्तावना पृष्ठ ४४ पर लिखा है।" इसके आगे उसने पं० फूलचन्द्रजीकी प्रस्तावनाके निर्दिष्ट अंशको उद्धृत किया है, जो निम्न प्रकार है—

"अन्तरंगमें वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगीके रागभाव नष्ट हो गये हैं उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होनेपर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरंग योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्मके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है। पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है। कर्म वैसी योग्यताका सूचक है, पर बाह्य सामग्रीका वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं है। कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है। किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मामें रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती।" पूर्वपक्षने पं० फूलचन्द्रजीकी प्रस्तावनाके इस उद्धृत अंशके आधारपर अपना मत प्रगट करते हुए लिखा है कि "अतः कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें वैसी योग्यता आती है।"

पूर्वपक्षके इस मतपर विचार करते हुए उत्तरपक्षने "कर्मोदय जीवकी अन्तरंग योग्यताका सूचक है जीवभावका कर्त्ता नहीं" शीर्षकके अन्तर्गत त० च० पृ० ४२ पर लिखा है कि "हमें इस बातकी प्रसन्नता है कि अपरपक्षने अपने उक्त कथन द्वारा घातियाकर्मोदयको जीवकी अन्तरंग योग्यताका सूचक स्वीकार कर लिया है। इससे सुतराम् फलित हो जाता है कि संसारी जीव कर्म और जीवके अन्योन्यावगाहरूप संयोग कालमें स्वयं कर्त्ता होकर अपने अज्ञानरूप कार्य करता है और कर्मोदय कर्त्ता न होकर मात्र उसका

सूचक होता है। इसीको जीवके अज्ञानादि भावोंमें कर्मोदयकी निमित्तता कही गई है। हमारे जिस वचनको यहाँ प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया है उसका भी यही आशय है।" उत्तरपक्षकी इन सब बातोंकी यहाँ समीक्षा की जाती है—

जिनागममें यह कहा गया है कि प्रत्येक जीवमें स्वतः सिद्ध अतएव अनादिनिधन विभाव शक्ति (विभावरूपसे परिणत होनेकी योग्यता) विद्यमान है[1]। इस शक्तिकी व्यक्ति अर्थात् जीवकी विभावरूप परिणति भी अनादिकालसे होती आई है, क्योंकि विभावपरिणतिके होनेमें निमित्तभूत घातियाकर्मोदयका सद्भाव जीवमें अनादिकालसे है। जैसे जीवमें मिथ्यात्वरूपसे परिणत होनेकी योग्यतास्वरूप विभावशक्ति तो स्वतः सिद्ध है, इस कारणसे वह उसमें अनादिकालसे ही रहती है। परन्तु उस योग्यताके आधार पर जो जीवका मिथ्यात्वरूप परिणमन अनादिकालसे होता आ रहा है वह उसमें अनादिकालसे ही विद्यमान घातियाकर्मोंमें मोहनीयके भेद मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है। इसका आशय यह है कि जीवमें जब तक मिथ्यात्व कर्मका उदय विद्यमान है तब तक उसके सहयोगसे जीवकी परिणति स्वतः सिद्ध विभावशक्तिके आधारपर नियमसे मिथ्यात्वरूप होती है। लेकिन यदि कोई भव्य (मोक्ष प्राप्त करनेकी योग्यता विशिष्ट) जीव अपने मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थके बलसे कदाचित् मिथ्यात्व कर्मके उदयका उस कर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके हो जानेपर अभाव कर देता है तो विभावशक्तिका सद्भाव रहते हुए भी उस जीवका विभावरूप विपरिणमन होना समाप्त हो जाता है।

यहाँ प्रसंगवश मैं यह कह देना चाहता हूँ कि जिनागममें[2] जो यह प्रतिपादित किया गया है कि घातिया-कर्मोदयका सहयोग पाकर स्वतः सिद्ध विभावशक्ति (विभावरूपसे परिणत होनेकी योग्यता) विशिष्ट जीव-का विभावरूप परिणमन होता है। इससे पं० फूलचन्द्रजी द्वारा कर्मग्रन्थ पुस्तक ६ की प्रस्तावनामें निर्दिष्ट 'किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है इसका सम्बन्ध तभी तक आत्मामें रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है'। यह कथन प्रेर्य-प्रेरक भावरूप कार्य-कारण भावपर विचार करनेकी अपेक्षा असंगत हो जाता है, क्योंकि आगमके उपर्युक्त प्रतिपादनसे जहाँ कर्मके उदयके साथ जीवकी स्वतः सिद्ध वैभाविक शक्तिके आधारपर होने वाली विभावरूप परिणतिका अविनाभाव निर्णीत होता है वहाँ पं० फूलचन्द्रजीके इस प्रतिपादनसे आगमके विपरीत जीवकी स्वतः सिद्ध वैभाविक शक्तिके आधारपर होने वाली विभाव परिणतिके साथ कर्मके उदयका अविनाभाव निर्णीत होता है। इन दोनों (उपर्युक्त आगम और पं० फूलचंद्र-जीके) प्रतिपादनोंमें परस्पर विरोध है क्योंकि आगमके प्रतिपादनसे जीवकी विभावरूप परिणतिमें कर्मोदयकी प्रेरकरूपमें सहायक होनेरूपसे कार्यकारिता सिद्ध होती है जब कि पं० फूलचन्द्रजीके उक्त प्रतिपादनसे जीवकी विभावरूप परिणतिमें कर्मोदयकी सहायक न होनेरूपसे अकिंचित्करता सिद्ध होती है। यह बात दूसरी है कि पं० फूलचन्द्रजी अपने प्रतिपादनसे भी जीवकी विभावरूप परिणतिमें कर्मोदयके सहायक न होनेसे अकिंचित्करता सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि निमित्तकारणका कार्यके साथ जो अविना-

---

१. अयस्कान्तोपलाकृष्टा सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥२·४५॥—पंचाध्यायी

२. परिणममानस्य चितः चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

भाव है उसके आधारपर निमित्तकारणभूत वस्तु निमित्तकारण ही सिद्ध होती है और उस निमित्तकारणको आगमके आधारपर पूर्वमें कार्यकारी सिद्ध किया जा चुका है, वह अकिंचित्कर सिद्ध नहीं होता।

आगमके उक्त प्रतिपादनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अज्ञानादि विभावरूप परिणमन स्वकीय विभावशक्तिके आधारपर जीवका ही होता है, अतः जीव ही उसका कर्त्ता है। परन्तु उसका वह परिणमन मिथ्यात्व कर्मके उदयका सहयोग मिलनेपर ही होता है। अतः उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो यह कहा है कि "संसारी जीव कर्म और जीवके अन्योन्यावगाहरूप संयोग कालमें स्वयं कर्ता होकर अपने अज्ञानादि कार्य करता है और कर्मोदय कर्ता न होकर मात्र उसका सूचक होता है" उसमें विवाद न होनेसे पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें यह लिखा है कि अन्य कारणों और कर्मोदयरूप कारणोंमें मौलिक अन्तर है। बाह्य सामग्री और अन्तरंगकी योग्यता मिलनेपर कार्य होता है, किन्तु घातियाकर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है। वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है। और इसकी पुष्टि उसने कर्मग्रन्थ पुस्तक ६ की पं० फुलचन्द्रजी द्वारा लिखित प्रस्तावनासे की है। परन्तु उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४२ पर जो उपर्युक्त कथन किया है उससे स्पष्ट होता है कि पं० फूलचन्द्रजीने कर्मग्रन्थ पुस्तक ६ की प्रस्तावनामें जो यह लिखा है कि 'कर्म वैसी योग्यताका सूचक है' वह उन्होंने जीवकी विभावपरिणतिकी उत्पत्तिमें कर्मोदयकी सहायक न होने रूप अकिंचित्करताको दृष्टिमें रखकर लिखा है जबकि पूर्वपक्षने त० च० पृ० १२ पर अपने वक्तव्यमें जो कर्मोदयको अन्तरंग योग्यताका सूचक कहा है, वह इस दृष्टिसे कहा है कि कर्मोदय जीवकी विभावपरिणतिकी उत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि कर्मोदय जीवकी विभावपरिणतिका कर्ता नहीं होता है, क्योंकि विभावरूप परिणति वैभाविकशक्ति विशिष्ट जीवकी ही होती है, कर्मोदयकी नहीं। किन्तु कर्मोदय जीवकी विभावरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी है, वह अकिंचित्कर नहीं है"। इसकी पुष्टि पूर्वपक्षके त० च० पृ० १२-१३ पर उद्धृत पं० फूलचन्द्रजीके कथनके अन्तमें निर्दिष्ट इस कथनसे होती है कि "कर्मोदयके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें वैसी योग्यता आती है"।

इस तरह इस विवेचनसे स्पष्ट है कि पूर्वपक्ष जो कर्मोदयको अन्तरंग योग्यताका सूचक मानता है वह इस आधारपर मानता है कि कर्मोदय जीवकी विभाव परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण होता है तथा उत्तरपक्ष जो कर्मोदयको अन्तरंग योग्यताका सूचक मानता है वह इस आधारपर मानता है कि कर्मोदय जीवकी विभावरूप परिणतिमें सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर ही बना रहता है। परन्तु यह तथ्य है कि जब तक जीवकी स्वतः सिद्ध विभाव शक्तिके आधारपर होने वाली विभाव परिणतिकी उत्पत्तिमें कर्मोदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी नहीं माना जाता है तब तक उसे उक्त अन्तरंग योग्यताका सूचक नहीं माना जा सकता है। दोनों पक्षोंमें यही मतभेद है। इसके बावजूद दोनों ही पक्ष कर्मोदयको जीवकी विभावरूप परिणतिका कर्ता नहीं मानते हैं। अतः उत्तरपक्षको यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि पूर्वपक्ष कर्मोदयको जीवकी विभाव परिणतिका कर्त्ता मानता है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें कर्मोदयको अन्तरंग योग्यताका सूचक माननेके आधारपर पूर्वपक्षके प्रति प्रसन्नता व्यक्त की है। पर उसने पं० फूलचन्द्रजीके कर्मग्रन्थ पुस्तक ६ की प्रस्तावनामें प्रकट किये अभिप्रायको तत्त्वचर्चामें बदलकर स्वयं अपने ऊपर तुषारपात कर लिया है। अभिप्राय बदलने और उसपर कुछ कहनेके पूर्व मैं यहाँ आवश्यक कुछ कथन कर देना चाहता हूँ।

उत्तरपक्षने अपना उपर्युक्त जो वक्तव्य त० च० पृ० ४२ पर निर्दिष्ट किया है उसके आगे उसने लिखा है कि "किन्तु अपरपक्षने हमारे उक्त वचनोंको उद्धृत करते हुए 'अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती' इसके बाद उक्त उल्लेखके इस वचनको तो छोड़ दिया है" ऐसा लिखकर उसने पूर्वपक्ष द्वारा छोड़े गये वचनको उद्धृत किया है जो निम्न प्रकार है—

"फिर भी अन्तरंगमें योग्यता रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलनेपर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है इसलिये निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्रीकी भी गणना की जाती है। पर यह परम्परानिमित्त है, इसलिये इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानपर की गई है" तथा इसके भी आगे उसने (उत्तरपक्षने) "और इसके स्थानमें हमारे वक्तव्यके रूपमें उसने अपने इस वचनको सम्मिलित कर दिया है" ऐसा लिखकर पूर्वपक्षके वचनको उसने इस रूपमें उद्धृत किया है—"अतः कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें वैसी योग्यता आती है।"

इस विषयमें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षपर पं० फूलचन्द्रजीकी प्रस्तावनाके उक्त अंशको छोड़ देनेका जो दोषारोपण किया है वह उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षने पं० फूलचन्द्रजीकी प्रस्तावनाके उक्त अंशको किसी दुरभिप्रायसे नहीं छोड़ा है किन्तु प्रकृतमें उसका विशेष उपयोग न होनेके कारण ही छोड़ा है। तथा उत्तरपक्षने पूर्वपक्षपर दूसरा दोषारोपण यह किया है कि "पूर्वपक्षने पं० फूलचन्द्रजीके वक्तव्यमें अपने वचनको सम्मिलित कर लिया है" सो उसके (उत्तरपक्षके) द्वारा पूर्वपक्षपर यह दोषारोपण भ्रान्तिवश किया गया है, क्योंकि पूर्वपक्षने अपना उक्त वचन अपने मन्तव्यका समर्थन करनेकी दृष्टिसे ही लिखा है, इसे उसने उत्तरपक्षके वक्तव्यकी पुष्टिमें नहीं लिखा है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

ऊपर मैंने जो यह लिखा है कि उत्तरपक्षने पं० फूलचन्द्रजीके कर्मग्रन्थ पुस्तक ६ की प्रस्तावनामें निहित अभिप्रायको बदल दिया है वह इस आधारपर लिखा है कि पं० फूलचन्द्रजीने उक्त प्रस्तावनामें जो यह कथन किया है कि 'फिर भी अन्तरंगमें योग्यताके रहते हुए भी बाह्य सामग्रीके मिलनेपर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है' इत्यादि, सो इससे कार्यके प्रति कर्मोदयकी और बाह्य सामग्रीकी सहायक होने रूपसे कार्यकारिता ही सिद्ध होती है जबकि उत्तरपक्ष उस प्रस्तावनाका उपयोग कार्यके प्रति कर्मोदय और बाह्य सामग्रीकी सहायक न होनेरूपसे अकिंचित्करता सिद्ध करनेके लिये करना चाहता है।

पं० फूलचंद्रजीने कर्मग्रन्थ पुस्तक ६ की प्रस्तावनामें जो यह लिखा है कि 'कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संधान देखा जाता है' यह मान्यता उत्तरपक्षकी भी है क्योंकि पं० फूलचंद्रजी और उत्तरपक्षमें कोई अन्तर नहीं है। पं० फूलचन्द्र जी ही उत्तरपक्षके सर्वेसर्वा रहे हैं। इस तरह जो कुछ पं० फूलचन्द्रजीने उत्तरपक्षकी ओरसे लिख दिया उसपर ही उत्तरपक्षके शेष सभी प्रतिनिधियोंने अपनी स्वीकृति देकर हस्ताक्षर किये हैं। ऐसी स्थितिमें पं० फूलचन्द्रजीने कर्मग्रंथ पुस्तक ६ की प्रस्तावनामें जो यह मान्य किया है कि 'कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है' सो यह मान्यता उत्तरपक्षकी भी मान्यता समझना चाहिए। इस तरह कहा जा सकता है कि उत्तरपक्ष एक ओर तो यह स्वीकार करता है कि "कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है" और दूसरी ओर उसने त० च० पृ० ३८७ पर यह भी स्वीकार किया है कि "जैसी होनहार होती है उसके अनुसार ही

बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ भी वैसा ही होने लगता है और सहायक (निमित) कारण भी वैसे ही मिल जाया करते हैं" तथा इसे प्रमाणित करनेके लिये उसने वहींपर "तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥" इस लौकिक पद्यको भी प्रमाण रूपमें प्रस्तुत किया है।

उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत उक्त दोनों मान्यताएँ परस्पर विरोधी हैं, अतः उत्तरपक्षको यह निर्णय करना है कि वह दोनोंमेंसे किस मान्यताको स्वीकार करता है। दोनोंमेंसे जिस मान्यताको वह स्वीकार कर लेता है उससे अतिरिक्त दूसरी मान्यताके प्रति उसे अपना मोह छोड़ देना चाहिए। इस विषयमें मैं आगे विस्तारपूर्वक विचार करूँगा।

प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत अन्तमें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४३ पर लिखा है—"अब हमारे और अपरपक्षके उक्त उल्लेखोंके आधारपर जब अकाल मरणका विचार करते हैं तो विदित होता है कि जब-जब आत्मामें मनुष्यादि एक पर्यायके व्ययकी और देवादि रूप दूसरी पर्यायके उत्पादकी अन्तरंग योग्यता होती है तब-तब विषभक्षण, गिरिपात आदि बाह्य सामग्री तथा मनुष्यादि आयुका व्यय और देवादि आयुका उदय उसकी सूचक होती है और ऐसी अवस्थामें आत्मा स्वयं अपनी मनुष्यादि पर्यायका व्यय कर देवादि पर्याय रूपसे उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट होता है कि एक पर्यायके व्यय और दूसरी पर्यायके उत्पादरूप उपादान योग्यताके कालकी अपेक्षा विचार करनेपर मरणकी कालमरण संज्ञा है और इसको गौण कर अन्य कर्म तथा नोकर्म रूप सूचक सामग्रीकी अपेक्षा विचार करनेपर उसी मरणकी अकाल मरण संज्ञा है"।

इस विषयमें मैं विस्तारसे विचार तो आगे करूँगा यहाँ केवल यह कह देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने कालमरण और अकालमरणका अन्तर जिस आधारपर दिखलानेका प्रयत्न किया है वह न आगमसम्मत है और न युक्तिसंगत है। आगममें यह बतलाया है कि जहाँ आयुकी विषभक्षण आदि बाह्य सामग्रीके बलसे उदीरणा होकर समाप्ति होती है वह अकालमरण कहा जाता है और जहाँ आयुकी निषेकक्रमसे उदय होकर समाप्ति होती है वह कालमरण कहलाता है। दोनों ही प्रकारके मरणोंमें जीवकी मनुष्यादि पर्यायका व्यय और देवादि पर्यायका उत्पाद समान रूपसे होता है। यद्यपि इस उत्पाद और व्ययमें दोनों मरणोंमेंसे कहीं भी कोई अतिरिक्त विशेषता नहीं पाई जाती है। उनमें इतनी ही विशेषता है कि अकाल मरणमें तो आयु-कर्मकी उदीरणा होकर समाप्ति होती है और कालमरणमें आयु-कर्मकी निषेकक्रमसे उदय होकर समाप्ति होती हैं। यही गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कहा गया है—

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थगहणसंक्लेसेहिं।
उस्सासाहाराणं निरोधदो छिज्जदे आऊ ॥ ५७ ॥

अर्थ :—विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण और संक्लेश तथा श्वास व आहारका निरोध होनेसे आयुका छेदन होता है।

इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त निमित्तोंका समागम प्राप्त होनेपर आयुःकर्मकी उदीरणा होकर जीवका अकाल मरण होता है। इसी प्रकार तत्वार्थसूत्रमें भी प्रतिपादित किया गया है—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ २-५३ ॥

अर्थ :—औपपादिक जन्म वाले देवों और नारकियों, चरम और उत्तम देह वालों तथा असंख्यात वर्षकी आयु वालोंकी आयु अनपवर्त्य होती है अर्थात् इनका अकाल मरण न होकर काल मरण ही होता है। शेष जीवोंका अकाल और काल दोनों प्रकारका मरण सम्भव है।

इन दोनों आगमप्रमाणोंपर ध्यान देनेसे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने जो काल मरण और अकाल मरणकी परिभाषाएँ निश्चित की हैं वे आगमविरुद्ध हैं।

सबसे अन्तमें पृ० ४३ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है कि "यह वस्तुस्थिति है जो अपरपक्षके उक्त वक्तव्यसे भी फलित होती है। हमें आशा है कि अपरपक्ष अपने वक्तव्यके 'किन्तु घातिया कर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है।' इस वचनको ध्यानमें रखकर सर्वत्र कार्य-कारण-भावका निर्णय करेगा"।

इसके विषयमें मेरा मन्तव्य है कि पूर्वपक्ष तो अपनी इस मान्यतापर पहले भी दृढ़ था, आज भी दृढ़ है और आगे भी दृढ़ रहेगा कि 'घातियाकर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं, वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है' परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्षकी इस मान्यतासे घातियाकर्मोदयमें जीवकी विभाव परिणतिको उत्पत्तिके प्रति कार्यकारी निमित्तकारणता सिद्ध होती है, उत्तरपक्षको मान्य अकिंचित्कर निमित्तकारणता नहीं। इसलिए उत्तरपक्षको पूर्वपक्षकी मान्यताके आधारपर अपनी मान्यताके विषयमें यह निर्णय करना है कि पूर्वपक्षका दृष्टिकोण सम्यक् है या उसका अपना दृष्टिकोण सम्यक् है और इस तरह उसे यदि यह बात समझमें आ जाये कि पूर्वपक्षका दृष्टिकोण ही सम्यक् है उसका अपना दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है तो उसे अपने हठवादको छोड़कर पूर्वपक्षके आगम-सम्मत दृष्टिकोणको अपना लेना चाहिए।

कथन २८ और उसकी समीक्षा

(२८) पूर्वपक्षने त० च० पृ० १३-१४ पर विविध आगम-प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया है कि द्रव्यकर्मोदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण होता है। वह वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर निमित्तकारण नहीं है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४३-४४ पर पूर्वपक्षके कथनपर विचार करते हुए "प्रस्तुत प्रतिशंकामें उल्लिखित अन्य उद्धरणोंका स्पष्टीकरण" शीर्षकके अन्तर्गत प्रथम तो उन उद्धरणोंका आशय स्पष्ट किया है और पश्चात् अपना मन्तव्य इस रूपमें व्यक्त किया है कि "अपने पक्षके समर्थनमें अपरपक्षने ये आठ प्रमाण उपस्थित किये हैं। इनके द्वारा किस कार्यमें कौन किस रूपमें निमित्त है इसका व्यवहारसे निर्देश किया गया है।" इसके अनन्तर अपने इस मन्तव्यके समर्थनमें उसने समयसार गाथा १०८ को प्रमाण रूपमें उद्धृत किया है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

"जह राया ववहारा दोसगुणप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणप्पादगो भणिदो॥"

इसका अर्थ उत्तरपक्षने यह किया है—"जिस प्रकार राजा व्यवहारसे प्रजाके दोष-गुणका उत्पादक कहा गया है उसी प्रकार जीव व्यवहारसे पुद्गल द्रव्यके गुणोंका उत्पादक कहा गया है।"

उत्तरपक्षने आगे यह भी लिखा है—"आशय यह है कि यथार्थमें प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है और बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। फिर भी लोकमें निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य

सामग्रीकी अपेक्षा यह कहा जाता है कि "इसने यह कार्य किया।" पूर्वमें अपरपक्षने जो आठ प्रमाण उपस्थित किये हैं वे सब व्यवहारनयके वचन हैं अतः उन द्वारा यह सूचित किया गया है कि किस कार्यमें कौन निमित्त है। प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त व्यवहार योग्य बाह्य सामग्रीकी युति नियमसे होती है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उपादान जैसे अपने कार्यमें स्वयं व्यापारवान् होता है वैसे बाह्य सामग्री उसके होनेमें व्यापारवान् नहीं होती यह सिद्धान्त है। इसे हृदयंगम करके यथार्थका निर्णय करना चाहिए।"

इस विषयमें मैं कहना चाहता हूँ कि पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके उपर्युक्त विवेचनमें विवाद नहीं है, क्योंकि इसमें जो कहा गया है वहीं पूर्वपक्ष कहता है। इतना अन्तर है कि पूर्वपक्षके अनुसार निमित्तव्यवहार उसी वस्तुमें होता है जो उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होती है जबकि उत्तरपक्ष मानता है कि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक न होते हुए भी बाह्य वस्तुमें निमित्त व्यवहार होता है। यहाँ सोचनेकी बात है कि जो सहायक नहीं है वह निमित्त–सहकारी कैसे कहा जा सकता है। अतः पूर्वपक्षकी मान्यता युक्त एवं आगमसम्मत है और उत्तरपक्षकी मान्यता युक्त और आगम सम्मत नहीं है। इसे पहले भी कहा जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त विवेचनके समर्थनमें पुरुषार्थसिद्ध्युपायका भी उद्धरण दिया है, जो निम्न प्रकार है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

इसका अर्थ उत्तरपक्षने यह किया है—"जीवके द्वारा किये गये परिणामको निमित्त मात्र करके उससे भिन्न पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाते हैं।"

मैं कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्ष द्वारा प्रस्तुत किये गये इस श्लोकके अर्थ और उसके आशयमें भी पूर्वपक्षको विवाद नहीं है। दोनोंके दृष्टिकोणोंमें जो अन्तर है वह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है अर्थात् जहाँ पूर्वपक्षने निमित्तकारणको कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे कार्यकारि माना है वहाँ उत्तरपक्षने उसे कार्यके प्रति सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर स्वीकार किया है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षके वक्तव्यों और इस समीक्षामें किये गये विवेचनोंसे स्पष्ट है कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्ष संसारी आत्माको ही यथार्थ कारण मानते हैं, इसलिए इस विषयमें दोनोंमें विवाद नहीं है। तथा दोनोंको इस विषयमें भी विवाद नहीं है कि द्रव्यकर्मोदय उस कार्यका यथार्थ कर्त्ता न होकर उपचरितकर्त्ता ही है। इसी तरह दोनोंको इसमें भी विवाद नहीं है कि संसारी आत्मामें विद्यमान उक्त कार्यका यथार्थ कर्तृत्व निश्चयनयका विषय है और द्रव्यकर्मोदयमें विद्यमान उसी कार्यका उपचरित कर्तृत्व व्यवहारनयका विषय है। दोनोंमें विवाद केवल यही है कि जहाँ पूर्वपक्ष द्रव्यकर्मोदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होनेरूपसे कार्यकारी निमित्तकारण मानता है और इसी आधारपर वह उसे उपचरितकर्त्ता मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उसे वहाँपर सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कर निमित्तकारण मानता है और इसी आधारपर वह उसे उपचरितकर्त्ता मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है।

यद्यपि पूर्वपक्षने अपने "द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता

है या नहीं" इस प्रश्नमें उक्त विषयपर ही जोर दिया है जैसा कि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। परन्तु उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें इस विषयको स्पर्श नहीं करते हुए इतना ही उल्लेख किया है कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणका यथार्थकर्त्ता संसारी आत्मा ही है, द्रव्यकर्मोदय नहीं, क्योंकि द्रव्यकर्मोदय उसमें निमित्त मात्र है। इसलिए वह उनका यथार्थकर्त्ता न होकर उपचरितकर्त्ता ही है। इसपर मेरा कहना है कि पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंमें एक तो इस विषयको लेकर विवाद ही नहीं है। दूसरे, प्रश्न भी इस विषयको लेकर नहीं किया गया है। अतः उत्तरपक्ष द्वारा प्रश्नके उत्तरमें जो कुछ कहा गया है वह प्रश्नके अनुरूप नहीं होनेसे पूर्वपक्षका यह प्रश्न असमाहित ही है कि द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण माना जाये या उसे वहाँपर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण ही मान लिया जाये? पूर्वमें बहु बार ऊहापोह पूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है कि द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें कार्यकारी निमित्तकारण मानना आगमसम्मत और युक्त है, उसे अकिंचित्कर निमित्तकारण मानना न युक्त है और न आगम-सम्मत है।

उत्तरपक्षने अपने प्रकृत वक्तव्यके अन्तमें त० च० पृ० ४४ पर लिखा है—"स्पष्ट है कि उक्त आठों आगमप्रमाण अपरपक्षके विचारोंके समर्थक न होकर समयसारके उक्त कथनका ही समर्थन करते हैं अतएव उनसे हमारे विचारोंकी ही पुष्टि होती है।"

इसपर मैं कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षपर यह मिथ्या आरोप लगाया है कि चूँकि वह (पूर्वपक्ष) द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें यथार्थ कारण या मुख्य-कर्त्ता मानता है, इससे उसके उक्त आठों प्रमाण अपरपक्षके विचारोंके समर्थक नहीं हैं। परन्तु पूर्वपक्षने बार-बार स्पष्ट किया है कि वह द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव व चतुर्गतिभ्रमणमें यथार्थ कारण या मुख्य कर्त्ता नहीं मानता है, संसारी आत्माको ही उसका यथार्थकारण या मुख्यकर्त्ता स्वीकार करता है। द्रव्यकर्म तो उसमें सहायक होने रूपसे मात्र कार्यकारी निमित्तकारण है। पूर्वपक्ष द्वारा बार-बार इतना सब कुछ स्पष्ट किये जाने पर भी उसकी उपेक्षा करके उत्तरपक्षने सर्वत्र इसी बातको उछाला है कि पूर्वपक्ष द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव व चतुर्गतिभ्रयणमें यथार्थकारण या मुख्य-कर्त्ता मानता है तथा इसीके खण्डनमें उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाई है जो निरर्थक सिद्ध हुई है, क्योंकि पूर्वपक्ष यह मानता ही नहीं है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणका यथार्थकारण या मुख्यकर्त्ता होता है। उसे केवल पूर्वपक्षके इस मूल प्रश्नका ही उत्तर देना था कि द्रव्यकर्म का उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण होता है या वह वहाँ पर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण ही बना रहता है।

पूर्वपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनमें त० च० पृ० १३ पर पं० फूलचन्द्रजी द्वारा लिखित पंचाध्यायी अध्याय २ के पद्य ५० के विशेषार्थको भी उद्धृत किया है, जो निम्न प्रकार है—

"कर्म तो आत्माकी विविध अवस्थाओंके होनेमें निमित्त है और उसमें ऐसी योग्यता उत्पन्न करता है जिससे वह अवस्थानुसार शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासके योग्य पुद्गलको योग द्वारा ग्रहण करके तद्रूप परिणमाता है।" इसपर उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४३ पर लिखा है—"तीसरा उल्लेख पंचाध्यायी

पृ० १५९ के विशेषार्थका है । इसमें कर्मकी निमित्तताको स्वीकार कर व्यवहारकर्त्तारूपसे उसका उल्लेख करके मन, वाणी और श्वासोच्छ्वासके प्रति जीवका भी व्यवहारकर्त्तारूपसे उल्लेख किया गया है ।"

इसपर मेरा कहना यह है कि पूर्वपक्षने पं० फूलचन्द्रजीके उक्त विशेषार्थका उद्धरण अन्य आगम प्रमाणोंके उद्धरणोंके साथ इस दृष्टिसे किया है कि उससे द्रव्यकर्मके उदयमें संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणके प्रति सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारणताका स्पष्ट समर्थन होता है । परन्तु पं० फूलचन्द्रजी सहित सम्पूर्ण उत्तरपक्षने अन्य सभी उद्धरणोंके साथ पंचाध्यायीके उद्धरणका भी यही आशय व्यक्त किया है कि इस उद्धरणसे भी संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणके प्रति द्रव्यकर्मके उदयमें निश्चय कर्तृत्व सिद्ध न होकर व्यवहार कर्तृत्व ही सिद्ध होता है । किन्तु उत्तरपक्षका यह कथन या तो वाक् छल है या अपनी गलतीको स्वीकार न कर उसका समर्थन करने वाला है । वास्तवमें उक्त उद्धरणों को पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत करनेका उद्देश्य द्रव्यकर्मके उदयको संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणके प्रति सहायक होनेसे कार्यकारी निमित्तकारण बतलाना या उसका समर्थन करना है । अतः उत्तरपक्षको या तो द्रव्यकर्मके उदयको उक्त कार्यके प्रति सहायक होने रूपमें कार्यकारी निमित्तकारण स्वीकार करना होगा या उसे वहाँपर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण माननेकी अपनी मान्यताके समर्थनमें अन्य आगमप्रमाणोंकी खोज करना आवश्यक होगी । यतः उपर्युक्त आगम प्रमाणोंसे द्रव्यकर्मके उदयकी उक्त कार्यके प्रति सहायक होने रूपमें कार्यकारी निमित्तकारणताकी ही सिद्धि होती है तथा पूर्वमें भी अन्य प्रमाणोंके आधारपर उसकी उक्त कार्यके प्रति कार्यकारी निमित्तकारणताकी सिद्धि की जा चुकी है । अतः उत्तरपक्षकी स्थिति 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' न्यायका अनुसरण करनेके अतिरिक्त नहीं है ।

उत्तरपक्षने इसी सन्दर्भमें त० च० पृ० ४४ पर यह भी लिखा है कि "अपरपक्षने इन प्रमाणोंमें एक प्रमाण 'कत्थ वि बलिओ जीवो' यह वचन भी उपस्थित किया है और उसकी उत्थानिकामें लिखा है कि जब जीव बलवान् होता है तो वह अपना कल्याण कर सकता है" । इसपर विचार करते हुए उत्तरपक्षने आगे लिखा है—"यहाँ यह विचार करना है कि ऐसी अवस्थामें जीव स्वयं अपना कल्याण करता है या बाह्य सामग्री द्वारा कल्याण होता है ।" यदि बाह्य सामग्री द्वारा उसका कल्याण होता है यह माना जाये तो "जीव अपना कल्याण कर सकता है" ऐसा लिखना निरर्थक है और यदि वह स्वयं अपना कल्याण कर लेता है यह माना जाये तो प्रत्येक कार्य अन्यके द्वारा होता है यह लिखना निरर्थक हो जाता है । प्रकृतमें इन दो विकल्पोंके सिवाय तीसरा विकल्प तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि उसके स्वीकार करनेपर बाह्य सामग्री अकिंचित्कर मानना पड़ती है । अतएव "कत्थवि बलिओ जीवो" इत्यादि वचनको व्यवहारनयका कथन ही मानना चाहिए जो कर्मकी बलवत्तामें जीवकी पुरुषार्थहीनताकी और कर्मकी हीनतामें जीवकी उत्कृष्ट पुरुषार्थताको सूचित करता है । स्पष्ट है कि उक्त कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जब जीव पुरुषार्थ-हीन होता है तब स्वयं अपने कारण वह अपना कल्याण करनेमें असमर्थ रहता है और जब उत्कृष्ट पुरुषार्थी होकर आत्मोन्मुख होता है तब वह अपना कल्याण कर लेता है ।"

यह आलोचनात्मक कथन उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके त० च० पृ० १३ में निर्दिष्ट इस कथनको लक्ष्यमें रखकर किया है कि "कर्मोंकी सदा एक-सी दशा नहीं रहती है । कभी कर्म बलवान् होता है और कभी जीव बलवान् होता है । जब जीव बलवान् होता है तो वह अपना कल्याण कर सकता है ।"

पूर्वपक्षके इस कथनमें ऐसी कोई बात नहीं है जो उत्तरपक्षके उपर्युक्त वक्तव्यका आधार बन सके, क्योंकि उत्तरपक्षने अपने उक्त वक्तव्यमें जो कुछ लिखा है उसके विषयमें पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ कोई विरोध नहीं है। पूर्वपक्षका इतना कहना अवश्य है कि यद्यपि पुरुषार्थहीन जीव ही होता है, लेकिन कर्मोदय की तीव्रताकी सहायता मिलनेपर होता है। इसी तरह यद्यपि जीव ही उत्कृष्ट पुरुषार्थी होता है, लेकिन कर्मोदयकी मन्दताका संयोग मिलनेपर ही होता है।

तात्पर्य यह है कि जीव अपना पुरुषार्थ मन, वचन और कायके आधारसे किया करता है। यह पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है—एक पुरुषार्थ तो कर्मोदयकी तीव्रतामें होता है जो संसार (आत्माके अकल्याण) का कारण होता है और दूसरा पुरुषार्थ कर्मोदयकी मन्दतामें होता है जो मुक्ति (आत्मकल्याण) का कारण होता है। दोनों ही प्रकारके पुरुषार्थ जीव पौद्गलिक मन, वचन (मुख) और कायके बल पर किया करता है। इस तरह जब तक जीवमें कर्मोदयकी तीव्रता विद्यमान रहती है तब तक उसका मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थ आत्मकल्याणके प्रतिकूल ही होता है और जब जीवमें कर्मोदयकी मन्दता हो जाती है तब उसका मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थ आत्मकल्याणके अनुकूल होने लगता है। पूर्वपक्षने प्रकृतमें जो "कत्थवि बलिओ" इत्यादि पद्यका उद्धरण दिया है वह इसी अभिप्रायसे दिया है कि कर्मोदय अपनी तीव्रता और मन्दताके आधारपर क्रमशः जीवके आत्मकल्याणके प्रतिकूल और अनुकूल पुरुषार्थोंके होनेमें सहायक होनेरूपसे कार्यकारी निमित्त कारण है व इसलिए निश्चयनयका विषय न होकर व्यवहारनयका ही विषय होता है और यतः आत्माके अकल्याण और कल्याणका वास्तविक कारण उपर्युक्त प्रकारका आत्म पुरुषार्थ ही होता है। अतः इस तरहके पुरुषार्थके आधारपर वह जीव अपने अकल्याण और कल्याणका यथार्थकर्त्ता होनेके आधारपर निश्चयरूप होनेसे निश्चयनयका विषय होता है।

जीवके आत्मकल्याणके प्रतिकूल मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थको व्यवहारके रूपमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप बन्धमार्ग कहते हैं और जीवके आत्मकल्याणके अनुकूल मानसिक, वाचनिक और कायिक पुरुषार्थको व्यवहारके रूपमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहते हैं तथा इसी व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्ररूप पुरुषार्थके आधार पर ही जीवमें यथविधि मिथ्यात्वादि कर्मोंका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर यथावसर जो आत्मविशुद्धि प्रगट होती है उसे निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्रके रूपमें निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं।

कथन २९ और उसकी समीक्षा

(२९) उत्तरपक्षने पूर्वपक्षकी प्रतिशंका दो पर विचार करते हुए त० च० पृ० ७ पर लिखा है—"प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यमें कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो यह सिद्ध करना संगत न होगा"।

यद्यपि इस समीक्षाग्रन्थमें मै पूर्वमें सिद्ध कर चुका हूँ कि प्रेरक कारणके बलसे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, फिर भी उत्तरपक्षका यह कहना कि उसे 'सिद्ध करना संगत न होगा' स्वयं असंगत है। दोनों पक्षोंने इस विषयको लेकर तृतीय दौरमें अपने-अपने पृथक्-पृथक् मन्तव्य व्यक्त किये हैं उनकी संगति-असंगतिका निर्णय करनेके लिए उन वक्तव्यों पर यहां पुनः विचार किया जाता है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७ पर जो पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनको संगत सिद्ध न होनेकी बात कही है उसकी संगतिको पूर्वपक्षने त० च० पृ० १५ पर निम्न प्रकार स्पष्ट किया है —

(अ) "सर्व कार्योंका सर्वथा कोई नियतकाल हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि प्रवचनसारमें श्री आचार्य अमृतचन्द्रने कालनय और अकालनय, नियतिनय और अनियतिनय इन दोनों नयोंकी अपेक्षा कार्यकी सिद्धि बतलाई है। और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है और किसीमें कोई क्रम नियत भी नहीं है, अतः आगे-पीछे न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता"।

(आ) "कर्मस्थितिबन्धके समय निषेक रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्मवर्गणा अमुक समय उदयमें आवेगी, किन्तु बन्धावलिके पश्चात् उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिकाण्डकघात, उदीरणा, अविपाकनिर्जरा, आदिके द्वारा कर्मवर्गणा आगे-पीछे भी उदयमें आती है, जिसे कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ भलीभांति जानते हैं। किन्तु यह नियत है कि कोई भी कर्म स्वमुख या परमुखसे अपना फल दिये बिना अकर्मभावको प्राप्त नहीं होता"।—जयधवला पुस्तक ३ पृ० २४५।

अपने कथनको सर्वथा संगत सिद्ध करनेके लिये पूर्वपक्षने उपर्युक्त अनुच्छेद (अ) में स्पष्टतया प्रतिपादन किया है कि 'सर्व कार्योंका सर्वथा कोई नियतकाल हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है'। इसके समर्थनमें तीन पुष्ट हेतु दिये हैं—(१) प्रवचनसारमें श्री अमृतचंद्र आचार्यने कालनय और अकालनय तथा नियतिनय और अनियतिनय इन दोनों प्रकारके नयोंकी अपेक्षा कार्यकी सिद्धि बतलाई है। (२) 'और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है' (३) और 'किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है'। 'अतः कार्य आगे-पीछे न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता'। ऐसा कहना सुसंगत है, असंगत नहीं।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि प्रवचनसारमें आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा समय-असमय पर तथा नियत-अनियत रूपमें कार्यकी सिद्धि बतलाना व समय-असमयपर तथा नियत-अनियत रूपमें उसकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखा जाना और किसीके द्वारा किसी द्रव्यमें कार्यकी उत्पत्तिका कोई क्रम नियत न करना ये तीनों हेतु ऐसे हैं जिनके आधारपर सर्वकार्योंका सर्वथा कोई नियतकाल सिद्ध नहीं होता। ऐसी वस्तुस्थितिमें किसी भी द्रव्यमें कार्यके आगे-पीछे न होनेका प्रश्न नहीं उठता और न उसे असंगत ही कहा जा सकता है और जब द्रव्यमें कार्योंकी उत्पत्तिका आगे-पीछे कभी भी होना सिद्ध होता है तो उत्तरपक्षका त० च० पृ० ७ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त कथन ही असंगत सिद्ध होता है।

यतः उत्तरपक्ष पूर्वपक्षके त० च० पृ० १५ पर निर्दिष्ट अनुच्छेद (अ) के उपर्युक्त कथनको ठीक तरहसे समझ नहीं सका है, अतः उसने पूर्वपक्षके उक्त कथनको त० च० पृ० ४५ पर दो भागोंमें विभक्त करके उन भागोंका पृ० ४५ से पृ० ४८ तक खण्डन करनेका प्रयत्न किया है। यहाँ उन दोनों भागोंको उद्धृत कर उनकी समीक्षा की जाती है—

(१) प्रथम भागपर उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४५-४६ तक लिखा है कि "प्रथम तो प्रवचनसारमें निर्दिष्ट कालनय-अकालनय तथा नियतिनय-अनियतिनयके आधारसे विचार करते हैं। वहाँ प्रथमतः यह समझने योग्य बात है कि ये दोनों सप्रतिपक्ष नययुगल हैं, अतः अस्तिनय-नास्तिनय इस सप्रतिपक्ष नययुगलके समान ये दोनों नययुगल भी एक ही कालमें एक ही अर्थमें विवक्षाभेदसे लागू पड़ते हैं, अन्यथा ये नय नहीं माने जा सकते। अपरपक्ष इन नययुगलोंको नयरूपसे तो स्वीकार करता है, परन्तु कालभेद आदिकी अपेक्षा

उनके विषयको अलग-अलग मानना चाहता है। इसका हमें आश्चर्य है। वस्तुतः कालनय और अकालनय ये दोनों नय एक ही कालमें एक ही अर्थको विषय करते हैं। यदि इन दोनोंमें अन्तर है तो इतना ही कि काल-नय कालकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है और अकालनय कालको गौण कर अन्य हेतुओंकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है। यहाँ अकालका अर्थ है कालके सिवाय अन्य हेतु। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर तत्त्वार्थसूत्रमें 'अर्पितानर्पितसिद्धेः (५-३८) यह सूत्र निबद्ध हुआ है। स्पष्ट है कि जो पर्याय कालविशेषकी मुख्यतासे कालनयका विषय है वही पर्याय कालको गौण कर अन्य हेतुओंकी मुख्यतासे अकाल-नयका विषय है। प्रवचनसारकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें इन दोनों नयोंका यही अभिप्राय लिया गया है'।

इसकी समीक्षा

इस बातको स्वीकार करनेमें पूर्वपक्षको आपत्ति नहीं हो सकती है कि जिस प्रकार अस्तिनय और नास्तिनय ये दोनों सप्रतिपक्षनय हैं उसी प्रकार कालनय और अकालनय तथा नियतिनय और अनियतिनय ये दोनों नययुगल भी सप्रतिपक्षनय हैं, परन्तु जो विषय अस्तिनयका है उससे विरुद्ध विषय नास्तिनयका है। जो विषय कालनयका है उससे विरुद्ध विषय अकालनयका है और जो विषय नियतिनयका है उससे विरुद्ध विषय अनियतिनयका है। अर्थात् अस्तिनयका विषय वस्तुमें विद्यमान स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सापेक्ष अस्तित्व धर्म है और नास्तिनयका विषय उसी वस्तुमें विद्यमान परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सापेक्ष नास्तित्व धर्म है। कालनयका विषय वस्तुमें विद्यमान कालसापेक्ष धर्म है और अकालनयका विषय उसी वस्तुमें विद्यमान कालसे भिन्न साधन सापेक्ष धर्म है। तथा नियतिनयका विषय वस्तुमें विद्यमान स्वतः सिद्ध धर्म है और अनियतिनय-का विषय उसी वस्तुमें विद्यमान परतः सिद्ध धर्म है। अपने इस कथनको हम और अधिक स्पष्ट करते हैं—

जो वस्तु जिस समय द्रव्यकी अपेक्षा पृथ्वी रूप है वह वस्तु उस समय द्रव्यकी ही अपेक्षा जल, अग्नि या वायु रूप नहीं है। जो वस्तु जिस समय क्षेत्रकी अपेक्षा एक क्षेत्रमें विद्यमान है वह वस्तु उस समय क्षेत्रकी ही अपेक्षा उस क्षेत्रसे भिन्न क्षेत्रमें विद्यमान नहीं है। जो वस्तु जिस समय कालकी अपेक्षा जिन कालाणुओंके साथ संयुक्त हो रही है वह वस्तु उस समय कालकी ही अपेक्षा उन कालाणुओंसे भिन्न काला-णुओंके साथ संयुक्त नहीं हो रही है और जो वस्तु जिस समय भावकी अपेक्षा अपनी जिस पर्यायको धारण किये हुए है वह वस्तु उस समय भावकी ही अपेक्षा उस पर्यायसे भिन्न अपनी अन्य विरुद्ध पर्यायको नहीं धारण किये हुए है। यह वस्तुमें अस्तिनय और नास्तिनय सापेक्ष कथन है।

जिस वस्तुमें काल सापेक्ष धर्मके प्रगट होनेकी योग्यता विद्यमान है उस वस्तुमें कालानपेक्ष (कालसे भिन्न साधन सापेक्ष) धर्मके प्रगट होनेकी भी योग्यता विद्यमान है। जैसे—जिस मनुष्य या तिर्यंच विशेषमें कालमरणकी योग्यता विद्यमान है उस मनुष्य या तिर्यंच विशेषमें अकालमरणकी भी योग्यता विद्यमान है या जिस आम्रफलमें ऋतुके अनुसार पकनेकी योग्यता विद्यमान है उस आम्रफलमें कृत्रिम ऊष्माके आधारपर पकनेकी योग्यता भी विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि जिस मनुष्य या तिर्यंच विशेषको अकालमरणके साधन प्राप्त न हों तो उस मनुष्य या तिर्यंच विशेषका कालमरण ही होगा और जिस मनुष्य या तिर्यंच विशेषको अकालमरणके साधन प्राप्त हो जावें तो उस मनुष्य या तिर्यंच विशेषका अकालमरण हो जायेगा। इसी तरह जिस आम्रफलको कृत्रिम ऊष्माके साधन प्राप्त न हों उस आम्रफलमें ऋतुके अनुसार ही पक्वता

आयेगी और जिस आम्रफलको कृत्रिम ऊष्माके साधन प्राप्त हो जावें वह आम्रफल असमयमें ही पक जायेगा। यह वस्तुमें कालनय और अकालनय सापेक्ष कथन है।

प्रत्येक वस्तुका नियत स्वभावके साथ अनियत स्वभाव भी जिनागममें स्वीकार किया गया है अर्थात् वस्तुका एक स्वभाव तो नियत (स्वतः सिद्ध) होता है और दूसरा स्वभाव अनियत (बाह्य साधन सापेक्ष) होता है। जैसे जलका नियत स्वभाव शीतता है, परन्तु उसमें अनियत स्वभावभूत स्वकीय योग्यताका सद्भाव रहनेके कारण उसमें अग्निके संयोगसे उष्णता भी आ जाती है। यह वस्तुमें नियतिनय और अनियतिनय सापेक्ष कथन है।

इस विवेचनसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तिनय, कालनय और नियतिनयका अपना-अपना जो वस्तुधर्म विषय होता है उससे विरुद्ध अपना-अपना वस्तुधर्म ही नास्तिनय, अकालनय और नियतिनयका विषय होता है। इससे उत्तरपक्षका एक तो त० च० पृ० ४५ पर निर्दिष्ट यह कथन असंगत हो जाता है कि "वस्तुतः कालनय और अकालनय ये दोनों नय एक कालमें एक ही अर्थको विषय करते हैं। यदि इनमें कोई अन्तर है तो इतना ही कि कालनय कालकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है और अकालनय कालको गौण कर अन्य हेतुओंकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है।" दूसरे, उसका त० च० पृ० ४५ पर ही निर्दिष्ट यह कथन भी असंगत हो जाता है कि "अतः अस्तिनय और नास्तिनय इस सप्रतिपक्ष नययुगलके समान ये दोनों नययुगल भी एक ही कालमें एक ही अर्थमें विवक्षाभेदसे लागू पड़ते हैं, अन्यथा ये नय नहीं माने जा सकते हैं। अपरपक्ष इन नययुगलोंको नय रूपसे तो स्वीकार करता है, परन्तु कालभेद आदिकी अपेक्षा इनके विषयको अलग-अलग मानता है इसका हमें आश्चर्य है।" और तीसरे, उसका त० च० पृ० ४३ पर निर्दिष्ट यह कथन भी असंगत सिद्ध हो जाता है कि "एक पर्यायके व्यय और दूसरे पर्यायके उत्पाद रूप उपादान योग्यताके कालकी अपेक्षा विचार करनेपर उसी मरणकी कालमरण संज्ञा है और कालको गौण कर अन्य कर्म तथा नोकर्मरूप सूचक-सामग्रीकी अपेक्षा विचार करने पर उसी मरणकी अकालमरण संज्ञा है।' उत्तरपक्षके इस तीसरे कथनको असंगतिको आगमप्रमाणोंके आधारपर पहले उसी प्रकरणमें भी सिद्ध किया जा चुका है।

यतः अस्तिनय और नास्तिनय, कालनय और अकालनय तथा नियतिनय और अनियतिनय इन सभी नययुगलोंके अंशभूत दोनों नयोंका विषय वस्तुका मात्र एक-एक धर्म न होकर परस्पर विरोधी भिन्न-भिन्न धर्म ही होता है। अतः तत्त्वार्थसूत्रके "अर्पितानर्पितसिद्धेः" (५-३८) इस सूत्रकी युक्ति और आगम सम्मत संगति भी तभी होती है।

तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तुमें परस्पर विरोधी अस्तित्व और नास्तित्व, तत्त्व (तत्) और अतत्त्व (अतत्), एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्मयुगलोंका एक साथ सद्भाव आगम द्वारा स्वीकार किया गया है। एवं मनुष्य या तिर्यंच विशेषमें कालमरण और अकालमरणकी पृथक्-पृथक् योग्यताओंका एक साथ सद्भाव तथा आम्रफलमें कालानुसार और कालके सिवाय अन्य साधनोंके अनुसार पकनेकी पृथक्-पृथक् दोनों योग्यताओंका एक साथ सद्भाव स्वीकार करना भी अयुक्त और आगमविरुद्ध नहीं है। इसी तरह प्रवचनसारकी टीकामें आचार्य अमृतचंद्रने एक ही आत्मामें अखण्ड चैतन्यरूप स्वतःसिद्ध व औदयिकादि भावरूप परतः सिद्ध दोनों प्रकारके पृथक्-पृथक् स्वभावोंका एक साथ सद्भाव स्वीकार किया

है। और "अर्पितानर्पितसिद्धेः" सूत्रमें यतः परस्पर विरोधी इन दोनों धर्मोंकी पृथक्-पृथक् रूपमें विवक्षा मान्य की गई है, अतः उत्तरपक्षने उस सूत्रका जो यह अभिप्राय ग्रहण करनेकी चेष्टा की है कि एक ही धर्मका ग्रहण अपेक्षा भेदसे भिन्न-भिन्न रूपमें हुआ करता है सो यह अभिप्राय सर्वथा असंगत है। वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी विवक्षा भेदसे स्वीकृति ही "अर्पितानर्पितसिद्धेः" सूत्र द्वारा बतलायी गयी है।

संभवतः उत्तरपक्ष यह समझ रहा है कि जिस प्रकार कार्य तो एक है परन्तु उसका कथन उपादान और निमित्त दोनोंकी अपेक्षासे होनेके कारण उसमें उपादानकी अपेक्षा उपादेयता और निमित्तकी अपेक्षा नैमित्तिकता दोनों एक साथ मानी जाती हैं उसी प्रकार प्रकृतमें भी होगा। किन्तु उसका ऐसा समझना भ्रम पूर्ण ही है, क्योंकि एक वस्तुमें उपर्युक्त प्रकारसे परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी स्वीकृति ही अनेकांतका हार्द है और वह प्रमाणका विषय है। पर नयका विषय सापेक्ष एकान्त—एक-एक धर्म है और एक धर्मकी विवक्षा होनेपर विरोधी धर्म अविवक्षित होकर रहता है तथा वह दूसरे समयमें ही दूसरे नयका विषय होगा। सो वह भी तभी जब उसकी विवक्षा होगी, क्योंकि एक कालमें एक ही धर्म नय द्वारा जाना या कहा जा सकता है, दो धर्म नहीं। कार्य भी एक वस्तु है, इसलिए उपादानकी अपेक्षा उपादेयरूप परिणत होने रूप तथा निमित्तकी अपेक्षा नैमित्तिक होनेरूप परस्पर भिन्न दो योग्यताओं (धर्मों) का सद्भाव मान्य करने योग्य है। इस तरह कार्यभूत वस्तुमें उपादानकी अपेक्षा उपादेयता और निमित्तकी अपेक्षा नैमित्तिकताका सद्भाव स्वीकार करना ही "अर्पितानर्पितसिद्धेः" सूत्रकी सार्थकता है। तात्पर्य यह है कि वस्तुएँ अनन्त हैं और प्रत्येक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंको लेकर अनन्त धर्मयुगलोंका सद्भाव है, जिनका समन्वय "अर्पितानर्पितसिद्धेः" सूत्र द्वारा जैन दर्शनमें किया गया है। एक ही धर्मका विवक्षाभेदसे कथन करना मात्र उक्त सूत्रका अभिप्राय नहीं है। अपितु भिन्न-भिन्न धर्मोंका विवक्षाभेदसे कथन करना ही उसका अभिप्रेत है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४६ पर जो यह लिखा है कि "इन नयोंका प्रारम्भ करनेसे पूर्व यह प्रश्न उठा कि आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इसका समाधान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह आत्मा चैतन्य सामान्यसे व्याप्त अनन्त धर्मोंका अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मोंको ग्रहण करनेवाले अनन्तनय हैं और उनमें व्याप्त होकर रहनेवाले एक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभवसे वह जाना जाता है। (प्रवचनसार परिशिष्ट) इससे स्पष्ट विदित होता है कि वहाँ जिन ४७ नयोंका निर्देश किया गया है उनके विषयभूत ४७ धर्म एक साथ एक आत्मामें उपलब्ध होते हैं अन्यथा उन नयोंमें एक साथ श्रुतज्ञानकी व्याप्ति नहीं बन सकती है।" सो उत्तरपक्ष प्रवचनसार परिशिष्टके उल्लिखित कथनपर यदि गंभीरतापूर्वक ध्यान दे तो उसे मालूम हो जायेगा कि उस कथनसे पूर्वपक्षके उक्त कथनका ही समर्थन होता है उसके (उत्तरपक्षके) त० च० पृ० ४३ और ४५ पर निर्दिष्ट उक्त कथनोंका उससे समर्थन नहीं होता। यद्यपि स्वयं उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४६ पर निर्दिष्ट उक्त कथनमें ४७ नयोंका विषय आचार्य अमृतचन्द्रके कथनानुसार पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है तथा पूर्वपक्षके कथनमें भी ऐसा ही स्वीकार किया गया है। परन्तु उत्तरपक्षके त० च० पृ० ४३ और पृ० ४५ पर निर्दिष्ट अपने कथनोंमें उसे अस्वीकार किया है। इन परस्पर विरोधी कथनोंपर उत्तरपक्षको ध्यान देना चाहिए, जिससे वह सही रूपमें तत्त्वका आकलन कर सके।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४६ के उसी अनुच्छेदमें जो यह लिखा है कि "अतएव प्रकृतमें कालनय और अकालनयके आधारसे तो यह सिद्ध करना संभव नहीं है कि सर्वकार्योंका कोई एक नियतकाल

नहीं है। प्रत्युत इसके आधारसे यही सिद्ध होता है कि कालनयकी विषयभूत वस्तु ही उस समय विवक्षाभेदसे अकालनयका भी विषय है। अतएव सभी कार्य अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होते हैं ऐसा निर्णय करना ही सम्यक् अनेकान्त है"। सो उत्तरपक्षका यह कथन ऊपर किये गये उसके स्वयंके और पूर्वपक्षके विवेचनोंको देखते हुए सर्वथा अटपटा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके उपर्युक्त विवेचनसे और पूर्वपक्षके विवेचनोंसे न तो यह निर्णीत होता है कि सर्वकार्योंका कोई एक नियतकाल है और न यह निर्णीत होता है कि कालनयकी विषयभूत वस्तु ही उपर्युक्त प्रकारसे उसी समय विवक्षाभेदसे अकालनयका विषय होती है। इसके अतिरिक्त उक्त कथनसे यह भी निर्णीत नहीं होता कि "अतएव सभी कार्य अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे होते हैं ऐसा निर्णय करना ही सम्यक् अनेकान्त है"।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४६ पर ही लिखा है कि 'नियतिनय और अनियतिनयकी अपेक्षा विचार करनेपर भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है, क्योंकि प्रकृतमें द्रव्योंकी कुछ पर्यायें क्रमनियत हों और कुछ पर्यायें अनियतक्रमसे होती हों, यह अर्थ इन नयोंका नहीं है। यदि यह अर्थ इन नयोंका किया जाता है तो ये दोनों सप्रतिपक्षनय नहीं बन सकते हैं। अतएव विवक्षाभेदसे ये दोनों नय एक ही कालमें एक ही अर्थको विषय करते हैं, यह अर्थ ही इन नयोंका प्रकृतमें लेना चाहिए'। सो उत्तरपक्षके इस कथनकी निःसारता भी कालनय और अकालनयके विषयमें किये गये मेरे विवेचन व आचार्य अमृतचंद्रके कथनानुसार किये गये स्वयं उत्तरपक्षके उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो जाती है, क्योंकि वहाँ बतलाया गया है कि अस्तिनय और नास्तिनय, कालनय और अकालनय तथा नियतिनय और अनियतिनय इन सभी नययुगलोंके अंशभूत प्रत्येक नयका विषय एक ही धर्म न होकर एक ही वस्तुमें विद्यमान पृथक्-पृथक् धर्म ही होता है।

अपने उक्त वक्तव्यमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "द्रव्योंकी कुछ पर्यायें क्रमनियत हों और कुछ पर्यायें अनियतक्रमसे होती हैं, यह अर्थ इन नयोंका नहीं है"। सो उत्तरपक्षको मालूम होना चाहिए कि आगममें स्वप्रत्यय (षड्गुणहानिवृद्धिरूप) पर्यायोंको ही नियतक्रमसे स्वीकार किया गया है और उनसे अतिरिक्त सभी स्वपरप्रत्यय पर्यायोंको निमित्तोंके सहयोगके अनुसार नियतक्रमसे और अनियतक्रमसे स्वीकार किया गया है, इसे पूर्वमें स्पष्ट भी किया जा चुका है और आगे भी आवश्यकतानुसार स्पष्ट किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सत्ताकी स्वीकृति ही अनेकान्त है और उनका कथन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद ऐसे ही अनेकान्तका प्रतिपादक होता है, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसारकी अपनी टीकामें इन नयोंका जो स्पष्टीकरण किया है उसके विषयमें ऊपर किये गये विवेचनके अनुसार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका कोई विरोध नहीं है। अपितु उससे उसके उक्त अभिप्रायकी पुष्टि न होकर पूर्वपक्षके अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है। इसी तरह उत्तरपक्ष द्वारा त० च० पृ० ४६ पर आगेके अनुच्छेदमें निर्दिष्ट "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (त० सू० ५-३०) तथा "सद्द्रव्यलक्षणम्" (त० सू० ५-२८) इन सूत्रोंसे भी पूर्वोक्त प्रकार उसके अभिप्रायकी पुष्टि संगत न होकर पूर्वपक्षके अभिप्रायकी पुष्टि ही संगत होती है। इतना ही नहीं, इसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्ष स्वयं अपने कथनमें यह स्पष्ट स्वीकार कर रहा है कि "नियतिनय प्रत्येक द्रव्यके द्रव्यस्वभावको विषय करता है और अनियतिनय प्रत्येक द्रव्यके पर्यायस्वाभावको विषय करता है"। इससे स्पष्ट है कि दोनों नयोंका विषय वस्तुका एक धर्म न होकर पृथक्-पृथक् धर्म ही होता है। इसलिये उत्तरपक्षका यह लिखना भी मिथ्या है कि "सत्का अर्थ ही यह है कि जिस कालमें जो जिस रूपमें सत् है उस कालमें वह उस रूपमें स्वरूपसे

स्ततः सिद्ध स्वयं सत् है। उसकी परसे प्रसिद्धि करना यह तो मात्र व्यवहार है" क्योंकि वस्तुमें उत्पाद और व्यय स्वप्रत्ययके साथ स्वपरप्रत्यय भी आगममें स्वीकार किये गये हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४६ के इसी अनुच्छेदमें जो और लिखा है उससे भी उत्तरपक्षका तत्त्व ऊपर किये गये विवेचनके अनुसार फलित नहीं होता। अन्तमें उसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "जिस द्रव्यकी जो पर्याय जिस कालमें जिस देशमें जिस विधिसे होना निश्चित है।' इत्यादि, उसके विषयमें आगे त० च० के पंचम प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें विचार किया जायेगा।

(२) उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके त० च० पृ० १५ पर निर्दिष्ट अनुच्छेद (अ) के द्वितीय भागपर विचार करते हुए आगे त० च० पृ० ४७ पर लिखा है कि "अपरपक्षका अपने पक्षके समर्थनमें दूसरा तर्क है कि सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत है ऐसा प्रत्यक्षसे ज्ञात नहीं होता। इसके साथ उसका यह भी कहना है कि उनका किसीने कोई क्रम भी नियत नहीं किया है अतः कौन कार्य पहले होने वाला बादमें हुआ और बादमें होनेवाला पहले हो गया यह प्रश्न ही नहीं उठता"। इसके आगे त० च० ४८ पर ही उसने लिखा है—"यह अपरपक्षका अपने पक्षके समर्थनमें वक्तव्यका सार है। इस द्वारा अपरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें दो तर्क उपस्थित किये हैं। प्रथम तर्कको उपस्थित कर वह अपने इंद्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष (जो परोक्ष हैं) द्वारा यह दावा करता है कि वह अपने उक्त ज्ञान द्वारा द्रव्यमें अवस्थित कार्यकरणक्षम उस योग्यताका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है जिसे सभी आचार्योंने अतीन्द्रिय कहा है। किन्तु उस पक्षका ऐसा दावा करना उचित नहीं है, क्योंकि सभी आचार्योंने एक स्वरसे कार्यको हेतु मानकर उस द्वारा विवक्षित कार्य करनेमें समर्थ अंतरंग योग्यताके ज्ञान करनेका निर्देश किया है"। इसके आगे वहींपर उत्तरपक्षने अपने कथनके समर्थनमें एक प्रमाण तो आचार्य प्रभाचंद्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७ का दिया है और दूसरा प्रमाण स्वामी समन्तभद्रकृत स्वयंभू स्तोत्रके अन्तर्गत सुपार्श्व जिनकी स्तुतिके "अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयम्" इत्यादि पद्यको दिया है। इसके भी आगे वहीं पर उसने यह भी लिखा है कि "यद्यपि कहीं-कहीं कारणको देखकर भी कार्यका अनुमान किया जाता है। यह सच है, परन्तु इस पद्धतिसे कार्यका ज्ञान वहीं पर सम्भव है जहाँ पर विवक्षित कार्यके अविकल कारणोंकी उपस्थितिकी सम्यक् जानकारी हो और साथ ही उससे भिन्न कार्यके कारण उपस्थित न हों। इतने पर भी इस कारणमें इस कार्यके करनेकी आंतरिक योग्यता है ऐसा ज्ञान तो अनुमान प्रमाणसे ही होता है"। अन्तमें उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनके आधारपर उत्तरपक्षने वहीं पर यह निष्कर्ष निकाला है कि "अतः सभी कार्योंका कार्य सर्वथा नियत नहीं है ऐसा दावा अपरपक्ष अपने प्रत्यक्ष प्रमाणके बलपर तो त्रिकालमें नहीं कर सकता"।

यहाँ इसकी समीक्षा की जाती है—

मैं पूर्वमें स्पष्ट कर चुका हूं कि पूर्वपक्षने उत्तरपक्षके "प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यमें कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो यह सिद्ध करना संगत न होगा" इस कथनकी असंगतिको सिद्ध करनेके लिये त० च० पृ० १५ पर निर्दिष्ट अनुच्छेद (अ) में सर्वकार्योंका सर्वथा कोई नियतकाल हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है यह लिखकर इसके समर्थनमें तीन हेतु दिये हैं—

(१) प्रवचनसारकी अपनी टीकामें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने कालनय और अकालनय, नियतिनय और अनियतिनय इन नयोंकी अपेक्षा कार्यकी सिद्धि बतलाई है।

(२) और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है।

(३) और किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है। इनमेंसे प्रथम हेतुके सम्बन्धमें उत्तरपक्षके मन्तव्यकी समीक्षा ऊपर की जा चुकी है।

द्वितीय हेतुके सम्बन्धमें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४७ पर जो मन्तव्य प्रकट किया है उसपर पूर्वपक्षने अपने "सर्वकार्योंका सर्वथा कोई नियतकाल हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है" इसके समर्थनमें दूसरा तर्क यह प्रस्तुत किया है कि "और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है"। जिसका आशय यह है कि लोकमें दृष्टिगोचर होनेवाले कार्योंमेंसे कोई कार्य तो नियतक्रमसे या नियतकालमें होते हुए देखे जाते हैं और कोई कार्य अनियतक्रमसे या अनियतकालमें होते हुए देखे जाते हैं। जैसे पूर्वमें भी बतलाया है कि आम्रफलको यदि डालीमें ही लगा रहने दिया जाये तो वह नियतकालमें ही पक्वताको प्राप्त होगा और उसे तोड़कर यदि कृत्रिम ऊष्मामें रख दिया जायेगा तो वह असमयमें ही पककर तैयार हो जायेगा। इसी तरह कोई दर्जी किसी एक व्यक्तिके कपड़े की सिलाई कर रहा है लेकिन उसके पास यदि कोई अन्य व्यक्ति कपड़ा सिलानेके लिये पहुँच जाये तो उसके आग्रह पर वह अपने चालू कामको रोककर उस अन्य व्यक्तिके कपड़ेकी सिलाई करने लग जायेगा। ऐसा अनेक उदाहरण प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्तिकी दृष्टिमें आते रहते हैं। उत्तरपक्ष पूर्वपक्ष के इस आशय पर ध्यान देता तो उसने जो ऊपर त० च० पृ० ४७ पर असत्य कथन किया है उसका अवसर उसे प्राप्त नहीं होता। उत्तरपक्षनें पूर्वपक्षके कथनके आशयको समझनेकी चेष्टा नहीं की और बिना सोचे समझे उसने द्वितीय भागके अन्तर्गत त० च० पृ० ४७ पर अपने असत्य वक्तव्यमें कुतर्क किया है कि पूर्वपक्ष द्रव्यमें अवस्थित कार्यकरणक्षम उस योग्यताका अपने इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान कर लेता है जिसे सभी आचार्योंने अतीन्द्रिय स्वीकार किया है।

वास्तवमें पूर्वपक्षने त० च० पृ० १५ पर अनुच्छेद (अ) में जो तर्क दिया है कि "और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है" उसका आशय पूर्वोक्त प्रकार यही है कि कार्यकी उत्पत्ति समय-असमय पर नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों तरहसे होती हुई प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। स्वयं उत्तरपक्षने भी त० च० पृ० ४५ पर पूर्वपक्षके उक्त कथनको "सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है" इस कथनके रूपमें मान्य किया है। परन्तु उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४७ पर पूर्वपक्षके उक्त कथनको उलट-पुलट करके निबद्ध किया है कि "अपरपक्षका अपने पक्षके समर्थनमें दूसरा तर्क यह है कि सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत है ऐसा प्रत्यक्षसे ज्ञात नहीं होता" जो पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनके और उसके उपर्युक्त प्रकारके आशयके तथा उत्तरपक्षके त० च० पृ० ४५ पर निर्दिष्ट कथनके सर्वथा विपरीत है। इस तरह उत्तरपक्ष द्वारा त० च० पृ० ४७ पर निर्दिष्ट अपने कथनमें जो पूर्वपक्षपर उपर्युक्त आरोप लगाया है उसका मिथ्यापन उत्तरपक्षके अपने उक्त कथनसे ही सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह कि पूर्वपक्षके कथनसे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष द्वारा द्रव्यमें अवस्थित कार्यकरणक्षम योग्यताका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेना चाहता है जिसे आचार्योंने एक मतसे अतीन्द्रिय मान्य किया है। वास्तविक बात यह है कि पूर्वपक्ष भी उत्तरपक्षकी तरह द्रव्यमें अवस्थित कार्यकरणक्षम योग्यताको अतीन्द्रिय ही मानता है तथा इसके समर्थनमें उत्तरपक्षने जो आचार्य प्रभाचन्द्र और स्वामी समन्तभद्रके वचनोंको प्रमाण रूपसे उपस्थित किया है उन्हें भी वह स्वीकार करता है। अतएव उत्तरपक्षका पूर्वपक्षके ऊपर उपर्युक्त प्रकारका आरोप बेबुनियाद है। उत्तरपक्षने दूसरे तर्कको जिस रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया है उस रूपमें पूर्वपक्षने उस अनुच्छेद (अ) में नहीं उपस्थित किया है। अतः उसे पूर्वपक्षकी ओरसे उस रूपमें उपस्थित किया जाना उत्तरपक्षका मनघढ़ंत है।

पूर्वपक्षने अपने "सर्वकार्योंका सर्वथा कोई नियतकाल हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है" इस कथनके समर्थनमें त० च० पृ० १५ पर निर्दिष्ट अनुच्छेद (अ) में तीसरा तर्क यह प्रस्तुत किया है कि "और किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है" इसमें भी पूर्वपक्षका आशय यही है कि उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७ पर प्रेरक कारणके बलसे कार्यको आगे-पीछे करनेके प्रश्नको उठाकर जो उसे असंगत बतलाया है सो उसका इस प्रश्नको उठाना और फिर उसे असंगत बतलाना दोनों अनावश्यक हैं क्योंकि यह तथ्य है कि किसीने कार्योत्पत्तिका कोई क्रम नियत नहीं किया है। इसलिये इससे उत्तरपक्षका त० च० पृ० ४८ पर निर्दिष्ट "अब रह गया यह तर्क कि "किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है" सो यह तर्क पढ़नेमें जितना सुहावना लगता है उतना यथार्थताको लिये हुए नहीं है" यह कथन भी प्रकृत प्रकरणमें सर्वथा निरर्थक हो जाता है तथा इसके निरर्थक हो जानेसे इसके समर्थनमें उत्तरपक्षके द्वारा वहीं पर प्रतिपादित "क्योंकि हमारे समान सभी श्रुतज्ञानी "जं जस्स जम्मि देसे" इत्यादि तथा "पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं" इत्यादि श्रुतके बलसे यह अच्छी तरह जानते हैं कि कार्य जिस कालमें और जिस देशमें जिस विधिसे होता है वह कार्य उस कालमें और उस देशमें उस विधिसे नियमसे होता है। इसे इन्द्र, चक्रवर्ती और स्वयं तीर्थंकर भी परिवर्तित नहीं कर सकते" यह हेतुपरक कथन भी प्रकृत प्रकरणमें निरर्थक हो जाता है।

यहांपर एक बात यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने "अतः आगे-पीछे न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता" इस वाक्यको केवल "और किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है" इस तर्क वाक्यका अंश समझ लिया है सो मैं उसे यह ध्यान दिला देना चाहता हूँ कि उक्त वाक्यका संबंध केवल इसी तर्कवाक्यसे नहीं है अपितु उक्त अनुच्छेद (अ) के तीनों तर्कवाक्योंसे है। इसी तरह मैं उसे यह भी ध्यान दिला देना चाहता हूँ कि पूर्वपक्ष द्वारा उक्त अनुच्छेद (अ) के प्रारंभमें निर्दिष्ट "सर्वकार्योंका सर्वथा कोई नियतकाल हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है" इस वाक्यका संबंध भी केवल "प्रवचनसारकी अपनी टीकामें श्री अमृतचंद्र आचार्यने कालनय और अकालनय, नियतिनय और अनियतिनय इन दोनोंकी अपेक्षा कार्यकी सिद्धि बतलाई है" इसी तर्कवाक्यसे न होकर तीनों तर्कवाक्योंसे है।

अन्तमें यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रतिशंका तीनमें त० च० पृ० १५ पर पूर्वपक्षके कथनके रूपमें जो अनुच्छेद (अ) है उसके अन्तमें जो यह वाक्य लिखा हुआ है कि "अतः आगे-पीछे करनेका प्रश्न ही नहीं उठता", उसमें 'आगे-पीछे करने' के बीचमें 'न' शब्द छूट गया है। उसे 'अतः आगे-पीछे न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता" इस रूपमें संशोधित कर पढ़ना चाहिए, क्योंकि पूर्वपक्षने लिखा तो यही था कि "अतः आगे-पीछे न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता" परन्तु टाइप करने वालेने उसमें "न" को छोड़ दिया। टाइपिष्टकी इस भूलसे जो गड़बड़ी हुई है उसे ठीक कर लेने पर उत्तरपक्षको उसके सम्बन्धमें आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

उत्तरपक्षने अपने त० च० पृ० ४८ के उसी अनुच्छेदमें जो यह प्रतिपादन किया है कि "अतएव श्रुतिके बलपर हमारा ऐसा जानना प्रमाण है और वह श्रुति दिव्यध्वनिके आधारसे लिपिबद्ध हुई है इसलिये दिव्यध्वनिके बलपर वह श्रुति भी प्रमाण है और वह दिव्यध्वनि केवलज्ञानके आधारपर प्रवृत्त हुई है, इसलिये केवलज्ञानके बलपर दिव्यध्वनि भी प्रमाण है और केवलज्ञानकी ऐसी महिमा है कि वह तीन लोक

और त्रिकालवर्त्ती समस्त पदार्थोंको वर्तमानके समान जानता है, इसलिये केवलज्ञान प्रमाण है।" वह भी उपर्युक्त आधारपर प्रकृत प्रकरणमें निरर्थक हो जाता है।

इसी तरह उत्तरपक्षने इसी अनुच्छेदमें आगे जो यह कथन किया है कि "अतः कार्योंका किसीने कोई क्रम नियत नहीं किया है" यह लिखकर "सम्यक् नियतिका निषेध करना उचित नहीं है।" यह भी उपर्युक्त विवेचनके आधारपर प्रकृत प्रकरणमें निरर्थक हो जाता है।

यहाँ मैं इतनी बात और कह देना चाहता हूँ कि यद्यपि उत्तरपक्ष द्वारा प्रकृत प्रकरणमें निर्दिष्ट उपर्युक्त श्रुति, दिव्यध्वनि और केवलज्ञानकी चर्चा प्रकृत प्रकरणोंमें निरर्थक ही है तथापि उत्तरपक्ष यदि उनका उपयोग उपर्युक्त प्रकारकी सम्यक् नियतिके समर्थनमें करना चाहता है, तो करे, परन्तु यह स्थल उसके लिये उपयुक्त नहीं है। इसपर मैं प्रश्नोत्तर ५ की समीक्षामें विशेष विचार करूँगा।

उत्तरपक्षने अपने इसी अनुच्छेदमें लिखा है—"एक ओर तो अपरपक्ष "कार्योंका किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है" यह लिखकर कार्योंका आगे-पीछे होना मानना नहीं चाहता और दूसरी ओर उत्कर्षण आदिके द्वारा कर्मवर्गणाओंका आगे-पीछे उदयमें आना भी स्वीकार करता है। यह क्या है? इसे अपरपक्षकी मान्यताकी विडम्बना ही कहना चाहिए" सो उत्तरपक्षने टाइपिस्टकी उक्त भूलका लाभ उठाना चाहा है। परन्तु हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि पूर्वपक्षका कथन "अतः आगे-पीछे न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता" इस रूपमें ही था। वास्तवमें पूर्वपक्षकी मान्यता तो यही है कि प्रेरक कारणके बलसे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है।

इस तरह प्रकृत अनुच्छेदके अन्तमें उत्तरपक्षने जो लिखा यह है कि "स्पष्ट है कि अपरपक्षने" सभी कार्योंका सर्वथा काल नियत नहीं है" इत्यादि लिखकर जो सभी कार्योंके क्रमनियतपनेका निषेध किया है वह उक्त प्रमाणोंके बलसे तर्ककी कसौटी पर कसने पर यथार्थ प्रतीत नहीं होता" इससे वह केवल आत्मसन्तोष ही कर सकता है, क्योंकि न हमारी वैसी मान्यता है और न सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत है, यह ऊपर सिद्ध किया गया है।

(३) पूर्वपक्षने त० च० पृ० १५ पर अनुच्छेद (अ) में निर्दिष्ट "सर्वकार्योंका कोई नियतकाल हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है" इस मान्यताकी पुष्टिमें त० च० पृ० १५ पर ही अनुच्छेद (आ) में यह कथन भी किया है—"कर्मस्थितिबन्धके समय निषेक-रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्मवर्गणा अमुक समय उदयमें आवेगी किन्तु बन्धावलिके पश्चात् उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिकाण्डकघात, उदीरणा, अविपाकनिर्जरा आदिके द्वारा कर्मवर्गणा आगे-पीछे भी उदयमें आती है" इत्यादि। हमारे इस कथनपर उत्तरपक्षने तृतीय भागमें त० च० पृ० ४८ पर निम्नलिखित कथन किया है—

"अपरपक्षने अपने तीसरे हेतुमें कर्मस्थिति आदिके आधारसे विचारकर यह निष्कर्ष फलित करनेकी चेष्टा की है कि बन्धके समय जो स्थितिबन्ध होता है उसमें बन्धावलिके बाद उत्कर्षण आदि देखे जाते हैं, अतः जो कार्य जिस समय होना है उसे आगे-पीछे भी किया जा सकता है"। उत्तरपक्षने इसके आगे लिखा है—"यद्यपि इस विषयपर विचार शंका ५ के अन्तिम उत्तरमें करने वाले हैं। यहां तो मात्र इतना ही सूचित करना पर्याप्त है कि सत्तामें स्थित जिस कर्मका जिस कालमें जिसको निमित्तकर उत्कर्षण आदि होना नियत है उस कर्मका उस कालमें उसको निमित्तकर ही वह होता है, अन्यथा नहीं ऐसी बन्धके समय

ही उसमें योग्यता स्थापित हो जाती है। कर्मशास्त्रमें कर्मकी बन्ध, उदय और उत्कर्षण आदि जो दस अवस्थाएं बतलायी हैं वे इसी आधारपर बतलायी हैं। हाँ, जिस अवस्थाको कर्मशास्त्रमें स्वीकार नहीं किया गया है कर्ममें ऐसे किसी कार्यका केवल बाह्य सामग्रीके बलपर अपरपक्ष होना सिद्ध कर सके तो अवश्य ही यह माना जा सकता है कि यह कार्य बिना उपादान शक्तिके केवल बाह्य सामग्रीके बलपर कर्ममें हो गया"। सो उत्तरपक्षके इस कथनके विषयमें कह देना चाहता हूँ कि पूर्वपक्षको इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षकी मान्यता भी यही है कि बिना उपादान शक्तिके केवल बाह्य सामग्रीके बलपर कर्ममें उत्कर्षण आदि नहीं हुआ करते हैं। पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि कर्ममें जो उत्कर्षण आदि होते हैं वे यद्यपि उसमें पाई जाने वाली उपादान शक्तिके बलपर ही हुआ करते हैं, परन्तु अनुकूल बाह्य सामग्रीका सहयोग प्राप्त होनेपर ही वे हुआ करते हैं। जैसे पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि चलते तो रेलगाड़ीके डिब्बे ही हैं और वे अपनी उपादान शक्तिके बलपर ही चलते हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि वे इंजिनका सहयोग प्राप्त होनेपर ही चला करते हैं। उसके सहयोगके बिना कदापि नहीं चलते हैं। इतना ही नहीं, रेलगाड़ीके डिब्बों और इंजिनके चलनेमें रेल पटरीका भी सहयोग आवश्यक रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रेरक कारणका कार्य किसी भी वस्तुमें बिना उपादान शक्तिके कार्यको निष्पन्न करना नहीं है, केवल उपादान-शक्ति विशिष्ट वस्तुमें होने वाली कार्योत्पत्तिके प्रति प्रेरक कारणका कार्य उस वस्तुको प्रेरणा प्रदान करना है और उदासीन कारणका कार्य उपादान शक्ति विशिष्ट वस्तु यदि कार्यरूप परिणत होनेके लिए तैयार है तो उसे कार्यरूप परिणत होनेके अवसरपर अपना सहयोग प्रदान करना है अर्थात् प्रेरक कारणके योगसे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है और उदासीन कारण यद्यपि कार्यको आगे-पीछे तो नहीं करा सकता है परन्तु वह कार्यरूप परिणत होनेके लिए तैयार उपादानको कार्यरूप परिणतिमें अपना सहयोग प्रदान किया करता है। यह सब विषय पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

यहां मैं एक बात यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें सम्यक् नियतिका स्वरूप ऐसा निर्धारित किया है कि जिस कार्यका जिस कालमें और जिस देशमें जिस विधिसे होना निश्चित है वह कार्य उस कालमें और उस देशमें "उस विधिसे नियमसे होता है" सो उत्तरपक्षकी दृष्टिमें सम्यक् नियतिका यदि यही स्वरूप है तो इससे "खोदा पहाड़ निकली चुहिया" वाली कहावत चरितार्थ होती है। यह सब मैं प्रश्नोत्तर ५ की समीक्षामें स्पष्ट करूंगा। यहां तो मुझे केवल इतनी बात कहनी है कि उत्तरपक्षने जिस प्रकार सम्यक् नियतिके स्वरूपमें चतुराईसे देश, काल और विधिका समावेश करनेकी चेष्टा की है उसी प्रकार वह यदि उनकी उपयोगिता पर भी ध्यान देता तो संभव है उसे अपनी इस चेष्टा-की निरर्थकता समझमें आ जाती है और तब उसे त० च० पृ० ४९ पर "अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि सम्यक् नियति आगम सिद्ध है, अन्यथा न तो पदार्थ-व्यवस्था ही बन सकती है और न ही कार्य-कारण व्यवस्था ही बन सकती है" यह निष्कर्ष फलित करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि इसको स्वीकार किये बिना ही पदार्थ-व्यवस्था और कार्य-कारण व्यवस्था दोनों ही बन सकते हैं। इसका भी स्पष्टी-करण प्रश्नोत्तर ५ की समीक्षामें तथा अन्य प्रश्नोंकी समीक्षामें किया जायगा।

कथन ३० और उसकी समीक्षा

पूर्वपक्षने उत्तरपक्षके प्रति त० च० पृ० १५ पर यह कहा है कि—"आपने लिखा है कि" "दो

द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयसे है, निश्चयसे नहीं "सर्वत्र स्थान-स्थान पर इसी पर जोर दिया गया है। व्यवहारनयके पूर्व मात्र शब्द लगाकर उसका अर्थ उपचार करके यह भी दर्शाया गया है कि व्यवहारसे जो कथन है वह वस्तुतः वास्तविक नहीं है"।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके इस कथनपर विचार करते हुए त० च० पृ० ४९ पर "प्रसंगवश प्रकृतोपयोगी नयोंका खुलासा" शीर्षकके अन्तर्गत लिखा है—"इसी प्रसंगमें अपरपक्षने नयोंकी चर्चा करते हुए व्यवहारनयको असद्भूत माननेसे अस्वीकार किया है। उस पक्षका ऐसा कहना मालूम पड़ता है कि जितने प्रकार व्यवहारनय आगममें बतलाये गये हैं वे सब सद्भूत ही हैं। यह प्रश्न अनेक प्रसंगोंमें अनेक प्रश्नोंमें उठाया गया है। यदि अपरपक्ष आगमपर दृष्टिपात करता तो उसे स्वयं ज्ञात हो जाता कि आगममें व्यवहारनयके जो चार भेद किये हैं उनमेंसे दो सद्भूत व्यवहारनयके भेद हैं और दो असद्भूत व्यवहारनयके भेद हैं।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

जिस प्रकार उत्तरपक्ष आगमके आधारपर व्यवहारनयके सद्भूत और असद्भूत दो भेद मानकर प्रत्येकके अनुपचरित और उपचरित दो-दो भेद स्वीकार करता है उसी प्रकार पूर्वपक्ष भी स्वीकार करता है, अतः उत्तरपक्षका पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनका यह आशय निकालना मिथ्या है कि पूर्वपक्ष व्यवहारनयको असद्भूत माननेसे अस्वीकार करता है। पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनका इतना ही आशय है कि व्यवहारनयके सद्भूत और असद्भूत दो भेद तथा इनमेंसे प्रत्येकके अनुपचरित और उपचरितके रूपमें दो-दो भेद होकर भी अपने-अपने ढंगसे वास्तविक हैं जिसका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इनमेंसे कोई भी भेद आकाशकुसुमके समान कल्पनारोपित नहीं है। पूर्वमें उद्धृत आचार्य विद्यानंदके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ के कथनमें उक्त सभी प्रकारके व्यवहारनयोंको पारमार्थिक कहकर उनकी कल्पनारोपितताका निषेध किया गया है।[1] इस तरह दोनों पक्षोंके मध्य इस बातका मतभेद नहीं है कि व्यवहारनयके सद्भूत और असद्भूत दो भेद हैं; ऐसा नहीं है कि उत्तरपक्ष तो व्यवहारनयको सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकारका मानता है, परन्तु पूर्वपक्ष उसे केवल सद्भूत ही मानता है। दोनों पक्षोंमें जो मतभेद है वह इतना ही है कि जहां उत्तरपक्ष दो द्रव्योंमें विद्यमान होनेके कारण असद्भूत व्यवहारनयका विषयभूत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध निमित्तके कार्यरूप परिणत न होने और कार्योत्पत्तिमें सहायक भी न होनेसे निर्णीत उसकी सर्वथा अकिंचित्करताके आधारपर उसे कल्पनारोपित मानता है वहां पूर्वपक्ष वही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध निमित्तके कार्यरूप परिणत न होनेसे निर्णीत अकिंचित्करता और कार्योत्पत्तिमें सहायक होनेसे निर्णीत कार्यकारिताके आधारपर कथंचित् वास्तविक स्वीकार करता है, सर्वथा कल्पनारोपित नहीं। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय चाहे सद्भूत हो, असद्भूत हो, अनुपचरित हो या उपचरित हो, सभी रूपोंमें अपने-अपने ढंगसे वास्तविक ही है अर्थात् कोई भी नय आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित नहीं है। यहां परमार्थ, वास्तविक या सद्भूत तीनों शब्दोंसे यही आशय ग्रहण करना है कि उक्त चारों प्रकारके व्यवहारनयोंमेंसे कोई भी नय कल्पनारोपित नहीं है और न उनका विषयभूत पदार्थ भी कल्पनारोपित है। इसी बातकी पुष्टि पूर्वपक्षके निम्नलिखित कथन करते हैं—

---

१. तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्य-कारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

(१) "यदि नयोंके स्वरूप तथा विषयपर ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका कथन निश्चयनयसे न होनेका प्रसंग ही उपस्थित नहीं हो सकता है। जो विषय जिस नयका है उसका कथन उसी नयसे किया जा सकता है, अन्य नयसे नहीं। यदि उस ही नयके विषयको अन्य नयका विषय बना दिया जायेगा तो सर्वविप्लव हो जायेगा और नय-विभाजन अर्थात् नय-व्यवस्था भी समीचीन नहीं रह सकेगी। जैसे प्रत्येक द्रव्य व्यवहारनयकी अपेक्षासे अनित्य है। यदि निश्चयनयकी अपेक्षासे भी द्रव्यको अनित्य कहा जायेगा तो व्यवहारनय तथा निश्चयनयमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। दोनों एक ही हो जावेगें। द्रव्यको नित्य बतलाने वाला कोई नय ही न रहेगा। इस प्रकार द्रव्यके दूसरे धर्मका कथन नहीं हो सकनेके कारण वस्तुस्वरूपका ज्ञान एकांगी (सर्वथा एकांतरूप) एवं मिथ्या हो जावेगा। अर्थात् द्रव्य एकांततः अनित्य हो जायेगा और इस प्रकार पूर्ण क्षणिकवाद आ जायेगा। अतः अनित्यताका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं। निश्चयनय तो व्यवहारनयके विषयको ग्रहण करनेमें अन्ध पुरुषके समान है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यवहारनयका विषय होनेसे अनित्यता प्रामाणिक, वास्तविक या सत्य नहीं है। अनित्यता भी उतनी ही प्रामाणिक, वास्तविक व सत्य है जितनी नित्यता"। त० च० पृ० १५

(२) "यदि व्यवहारनयके विषयको प्रामाणिक नहीं माना जायेगा तो व्यवहारनय मिथ्या हो जायेगा। किन्तु आगम में प्रत्येक नयको प्रामाणिक माना गया है। जो परनिरपेक्ष कुनय होता है उसीको मिथ्या माना गया है, सम्यक् नयको मिथ्या नहीं माना गया है।" त० च० पृ० १५।

(३) "एक द्रव्यके खण्ड या दो द्रव्योंका सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। अतः दो द्रव्योंका सम्बन्ध होनेके कारण निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं। जैसे परद्रव्योंके साथ जो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है उसका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं। चूंकि यहाँ भी दो द्रव्योंका सम्बन्ध है, जैसे वर्णको आँख बता सकती है, नाक आदि अन्य इन्द्रियाँ नहीं। अतः नाक आदि अन्य इन्द्रियोंसे वर्ण नहीं है, यह कहनेका प्रसंग ही नहीं आता है। इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध निश्चयनयसे नहीं, यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दो द्रव्योंका सम्बन्ध निश्चयनयका विषय ही नहीं है।" त० च० पृ० १५-१६।

इस प्रकार पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनोंसे यही निर्णीत होता है कि पूर्वपक्ष असद्भूत व्यवहारनयको भी जो परमार्थ, वास्तविक और सत्य बतलाता है उसका आशय इतना ही है कि वह उसे आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित नहीं मानता है, किन्तु वह प्रत्येक नयके विषयको अपने-अपने ढंगसे ही परमार्थ, वास्तविक और सत्य मानता है अर्थात् निश्चयनयका विषय अपने ढंगसे, अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय अपने ढंगसे, उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय अपने ढंगसे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय अपने ढंगसे और उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय अपने ढंगसे परमार्थ, वास्तविक और सत्य है। तत्त्वजिज्ञासुओंको इसपर ध्यान देना चाहिए।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४९ पर इसी अनुच्छेदमें आगे लिखा है—"जहाँ प्रत्येक द्रव्यको व्यवहारनयसे अनित्य कहा है वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा गया है, जिसे आगमपद्धतिमें पर्यायार्थिक निश्चयनयरूप स्वीकार किया गया है, किन्तु जहाँ किसी एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा निमित्त-व्यवहार किया जाता है वह सद्भूत व्यवहारनयका विषय न होकर असद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है, कारण कि एक द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें रहता हो, यह त्रिकालमें संभव नहीं है। अतः एक

द्रव्यके कार्यका दूसरे द्रव्यको निमित्तकारण कहना उपचरित ही ठहरता है।" तथा इसके भी आगे उसी अनुच्छेदमें उसने "यही कारण है कि आलापपद्धतिमें असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण करते हुए लिखा है" ऐसा लिखकर आलापपद्धतिके वचनको अपने पक्षके समर्थनमें उद्धृत भी किया है।

इसमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "जहाँ प्रत्येक द्रव्यको व्यवहारनयसे अनित्य कहा है वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा है जिसे आगमपद्धतिमें पर्यायार्थिक निश्चयनय रूपसे स्वीकार किया गया है। किन्तु जहाँ किसी एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा निमित्त व्यवहार किया गया है वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनयका विषय न होकर असद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है" सो इस विषयमें पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके साथ कोई विवाद नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी ऐसा ही मानता है। विवाद इस बातका है कि जहाँ उत्तरपक्षने किसी एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा निमित्त व्यवहार करनेके लिए कोई आधार मान्य नहीं किया है वहाँ पूर्वपक्षका कहना है कि जहाँ किसी एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा निमित्त व्यवहार होता है वहाँ वह निमित्त व्यवहार इस आधारपर होता है कि वह एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी होता है। किन्तु उत्तरपक्ष एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यके कार्यमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी न मानकर उसे सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर ही मानता है। इसी तरह उत्तरपक्षने आलापपद्धतिके "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्याऽन्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः" इस कथनके आधारपर एक द्रव्यके कार्यका दूसरे द्रव्यको निमित्त अर्थात् कारण कहना उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे माना है सो इसमें भी पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके साथ विवाद नहीं है। तथापि जहाँ पूर्वपक्ष उक्त उपचारप्रवृत्तिमें आलापपद्धतिके ही "मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते" इस वचनके अनुसार मुख्यरूपताके अभाव तथा निमित्त और प्रयोजनके सद्भावको आधार मानता है वहाँ उत्तरपक्ष इसे स्वीकार नहीं करता है, अन्यथा उसे एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यके कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी माननेके लिए बाध्य होना पड़ेगा, जो उसे इष्ट नहीं है।

इसके आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ४९ पर ही "यह तो अपरपक्ष भी स्वीकार करेगा कि प्रत्येक द्रव्यके गुणधर्म उसके उसीमें रहते हैं" यहाँ से लेकर "यही कारण है कि हमने सर्वत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको असद्भूत व्यवहारनयका विषय बतलाकर उसे उपचरित ही प्रसिद्ध किया है" यहाँ तक जो लिखा है उसके विषयमें भी पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके साथ कोई विवाद नहीं है। केवल विवाद इस बातका है कि असद्भूत व्यवहारनयके विषयभूत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको पूर्वपक्ष तो साहाय्य-सहायक भावके रूपमें परमार्थ, वास्तविक व सत्य मानता है। परन्तु उत्तरपक्ष उसे साहाय्य-सहायक भावके अभावके रूपमें आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित ही मानता है जो आगम-विरुद्ध है। जैसे अनेक अणुओंकी एकमेकपने रूप मिलावटके आधारपर निष्पन्न पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप वस्तुयें निश्चयरूप द्रव्य न होकर व्यवहाररूप (उपचरित) द्रव्य इसलिए मानी गयी हैं कि उनका अस्तित्व एक अखण्ड द्रव्यके रूपमें नहीं है। यदि उनका अस्तित्व एक अखण्ड द्रव्यके रूपमें माना जाये तो कभी भी उनकी स्कन्धरूपताका विघटन नहीं हो सकेगा जबकि उनका विघटन आगम और इन्द्रिय प्रत्यक्षके आधारपर स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उनका अस्तित्व उपचरित होकर भी परमार्थ, वास्तविक व सत्य मानना अनिवार्य है, क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि और वायुरूप ये सभी स्कन्ध अपने-अपने रूपमें लोकमें कार्यकारी ही सिद्ध हो रहे हैं।

आगे वहीं उत्तरपक्षने लिखा है—"नय एक विकल्प है वह सद्भूतको तो विषय करता ही है बाह्य

प्रत्यासत्ति आदिकी अपेक्षा जिसमें निमित्त व्यवहार या नैमित्तिक व्यवहार किया जाता है या निक्षेप व्यवहार के अनुसार नाम, स्थापना और द्रव्य विशेषका विषय हैं उसे भी विषय करता है"। सो इस कथनमें भी पूर्वपक्षको विवाद नहीं है। परन्तु विवादकी बात यह है कि पूर्वपक्ष तो इनके विषयको आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित नहीं मानकर उस-उस रूपमें उसके अस्तित्वको स्वीकार करता है, लेकिन उत्तरपक्ष उसे केवल कथन मात्र कहकर कल्पनारोपित ही मान लेना चाहता है। इस बातका उत्तरपक्षको अवश्य विचार करना है कि यदि इन नयों और निक्षेपोंका विषय आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र है तो फिर उसे नयों और निक्षेपोंका विषय माना ही कैसे जा सकता है?

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५० पर यह लिखा है कि "अथवा नैगमनयके स्वरूप द्वारा असद्भूत व्यवहारनयको समझा जा सकता है" आदि; सो इसमें इतना ही विवाद है कि पूर्वपक्ष नैगमनयके विषयको आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र नहीं मानता है जबकि उत्तरपक्ष उसे कल्पनारोपित मानता है।

आगे वहींपर उत्तरपक्षने "भेद द्वारा वस्तुको ग्रहण करना जहां सद्भूत व्यवहारनय कहा है" से लेकर "अतएव व्यवहार कहकर भेद व्यवहार और निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार इन दोनोंको एक कोटिमें रखकर प्रतिपादित करना उचित नहीं है" यहां तक जो कुछ कथन किया है वह सब पूर्वपक्षको मान्य है। परन्तु पूर्वपक्षका कहना है कि असद्भूत व्यवहारनयके विषयका भी सद्भूत व्यवहारनयके समान अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य है, भले ही वह उपचरित हो। लेकिन ऐसा मानना उत्तरपक्षको अभीष्ट नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर निमित्तको कार्यके प्रति अकिंचित्कर स्वीकार करनेकी उसकी मान्यता समाप्त हो जायेगी।

आगे वहीं पर उत्तरपक्षने ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इन दोनोंमें जो अन्तर दिखलाया है उसमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु जहां पूर्वपक्ष कुम्भकारमें घटकारणता या घट-कर्तृत्वका आरोप घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकारके सहायक होनेके आधारपर स्वीकार करता है वहां उत्तरपक्ष कुम्भकारमें घटकारणता या घटकर्तृत्वका आरोप घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकारके सहायक होनेके बिना ही मान लेता है। इस तरह जहां पूर्वपक्षकी मान्यतामें आरोपित पदार्थ भी आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र सिद्ध न होकर आरोपित रूपमें परमार्थ, वास्तविक और सत्य सिद्ध होता है वहां उत्तरपक्षकी मान्यतामें आरोपित पदार्थ आरोपित रूपमें परमार्थ, वास्तविक और सत्य सिद्ध न होकर आकाशकुसुमकी तरह केवल कल्पनारोपित मात्र सिद्ध होता है जो आगम-विरुद्ध है। इसे पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है।

यहां इतनी विशेषता भी समझना चाहिए कि यद्यपि उत्तरपक्षकी इस बातसे हम असहमत नहीं हैं कि जिस प्रकार ज्ञेय स्वरूपसे ज्ञेय और ज्ञायक स्वरूपसे ज्ञायक है उसी प्रकार कुम्भकार घटोत्पत्तिमें स्वरूपसे कारण या कर्त्ता नहीं है व घट स्वरूपसे कुम्भकारका कार्य नहीं है। तथापि यह अवश्य है कि कुम्भकारमें घटोत्पत्तिके प्रति सहायक होने रूपसे योग्यताका सद्भाव है और घटमें कुम्भकारके सहायकत्वमें उत्पन्न होने की योग्यताका सद्भाव है, अन्यथा घटोत्पत्तिमें कुम्भकारको निमित्त और घटको नैमित्तिक कहना असंभव हो जायेगा।

आगे उत्तरपक्षने और लिखा है कि—"नेत्र रूपको जानता है, रसको नहीं। फिर भी उसको रसको जानने वाला कहा जायेगा तो यह असद्भूत व्यवहार ही ठहरेगा"। इस विषयमें मेरा कहना है कि उत्तर-पक्षको मान्य यह असद्भूत व्यवहार आकाशका कुसुम जैसा है। परन्तु "कुम्भकार घटका कारण या कर्त्ता

है" और "घट कुम्भकारका कार्य है" यह असद्भूत व्यवहार आकाशकुसुम जैसा असद्भूत व्यवहार नहीं है, क्योंकि जो कुम्भकारको घटका कारण या कर्त्ता कहा जाता है और घटको कुम्भकारका कार्य कहा जाता है वह उपर्युक्त प्रकार घटोत्पत्तिमें कुम्भकारके सहायक होने और घटके कुम्भकारकी सहायतासे उत्पन्न होनेके आधारपर ही कहा जाता है। अतः "नेत्र रसको जानता है" यह व्यवहार और "कुम्भकार घटका कारण या कर्त्ता है" व "घट कुम्भकारका कार्य है" ये दोनों प्रकारके व्यवहार असद्भूत व्यवहार होते हुए भी समान नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि "नेत्र रसको जानता है" यह असद्भूत व्यवहार जहाँ आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित है वहां "कुम्भकार घटका कारण या कर्त्ता है" और "घट कुम्भकारका कार्य है" यह असद्भूत व्यवहार आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित नहीं है, प्रत्युत वह उपर्युक्त प्रकारसे परमार्थ, वास्तविक व सत्य है। यतः आगमसम्मत इस मान्यताको उत्तरपक्ष माननेके लिए तैयार नहीं है अतः इस विषयमें पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंके मध्य विरोध है। तत्त्वजिज्ञासुओंको तथ्य पर ध्यान देना चाहिये।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह निर्णीत हो जाती है कि उत्तरपक्षका "इस प्रकार नयोंका प्रसंग उपस्थितकर अपरपक्षने जो हमारे" दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयसे है निश्चयनयसे नहीं "इस कथनपर टीका की है वह कैसे आगम-विरुद्ध है, इसका विचार किया" यह कथन सर्वथा निःसार सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उत्तरपक्षके कथनपर पूर्वपक्षने जो टीका की है वह आगमके अनुसार ही की है। जैसा कि उपर्युक्त प्रकारसे स्पष्ट है।

कथन ३१ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५० पर "कर्त्ता-कर्म आदिका विचार" शीर्षकके अन्तर्गत कर्त्ता और कर्म आदिके विचारके प्रसंगमें प्रथमतः पूर्वपक्षके त० च० पृ० १६ पर निर्दिष्ट वक्तव्यके निम्न अंशको उद्धृत किया है—

"इस तरह हमारे आपके मध्य मतभेद केवल इतना ही रह जाता है कि जहां हमारा पक्ष आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार और चतुर्गतिभ्रमण कार्यकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयरूप निमित्तकारण या निमित्तकर्त्ताको सहकारी कारण या सहकारी कर्त्ताके रूपमें सार्थक (उपयोगी) मानता है वहां आपका पक्ष उसे उपचरित कहकर उक्त कार्यमें अकिंचित्कर अर्थात् निरर्थक (निरुपयोगी) मानता है और तब आपका पक्ष अपना यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि कार्य केवल उपादानकी अपनी सामर्थ्यसे स्वतः ही निष्पन्न हो जाता है। उसकी निष्पत्तिमें निमित्तकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती है जबकि हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम-सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्यकी निष्पत्ति उपादानमें ही हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है फिर भी उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकी अपेक्षा बराबर बनी रहती है अर्थात् उपादानकी जो परिणति आगममें स्वपरप्रत्यय स्वीकार की गयी है वह परिणति उपादानकी अपनी होकर भी निमित्तकी सहायतासे ही होती है। अपने आप (निमित्तकी सहायताकी अपेक्षा किये बिना) नहीं होती। चूंकि आत्माके रागादि रूप परिणमन और चतुर्गतिभ्रमणको आगममें उसका (आत्माका) स्वपर प्रत्यय परिणमन प्रतिपादित किया गया है अतः वह परिणमन आत्माका अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मोदयकी सहायतासे ही हुआ करता है"। इसपर उत्तरपक्षने अपना मन्तव्य (त० च० पृ० ५१ पर) निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

"यह तो अपरपक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक अखण्ड सत्‌को भेद विवक्षामें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रव्यसत्, गुणसत् और पर्यायसत्। अपरपक्ष द्रव्यसत् और गुणसत्‌के स्वरूपको तो स्वतः सिद्ध माननेके लिए तैयार है किन्तु पर्यायसत्‌के विषयमें उसका कहना है कि वह परकी सहायतासे अर्थात् परके द्वारा उत्पन्न होता है। उपादान स्व है और अभेद विवक्षामें जो उपादान है वही उपादेय है इसलिए वह अपनेसे, अपनेमें, अपने द्वारा आप कर्त्ता होकर कर्मरूपसे उत्पन्न हुआ यह कथन यथार्थ बन जाता है। किन्तु जिस बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार किया जाता है वह (स्वयं परके कार्यका स्वरूपसे निमित्तकारण नहीं है यह बात यहाँ ध्यानमें रखना चाहिए) पर है, अतः उसमें यह कार्य हुआ इसे तो यथार्थ न माना जाये और उसके द्वारा आप कर्त्ता होकर इस कार्यको उसने उत्पन्न किया इसे यथार्थ कैसे माना जा सकता है। अर्थात् त्रिकालमें यथार्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दोनोंमें सर्वथा सत्ता भेद है, प्रदेश भेद है कर्त्ता आदिका सर्वथा भेद तो है ही। परके द्वारा कार्य हुआ या परकी सहायतासे कार्य हुआ इसे आगम प्रमाणसे यदि हम असद्भूत व्यवहार कथन या उपचरित कथन बतलाते हैं तो अपरपक्ष उसे निरर्थक या निरुपयोगी लिखनेमें ही अपनी चरितार्थता समझता है इसका हमें आश्चर्य है। जहाँ उपादान और उपादेयमें भेद विवक्षा करके उपादानसे उपादेयकी उत्पत्ति हुई यह कथन ही व्यवहार कथन ठहरता है वहाँ परके द्वारा उससे सर्वथा भिन्न परके कार्यकी उत्पत्ति होती है इसे असद्भूत व्यवहार कथन न मानकर सद्भूत व्यवहार या निश्चय कथन कैसे माना जा सकता है ? इसका स्वमतके समर्थनका पक्ष छोड़कर अपरपक्ष ही ही विचार करे। क्या यह अपरपक्ष आगमसे बतला सकता है कि एक द्रव्यके कर्त्ता आदि कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तवमें पाये जाते हैं ? यदि नहीं तो वह पक्ष "कुम्भकार घटका कर्त्ता है" इस कथनको असद्भूत व्यवहारनय (उपचरितोपचारनय) का कथन माननेमें क्यों हिचकिचाता है ? पहले तो उसे इस कथनको निःसंकोच रूपमें स्वीकार कर लेना चाहिए और फिर इसके बाद उसकी सार्थकता या उपयोगिता क्या है इसपर विचार करना चाहिए। हमें आशा है कि यदि वह इस पद्धतिसे विचार करेगा तो उसे इस कथनकी सार्थकता और उपयोगिता भी समझमें आ जावेगी। यह कथन इष्टार्थ अर्थात् निश्चयका ज्ञान करानेमें समर्थ है इससे इसकी सार्थकता या उपयोगिता सिद्ध होती है, इससे नहीं कि वह स्वयं अपनेमें यथार्थ कथन है। इसे यथार्थ कथन मानना अन्य बात है और सार्थक अर्थात् उपयोगी मानना अन्य बात है। यह कथन उपयोगी तो है पर यथार्थ नहीं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

दोनों पक्षोंके इन उपर्युक्त वक्तव्योंपर ध्यान देनेपर पाठकोंको यह बात सरलतासे समझमें आ सकती है कि उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें पूर्वपक्षके वक्तव्यके विषयमें जो कुछ लिखा है उसे लिखते समय उसने या तो पूर्वपक्षके वक्तव्यके आशयको समझने की चेष्टा नहीं की है अथवा जान-बूझकर तत्त्वजिज्ञासुओं को भ्रममें डालनेका प्रयत्न किया है। यहाँ वास्तविकताको स्पष्ट करनेका प्रयास किया जाता है।

(१) पूर्वपक्ष द्रव्यसत् और गुणसत्‌को स्वतः सिद्ध ही मानता है, जैसा कि उत्तरपक्षने लिखा है और स्वतः सिद्धका अर्थ है कि द्रव्यसत् और गुणसत् दोनों ही अनादि-निधन हैं।

(२) उत्तरपक्ष पर्यायसत्‌को भी स्वतःसिद्ध मानता है और वह यहाँ स्वतःसिद्धका अर्थ "अपनेसे, अपनेमें, अपने द्वारा आप कर्त्ता होकर कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ" करता है। इसे भी स्वीकार करनेमें पूर्वपक्ष-को कोई आपत्ति नहीं है। केवल उसका कहना यह है कि जहाँ उत्तरपक्ष पर्यायकी उत्पत्तिको बाह्य सामग्रीके सहयोगके बिना अपने आप होती हुई मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उस उत्पत्तिको आवश्यकतानुसार बाह्य

सामग्रीके सहयोगके आधारपर होती हुई मानता है। यहाँ "आवश्यकतानुसार" कहनेमें हेतु यह है कि आगममें पर्यायसत्‌को स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय इन दो भेदोंमें विभक्त किया गया है। इनमें स्वपरप्रत्यय परिणमन ऐसा है जो बाह्य सामग्रीका सहयोग प्राप्त हुए बिना नहीं उत्पन्न होता। यतः उत्तरपक्ष स्वपर-प्रत्यय परिणमनकी उत्पत्तिके विषयमें इस बातको माननेके लिए तैयार नहीं है कि वह बाह्य सामग्रीका सहयोग प्राप्त हुए बिना उत्पन्न नहीं होता, अतः पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ इसमें मतभेद है। यद्यपि उत्तरपक्ष स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उत्पत्तिके अवसरपर बाह्य सामग्रीकी उपस्थितिको स्वीकार करता है परन्तु उसका कहना है कि उस बाह्य सामग्रीके सहयोगकी अपेक्षा उस परिणमनकी उत्पत्तिमें अणु मात्र भी नहीं रहा करती है, जो आगम-विरुद्ध है क्योंकि आगममें स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीके सहयोगकी आवश्यकताको स्वीकार किया गया है[1]।

(३) उत्तरपक्षने अपने उक्त वक्तव्यमें पूर्वपक्षके स्वपरप्रत्यय परिणमनके विषयमें परकी सहायतासे उत्पन्न होने सम्बन्धी कथनके इस आशयको विकृतरूपसे प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की है कि "पूर्वपक्ष स्वपर-प्रत्यय परिणमनको परके द्वारा उत्पन्न हुआ मानता है" सो उसकी यह चेष्टा अनुचित है, क्योंकि पूर्वपक्ष स्वपरप्रत्यय परिणमनका परकी सहायतासे उत्पन्न होना स्वीकार करता है, परके द्वारा उत्पन्न होना स्वीकार नहीं करता। इसका कारण यह है कि एक वस्तु अपना अस्तित्व स्वतन्त्र रखते हुए दूसरी वस्तुके कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक तो हो सकती है, परन्तु उसके कार्यको वह त्रिकालमें नहीं कर सकती, क्योंकि यदि वह वस्तु दूसरी वस्तुके कार्यको करने लग जाये तो उसे अपना अस्तित्व उस दूसरी वस्तुमें संक्रमित कर देना होगा, जो असम्भव है।

(४) यद्यपि दोनों पक्षोंने स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उत्पत्तिके प्रसंगमें उपादान और बाह्य सामग्रीको स्थान दिया है, परन्तु दोनोंके विचारोंमें निम्नलिखित मतैक्य और मतभेद पाया जाता है—

(क) दोनों पक्ष स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उत्पत्तिमें उपादानको निश्चयकारण, यथार्थकारण व मुख्यकर्त्ता मानते हुए उसे निश्चयनयका विषय स्वीकार करते हैं व बाह्य सामग्रीको व्यवहारकारण, यथार्थ-कारण और उपचरितकर्त्ता मानते हुए उसे व्यवहारनयका विषय मानते हैं। परन्तु दोनों पक्ष बाह्य सामग्रीकी व्यवहारकारणता, अयथार्थकारणता और उपचरितकर्तृत्वके स्वरूपका निर्धारण भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते हैं। पूर्वपक्ष जहाँ स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीकी व्यवहारकारणता, अयथार्थकारणता और उपचरिकर्तृत्वके स्वरूपका निर्धारण उसमें उसके सहयोगी होने रूपसे कार्यकारिताके आधारपर करता है वहाँ उत्तरपक्ष उसमें उसके सहयोगी न होने रूपमें अकिंचित्करताके आधारपर करता है। इनमें पूर्वपक्षकी मान्यता युक्ति एवं आगम सम्मत है और उत्तरपक्षकी मान्यता उससे विपरीत है। इसे पहले विशदतया स्पष्ट किया जा चुका है।

(ख) दोनों ही पक्ष निश्चयनयके द्रव्यार्थिक निश्चयनय और पर्यायार्थिक निश्चयनय ये दो भेद स्वीकार करते हैं व व्यवहारनयके सद्भूत और असद्भूत ये दो भेद मानकर दोनोंके अनुपचरित और उप-

---

१. तदसामर्थ्यमखण्यदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्।—अष्टशती, अष्टसहस्री पृ० १०५ (नि० सा० प्रकाशन)

चरित ये दो भेद स्वीकार करते हैं। परन्तु व्यवहारनयकी असद्भूतताके विषयमें दोनोंकी दृष्टि भिन्न-भिन्न है, जिसे आगे यहीं पर स्पष्ट किया जायेगा।

(ग) दोनों ही पक्ष स्वपरप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत वस्तुको द्रव्यार्थिक निश्चयनयका विषय मानते हैं। इस नयके आधारपर ही घटकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत मिट्टी द्रव्यार्थिक निश्चयनयका विषय सिद्ध होती है।

(घ) पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उक्त कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत वस्तुकी सूक्ष्म दृष्टिसे कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय और स्थूल दृष्टिसे कार्याव्यवहित पूर्वकी नानाक्षणवर्ती पर्याय पर्यायार्थिक निश्चयनय या अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय सिद्ध होती है। जैसे घटकी उत्पत्तिमें सूक्ष्म दृष्टिसे मिट्टीकी कार्यरूप घटपर्याय या अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय और स्थूल दृष्टिसे उस घटपर्यायसे अव्यवहित पूर्वकी नानाक्षणवर्ती कुशूलपर्याय या तो पर्यायार्थिक निश्चयनयका विषय होती है या अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय सिद्ध होती है। सम्भवतः उत्तरपक्षको भी यह बात मान्य होगी।

(च) पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उक्त कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत वस्तुकी सूक्ष्म दृष्टिसे कार्याव्यवहित कारणभूत पूर्वक्षणवर्ती पर्यायसे अथवा स्थूल दृष्टिसे कार्याव्यवहित कारणभूत पूर्वकी नानाक्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्वकी क्षणवर्ती या नानाक्षणवर्ती पर्याय परम्परया पर्यायार्थिक निश्चयनयका अथवा उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय होती है। जैसे घटकी उत्पत्तिमें सूक्ष्म दृष्टिसे घट पर्यायसे अव्यवहित पूर्वकी एक क्षणवर्ती पर्यायसे भी अव्यवहित पूर्वकी क्षणवर्ती पर्याय या स्थूल दृष्टिसे कुशूलपर्यायसे अव्यवहित पूर्वकी कोशपर्याय परम्परया पर्यायार्थिक निश्चयनयका अथवा उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय सिद्ध होती है। सम्भवतः उत्तरपक्षको यह बात भी मान्य होगी।

(छ) पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उक्त कार्यकी उत्पत्तिमें कार्यरूप परिणत होनेवाली वस्तुके कार्यरूप परिणत होनेके अवसरपर बाह्य सामग्री भी सहायक होने रूपसे कारण सिद्ध होती है जो असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। इसमें भी साक्षात् और परम्परया कारणताका भेद पाया जाता है। अतः जो साक्षात् कारण हो वह तो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय है और जो परम्परया कारण हो वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। इस व्यवस्थाको घटोत्पत्तिमें इस प्रकार समन्वित किया जा सकता है कि उस घटोत्पत्तिमें मिट्टीकी तरह कुम्भकार, चक्र, दण्ड आदि भी कारण होते हैं। उनमेंसे मिट्टी घटरूप परिणत होनेके आधारपर कारण होती है और कुम्भकार, चक्र, दण्ड आदि उनमें सहायक होनेके आधारपर कारण होते हैं। इन कुम्भकार आदि कारणोंमें भी कुम्भकार सहायक होने रूपसे साक्षात् कारण होता है और चक्र, दण्ड आदि सहायक होने रूपसे परम्परया कारण होते हैं। अतः कुम्भकार तो अनुपचरित और असद्भूत व्यवहारनयका विषय है और चक्र, दण्ड आदि उपचरित असद्भूत व्यवहारनयके विषय हैं। यतः उक्त कार्यकी उत्पत्तिमें उत्तरपक्ष बाह्य सामग्रीको सहायक होने रूपसे कारण नहीं मानता है केवल कार्योत्पत्तिके अवसरपर उसकी उपस्थिति मात्र स्वीकार करता है अतः उसकी असद्भूत कारणताको वह कल्पनारोपित मात्र मानता है। दोनों पक्षोंका यही मतभेद है। इनमेंसे पूर्वपक्षकी मान्यता आगमसम्मत है परन्तु उत्तरपक्षकी मान्यता आगमसम्मत नहीं है। इसे भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

इस विवेचनका निष्कर्ष यह है कि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनोंके मध्य कार्योत्पत्तिके विषयमें कार्यरूप परिणत होनेवाली वस्तुमें द्रव्यरूप उपादान कारणताको स्वीकार करने और उसे द्रव्यार्थिक निश्चयनय

का विषय माननेमें कोई विवाद नहीं है। इसी प्रकार कार्यरूप परिणत होनेवाली वस्तुकी पर्यायोंमें अभेद-विवक्षासे उपादानकारणताको स्वीकार करने और उन्हें पर्यायार्थिक निश्चयनयका विषय माननेमें तथा उन पर्यायोंमें भेदविवक्षासे सद्भूतव्यवहारकारणताको स्वीकार करने और उन्हें उपर्युक्त प्रकार अनुपचरित और उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय माननेमें भी कोई विवाद नहीं है। इसी तरह दोनों पक्षोंके मध्य बाह्य वस्तुमें निमित्तकारणताको उपर्युक्त प्रकार यथायोग्य अनुपचरित और उपचरित कारणताके रूपमें स्वीकार करने और उन्हें यथायोग्य अनुपचरित और उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय स्वीकार करनेमें भी कोई विवाद नहीं उठता। केवल विवाद इस बातमें है कि जहाँ पूर्वपक्ष बाह्य सामग्रीका कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण मानकर उसी कार्यकारिताके आधारपर स्वीकृत निमित्तकारणताको असद्भूत व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उस बाह्य सामग्रीको कार्योत्पत्ति-में सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्तकारण मानकर इसी अकिंचित्करताके आधारपर स्वीकृत निमित्तकारणताको असद्भूत व्यवहारनयका विषय मानता है।

इस प्रकार जहाँ पूर्वपक्षकी मान्यतामें असद्भूत व्यवहारनयका विषय उपर्युक्त प्रकारकी कार्यकारिता-के आधारपर आगमके अनुसार परमार्थ, वास्तविक या सत्य सिद्ध होता है वहाँ उत्तरपक्षकी मान्यतामें असद्भूत व्यवहारनयका विषय उपर्युक्त प्रकारकी अकिंचित्करताके आधारपर आगमसे विरुद्ध आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र सिद्ध होता है। यह सब पूर्वमें भी कहा जा चुका है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य "कुम्भकार घटका कर्त्ता है" इस कथनको असद्भूत व्यवहारनयका कथन माननेमें विवाद नहीं है। विवाद दोनों पक्षोंके मध्य केवल यह है कि "कुम्भकार घट-का कर्त्ता है" यह कथन असद्भूत व्यवहारनयका विषय होकर उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार जहाँ अपने ढंगसे आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र सिद्ध होता है वहाँ पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार वह अपने ढंगसे परमार्थ, वास्तविक और सत्य सिद्ध होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें पूर्वपक्षपर जो आरोप लगाये हैं वे युक्त नहीं हैं।

उत्तरपक्षने इसी वक्तव्यमें जो यह बतलाया है कि कुम्भकार यद्यपि घटका कर्त्ता नहीं होता, तथापि उसे घटका कर्त्ता कहनेसे इष्टार्थ अर्थात् निश्चयार्थका ज्ञान हो जाया करता है। इसके सम्बन्धमें मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस कथनसे इष्टार्थका बोध किस आधारपर होता है? इसपर उत्तरपक्षने विचार नहीं किया, क्योंकि इस कथनसे इष्टार्थका बोध, तभी संभव है जब कुम्भकारको घटोत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण माना जाये, अन्यथा नहीं। अतः इस प्रकार घटोत्पत्तिमें घटरूप परिणत होने रूपसे निश्चय-कारणभूत मिट्टी परमार्थ कारण है उसी प्रकार वहाँपर उस मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे असद्भूत व्यवहारकारणभूत कुम्भकार भी परमार्थ कारण है अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह वह वहाँपर कल्पनारोपित या कथनमात्र कारण नहीं। इसपर यदि उत्तरपक्ष यह कहना चाहे कि घटोत्पत्तिमें असद्भूत व्यवहारकारणभूत कुम्भकारको कल्पनारोपित इसलिए नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह मिट्टीकी इष्टार्थ-भूत निश्चयकारणताका बोध कराता है तो इस विषयमें हमारा कहना है कि वह मिट्टीकी इष्टार्थ-भूत निश्चयकारणताका बोध किस रूपमें कराता है, इसका स्पष्टीकरण उत्तरपक्षको करना चाहिए था। दूसरे, उत्तरपक्षकी दृष्टिमें कुम्भकार जब मिट्टीकी घटरूप परिणतिके होनेमें सर्वथा अकिंचित्कर बना रहता है तो किस आधारपर वह मिट्टीकी इष्टार्थभूत निश्चयकारणताका बोध कराता है, इसका स्पष्टीकरण उसे

करना चाहिए था और तीसरे, यह प्रश्न भी होता है कि उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार जब कुम्भकार घटोत्पत्तिके प्रति मिट्टीकी निश्चयकारणताका बोध कराता है तो फिर उसे वहाँपर सर्वथा अकिंचित्कर कैसे कहता है ?

आश्चर्य है कि उत्तरपक्ष आगमके तथ्य और पूर्वपक्षकी दृष्टिपर ध्यान न देकर केवल अपने पूर्वाग्रहपर ही तत्त्वचर्चामें प्रवृत्त हुआ है, उसकी दृष्टि अणुमात्र भी तत्त्व फलित करनेकी नहीं रही है।

कथन ३२ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने सहकारी कारणके लक्षणके प्रसंगमें त० च० पृ० ५२ पर आचार्य विद्यानंदके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ के निम्न वचनको उद्धृत किया है—

"यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति।"

इसका अर्थ भी उसने यह किया है कि "जो जिसके अनन्तर नियमसे होता है वह उसका सहकारी कारण है दूसरा कार्य है"।

उक्त वचनका उत्तरपक्ष द्वारा किया गया यह अर्थ असंगत है, क्योंकि सहकारी कारणके सद्भावमें भी बाधक कारणके उपस्थित हो जानेपर अथवा विवक्षित वस्तुमें कार्यकी उपादान शक्तिका अभाव रहनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे त्रयोदश गुणस्थान के प्रथम समयमें मोक्षमार्गकी पूर्णता हो जानेपर भी बाधक कारणभूत योग और अघातिया कर्मोंका सद्भाव रहनेके कारण जीवको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। तथा कुंभकारके घटानुकूल व्यापाररूप सहायक कारणके सद्भावमें भी उपादानशक्तिरहित बालू मिश्रित मिट्टीसे घटोत्पत्ति नहीं होती है। अतः उक्त वचनका अर्थ यह करना चाहिए कि जिसके अनन्तर ही जो नियमसे होता है वह उसका सहकारी कारण है और दूसरा कार्य है"। उक्त वचनका ऐसा अर्थ करनेसे एक तो उपर्युक्त दोनों प्रकारके दोषोंका निराकरण हो जाता है, दूसरे उस वचनमें विद्यमान 'हि' शब्दकी इससे सार्थकता सिद्ध हो जाती है जबकि उत्तरपक्ष द्वारा किये गये अर्थसे उक्त वचनमें विद्यमान 'हि' शब्द निरर्थक ठहरता है।

आगे उत्तरपक्षने लिखा है—"इसका तात्पर्य यह है कि जब जो कार्य होता है तब उसका जो सहकारी कारण कहा गया है वह नियमसे रहता है ऐसी इन दोनोंमें कालप्रत्यासत्ति है। यह यथार्थ है अर्थात् उस समय विवक्षित कार्यका होना भी यथार्थ है और जिसमें सहकारी कारणया स्थापित की गई है उसका होना भी यथार्थ है यह इन दोनोंकी कालप्रत्यासत्ति है"।

उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यसे यह सूचित करनेका प्रयत्न किया है कि कार्योत्पत्तिके अवसरपर उसका सहकारी कारण भी वहाँ उपस्थित रहता है। इससे वह यह बतलाना चाहता है कि कार्योत्पत्तिके अवसरपर सहकारी कारणके उपस्थित रहनेपर भी उसका कार्योत्पत्तिमें कोई उपयोग नहीं होता है। उत्तरपक्षका यह दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है, क्योंकि हम पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं कि अष्टसहस्री पृ० १०५ पर निर्दिष्ट अष्टशतीके वचनानुसार बाह्यवस्तुमें कार्यके प्रति सहकारीकारणताका व्यवहार करनेके लिए उस बाह्यवस्तुकी उस कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे कार्यकारिताको स्वीकार करना परम आवश्यक है। अष्टशतीका वह वचन निम्न प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?"

4542
नरिया (का. हि. वि. वि.)

शंका-समाधान १ की समीक्षा

अर्थ—उसकी (उपादानकारणभूत वस्तुकी) कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य (अशक्ति) का खण्डन न करते हुए बाह्यवस्तु वहांपर यदि अकिंचित्कर ही बनी रहती है तो क्या उसे सहकारीकारण कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

यतः तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीके रचयिता आचार्य विद्यानंद ही हैं अतः अष्टसहस्रीमें निर्दिष्ट होनेके कारण उनके द्वारा मान्य अष्टशतीके उक्त वचनका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त वचनके साथ सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उसका (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त वचनका) तदनुकूल अर्थ ही ग्रहण करना उचित है। इस कथनसे यह निर्णीत होता है कि उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणति होनेके अवसरपर सहायक कही जानेवाली वस्तुकी केवल उपस्थिति दोनोंकी कालप्रत्यासत्ति नहीं है प्रत्युत उस वस्तुका उपादान कारणभूत वस्तुको कार्यरूप परिणत होनेके लिए समर्थ बना देना ही दोनोंकी कालप्रत्यासत्ति है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बाह्यवस्तु उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे ही कार्यकारी होती है, वह सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर नहीं रहती है।

तात्पर्य यह है कि सहकारीकारणभूत द्रव्यकर्मोदयके होनेपर उपादानकारणभूत संसारी आत्मा अपनी रागादिरूप परिणत न हो सकने रूप असामर्थ्यको नष्ट कर विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण रूप परिणत होता है अर्थात् कार्यकी उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) विशिष्ट संसारी आत्मा द्रव्यकर्मोदयकी सहायता प्राप्त होनेपर ही रागादि रूप परिणत होता है और संसार परिभ्रमण किया करता है। और यदि कर्मोदयका अभाव हो जावे तो वह न तो रागादिरूप परिणत हो सकता है और न संसार परिभ्रमण कर सकता है। यही कारण है कि जिनागममें जीवोंको द्रव्यकर्मोदयकी समाप्ति करनेका उपदेश दिया गया है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि सहकारी कारण होनेसे द्रव्यकर्मोदयका प्रवेश संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण रूप कार्यमें प्रसक्त हो जायेगा, क्योंकि कार्यमें उपादान कारणके ही प्रवेशका नियम है, सहकारी कारणके प्रवेशका नहीं। इस सम्बन्धमें हम पहले भी काफी प्रकाश डाल चुके हैं।

यही कारण है कि कुम्भकारके घटानुकूल व्यापारके विना उपादानकारणभूत मिट्टी कभी घटरूप परिणत नहीं हो सकती है। अतएव कुम्भकार स्वयं अथवा अन्यकी प्रेरणासे जब घटानुकूल व्यापार करनेमें प्रवृत्त होता है तभी मृत्तिका घटरूप परिणत होती है।

इस प्रकार उत्तरपक्षका ऐसा मानना भ्रान्तिपूर्ण है कि जब मिट्टी अपना परिणमन घटरूप करनेके लिये उद्यत होती है तब कुम्भकार भी अपना तदनुकूल व्यापार करनेमें प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत यही सम्यक् है कि जब कुम्भकार अपना व्यापार घटोत्पत्तिके अनुकूल करता है तभी उपादान कारणभूत मिट्टी अपना घटरूप परिणमन किया करती है।

आगे उत्तरपक्षने लिखा है—"किन्तु इसके स्थानमें उक्त कथनका यदि यह अर्थ किया जाये कि जिसे सहकारी कारण कहा गया है वह अपने व्यापार द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न करता है तो उक्त कथनका ऐसा अर्थ करना यथार्थ न होकर उपचरित ही होगा"। सो उत्तरपक्षके इस कथनको पूर्वपक्ष भी मानता है। परन्तु उत्तरपक्ष जहाँ उस उपचारको आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कल्पनारोपित मात्र न मानकर सहायककारणताके आधारपर परमार्थ, वास्तविक व सत्य मानता है। उत्तरपक्षके उस उपचारको कल्पनारोपित माननेका कारण यह है कि वह सहायक कारणको कार्योत्पत्तिमें

सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर ही मानता है और पूर्वपक्ष उस उपचारको परमार्थ, वास्तविक व सत्य इसलिए मानता है क्योंकि वह सहायक कारण कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी है। और चूँकि सहायक कारण कार्योत्पत्तिमें उपादान कारणसे भिन्न निमित्तकारणभूत वस्तु रूप होता है। अतः "पराश्रितो व्यवहारः" इस आगमवचनके अनुसार वह कथंचित् असद्भूत व्यवहारनयका विषय होता है, सर्वथा काल्पनिकताके रूपमें असद्भूत व्यवहारनयका विषय नहीं।

आगे इसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है—"आचार्यने सहकारी कारणका लक्षण करते हुए जो वाक्यरचना निबद्ध की है थोड़ा उसपर दृष्टिपात कीजिए। वे सहकारी कारणका यह लक्षण नहीं लिख रहे हैं कि जिसका व्यापार जिसे उत्पन्न करता है वह सहकारी कारण है, किन्तु इसके स्थानपर वह यह लिख रहे हैं कि जिसके अनन्तर जो नियमसे होता है वह सहकारी कारण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य सामग्रीका व्यापार अन्य द्रव्यमें कार्यको उत्पन्न नहीं करता। यदि उसे अन्य द्रव्यके कार्यका सहकारी कारण कहा भी गया है तो केवल इसलिये कि उसके अनन्तर अन्य द्रव्यका वह कार्य नियमसे होता है"। इसकी समीक्षा निम्नप्रकार है—

यह ठीक है कि आचार्य विद्यानन्दने सहकारीकारणके लक्षणके विषयमें यह नहीं लिखा है कि जिसका व्यापार जिसे उत्पन्न करता है वह सहकारी कारण है क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्षकी मान्यतामें भी सहकारी कारण अन्य द्रव्यके कार्यको त्रिकालमें उत्पन्न नहीं कर सकता है। परन्तु यह अवश्य है कि वह अन्य द्रव्यके कार्यमें सहायक नियमसे होता है। अतः पूर्वपक्षकी मान्यता आगमसम्मत है। किन्तु उत्तरपक्षकी मान्यता आगमसम्मत नहीं है। इसे पूर्वमें विस्तारसे स्पष्ट किया जा चुका है। पूर्वमें यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त वचनका यह अर्थ नहीं है कि "जिसके अनन्तर जो नियमसे होता है वह उसका सहकारी कारण है" प्रत्युत उसका अर्थ यह है कि जिसके अन्तर ही जो नियमसे होता है वह उसका सहकारी कारण है। इससे यह निर्णीत होता है कि सहकारी कारणके सद्भावमें उसकी सहायतासे ही कार्य होता है। वह न तो सहकारी कारणके अभावमें होता है और न उसकी सहायताके बिना होता है। इस तरह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त कथनमें पठित 'अनन्तर' शब्दका यही अभिप्राय लेना चाहिए कि सहकारी कारणके सद्भावमें उसकी सहायतासे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। इसलिये उत्तरपक्षका यह दृष्टिकोण कि "कार्य सहकारी कारणकी सहायताके बिना अपने आप ही हो जाया करता है" असंगत है।

आगे त० च० पृ० ५२ पर उत्तरपक्षने लिखा है—"समयसारकलशमें जो 'न जातु' इत्यादि कलश निबद्ध किया है वह भी इसी अभिप्रायसे निबद्ध किया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमाता नहीं" सो उसमें पूर्वपक्षको विवाद नहीं है। इसके भी आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "इसमें आया हुआ 'परसंग' पद ध्यान देने योग्य है। अपने रागरूप परिणामके कारण आत्मा परकी संगति अर्थात् परमें राग बुद्धि करता है और इसीलिये उसे परके संयोगमें सुख-दुःखादि रूप फलका भागी होना पड़ता है, उससे वह बच जाये। स्पष्ट है कि यहाँ परको सुख-दुःखादि रूप परिणमानेवाला नहीं कहा गया है। किन्तु परकी संगति करने रूप अपने अपराधको ही सुख-दुःखादिका मूल हेतु कहा गया है"। सो इसमें भी पूर्वपक्षको विवाद नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी परको जीवके सुख-दुःखादिका कर्त्ता नहीं मानता है। पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि परका संयोग जीवकी सुख-दुःखादि रूप परिणतिमें निमित्त (सहायक) मात्र होता है। आगमका भी यही अभिप्राय है।

प्रश्न केवल यह है कि परसंगरूप निमित्तकारण आत्माकी विकारपरिणतिरूप कार्यमें सहायक रूपसे किंचित्कर है या सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर है ? इसका समाधान खोजनेपर यही मिलता है कि जीवकी सुख-दुःखादि परिणति परके संयोगका निमित्त मिलनेपर ही होती है । यही नहीं, जीवकी रागादिरूप परिणति भी द्रव्यकर्मोदयके साथ परका संयोग पाकर हुआ करती है । जीव कर्मोदयके विना और परकी संगतिके बिना अपने आप अर्थात् स्वभावसे ही रागादिरूप परिणत नहीं होता है । यही कारण है कि जीवकी रागादिरूप परिणतिको स्वभाव परिणति न मानकर विभाव परिणति ही आगममें माना गया है । अतः 'न जातु' इत्यादि कलशसे उत्तरपक्ष जो यह सिद्ध करना चाहता है कि जीव परकी सहायताके बिना अपने आप ही सुख-दुखादिरूप या रागादिरूप परिणति करता रहता है सो उसका यह प्रयत्न निरर्थक ही है । एक बात यह भी है कि अचेतन मिट्टीकी जो घटादिरूप परिणति होती है वह कुम्भकारकी सहायताके बिना नहीं होती । इसलिये उत्तरपक्षको यह विचार करना है कि मिट्टी कुम्भकारका संग करके घटरूप परिणत होती है या कुम्भकारका संग होनेपर वह घटरूप परिणत होती है । पहला विकल्प तो मिट्टीके अचेतन होनेके कारण संगत नहीं हो सकता है, दूसरा विकल्प ही संगत हो सकता है । लेकिन ऐसा स्वीकार कर लेनेपर उत्तरपक्षको मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें कुम्भकारको सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानना अनिवार्य हो जाता है । उसे तथा तत्त्वजिज्ञासुओंको इसपर गम्भीरताके साथ विचार करना चाहिए ।

आगे त० च० पृ० ५२ पर ही उत्तरपक्ष ने "जीवपरिणामहेदुं" से लेकर "कोई किसी दूसरेके परिणामका वास्तविक कर्त्ता नहीं है" यहाँ तक जो कुछ लिखा है वह निर्विवाद है । परन्तु उसने जो यह लिखा है कि "फिर भी यदि अपरपक्ष सहकारी कारणका यह अर्थ करता है कि वह दूसरे द्रव्यकी क्रियाको सहायक रूपमें करता है तो उसे अपने इस सदोष विचारके संशोधनके लिये समयसारगाथा ८५–८६ पर दृष्टिपात करना चाहिए ।" इस विषयमें हमारा कहना है कि समयसार गाथा ८५-८६ का अभिप्राय यह है कि यदि जीवको अपने भावों और पुद्गलके भावों (परिणामों) का वास्तविक कर्त्ता माना जाता है तो उसमें परकी और अपनी दोनों क्रियाओंको करनेकी प्रसक्ति होती है, जो आगम और अनुभवके प्रतिकूल है । इसलिये ऐसा मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है । इस तरह समयसारकी ८५-८६ गाथाएँ एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यके वास्तविक (निश्चय) कर्तृत्वका ही निषेध करती हैं, सहायकरूप उपचरितकर्तृत्वका नहीं, क्योंकि एक द्रव्य अपनी क्रियाको करता हुआ भी दूसरे द्रव्यकी क्रियामें सहायक हो सकता है, इसमें आगम, अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे कुछ भी विरोध नहीं है और न यह लोकव्यवहारके ही विरुद्ध है । अतः उत्तरपक्ष द्वारा ऊपर "फिर भी यदि" इत्यादिके रूपमें जो कुछ लिखा गया है वह निरर्थक है तथा उसके आगे उसने और लिखा है कि "यदि वह उसका कालप्रत्यासत्तिवश "यदनन्तरं यद्भवति" इतना ही अर्थ करता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं । ऐसा अर्थ करना आगमसम्मत है" सो इसके विषयमें भी हमारा कहना यह है कि सहायक कारणकी कार्यके साथ कालप्रत्यासत्तिका केवल इतना ही रूप नहीं है कि कार्य सहायक कारणके सद्भावमें होता है, प्रत्युत उसका रूप यह है कि कार्य सहायक कारणके सद्भावमें उसकी सहायतासे हुआ करता है, क्योंकि कालप्रत्यासत्तिका कार्योत्पत्तिके अवसरपर सहायक कारणका केवल सद्भाव अर्थ करनेसे एक तो "तदसामर्थ्यमखण्डयत्" इत्यादि आगम प्रमाणसे विरोध आता है । दूसरे, कार्योत्पत्तिके अवसरपर विद्यमान सहायक कारणसे अतिरिक्त अन्य वस्तुओंकी भी कार्यके साथ कालप्रत्यासत्ति स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित होता है और तीसरे, कालप्रत्यासत्तिका केवल सद्भाव अर्थ स्वीका

करनेसे सहायक कारणको सहायक कारण कहना भी असंगत हो जाता है। उत्तरपक्षके सामने ये सब समस्यायें हैं, जिनका समाधान उसके लिये संभव नहीं है।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५३ पर जो यह लिखा है कि "जीवम्हि हेदुभूदे" इत्यादि गाथामें आया हुआ "उवयारमत्तेण" पद असद्भूत अर्थका सूचक है। सो इसमें भी पूर्वपक्षको विवाद नहीं है। परन्तु उसने आलापपद्धतिके आधारपर जो असद्भूत व्यवहारको कल्पनारोपित मात्र सिद्ध करनेका प्रयास किया है उसका निराकरण पूर्वमें ही किया जा चुका है।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५३ पर ही लिखा है कि "परद्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक निमित्त नहीं और न वह कार्य उसका निमित्तिक है। यह व्यवहार है जो असद्भूत है। यही बात "उवयार-मत्तेण" इस पद द्वारा सूचित की गई है" सो उसके द्वारा निमित्तिता और नैमित्तकताको जो असदभूत व्यवहार माना गया है वह तो ठीक है, परन्तु निमित्तता और नैमित्तकता ये दोनों सहाय्य-सहायक भावके रूपमें वास्तविक ही हैं, कल्पनारोपित मात्र नहीं हैं।

कथन ३३ और उसकी समीक्षा

पूर्वपक्षने सहकारीकारणकी कार्यके प्रति कार्यकारिताकी सिद्धिके लिये त० च० पृ० १८ पर अष्टसहस्री पृष्ठ १०५ पर निर्दिष्ट अष्टशतीके निम्नलिखित वचनको उद्धृत किया है—

'तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?'

इसका अर्थ उसने यह किया है कि "उसकी अर्थात् उपादानकी असामर्थ्यका खण्डन नहीं करते हुए सहकारी कारण यदि अकिंचित्कर ही बना रहता है तो उसे सहकारी कारण कहा जा सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है। सो इस पर विचार करते हुए उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५३ पर यह कथन किया है—"मीमांसादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य मानकर सहकारी कारणसे ध्वनिकी प्रसिद्धि मानता है और फिर भी यह कहता है कि इससे शब्द अविकृत रूपसे नित्य ही बना रहता है। अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० १०५) का "तदसामर्थ्यमखण्डयत्" इत्यादि वचन इसी प्रसंगमें आया है। इस द्वारा भट्टाकलंकदेवने मीमांसादर्शनपर दोषका आपादन किया है। इस द्वारा जैन दर्शनके सिद्धांतका उद्घाटन किया है, ऐसा यदि अपरपक्ष समझता है तो इसे हम उस पक्षकी भ्रमपूर्ण स्थिति ही मानेंगे। हमें इसका दुःख है कि उसकी ओरसे अपने पक्षके समर्थनमें ऐसे वचनोंका भी उपयोग किया गया है।" इसकी समीक्षा निम्न प्रकार है—

भट्टाकलंकदेवने अपने ग्रन्थ अष्टशतीमें "तदसामर्थ्यमखण्डयत्" इत्यादि वचनका निर्देश मीमांसा-दर्शन द्वारा शब्दको सर्वथा नित्य मानकर सहकारी कारणसे ध्वनिकी प्रसिद्धि किये जानेपर दोषका आपादान करनेके लिये किया है। परन्तु इससे सहकारी कारणकी कार्यके प्रति पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत कार्यकारिताकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं आती है। यदि उत्तरपक्षको इसमें कोई बाधा समझमें आई थी तो उसे उसका स्पष्ट निर्देश करना चाहिए था। वास्तवमें भट्टाकलंकदेवका आशय उक्त कथन करनेमें यह है कि मीमांसा-दर्शनमें एक ओर तो शब्दको सर्वथा नित्य मानकर सहकारी कारणसे ध्वनिकी प्रसिद्धि की गई है और दूसरी ओर ऐसी स्थितिमें भी शब्दको अविकृत रूपसे नित्य ही स्वीकार किया गया है, जो असंभव है, क्योंकि भट्टाकलंकदेवके कथनानुसार यदि सहकारी कारण शब्दकी ध्वनि रूपसे परिणत न हो सकने रूप असामर्थ्यका खण्डन नहीं करता है—वह वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है तो उसे सहकारी कारण नहीं कहा

जा सकता है। इस तरह इससे जहाँ एक ओर मीमांसा दर्शनके प्रति दोषका आपादन होता है वहीं दूसरी ओर इससे जैन दर्शनके सिद्धान्तका उद्घाटन भी हो जाता है। अतः भ्रमपूर्ण स्थिति पूर्वपक्षकी न होकर उत्तरपक्षकी ही हो रही है। उत्तरपक्ष उक्त वचन के विषयमें इस तथ्यको समझ ले तो उसकी वह भ्रमपूर्ण स्थिति समाप्त हो जायेगी तथा पूर्वपक्षके प्रति दुःख प्रगट करनेकी उसे कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

उत्तरपक्षका कहना है कि अष्टशतीके उक्त वचनसे जैन दर्शनके सिद्धांतका उद्घाटन नहीं होता है, क्योंकि उसका यह भ्रम बना हुआ है कि जैन दर्शन सहकारी कारणको कार्यके प्रति अकिंचित्कर ही स्वीकार करता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि जैन दर्शनमें सहकारी कारणको कार्योत्पत्तिके प्रति कार्यकारी स्वीकार किया गया है। यह हम प्रमेयकमलमार्तण्ड (२-१, पृ० १८७) के उद्धरण द्वारा पूर्वमें विशेषरूपसे स्पष्ट कर आये हैं और उसका अर्थ भी वहाँपर दिया गया है।

तात्पर्य यह कि प्रमेयकमलमार्तण्डका वह कथन सहकारी कारणको कार्योत्पत्तिके प्रति स्पष्ट रूपसे कार्यकारी सिद्ध करता है। पूर्वपक्षने त० च० पृ० ४०६ पर भी प्रमेयकमलमार्तण्डके उस उद्धरणको दिया है तथा स्वयं उत्तरपक्षने भी त० च० पृ० ३८५ पर उसे दिया है। पूर्वपक्षने त० च० में सर्वत्र ऐसे बहुतसे आगमप्रमाणोंके उद्धरण दिये हैं, जिनसे कार्योत्पत्तिके प्रति सहकारी कारणकी कार्यकारिता ही सिद्ध होती है। अतः उत्तरपक्षका सहकारी कारणको कार्यके प्रति सर्वथा अकिंचित्कर मानना असंगत है। उत्तरपक्षको पूर्वाग्रहका परित्याग करके तटस्थ भावसे वस्तुस्थितिपर विचार करना चाहिए।

उत्तरपक्षने उक्त अनुच्छेदमें आगे यह लिखा है कि "सर्वथा नित्यवादी मीमांसक यदि शब्दको सर्वथा नित्य मानता रहे, फिर भी वह उसमें ध्वनि आदि कार्यकी प्रसिद्धि सहकारी कारणोंसे माने और ऐसा होनेपर भी वह शब्दोंमें विकृतिको स्वीकार न करे तो उसके लिये यही दोष तो दिया जायेगा कि सहकारी कारणोंने उसकी सामर्थ्यका यदि खण्डन नहीं किया तो उन्होंने ध्वनि कार्य किया यह कैसे कहा जा सकता है, वे तो अकिंचित्कर ही बने रहे। स्पष्ट है कि इससे अपरपक्षके अभिप्रायकी अणु मात्र भी पुष्टि नहीं होती।"

मालूम पड़ता है कि उत्तरपक्षने ऐसा कहते समय प्रकृतका गहराईसे विचार नहीं किया है, क्योंकि उसके कथनसे ही स्पष्ट है कि शब्दोंमें ध्वनि कार्यकी प्रसिद्धिके प्रति सहकारी कारण अकिंचित्कर नहीं बने रहते हैं, अपितु उनके सहयोगसे ध्वनि रूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट शब्द ध्वनि रूप परिणत होनेमें समर्थ होते हैं। अन्यथा उन्हें सहकारी कारण नहीं कहा जा सकता है। उत्तरपक्षके इस वक्तव्यसे सहकारी कारणोंकी कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे कार्यकारिता स्पष्ट सिद्ध होती है। अतएव उसका यह लिखना असंगत है कि "स्पष्ट है कि इससे अपरपक्षके अभिप्रायकी अणु मात्र भी पुष्टि नहीं होती है"। जबकि उसके ही अभिप्रायकी पुष्टि होती है।

उत्तरपक्षने वहीं यह लिखा है कि "सहकारी कारणोंने उसकी सामर्थ्यका यदि खण्डन नहीं किया तो उन्होंने ध्वनि कार्य किया यह कैसे कहा जा सकता है"? सो इसमें जो उसने 'असामर्थ्य' शब्दके स्थानमें 'सामर्थ्य' शब्दका परिवर्तन किया है वह उसकी अनवधानताका सूचक है, क्योंकि अष्टशतीके उक्त वचनमें 'सामर्थ्य' शब्दका पाठ न होकर 'असामर्थ्य' शब्दका ही पाठ है और वही प्रकृतसंगत है। यदि उत्तरपक्षने 'असामर्थ्य' शब्दके स्थानमें 'सामर्थ्य' शब्दका प्रयोग बुद्धिपूर्वक किया है तो वह उसका छल है क्योंकि जैन सिद्धान्तके अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तुकी सामर्थ्यका खण्डन कभी नहीं कर सकती है। जिनागममें सहकारी कारणसे उपादान (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट वस्तु) के सामर्थ्यका खण्डन होना नहीं बतलाया है, अपितु उसकी

असामर्थ्यका खण्डन होना ही बतलाया गया है। अष्टशतीके उक्त वचन तथा अन्य आगम प्रमाणोंसे यही अवगत होता है कि सहकारीरूप वस्तु किसी दूसरी कार्यरूप परिणत होनेवाली उपादानरूप वस्तुकी कार्यरूप परिणत न हो सकनेरूप असमार्थ्यका ही खण्डन करती है, न कि उसकी सामर्थ्यका। तात्पर्य यह है कि उपादान शक्ति (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) विशिष्ट वस्तु जो कार्यरूप परिणत होनेमें असमर्थ रहती है उसकी उस असमर्थताका खण्डन करके सहकारी कारण उसे कार्यरूप परिणत होनेके लिये समर्थ बना देता है। जैसे चलनेकी योग्यता विशिष्ट पंगु मनुष्य तभी गमन कर सकता है जब उसे लाठीका सहारा मिल जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि लाठी उस पंगु व्यक्तिको चलनेकी योग्यताका खण्डन कर देती है तथा ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि सहकारी कारण उपादान शक्तिसे रहित वस्तुमें उस उपादान शक्तिको उत्पन्न कर देता है। जैसे चलनेकी योग्यता रहित छोटा शिशु लाठीका सहारा मिल जानेपर भी गमन नहीं कर सकता है। इस प्रकार सहकारी कारणका कार्य न तो विवक्षित उपादान शक्तिसे रहित वस्तुमें उपादान शक्तिको उत्पन्न करना है और न विवक्षित उपादान शक्ति विशिष्ट वस्तुकी उस उपादान शक्तिको समाप्त करना है, केवल विवक्षित उपादान शक्ति विशिष्ट वस्तुको कार्यक्षम बनाना ही सहकारी कारणका कार्य है। इसका आशय यह है कि सहकारी कारणका सहयोग प्राप्त होनेपर ही उपादान कारणभूत वस्तु कार्यरूप परिणत होती है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५३ पर आगे लिखा है कि "अपरपक्षने अष्टशतीके उक्त वचनमें आये हुए 'तत्' शब्दका अर्थ 'उपादान' जान-बूझकर किया है जबकि उसका अर्थ 'सर्वथा नित्य शब्द' है। यह सूचना हमने बुद्धिपूर्वक की है और इस अभिप्रायसे की है कि जैनदर्शनमें उपादानका अर्थ 'नित्यानित्य वस्तु' किया गया है किन्तु मीमांसा दर्शन शब्दको ऐसा नहीं स्वीकार करता" सो उत्तरपक्षके इस कथनमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु अष्टशतीके 'तत्' शब्दका अर्थ "सर्वथा नित्य शब्द" होनेपर भी प्रकरणवश उसका वहाँ उपादान अर्थ करना असंगत नहीं है, भले ही मीमांसक ध्वनिकी अपेक्षा उपादान कारणभूत शब्दको सर्वथा नित्य माने व जैन सभी उपादान कारणभूत वस्तुओंको नित्यानित्य माने। इतना अवश्य है कि वस्तुको सर्वथा नित्य माननेसे उसका कार्यरूप परिणत होना असंभव है। नित्यानित्य माननेसे ही वस्तु सहकारी कारणका सहयोग प्राप्त होनेपर कार्यरूप परिणत हो सकती है। वस्तुतः यहाँ 'सहकारी कारण' के प्रयोगसे तत् शब्दसे 'उपादान कारण' का ग्रहण ही अभीष्ट है। इस तरह पूर्वपक्षने प्रकरणवश "तत्" शब्दका यदि उपादान अर्थ किया तो इससे जैन सिद्धान्तका विघात नहीं होता है।

कथन ३४ और उनकी समीक्षा

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५३ पर ही लिखा है—"अपरपक्षने समयसार गाथा १०५ की आत्मख्याति टीकाको उपस्थित कर जो अपने विचारोंकी पुष्टि करनी चाही है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त टीकाके अन्तमें आये हुए "स तु उपचारं एव न तु परमार्थः" इस पदका अर्थ है—वह विकल्प तो उपचार ही है अर्थात् उपचरित अर्थको विषय करनेवाला ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् यथार्थ अर्थको विषय करनेवाला नहीं है"।

ऊपर उत्तरपक्षने पूर्वपक्ष द्वारा किये गये समयसारगाथा १०५ की आत्मख्याति टीकाके उल्लिखित अर्थके विषयमें गलत चित्रण किया है। उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें जो लिखा है कि "टीकामें आये हुए "स

तु उपचार एव न तु परमार्थः" इस पदका अर्थ है—वह विकल्प तो उपचार ही है अर्थात् उपचरित अर्थको विषय करने वाला ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् यथार्थ अर्थको विषय करने वाला नहीं है"। उसमें उत्तरपक्षने "स तूपचार एव न तु परमार्थः" इस पदका अर्थ करते हुए यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि इसमें आये हुए "सः" पदका अर्थ "वह विकल्प" ही स्वीकार करना उचित है। इस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि पूर्वपक्षने "स तूपचार एव न तु परमार्थः" इस पदका अर्थ करते हुए "सः" पदका "आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना यह अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त और अभिप्राय नहीं लिया जा सकता है। इसी तरह पूर्वपक्षने "स तूपचार एव" इस संपूर्ण पदका जो "आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना यह उपचार ही है अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षासे ही है" यह अर्थ किया है, इससे वह यह बताना चाहता है कि यतः उपचारकी प्रवृत्ति आलापपद्धतिके वचनके[1] अनुसार मुख्यके अभाव और निमित्त तथा प्रयोजनके सद्भावमें ही हुआ करती है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि आत्माको जो उपचारसे पुद्गल कर्मका कर्त्ता कहा गया है वह इसलिए कि एक तो आत्मा स्वयं (आप) पुद्गलकर्मरूप परिणत नहीं होता। दूसरे, वह जब तक अपना अज्ञानरूप परिणमन करता रहता है तब तक वह पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें सहायक हुआ करता है, जो इस बातको सिद्ध करता है कि उपचार केवल आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र न होकर निमित्त-नैमित्तिक भावकी वास्तविकताके आधारपर परमार्थ, वास्तविक और सत्य है। इस तरह उत्तरपक्षने त० च पृ० ५३ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त अनुच्छेदमें ही आगे जो यह लिखा है कि "हमें आश्चर्य है कि अपरपक्षने उक्त वाक्यके प्रारम्भमें आये हुए "सः" पदका अर्थ "विकल्प" न करके "आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना" यह अर्थ कैसे कर लिया"। सो यह उसने पूर्वपक्षके अभिप्रायको न समझ गलत समझा है, जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है। इसी तरह उसने इसी अनुच्छेदमें आगे जो यह लिखा है कि "निमित्त व्यवहार और नैमित्तिक व्यवहार उपचरित होता है" सो इसमें हमें एतराज नहीं है। परन्तु इसके आगे जो यह लिखा है कि "और यह तब बनता है जब परने परके कार्यको किया" ऐसे विकल्पकी उत्पत्ति होती है" सो उसका ऐसा लिखना संगत नहीं है, क्योंकि "परने परके कार्यको किया" यह विकल्प तो उपचार ही है और यह तब बनता है जब एक वस्तु दूसरी वस्तुकी कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्तकारण होती है।

उपचारकी स्थिति भिन्न-भिन्न स्थलोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे निर्मित होती है, जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

(१) निमित्तकारणको कार्यके प्रति जो उपचरित कारण कहा जाता है उसमें हेतु यह है कि निमित्त-कारण उपादानकारणकी तरह कार्यरूप परिणत न होकर कार्योत्पत्तिमें सहायक मात्र हुआ करता है। लेकिन जिस प्रकार उपादानकारणका कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्तकारणका उपादान कारणकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होना भी वास्तविक है। घटोत्पत्तिमें निमित्तकारणभूत कुम्भकार मिट्टीकी तरह घटरूप परिणत न होकर मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें वास्तविक रूपसे सहायक होता है। इसीलिए उसे उपचरित कारण कहा जाता है।

(२) निमित्तकारणको कार्यके प्रति जो उपचरितकर्त्ता कहा जाता है वह आलापपद्धतिके उपचारलक्षण-के अनुसार उसमें मुख्य कर्तृत्वका अभाव और वास्तविक रूपमें सहायक होने रूपसे निमित्तकारणताका सद्भाव

१. मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते।

होनेसे कहा जाता है। यह हम अनेक जगह कह चुके हैं कि जैसे घटोत्पत्तिके प्रति निमित्तकारणभूत कुम्भकार घटका मुख्य कर्त्ता तो नहीं है, क्योंकि कुम्भकार घटरूप परिणत नहीं होता, फिर भी मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें वह वास्तविक रूपमें सहायक होता है। अतः उसे घटका उपचरितकर्त्ता कहा जाता है।

उपचरितकारण और उपचरितकर्त्ता दोनोंमें यह अन्तर है कि निमित्तकारण कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे वास्तविक कारण होकर भी कार्यसे भिन्न वस्तुरूप होता है, इसीलिए उसे उपचरित कारण कहते हैं और कार्यसे भिन्न उस वस्तुमें सहायक होने रूपसे वास्तविक निमित्तकारणताके आधारपर आलापपद्धतिके अनुसार कर्तृत्वका आरोप किया जाता है। इसलिए उसे उपचरितकर्त्ता कहा जाता है। यतः उपचरितकारण और उपचरिकर्त्ता दोनों ही कार्यसे भिन्न वस्तुरूप होते हैं, अतः दोनों ही असद्भूत व्यवहारनयके विषय होते हैं।

(३) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों वस्तुओंको उपचरित वस्तु कहा जाता है। इसका कारण यह है कि ये चारों वस्तुएँ नाना अणुओंके पिण्डरूप होनेसे सखण्ड हुआ करती हैं। तथा सखण्ड होकर भी स्कन्ध रूपसे अखण्ड होती हैं। अतः स्कन्धरूपसे अखण्डरूपताको प्राप्त ये चारों वस्तुएँ अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषय हैं और चूंकि नाना अणुओंके पिण्डरूप होनेसे उनमें सखण्डरूपता भी रहती हैं, अतः उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका भी विषय होती हैं।

आलापपद्धतिके उल्लेखानुसार जो उपचारकी प्रवृति होती है वह भी भिन्न-भिन्न स्थलोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके निमित्तोंके आधारपर होती है। ऊपर कुम्भकारमें घटकर्तृत्वके उपचारको प्रवृत्तिके विषयमें बतलाया जा चुका है कि कुम्भकार इसलिए उपचरित कर्त्ता है कि वह घटकार्यके प्रति सहायक होनेके आधारपर वास्तविक निमित्तकारण होता है। यहां आलापपद्धतिके अनुसार उपचारप्रवृत्तिके अन्य स्थलोंका भी दिग्दर्शन कराया जाता है।

मिट्टीके घड़ेको जो घीका घड़ा कहा जाता है वह उपचार रूपमें ही कहा जाता है और वह इस आधारपर कहा जाता है कि उस घड़ेमें घीरूपताके अभावके साथ घड़ा और घीमें विद्यमान संयोग संबंधाश्रित वास्तविक आधाराधेयभाव निमित्त बना हुआ है। "अन्न ही प्राण हैं" यहाँपर जो अन्नको प्राण कहा जाता है वह उपचारसे कहा जाता है और वह इस लिए कि अन्नमें प्राणरूपताके अभावके साथ प्राणोंकी सुरक्षाकी वास्तविक सहायकता पाई जाती है। "गंगा नदीमें टपरा है" इस कथनका अर्थ है कि 'गंगाके तटपर टपरा है' सो यह उपचरित अर्थ है और यह अर्थ इस आधारपर किया जाता है कि गंगा नदीमें टपराकी स्थिति रूप मुख्यार्थके अभावके साथ गंगा और तटमें वास्तविक सामीप्य पाया जाता है। लोकमें बालकको सिंह कह दिया जाता है वह भी उपचारसे कहा जाता है और वह इस आधारपर कि यद्यपि बालकमें सिंहरूपताका तो अभाव है, किन्तु सिंहके समान गुणोंका वास्तविक रूपमें सद्भाव है। "मंच (मचान) चिल्लाते हैं" इसका जो 'मंचपर बैठे पुरुष चिल्लाते हैं, यह अर्थ किया जाता है वह भी उपचारसे किया जाता है, क्योंकि उसमें मंचरूप मुख्यार्थके अभावके साथ मंच और पुरुषोंमें वास्तविक संयोग पाया जाता है। "धनुष दौड़ता है" इस वाक्यका जो 'धुर्नधारी पुरुष दौड़ता है' यह अर्थ किया जाता है वह भी उपचरित अर्थ है और वह इसलिए कि यहाँ पर धनुष रूप मुख्यार्थके अभावके साथ धनुष और पुरुषमें वास्तविक संयोग है। इस विषयमें लोक और आगममें और भी ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं, जिनमें उपर्युक्त प्रकार मुख्यरूपताके अभावके साथ पृथक्-पृथक् प्रकारके निमित्तोंका वास्तविक सद्भाव पाया जाता है।

उपचार-प्रवृत्तिके इन उदाहरणोंके प्रकाशमें प्रकृतमें भी ज्ञातव्य है कि समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकामें आत्माको जो पुद्गलकर्मका कर्त्ता बतलाया गया है वह उपचारसे बतलाया गया है, जो इस आधारपर सिद्ध होता है कि आत्मामें पुद्गलकर्मके कर्तृत्वका यथार्थ रूपमें अभाव है, क्योंकि कर्मरूप परिणमन आत्माका न होकर पुद्गलका ही होता है। तथा समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकाके अनुसार वह आत्मा पुद्गलके उस कर्मरूप परिणमनमें सहायक होने रूपसे वास्तविक निमित्त (सहायक) होता है। अतः यहाँपर भी आलापपद्धतिके पूर्वोक्त वचनका समन्वय होता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मामें पुद्गलकर्मके उपचरितकर्तृत्वकी सिद्धिके लिए समयसार गाथा १०५ और उसकी टीकाके अनुसार उसमें पुद्गलके कर्मरूप परिणमनके प्रति सहायक होने रूपसे वास्तविक निमित्तकारणताको स्वीकार करना आवश्यक है। अर्थात् समयसार गाथा १०५ और उसकी आत्मख्याति टीकामें यही बतलाया गया है कि जीवके हेतुभूत अर्थात् सहायक होने रूपसे कारण होनेपर ही पुद्गलकर्मका बन्धरूप परिणमन देखा जाता है, अतः "जीवने कर्म किया" यह उपचारसे कहा जाता है। उसी टीकामें यह बात और भी स्पष्ट रूपसे बतला दी गई है कि जबतक आत्माका परिणमन अज्ञानरूप (मोह, राग और द्वेष रूप) होता रहता है तबतक ही पुद्गलका कर्मरूप परिणमन होता है और जब आत्माका अज्ञानरूप (मोह, राग और द्वेषरूप) परिणमन होना समाप्त हो जाता है तब पुद्गलका कर्मरूप परिणमन होना भी समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि जीवको पुद्गलके कर्मरूप परिणमनको रोकनेके लिए अपने मोह, राग और द्वेष रूप अज्ञानको समाप्त करनेकी प्रेरणा आगममें की गई है।

इससे ज्ञात होता है कि आत्मामें पुद्गलकर्मकर्तृत्वका उपचार आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र नहीं है, अपितु साहाय्य-सहायक भावरूप वास्तविक निमित्त-नैमित्तिकभावपर आधारित है। सर्वत्र उपचारप्रसिद्धिके लिए इसी प्रक्रियाका अवलम्बन उपयुक्त होता है।

इस तरह उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो कुछ लिखा है उसके विषयमें पूर्वपक्षका केवल इतना ही मन्तव्य है कि जहाँ उत्तरपक्ष निमित्त (सहायक) कारणको कार्यके प्रति सहायक न होने रूपसे स्वीकृत अकिंचित्करताके आधारपर अवास्तविक मानता है और निमित्तकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत उपचरित कर्तृत्वको आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र मान लेता है वहाँ पूर्वपक्ष उस निमित्त (सहायक) कारणको कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे स्वीकृत कार्यकारिताके आधारपर वास्तविक मानता है और उस निमित्तकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत उपचरित कर्तृत्वको आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित न मानकर उसे वास्तविक ही मानता है। इस अभिप्रायसे ही पूर्वपक्षने समयसार गाथा १०५ की टीकाका अर्थ करते हुए जो यह लिखा है कि "आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना यह उपचार ही है अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षासे ही है। परमार्थ भूत नहीं है अर्थात् उपादानोपादेय भावकी अपेक्षासे नहीं है।" वह संगत है।

कथन ३५ और उसकी समीक्षा

(३५) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५४ पर पूर्वपक्षके प्रति यह कथन किया है कि "अपरपक्षने 'यः परिणमति स कर्ता' इत्यादि कलशको उद्धृत कर 'यः परिणमति' पदका अर्थ किया है—'जो परिणमन होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है।' जबकि इस पदका वास्तविक अर्थ है—'जो परिणमता है

या परिणमन करता है।" उक्त पद्य में "यः परिणमति" पद है "यत्परिणमनं भवति" पद नहीं है, नहीं मालूम, अपरपक्षने उक्त पदके यथार्थ अर्थको न करके स्वमतिसे अन्यथा अर्थ क्यों किया। स्पष्ट है कि वह पक्ष उपादानको यथार्थकर्त्ता बनाये रखनेमें अपने पक्षकी हानि समझता है। तभी तो उस पक्षके द्वारा इस प्रकारसे अर्थमें परिवर्तन किया गया।"

उत्तरपक्षके इस कथनकी समीक्षामें मैं सर्वप्रथम यह कहना चाहता हूँ कि उसने (उत्तरपक्षने) "यः परिणमति" पदके "जो परिणमन होता है" इस अर्थको लेकर जो यह निष्कर्ष निकाला है कि "स्पष्ट है कि वह पक्ष उपादानको यथार्थ कर्त्ता बनाये रखनेमें अपने पक्षकी हानि समझता है तभी तो उस पक्षके द्वारा इस प्रकारसे अर्थमें परिवर्तन किया गया।" सो उसका उक्त अर्थके आधारपर ऐसा निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है, क्योंकि उस अर्थका इस तरहके निष्कर्षके साथ कोई मेल नहीं बैठता है। दूसरे, तत्त्वचर्चामें "यः परिणमति" पदका जो यह अर्थ पाया जाता है कि "जो परिणमन होता है" सो यह पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ नहीं है। उसके द्वारा स्वीकृत अर्थ तो यह है कि "जो परिणमित होता है", जिसकी पुष्टि पूर्व-पक्ष द्वारा किये गये "अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है" इस स्पष्टीकरणसे हो जाती है, क्योंकि यह स्पष्टीकरण "जो परिणमित होता है" इस अर्थका ही हो सकता है। "जो परिणमन होता है" इस अर्थका नहीं। इस बातको उत्तरपक्ष न समझता हो, ऐसा नहीं है। वास्तवमें पूर्वपक्षने "यः परिणमति" पदका यद्यपि "जो परिणमित होता है" यही अर्थ किया था, परन्तु टाइप करने वालेकी भूलसे उसके स्थानमें "जो परिणमन होता है" यह टाइप हो गया, जिसका संशोधन नहीं हो सका। अतः उत्तरपक्षने इस सामान्य अशुद्धिको लेकर जो पूर्वपक्षकी आलोचना की है वह केवल बातका बवण्डर बनाना है। अतः उक्त पदका अर्थ पूर्वपक्षने 'जो परिणमित होता है' यह किया है, जिसे उत्तरपक्ष अस्वीकार नहीं कर सकता।

कथन ३६ और उसकी समीक्षा

(३६) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५४ पर यह कथन किया है कि "आगममें निमित्त व्यवहार और निमित्तकर्त्ता आदि व्यवहारको सूचित करनेवाले वचन पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होते हैं इसमें संदेह नहीं, पर उसी आगममें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ये सब वचन असद्भूत व्यवहारनयको लक्ष्यमें रखकर ही आगममें निबद्ध किये गये हैं।")—इसके लिए देखो, समयसार गाथा १०५ से १०८ तथा उनकी आत्मख्याति टीका, बृहद्द्रव्य संग्रह गाथा ८ की टीका आदि)।

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि पूर्वपक्ष भी ऐसे सभी वचनोंको असद्भूतव्यवहारनयके ही वचन मानता है। परन्तु दोनों पक्षोंमें अन्तर यह है कि जहाँ उत्तरपक्ष असद्भूतव्यवहारनयके विषयको उपचरित मानकर भी उस उपचारको कल्पनारोपित मात्र मानता है वहाँ पूर्वपक्ष असद्भूतव्यवहारनयको उपचरित मानकर भी उस उपचारको कल्पनारोपित मात्र न मानकर उपचरित रूपमें वास्तविक ही मानता है।

कथन ३७ और उसकी समीक्षा

(३७) पूर्वपक्षने त० च० पृ० १९ पर उत्तरपक्षके प्रति यह कथन किया है कि इसमें "जो परि-णमित होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है वह कर्त्ता है" कर्त्ताका यह लक्षण उपादानो-पादेयभावको लक्ष्यमें रखकर ही माना गया है। परन्तु इसपर ध्यान न देते हुए इस लक्षणको सामान्यरूपसे

कर्त्ताका लक्षण मानकर निमित्त-नैमित्तिकभावकी अपेक्षा आगममें प्रतिपादित कर्तृ-कर्मभावको उपचरित (कल्पनारोपित) स्वीकार करके आपके द्वारा निमित्तकर्त्ताको अकिंचित्कर (कार्यके प्रति अनुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है" अपने इस कथनके समर्थनमें पूर्वपक्षने वहीं पर समयसार गाथा १०० और उसकी आत्मख्याति टीकाको भी उद्धृत किया है।

पूर्वपक्षके इस कथनपर उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५४ पर यह कथन किया है—"यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार आगममें उपादानकर्त्ता और उपादानकारणके लक्षण उपलब्ध होते हैं और साथ ही उन्हें यथार्थ कहा गया है उस प्रकार आगममें निमित्तकर्त्ता या निमित्तकारणके न तो कहीं लक्षण ही उपलब्ध होते हैं और न ही वहाँ उन्हें यथार्थ ही माना गया है, प्रत्युत ऐसे अर्थात् निमित्तकर्त्ता या निमित्तकारणपरक व्यवहारको अनेक स्थलोंपर अज्ञानियोंका अनादिरूढ़ लोकव्यवहार ही बतलाया गया है। —देखो, समयसार गाथा ८४ और उसकी दोनों संस्कृत टीकायें आदि।"

उत्तरपक्षका यह कथन मिथ्या है क्योंकि आगममें उपादानकर्त्ता और उपादानकारणके लक्षणोंकी तरह निमित्तकर्त्ता और निमित्तकारणके भी लक्षण उपलब्ध हैं, जिसके कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

(१) आचार्य विद्यानन्दने त० श्लो० वा० पृ० १५१ पर निमित्तकारणका निम्नलिखित लक्षण निर्धारित किया है—

'यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणम्।'

अर्थात् जिसके अनन्तर ही जो नियमसे होता है वह उसका सहकारी (निमित्त) कारण है। इस विषयको पूर्वमें विस्तारसे स्पष्ट किया जा चुका है और पूर्वपक्षने इसे तत्त्वचर्चामें भी स्पष्ट किया है।

(२) आचार्य अकलंकदेवने अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० १०५) में निमित्तकारणको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध करनेके लिए निम्नलिखित वचन निबद्ध किया है—

'तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किम् सहकारिकारणं स्यात्?'

अर्थात् उपादान (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट वस्तु) की असामर्थ्य (कार्यरूप परिणत न हो सकने रूप अशक्ति) का खण्डन नहीं करता हुआ अकिंचित्कर रहनेपर सहकारी कारण हो सकता है क्या? अर्थात् नहीं हो सकता है। इसमें निमित्तकारणका लक्षण स्पष्ट परिलक्षित है और पूर्वपक्षने भी तत्त्वचर्चामें इसे स्पष्ट किया है।

(३) आचार्य प्रभाचन्द्रने भी प्रमेयकमलमार्तण्डके पृ० १८७ पर "यच्चोच्यते" इत्यादि कथन द्वारा सहकारी (निमित्त) कारणको कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे कार्यकारी स्वीकार किया है, जिससे सहकारी कारणका लक्षण बताना प्रभाचंद्रको इष्ट है। इसे भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है और पूर्वपक्षने भी तत्त्वचर्चामें स्पष्ट किया है।

(४) आचार्य विद्यानन्दने त० श्लो० वा० के पृ० १५१ पर "तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे" इत्यादि द्वारा प्रतिपादन किया है कि असद्भूतव्यवहारनयका विषयभूत निमित्त-नैमित्तिकभाव रूप कार्यकारणभाव पारमार्थिक ही होता है, कल्पनारोपित नहीं होता। इससे भी निमित्तकारणका लक्षण ध्वनित होता है। इसे भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है और पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चामें भी स्पष्ट किया है।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट है कि आगममें निमित्तकारणका लक्षण भी निर्धारित किया गया है तथा आगममें जिसप्रकार उपादानकारणको कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी मानकर उसकी वास्तविकताको स्वीकार किया गया है उसी प्रकार आगममें निमित्तकारणको उपादानकारणकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानकर उसकी भी वास्तविकताको स्वीकार किया गया है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि वस्तुतत्त्वकी वास्तविकता अनेक प्रकारसे अवगत की जाती है। उपादानकारणको जो वास्तविक कहा गया है वह इस आधारपर कहा गया है कि स्वयं वह कार्यरूप परिणत होता है। तथा निमित्तकारण यद्यपि स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता तथापि वह उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अनिवार्य सहायक होने रूपसे कार्यकारी कारण होता है, अतः उसे भी वास्तविक माना जाता है। जैसे जलकी शीतलता उसका स्वभावधर्म होनेसे वास्तविक है। किन्तु उष्णता स्वभावधर्म न होनेपर भी समयसार गाथा १४ की आत्मख्यातिके अनुसार भूतार्थ (वास्तविक) है क्योंकि वह अग्निके संयोगसे जन्य जलकी ही विकृति है।

यद्यपि जलमें अग्निके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली उष्णता तथा कार्यरूप परिणत होनेवाली उपादानरूप वस्तुसे भिन्न निमित्तकारणरूप वस्तुमें उस कार्यके प्रति सहायक होने रूपसे पाई जानेवाली निमित्तकारणता दोनों ही वास्तविक सिद्ध होती हैं। परन्तु उनमें यह भेद है कि जहाँ जलमें पाई जानेवाली शीतलता जलका स्वभावधर्म होनेसे निश्चयनयका विषय है तथा जलकी परिणति होनेसे सद्भूतव्यवहारनयका और उसी जलमें पाई जानेवाली उष्णता अग्निसंयोगजन्य होनेसे असद्भूतव्यवहारनयका विषय है वहाँ उपादानकारणता कार्यरूप परिणत होनेवाली वस्तुका नित्यता (द्रव्य) के रूपमें स्वभावधर्म होनेसे निश्चयनयका और अनित्यता (पर्याय) के रूपमें स्वभावधर्म होनेसे सद्भूतव्यवहारनयका विषय है तथा निमित्तकारणता कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तुसे भिन्न कार्योत्पत्तिमें सहायक होने वाली वस्तुका धर्म होनेसे असद्भूत व्यवहारका विषय है। उत्तरपक्षको आगमके इसी अभिप्रायके अनुसार वस्तुस्थिति प्रकट करना चाहिए।

अतएव उपादानकर्तृत्व इसलिये यथार्थ है कि उपादानभूत वस्तु कार्यरूप परिणत होती है और निमित्तकर्तृत्व इसलिये यथार्थ नहीं है कि निमित्तभूत वस्तु कार्यरूप परिणत नहीं होती है। तथापि निमित्तभूत वस्तुमें आलापपद्धतिके उक्त वचनके अनुसार उपादानभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार पर स्वीकृत उपचरितकर्तृत्व भी आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित न होकर उपचरित रूपमें वास्तविक ही है। तात्पर्य यह है कि उपादानकारणता और उपादानकर्तृत्व दोनों ही उपादानभूत वस्तुके वास्तविक धर्म हैं क्योंकि उपादानकारणभूत वस्तु कार्यरूप परिणत होती है। यतः निमित्तभूत वस्तु उपादानभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक (निमित्त) होती है। अतः निमित्तकारणता भी इस आधारपर निमित्तभूत वस्तुका वास्तविक धर्म सिद्ध है और चूँकि निमित्तकर्तृत्व निमित्तभूत वस्तुका उपचरित धर्म होता है, इसलिये वह भी उपचरित रूपमें वास्तविक धर्म सिद्ध होता है। वह आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र नहीं है।

हम इस विवेचनसे जान सकते हैं कि उपादान और निमित्तकी वास्तविकता किस रूपमें है। उत्तरपक्षको इस पर ध्यान देना चाहिए।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनके अन्तमें जो यह लिखा है कि "निमित्तकर्त्ता" या निमित्तकारणपरक व्यवहारको अनेक स्थलोंपर अज्ञानियोंका अनादिरूढ़ लोकव्यवहार ही बतलाया गया है। सो वह एक

दृष्टिसे है, सर्वथा नहीं। आगममें निमित्तकर्ता या निमित्तकारणपरक व्यवहारको अज्ञानियोंका अनादिरूढ़ लोकव्यवहार बतलानेका अभिप्राय यह है कि जो जीव व्यवहारकी व्यवहाररूपताको और निश्चयरूपताको पृथक्-पृथक् नहीं समझकर व्यवहारकी व्यवहाररूपताको निश्चयरूपता समझ बैठे हैं वे अज्ञानी हैं। ऐसे अज्ञानियोंके प्रति ही समयसारगाथा ८५-८६ की रचना आचार्य कुन्दकुन्दने की है, जिसका आशय यह है कि व्यवहारकी व्यवहाररूपताको निश्चयरूपता समझ लेनेसे व्यवहारमें व्यवहाररूपताके साथ निश्चयरूपताकी प्रसक्ति होती है जो जिनाज्ञाके विरुद्ध है। जैसे कुम्भकार घटके प्रति व्यवहारकारण अर्थात् निमित्तकारण होता है। अब यदि उसे घटका निश्चयकारण अर्थात् उपादानकारण मान लिया जावे तो उसमें घटके प्रति सहायक होने रूप अपनी क्रियाके साथ घटरूप परिणत होने रूप क्रियाकी भी प्रसक्ति हो जावेगी, जो कि उपादानभूत मिट्टीकी क्रिया है।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५४ पर ही लिखा है—"अपरपक्षने हमारे कथनको लक्ष्यकर जो यह लिखा है "कि परन्तु इस पर ध्यान न देते हुए उस लक्षणको सामान्यरूपसे कर्त्ताका लक्षण मानकर निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा आगममें प्रतिपादित कर्तृ-कर्मभावको उपचरित (कल्पनारोपित) मानते हुए आपके द्वारा निमित्तकर्त्ताको अकिंचित्कर (कार्यके प्रति निरुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है"। किन्तु अपरपक्षकी हमारे कथनपर टिप्पणी करना इसलिये अनुचित है, क्योंकि परमागममें एक कार्यके दो कर्त्ता वास्तवमें स्वीकार ही नहीं किये गये हैं"।

इसकी पुष्टिमें उत्तरपक्षने "नैकस्य हि कर्त्तारौ द्वौ स्तः" इत्यादि समयसार कलश ५२ को भी उद्धृत कर लिखा है—"इससे स्पष्ट विदित होता है कि जब एक कार्यके परमार्थरूप दो कर्त्ता ही नहीं हैं, ऐसी अवस्थामें परमागममें दो कर्त्ताओंके लक्षण निबद्ध किया जाना किसी भी अवस्थामें सम्भव नहीं है, इसलिये प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि 'यः परिणमति स कर्त्ता' इस रूपमें कर्त्ताका जो लक्षण निबद्ध किया गया है वह सामान्य रूपसे भी कर्त्ताका लक्षण है और विशेष रूपसे भी, क्योंकि जहाँपर दो या दो से अधिक एक जातिकी वस्तुयें हों वहाँ पर ही सामान्य और विशेष ऐसा भेद करना सम्भव है। यहाँ जब एक कार्यका कर्त्ता एक ही है तो एक कर्त्ताके दो लक्षण कैसे हो सकते हैं? यही कारण है कि एक कार्यका एक कर्त्ता होनेसे परमागममें कर्त्ताका एक ही लक्षण लिपिबद्ध किया गया है। निमित्तकर्त्ता वास्तवमें कर्त्ता नहीं, इसलिये परमागममें इसका लक्षण भी उपलब्ध नहीं होता। यह तो व्यवहार मात्र है। अतएव इस सम्बन्धमें हमारा जो कुछ भी कथन है वह यथार्थ है ऐसा यहाँ समझना चाहिए"।

इसकी समीक्षा निम्न प्रकार है—

लगता है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके अभिप्रायको ठीक तरह नहीं समझा है। उसने त० च० पृ० १९ पर "परन्तु इसपर ध्यान न देते हुए" इत्यादि जो कथन किया है उसका अभिप्राय है कि आगममें कर्त्ताके दो भेद निश्चित किये गये हैं—एक उपादानकर्त्ता और दूसरा निमित्तकर्त्ता। इनमेंसे उपादानकर्त्ता कार्यरूप परिणत होनेके रूपमें यथार्थकर्त्ता है और निमित्तकर्त्ता कार्यरूप परिणत न होकर उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे सहायककर्त्ता—अयथार्थकर्त्ता है। आलापपद्धतिके पूर्वोक्त वचनके अनुसार उसका आशय यही है। इससे स्पष्ट है कि आगममें कार्यके प्रति दो कर्त्ता माने गये हैं। पर वे दोनों एक जातिके नहीं हैं अर्थात् एक कर्त्ता तो वह है जो कार्यरूप परिणत होता है और दूसरा कर्त्ता वह है जो कार्य रूप परिणत न होकर उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कर्त्ता होता है। "नैकस्य हि कर्त्तारौ

द्वौ स्तः" इत्यादि समयसारकलश ५२ एक कार्यके दो उपादानकर्त्ताओंका ही निषेध करता है। वास्तवमें किसी भी एक कार्यका एक उपादानकर्त्ता होता है और दूसरा निमित्तकर्त्ता होता है। इसका वह निषेध नहीं करता। अतः उसके आधारपर उत्तरपक्ष द्वारा पूर्वपक्षको एक कार्यके प्रति एक उपादानकर्त्ता और दूसरा निमित्तकर्त्ता इन दो कर्त्ताओंकी मान्यताका निषेध किया जाना उचित नहीं है।

पूर्वपक्षने अपनी इस मान्यताके समर्थनमें समयसार गाथा १०० और उसकी आत्मख्याति टीकाको भी वहीं उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट विदित होता है कि कार्योत्पत्तिके प्रति उपादानकर्त्ताके साथ निमित्त-कर्त्ताको भी आगममें स्वीकार किया गया है। इसके अलावा आगममें स्वप्रत्यय परिणमनके अतिरिक्त स्वपरप्रत्यय परिणमनकी स्वीकृतिसे भी पूर्वपक्षकी उक्त मान्यताकी पुष्टि होती है। इस प्रकार उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५४-५५ पर इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह सब तर्कहीन और आगमविरुद्ध है।

आगे त० च० पृ० ५५ पर उत्तरपक्षने लिखा है कि "अपरपक्ष यह तो बतलावे कि जब जिसमें निमित्त व्यवहार किया गया है उसका कोई भी धर्म जिसमें नैमित्तिक व्यवहार किया गया है उसमें प्रविष्ट नहीं होता तो फिर वह यथार्थमें उसका निमित्तकर्त्ता-कारण रूपसे कर्त्ता कैसे बन जाता है? आगममें जबकि ऐसे कथनको उपचरित या उपचरितोपचरित स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया गया है तो अपरपक्षको ऐसे आगमको मान लेनेमें आपत्ति क्या है? हमारी रायमें तो उसे ऐसे कथनको बिना हिचकिचाहटके प्रमाण मान लेना चाहिए।"

इस विषयमें मेरा कहना है कि पूर्वपक्ष भी ऐसे कथनको उपचरित या उपचरितोपचरित स्वीकार करता है। परन्तु वह उस उपचरित और उपचरितोपचरित कथनको कल्पनारोपित नहीं मानता है जबकि उत्तरपक्ष उसे कल्पनारोपित मात्र मानता है। यह प्रकट है कि मिट्टीमें होनेवाली घटोत्पत्तिमें कुम्भकार, चक्र, दण्ड आदि सहायक होने रूपसे कारण होते हैं। इनमेंसे कुम्भकार उपचरितकारण है क्योंकि वह उस घटोत्पत्तिमें साक्षात् सहायक होता है। चक्र उस घटोत्पत्तिमें कुम्भकारका सहायक होकर परम्परया सहायक कारण होता है, अतः वह उपचरितोपचरित कारण और दण्ड उस घटोत्पत्तिमें चक्रका सहायक होकर कुम्भ-कारका सहायक होता हुआ अपरपरम्परया सहायक कारण होता है, अतः वह उपचरितोपचरितोपचरित कारण है। इस तरह यद्यपि ये तीनों असद्भूत कारण हैं और असद्भूतव्यवहारनयके विषय हैं तथापि तीनों-की उपयोगिता मिट्टीसे उत्पन्न होने वाले घटकी उत्पत्तिमें असन्दिग्ध है, क्योंकि इनमेंसे किसीके भी अभावमें घटोत्पत्ति नहीं होती। अतः तीनों ही अपने-अपने ढंगसे यथार्थ हैं। वे आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित कारण नहीं हैं अर्थात् घटोत्पत्तिमें इनकी उपचरित आदि रूपमें सहायता वास्तविक ही है, कल्पनारोपित नहीं है।

कथन ३८ और उसकी समीक्षा

पूर्वपक्षने त० च० पृ० २० पर लिखा है कि "आगममें सर्वत्र कार्यकारणभावको अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर ही माना गया है अर्थात् जिस वस्तुका जिस कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह वस्तु उस कार्यके प्रति कारण होती है ऐसा कथन आगमका है" इसकी पुष्टिके लिये ही उसने प्रमेयरत्नमाला (समुद्देश ३, सूत्र ६३ की व्याख्या) का उद्धरण भी दिया है।

पूर्वपक्षके इस कथनकी भी उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५५ पर आलोचना की है। लिखा है कि "अपर-पक्षने प्रमेयरत्नमाला समुद्देश ३ सूत्र ५३ से "अन्वय-व्यतिरेक" इत्यादि वचन उद्धृत कर अपने पक्षका

समर्थन करना चाहा है। किन्तु इस वचनसे भी इतना ही ज्ञात होता है कि जिसके अनन्तर जो होता है वह उसका कारण है और इतर कार्य है। यही बात इसी सूत्रकी व्याख्यामें इन शब्दोंमें कही गई है—"तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वं" (उसके अर्थात् कारणके होनेपर कार्यका होना यह तद्भाव-भावित्व है)। किन्तु यह सामान्य निर्देश है। इससे बाह्य सामग्रीको उपचरितकारण क्यों कहा और आभ्यन्तर कारणको अनुपचरित कारण क्यों कहा, यह ज्ञान नहीं होता"।

इसकी समीक्षा इस प्रकार है—

पूर्वपक्षने त० च० पृ० २० पर किये गये अपने उक्त कथनके आगे यह भी लिखा है कि "इसमें उपादानकारणके समान निमित्तकारणमें भी कार्यके प्रति अन्वय और व्यतिरेक माने गये हैं। अतः जिस प्रकार कार्यके प्रति उपादानकारणभूत वस्तु अपने ढंगसे आश्रय रूपसे वास्तविक कारण होती है उसी प्रकार कार्यके प्रति निमित्तभूत वस्तु भी अपने ढंगसे अर्थात् उपादानके सहकारी रूपसे वास्तविक कारण होती है। उसकी अर्थात् निमित्तभूत वस्तुकी यह उपादानसहकारितारूप कारणता काल्पनिक नहीं है।" इस कथनसे स्पष्ट है कि पूर्वपक्षने प्रमेयरत्नमालाके उपर्युक्त वचनका उद्धरण निमित्तकारणकी उत्तरपक्षको मान्य काल्पनिकताका निषेध करनेके लिये दिया है। अतएव उत्तरपक्ष द्वारा की गयी पूर्वपक्षकी उपर्युक्त आलोचना निरर्थक एवं अनुपयुक्त है।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५५ पर ही लिखा है कि "यह तो अपरपक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक द्रव्यमें एक कालमें एक ही कारणधर्म होता है और उस धर्मके अनुसार वह अपना कार्य भी करता है। जैसे कुम्भकारमें जब अपनी क्रिया और विकल्प करनेका कारणधर्म है तब वह अपनी क्रिया और विकल्प करता है, मिट्टीकी घटनिष्पत्तिरूप क्रिया नहीं करता। ऐसी अवस्थामें कुम्भकारको घटका कर्त्ता उपचारसे ही तो कहा जायेगा"। पूर्वपक्षको इसमें कोई विवाद नहीं है। वह भी ऐसा ही मानता है। उत्तरपक्षने इसी अनुच्छेदमें पुनः लिखा है कि "और उस उपचारका कारण यह है कि जब कुम्भकारकी विवक्षित क्रिया और विकल्प होता है तब मिट्टी भी उपादान होकर घटरूप परिणमती है" सो इसमें भी पूर्वपक्षको कोई विवाद नहीं है। आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "इस प्रकार कुम्भकारकी विवक्षित क्रियाके साथ घट कार्यका अन्वय व्यतिरेक बन जाता है"। यहाँ पर इतना ध्यान और रखना चाहिए कि कुम्भकारकी उस क्रियाके साथ घट कार्यका जो अन्वय-व्यतिरेक बनता है वह इस आधार पर बनता है कि कुम्भकारकी वह क्रिया घटकार्यके प्रति सहायक होती देखी जाती है।

आगे इसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "यही कारण है कि कुम्भकारको घटका कर्त्ता उपचारसे कहा गया है। किन्तु ऐसा उपचार करना तभी सार्थक है जब वह यथार्थका ज्ञान करावे, अन्यथा वह व्यवहाराभास ही होगा यह वस्तुस्थितिका स्वरूप निर्देश है। इससे बाह्य सामग्रीमें अन्य द्रव्यके कार्यकी कारणता काल्पनिक ही है यह ज्ञान हो जाता है। फिर भी आगममें इस कारणताको काल्पनिक न कहकर जो उपचरित कहा है वह सप्रयोजन कहा है खुलास पूर्वमें ही किया गया है और आगे भी करेंगे"।

इस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि घटकार्यके प्रति कुम्भकारको जो उपचारसे कर्त्ता कहा गया है वह इसलिये कहा गया है कि वह घटरूप परिणत न होकर मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें मिट्टीका सहायक होता है। अतः उत्तरपक्षका यह कथन कि "किन्तु ऐसा उपचार करना तभी सार्थक है जब वह यथार्थका ज्ञान करावे,

अन्यथा वह व्यवहाराभास होगा" निरर्थक है। इसी तरह "यह वस्तुस्थितिका स्वरूप निर्देश है" ऐसा लिख-कर उत्तरपक्षने लिखा है कि "इससे बाह्य सामग्रीमें अन्य द्रव्यके कार्यकी कारणता काल्पनिक ही है"। सो उसका यह कथन वस्तुस्थितिके विरुद्ध है, क्योंकि पूर्वपक्षने त० च० में तथा हमने इस समीक्षामें सर्वत्र स्पष्ट किया है कि आगममें बाह्य सामग्रीको जो कार्योत्पत्तिके प्रति उपचरितकर्त्ता माना गया है उसका आधार यह बतलाया गया है कि बाह्य सामग्री कार्योत्पत्तिमें उपादानकी सहायक होने रूपसे अनिवार्य कारण होती है। उत्तरपक्षका उससे यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा गलत है कि "फिर भी आगममें इस कारणताको काल्प-निक न कहकर जो उपचरित कहा है वह सप्रयोजन कहा है" क्योंकि काल्पनिक और उपचरितमें बड़ा अन्तर है। काल्पनिक तो अवस्तु होती है परन्तु उपचरित वस्तु होती है। फिर जब उत्तरपक्ष उपचार कथनको सप्रयोजन मानता है तो बाह्य सामग्रीको कार्योत्पत्तिमें अकिंचित्कर कैसे माना जा सकता है?

कथन ३९ और उसकी समीक्षा

(३९) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २० पर धवल पुस्तक १३ पृ० ३४९ के "एवं दुसंजोगादिणा" इत्यादि वचनको उद्धृत कर जो यह कहा है कि "धवलाका यह वचन स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उभयशक्तिजन्यताका स्पष्ट उपदेश दे रहा है"। उत्तरपक्षने इसकी आलोचना करते हुए त० च० पृ० ५६ पर लिखा है कि "धवला पुस्तक १३ पृ० ३४९ का उद्धरण (जिसे अपरपक्षने प्रस्तुत किया है) संयोगकी भूमिकामें उपचरित अनुभागका ही निरूपण करता है"। उत्तरपक्षके इस कथनमें पुर्वपक्षको कोई विरोध नहीं है। परन्तु उप-चारको काल्पनिक मानना प्रमाणसंगत नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार स्वप्रत्यय कार्य स्वप्रत्ययरूप में वास्तविक है उसी प्रकार स्वपरप्रत्यय कार्य भी स्वपरप्रत्ययरूपमें वास्तविक ही है, काल्पनिक नहीं है।

कथन ४० और उसकी समीक्षा

(४०) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २० पर "उपचारकी प्रवृत्तिके लिये आगममें उपचारकी व्याख्या इस प्रकार की गई है" इस कथनके साथ आलापपद्धतिके 'मुख्याभावे' इत्यादि वचनको उद्धृत किया है और यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि जहाँ मुख्यरूपताका अभाव हो तथा निमित्त और प्रयोजनका सद्भाव हो वहीं उपचारकी प्रवृत्ति होती है। तथा इसके समन्वयके लिए कहा है कि "जैसे अन्नमें प्राणोंका या बालकमें सिंहका उपचार लोकमें किया जाता है" आदि। सो इसकी आलोचना करते हुए उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५६ पर लिखा है कि "अपरपक्षने 'मुख्याभावे सति' इत्यादि वचनको उपचारकी व्याख्या माना है जो अयुक्त है। इस कथन द्वारा तो मात्र उसकी प्रवृत्ति कहाँ होती है यह बतलाया गया है" तथा इस कथनके अनन्तर उपचारकी व्याख्यास्वरूप आलापपद्धतिके "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूत-व्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः"। इस वचनको उद्धृत किया है। इस विषयमें मुझे केवल इतना ही कहना है कि यदि पूर्वपक्षने उपचारके प्रवृत्तिस्थलको उपचारकी व्याख्यामें समावेश कर दिया है तो इसमें क्या अयुक्तता है; यह समझमें नहीं आया, क्योंकि व्याख्याका अर्थ केवल लक्षण ही नहीं होता है। व्याख्यामें वस्तुके स्वरूप, विषय, भेद-प्रभेद और प्रवृतिस्थल आदि सभीका समावेश होता है। उत्तरपक्षको उचित है कि बालकी खाल न निकाल संगत ही वक्ताके अभिप्रायको समझे।

आगे इसी विषयका विस्तार करते हुए त० च० पृ० ५६ पर उत्तरपक्षने लिखा है—"प्रकृतमें कार्य-कारणभावका विचार प्रस्तुत है। कार्य एक है और कारण दो—एक बाह्य सामग्री, जो अपने स्वचतुष्टय

द्वारा कार्यके स्वचतुष्टयको स्पर्श करनेमें सर्वथा असमर्थ है और दूसरी अन्तःसामग्री, जो कार्यके अव्यवहित प्राग्रूप स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों कारणोंमें कार्यका वास्तविक कारण कौन? दोनों या एक? इसे यथार्थ रूपमें समझनेके लिए कारकोंके स्वरूप पर दृष्टिपात करना होगा। कारक दो प्रकारके हैं—एक निश्चयकारक और दूसरे व्यवहारकारक। निश्चयकारक जिस द्रव्यमें कार्य होता है उससे अभिन्न होते हैं और व्यवहारकारक जिस द्रव्यमें कार्य होता है उससे भिन्न माने गये हैं। प्रत्येक द्रव्यमें अपना कार्य करनेमें समर्थ उससे अभिन्न छः कारक नियमसे होते हैं। इसको समझनेके लिए पंचास्तिकाय गाथा १२ और उसकी टीका देखने योग्य है"। उत्तरपक्षका यह कथन बच्चों जैसा है और पिसेको पीसता है, क्योंकि उसमें हमें विवाद नहीं है। वह सब तो हम स्वीकार करते ही हैं।

इसके आगे उत्तरपक्षने वहीं पर प्रत्येक द्रव्यमें अपना कार्य करनेमें समर्थ उससें अभिन्न छः कारकोंकी स्वीकृतिके विषयमें पंचास्तिकाय गाथा १२ की उत्थानिकामें निर्दिष्ट आचार्य अमृतचन्द्रके वचनका प्रमाण दिया है तथा वहींपर अनगारधर्मामृत और त० च० पृ० ५७ पर परमात्मप्रकाशके वचनोंको भी प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है। सो उसमें भी हमें विवाद नहीं है। परन्तु इसके आगे उसने इनके निष्कर्षके रूपमें जो लिखा है कि "इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक समयमें निश्चयषट्कारकरूपसे परिणत हुआ प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करनेमें समर्थ है" सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह कथन द्रव्यके प्रतिसमय होने वाले स्वप्रत्ययरूप कार्यके विषयमें ही लागू होता है, स्वपरप्रत्यय कार्यके विषयमें नहीं। इस विषयको पूर्वमें प्रेरक निमित्तोंका विवेचन करते समय स्पष्ट किया गया है।

इसके आगे इस विषयके समर्थनमें उत्तरपक्षने त० श्लो० वा० पृ० ४१० का एक अधूरा उद्धरण इस प्रकार दिया है—"ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता", इसपर मेरा कहना है कि कमसे कम उत्तरपक्षको यह उद्धरण उसके द्वारा किये गये स्पटीकरणके अनुसार पूरा देना था जो इस प्रकार है—"ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता व्यवहारनयाश्रया प्रतिपत्तव्या बाधकाभावादिति, निश्चयनयान्न तेषामाधाराधेयता युक्ता" इत्यादि और स्पष्टीकरणके प्रारंभमें इतना और जोड़ देना था कि "इसलिये ठीक ही कहा है कि लोकाकाश और धर्मादि द्रव्योंकी आधाराधेयता व्यवहारनयाश्रित जानना चाहिए"। ऐसा करनेसे ही व्यवहारनयके विषयमें उद्धृत त० श्लो० वा० के उद्धरणका ठीक अभिप्राय समझमें आ सकता था।

वास्तवमें त० श्लो० वा० के उक्त कथनसे व्यवहारनय भी व्यवहार-कथनमें उसी प्रकार वास्तविक सिद्ध होता है जिस प्रकार निश्चयनय निश्चयके कथनमें वास्तविक है। यतः यह बात पूर्वपक्षको तो अभीष्ट है, किन्तु उत्तरपक्षको अभीष्ट नहीं है। इसीलिये उत्तरपक्षने त० श्लो० वा० का उक्त उद्धरण अपने विपरीत पड़नेसे पूरा देनेमें कंजूसी बरती और उसका स्पष्टीकरण भी आगमके अभिप्रायके विपरीत अपनी इच्छानुसार किया। इसे क्या कहा जाये? तत्त्वनिर्धारण तो नहीं कहा जा सकता। अस्तु।

आगमका अभिप्राय यह है कि वस्तुतत्त्वको समझनेमें निश्चयनयकी जितनी उपयोगिता है उतनी ही उपयोगिता व्यवहारनयकी कार्यको सिद्ध करनेमें है। इस भावनासे ही आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी आत्मख्याति टीकामें निम्न आगम-वचनको उद्धृत किया है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

इसका अर्थ यह है कि "यदि जिन शासनकी प्रवृत्ति (रक्षा, प्रचार, प्रसार) चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारके छोड़नेसे धर्मतीर्थका नाश होता है और निश्चयको छोड़ देनेसे वस्तुतत्त्व नष्ट होता है। अतः दोनोंका ग्रहण आवश्यक है।"

इसको ध्यानमें रखकर जहाँ पूर्वपक्ष व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको अपने-अपने दृष्टिकोणका प्ररूपण करनेसे वास्तविक स्वीकार करता है वहाँ उत्तरपक्ष निश्चयनयको वास्तविक और व्यवहारनयको अवास्तविक (कल्पनारोपित) मात्र मानना चाहता है। यही पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके विवादकी मूल जड़ है।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५७ पर त० श्लो० वा० पृ० ४१० का यह कथन भी उद्धृत किया है कि "व्यवहारनयादेवोत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः" और उसका अर्थ भी उसने यह किया है कि "व्यवहारनयसे ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं। परन्तु प्रश्न फिर भी असमाहित रहता है, क्योंकि व्यवहार-नयके विषयको वह आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र मानता है, जो प्रमाणविरुद्ध है। इसे पूर्वमें भी स्पष्ट किया जा चुका है।

आगे त० च० पृ० ५७ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है—"यह तो अपरपक्ष भी स्वीकार करेगा कि व्यवहारनयके दो भेद हैं" इत्यादि। सो इसे स्वीकार करनेमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है तथा उसकी पुष्टिके लिए उसने जो अष्टसहस्री पृ० ११२ का उद्धरण दिया है जो उसमें और उसके अर्थमें भी पूर्वपक्षका कोई विरोध नहीं है। परन्तु उसने अष्टसहस्री पृ० ११२ के उद्धरणके अंशभूत "तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्" वचनके अभिप्रायको समझनेके लिए जो अष्टसहस्री पृ० १५० का उद्धरण प्रस्तुत किया है उसके आधारपर प्रकट किये गये अभिप्रायसे पूर्वपक्ष सहमत नहीं है क्योंकि उससे वह स्वपरप्रत्यय कार्यमें भी बाह्य सामग्रीकी अकिंचित्करताको सिद्ध करना चाहता है किन्तु वह अष्टसहस्रीके उक्त वचनसे सिद्ध नहीं होती है। उसके त० च० पृ० ५८ पर निर्दिष्ट इस कथनसे कि "सद्भूत व्यवहारनयसे अन्तःसामग्रीको और असद्भूतव्यवहारनयसे बाह्य सामग्रीको उत्पादक कहा गया है। एकको दूसरेका उत्पादक कहना व्यवहार है और स्वयं उत्पन्न होता है यह कहना निश्चय है अर्थात् निश्चयनयका विषय है" पूर्वपक्षको विरोध नहीं है। परन्तु उत्तरपक्ष जो उससे असद्भूत व्यवहारनयके विषयको आकाशकुसुमकी तरह काल्पनिक मानना चाहता है वह किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसे पूर्वमें अनेक स्थलोंपर स्पष्ट किया जा चुका है।

इसके आगे त० च० पृ० ५८ पर ही उत्तरपक्षने जो "यह वस्तुस्थिति है" इत्यादि अनुच्छेद लिखा है उसके विषयमें भी पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन उसने इस अनुच्छेदके अन्तमें जो यह लिखा है कि "हमें विश्वास है कि अपरपक्ष पूर्वोक्त उदाहरण द्वारा आगमप्रमाणोंके प्रकाशमें इस तथ्यको ग्रहण करेगा।" यह उसने पूर्वपक्षके निश्चय और व्यवहारके विषयमें आगम प्रमाणोंके आधारपर निर्णीत दृष्टिकोणको नहीं समझनेके कारण ही लिखा है। इस विषयमें पूर्वपक्षका क्या दृष्टिकोण है, यह बात पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योंमें स्वयं स्पष्ट की है और इस समीक्षामें मैं भी अनेक स्थलोंपर स्पष्ट कर चुका हूँ।

इसके आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५८-५९ पर यह कथन किया है कि "अपरपक्षने उपचार कहाँ प्रवृत्त होता है यह बतलानेके लिए जो अन्य दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनका आशय भी यही है। अन्न अपने परिणामलक्षण क्रियाका कर्त्ता है। और प्राण अपने परिणाम लक्षणक्रियाके कर्त्ता हैं। ये परस्पर

एक दूसरेकी क्रिया नहीं करते। फिर भी कालप्रत्यासत्तिवश वहाँ अन्नमें प्राणोंकी निमित्तता उपचरित की गई है। अतएव अन्न जैसे प्राणोंका उपचरित हेतु है उसी प्रकार प्रकृतमें जान लेना चाहिए। वचनमें परार्थानुमानका उपचार क्यों किया जाता है इसका खुलासा भी इससे हो जाता है और इस उदाहरणसे भी यही ज्ञात होता है कि कुम्भकार वास्तवमें घटोत्पत्तिका हेतु नहीं है।"

इस कथनकी समीक्षामें मुझे इतना ही कहना है कि "अन्न ही प्राण हैं" यहाँपर अन्नमें प्राणोंका उपचार किया गया है और वह इन आधारोंपर किया गया है कि अन्नमें यद्यपि प्राणरूपताका अभाव है लेकिन वह अन्न प्राणोंके संरक्षणमें वास्तवमें निमित्त (सहायक) है, इसलिये आलापपद्धतिके "मुख्याभावे" इत्यादि वचनके अनुसार अन्नको जो प्राण कहा गया है वह उपचारसे कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि अन्नमें प्राणोंके संरक्षणकी निमित्तता उपचरित नहीं है किन्तु प्राणोंके संरक्षणमें वास्तविक रूपमें निमित्त (सहायक) होनेके आधारपर अन्नमें प्राणरूपता उपचरित की गई है।

उत्तरपक्षने इसी अनुच्छेदमें जो यह लिखा है कि "वचनमें परार्थानुमानका उपचार क्यों किया जाता है इसका खुलासा भी इससे हो जाता है" सो उसका ऐसा लिखना असंगत है, क्योंकि वचन परार्थ अनुमान-ज्ञानमें हेतु होता है अतः वचनको भी परार्थ अनुमान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि परार्थ अनुमान प्रमाण तो वास्तवमें ज्ञानरूप ही होता है, लेकिन उसके होनेमें वचन सहायक रूपसे हेतु होता है, अतः उस वचनको भी परार्थ अनुमान कहा जाता है। यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया गया है। और ऐसा उपचार वस्तुबोधक होनेसे काल्पनिक नहीं है, वास्तविक है।

इसी अनुच्छेदके अन्तमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "इस उदाहरणसे भी ज्ञात होता है कि कुम्भकार वास्तवमें घटोत्पत्तिमें हेतु नहीं है" सो उसका यह भ्रम है, क्योंकि कुम्भकार घटोत्पत्तिमें मिट्टीकी तरह घटरूप परिणत न होनेपर भी मिट्टीकी उस घटरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे वास्तविक ही हेतु है अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित हेतु नहीं है और इस सहायकहेतुताके आधारपर कुम्भकारमें घटकर्तृत्वका उपचार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि घटोत्पत्तिमें कुम्भकारका सहायक होना उपचरित नहीं है, वह तो वास्तविक है लेकिन सहायक होनेके आधारपर उसमें (कुम्भकारमें) घटका कर्तृत्व उपचरित है।

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५९ पर यह कथन किया है कि "अपरपक्षने अपने प्रकृत विवेचनमें सबसे बड़ी भूल तो यह की है कि उसने बाह्य सामग्रीका स्वरूपसे अन्यके कार्यका निमित्त स्वीकार करके अपना पक्ष उपस्थित किया है। किन्तु उस पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त कथनको वास्तविक माननेपर अन्य द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तवमें रहता है यह स्वीकार करना पड़ता है और ऐसा स्वीकार करनेपर दो द्रव्योंमें एकताका प्रसंग उपस्थित होता है। अतएव अपरपक्षको प्रकृतमें यह स्वीकार करना चाहिए कि बाह्य सामग्रीको अन्यके कार्यका हेतु कहना यह प्रथम उपचार है और उस आधारसे उसे वही कहना या उसका कर्त्ता कहना यह दूसरा उपचार है। "अन्नं वै प्राणाः" यह वास्तवमें उपचरितोपचारका उदाहरण है सर्वप्रथम तो यहाँ व्यवहार (उपचार) नयसे अन्नमें प्राणोंकी निमित्तता स्वीकार की गई है और उसके बाद पुनः व्यवहार (उपचार) नयका आश्रय कर ही प्राण हैं ऐसा कहा गया है। यहाँ व्यवहार पद उपचारका पर्यायवाची है। अतएव आगममें जहाँ भी एक

द्रव्यको दूसरे द्रव्यके कार्यका व्यवहारनयसे निमित्त कहा गया है वहाँ उसे उस कार्यका उपचारनयसे निमित्त कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।"

इसकी समीक्षा इस प्रकार है—

उत्तरपक्षने ऐसी चतुराईसे पूर्वपक्षका उपस्थापन किया है, मानो वह उसे नहीं मानता और उत्तरपक्ष उसकी गलती बतला कर उसे मनवाना चाहता है। किन्तु उसका यह दूषित प्रयास है। उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यके प्रारंभमें जो यह लिखा है कि "अपरपक्षने अपने प्रकृत विवेचनमें सबसे बड़ी भूल तो यह की है कि उसने बाह्य सामग्रीको स्वरूपसे अन्यके कार्यका निमित्त स्वीकार करके अपना पक्ष उपस्थित किया है।" इस पर मेरा कहना है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षकी इस स्वीकृतिको कि "बाह्य सामग्री स्वरूपसे अन्यके कार्यका निमित्त बनी हुई है" जो उसकी भूल समझ रहा है, सो उसका ऐसा समझना असंगत है, क्योंकि अपरपक्ष निमित्तका अर्थ सहायक कारण मानता है। आगममें भी कार्योत्पत्तिमें जहाँ उपादानकी सापेक्षतामें निमित्त शब्दका प्रयोग किया गया है वहाँ उसका अर्थ सहायक कारण ही किया गया है। कार्योत्पतिमें सहायक कारण कार्यरूप परिणत होने वाली उपादानकारणभूत वस्तुसे भिन्न वस्तु ही होता है और यह आगम सिद्ध है। तथा एक वस्तुके कार्यमें अन्य वस्तुके सहायक होने रूप निमित्तता वास्तविक ही होती है। तात्पर्य यह है कि एक वस्तुमें जैसे उपादान और उपादेयका भेद है। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है वह उपादान कही जाती है और उसका वह कार्य उपादेय कहा जाता है। इनकी वास्तविकता तादात्म्य संबंधाश्रित है। वैसे ही उस वस्तुसे अन्य वस्तु उस कार्यमें सहायक होनेसे निमित्त होती है और वह कार्य उसका नैमित्तिक कहा जाता है तथा उनकी यह वास्तविकता संयोगसंबंधाश्रित है। तादात्म्य और संयोग दोनों ही सम्बन्ध अपने-अपने ढंगसे वास्तविक होते हैं। इसे पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। इस तरह एक द्रव्यके कार्यमें दूसरे द्रव्यकी सहायक होने रूप निमित्तताको स्वीकार करनेपर भी दो द्रव्योंमें एकताका प्रसंग कहा जाता है ?

इसी अनुच्छेदमें इसके आगे उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "अतएव अपरपक्षको प्रकृतमें यह स्वीकार करना चाहिए कि बाह्य सामग्रीको अन्यके कार्यका हेतु कहना यह प्रथम उपचार है और उस आधारसे उसे वही कहना या उसका कर्त्ता कहना यह दूसरा उपचार है।" सो उत्तरपक्षको ज्ञात होना चाहिए कि पूर्वपक्ष द्वारा भी निमित्तको उपचरितकारण स्वीकार किया गया है। परन्तु इस उपचारको वह पराश्रितताके आधारपर उपचार मानता है व इसके आधारसे उसी निमित्तमें अन्य वस्तुके कर्तृत्वका उपचार वह आलापपद्धतिके पूर्वोक्त वचनके आधारपर स्वीकार करता है। इस तरह उत्तरपक्ष और पूर्वपक्ष दोनोंमें जो मतभेद है वह यह है कि जहाँ उत्तरपक्ष इन दोनों ही उपचारोंको कल्पनारोपित मात्र मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उन्हें कल्पनारोपित नहीं मानता है। पूर्वपक्षकी यह मान्यता आगमसम्मत है। पर उत्तरपक्षकी मान्यता आगमसम्मत नहीं है।

यहाँ ध्यातव्य है कि हेतु (कारण) केवल उपादान ही नहीं होता। बाह्य सामग्री भी हेतु होती है। इसीसे 'हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा', 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं' जैसे आगम वचन हैं।

इसी अनुच्छेदमें आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "अन्नं वै प्राणाः" यह वास्तवमें उपचरितोपचारका उदाहरण है, आदि, सो इस विषयमें भी पूर्वपक्षको विरोध नहीं है। वह उत्तरपक्षकी तरह उसे केवल कल्पनारोपित माननेको तैयार नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षकी मान्यतामें अन्नकी प्राणोंके संरक्षणमें स्वीकृत

निमित्तता सहायक होने रूपसे वास्तविक है। मात्र पराश्रितताके आधारपर वह उपचरित है। वास्तवमें अन्नमें प्राणरूपताका कथन आलापपद्धतिके उक्त वचनके अनुसार उपचरित है। इसी प्रकार आगेके अनुच्छेदमें व्यवहार और उपचारको एकार्थवाची बतलाते हुए उत्तरपक्षने लिखा है कि "उपचार और व्यवहार ये एकार्थवाची हैं" उसमें भी विवाद नहीं है। परन्तु पूर्वपक्षकी दृष्टिमें व्यवहार या उपचार कल्पनारोपित नहीं हैं, जैसा कि उत्तरपक्ष मानता है। इसी प्रकार उत्तरपक्ष द्वारा त० च० पृ० ५९ पर निर्दिष्ट "तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० ५ सू० १२ से भी यही तथ्य फलित होता है" इत्यादि अनुच्छेदके विषयमें भी जान लेना चाहिए। अर्थात् उसमें भी पूर्वपक्षको विवाद इतना ही है कि उत्तर पक्ष उस तथ्यको कल्पना-रोपित स्वीकार करता है जब कि पूर्वपक्ष उसे वास्तविक मानता है।

उपर्युक्त विवेचनके पश्चात् उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५९ पर ही जो यह लिखा है कि "यह तथ्य है। इस तथ्यको ध्यानमें रखकर आलापपद्धतिके "मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने चोपचारः प्रवर्तते" इस पदका असद्भूत व्यवहारनयसे यह अर्थ फलित होता है कि यदि मुख्य (यथार्थ) प्रयोजन और निमित्त (कारण) का अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा असद्भूत व्यवहार प्रयोजन और असद्भूत व्यवहार निमित्तकी विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।" वह निराधार है, क्योंकि आलापपद्धतिके उक्त वचनका अर्थ यह है कि जहाँ मुख्य (यथार्थ) का अभाव हो और निमित्त (कारण) व प्रयोजनका सद्भाव हो वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। जैसे—"घी का घड़ा" इस वचनसे 'घीका आधारभूत घड़ा' यह अर्थ विवक्षित है, जो उपचरित अर्थ है, क्योंकि घीसे घड़ेका निर्माण संभव न होनेसे घी से निर्मित्त घड़ा इस मुख्य (यथार्थ) अर्थका प्रतिपादन "घीका घड़ा" इस वचनसे नहीं होता है तथा "घीका आधारभूत घड़ा" यह अर्थ इस कारणसे किया जाता है कि घड़ा घीका आधार बना हुआ है। इतना ही नहीं, "घी का घड़ा लाओ" इस वचनसे वक्ता यह प्रतिपादन करना चाहता है कि जिसमें घी रखा हुआ है या रखा जाता है वह घड़ा लाओ। जिसमें उसका घी रखने या निकालनेका प्रयोजन होता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति विशेषको जो "कुम्भकार" शब्दसे बोला जाता है वह इसलिये नहीं बोला जाता है कि वह व्यक्ति विशेष कुम्भका मुख्य (उपादान) कर्त्ता है क्योंकि वह व्यक्तिविशेष घटरूप परिणत नहीं होता है। परन्तु वह मिट्टीसे होने वाले घटके निर्माणमें सहायक होने रूपसे निमित्त (कारण) होता है तथा वह घटानुकूल व्यापार प्रयोजनसे करता है क्योंकि घटसे जलाहरण आदि क्रियायें सम्पन्न की जा सकती हैं। इसलिये कुम्भकार शब्दका "कुम्भका कर्त्ता" यह अर्थ उपचरित सिद्ध हो जाता है। इसी तरह उत्तरपक्षने त० च० पृ० ५९ पर ही जो यह लिखा है कि "तथा अखण्ड द्रव्यमें भेदविवक्षावश इसका यह अर्थ होगा कि मुख्य अर्थात् द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत यथार्थ प्रयोजन और यथार्थ निमित्तका अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा सद्भूत व्यवहाररूप प्रयोजन और सद्भूत व्यवहाररूप निमित्तकी विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।" सो "मुख्याभावे" इत्यादि उक्त वचनका यह अर्थ भी उत्तरपक्षकी कल्पनाकी उड़ानके सिवाय और कुछ नहीं है, क्योंकि वह अर्थ उसका नहीं है। आगे त० च० पृ० ६० पर उत्तरपक्षने लिखा है कि "यही कारण है कि "मुख्याभावे" इत्यादि वचनके बाद उस उपचारको कहीं अविनाभाव संबंधरूप, कहीं संश्लेष सम्बन्ध-रूप और कहीं परिणाम-परिणामिसम्बन्ध आदि रूप बतलाया गया है। यह लिखना भी उसका असंगत है, क्योंकि जब "मुख्याभावे" इत्यादि वचनका उत्तरपक्ष द्वारा किया गया उपर्युक्त अर्थ ही असंगत है तो इस कथनका उसके साथ समन्वय करनेकी निरर्थकता अपने आप सिद्ध हो जाती है तथा त० च० पृ० ६० पर

ही किया गया उसका यह कथन भी निरर्थक है कि "इसलिये आलापपद्धतिके उक्त वाक्यको ध्यानमें रखकर अपरपक्षने उसके आधारसे यहाँ जो कुछ भी लिखा है वह ठीक नहीं यह तात्पर्य हमारे उक्त विवेचनसे सुतरां फलित हो जाता है।" अच्छा होता, उत्तरपक्ष उन स्थलोंको भी यहाँ बतला देता, जहाँ उपचारको अविनाभावसम्बन्धरूप, संश्लेषसम्बन्धरूप और परिणाम-परिणामीसम्बन्ध आदि रूप बतलाया गया है। उसे यह भी उचित था कि वह इन सम्बन्धोंके साथ उपचारका समन्वय करके दिखाता, जिससे उनकी भी समीक्षा या विमर्श किया जाता। उत्तरपक्षने यह सब कथन गुमसुम रूपमें ही किया है, अतः उसके विषयमें कुछ भी नहीं लिखा जा सकता है।

कथन ४१ और उसकी समीक्षा

(४१) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २१ पर व्याकरणके आधारपर उपादान और निमित्त दोनों शब्दोंके अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। उसके विषयमें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६० पर कहा है कि "अपरपक्षने इसी प्रसंगमें उपादान पदकी निरुक्ति तथा व्याकरणसे सिद्धि करते हुए लिखा है कि "जो परिणमनको स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्यका आश्रय ठहरता है"। तथा निमित्त पदकी निरुक्ति और व्याकरणसे सिद्ध करते हुए उसके विषयमें लिखा है कि "जो मित्रके समान उपादानका स्नेहन करे अर्थात् उसकी कार्यपरिणतिमें मित्रके समान सहयोगी हो वह निमित्त कहलाता है"। उपादान और निमित्तके विषयमें यह अपरपक्षका वक्तव्य है। इससे विदित होता है कि अपरपक्ष उपादानको मात्र आश्रयकारण मानता है और निमित्तको सहयोगी। अतएव प्रश्न होता है कि कार्यका कर्त्ता कौन होता है? अपरपक्ष अपने उक्त कथन द्वारा कार्यको उपादानका तो स्वीकार कर लेता है, इसमें सन्देह नहीं, अन्यथा उपादानके लिए "उसकी कार्यरूप परिणतिमें" ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं करता। परन्तु वह उपादानको कार्यका मुख्य (वास्तविक) कर्त्ता नहीं मानना चाहता, इसका हमें आश्चर्य है।"

इसके सम्बन्धमें मुझे केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनसे ही यह सिद्ध होता है कि उपादान कार्यका कर्त्ता होता है और यह भी सिद्ध होता है कि वह उसका मुख्य कर्त्ता होता है तथा निमित्त उसकी कार्यरूप परिणतिमें अपना सहयोग प्रदान करता है। इसलिये उत्तरपक्षने अपरपक्षपर जो आरोप लगाया है कि वह उपादानको कार्यका मुख्य (वास्तविक) कर्त्ता नहीं मानना चाहता है, इसका हमें आश्चर्य है। वह केवल तत्त्वजिज्ञासुओंके समक्ष पूर्वपक्षको गलत प्रस्तुत करनेका कुत्सित प्रयत्न है।

कथन ४२ और उसकी समीक्षा

(४२) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६० पर ही लिखा है कि "समयसार कलशमें यदि जीव पुद्गलकर्मको नहीं करता है तो कौन करता है ऐसा प्रश्न उठाकर उसका समाधान करते हुए लिखा है कि यदि तुम अपना तीव्र मोह (अज्ञान) दूर करना चाहते हो तो कान खोलकर सुनो कि वास्तवमें पुद्गल ही अपने कार्यका कर्त्ता है जीव नहीं"। इसके आगे उसने समयसारके उस कलशको भी उद्धृत किया है। इसके आगे उसने लिखा है कि "अपरपक्ष जबकि कार्यके प्रति व्यवहारकर्त्ता या व्यवहारहेतु आदि शब्दों द्वारा प्रयुक्त हुए बाह्य पदार्थको उपचारकर्त्ता या उपचारहेतु स्वीकार कर लेता है ऐसी अवस्थामें उसे आगममें किये गये उपचार पदके अर्थको ध्यानमें रखकर इस कथनको अवास्तविक मान लेनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे उपादानकर्त्ता वास्तविक है यह सुतरां फलित हो जाता है। बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहारको लक्ष्यमें रखकर उपचारकर्त्ता या उपचार हेतुका आगममें कथन क्यों किया है, इसका प्रयोजन है और इस प्रयोजनको

लक्ष्यमें रखकर यह कथन व्यर्थ न होकर सार्थक और उपयोगी भी है। किन्तु इस आधारपर अपरपक्ष द्वारा इस कथनको ही वास्तविक ठहराना किसी भी अवस्थामें उचित या परमार्थरूप नहीं कहा जा सकता है"।

इसकी समीक्षा इस प्रकार है—

समयसार कलशमें जो कुछ बतलाया गया है उसे पूर्वपक्ष भी स्वीकार करता है। परन्तु वह कार्यके प्रति व्यवहारकर्त्ता या व्यवहार हेतु आदि शब्दों द्वारा प्रयुक्त हुए बाह्य पदार्थको उपचारकर्त्ता या उपचार हेतु स्वीकार करते हुए भी बाह्य पदार्थकी उपचारहेतुताको वास्तविक क्यों मानता है इसका आगमप्रमाणोंके आधार उसने अपने वक्तव्योंमें वार वार स्पष्टीकरण किया है और इस समीक्षामें भी उसका बार बार स्पष्टीकरण किया गया है। उसकी उत्तरपक्ष जान-बूझकर उपेक्षा कर रहा है।

वास्तवमें जिस प्रकार कार्यके प्रति उपादानकारण कार्यरूप परिणत होने रूपसे वास्तविक है उसी प्रकार निमित्तकारण भी उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें उसका सहायक होने रूपसे वास्तविक है। किन्तु निमित्तकारणको जो आगममें उपचारहेतु कहा गया है उसका कारण यह है कि जिस प्रकार उपादानकारण कार्यसे अभिन्न वस्तुरूप होता है उस प्रकार निमित्तकारण कार्यसे अभिन्न वस्तुरूप न होकर उससे भिन्न वस्तुरूप होता है। इसी तरह बाह्य वस्तुको जो उपचरितकर्त्ता कहा जाता है उसका भी कारण यह है कि वह उपादानके समान कार्यरूप परिणत न होकर उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें नियमसे सहायक मात्र हुआ करती है, वह वहां अकिंचित्कर नहीं रहती है, इसलिए आलापपद्धतिके "मुख्याभावे" इत्यादि वचनके अनुसार उसे उपचरित कर्त्ता भी कहा जाता है। उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनमें स्वयं स्वीकार किया है कि बाह्य सामग्रीको आगममें जो उपचारकर्त्ता या उपचारहेतु कहा गया है उसका प्रयोजन है और इस प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर यह कथन व्यर्थ न होकर सार्थक और उपयोगी भी है।

यद्यपि उत्तरपक्षने अपने कथनमें बाह्य वस्तुको उपचारकर्त्ता और उपचार हेतु माननेमें प्रयोजनका संकेत करते हुए भी वह प्रयोजन क्या है यह नहीं बतलाया है तथापि वह प्रयोजन यही है कि वह बाह्य वस्तु उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी हुआ करती है वह वहां सर्वथा अकिंचित्कर नहीं बनी रहती है। इसलिए उसकी कार्यकारिता आकाशकुसुमके समान कल्पनारोपित नहीं है, अतएव वास्तविक है। उसे उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनमें जो सार्थक और उपयोगी कहा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि कार्यके प्रति बाह्य वस्तुकी उपचरितकारणता या उपचरितकर्तृता आकाशकुसुमके समान कल्पनारोपित मात्र न होकर पारमार्थिक ही है। इस तथ्यपर उत्तरपक्षको गम्भीरतासे ध्यान देना चाहिए। उत्तरपक्ष यदि इसे स्वीकार कर लेता है, तो फिर उत्तरपक्ष और पूर्वपक्षके मध्य प्रकृत विषयमें कोई विवाद नहीं रह जाता है।

कथन ४३ और उसकी समीक्षा

(४३) कार्योत्पत्तिमें जिस प्रकार उपादान कार्यरूप परिणत होने रूपसे कार्यकारी होता है उसी प्रकार निमित्त उपादानका सहायक होने रूपसे कार्यकारी होता है। निमित्तका कार्य वहांपर केवल हाजिरी देना मात्र नहीं है। पूर्वपक्षने अपनी इस मान्यताकी पुष्टिमें त० च० पृ० २२ पर एक उदाहरण अष्टसहस्री पृ० १५० का दिया है, जिसका भाव यह है कि स्वर्ण जो केयूर आदि रूप परिणत होता है वह तभी होता है जब स्वर्णकारके व्यापार आदि रूप बाह्य सामग्रीका उसे सन्निपात (संयोग) प्राप्त होता है। अर्थात् जब तक

स्वर्णको स्वर्णकारके व्यापार आदि रूप बाह्य सामग्रीका संयोग प्राप्त नही होता तब तक वह स्वर्ण केयूर आदि रूप परिणत नहीं होता। दूसरा उदाहरण अष्टसहस्री पृ० २६७ पर निर्दिष्ट देवागम स्तोत्रके "कामादिप्रभवश्चित्रः" इत्यादि पद्य ९९ का दिया है, जिसका भाव यह है कि जीवोंमें जो अनेक तरहके कामादिविकार उत्पन्न होते हैं वे सब पुद्गलकर्मके बन्धके अनुसार ही होते हैं अर्थात् जीवमें जिस प्रकारका पुद्गलकर्म बद्ध होता है उसीके अनुसार उसमें (जीवमें) कामादिविकारोंकी उत्पत्ति होती है। ऐसा नहीं है कि वे विभिन्न प्रकारके काम, क्रोधादि पुद्गलकर्मबन्धके बिना भी उत्पन्न हो जाते हैं। तीसरा उदाहरण प्रवचनसार गाथा २५५ की टीकाका दिया है, जिसका भाव यह है कि एक ही प्रकारके बीजोंमें भूमिकी विपरीतताके कारण जिस प्रकार कार्योत्पत्तिकी विपरीतता देखी जाती है उसी प्रकार प्रशस्तराग-लक्षण शुभोपयोगका फल भी पात्रकी विपरीतताके कारण विपरीत होता है। इसका हेतु उसी गाथाकी टीकामें यह दिया है कि कारणविशेषसे कार्यमें विशेषताका होना अवश्यंभावी है।

इसके उत्तरमें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६०-६१ पर लिखा है कि "अपरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें आगमके जो तीन उदाहरण उपस्थित किये हैं उनमेंसे अष्टसहस्री पृ० १५० का उदाहरण निश्चय उपादानके साथ बाह्यसामग्रीकी मात्र कालप्रत्यासत्तिको सूचित करता है। देवागम कारिका ९९ से मात्र इतना ही सूचित होता है कि यह जीव अपने रागादिभावोंको मुख्य कर जैसा कर्मबन्ध करता है उसके अनुसार उसे फलका भागी होना पड़ता है। फलोपभोगमें कर्म तो निमित्तमात्र है, उसका मुख्यकर्त्ता तो स्वयं जीव ही है। अपरपक्षने इस कारिकाके उत्तरार्द्धको छोड़कर उसे आगम वचनके प्रमाणरूपमें उपस्थित किया है। इससे कर्म और जीवके रागादिभावोंमें निमित्त-नैमित्तिक योग कैसे बनता है इतना ही सिद्ध होता है। अतएव इससे अन्य अर्थ फलित करना उचित नहीं है। तीसरा उदाहरण प्रवचनसार गाथा २५५ की टीकाका है। किन्तु इस वचनको प्रवचनसार गाथा २५४ और उसकी टीकाके प्रकाशमें पढ़नेपर विदित होता है कि इससे उपादानके कार्यकारीपनेका ही समर्थन होता है। रसपाककालमें बीजके समान भूमि फलका स्वयं उपादान भी है इसे अपरपक्ष यदि ध्यानमें ले ले तो उसे इस उदाहरण द्वारा आचार्य किस तथ्यको सूचित कर रहे हैं इसका ज्ञान होनेमें देर न लगे। निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा विचार करनेपर इस आगमप्रमाणसे यह विदित होता है कि बीजका जिस रूपमें अपने कालमें रसपाक होता है तदनुकूल भूमि उसमें निमित्त होती है और उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा विचार करनेपर इस आगमप्रमाणसे यह विदित होता है कि भूमि बीजके साथ स्वयं उपादान होकर जैसे अपने कालमें इष्टार्थको फलित करती है वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए। स्पष्ट है कि इन तीन आगमप्रमाणोंसे अपरपक्षके मतका समर्थन न होकर हमारे अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है। बाह्य सामग्री उपादानके कार्यकालमें उपादानकी क्रिया न करके स्वयं उपादान होकर अपनी ही क्रिया करती है, फिर भी बाह्य सामग्रीके क्रियाकालमें उपादानका यह कार्य होनेका योग है, इसलिये बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। इसे यदि अपरपक्ष निमित्तकी हाजिरी समझता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री उपादानके कार्यका अनुरंजन करती है, उपकार करती है, सहायक होती है आदि यह सब कथन व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य है, निश्चयनयका नहीं। अपने प्रतिषेधक स्वभावके कारण निश्चयनयकी दृष्टिमें यह प्रतिषेध्य ही है। आशा है अपरपक्ष इस तथ्यके प्रकाशमें उपादानके कार्यकालमें बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्तव्यवहारको वास्तविक (यथार्थ) माननेका आग्रह छोड़ देगा।"

आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

प्रस्तुतमें मैंने पूर्वपक्षके अभिप्रायके साथ जो उत्तरपक्षके सम्पूर्ण कथनको दिया है वह इस अभिप्रायसे दिया है कि तत्त्वजिज्ञासुओंको तत्त्व समझनेमें सरलता होगी। अर्थात् दोनोंको पढ़नेसे तत्त्वजिज्ञासु यह समझ लेंगे कि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके कथनोंमें कहाँ अन्तर है। उत्तरपक्ष जहाँ उपादानकी कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीको सर्वथा अकिंचित्कर कहना चाहता है और उसमें मात्र निमित्त व्यवहार स्वीकार करता है वहाँ पूर्वपक्ष बाह्य सामग्रीको कार्योत्पत्तिमें उपादानकी सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानकर उसमें निमित्तव्यवहार स्वीकार करता है। फलतः उत्तरपक्षकी मान्यतामें बाह्य सामग्री उपादानकी कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर रहती है और उसमें निमित्तव्यवहार आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र सिद्ध होता है तथा पूर्वपक्षकी मान्यतामें बाह्य सामग्री उपादानकी कार्योत्पत्तिमें अनिवार्य सहायक होने रूपसे कार्यकारी होती है और उसमें निमित्त व्यवहार आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित न होकर वास्तविक सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उत्तरपक्षकी मान्यतामें बाह्य सामग्री उपादानकी क्रिया नहीं करती है उसी प्रकार पूर्वपक्षकी मान्यतामें भी बाह्य सामग्री उपादानकी क्रिया नहीं करती है। इस तरह दोनों पक्षोंकी मान्यतामें इतनी समानता है कि उपादान अपनी क्रिया करता है और बाह्य सामग्री भी अपनी क्रियाका उपादान होकर अपनी ही क्रिया करती है। परन्तु दोनों पक्षोंमें इतनी समानता पाई जानेपर भी यह मतभेद है कि पूर्वपक्ष प्रेरक निमित्तके संबंधमें कालप्रत्यासत्तिका इस रूपमें निर्धारण करता है कि जब बाह्य सामग्रीका व्यापार उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणतिके अनुकूल होता है तब उपादान अपनी योग्यता अनुसार उस कार्यरूप परिणत होता है और जब तक बाह्य सामग्रीका व्यापार उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणतिके अनुकूल नहीं होता तब तक उपादानकी वह परिणति नहीं होती है। तब उपादानकी वही परिणति होती है जिसके अनुकूल बाह्य सामग्रीका व्यापार उस समय होता है। पर उत्तरपक्ष प्रेरक और उदासीन दोनों ही निमित्तोंके सम्बन्धमें समानरूपसे कालप्रत्यासत्तिका निर्धारण करता है। उसका मन्तव्य है कि जब उपादान विवक्षित कार्यरूप परिणत होता है तभी तदनुकूल बाह्य सामग्री भी वहाँ उपस्थित रहती है। वह कार्यकारी नहीं होती। इसके विपरीत पूर्वपक्ष दोनों (प्रेरक और उदासीन) निमित्तोंको उनकी पृथक्-पृथक् कालप्रत्यासत्तिके आधारपर कार्यकारी स्वीकार करता है। उत्तरपक्षके उपर्युक्त वक्तव्यसे, जिसमें उसने निमित्तकी मात्र हाजिरी मानी है तथा "निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीको उपादानके कार्यका अनुरंजन, उपकार, सहायता करनेवाली बतला कर उस सब कथनको व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य कहा है, निश्चयनयका नहीं। प्रकट है कि उत्तरपक्ष उपादानके कार्यमें दोनों निमित्तोंको अकिंचित्कर ही मानना चाहता है। यह चिन्त्य है।

इस विषयमें मेरा कहना है कि व्यवहारनय (उपचारनय) से बाह्य सामग्री उपादानके कार्यका अनुरंजन करती है, उपकार करती है और उसमें सहायक होती है, इसमें आपत्ति नहीं है। परन्तु उत्तरपक्ष अपने इस कथनसे दोनों निमित्तोंकी अकिंचित्करता सिद्ध करना चाहता है, जो सिद्ध न होकर उनकी कार्यकारिता ही सिद्ध होती है। इसका कारण यह है कि बाह्य सामग्री द्वारा उपादानका अनुरंजन किया जाना, उपकार किया जाना और उसकी सहायता किया जाना कल्पनारोपित न होकर वास्तविक ही हैं तथा इनके वास्तविक होनेके कारण ही (बाह्य सामग्रीमें) उपादानकी सहकारिता एवं निमित्त-व्यवहार किया जाता

है। आगममें वह निश्चयनयका विषय न होकर व्यवहारनयका विषय इसलिये माना गया है क्योंकि वह निमित्तभूत बाह्य वस्तु उपादान भूत वस्तुके कार्यरूप परिणत न होकर उसका अनुरंजन व उपकार मात्र करती है और उसमें सहायक मात्र होती है।

आशा है उत्तरपक्ष इस विवेचनपर ध्यान देगा और अपनी मान्यतामें परिवर्तन करेगा। इससे उसे यह लाभ होगा कि पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त तीनों उदाहरणोंमें जो उसे विसंगति जान पड़ती है वह दूर हो जावेगी।

दूसरा लाभ उसे यह होगा कि जो वह उपादानकी उपादानताको तो वास्तविक मानता है, किन्तु बाह्य सामग्रीकी निमित्तताको कल्पनारोपित मात्र मानता है, क्योंकि उसे भय है कि यदि बाह्य सामग्रीकी निमित्तताको भी कार्यके प्रति वास्तविक माना जावे तो उसे भी निश्चयनयका विषय मानना पड़ेगा, सो उसका यह भय भी दूर हो जावेगा, क्योंकि कार्यके प्रति उपादानता और निमित्तता दोनोंको वास्तविक मान लेनेमें न आगम-विरोध है और न युक्ति-विरोध है।

प्रतीत होता है कि उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें ऐसा समझकर लिखा है कि पूर्वपक्ष मानो बाह्य सामग्रीको उपादानकी कार्योत्पत्तिमें मुख्य कारण या मुख्य कर्त्ता व यथार्थकारण या यथार्थकर्त्ता मानता हो। परन्तु ध्यान रहे कि वह ऐसा नहीं मानता। वह तो बाह्य सामग्रीको उपादानकी कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे ही वास्तविक मानता तथा कार्यरूप परिणत न होनेके कारण उसे मुख्य कारण या मुख्यकर्त्ता व यथार्थकारण या यथार्थकर्त्ता नहीं मानता। अब यदि उत्तरपक्ष उपर्युक्त प्रकारसे आगमसम्मत स्थितिको समझ ले और स्वीकार कर ले तो दोनों पक्षोंका उक्त मतभेद समाप्त हो सकता है। उत्तरपक्षने अपने उक्त वक्तव्यके अन्तमें लिखा है कि "अपने प्रतिषेधक स्वभावके कारण निश्चयनयकी दृष्टिमें यह प्रतिषेध्य भी है" इसका क्या आशय ग्रहण करने योग्य है इस विषयमें आगे प्रकाश डाला जावेगा।

कथन ४४ और उसकी समीक्षा

(४४) आगे त० च० पृ० ६१ पर उत्तरपक्षने लिखा है—"हमने पंचास्तिकाय गाथा ८८ के प्रकाशमें बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको जहाँ दो प्रकार बतलाया है वहाँ उसी टीका वचनसे इन भेदोंको स्वीकार करनेके कारणका भी पता लग जाता है। जो मुख्यतः अपने क्रिया परिणाम द्वारा या राग और क्रिया परिणाम द्वारा उपादानके कार्यमें निमित्त व्यवहार पदवीको धारण करता है उसे आगममें निमित्तकर्त्ता या हेतुकर्त्ता कहा गया है। इसीको लोकमें प्रेरक कारण भी कहते हैं और जो उक्त प्रकारके सिवाय अन्य प्रकारसे हेतु होता है उसे आगममें उदासीन निमित्त कहनेमें आया है। यही इन दोनोंमें प्रयोग-भेदका मुख्य कारण है। पंचास्तिकायके उक्त वचनसे भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार हमने इन दोनों भेदोंको क्यों स्वीकार किया है इसका यह स्पष्टीकरण है।"

इस विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके जो पृथक्-पृथक् लक्षण उत्तरपक्षने दिये हैं उनसे दोनों निमित्तोंमें प्रयोगभेद सिद्ध होनेपर भी उनका कार्यभेद सिद्ध नहीं होता, जबकि इनमें प्रयोगभेद और कार्यभेद दोनों हैं। पंचास्तिकायके कथनसे भी ऐसा ही निर्णीत होता है। इस विषय-को मैंने इसी प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट किया है तथा वहीं इनके युक्तियुक्त और

आगमसम्मत पृथक्-पृथक् लक्षणोंका भी निर्देश किया है। इसलिये इस विषयमें यहाँ और विचार करना आवश्यक नहीं रह जाता है।

यद्यपि उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६१ पर आगे यह भी लिखा है कि "अपरपक्ष इन दोनोंको स्वीकार करनेमें उपादानके कार्यभेदको मुख्यता देता है सो उपादानमें कार्यभेद तो दोनोंके सद्भावमें होता है।" उत्तरपक्षका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रेरक निमित्तसे ही कार्यमें वैशिष्ट्य आता है, उदासीन निमित्तसे नहीं। इस विषयमें पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें आगम प्रमाण भी दिये हैं। परन्तु उत्तरपक्ष उनकी अवहेलना कर रहा है। इस समीक्षामें भी आगम प्रमाणोंके आधारपर स्पष्ट किया गया है कि प्रेरक निमित्त उपादान-की कार्यरूप परिणत न हो सकने रूप अशक्तिको समाप्त करके उसे कार्यरूप परिणत होनेके लिए तैयार करता है और उदासीन निमित्त कार्यरूप परिणत होनेके लिए तैयार (उद्यत) उस उपादानको कार्यरूप परिणत होनेमें अपना उदासीन (अप्रेरक) सहयोग प्रदान करता है। इसके समर्थनमेंयह दृष्टान्त भी दिया है कि यद्यपि रेलगाड़ीके डिब्बोंमें गतिक्रिया करनेकी स्वभावतः योग्यता विद्यमान रहती है, परन्तु वे तभी गतिक्रिया करते हैं जब उनसे संयुक्त इंजिनमें गतिक्रिया होती है। इससे प्रकट है कि रेलगाड़ीके डिब्बोंकी गतिक्रियामें इंजिन प्रेरक निमित्त होता है तथा रेलपटरी अप्रेरक निमित्त होती है। उसपर यदि इंजिन और रेलगाड़ीके डिब्बे चलते हैं तो वह उनके चलनेमें सहायक हो जाया करती है। वह उनको न तो चलाती है और न उसे इस बातसे कोई मतलब है कि वे चलते हैं या नहीं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इंजिनकी मंद या तीव्र गतिके आधारपर उन डिब्बोंकी भी उसीके समान मन्द या तीव्र गति देखी जाती है। इस तरह यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपादानके कार्यमें वैशिष्ट्य प्रेरक निमित्तसे आता है, जबकि उदासीन निमित्त उपादानके कार्यमें वैशिष्ट्य लानेमें सदा असमर्थ रहता है। अतः उत्तरपक्षका "उपादानमें कार्यभेद तो दोनोंके सद्भावमें होता है" यह कथन मिथ्या है। उदासीन निमित्त उपादानके कार्यमें वैशिष्ट्य लानेमें असमर्थ क्यों रहता है, इसका कारण यह है कि उदासीन निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिके अवसरपर उसकी सहायता उदासीन (अप्रेरक) रूपसे करता है। इसका मानना भी आवश्यक इसलिए है कि उसके अभावमें उपादान कार्यरूप परिणत नहीं होता है।

उत्तरपक्षने आगे रुख बदलकर लिखा है कि "प्रश्न यह नहीं है, किन्तु प्रश्न यह है कि उस कार्यको वास्तवमें कौन करता है? जिसे आगममें हेतु कर्त्ता कहा गया है वह या उपादान?" इत्यादि, सो पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योंमें और मैंने भी अपने वक्तव्योंमें बार-बार कहा है कि पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके समान कार्यका मुख्यकर्त्ता उपादानको ही मानता है, बाह्य सामग्री उसमें निमित्तकर्त्ता, उपचरितकर्त्ता या अयथार्थकर्त्ता ही होती है। दोनोंकी मान्यताओंमें अन्तर केवल यही है कि उत्तरपक्ष जहाँ उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें बाह्य सामग्रीको सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कर रूपमें निमित्तकर्त्ता आदि मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसमें बाह्य सामग्रीको सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी रूपमें निमित्तकर्त्ता आदि मानता है। इनमें पूर्वपक्षकी मान्यता आगम सम्मत है।

आगे उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें यह भी लिखा है कि "ऐसी अवस्थामें फलित तो यही तथ्य होता है कि उपादानने स्वयं यथार्थकर्त्ता होकर अपना कार्य किया और बाह्य सामग्री उसमें व्यवहार हेतु हुई।" इस कथनसे भी उत्तरपक्ष यही बतलाना चाहता है कि उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है बाह्य सामग्री नहीं। बाह्य सामग्री व्यवहार हेतु होनेसे वह उतनी सार्थक नहीं, जितना उपादान है। इस तरह वह अकिं-

चित्कर ही है। परन्तु उत्तरपक्षका यह मन्तव्य पूर्णतया आगम-विरुद्ध है। आगममें उपादान और बाह्य सामग्री दोनोंको समान रूपसे कार्योत्पत्तिके साधक माना गया है—कोई अकिंचित्कर नहीं है।

उत्तरपक्षने आगे और लिखा है कि "इस अपेक्षापर विचार करनेपर बाह्य सामग्रीकी व्यवहारहेतुता एक ही प्रकारकी है, दो प्रकारकी नहीं यह सिद्ध होता है।" सो यह असंगत है, क्योंकि आगम प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध है कि दोनों निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही हैं तथा इनकी यह कार्यकारिता पूर्वोक्त प्रकार पृथक्-पृथक् रूपसे सिद्ध होनेके कारण पृथक्-पृथक् बाह्य सामग्रीकी व्यवहारहेतुता भी पृथक्-पृथक् दो प्रकारकी सिद्ध होती है।

उत्तरपक्षने आगे लिखा है कि "आचार्य पूज्यपादने इष्टोपदेशमें "नाज्ञो विज्ञत्वमायाति" इत्यादि वचन इसी अभिप्रायसे लिखा है। इस वचन द्वारा वे यह सूचित कर रहे हैं कि व्यवहारहेतुता किसी प्रकारसे क्यों न मानी गई हो, अन्य द्रव्यके कार्यमें वह वास्तविक न होनेसे इस अपेक्षासे समान है। अर्थात् अन्य द्रव्यके कार्यमें धर्मद्रव्यके समान दोनों ही उदासीन हैं।" इष्टोपदेशके उक्त वचनका क्या अभिप्राय है, इसे भी मैं इसी प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ। यहाँ मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंकी व्यवहारहेतुता अन्य द्रव्यके कार्यमें यद्यपि समान है, परन्तु इनकी उस समानताका आधार अन्य द्रव्यके कार्यमें इनकी अकिंचित्करता न होकर सहायक होनेरूपसे कार्यकारिता है। इसे भी मैं उपर्युक्त स्थलपर स्पष्ट कर चुका हूँ जिससे उत्तरपक्षका "व्यवहारहेतुता किसी भी प्रकारसे क्यों न मानी गई हो, अन्य द्रव्यके कार्यमें वह वास्तविक न होनेसे इस अपेक्षासे समान हैं अर्थात् अन्य द्रव्यके कार्यमें धर्मद्रव्यके समान दोनों ही उदासीन है।" यह कथन इस रूपमें भी निराकृत हो जाता है कि "सभी प्रेरक और धर्मद्रव्य सहित सभी उदासीन दोनों प्रकारके निमित्त अन्य द्रव्यके कार्यमें अकिंचित्कर ही रहा करते हैं" और इस रूपमें भी निराकृत हो जाता है कि "प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारके निमित्तोंमें कार्यभेद नहीं है।" इसका कारण पूर्वमें आगम प्रमाणोंके आधारपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रेरक निमित्त तो उपादानको कार्यरूप परिणत होनेके लिए उसकी अक्षमताको समाप्त कर सक्षम बनाता है और उदासीन निमित्त कार्यरूप परिणत होनेके लिए उद्यत उस उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अवलम्बन रूपसे सहायता प्रदान करता है। इस विषयको पूर्वमें रेलगाड़ीके डिब्बे आदिके उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी किया जा चुका है। इस तरह यह निर्णीत हो जाता है कि उपादान, प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त सभी उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें कार्यकारी होते हैं तथा तीनोंका कार्यकारित्व अपने-अपने रूपमें है।

कथन ४५ और उसकी समीक्षा

(४५) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६२ पर लिखा है कि "अब रही प्रेरकनिमित्तव्यवहारयोग्य बाह्य सामग्रीके अनुरूप परिणमनकी बात, सो यह हम अपरपक्षसे ही जानना चाहेंगे कि यह अनुरूप परिणमन क्या वस्तु है?" इसके आगे इसी अनुच्छेदमें उसने यह भी लिखा है कि "उदाहरणार्थ कर्मको निमित्त-कर जीवके भाव-संसारकी सृष्टि होती है और जीवके रागद्वेषको निमित्तकर कर्मकी सृष्टि होती है। यहां कर्म निमित्त हैं और राग-द्वेष परिणाम नैमित्तिक। इसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम निमित्त हैं और कर्म नैमित्तिक। सो क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि निमित्तमें जो गुणधर्म होते हैं वे नैमित्तिकमें संक्रमित हो जाते हैं या क्या यह अर्थ लिया जाय कि जिसको उपादान निमित्त बनाता है उस जैसा क्रियापरिणाम या भावपरिणाम अपनी शक्तिके बलसे वह अपना स्वयं उत्पन्न कर लेता है। प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं,

क्योंकि एक द्रव्यके गुण-धर्मका दूसरे द्रव्यमें संक्रमण नहीं होता। ऐसी अवस्थामें दूसरा पक्ष ही स्वीकार करना पड़ता है"। इसके आगे इसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "समयसार गाथा ८०-८२की आत्मख्याति टीकामें "निमित्तीकृत्य" पदका प्रयोग इसी अभिप्रायसे किया गया है। अन्य द्रव्य दूसरेके कार्यमें स्वयं निमित्त नहीं है। किन्तु अन्य द्रव्यको लक्ष्यकर—अवलम्बनकर अन्य जिस द्रव्यका परिणाम होता है उसकी अपेक्षा उसमें प्रेरकनिमित्तव्यवहार किया जाता है। पुद्गलद्रव्य अपनी विशिष्ट स्पर्शपर्यायके कारण दूसरेका सम्पर्क करके अपनी उपादानशक्तिके बलसे जिसका सम्पर्क किया है उसके समान कर्मरूपसे परिणम जाता है और जीव अपने कषायके कारण दूसरेको लक्ष्य करके अपनी उपादान शक्तिके बलसे जिसको लक्ष्य किया है वैसा रागपरिणाम अपनेमें उत्पन्न कर लेता है। यही संसार और तदनुरूप कर्मबन्धका बीज है"। इसके आगे उसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "यही कारण है कि प्रत्येक मोक्षार्थीको आत्मस्वभावको लक्ष्यमें लेनेका उपदेश आगममें दिया गया है। इस लिए प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि प्रत्येक उपादानके कार्यमें जो वैशिष्टय आता है उसे अपनी आन्तरिक योग्यतावश स्वयं उपादान ही उत्पन्न करता है, बाह्य सामग्री नहीं। फिर भी कालप्रत्यासत्तिवश क्रियाकी और परिणामकी सदृशता देखकर जिसके लक्ष्यसे वह परिणाम होता है उसमें निमित्तव्यवहार किया जाता है। अन्य द्रव्यके कार्यमें प्रेरक निमित्तव्यवहार करनेकी यह सार्थकता है"। आगे उसी अनुच्छेदके अन्तमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "इसके सिवाय अपरपक्षने इसके सम्बन्धमें अन्य जो कुछ भी लिखा है वह यथार्थ नहीं है"। आगे इन सबकी समीक्षा की जाती है—

दोनों ही पक्ष उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें बाह्य सामग्रीको निमित्त स्वीकार करते हैं और दोनों ही पक्ष मानते हैं कि बाह्य सामग्रीको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्त स्वीकर करनेका यह आशय नहीं है कि निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके गुण-धर्म उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें प्रविष्ट हो जाते हैं, प्रत्युत दोनों पक्षोंकी मान्यता है कि कार्यरूप परिणमन उपादानका ही होता है और वह उपादानमें स्वभावतः विद्यमान कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यताके अनुरूप होता है। किन्तु उत्तरपक्ष अपने वक्तव्यमें आगे जो यह कहता है कि "अन्य द्रव्यको लक्ष्यकर—आलम्बनकर अन्य जिस द्रव्यका परिणमन होता है उसकी अपेक्षा उसमें प्रेरक निमित्त व्यवहार किया जाता है"। सो उत्तरपक्ष अपने इस कथनका यदि यह आशय ग्रहण करता है कि उपादान अपना कार्यरूप परिणमन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीरूप न करके अपनेरूप ही करता है, परन्तु निमित्तभूत बाह्य सामग्रीको लक्ष्यकर—आलम्बनकर अर्थात् सहयोगसे करता है तो ऐसा स्वीकार करनेमें भी पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन वास्तवमें बात यह है कि उत्तरपक्ष अपने उक्त कथनके आधारपर उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको सर्वथा अकिंचित्कर मान लेना चाहता है, इसलिये ही पूर्वपक्षको उसके उक्त कथनमें आपत्ति है, क्योंकि पूर्वपक्ष इसी आधारपर उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तभूत बाह्य सामग्रीको सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध करता है, जैसा कि पूर्वमें आगमप्रमाणोंके आधारपर स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने समयसार गाथा ८०-८२ की आत्मख्यातिमें निर्दिष्ट "निमित्तीकृत्य" पदका ही "लक्ष्य कर" और "आलम्बन कर" यह अर्थ स्वीकार किया है। सो यह भी पूर्वपक्षके लिए विवादकी वस्तु नहीं है और इसी आधारपर उसने जो यह लिखा है कि "यही कारण है कि प्रत्येक मोक्षार्थीको आत्मस्वभावको लक्ष्यमें लेनेका उपदेश आगममें दिया गया है"। सो पूर्वपक्षको यह भी विवादका विषय नहीं है। परन्तु उत्तरपक्ष जब यह मानता है कि बाह्य सामग्रीको लक्ष्य कर—आलम्बन कर उपादान अपना कार्यरूप परिणमन

करता है तो ऐसी हालतमें निमित्तभूत बाह्य सामग्रीको उपादानकी कर्यरूप परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्कर कैसे कह सकता है ? क्योंकि यदि निमित्तभूत बाह्य सामग्रीको ऐसी हालतमें भी उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्कर माना जाता है तो उस निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके अभावमें भी उपादानका कार्यरूप परिणंत होनेका प्रसंग उपस्थित हो जावेगा, जो उत्तरपक्षको भी मान्य नहीं है, क्योंकि उसकी भी यही मान्यता है कि उपादानकी कार्यरूप परिणति निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके योगमें हुआ करती है। दूसरी बात यह है कि उपादान तो जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके होते हैं। लेकिन जिस प्रकार चेतन उपादान निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका आलम्बन लेनेका बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ कर सकता है उस प्रकार जड़ उपादान तो उसका आलम्बन लेनेका बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ नहीं कर सकता, इसलिए यही मानना श्रेयस्कर है कि निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक अर्थात् प्राकृतिक ढंगसे समागम मिलनेपर ही उपादानकी कार्यरूप परिणति हुआ करती है। इस तरह उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारसे निमित्तभूत बाह्य सामग्रीकी सहायक होने रूपसे कार्यकारिता ही सिद्ध होती है। उत्तरपक्षको इसपर ध्यान देना चाहिए।

उत्तरपक्षने अपने उक्त वक्तव्यमें यह भी कहा है कि "प्रत्येक उपादानके कार्यमें जो वैशिष्टच आता है उसे अपनी आन्तरिक योग्यतावश स्वयं उपादान ही उत्पन्न करता है" सो उत्तरपक्ष इसका यदि यह आशय लेता है कि वह वैशिष्टच उपादानकी आन्तरिक योग्यताका ही परिणाम है तब तो पूर्वपक्षको इसमें कोई विवाद नहीं है, लेकिन इसका वह यदि इस रूपमें आशय लेता है कि वह वैशिष्टच प्रेरक निमित्तभूत बाह्य सामग्रीकी सहायताके विना उपादानमें अपने आप ही आ जाता है तो यह पूर्वपक्षको मान्य नहीं है और न युक्त है, क्योंकि वह वैशिष्टच उपादानकी आन्तरिक योग्यताका परिणाम होते हुए भी अनुकूल प्रेरक निमित्तभूत बाह्य सामग्रीकी सहायता मिलनेपर ही उपादानमें आता है। पूज्यपाद आदि आचार्योंके साथ आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचंद्रका भी यही दृष्टिकोण है। भले ही उत्तरपक्ष उसे माने या न माने, क्योंकि यह उसकी मर्जीकी बात है।

उत्तरपक्षने अपने उक्त वक्तव्यके अन्तमें जो यह लिखा है कि "इसके सिवाय अपरपक्षने इसके सम्बन्धमें अन्य जो कुछ भी लिखा है वह यथार्थ नहीं है।" सो उसका यह लिखना भी मिथ्या है, क्योंकि वह उसने आगमको तोड़-मरोड़ कर या उसके अभिप्रायको नहीं समझकर ही लिखा है। तत्त्वजिज्ञासुओंको स्वयं इसका निर्णय करना चाहिए।

कथन ४६ और उसकी समीक्षा

(४६) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६२ पर ही आगे यह कथन किया है कि "हमने जो यह लिखा है कि प्रेरक निमित्तके बलसे किसी द्रव्यके कार्यको आगे-पीछे कभी भी नहीं किया जा सकता है वह यथार्थ लिखा है, क्योंकि उपादानके अभावमें जबकि बाह्य सामग्रीमें प्रेरक निमित्त व्यवहार भी नहीं किया जा सकता है तो उसके द्वारा कार्यको आगे-पीछे किया जाना तो अत्यन्त ही असम्भव है।" सो कार्य तो उपादानशक्तिके सद्भावमें ही होता है। मैं इसी प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें इस सम्बन्धमें विस्तारसे यह स्पष्ट कर आया हूँ कि प्रेरक निमित्तके बलसे उपादानशक्तिविशिष्ट किसी भी द्रव्यके कार्यको आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है। अतः इस विषयमें यहाँ और अधिक लिखना आवश्यक नहीं है। यहाँ उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "क्योंकि उपादानके अभावमें जबकि बाह्य सामग्रीमें निमित्तव्यवहार भी नहीं किया जा

सकता है तो उसके द्वारा कार्यको आगे-पीछे किया जाना तो अत्यन्त ही असम्भव है।" सो उसका यह लिखना निरर्थक है, क्योंकि उपादानकारणभूत मिट्टीसे घटकी उत्पत्ति हो रही हो या नहीं हो रही हो, फिर भी कुम्भकार उसमें प्रेरक निमित्त होता है यह जानकारी होना जब असम्भव नहीं है तो 'प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है' यह निर्णय करना कैसे असम्भव हो सकता है ? इस जानकारीके आधारपर ही लोकमें प्रेरक निमित्तोंको जुटाया जाता है और उनके बलसे कार्यको आगे-पीछे करने या न करनेकी चेष्टा की जाती है तथा उसमें सफलता भी मिलती देखी जाती है। इस बातको उत्तरपक्ष न जानता हो या वह ऐसी चेष्टा न करता हो, ऐसी बात नहीं है।

कथन ४७ और उसकी समीक्षा

(४७) आगे इसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "कर्मकी नानारूपता भावसंसारके उपादानकी नानारूपताको तथा भूमिकी विपरीतता बीजकी वैसी उपादानताको ही सूचित करती है" आदि। सो इसमें विवाद नहीं है। परन्तु विचारणीय यह है कि ऐसी सूचना तभी प्राप्त हो सकती है जबकि कर्मको भावसंसारकी उत्पत्तिमें और भूमिकी विपरीतताको बीजकी विपरीत परिणतिमें सहायक होने रूपसे निमित्त मान लिया जाये। दूसरे, पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि वस्तुमें वैसी उपादानता (कार्यरूप परिणति होनेकी योग्यता) विद्यमान रहनेपर भी उसकी व्यक्ति प्रेरकनिमित्तका सहयोग मिलनेपर ही होती है, इस नियमकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसका कारण यह है कि समस्त लोक, जिसमें उत्तरपक्ष भी सम्मिलित है, उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणतिके लिए सतत अनुकूल प्रेरक और उदासीनरूपसे निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका अवलम्बन लिया करता है। आगममें उपादानकी कार्यरूप परिणतिके विषयमें दोनों प्रकारके निमित्तोंको जो स्थान दिया गया है वह भी इसी अभिप्रायसे दिया गया है। यह बात दूसरी है कि वस्तुमें उपादान शक्तिका अभाव रहनेपर कोई भी निमित्त उस शक्तिको उत्पन्न नहीं कर सकता है। लेकिन यह भी सत्य है कि अनुकूल निमित्तभूत वस्तुका सहयोग मिले बिना उपादानमें विवक्षित कार्योत्पत्ति देखनेमें नहीं आती है और ऐसा उत्तरपक्ष भी जानता है। इसलिए वह भी कार्यसिद्धिके लिए सतत अनुकूल निमित्तोंका अवलम्बन लेनेकी चेष्टा करता है। इतना अवश्य है कि निमित्त-नैमित्तिक भावकी यह व्यवस्था स्वपरप्रत्यय कार्योत्पत्तिमें ही लागू होती है, स्वप्रत्यय कार्योत्पत्तिमें नहीं। यतः वस्तुके षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमनसे अतिरिक्त सभी परिणमनोंका अन्तर्भाव स्वपरप्रत्यय कार्योंमें होता है। अतएव कार्यसिद्धिके लिए उत्तरपक्ष भी समस्त लोककी तरह अनुकूल निमित्तोंकी उपेक्षा नहीं कर सकता है और न करता है, भले ही इसके विरोधमें वह कुछ भी कहता रहे। उत्तरपक्ष यह भी जानता है कि प्रतिकूल निमित्त मिलनेपर कार्य भी प्रतिकूल होता है, इसलिए वह कार्यसिद्धिके लिए सतत अनुकूल निमित्तोंको मिलानेकी ही चेष्टा किया करता है।

कथन ४८ और उसकी समीक्षा

(४८) आगे त० च० पृ० ६२ पर ही उत्तरपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनकी दृष्टिसे पूर्वपक्षकी मान्यताके विरोधमें यह लिखा है कि "अपरपक्षने यहाँपर शीतऋतु, कपड़ा और दर्जीका उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि कपड़ेसे बननेवाले कोट आदिके समान जितने भी कार्य होते हैं उनमें एकमात्र व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका ही बोलबाला है।" तथा इसके आगे उसने लिखा है कि "इस सम्बन्धमें अपरपक्ष अपने एकांत आग्रहवश क्या लिखता है उसपर ध्यान दीजिए।" और ऐसा लिखकर

उसने पूर्वपक्षके कथनके कुछ अंशको भी त० च० पृ० ६३ पर उद्धृत किया है। फिर उसने उसकी आलोचनामें आगे लिखा है कि "यह प्रकृतमें अपरपक्षके वक्तव्यका कुछ अंश है। इस द्वारा अपरपक्ष यह बतलाना चाहता है कि अनन्त पुद्गल परमाणुओंका अपने-अपने स्पर्श विशेषके कारण संश्लेष सम्बन्ध होकर जो आहारवर्गणाओंकी निष्पत्ति हुई और उनका कार्पास व्यंजन पर्यायरूपसे परिणमन होकर जुलाहेके विकल्प और योगको निमित्तकर जो वस्त्र बना उस वस्त्रकी कोट आदि पर्याय दर्जीके योग और विकल्पपर निर्भर है कि जब चाहे वह उसकी कोट पर्यायका निष्पादन करे न करना चाहे न करे। जो व्यवहारनयसे उस वस्त्रका स्वामी है वह भी अपनी इच्छानुसार उस वस्त्रको नाना रूप प्रदान कर सकता है। वस्त्रका अगला रूप क्या हो, यह वस्त्रपर निर्भर न होकर दर्जी और स्वामी आदिकी इच्छापर ही निर्भर है। ऐसे सब कार्योंमें एकमात्र निमित्तका ही बोलबाला है, उपादानका नहीं। अपरपक्षके कथनका आशय यह है कि विवक्षित कार्य-परिणामके योग्य उपादानमें योग्यता हो, परन्तु सहकारी कारणसामग्रीका योग न हो या आगे-पीछे हो, तो उसीके अनुसार कार्य होगा। किन्तु अपरपक्षका यह सब कथन कार्यकारणपरम्पराके सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि जिसे व्यवहारनयसे सहकारी सामग्री कहते हैं उसे यदि उपादानकारणके समान कार्यका यथार्थकारण मान लिया जाता है तो कार्यको जैसे उपादानसे उत्पन्न होनेके कारण तत्-स्वरूप माना गया है वैसे ही उसे सहकारी सामग्री स्वरूप भी मानना पड़ता है, अन्यथा सहकारी सामग्रीमें यथार्थकारणता नहीं बन सकती। दूसरे दर्शनमें सन्निकर्षको प्रमाण माना गया है। किन्तु जैनाचार्योंने उस मान्यताका खण्डन यह कहकर किया है कि सन्निकर्ष दोमें होनेके कारण उसका फल अर्थाधिगम दोनोंको प्राप्त होना चाहिए। (सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० १०) वैसे ही एक कार्यकी कारणता यदि दोमें यथार्थ मानी जाती है तो कार्यको भी उभयरूप माननेका प्रसंग आता है। यतः कार्य उभयरूप नहीं होता, अतः अपरपक्षको सहकारी सामग्रीको निर्विवाद रूपसे उपचरितकारण मान लेना चाहिए।"

आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

इतः पूर्व बार-बार कहा जा चुका है कि जिस वस्तुमें जिस प्रकारके कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान रहती है वही वस्तु उस कार्यरूप परिणत होती है, इसलिए वह वस्तु उस कार्यकी यथार्थ कारण है, इस बातको दोनों पक्ष मानते हैं और दोनों पक्ष यह भी मानते हैं कि जिस बाह्य वस्तुका योग मिलनेपर वह उपादानभूत वस्तु कार्यरूप परिणत होती है वह बाह्य वस्तु वहाँ उपचरित या व्यवहारकारण होती है, इसलिए ये दोनों बातें दोनों पक्षोंको मान्य हैं। दोनों पक्षोंके मध्य विवादग्रस्त बात केवल यह है कि निमित्तका योग रहनेपर ही उपादानकी कार्यरूप परिणति होती है इस बातको मानते हुए भी उत्तरपक्ष निमित्तको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्कर मान लेना चाहता है जबकि पूर्वपक्ष निमित्तका योग रहने पर ही उपादानकी कार्यरूप परिणति होती है, इस आधारपर निमित्तको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है। उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तको अकिंचित्कर माननेमें उत्तरपक्षका कहना यह है कि निमित्तका योग रहनेपर ही उपादानकी कार्यरूप परिणति होता है। इस मान्यताका आशय यह है कि जब उपादान अपनी विवक्षित कार्यरूप परिणति करता है तब अनुकूल निमित्त भी वहाँ नियमसे उपस्थित रहता है परन्तु उस समय निमित्त और उपादान दोनों स्वतन्त्र रूपसे अपना-अपना ही कार्य किया करते हैं, इसलिए निमित्तको किसी भी हालतमें उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें कार्यकारी नहीं माना जा सकता है। इसके विपरीत निमित्तको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें कार्यकारी माननेमें

पूर्वपक्षका कहना यह है कि निमित्तका योग रहनेपर ही उपादानकी कार्यरूप परिणति होती है। इस मान्यता-का आशय यह है कि जब उपादानको अपनी विवक्षित कार्यरूप परिणतिके अनुकूल निमित्तका योग मिलता है तभी उपादानकी वह विवक्षित कार्यरूप परिणति होती है और न मिलनेपर नहीं होती है। इस तरह इस व्यवस्थाके अनुसार निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध होता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि निमित्त और उपादान दोनों अपना-अपना ही कार्य करते हैं, परन्तु कार्योत्पत्तिमें जिस प्रकार कार्यरूप परिणत होनेरूपसे उपादानको वास्तविक कारण माना जाता है उसी प्रकार वहाँपर उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेरूपसे यदि निमित्तको वास्तविक कारण न मानकर केवल कल्पनारोपित कारण माना जाये तो जीवकी संसार और मोक्षकी व्यवस्था भंग हो जायेगी, क्योंकि संसार और मोक्षकी व्यवस्था व्यवहाररूप होनेसे उत्तरपक्षकी दृष्टिमें अवास्तविक ही सिद्ध होती है। यदि कहा जाये कि संसार और मोक्षरूप परिणमन जीवके ही परिणमन हैं, इसलिए वास्तविक हैं तो भी शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे तो वे जीवके नहीं हैं। व्यवहारनयसे ही वे उसके व्यवहृत होते हैं, क्योंकि शुद्ध निश्चयनयसे अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्ड शुद्ध (पर संयोगरहित) पारिणामिक भाव रूप तत्त्व ही वास्तविक है। अतः जीवकी संसार और मोक्षरूप परिणतियाँ व्यवहारनयसे ही सिद्ध होती हैं। इस तरह वे व्यवहाररूप होनेपर भी कल्पनारोपित न होकर वास्तविक हैं। अतः निमित्तकारणता व्यवहाररूप होते हुए भी उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके रूपमें वास्तविक मानना ही युक्तिसंगत है, कल्पनारोपित मानना युक्तिसंगत नहीं है। फिर भी यदि कहा जाये कि जीवकी संसार और मोक्षरूप परिणतियां व्यवहाररूप होकर भी स्व-रूपके आधारपर वास्तविक हैं तो निमित्तकारण व्यवहाररूप होकर भी सहायक होने रूप पररूपके आधारपर वास्तविक मानना कैसे असंगत कहा जा सकता है? वस्तुतः जहाँ संसार और मोक्षरूप परिणतियाँ आत्माकी ही परिणतियाँ होनेसे उनरूप परिणत होनेवाला उपादानकारण-भूत आत्मा स्वाश्रयताके आधारवर निश्चयकारणके रूपमें निश्चयनयका विषय सिद्ध होता है वहीं वे आत्माकी परिणतियाँ पौद्गलिक कर्मके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोशम पूर्वक होनेसे उसमें सहायक होनेवाला निमित्तकारणभूत कर्म पराश्रयताके आधारपर व्यवहारकारणके रूपमें व्यवहारनयका विषय सिद्ध होता है।

इस तरह निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे वास्तविक सिद्ध हो जानेपर उसकी (निमित्तकी) वहाँ पर (उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें) कार्यकारिता ही सिद्ध होती है, अकिंचित्करता नहीं। अतः इस आधारपर पूर्वपक्षका यह कहना कि "उपादान अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तका बोलवाला है" असंगत नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उपादानमें विवक्षित कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता स्वभावतः विद्यमान रहनेपर भी उसकी वह परिणति तभी होती है जब उसे अनुकूल प्रेरक और उदासीन दोनों प्रकारके निमित्तोंका सहयोग प्राप्त होता है और तब तक वह परिणति रुकी रहती है जब तक उसे उनका सहयोग प्राप्त नहीं होता।

यहाँ उत्तरपक्ष यह कह सकता है कि उपादानमें कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता स्वभावतः विद्यमान रहनेपर भी उसकी वह कार्यरूप परिणति केवल उस स्वाभाविक योग्यताके आधारपर न होकर तभी होती है जब वह उपादान अपनी कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायको धारण कर लेता है तथा उपादानके उस

कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायको धारण कर लेनेपर नियमसे वह कार्योत्पत्ति होती है, इसलिये उस कार्योत्पत्तिमें निमित्तका बोलबाला न कहकर कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायका ही बोलबाला कहना चाहिए। परन्तु उसका यह कहना इसलिये निरर्थक है कि पूर्वमें प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि आगम प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि उपादानकी वह कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय निमित्तका सहयोग मिलनेपर ही होती है, उसके अभावमें नहीं। इस तरह कार्योत्पत्तिमें कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायका बोलबाला सिद्ध न होकर निमित्तका ही बोलबाला स्पष्ट सिद्ध होता है। यतः उपादानको निमित्तका सहयोग प्रायोगिक या प्राकृतिक रूपमें सतत मिलता ही रहता है अतः उसकी कार्योत्पत्ति सतत होती रहती है, उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती इस तरह यही मानना युक्तिसंगत है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब उपादानमें कार्योत्पत्ति उसकी अपनी योग्यताके आधारपर उन निमित्तोंके सहयोगके अनुसार ही होती है। इस विवेचनसे उत्तरपक्षका यह कथन भी असंगत सिद्ध होता है कि उपादानके कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायको धारण कर लेनेपर नियमसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब उपादानकी कार्यरूप परिणति उसमें विद्यमान योग्यताके आधारपर उन निमित्तोंके अनुसार ही होती है।

उत्तरपक्ष उपादानकी कार्योत्पत्तिमें निमित्तको अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए यह भी कह सकता है कि उपादानकी प्रत्येक कार्योत्पत्तिके साथ निमित्तका ऐसा ही त्रिकालाबाधित योग रहता है कि उपादानकी कार्योत्पत्तिके अवसरपर निमित्तके अभावकी कभी कल्पना ही नहीं की जा सकती है और यही कारण है कि उपादानकी कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कारण न होते हुए भी निमित्तको व्यवहार (उपचार) से कारण कहा जाता है सो उत्तरपक्ष यह कहकर भी निमित्तोंकी अनिवार्य सहकारिताको स्वयं स्वीकार कर लेता है—उनका निषेध या अकिंचित्करता कदापि सिद्ध नहीं होती। इतना ही नहीं, इससे कार्योत्पत्तिके लिए बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले पुरुषार्थकी हानिका ही प्रसंग आता है। अतः कार्योत्पत्तिके विषयमें उत्तरपक्षको मान्य व्यवस्था श्रेयस्कर न होकर पूर्वपक्षको मान्य व्यवस्था ही श्रेयस्कर है और वही आगम, तर्क, अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्ष सभी प्रमाणोंसे समर्थित है। यह भी सत्य है कि कार्योत्पत्तिके लिए निमित्तोंकी प्राप्ति प्राकृतिक और प्रायोगिक दोनों प्रकारसे होती है। अतः जिस कार्योत्पत्तिमें प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त निमित्तोंकी उपयोगिता है वहाँ निमित्तोंका त्रिकालाबाधित योग हो सकता है। परन्तु वहाँ भी कार्योत्पत्ति निमित्तानुकूल ही होती है, इस विषयको और स्पष्ट करनेके लिए यहाँ दोनों पक्षोंको अपने-अपने ढंगसे मान्य कार्योत्पत्तिकी व्यवस्थाका दिग्दर्शन कराया जाता है—

(१) पूर्वपक्षका कहना है कि कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट होनेसे उपादान-कारणभूत वस्तु ही विवक्षित कार्यरूप परिणत होती है। परन्तु वह अनुकूल निमित्तकारणभूत वस्तुका सहयोग मिलनेपर ही कार्यरूप परिणत होती है, उसके अभावमें नहीं होती। इसके विपरीत उत्तरपक्षका कहना है कि कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट होनेसे उपादानकारणभूत वस्तु ही विवक्षित कार्यरूप परिणत होती है और वह यद्यपि निमित्तकारणभूत वस्तुकी उपस्थितिमें ही होती है, परन्तु उसमें निमित्तकारणभूत वस्तुका कोई उपयोग नहीं होता है वह तो अपने आप ही होती है।

(२) पूर्वपक्षका कहना है कि उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणति नियमसे निमित्तकारणभूत वस्तुके सद्भावमें होनेके कारण आगममें और लोकमें उस निमित्तकारणभूत वस्तुको उस कार्योत्पत्तिमें

सहायक होने रूपसे कार्यकारी माना गया है। इसके विपरीत उत्तरपक्षका कहना है कि उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणति निमित्तकारणभूत वस्तुकी उपस्थितिमें तो होती है, परन्तु उसमें उस निमित्त-कारणभूत वस्तुका सहायक होने रूपसे उपयोग नहीं होता। अतः वह निमित्तकारणभूत वस्तु वहाँ कार्यकारी नहीं होकर सर्वथा अकिंचित्कर ही बनी रहती है।

(३) पूर्वपक्षका कहना है कि यद्यपि उपादानकारणभूत वस्तुके कार्यरूप परिणत होनेसे उस उपादानभूत वस्तुके साथ कार्यका तादात्म्य संबंध होता है और निमित्तकारणभूत वस्तुके उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेसे निमित्तभूत वस्तुका उपादानके साथ संयोग संबंध होता है। तथा जिस प्रकार कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यके प्रति उपादानकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत कारणता वास्तविक है उसी प्रकार उपादानकारणभूत वस्तुकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यके प्रति निमित्तकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत कारणता भी वास्तविक है, कल्पनारोपित नहीं है। हाँ, कार्यके प्रति उपादानकारणभूत वस्तुमें कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर स्वीकृत कारणता और निमित्तकारणभूत वस्तुमें उपादानके कार्यके प्रति सहायक होनेके आधारपर स्वीकृत कारणता दोनों अपने-अपने ढंगसे वास्तविक होते हुए भी उपादानकारणभूत वस्तुके साथ कार्यका तादात्म्य संबंध रहनेके कारण उसमें (उपादानकारणभूत वस्तुमें) विद्यमान कारणता स्व-रूपताके आधारपर निश्चयरूप होनेसे निश्चयनयका विषय होती है और निमित्तकारणभूत वस्तुके साथ कार्यका संयोग सम्बन्ध रहनेके कारण उसमें (निमित्तकारणभूत वस्तुमें) विद्यमान कारणता पररूपताके आधारपर व्यवहाररूप होनेसे व्यवहारनयका विषय होती है। इसके विपरीत उत्तरपक्षका कहना है कि यतः उपादानकारणभूत वस्तु कार्यरूप परिणत होती है अतः उसके साथ कार्यका तादात्म्य सम्बन्ध निश्चित होता है और निमित्तकारणभूत वस्तु कार्यरूप परिणत नहीं होती व उपादान-कारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी नहीं होती, केवल उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिके अवसरपर उपस्थित मात्र रहा करती है, अतः निमित्तकारणभूत वस्तुके साथ उपादानगत कार्यका संयोग सम्बन्ध निश्चित होता है। इस तरह कार्यके प्रति उपादानकारणभूत और निमित्तकारणभूत दोनों वस्तुओंमें इतना अन्तर रहनेके कारण यह निर्णीत होता है कि जिस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे कार्यके प्रति उपादानकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत कारणता कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर वास्तविक है उसी प्रकार संयोग सम्बन्ध होनेसे कार्यके प्रति निमित्तकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत कारणता कार्यरूप परिणत न होने व उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर कल्पनारोपित मात्र सिद्ध हो जानेसे वास्तविक नहीं है। अतएव कार्यके प्रति उपादानकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत कारणता उपर्युक्त प्रकार वास्तविक होनेके कारण निश्चयरूप हो जानेसे निश्चयनयका विषय होती है और उसी कार्यके प्रति निमित्तकारणभूत वस्तुमें स्वीकृत कारणता उपर्युक्त प्रकार कल्पनारोपित मात्र होनेके कारण व्यवहार-रूप हो जानेसे व्यवहारनयका विषय होती है।

(४) पूर्वपक्षका कहना है कि यतः उपादानकारणभूत वस्तु कार्यरूप परिणत होती है अतः उस वस्तुमें और कार्यमें द्रव्यप्रत्यासत्ति रहा करती है और निमित्तकारणभूत वस्तु उक्त कार्यरूप परिणत न होकर उस कार्यरूप परिणत होनेवाली उपादानकारणभूत वस्तुकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक मात्र होती है, अतः उस वस्तुमें और उपादानगत उस कार्यमें कालप्रत्यासत्ति रहा करती है। यतः निमित्त प्रेरक और उदासीन दो प्रकारके होते हैं और उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायता रूप कार्य भी पृथक्-पृथक् होता है अतः

उक्त दोनों प्रकारके निमित्तोंमें और उपादानगत कार्यमें स्वीकृत कालप्रत्यासत्ति भी पृथक्-पृथक् रूपमें ही होती है। अर्थात् निमित्तके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका होना यह प्रेरक निमित्त और उपादानगत कार्यकी कालप्रत्यासत्ति है और कार्यके साथ निमित्तकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंका होना यह उदासीन निमित्त और उपादानगत कार्यकी कालप्रत्यासत्ति है। इसके विपरीत उत्तरपक्षका कहना है कि यतः उपादानकारणभूत वस्तु कार्यरूप परिणत होती है अतः उस वस्तुमें और कार्यमें द्रव्यप्रत्यासत्ति रहती है और निमित्तकारणभूत वस्तु कार्यरूप परिणत नहीं होती व उस कार्यमें सहायक भी नहीं होती। केवल उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिके अवसरपर उपस्थित मात्र रहती है। अतः उस वस्तुमें और उपादानगत कार्यमें कालप्रत्यासत्ति रहती है। निमित्त प्रेरक और उदासीन दो प्रकारके होनेपर भी उनकी उपादानगत कार्यके प्रति कालप्रत्यासत्तिका कोई अन्तर नहीं रहता है, क्योंकि दोनों ही निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिके अवसरपर उपस्थित मात्र रहते हैं। दोनों ही निमित्तोंका उपादानगत कार्यके प्रति न तो कार्यरूप परिणत होने रूपसे उपयोग होता है और न उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे ही उपयोग होता है अर्थात् जो क्रियावान बाह्य द्रव्य उपादानगत कार्यके प्रति क्रियाके आधारपर निमित्त कहा जाता है वह प्रेरक निमित्त कहलाता है और जो क्रियावान अथवा निष्क्रिय बाह्य द्रव्य उपादानगत कार्यके प्रति क्रियाके आधारपर निमित्त न कहा जाकर निष्क्रियताके आधारपर निमित्त कहा जाता है वह उदासीन निमित्त कहलाता है। इस प्रकारका दोनों निमित्तोंमें अन्तर विद्यमान रहते हुए भी दोनों ही उक्त कार्यकी उत्पत्तिके अवसरपर समानरूपसे केवल उपस्थित मात्र रहा करते हैं। दोनों ही न तो उपादानगत कार्यरूप परिणत होते हैं और न उपादानगत कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक ही होते हैं। तात्पर्य यह कि दोनों निमित्तोंमें केवल प्रयोगका भेद पाया जाता है, कार्यभेद नहीं, अतः दोनों ही निमित्तोंमें कालप्रत्यासत्तिकी उपादानगत कार्योत्पत्तिके अवसरपर उपस्थित रहने मात्रके रूपमें समानता पाई जाती है।

उक्त विवेचनसे निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—

(१) कार्योत्पत्तिके विषयमें उपादानकी अपेक्षा दोनों पक्षोंको मान्य व्यवस्थाके सम्बन्धमें कोई अन्तर नहीं देखनेमें आता। इसी तरह उसी कार्योत्पत्तिके विषयमें निमित्तकी अपेक्षा दोनों पक्षोंको मान्य व्यवस्थाके सम्बन्धमें यह समानता पाई जाती है कि दोनों ही पक्ष उपादातगत कार्यकी उत्पत्तिके अवसरपर निमित्तकी स्थितिको स्वीकार करते हैं। दोनों ही पक्ष यह भी स्वीकार करते हैं कि वह निमित्त प्रेरक और उदासीनके भेदसे दो प्रकारका होता है। दोनों ही पक्षोंका यह भी कहना है कि उपादानगत कार्योत्पत्तिके साथ दोनों निमित्तोंकी कालप्रत्यासत्ति पाई जाती है और दोनों यह भी कहते हैं कि उपादानगत कार्यके प्रति दोनों निमित्तोंमें विद्यमान कारणता व्यवहारनयका विषय होती है। यह दोनों पक्षोंकी समानता विषयक तथ्य है।

(२) दोनों पक्षोंमें निम्नलिखित अन्तर भी पाया जाता है—

(क) पूर्वपक्ष उपादानगत उक्त कार्यके प्रति निमित्तकी स्थितिको उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिंचित्कर और उस कार्योत्पत्तिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी रूपमें स्वीकार करता है, जबकि उत्तरपक्ष उसी कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तकी स्थितिको उस कार्यरूप परिणत न होने और उस कार्योत्पत्तिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर रूपमें ही स्वीकार करता है।

(ख) पूर्वपक्ष उपादानगत उक्त कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तकी स्थितिको सहायक होने रूपसे कार्यकारी रूपमें स्वीकार करके उसे पूर्वोक्त प्रकारसे प्रेरक और उदासीन (अप्रेरक) दो रूपमें स्वीकार करता है जबकि उत्तरपक्ष उक्त कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तकी स्थितिको उस कार्यरूप परिणत न होने व उसमें सहायक भी न होने रूपसे सर्वथा अकिंचित्कररूपमें स्वीकार करके उस अकिंचित्करताकी समानताके कारण कार्यभेद न मानते हुए निमित्तके प्रेरक और उदासीन दो भेद पूर्वोक्त प्रकारके प्रयोगभेदके आधारपर ही स्वीकार करता है।

(ग) पूर्वपक्ष उपादानगत उक्त कार्योत्पत्तिके साथ दोनों निमित्तोंकी कालप्रत्यासत्तिको इस रूपमें स्वीकार करता है कि उपादान अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट वस्तु तभी विवक्षित कार्यरूप परिणत होती है जब उसके अनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके सद्भावका योग भी उसे प्राप्त रहता है और यदि उसे तदनुकूल प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सद्भाव प्राप्त न हो तो वह उपादानभूत वस्तु उस समय उस विवक्षित कार्यरूप परिणत नहीं होती है। फिर तो वह उसी कार्यरूप परिणत होती है जिस कार्यके अनुकूल उस समय प्रेरक और उदासोन निमित्तोंका सद्भाव उसे प्राप्त रहता है। इसके विपरीत उत्तरपक्ष उपादानगत कार्योत्पत्तिके साथ दोनों निमित्तोंकी कालप्रत्यासत्तिको इस रूपमें स्वीकार करता है कि जब उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणति उसकी अपनी योग्यतानुसार होती है तब प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्त भी वहाँ उपस्थित रहते हैं। दोनों पक्षों द्वारा अपने-अपने ढंगसे उक्त कालप्रत्यासत्तिका पृथक्-पृथक् रूपमें निर्धारण करनेका आधार यह है कि जहाँ पूर्वपक्ष उपादानगत कार्योत्पत्तिमें दोनों निमित्तोंको सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उक्त कार्यके प्रति दोनों निमित्तोंको सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है।

(घ) यतः पूर्वपक्ष उपादानगत कार्योत्पत्तिके प्रति दोनों निमित्तोंको सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है अतः उसके द्वारा उसमें स्वीकृत निमित्तकारणता कल्पनारोपित न होकर वास्तविक ही होती है। लेकिन पररूप होनेके कारण व्यवहाररूप हो जानेसे व्यवहारनयका विषय होती है और यतः उत्तरपक्ष उपादानगत कार्योत्पत्तिके प्रति दोनों निमित्तोंको सर्वथा अकिंचित्कर मानता है अतः उसके द्वारा उसमें स्वीकृत निमित्तकारणता कल्पनारोपित मात्र या कथनमात्र सिद्ध होनेके कारण व्यवहाररूप होनेसे व्यवहारनयका विषय होती है।

निष्कर्ष यह है कि दोनों पक्षों द्वारा पृथक्-पृथक् रूपमें स्वीकृत उक्त व्यवस्थाओंमें पूर्वपक्षकी व्यवस्था आगम, तर्क, अनुभव तथा इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा समर्थित होनेसे युक्त है। किन्तु उत्तरपक्षकी व्यवस्था केवल दुराग्रहपूर्ण है।

कथन ४९ और उसकी समीक्षा

(४९) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६३ पर उक्त अनुच्छेदमें आगे यह लिखा है कि "अपरपक्षके कथनका आशय यह है कि विवक्षित कार्यरूप परिणमनके योग्य उपादानमें योग्यता हो, परन्तु सहकारी सामग्रीका योग न हो या आगे-पीछे हो तो उसीके अनुसार कार्य होगा" इस कथनके सही होनेपर भी उसे उत्तरपक्षने कार्य-कारणपरम्पराके विरुद्ध बतलाया है तथा लिखा है कि "क्योंकि जिसे व्यवहारनयसे सहकारी सामग्री कहते हैं उसे यदि उपादानकारणके समान कार्यका यथार्थ कारण मान लिया जाता है तो कार्यको जैसे उपादानसे उत्पन्न होनेके कारण तत्स्वरूप माना गया है वैसे ही उसे सहकारी सामग्री स्वरूप

भी मानना पड़ता है, अन्यथा सहकारी सामग्रीमें यथार्थकारणता नहीं बन सकती है।" आश्चर्य है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षपर बाह्य सामग्रीको यथार्थ कारण माननेका मिथ्या आरोप लगा रहा है। उत्तरपक्ष बतलाये कि पूर्वपक्ष बाह्य सामग्रीको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें यथार्थ कारण कहाँ मानता है। वह भी अयथार्थकारण ही मानता है। इसलिये कार्यको सहकारी सामग्री स्वरूप माननेका प्रसंग उपस्थित ही नहीं होता है। इतना ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार कार्यरूप परिणत होनेसे उपादानमें यथार्थकारणता वास्तविक है उसी प्रकार सहकारी कारणोंमें कार्यरूप परिणत न होनेपर भी उसमें सहायक होनेसे अयथार्थकारणता भी वास्तविक ही है, कल्पनारोपित या कथनमात्र नहीं है। इस तरह पूर्वपक्षकी उपर्युक्त मान्यता कार्य-कारण परम्पराके विरुद्ध नहीं है। यतः पूर्वपक्षकी उक्त मान्यतानुसार कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीकी मात्र सहायता अपेक्षित होनेके कारण कार्यको बाह्य सामग्री स्वरूप माननेकी प्रसक्ति नहीं आती है, अतः उत्तरपक्षका उक्त आरोप केवल गलत ही नहीं, निरर्थक भी है।

कथन ५० और उसकी समीक्षा

(५०) इसके आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६३-६४ पर लिखा है कि "अपरपक्ष जानना चाहता है कि बाजारसे कोटका कपड़ा खरीदनेके बाद जब तक दर्जी उसका कोट नहीं बनाता तब तक मध्यकालमें कपड़ेमें कौन-सी ऐसी उपादान योग्यताका अभाव बना हुआ है जिसके बिना कपड़ा कोट नहीं बनता। समाधान यह है कि जिस अव्यवहित पूर्वपर्यायके बाद कपड़ा कोट पर्यायको उत्पन्न करता है वह पर्याय उस कपड़ेमें जब उत्पन्न हो जाती है तब उसके बाद ही वह कपड़ा कोट पर्याय रूपसे परिणत होता है। इसके पूर्व उस कपड़ेको कोटका उपादान कहना द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य है।" इसके विषयमें मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जब कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतासे ही निष्पन्न होती है ऐसा आगम है तो उत्तरपक्षके उक्त कथनसे पूर्वपक्षके प्रश्नका समाधान नहीं होता—वह तदवस्थ बना रहता है।

कथन ५१ और उसकी समीक्षा

(५१) इसके आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६४ पर लिखा है कि "अपरपक्ष कोट पहिननेकी आकांक्षा रखने वाले व्यक्तिकी इच्छा और दर्जीकी इच्छाके आधारपर कोटका कपड़ा कब कोट बन सका यह निर्णय करके कोट कार्यमें बाह्य सामग्रीके साम्राज्यकी भले ही घोषणा करे, किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अपरपक्षके उस कथनको उलटकर हम यह भी कह सकते हैं कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखने वाले व्यक्तिने बाजारसे कोटका कपड़ा खरीदा और बड़ी उत्सुकता पूर्वक वह उसे दर्जीके पास ले भी गया किन्तु अभी उस कपड़ेमें कोट पर्याय रूपसे परिणत होनेका स्वकाल नहीं आया था, इसलिये उसे देखते ही दर्जीकी ऐसी इच्छा हो गई कि अभी हम इसका कोट नहीं बना सकते और जब उस कपड़ेकी कोट पर्याय सन्निहित हो गई तो दर्जी, मशीन आदि भी उसकी उत्पत्तिमें निमित्त हो गये।"

इसके विषयमें भी मेरा कहना है कि एक तो कपड़ेकी कोट पर्याय तभी सन्निहित होती है जब निमित्तभूत बाह्य सामग्री रूप दर्जी, मशीन आदिका व्यापार तदनुकूल होता है। दूसरे, उत्तरपक्षका उक्त कथन आगम, युक्ति, अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्षके भी विरुद्ध है। क्या उत्तरपक्ष उक्त प्रमाणोंके आधारसे यह सिद्ध कर सकता है कि जब कपड़ेकी कोट पर्याय सन्निहित हो जाती है तभी दर्जी, मशीन आदिका तदनुकूल व्यापार होता है। इतना ही नहीं, उत्तरपक्षका उक्त कथन उसके इस विषयमें किये जाने वाले

विचारों, वचनों और प्रवृत्ति रूप पुरुषार्थके भी विरुद्ध है। इसपर उत्तरपक्षको सोचना चाहिए। वास्तवमें कोटके सृजनमें जो महत्त्व कपड़ेका है वही और उतना ही महत्त्व दर्जी, मशीन आदि बाह्य सामग्रीका है। इसे हमें भूलना नहीं चाहिए।

कथन ५२ और उसकी समीक्षा

(५२) आगे त० च० पृ० ६४ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है कि "अपरपक्ष यदि इस तथ्यको समझ ले कि केवल द्रव्यशक्ति जैन दर्शनमें कार्यकारी नहीं मानी गई है, क्योंकि वह अकेली नहीं पाई जाती है और न केवल पर्यायशक्ति ही जैन दर्शनमें कार्यकारी मानी गई है, क्योंकि वह भी अकेली नहीं पाई जाती। अतएव प्रतिविशिष्ट पर्यायशक्तियुक्त असाधारण द्रव्यशक्ति ही जैन दर्शनमें कार्यकारी मानी गई है। तो कपड़ा कब कोट बने यह भी उसे समझमें आ जाये और इस बातके समझमें आनेपर उसके विशिष्ट कालका भी निर्णय हो जाये।" इसकी समीक्षामें कहना चाहता हूँ कि जैन दर्शनकी यह जो मान्यता है कि पर्याय-शक्ति विशिष्ट द्रव्य शक्ति ही कार्योत्पत्तिमें कार्यकारी होती है उसे पूर्वपक्ष भी नहीं झुठलाता है। परन्तु द्रव्यमें उस पर्यायशक्तिकी उत्पत्ति अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्रीकी सहायतासे ही होती है, यह भी ध्यानमें रखना आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि उपादान अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट वस्तुकी कार्योत्पत्तिमें निमित्तोंका जितना बोलबाला है। उतना निमित्तोंके आधारपर उत्पन्न होने वाली पर्यायशक्तिका नहीं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि पर्यायशक्ति स्वयं कार्यरूप होनेसे उसकी उत्पत्ति बाह्य निमित्तसामग्रीके आधारपर ही होती है, तथापि द्रव्यशक्तिके साथ उसे भी जो कार्योत्पत्तिमें कारण माना गया है उसका कारण यह है कि उस कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय और कार्यमें पूर्वोत्तरभाव पाया जाता है।

कथन ५३ और उसकी समीक्षा

(५३) आगे उत्तरपक्षने प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है, इसकी पुष्टिके लिए हरिवंशपुराण सर्ग ५२ के श्लोकों ७१-७२ को भी उद्धृत किया है जिनका अर्थ उसने यह किया है कि "जब तक उत्कृष्ट दैव बल है तभी तक चतुरंग बल, काल, पुत्र, मित्र और पौरुष कार्यकारी हैं। दैवबलके विफल होनेपर काल और पौरुष आदि सब निरर्थक हैं ऐसा जो विद्वत्पुरुष कहते हैं वह यथार्थ है, अन्यथा नहीं ॥७१-७२॥"

इस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि हरिवंशपुराण, सर्ग ५२ के उक्त दोनों श्लोक ७१-७२ स्पष्ट बतला रहे हैं कि चतुरंगबल, काल, पुत्र, मित्र और पुरुषार्थ कार्योत्पत्तिमें कार्यकारी होते हैं, इसे उत्तरपक्षने भी उक्त दोनों श्लोकोंका अर्थ करते हुए स्वीकार किया है। केवल इतनी बात है कि चतुरंगबल आदिकी कार्यकारिता तभी तक है जब तक दैवबलका सद्भाव रहता है, जो निर्विवाद है। परन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि दैवबल चतुरंगबल आदि बाह्य सामग्रीके समागमके बिना ही कार्यकारी होता है। इसलिये इनके आधारपर उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीकी अकिंचित्करताको कैसे सिद्ध कर सकता है? इसके साथ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि हरिवंशपुराणके उक्त दोनों श्लोकोंमें दैवबलका अर्थ प्रधान-तया वस्तुकी द्रव्यशक्तिके रूपमें ही अभिप्रेत है, पर्यायशक्तिके रूपमें नहीं, क्योंकि उक्त श्लोकोंमें इस बातका कोई संकेत नहीं पाया जाता है कि दैवबलका अर्थ वहाँ कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय विवक्षित है उसका कारण भी यही है कि वह कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका सहयोग प्राप्त होनेपर ही निष्पन्न होती

है। अतः हरिवंशपुराणके उक्त कथनसे उत्तरपक्षके इस अभिप्रायकी पुष्टि नहीं होती है कि कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्री अकिंचित्कर ही रहा करती है।

इस विवेचनसे तत्त्वचर्चा पृ० ६४ पर ही निर्दिष्ट उत्तरपक्षका यह कथन भी निरर्थक हो जाता है कि "यह आगम प्रमाण है। इससे जहाँ प्रत्येक कार्यके विशिष्ट कालका ज्ञान होता है वहाँ उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि दैव अर्थात् द्रव्यमें कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके सद्भावमें ही बाह्य सामग्रीकी उपयोगिता है, अन्यथा नहीं।" तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्षने अपने इस कथनमें कार्यकारी अन्तरंग योग्यता-का अभिप्राय मुख्यतया स्वकाल अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायके रूपमें लिया है परन्तु ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि उसका कोई संकेत हरिवंशपुराणके उक्त कथनमें नहीं है। दूसरे, ऊपर यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्याव्यवहित उस पूर्वपर्यायकी उत्पत्ति निमित्तभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतापर ही निर्भर है। इससे यही निर्णीत होता है कि हरिवंशपुराणके उक्त कथनमें दैवबलका अभिप्राय मुख्यतया वस्तुकी द्रव्यशक्ति ही है। यही कारण है कि कार्योत्पत्तिमें कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय कारणभूत द्रव्यशक्तिके विशेषणके रूपमें ही प्रयुक्त होती है। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यातव्य है कि कार्यकारणभाव कार्य और द्रव्यरूप उपादानशक्तिमें ही उत्पाद्योत्पादकभावके रूपमें होता है। कार्य और पर्यायरूप उपादानशक्तिमें तो पूर्वोत्तरभावरूप कार्यकारणभाव ही होती है, उत्पाद्योत्पादकभावरूप कार्यकारणभाव नहीं। यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है और आवश्यकतानुसार आगे भी स्पष्ट की जावेगी।

उत्तरपक्षने "दैव" पदका अर्थ जो "कार्यकारी अन्तरंग योग्यता" ग्रहण किया है इसके विषयमें उसका कहना है कि यह उसने आप्तमीमांसा कारिका ८८ की अष्टशती टीकाके आधारपर किया है। इसके साथ ही उसने वहाँ अष्टशतीके उस वचनको भी उद्धृत किया है और उसका यह अर्थ भी निर्दिष्ट किया है कि "योग्यता और पूर्वकर्म इनकी "दैव" संज्ञा है। ये दोनों अदृष्ट हैं। किन्तु इहचेष्टितका नाम पौरुष है जो दृष्ट है।"

आगे वहींपर उसने लिखा है कि "आचार्य समन्तभद्रने कार्यमें इन दोनोंके गौण-मुख्य भावसे ही अनेकान्तका निर्देश किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि कपड़ा जब कोट बनता है अपनी द्रव्यपर्यायात्मक अन्तरंग योग्यताके बलसे ही बनता है और तभी दर्जीका योग तथा विकल्प आदि अन्य सामग्री उसकी उस पर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्त होती है।"

इसके विषयमें मेरा कहना है कि अष्टशतीके वचन और आचार्य समन्तभद्रके अभिप्रायको प्रगट करने वाले उत्तरपक्षके उक्त कथन दोनोंसे यद्यपि दैव पदके अर्थके रूपमें "कार्यकारी अन्तरंग योग्यता" के ग्रहण करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वह कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्यशक्तिके रूपमें ही ग्रहण किया जा सकता है, द्रव्यशक्तिविशिष्ट पर्यायशक्तिके रूपमें नहीं। इसमें हेतु यह है कि उक्त पर्याय पूर्वोक्त प्रकार कार्यरूप ही मानी गई है तथा उसकी उत्पत्ति निमित्तभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतासे ही होती है।

इससे यह भी स्पष्ट विदित होता है कि कपड़ा जब कोट बनता है तो अपनी द्रव्यपर्यायात्मक अन्तरंग योग्यताके बलसे ही बनता है, परन्तु दर्जीके योग और विकल्प आदि बाह्य सामग्रीका सहयोग मिलनेपर ही वह बनता है। अतएव उत्तरपक्षका यह मानना कि "कपड़ा जब भी कोट बनता है अपनी

द्रव्यपर्यायात्मक अन्तरंग योग्यताके बलसे ही बनता है और तभी दर्जीका योग तथा विकल्प आदि अन्य सामग्री उसकी उस पर्यायमें निमित्त होती है।" संगत नहीं है।

कथन ५४ और उसकी समीक्षा

(५४) आगे त० च० पृ० ६५ पर उत्तरपक्षने लिखा है कि "अपरपक्ष यद्यपि केवल बाह्य सामग्रीके आधारपर कार्यकारणभावका निर्णय करना चाहता है और उसे वह अनुभवगम्य बतलाता है। किन्तु उसकी यह मान्यता कार्यकारी अन्तरंग योग्यताको न स्वीकार करनेका ही फल है जो आगमविरुद्ध होनेसे प्रकृतमें स्वीकार करने योग्य नहीं है।" इस विषयमें भी मेरा कहना है कि उत्तरपक्षका यह सब लिखना युक्त नहीं है, क्योंकि कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके सद्भाव और निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका सहयोग दोनोंके समागममें ही कार्योत्पत्ति होती है और दोनोंका समागम न होनेपर वह नहीं होती। स्वयं उत्तरपक्षने भी पूर्वपक्षकी इस मान्यताको त० च० पृ० ६३ पर स्वीकार किया है कि "अपरपक्षके कथनका आशय यह है कि विवक्षित कार्यपरिणाम योग्य उपादानमें योग्यता हो, परन्तु सहकारी सामग्रीका योग न हो या आगे-पीछे हो तो उसीके अनुसार कार्य होगा।"

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६५ के उसी अनुच्छेदमें आगे और जो कुछ लिखा है वह सब गलत है। प्रकृत विषयमें गलत दृष्टिकोण अपनानेका ही वह फल है और आगमविरुद्ध है।

उत्तरपक्षके उस लेखको मैं गलत इसलिए कहता हूं कि उसने वह पूर्वपक्षपर कार्योत्पत्तिके प्रति कार्यकारी अन्तरंग योग्यताको न माननेका उपर्युक्त प्रकार मिथ्या आरोप लगाकर लिखा है।

उत्तरपक्षके उस लेखको मैं उसके द्वारा गलत दृष्टिकोण अपनानेका फल भी इसलिए कहता हूँ कि कार्यकारी अन्तरंग योग्यताका मुख्यार्थ द्रव्यशक्ति ही है, क्योंकि द्रव्यशक्ति ही एक अनुकूल पर्यायशक्तिके पश्चात् अन्य अनुकूल पर्यायरूप परिणत होती है तथा पूर्व और उत्तर ये दोनों पर्यायें निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका सहयोग मिलनेपर ही उत्पन्न होती हैं। पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि मिट्टीसे घटकी उत्पत्ति स्थूल दृष्टिसे स्थास, कोश और कुशूल पर्यायोंकी उत्पत्तिके क्रमसे और सूक्ष्म दृष्टिसे एक-एक क्षणकी पर्यायोंकी उत्पत्तिके क्रमसे होती हैं। परन्तु मिट्टीकी ये सभी पर्यायें कुम्भकारके व्यापार आदि बाह्य सामग्रीके सहयोगपूर्वक ही होती है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवमें क्रोध पर्यायकी उत्पत्ति उसमें विद्यमान तदनुकूल कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके सद्भावमें होते हुए भी क्रोधकर्मके उदयको निमित्तकर ही होती है तथा उसकी उस क्रोध पर्यायके पश्चात् यदि क्रोध पर्यायकी ही उत्पत्ति होती है तो उस उत्पत्तिमें भी पूर्व क्रोध पर्यायको कारण मानना उचित न होकर क्रोधकर्मके उदयको ही सहायक रूपसे कारण मानना उचित है, क्योंकि जीवमें क्रोध पर्यायके पश्चात् मान आदि पर्यायोंमेंसे कोई एक पर्यायकी उत्पत्ति भी सम्भव है जिसमें पूर्व क्रोध पर्यायको कारण मानना उचित न होकर मान आदि कर्मोंके उदयको ही सहायक रूपसे कारण मानना उचित है। इस बातको पूर्वमें सहेतुक स्पष्ट किया जा चुका है। इससे निर्णीत होता है कि कार्योत्पत्तिमें सर्वत्र कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके रूपमें द्रव्यशक्तिको ही मुख्य कारण कहना उचित है, पर्यायशक्तिको नहीं।

उत्तरपक्षके उस लेखको मैं आगमविरुद्ध भी इसलिये कहता हूँ कि मैंने इस समीक्षा-ग्रन्थमें सर्वत्र उत्तरपक्षकी कार्योत्पत्ति सम्बन्धी उक्त मान्यताको आगमविरुद्ध सिद्ध किया है। और पर्यायशक्तिके विषयमें सबसे

बड़ा तर्क आगममें यह बतलाया गया है कि उसकी उत्पत्ति उसके कार्यरूप होनेसे बाह्य सामग्रीके बलपर ही होती है। तथा यह बात अनुभव, तर्क और इन्द्रियप्रत्यक्षसे भी सिद्ध है।

कथन ५५ और उसकी समीक्षा

(५५) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २४ पर लिखा है कि "यहाँ हम उस कपड़ेकी एक-एक क्षणमें होने-वाली पर्यायोंकी बात नहीं कर रहे हैं" इत्यादि। इसकी आलोचनामें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६५ पर लिखा है कि "अपरपक्ष कालक्रमसे होनेवाली क्षणिक पर्यायोंके साथ कपड़ेकी कोट पर्यायका सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं मानता। किन्तु कोई भी व्यंजन पर्याय क्षण-क्षणमें होनेवाली पर्यायोंसे भिन्न हो ऐसा नहीं है। अपने सदृश परिणामके कारण हम किसी व्यंजन पर्यायको घटी, घंटा आदि व्यवहारकालके अनुसार चिर-स्थायी कहें, यह दूसरी बात है पर होती हैं वे प्रत्येक समयमें उत्पाद-व्ययरूप ही। पर्याय दृष्टिसे प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य होता है, ऐसी अवस्थामें उस कपड़ेको भी प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य रूपसे स्वीकार करना ही तर्क, आगम और अनुभवसम्मत माना जा सकता है। अतएव कपड़ेकी कोट पर्याय कालक्रमसे होनेवाली नियतक्रमानुपाती ही है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।"

प्रतीत होता है कि उत्तरपक्षने जो यह सब लिखा है वह पूर्वपक्षके कथनके अभिप्रायको विपरीत समझकर लिखा है। पूर्वपक्षके उक्त कथनका यह आशय नहीं है कि कपड़ेकी जो कोट पर्याय अपनी कार्य-कारी अन्तरंग योग्यताके अनुसार प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त दर्जीके तदनुकूल व्यापार आदि बाह्य सामग्रीके आधारपर निष्पन्न हुई है वह क्षण-क्षणमें अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त दर्जीके व्यापार आदि बाह्य सामग्रीके आधारपर क्षण-क्षणमें अन्य-अन्य रूपताको नहीं प्राप्त होती हुई ही निष्पन्न हुई है, क्योंकि पूर्वपक्षकी मान्यता यह है कि कपड़ेकी अपनी कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके अनुसार निष्पन्न हुई वह कोट पर्याय प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त दर्जीके व्यापार आदि बाह्य सामग्रीकी क्षण-क्षणमें होती हुई अन्य-अन्य रूपताके आधारपर क्षण-क्षणमें अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त होती हुई ही निष्पन्में हुई है। जैसा कि मिट्टीसे घटकी उत्पत्तिमें कारणभूत नानाक्षणवर्ती स्थास, कोश, कुशूल पर्यायोंकी अथवा सूक्ष्मरूपसे एक-एक क्षणवर्ती पर्यायोंकी उत्पत्तिसे स्पष्ट है। अतः उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "अपरपक्ष कालक्रमसे होनेवाली क्षणिक पर्यायोंके साथ कपड़ेकी कोट पर्यायका सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं मानता" सो उसका यह लिखना मिथ्या ही है। और इसीसे उसका यह कथन कि "कोई भी व्यंजन पर्याय क्षण-क्षणमें होनेवाली पर्यायोंसे भिन्न हो ऐसा नहीं है। अपने सदृश परिणामके कारण हम किसी व्यंजन पर्यायको घटी, घंटा आदि व्यवहारकालके अनुसार चिरस्थायी कहें यह दूसरी बात है, पर होती हैं वे प्रत्येक समयमें उत्पादव्ययरूप ही। पर्यायदृष्टिसे जब कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य रूप होता है, ऐसी अवस्थामें उस कपड़ेको भी प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य रूपसे स्वीकार करना ही तर्क, आगम और अनुभवसम्मत माना जा सकता है।" अयुक्त है। इतनी बात अवश्य है कि पूर्वपक्षको उत्तरपक्षका "अतएव कपड़ेकी कोट पर्याय कालक्रमसे होनेवाली नियतक्रमानुपाती है" यह कथन इस रूपमें मान्य है कि कपड़ेकी अपनी कार्यकारी अन्तरंग योग्यता व प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त दर्जीके व्यापार आदि बाह्य सामग्रीके आधारपर निष्पन्न हुई कोट पर्याय उस बाह्य सामग्रीकी क्षण-क्षणमें होती हुई अन्य-अन्य रूपताके आधारपर क्षण-क्षणमें अन्य-अन्य रूप ही होती है।

इस तरह पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य इस समानताके रहते हुए भी पूर्वपक्षने त० च० पृ० २४ पर जो यह कथन किया है कि "यहाँ हम उस कपड़ेकी एक-एक क्षणमें होनेवाली पर्यायोंकी बात नहीं कर

रहे हैं" इत्यादि। सो उसका आशय यह है कि कोटके निर्माणार्थ लाये गये उस कपड़ेमें उस समय कालक्रमसे प्रतिक्षण कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके अनुसार प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके आधारपर होनेवाले परिणमनोंकी जो प्रक्रिया चली आ रही थी उन परिणमनोंकी वह प्रक्रिया तो उस कपड़ेका कोट बन जानेपर भी चालू रही। परन्तु कपड़ेका जो प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त कोट रूप परिणमन हुआ वह चूँकि प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूप दर्जीके व्यापार आदि प्रेरक और उदासीन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके आधारपर हुआ, अतः उसको प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त प्रेरक और उदासीन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके आधारपर कालक्रमसे प्रतिक्षण होनेवाले उन परिणमनोंकी प्रक्रियाका अंग नहीं माना जा सकता है। इसलिए पूर्वपक्षका त० च० पृ० २४ पर निर्दिष्ट "यहाँपर हम उस कपड़ेकी एक-एक क्षणमें होनेवाली पर्यायोंकी बात नहीं कर रहे हैं" इत्यादि कथन असंगत नहीं है।

तात्पर्य यह है कि कपड़ेकी जो प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त कपड़ा रूप व्यंजन पर्याय बनी वह भी प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूप प्रेरक और उदासीन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके आधारपर बनी। इसके पूर्व उसकी जो प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त सूत रूप व्यंजन पर्याय बनी थी वह भी प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूप प्रेरक और उदासीन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके आधारपर ही बनी थी और पश्चात् जो प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त कोट रूप व्यंजन पर्याय बनी वह भी प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूप प्रेरक और उदासीन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके आधारपर ही बनी। लेकिन प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त इन सूत, कपड़ा और कोट रूप व्यंजन पर्यायोंके सद्भावमें भी प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूप प्रेरक और उदासीन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके आधारपर प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपताको प्राप्त जो पर्यायें सतत निराबाध हो रही हैं वे सभी पर्यायें अन्य हैं और जिन सूत, कपड़ा और कोट रूप व्यंजन पर्यायोंमें ये पर्यायें सतत हो रही हैं वे सूत, कपड़ा और कोट रूप व्यंजन पर्यायोंसे अन्य हैं अर्थात् दोनों तरहकी पर्यायोंकी प्रक्रिया पृथक्-पृथक् रूपमें एक साथ चल रही है। दोनों तरहकी पर्यायें एक प्रक्रियाकी अंग नहीं हैं। मुझे आशा है कि इस विस्तृत विवेचनसे उत्तरपक्ष प्रकृत विषयमें वास्तविक स्थितिको समझनेकी चेष्टा करेगा और पूर्वपक्षके त० च० पृ० २४ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त कथनके विषयमें उसे जो मिथ्या भ्रम है उसे दूर कर लेगा, क्योंकि यह बात निर्विवाद है कि प्रत्येक वस्तुमें क्षण-क्षणमें होनेवाले परिणमनोंकी एक प्रक्रिया प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगसे सतत निराबाध चल रही है। इसके अतिरिक्त वस्तुमें क्षण-क्षणमें होनेवाले परिणमनोंकी दूसरी प्रक्रिया भी प्रायोगिक ढंगसे प्राप्त निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगसे यथावसर चलती है। वस्तुके परिणमनोंकी दोनों प्रक्रियायें पृथक्-पृथक् हैं। इनमेंसे पहली प्रक्रियाको सूक्ष्म व्यंजनपरिणमनों (पर्यायों) की प्रक्रिया कहना चाहिए और दूसरीको स्थूल व्यंजनपरिणमनों (पर्यायों) की प्रक्रिया कहना चाहिए। पूर्वपक्षकी दृष्टिमें परिणमनोंकी ये दोनों प्रक्रियाएँ थीं, जिनके आधारपर ही उसने त० च० पृ० २४ पर उपर्युक्त कथन किया है।

कथन ५६ और उसकी समीक्षा

(५६) उत्तरपक्षने अपने इसी वक्तव्यमें लिखा है कि "अपरपक्षने बाह्य सामग्रीको कारण मानकर जो कुछ भी कथन किया है वह व्यवहारनयका ही वक्तव्य है।" इसमें हमें विवाद नहीं है, परन्तु इतना

अवश्य है कि व्यवहारनयका विषय होनेपर भी वह पूर्वपक्षकी दृष्टिके अनुसार अपने रूपमें वास्तविक ही है, उत्तरपक्षकी दृष्टिके अनुसार कल्पनारोपित मात्र नहीं है। यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है।

कथन ५७ और उसकी समीक्षा

(५७) उत्तरपक्षने अपने इसी वक्तव्यमें यह लिखा है कि "निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर अनन्त पुद्गलोंके परिणामस्वरूप कपड़ेकी जिस कालमें अपने उपादानके अनुसार संघात या भेदरूप जिस पर्यायके होनेका नियम है उस कालमें वही पर्याय होती है, क्योंकि प्रत्येक कार्य उपादान कारणके सदृश होता है ऐसा नियम है।" सो यह उसने निमित्तको अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए ही लिखा है जो आगम-विरुद्ध है। आगम तो यह है कि निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर अनन्त पुद्गलोंके परिणामस्वरूप कपड़ेकी अपने उपादानके अनुसार संघात या भेदरूप जिस पर्यायके होनेका नियम है वही पर्याय होती है परन्तु वह तभी होती है जब उसे अनुकूल बाह्य निमित्तसामग्रीका सहयोग प्राप्त होता है। इस तरह इससे उपादानकी तरह कार्योत्पत्तिमें निमित्तकी भी कार्यकारिता सिद्ध होती है। आचार्य जयसेन द्वारा समयसार गाथा ३७२ की टीकामें निर्दिष्ट "उपादानसदृशं कार्यं भवति" इस कथनका समन्वय पूर्वपक्षके कथनके साथ ही उचित ढंगसे होता है उत्तरपक्षके कथनके साथ नहीं, क्योंकि उत्तरपक्षका कथन व्यवहारनय निरपेक्ष होनेसे मिथ्या ही सिद्ध होता है। जबकि पूर्वपक्षका निश्चयनयकथन व्यवहारनय सापेक्ष होनेसे सम्यक् है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय वही सम्यक् है जो व्यवहारनयसापेक्ष होता है। यतः कार्योत्पत्तिमें उत्तरपक्ष केवल निश्चयनयके विषयभूत उपादानको ही कार्यकारी मानता है, व्यवहारनयके विषयभूत निमित्तको वहाँ वह पूर्वोक्त प्रकार अकिंचित्कर ही मानता है। अतः उसका कथन व्यवहारनयनिरपेक्ष होनेसे सम्यक् नहीं है।

कथन ५८ और उसकी समीक्षा

(५८) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६५ पर ही आगे लिखा है कि "दर्जी जब उसकी इच्छामें आता है तब कपड़ेका कोट बनाता है यह पराश्रित भाव है और कपड़ा उपादानके अनुसार स्वकालमें कोट बनता है यह स्वाश्रित भाव है। अनुभव दोनों हैं। प्रथम अनुभव पराधीनताका सूचक है और दूसरा अनुभव स्वाधीनता-का सूचक है। यह अपरपक्ष निर्णय करे कि इनमेंसे किसे यथार्थके आश्रय माना जाये।"

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके इस कथनमें केवल इस बातका विरोध है कि उत्तरपक्ष स्वकालका यह अर्थ स्वीकार करता है कि जिस कालमें कपड़ेका कोट बननेका नियम है उस कालमें कपड़ा कोट बनता है। इसके विपरीत पूर्वपक्ष उसका यह यह अर्थ स्वीकार करता है कि जिस कालमें कपड़ेको कोट निर्माणके अनुकूल बाह्य सामग्रीका योग मिलता है उस कालमें कपड़ा कोट बनता है। तथा स्वाश्रित अनुभव ही यथार्थके आश्रयसे है यह उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्षको भी मान्य है। परन्तु उपर्युक्त प्रकारके पराश्रित अनुभवकी उत्तरपक्ष भले ही कीमत न करे, क्योंकि वह कपड़ाका कोट बननेमें दर्जीकी इच्छा आदि बाह्य सामग्रीको अकिंचित्कर मानता है। परन्तु पूर्वपक्ष स्वाश्रित अनुभवके साथ-साथ पराश्रित अनुभवकी भी कीमत करता है, क्योंकि वह कपड़ेका कोट बननेमें दर्जीकी इच्छा आदि बाह्य सामग्रीको भी कार्यकारी मानता है।

कथन ५९ और उसकी समीक्षा

(५९) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६५-६६ पर यह कथन किया है कि—"अपरपक्ष इष्टोपदेशके "नाज्ञो विज्ञत्वमायाति" इत्यादि श्लोकको द्रव्यकर्मके विषयमें स्वीकार नहीं करता, क्यों स्वीकार नहीं

करता, इसका उसकी ओरसे कोई कारण नहीं बतलाया गया है।" यह उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर मिथ्या लांछन है, क्योंकि पूर्वपक्षने त० च० पृ० २४-२५ पर स्पष्ट लिखा है कि "आगे आपने आचार्य पूज्यपादके इष्टोपदेशका 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि श्लोक उपस्थित करके यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि 'जो कुछ होता है वह केवल उपादानकी अपनी योग्यताके बलपर ही होता है' परन्तु हम बतला देना चाहते हैं कि इससे भी आप अपने मतकी पुष्टि करनेमें असमर्थ ही रहेंगे, कारण कि उक्त श्लोक एक तो द्रव्यकर्मके उदयके विषयमें नहीं है। दूसरे, वह हमें इतना ही बतलाता है कि जिसमें जिस कार्यके निष्पन्न होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है उसमें निमित्त अपने बलसे उस कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है।" पूर्वपक्षके इस कथनकी आलोचना करते हुए उत्तरपक्षने उक्त कथन किया है। परन्तु उत्तरपक्षका यह कथन कि "अपरपक्ष इष्टोपदेशके "नाज्ञो विज्ञत्वमायाति" इत्यादि श्लोकको द्रव्यकर्मके विषयमें स्वीकार नहीं करता" तत्त्वजिज्ञासुओंको भ्रममें डालने वाला है, क्योंकि पूर्वपक्षके सम्पूर्ण कथनपर दृष्टि डालनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षका उक्त कथन पूर्वपक्षके सही अभिप्रायको प्रकट नहीं करता है। पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि "नाज्ञो विज्ञत्वमायाति" इत्यादि श्लोक साक्षात् द्रव्यकर्मसे सम्बन्ध नहीं रखता है तथा परम्परया पूर्वपक्षने उस श्लोकका सम्बन्ध द्रव्यकर्मके विषयमें स्वीकार किया ही है, जैसा कि उसके "दूसरे वह हमें इतना ही बतलाता है कि जिसमें जिस कार्यके निष्पन्न होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है उसमें निमित्त अपने बलसे उस कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है" इस दूसरे विकल्पसे स्पष्ट है। अतः उत्तरपक्षको इस विषयको लेकर पूर्वपक्षके ऊपर आक्षेप करनेकी गुन्जाइश नहीं रह जाती है।

कथन ६० और उसकी समीक्षा

(६०) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २५ पर अपने उपर्युक्त कथनके आगे यह कथन किया है—"और यह बात हम भी मानते हैं कि मिट्टीमें जब पटरूपसे परिणत होनेकी योग्यता नहीं पाई जाती है तो जुलाहा आदि निमित्तोंका सहयोग मिल जाने पर भी मिट्टीसे पटका निर्माण असम्भव ही रहेगा" इत्यादि।

इसपर आक्षेप करते हुए उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनमें आगे लिखा है कि "अपरपक्ष मिट्टीमें पट बननेकी योग्यताको स्वीकार नहीं करता। किन्तु मिट्टी पुद्गल द्रव्य है। घट और पट दोनों पुद्गलकी व्यंजन पर्यायें हैं। ऐसी अवस्थामें मिट्टीमें पटरूप बननेकी योग्यता नहीं है यह तो कहा नहीं जा सकता। परस्परमें एक दूसरे रूप परिणमनेकी योग्यताको ध्यानमें रखकर ही इनमें आचार्योंने इतरेतराभावका निर्देश किया है।" इसके आगे वहींपर उत्तरपक्षने यह लिखा है कि "फिर क्या कारण है कि मिट्टीसे जुलाहा पटपर्यायका निर्माण करनेमें सर्वत्र असमर्थ रहता है। यदि अपरपक्ष कहे कि वर्तमानमें मिट्टीमें पटरूप बननेकी योग्यता न होनेसे ही जुलाहा मिट्टीसे पट बनानेमें असमर्थ है तो इससे सिद्ध हुआ कि जो द्रव्य जब जिस पर्यायके परिणमनके सम्मुख होता है तभी अन्य सामग्री उसमें व्यवहारसे निमित्त होती है और इस दृष्टिसे विचार कर देखनेपर यही निर्णय होता है कि बाह्य सामग्री मात्र अन्यके कार्य करनेमें वैसे ही उदासीन है जैसे धर्मद्रव्य गतिमें उदासीन है।"

इसकी समीक्षामें मैं यह कहना चाहता हूँ कि पूर्वपक्ष अपने वक्तव्य द्वारा मिट्टीमें पट निर्माणकी योग्यताके अभावकी बात कर रहा है। परन्तु पुद्गलमें पट निर्माणकी योग्यताके अभावकी बात नहीं कर रहा है। उत्तरपक्षको पूर्वपक्षके ऊपर आक्षेप करनेसे पूर्व यह बात अवश्य सोचना चाहिए थी। मिट्टी पुद्गल द्रव्य अवश्य है, क्योंकि वह शुद्ध अर्थात् अणुरूप नाना पुद्गल द्रव्योंका ही पिण्ड (स्कन्ध) है। परन्तु

अणुरूप नाना पुद्गल द्रव्योंका स्कन्ध होनेके आधारपर उसमें पट निर्माणकी योग्यताका सद्भाव वही स्वीकार कर सकता है जिसने इस विषय संबंधी जैन दर्शनकी व्यवस्थाको नहीं समझा है। जैन दर्शनकी व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक अणुरूप पुद्गल द्रव्यमें घट, पट आदि पर्यायोंकी योग्यताओंका सद्भाव स्वीकार करते हुए भी नाना अणुओंके स्कन्ध रूप मिट्टीमें घट निर्माणकी योग्यताका सद्भाव और पट निर्माकी योग्यताका अभाव स्वीकार करनेका कारण यह है कि मिट्टीमें पुद्गलत्वके आधारपर घटका निर्माण न होकर मृत्तिकात्वके आधारपर ही घटका निर्माण होता है। इसी तरह नाना अणुओंके स्कन्ध रूप कपासमें भी पुद्गलत्वके आधारपर पटका निर्माण न होकर कार्पासत्वके आधारपर ही पटका निर्माण होता है। इसका आशय यह है कि पुद्गलमें मृत्तिकात्वका उद्भव हो जाना ही घटोत्पत्तिकी द्रव्यगत योग्यता है और पुद्गलमें कार्पासत्वका उद्भव हो जाना ही पटोत्पत्तिकी द्रव्यगत योग्यता है। इस तरह वह योग्यता पर्यायगत नहीं है। घटमें और पटमें आचार्योंने जो इतरेतराभाव स्वीकार किया है उसका कारण यह है कि कपास रूप स्कन्धके परमाणु वहाँसे निकल कर मिट्टीरूप स्कन्धमें मिलकर घटरूपताको धारण कर सकते हैं और मिट्टी रूप स्कन्धके परमाणु वहाँसे निकलकर कपास रूप स्कन्धमें मिलकर पटरूपताको धारण कर सकते हैं। इतना ही नहीं, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप स्कन्धोंके परमाणु भी उस उस स्कन्धसे निकलकर एक-दूसरेसे भिन्न यथायोग्य पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप स्कन्धोंमें मिलकर उस उस रूपताको धारण कर सकते हैं। इसका आशय यह है कि अणुरूप पुद्गल न पृथ्वी रूप हैं, न जल रूप हैं, न अग्निरूप हैं और न वायुरूप हैं किन्तु उनमें ऐसी योग्यता विद्यमान है कि वे पुद्गल परमाणु ययायोग्य पृथ्वी आदि किसी भी स्कन्धमें मिलकर उस उस रूपको धारण कर सकते हैं। इस तरह केवल घट और पटमें ही नहीं, अपितु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुमें भी आचार्योंने इतरेतराभाव ही स्वीकार किया है। अत्यन्ताभाव नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभाव एक स्वतंत्र द्रव्यका दूसरे स्वतंत्र द्रव्यमें ही हुआ करता है और वह त्रैकालिक होता है। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तथा मिट्टी और कपास या घट और पट सभी पुद्गल द्रव्य हैं, अतः पुद्गल द्रव्य होनेके कारण इन सभीमें इतरेतराभाव ही स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार पूर्वपक्ष ऐसा मानता है कि मिट्टीमें पट बननेकी कार्पासत्वरूप द्रव्यगत योग्यताका अभाव है। वह उत्तरपक्षके समान यह नहीं मानता है कि मिट्टीमें पट बननेकी कार्पासत्व रूप पर्यायगत योग्यताका अभाव है, क्योंकि जब तक मिट्टी मिट्टी बनी रहती है तब तक उसमें पटरूप बननेकी कार्पासत्व रूप योग्यताका अभाव विद्यमान रहता है। केवल वह मिट्टी जब मिट्टी न रहकर कपास बन जाती है तब मिट्टीमें नहीं, किन्तु कपासमें ही कार्पासत्व रूप पट बननेकी योग्यताका सद्भाव माना जा सकता है। और यह युक्तिसंगत भी प्रतीत होता है। फलतः उत्तरपक्षका अपने वक्तव्यमें 'यदि अपरपक्ष कहे' इत्यादि कथन अविचारित रम्य ही है।

इसी प्रकार उत्तरपक्षने जो यह कथन किया है कि "अपरपक्ष मिट्टीमें पट बननेकी योग्यताको स्वीकार नहीं करता। किन्तु मिट्टी पुद्गल द्रव्य है। घट और पट दोनों पुद्गल द्रव्यकी व्यंजन पर्यायें हैं। ऐसी अवस्थामें मिट्टीमें पटरूप बननेकी योग्यता नहीं है यह तो कहा नहीं जा सकता। परस्परमें एक दूसरे रूप परिणमनकी योग्यताको ध्यानमें रखकर ही इनमें आचार्योंने इतरेतराभावका निर्देश दिया है।" उसका यह सब कथन भी निरर्थक है।

इसी तरह उत्तरपक्ष पूर्वपक्षकी "मिट्टीमें पटनिर्माणकी योग्यताका अभाव रहनेसे जुलाहा उससे पट बनानेमें असमर्थ है।" इस मान्यतासे जो यह सिद्ध करना चाहता है कि "जो द्रव्य जब जिस पर्यायके परिणमनके सन्मुख होता है तभी अन्य सामग्री उसमें व्यवहारसे निमित्त होती हैं।" सो इस संबंधमें उत्तरपक्षका

यह प्रयास निरर्थक है, क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि मिट्टीके अंशभूत परमाणुओंके मिट्टीसे पृथक् होकर कपासके अंश बन जानेपर मिट्टीमें नहीं, अपितु कपासमें ही पट निर्माणकी द्रव्यगत योग्यताका सद्भाव स्वीकार किया जा सकता है और उस अवसरपर भी तब तक उनसे पटका निर्माण नहीं होता जब तक जुलाहे द्वारा उस कपासको अपने सहयोगसे सूत आदि रूप पर्यायोंके रूपमें परिणमित नहीं करा दिया जाता है। उत्तरपक्षने कपासके सूत आदि पर्यायोंके रूपमें परिणमनके न होनेमें जुलाहेके सहयोगके अभावको कारण न मानकर केवल विवक्षित सूत आदि पर्यायोंसे अव्यवहित पूर्वपर्याय रूप परिणमनके अभावको ही जो कारण मान्य किया है उसका निराकरण पूर्वमें किये गये मेरे विवेचनसे हो जाता है अर्थात् पूर्वमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्योत्पत्तिके प्रति कारणरूपसे स्वीकृत उस कार्याव्यवहित पर्यायकी उत्पत्ति निमित्त-कारणभूत बाह्य सामग्रीका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होती है। इसी तरह प्रकृतमें भी सूत आदि विवक्षित पर्याय रूप कार्यके प्रति कारण रूपसे स्वीकृत उस कार्यसे अव्यवहित पूर्वपर्यायकी उत्पत्ति निमित्त कारणभूत जुलाहे आदि बाह्य सामग्रीका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होती है, ऐसा जानना चाहिए।

उत्तरपक्षने अपने "जो द्रव्य जब जिस परिणमनके सन्मुख होता है तभी अन्य सामग्री उसमें व्यवहारसे निमित्त होती है" इस वचनमें जो यह लिखा है कि "अन्य सामग्री उसमें व्यवहारसे निमित्त होती है" सो अन्य सामग्रीको व्यवहारसे अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त माननेमें तो पूर्वपक्षको आपत्ति नहीं है, क्योंकि पूर्वमें यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्ष अन्य सामग्रीको अन्य द्रव्यके कार्यमें व्यवहारसे ही निमित्त मानता है। परन्तु उत्तरपक्षका "जो द्रव्य जब जिस पर्यायके परिणमके सन्मुख होता है तभी अन्य सामग्री उसमें निमित्त होती है" यह कथन पूर्वपक्षको मान्य नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य किसी भी विवक्षित पर्यायके परिणमनके सन्मुख तभी होता है जब प्रेरक निमित्त कारणभूत अन्य सामग्रीका सहयोय उसे प्राप्त हो जाता है। और जब तक उसे उसका सहयोग प्राप्त नहीं होता तब तक वह उस पर्यायके परिणमनके सन्मुख नहीं होता है। यह बात भी पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है।

इसी तरह उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "बाह्य सामग्री अन्य द्रव्यके कार्यको करनेमें वैसे ही उदासीन है जैसे धर्मद्रव्य गतिमें उदासीन है" सो पूर्वमें उत्तरपक्षके इस कथनके विरुद्ध यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कोई बाह्य सामग्री तो अन्य द्रव्यके कार्यमें प्रेरक रूपसे पृथक् निमित्त होती है और कोई बाह्य सामग्री अन्य द्रव्यके कार्यमें धर्मद्रव्यके समान उदासीन रूपसे पृथक् निमित्त होती है। इतना ही नहीं, उत्तरपक्ष उदासीनताका अर्थ जो अकिंचित्करताके रूपमें मानता है उसका निषेध भी पूर्वमें आगम प्रमाणके आधारपर किया जा चुका है। अतः उत्तरपक्षका प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंको समानरूपसे उदासीन निमित्त मानना भी असंगत है और उसके द्वारा "उदासीन" शब्दका अकिंचित्कर अर्थ किया जाना भी असंगत है।

कथन ६१ और उसकी समीक्षा

(६१) इसी तरह उत्तरपक्षने उसी अनुच्छेदमें अपने उपर्युक्त कथनके आगे जो यह कथन किया है कि "सब द्रव्य प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करनेमें ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें तीनों कालोंमें एक क्षणका भी विश्राम नहीं मिलता कि वे अपना कार्य छोड़कर दूसरे द्रव्यका कार्य करने लगें।" सो पूर्वपक्षके लिए यह विवादकी वस्तु नहीं है क्योंकि पूर्वपक्ष भी यह नहीं मानता है कि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यका कर्ता

होता है। उसका कहना तो यह है कि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यमें मात्र सहायक ही होता है। परन्तु वहींपर आगे उसने (उत्तरपक्षने) जो यह लिखा है कि "अतएव इष्टोपदेशके उक्त वचनके अनुसार प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जिस प्रकार धर्मद्रव्य अन्यका कार्य करनेमें उदासीन है उसी प्रकार अन्य सभी द्रव्य अन्यका कार्य करनेमें उदासीन हैं"। सो इसका निराकरण भी ऊपरके कथनसे ही हो जाता है अर्थात् ऊपर यह बतलाया गया है कि कोई बाह्य सामग्री तो अन्य द्रव्यके कार्यमें प्रेरक रूपसे पृथक् निमित्त होती है, कोई बाह्य सामग्री अन्य द्रव्यके कार्यमें धर्मद्रव्यके समान उदासीन रूपसे पृथक् निमित्त होती है तथा यह भी बतलाया गया है कि प्रकृतमें उदासीनताका अर्थ अकिंचित्करता नहीं है। इससे उत्तरपक्षका "अतएव इष्टोपदेशके उक्त वचनके अनुसार" इत्यादि कथन भी निराकृत हो जाता है।

कथन ६२ और उसकी समीक्षा

(६२) इसी तरह उत्तरपक्षने वहींपर अपनी मान्यताके समर्थनमें लिखा है कि "यह तो कालप्रत्यासत्तिका ही साम्राज्य समझिये कि कभी और कहीं वे अन्यके कार्यमें प्रेरकनिमित्तव्यवहारपदवीको प्राप्त हो जाते हैं और कभी और कहीं अन्यके कार्यमें उदासीननिमित्तव्यवहारपदवीको प्राप्त हो जाते हैं"। सो प्रकृतमें उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत कालप्रत्यासत्ति तो पूर्वपक्षको भी मान्य है, परन्तु कालप्रत्यासत्तिके स्वरूपकी मान्यतामें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य मतभेद है तथा प्रेरक निमित्तकी कालप्रत्यासत्ति और उदासीन निमित्तकी कालप्रत्यासत्तिको उत्तरपक्ष जहां एक रूप ही मानता है वहाँ पूर्वपक्ष दोनोंकी कालप्रत्यासत्तिको पृथक्-पृथक् रूपमें ही स्वीकार करता है। इसी तरह जहाँ उत्तरपक्ष अपनेको मान्य कालप्रत्यासत्तिके आधार पर प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंको अन्य द्रव्यके कार्यके प्रति अकिंचित्कर मान लेना चाहता है वहाँ पूर्वपक्ष अपनेको मान्य कालप्रत्यासत्तिके आधारपर प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंको कार्यकारी ही मानता है। यह सब विषय पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन ६३ और उसकी समीक्षा

(६३) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २५ पर अपने कथनके तात्पर्यके रूपमें लिखा है कि "उपादानमें अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमनकी योग्यता न हो लेकिन निमित्त-सामग्री विद्यमान हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। इसी तरह उपादानमें अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमनकी योग्यता हो, लेकिन निमित्तसामग्री प्राप्त न हो तो कार्य नहीं होगा। इसी तरह यदि उपादानमें उक्त प्रकारकी योग्यता हो और निमित्त सामग्री भी विद्यमान हो लेकिन प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री उपस्थित हो जावे, तो भी कार्य नहीं होगा। इस भौतिक विकासके युगमें व्यक्ति या राष्ट्र जितनी अभूतपूर्व एवं आश्चर्यमें डालनेवाली वैज्ञानिक खोजें कर रहे हैं वे सब हमें निमित्तोंके असीम शक्ति-विस्तारकी सूचना दे रही हैं"। इसके आगे पृष्ठ २५ पर ही पूर्वपक्षने लिखा है कि "पूज्यपाद आचार्यके उक्त श्लोकमें जो "निमित्तमात्रमन्यस्तु" पद पड़ा हुआ है उसका आशय यह नहीं है कि निमित्त उपादानकी कार्यपरिणतिमें अकिंचित्कर ही बना रहता है जैसा कि आप मान रहे हैं। किन्तु उसका आशय यह है कि उपादानमें यदि कार्योत्पादनकी शक्ति विद्यमान हो तो निमित्त उस कार्योत्पत्ति में उसे (उपादानको) केवल अपना सहयोग प्रदान कर सकता है। ऐसा नहीं कि उपादानमें अविद्यमान योग्यताकी निष्पत्ति भी निमित्त द्वारा की जा सकती है। इससे यह तथ्य फलित होता है कि जिस प्रकार जैन संस्कृति वस्तुमें स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंको स्वीकार करती है उसी प्रकार वह मात्र परप्रत्यय

परिणमनका दृढ़ताके साथ निषेध भी करती है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें स्व अर्थात् उपादान और पर अर्थात् निमित्त दोनोंके संयुक्त व्यापारसे निष्पन्न होनेवाले स्वपरप्रत्यय परिणमनके साथ-साथ जैन संस्कृति ऐसे परिणमन भी स्वीकार करती है जो निमित्तोंकी अपेक्षाके विना केवल उपादानके अपने बलपर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हें वहाँ स्वप्रत्यय परिणमन नाम दिया गया है, परन्तु किसी भी वस्तुमें ऐसा एक भी परिणमन किसी क्षेत्र और किसी कालमें उत्पन्न नहीं हो सकता है जो स्व अर्थात् उपादानकी उपेक्षा करके केवल पर अर्थात् निमित्तके बलपर निष्पन्न हो सकता हो। इस तरह जैनसंस्कृतिमें मात्र परप्रत्यय परिणमनको दृढ़ताके साथ अस्वीकृत कर दिया है।" इसके आगे पृष्ठ २५ पर ही पूर्वपक्षने लिखा है कि "इस प्रकार आपका यह लिखना असंगत है कि 'निमित्तकारणोंमें पूर्वोक्त दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है। कार्यका साक्षात् उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं' क्योंकि इस तरहकी मान्यताकी संगति हमारे ऊपर लिखे कथनके अनुसार जैन-संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध बैठती है।"

पूर्वपक्षके इन सम्पूर्ण कथनोंकी आलोचनामें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६६ पर सर्वप्रथम लिखा है कि "बौद्ध दर्शन कारणको देखकर भी कार्यका अनुमान किया जा सकता है इसे स्वीकार नहीं करता। इसी बातको ध्यानमें रखकर कैसा कारणरूप लिंग कार्यका अनुमापक होता है यह सिद्ध करनेके लिए यह लिखा है कि जहाँ कारण सामग्रीकी अविकलता हो और उससे भिन्न कार्यकी ज्ञापक सामग्री उपस्थित न हो वहाँ कारणसे कार्यका अनुमान करनेमें कोई बाधा नहीं आती। किन्तु हमें खेद है कि अपरपक्ष इस कथनका ऐसा विपर्यास करता है जिसका प्रकृतमें कोई प्रयोजन नहीं। इसका विशेष विचार हम छठी शंकाके तीसरे दौरके उत्तरमें करनेवाले हैं, इसलिए इस आधारसे यहाँ इसकी विशेष चर्चा करना हम इष्ट नहीं मानते। किन्तु यहाँ इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी विवक्षित बाह्य सामग्री ही नियत हेतु होती है उसी प्रकार उसकी विवक्षित उपादान सामग्री ही नियत हेतु हो सकेगी। अतएव प्रत्येक कार्य प्रत्येक समयमें प्रतिनियत आभ्यन्तर बाह्य सामग्रीको निमित्त कर ही उत्पन्न होता है ऐसा समझना चाहिए। स्वपरप्रत्ययपरिणमनका अभिप्राय भी यही है। इसपरसे उपादानको अनेक योग्यतावाला कहकर बाह्य सामग्रीके बलपर चाहे जिस कार्यकी उत्पत्तिकी कल्पना करना मिथ्या है।"

दोनों पक्षोंके उपर्युक्त कथनोंके विषयमें मैं निम्नलिखित कथन कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ—

उत्तरपक्षकी मान्यता है कि प्रत्येक कार्य उपादानकी अपनी योग्यताके बलपर ही निष्पन्न हो जाता है निमित्त वहाँपर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है।

पूर्वपक्षकी मान्यता है कि प्रत्येक कार्य उपादानकी अपनी योग्यताके बलपर तो होता है परन्तु निमित्तका सहयोग मिलनेपर ही होता है न मिलनेपर नहीं होता है। इसलिए निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्कर न रहकर सहायक होने रूपसे कार्यकारी हुआ करता है।

पूर्वपक्षने त० च० पृ० २५ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त वक्तव्योंके आधारपर अपने मन्तव्यकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया है और उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६६ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त वक्तव्य द्वारा अपने मन्तव्यकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया है। यतः इस समीक्षामें मैं सर्वत्र यह स्पष्ट कर चुका हूं कि पूर्वपक्षकी मान्यता आगमसम्मत है व उत्तरपक्षकी मान्यता आगमविरुद्ध है। अतः अब यहां इस विषयमें कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं रह गया है।

कथन ६४ और उसकी समीक्षा

(६४) उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "किन्तु हमें खेद है कि अपरपक्ष इस कथनका ऐसा विपर्यास करता है जिसका प्रकृतमें कोई प्रयोजन नहीं है"। तथा उसके आगे उसने जो यह लिखा है "इसका विशेष विचार हम छठी शंकाके तीसरे दौरके उत्तरमें करनेवाले हैं।" सो इसकी समीक्षा भी मैं वहींपर करूँगा।

कथन ६५ और उसकी समीक्षा

(६५) उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें आगे स्वपरप्रत्यय परिणमनका अभिप्राय बतलानेका जो प्रयत्न किया है उसके विषयमें मात्र मेरा कहना यह है कि उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिमें निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है तो ऐसी हालतमें उसके मतसे स्वपरप्रत्यय परिणमनकी सिद्धि करना असम्भव हो जानेसे उसके द्वारा स्वपरप्रत्यय परिणमनके अभिप्रायको प्रगट किया जाना अनावश्यक है।

कथन ६६ और उसकी समीक्षा

(६६) उपर्युक्त वक्तव्यके आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६६ पर भी यह लिखा है कि "अपरपक्षका कहना है कि बाह्य सामग्री उपादानके कार्यमें सहयोग करती है तो यह सहयोग क्या वस्तु है"? तथा इसके अनन्तर उसने सहयोगके स्पष्टीकरणके सम्बन्धमें विविध प्रकारके विकल्प उठाकर उनका खण्डन किया है। मैं उन विकल्पोंको और उनके खण्डनको अपनी समीक्षाके साथ यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ।

(१) उत्तरपक्षने पहला विकल्प "क्या दोनों मिलकर यह कार्य करते हैं यह सहयोगका अर्थ है? यह उठाकर इसका खण्डन इन शब्दोंमें किया है कि "किन्तु यह तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नहीं कर सकते ऐसा द्रव्य स्वभाव है" (देखो–समयसार कलश ५४) इसकी समीक्षामें मेरा कहना है कि "दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नहीं कर सकते" यह तो सामान्यतया निर्विवाद है। परन्तु उपादान और निमित्त दोनों मिलकर इस रूपमें स्वपरप्रत्यय कार्य सम्पन्न किया करते हैं कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादानको उस कार्यरूप परिणत होनेमें प्रेरक एवं उदासीन रूपसे बलाधायक होता है, यह बात पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस वचनसे सिद्ध होती है।

(२) उत्तरपक्षने दूसरा विकल्प "क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रिया कर देता है यह सहयोगका अर्थ है?" यह उठाकर इसका खण्डन इन शब्दोंमें किया है कि "किन्तु यह भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि एक द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यकी क्रिया करनेमें सर्वथा असमर्थ है। (देखो प्रवचनसारगाथा ९५ की जयसेनीय टीका)"। इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके इस कथनमें कोई विवाद नहीं है।

(३) उत्तरपक्षने तीसरा विकल्प "क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें विशेषता उत्पन्न कर देता है यह सहयोगका अर्थ है?" इसका खण्डन इन शब्दोंमें किया है कि "किन्तु जब कि एक द्रव्यका गुण-धर्म दूसरे द्रव्यमें संक्रमित ही नहीं हो सकता ऐसी अवस्थामें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें विशेषता उत्पन्न कर देता है यह कहना किसी भी अवस्थामें परमार्थभूत नहीं माना जा सकता।" (देखो–समयसारगाथा १०३ और

उसकी आत्मख्याति टीका)। इसकी समीक्षामें मैं यह कहना चाहता हूं कि "एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें विशेषता उत्पन्न कर देता है" यह कहना एक द्रव्यके गुण-धर्मका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश न हो सकनेके कारण तो वास्तवमें परमार्थभूत नहीं है, परन्तु उपादानके कार्यके प्रति निमित्तका कार्य पूर्वोक्त प्रकार प्रेरक और उदासीन रूपसे सहायक होने रूपसे जब परमार्थभूत ही है तो वैसा कहना कल्पनारोपित मात्र नहीं है। (देखो—समयसारगाथा ९१, १०५, १०६, १०७ और १०८)

तात्पर्य यह है कि समयसारगाथा ९१ यह बतलाती है कि आत्माके रागादि रूपसे परिणत होनेपर ही पुद्गलका कर्मरूप परिणमन होता है, इसलिये पुद्गलके कर्मरूप परिणमनके प्रति आत्मामें स्वीकृत निमित्तकारणता सहायक होने रूपसे परमार्थभूत ही सिद्ध होती है, अकिंचित्कर रूपसे कल्पनारोपित मात्र सिद्ध नहीं होती। इसी तरह समयसारगाथा १०५ यह बतलाती है कि जीवके हेतु होनेपर ही उसके साथ पुद्गल कर्मका बन्ध होता है, इसलिये जीव उपचारसे पुद्गल कर्मका कर्त्ता है। इससे निर्णीत होता है कि उपचरितकर्तृत्व निमित्तके उपादानकी कार्योत्पत्तिके प्रति सहायक होनेके कारण उपचरित रूपमें परमार्थभूत ही होता है, कल्पनारोपित मात्र नहीं होता। इसी प्रकार समयसारगाथा १०६ यह बतलाती है कि जिस प्रकार युद्धमें योद्धाओंकी प्रवृत्ति राजाके आदेशसे होनेके कारण राजाको व्यवहारसे (उपचारसे) युद्धका कर्त्ता मानना कल्पनारोपित मात्र न होकर उपचरित रूपमें परमार्थभूत ही होता है उसी प्रकार पुद्गलकी ज्ञानावरणादिरूप परिणति जीवके रागादि परिणामोंके आधारपर होनेके कारण जीवको भी व्यवहारसे (उपचारसे) ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्त्ता मानना कल्पनारोपित मात्र न होकर उपचरित रूपमें परमार्थभूत ही होता है। इसी प्रकार समयसार गाथा १०७ यह बतलाती है कि आत्मा पुद्गलको उत्पन्न करता है आदि कथन निश्चयनयसे परमार्थभूत न होकर भी व्यवहारनयसे तो परमार्थभूत ही होता है, कल्पनारोपित मात्र नहीं होता। इसी प्रकार समयसारगाथा १०८ यह बतलाती है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है (यथा राजा तथा प्रजा) इस लोकोक्तिके आधारपर जिस प्रकार राजाको प्रजाके दोषोंका और गुणोंका व्यवहारसे (उपचारसे) उत्पादक मानना कल्पनारोपित मात्र न होकर उपचरितरूपमें परमार्थभूत ही है उसी प्रकार जीवको अन्य द्रव्यके दोषों और गुणोंका व्यवहारसे उत्पादक मानना भी कल्पनारोपित मात्र न होकर उपचरितरूपमें परमार्थभूत ही है। इस तरह ये सभी गाथायें इस बातको बतलाती हैं कि एक वस्तुके गुण-धर्मका दूसरी वस्तुमें प्रवेश न होते हुए भी एक वस्तुकी दूसरी वस्तुके कार्योत्पादनमें सहायक होने रूपसे निमित्तकारणताको कल्पनारोपित मात्र कदापि नहीं माना जा सकता है।

एक बात और है कि यदि एक वस्तुकी अन्य वस्तुके कार्योत्पादनमें सहायक होने रूप निमित्त-कारणताको उस रूपमें परमार्थभूत न मानकर केवल कल्पनारोपित मात्र माना जाता है तो उपादानमें कार्योत्पत्तिका होना असंभव हो जायेगा। यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है।

(४) उत्तरपक्षने चौथा विकल्प "उपादान अनेक योग्यता वाला होता है, इसलिये बाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य करनेमें ही प्रवृत्त करती रहती है क्या वह सहयोगका अर्थ है?" यह उठाकर इसका खण्डन इन शब्दोंमें किया है कि "किन्तु अपरपक्षकी यह तर्कणा असंगत है, क्योंकि आगममें विशिष्ट पर्याय युक्त द्रव्यको ही कार्यकारी माना गया है। (देखो, अष्टसहस्री पृ० १५०, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २३०, श्लोकवार्तिक पृ० ६९ तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ २०० आदि।" इसकी समीक्षामें मैं यह कहना

चाहता हूँ कि यद्यपि विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य ही कार्यकारी होता है, परन्तु इस विशिष्ट पर्यायकी उत्पत्ति बाह्य सामग्रीका सहयोग मिलनेपर ही होती है। (देखो-प्रमेयकमलमार्तण्ड २-२ पत्र ५२ शास्त्राकार निर्णयसागरीय प्रकाशन)। इस तरह कहा जा सकता है कि पूर्वपक्षकी "उपादान अनेक योग्यता वाला होता है और बाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्यमें प्रवृत्त करती है।" यह तर्कणा असंगत नहीं है।

(५) उत्तरपक्षने पाँचवाँ विकल्प "क्या क्षेत्रप्रत्यासत्ति या भावप्रत्यासत्तिके होनेपर उपादानमें कार्य होता है?" यह सहयोगका अर्थ है?" यह उठाकर इसका खण्डन इन शब्दोंमें किया है कि "किन्तु सहयोगका यह अर्थ करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्तिके होनेपर अन्य द्रव्य नियमसे अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न करता है ऐसा कोई नियम नहीं है। (देखो-श्लोकवार्तिक पृ० १५१)।" इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि पूर्वपक्षको इस संबंधमें उत्तरपक्षके साथ कोई विवाद नहीं है।

उत्तरपक्षने आगे लिखा है कि "इस प्रकार सहयोगका अर्थ उक्त प्रकारसे करना तो बनता नहीं। उक्त विकल्पोंके आधारपर जितनी भी तर्कणायें की जाती हैं वे सब असत् ठहरती हैं। अब रही कालप्रत्यासत्ति, सो यदि अपरपक्ष 'बाह्य सामग्री उपादानके कार्यमें सहयोग करती हैं' इसका अर्थ कालप्रत्यासत्ति करता है तो उसके द्वारा सहयोगका यह अर्थ किया जाना आगम, तर्क और अनुभवसम्मत है, क्योंकि प्रकृत में "कालप्रत्यासत्ति" पद जहाँ कालकी विवक्षित पर्यायको सूचित करता है वहाँ वह विवक्षित पर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको भी सूचित करता है। प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्यको अपना कार्य करनेके लिए ऐसा योग नियमसे मिलता है और उसके मिलनेपर प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति होती है, ऐसा ही द्रव्य स्वभाव है। इसमें किसीका हस्तक्षेप करना संभव नहीं। स्पष्ट है कि प्रकृतमें निमित्तके सहयोगकी चर्चा करके अपरपक्षने स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा है वह आगम, तर्क और अनुभवपूर्ण न होनेसे तत्त्वमीमांसामें ग्रहण नहीं माना जा सकता है।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "इस प्रकार सहयोगका अर्थ उक्त प्रकारसे करना तो बनता नहीं। उक्त विकल्पोंके आधारपर जितनी भी तर्कणायें की जाती हैं वे सब असत् ठहरती हैं।" सो इस विषयमें मेरा कहना यह है कि उक्त विकल्पोंमें सहयोग शब्दसे जो अर्थ उत्तरपक्षने कल्पित किये हैं उनमें और उनके खण्डनमें आगमके अनुसार उत्तरपक्षके साथ पूर्वपक्षका किस प्रकारका मतसाम्य और मतभेद है इसका दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। इसके आगे उसने (उत्तरपक्षने) जो यह लिखा है कि "अब रही कालप्रत्यासत्ति सो यदि अपरपक्ष बाह्य सामग्री उपादानके कार्यमें सहयोग करती है" इसका अर्थ कालप्रत्यासत्ति रूप करता है तो उसके द्वारा सहयोगका यह अर्थ किया जाना आगम, तर्क और अनुभव सम्मत है"। सो पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके इस कथनमें तो सहमति है, परन्तु उसके आगे उसका यह लिखना कि "क्योंकि प्रकृतमें कालप्रत्यासत्ति पद जहां कालकी विवक्षित पर्यायको सूचित करता है वहां वह विवक्षितपर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको भी सूचित करता है। प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्यको अपना कार्य करनेके लिए ऐसा योग नियमसे मिलता है और उसके मिलनेपर प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा द्रव्यस्वाभाव है। उसमें किसीका हस्तक्षेप करना सम्भव नहीं है"। आगम विरुद्ध है, क्योंकि कालप्रत्यासत्तिका यह अभिप्राय नहीं है जो उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें स्वीकार किया है। किन्तु उसका यह अभिप्राय है कि उपादानको जिस कालमें जिस प्रकारकी निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका योग मिलता

है उस कालमें उस सामग्रीके अनुरूप ही उपादानसे निजी योग्यताके आधारपर कार्यकी उत्पत्ति होती है। आगममें कालप्रत्यासत्तिका इसी रूपमें अभिप्राय प्रगट किया गया है। इसे पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है तथा तर्क, अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और लोकव्यवहारसे भी उसका यही अभिप्राय सिद्ध होता है। अपने उपर्युक्त वक्तव्यके अन्तमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "स्पष्ट है कि प्रकृतमें सहयोगकी चर्चा करके अपरपक्षने स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा है वह आगम, तर्क और अनुभवपूर्ण न होनेसे तत्वमीमांसामें ग्राह्य नहीं माना जा सकता है"। सो यह उसने अपनी पूर्वोक्त प्रकार गलत मान्यताके संस्कारवश ही लिखा है। तत्वजिज्ञासुओंको इसपर विचार करनेके लिए मेरी प्रेरणा है।

कथन ६७ और उसकी समीक्षा

(६७) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६७ पर ही यह लिखा है कि "इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनके आधारपर हमारा यह लिखना सर्वथा युक्तियुक्त है कि "निमित्तकारणोंमें पूर्वोक्त दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यमें कार्यके प्रति समान है। यही जैनदर्शनका आशय है। अनादिकालसे जैन-संस्कृति इसी आधारपर जीवित चली आ रही है और अनन्त कालतक एकमात्र इसी आधारपर जीवित रहेगी इससे अपरपक्ष यह अच्छी तरह जान सकता है कि जैन-संस्कृतिके विरुद्ध अपरपक्षकी ही मान्यता है, हमारी नहीं।"

उत्तरपक्षके इस कथनके विषयमें मेरा कहना यह है कि प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोंकी प्रत्येक द्रव्यमें कार्यके प्रति समानता पूर्वोक्त प्रकार सहायक होने रूप कार्यकारिताके आधारपर ही जैन-दर्शनमें स्वीकृत की गई है, अकिंचित्करताके आधारपर नहीं, इसलिए उत्तरपक्ष जिस आधारपर जैन-संस्कृतिको अनादिकालसे अनन्त कालतक जीवित रखनेकी बात करता है वह उसका भ्रम है, क्योंकि जैन-संस्कृति अनादिकालसे अपने तर्कपूर्ण और अनुभवपूर्ण आगममें वर्णित पूर्वमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंके आधारपर जीवित रहती आई है और अनन्तकालतक उन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर जीवित रहेगी। उत्तरपक्ष जैसे अनेक पक्षोंके थपेड़े हमेशा ही उसको लगते आये हैं और आगे भी लग सकते हैं परन्तु वे थपेड़े उसका अणुमात्र भी बिगाड़ नहीं कर सके और आगे भी नहीं कर सकेंगे, वे स्वयं ही चकनाचूर होते आये और होते जायेंगे।

कथन ६८ और उसकी समीक्षा

(६८) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६७ पर ही अपने मतके समर्थनमें हरिवंशपुराण सर्ग ५८ का श्लोक १२ उद्धृत कर उसका यह अर्थ किया है कि "यह आत्मा स्वयं अपना कार्य करता है, स्वयं उसके फलको भोगता है, स्वयं ही संसार परिभ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है।"

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि हरिवंशपुराणके उस श्लोकके उत्तरपक्ष द्वारा किये गये इस अर्थमें तो पूर्वपक्षको सामान्यतया कोई विवाद नहीं है। केवल इतना संकेत उसके विषयमें अवश्य करना है कि "यह आत्मा स्वयं अपना कार्य करता है" इसमें "अपना कार्य" के स्थानमें "कर्मबन्ध" पद रखना उचित जान पड़ता है। इस तरह श्लोकका यह अर्थ होता है कि "यह आत्मा स्वयं (आप ही) कर्मबन्ध करता है, आप ही उसके (कर्मबन्धके) फलको भोगता है, आप ही संसार परि-भ्रमण करता है और आप ही उस संसार परि-भ्रमणसे मुक्त होता है"। इसके साथ ही मैं यह भी संकेत कर देना चाहता हूँ कि हरिवंश पुराणके उस श्लोकसे उत्तरपक्ष यदि कार्योत्पत्तिमें निमित्तको अकिंचित्कर सिद्ध करके स्वप्रत्यय और स्वपर-

प्रत्यय दोनों प्रकारके कार्योंको समानरूपसे स्वप्रत्यय ही मान लेना चाहता हो तो उसके इस अभिप्रायकी पुष्टि हरिवंशपुराणके उस श्लोकसे होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उस श्लोकसे "जो करता है वहीं भरता (भोगता) है" मात्र इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। इससे यह अभिप्राय फलित नहीं होता कि आत्मा निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका सहयोग प्राप्त किये बिना ही उक्त कार्योंको सम्पन्न कर लेता है।

कथन ६९ और उसकी समीक्षा

(६९) इसके आगे त० च० पृ० ६७ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है कि "मालूम नहीं अपरपक्ष पराश्रित जीवनका समर्थन कर किस उलझनमें पड़ा हुआ है, इसे वह जाने। वैज्ञानिकोंकी भौतिक खोजसे हम भलिभांति परिचित हैं। उससे तो यही सिद्ध होता है कि किस विशिष्ट पर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके सद्भावमें क्या कार्य होता है। हमें मालूम हुआ है कि जापानमें दो नगरोंपर अणुबमका विस्फोट होनेपर जहाँ असंख्य प्राणी कालकवलित हुए वहाँ बहुतसे क्षुद्र जन्तु रेंगते हुये भी पाये गये। क्या इस उदाहरणसे उपादानके स्वकार्य कर्तृत्वकी सिद्धि नहीं होती है, अपितु अवश्य होती है"। आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

पूर्वपक्षके सामने पराश्रित जीवनके समर्थनका प्रश्न नहीं है। सभी मानते हैं कि पराश्रित जीवन अच्छा नहीं है। परन्तु इतने मात्रसे पराश्रित जीवनका अभाव तो नहीं माना जा सकता है। लोकमें पराश्रित जीवनका अस्तित्व तो निर्विवाद है इसे उत्तरपक्ष माने या न माने। परन्तु इसपरसे उत्तरपक्ष यदि यह आशंका प्रकट करे कि इससे उपादानके स्वकार्यकर्तृत्वकी हानि हो जायेगी तो उसकी यह शंका निराधार है, क्योंकि कार्यका कर्त्ता तो उपादानको ही सभी मानते हैं। केवल मतभेद इतना ही है कि जहाँ उत्तरपक्ष उपादानकी कार्यरूप परिणतिको निमित्तका सहयोग प्राप्त किये बिना ही मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उपादानकी कार्यरूप परिणतिको निमित्तके सहयोगसे ही मानता है। अर्थात् जहाँ उत्तरपक्ष उपादानकी कार्यपरिणतिमें सहायक न होनेके आधारपर निमित्तको अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष निमित्तको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी ही मानता है, अकिंचित्कर नहीं। तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार वस्तुमें षड्गुणहानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय परिणमनोंसे अतिरिक्त उपादानगत सभी स्वपर-प्रत्यय परिणमन निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं। इस बातको आगमके आधारपर पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। इतना ही नहीं, उत्तरपक्ष जिस विशिष्ट पर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके सद्भावमें कार्योत्पत्ति स्वीकार करता है उस विशिष्ट पर्यायकी उत्पत्तिके विषयमें भी आगमके आधारपर पूर्वमें यह सिद्ध किया जा चुका है कि उस विशिष्ट पर्यायकी वह उत्पत्ति भी निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगसे ही हुआ करती है। यदि जापानमें अणुबमका विस्फोट होनेपर असंख्य प्राणियोंकी मृत्युके साथ ही क्षद्र जन्तुओंकी उत्पत्ति हो गई तो इससे यह तो सिद्ध नहीं हो जाता कि उनकी यह उत्पत्ति केवल उपादानगत योग्यताके आधारपर हो गई। उनकी वह उत्पत्ति भी बाह्य सामग्रीकी सहायताके आधारपर उपादानगत योग्यताके अनुसार हुई ऐसा मानना चाहिए। अर्थात् अणुबमका विस्फोट होनेपर जो भूमिमें गरमाहट आई उसे ही उन जन्तुओंकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिए।

कथन ७० और उसकी समीक्षा

(७०) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २५ पर यह कथन किया है कि "आगे आपने स्वामी समन्तभद्रकी "बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं" इत्यादि कारिकाका उल्लेख करके बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंकी समग्रताको

कार्योत्पत्तिमें साधक मान लिया है यह तो ठीक है, परन्तु कारिकामें पठित "द्रव्यगतस्वभावः" पदका अर्थ समझनेमें आपने भूल कर दी है और उस भूलके कारण ही आप निमित्तको उपादानसे कार्योत्पत्ति होनेमें उपचरित अर्थात् कल्पनारोपित कारण मानकर केवल उपादानसे ही कार्योत्पत्ति मान बैठे हैं। इसके साथ अपना एक कल्पित सिद्धान्त भी आपने विना आगम प्रमाणके अनुभव और तर्कके विपरीत प्रस्थापित कर लिया है कि प्रत्येक समयमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार ही होती है जिसका आशय संभवतः आपने यह लिखा है कि उपादान स्वयं कार्योत्पत्तिके समय अपने अनुकूल निमित्तोंको एकत्रित कर लेता है"।

इसकी आलोचना करते हुए उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६७ पर लिखा है कि "आगे अपरपक्षने हमारे द्वारा उल्लिखित स्वामी समन्तभद्रकी "बाह्येतरोपाधि" इत्यादि कारिकाकी चर्चा करते हुए हमारी मान्यता-के रूपमें लिखा है कि संभवतः हम यह मानते हैं कि "उपादान स्वयं कार्योत्पत्तिके समय अपने अनुकूल निमित्तोंको एकत्रित कर लेता है"। किन्तु अपरपक्षने किस कथनके आधारपर हमारा यह अर्थ फलित किया है यह हम नहीं समझ सके"। इसके आगे उसने (उत्तरपक्षने) स्वयं लिखा है कि "हमने भट्टाकलंक देवकी अष्टशतीके "तादृशी जायते बुद्धिः"—इस कथनको प्रमाण रूपसे अवश्य ही उद्धृत किया है और यह निर्विवाद रूपसे प्रमाण है। परन्तु इससे भी उक्त आशय सूचित नहीं होता"।

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि "तादृशी जायते बुद्धिः" इत्यादि वचनको उत्तरपक्ष प्रमाण तो मानता ही है अतएव इसके आधारपर ही पूर्वपक्षने उसके त० च० पृ० ९ पर निर्दिष्ट "पर नियम यह है कि प्रत्येक समयमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार ही होती है।" इस कथनका उसके (उत्तरपक्षके) द्वारा उक्त आशय लिये जानेकी संभावना प्रगट की है। अब यदि उत्तरपक्ष "तादृशी जायते बुद्धिः" इत्यादि कथनको प्रमाण मानकर भी यह कहता है कि "इससे भी उक्त आशय सूचित नहीं होता" तो उसे इसका स्पष्टीकरण करना चाहिए था। पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि "तादृशी जायते बुद्धिः" इत्यादि कथन इसी बातको सूचित करता है कि "उपादान स्वयं कार्योत्पत्तिके समय अपने अनुकूल निमित्तोंको एकत्रित कर लेता है" परन्तु इसके साथ पूर्वपक्षका यह भी कहना है कि उक्त कथन जैनागमका नहीं है, इसलिए प्रमाण रूप नहीं है। आचार्य भट्टाकलंकदेवने अष्टशतीमें उसका उद्धरण लोकोक्तिके रूपमें उन लोगोंकी मान्यताका खण्डन करनेके लिए किया है जो पुरुषार्थसे अर्थसिद्धि मानते हुए भी "तादृशी जायते बुद्धिः" इत्यादि कथनके आधारपर पुरुषार्थकी सिद्धि दैवसे स्वीकार करते हैं। इस कथनको जैनागमका कथन न माननेमें हेतु यह है कि जैनागमके अनुसार कार्योत्पत्तिमें भवितव्यता और पुरुषार्थ आदि स्वतन्त्र होते हुए एक दूसरेके पूरक होते हैं अर्थात् दोनोंमेंसे कोई भी एक दूसरेकी अधीनतामें निष्पन्न नहीं हुआ करता है। केवल इतनी बात अवश्य है कि कार्योत्पत्तिमें दोनों ही अपेक्षित रहा करते हैं। इसका आशय यह होता है कि भवितव्यता हो लेकिन पुरुषार्थ आदि बाह्य साधन विद्यमान न हों तो कार्योत्पत्ति नहीं होगी। इसी तरह भवितव्यता न हो, लेकिन पुरुषार्थ आदि बाह्य साधन हों तो भी कार्य नहीं होगा। इस तरह "तादृशी जायते बुद्धिः" इत्यादि कथन जैनागमका अंग नहीं है यह बात अच्छी तरह निर्णीत हो जाती है।

कथन ७१ और उसकी समीक्षा

(७१) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६८ पर उक्त अनुच्छेदमें ही यह लिखा है कि "निमित्तोंको जुटानेकी बात तो अपरपक्षकी ओरसे ही यथार्थ मानी जाती है। उसकी ओरसे इस आशयका कथन ५वीं शंकाके तीसरे दौरमें किया भी गया है। हम तो ऐसे कथनको केवल विकल्पका परिणाम मानते हैं। अतएव

इस बातको लेकर अपरपक्षने यहाँ "द्रव्यगतस्वभावाः" पदकी जो विवेचना की है वह कुछ नहीं है। किन्तु उसका आशय इतना ही है कि जिसे आगममें स्वप्रत्यय परिणमन (स्वभावपर्याय) कहा है और जिसे आगममें स्वपरप्रत्यय परिणमन (विभाव पर्याय) कहा है वह सब बाह्याभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें होता है ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है।"

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि उत्तरपक्ष द्वारा अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें प्रतिपादित निमित्त जुटानेकी बातके विषयमें पूर्वपक्षने ५वीं शंकाके तीसरे दौरमें जो कुछ लिखा है उसका वहींपर स्पष्टीकरण करना उचित होगा। यहाँ तो मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्ष वैसे कथनको केवल विकल्पका परिणाम मानता है तो उसे स्वयं अपने अनुभवपर दृष्टिपात करना चाहिए, ताकि वह उस अनुभवके साथ अपने इस विकल्प परिणामकी मान्यताका समन्वय कर सके और इस तरह उसकी विवक्षित कथनको विकल्पका परिणाम स्वीकृत करनेकी मान्यताका उसके अनुभवके साथ यदि समन्वय न हो सके तो उसे इस मान्यताका त्याग कर देना चाहिए।

पूर्वपक्षने "द्रव्यगतस्वभावः" पदकी त० च० पृ० २६ पर जो विवेचना की है उसको उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें युक्तियुक्त नहीं माना है और अपनी ओरसे उसने उसका आशय इस रूपमें व्यक्त किया है कि "जिसे आगममें स्वप्रत्यय परिणाम (स्वभाव पर्याय) कहा है और जिसे आगममें स्वपरप्रत्यय परिणाम (विभाव पर्याय) कहा है वह सब बाह्याभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें होता है ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है।" सो उत्तरपक्षके इस विवेचनमें और पूर्वपक्षके द्वारा कृत विवेचनमें तो मुझे "द्रव्यगतस्वभावः" पदका एक ही जैसा अभिप्राय समझमें आ रहा है। दोनोंमें केवल यही अन्तर दिखाई देता है कि जहाँ पूर्वपक्ष आगमके आधारपर सभी द्रव्योंको षड्गुणहानिवृद्धिरूप स्वभावपर्यायोंको स्वप्रत्यय और सभी द्रव्योंकी शेष स्वभावरूप पर्यायोंको तथा आत्मा और पुद्गलकी इस तरहकी स्वभावरूप पर्यायोंके साथ विभावरूप पर्यायको भी स्वपरप्रत्यय मानता है वहाँ उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें स्वभावपर्यायको स्वप्रत्यय परिणाम और विभावपर्यायको स्वपरप्रत्यय परिणाम कहा है अर्थात् उत्तरपक्ष पर्यायोंके विषयमें स्वप्रत्ययका अर्थ स्वभाव और स्वपरप्रत्ययका अर्थ विभाव ही ग्रहण करना चाहता है और इन दोनोंकी उत्पत्तिको वह बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें स्वीकार करता है जो अपेक्षाकृत होनेसे विवादकी वस्तु नहीं है अर्थात् पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनसे उत्तरपक्षके कथनमें मात्र यह विशेषता है कि उत्तरपक्ष सभी द्रव्योंकी षड्गुणहानिवृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायोंके विषयमें व उनमें यथासम्भव विद्यमान उपर्युक्त शेष सभी स्वपरप्रत्यय पर्यायोंके विषयमें मौन रहकर केवल आत्माकी कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशममें होनेवाली स्वभाव पर्यायोंको स्वप्रत्यय व कर्मोंके उदयमें होनेवाली विभाव पर्यायोंको स्वपरप्रत्यय स्वीकार करता है, इसलिए दोनों पक्षोंके परस्पर भिन्न कथनोंमें केवल अपेक्षाकृत भेद रहनेके कारण विवादके लिए कोई स्थान नहीं है।

इस तरह दोनों पक्षोंके मध्य उनके इन वक्तव्योंको देखते हुए केवल "तादृशी जायते बुद्धिः" इत्यादि पद्यकी प्रमाणता और अप्रमाणताका तथा उसका क्या अभिप्राय है, इसका ही विवाद विद्यमान रह जाता है जिसके विषयमें मेरा कहना है कि पूर्वपक्षकी दृष्टि युक्तियुक्त और आगमसम्मत है, उत्तरपक्षकी दृष्टि युक्तियुक्त और आगमसम्मत नहीं है। तत्वजिज्ञासुओंको इसपर ध्यान देना चाहिए।

कथन ७२ और उसकी समीक्षा

(७२) पूर्वपक्षने त० च० पृ० २६ पर जीवकी मोक्ष पर्यायको स्वपरप्रत्यय पर्याय बतलाया है।

उत्तरपक्षने इसका खण्डन करते हुए त० च० पृ० ६८ पर "आगे अपरपक्षने हमारे कथनको उद्धृत कर मोक्षको स्वपरप्रत्यय पर्याय सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु आगममें इसे किस रूपमें स्वीकार किया गया है इसके विस्तृत विवेचनमें तत्काल न पड़कर उसकी पुष्टिमें एक आगम प्रमाण देना उचित समझते हैं।" इतना लिखकर पंचास्तिकाय गाथा ३६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाका उद्धरण दिया है जो निम्न प्रकार है—

"सिद्धो हि उभयकर्मक्षये स्वयमात्मानमुत्पादयन्नान्यत् किंचिदुत्पादयति"।

इसका अर्थ उसने यह किया है कि "उभय कर्मका क्षय होनेपर सिद्ध स्वयं आत्मा (सिद्ध पर्याय) को उत्पन्न करते हुए अन्य किसीको उत्पन्न नहीं करते।"

इसपर मेरा कहना यह है कि दोनों पक्षोंकी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय पर्यायोंकी मान्यताओंमें अपेक्षाभेदका ही अन्तर है, इसे ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ मैं पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आगममें द्रव्योंकी षड्गुणहानिवृद्धि रूप पर्यायोंको स्वप्रत्यय और उनसे अतिरिक्त उनकी यथासम्भव शेष सभी पर्यायोंको स्वपरप्रत्यय मान्य किया गया है। पूर्वपक्षको मोक्षपर्याय उत्तरपक्षके समान स्वभावपर्याय माननेमें आपत्ति नहीं है परन्तु वह कर्मोंके क्षयका निमित्त मिलनेपर ही उत्पन्न होती है अतः वह स्वपर-प्रत्यय पर्याय कही जाती है। पंचास्तिकाय गाथा ३६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाके उत्तरपक्ष द्वारा अपने वक्तव्यमें उद्धृत उक्त वचनसे भी मोक्षपर्यायमें कर्मोंके क्षयको स्पष्ट रूपसे निमित्त स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि आगममें धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा जीव और पुद्गल इन सभी द्रव्योंकी षड्गुणहानिवृद्धि रूप पर्यायोंको स्वप्रत्यय व इनके अतिरिक्त उनकी एक दूसरे द्रव्यके निमित्तसे होनेवाली पर्यायोंको स्वपरप्रत्यय मान्य किया गया है। सभी द्रव्योंकी षड्गुणहानिवृद्धि रूप स्वप्रत्यय पर्यायें स्वभावरूप ही होती हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंकी स्वपरप्रत्यय पर्यायोंको भी स्वभावपर्याय कहना युक्तियुक्त है तथा पुद्गलकर्म और नोकर्मके साथ बद्ध जीवोंकी जो कर्मोंके उपशय, क्षय और क्षयोपशम होने-पर स्वपरप्रत्यय पर्यायें होती हैं उन्हें भी स्वभावपर्याय कहना अयुक्त नहीं है एवं उनकी कर्मोंके उदयमें होनेवाली स्वपरप्रत्यय पर्यायोंको जो विभाव पर्याय कहा जाता है। वह भी युक्तियुक्त है व इसी तरह पुद्गलोंकी स्कन्धरूप और कर्म-नोकर्म स्वपरप्रत्यय पर्यायोंको अशुद्ध पर्याय कहना भी युक्तियुक्त है, ऐसा जानना चाहिए।

इस विवेचनके आधारपर मेरा कहना है कि उत्तरपक्षका त० च० पृ० ६८ पर निर्दिष्ट "इससे स्वप्रत्यय पर्याय और स्वपरप्रत्यय पर्यायके कथनमें अन्तर्निहित रहस्यका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। किन्तु अपरपक्ष दोनोंको एक कोटिमें रखकर उक्त रहस्यको दृष्टिपथमें नहीं ले रहा है। इतना ही हम यहाँ कहना चाहेंगे।" यह कथन पूर्वपक्षपर लागू नहीं होकर उत्तरपक्षपर ही लागू होता है। वास्तवमें तत्त्वजिज्ञासुओंके लिए यह समझना कठिन नहीं है कि कौन पक्ष उक्त रहस्यको दृष्टिपथमें नहीं ले रहा है।

आगे त० च० पृ० ६८ पर उत्तरपक्षने लिखा है कि "हमने पंचास्तिकायका अनन्तर पूर्व ही कथन उद्धृत किया है उसका जो आशय है वही आशय तत्वार्थसूत्रके "बन्धहेत्वभाव" इत्यादि कथनका भी है।" सो पंचास्तिकायके उक्त टीका-वचनकी समीक्षामें जो कहा गया है वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिए।

कथन ७३ और उसकी समीक्षा

(७३) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६८ पर ही यह लिखा है कि "यहाँ अपरपक्षने करणानुयोग और चरणानुयोगकी चर्चा कर जो निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्रके एक साथ होनेका संकेत किया है सो उसका हमारी ओरसे कहाँ निषेध किया गया है।" इस सम्बन्धमें मेरा कहना यह है कि उत्तरपक्षने ऐसा लिखते समय पूर्वपक्षके सम्पूर्ण कथनपर ध्यान नहीं दिया है। पूर्वपक्षने अपना कथन उत्तरपक्षके "यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंगके प्राप्त होनेसे पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है पर उस द्वारा भावलिंगकी प्राप्ति द्रव्यलिंगको स्वीकार करते समय ही हो जाती हो ऐसा नहीं है किन्तु जहाँ उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है। तीर्थंकरादि किसी महान् पुरुषको दोनोंकी एक साथ प्राप्ति होती हो यह बात अलग है।" इस कथनके सम्बन्धमें किया है और वह इस दृष्टिसे किया है कि उत्तरपक्ष भावलिंग और द्रव्यलिंगमें निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्य-कारणभाव स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है। उत्तरपक्षका मात्र इतना ही कहना है कि "जब उपादानके अनुसार भावलिंग होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है।" इस तरह उत्तरपक्ष भावलिंगकी उत्पत्तिमें द्रव्यलिंगको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है जबकि पूर्वपक्षका आगमके आधारपर यह कहना है कि भावलिंगकी उत्पत्तिमें द्रव्यलिंग भी सहायक होने रूपसे निमित्तकारण होता है अर्थात् द्रव्यलिंगको धारण किये बिना जीवको भावलिंगकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। भले ही द्रव्यलिंगकी प्राप्ति भावलिंगके पूर्व मानी जाये अथवा दोनोंकी एक साथ प्राप्ति मानी जाये।

मन, वचन (मुख) और शरीर ये तीनों पौद्गलिक हैं, क्योंकि इनकी रचना नोकर्मवर्गणासे हुआ करती है। जीव द्वारा इनके समन्वित अवलम्बनपूर्वक जो मोक्षके अनुकूल क्रिया की जाती है उसे ही आगममें द्रव्यलिंग कहा जाता है और इसके आधारपर उन-उन कर्मोंका यथासंभव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर जो आत्मविशुद्धि प्रगट होती है उसे आगममें भावलिंग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहनीय कर्मके भेद मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति तथा चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात कर्मप्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर जो आत्मविशुद्धि जीवमें प्रगट होती है उसे निश्चय या भाव सम्यग्दर्शन कहा जाता है तथा इसके अनुकूल मन, वचन और कायके समन्वित अवलम्बनपूर्वक जीव द्वारा संकल्पी पापोंसे निवृत्त होकर जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य रूप आचरण किया जाता है उसे व्यवहार या द्रव्य सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसी तरह चारित्रमोहनीयके ही भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कर्मप्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मविशुद्धि जीवमें प्रगट होती है उसे देशविरतरूप निश्चय या भावसम्यक्चारित्र कहा जाता है। तथा इसके अनुकूल मन, वचन और कायके समन्वित अवलम्बनपूर्वक जीव द्वारा एक देश आरम्भी पापोंसे विरत होकर जो अणुव्रतादि रूप आचरण किया जाता है उसे देशविरतरूप व्यवहार या द्रव्यसम्यक्चारित्र कहते हैं। इसी तरह चारित्रमोहनीय कर्मके ही भेद प्रत्याख्यानावरण कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कर्म प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मविशुद्धि जीवमें प्रगट होती है उसे सर्वविरतरूप निश्चय या भावसम्यक्चारित्र कहा जाता है तथा उसके अनुकूल मन, वचन और कायके समन्वित अवलम्बनपूर्वक जीव द्वारा सर्वदेश आरम्भी पापोंसे विरत होकर जो महाव्रतादि रूप आचरण किया जाता है उसे सर्वविरत रूप व्यवहार या द्रव्यसम्यक्चारित्र कहते हैं।

इस तरह व्यवहार या द्रव्यसम्यग्दर्शन, देशविरतरूप व्यवहार या द्रव्यसम्यक्चारित्र और सर्वविरतरूप व्यवहार या द्रव्यसम्यक्चारित्र क्रमशः निश्चय या भाव सम्यग्दर्शन, निश्चय या भाव देशचारित्र और निश्चय या भाव सकल चारित्रमें कारण सिद्ध हो जाते हैं। स्वयंभूस्तोत्रके "बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरन्स्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्" इत्यादि पद्यसे भी यही सिद्ध होता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उक्त व्यवहार या द्रव्यसम्यग्दर्शन आदिको धारण कर लेनेपर जीव नियमसे निश्चय या भावसम्यग्दर्शन आदिको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उक्त व्यवहार या द्रव्यसम्यग्दर्शन आदि निश्चय या भाव मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्यके भी सम्भव हैं। इतना ही नहीं, निश्चय या भाव मिथ्यादृष्टि भव्य जीवोंमेंसे विरले जीव ही द्रव्य या व्यवहार सम्यग्दर्शन आदिके आधारपर निश्चय या भाव सम्यग्दर्शन आदिको प्राप्त होते हैं जिनके अन्तःकरणमें उनके बलसे मोक्ष प्राप्त करनेकी उत्कट भावना जागृत हो जाती है अर्थात् करणलब्धिको प्राप्त कर जो परमार्थ (आत्मकल्याण) की ओर जाते हैं। तथा उनको धारण कर जिनकी भावना सांसारिक भोगोंकी रहा करती है वे शुभ गतिको प्राप्त होते हुए भी संसारमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं और जो जीव उन्हें मन, वचन और कायसे समन्वयपूर्वक नहीं धारण करके "मनमें कुछ और वचनमें कुछ और तथा करे कुछ और" की कहावतको चरितार्थ करते हुए धारण करते हैं वे अपने इस पाखंडी रूपके कारण हमेशा दुर्गतिके ही पात्र बने रहते हैं। समयसारका "क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुःष्करतरैः" इत्यादि कलश १४२ व "तम्हा जहित्तु लिंगे" इत्यादि समयसार गाथा ४११ ये दोनों यही उपदेश देते हैं कि व्यवहार या द्रव्यसम्यग्दर्शन आदिको एक तो पाखण्डरूपमें धारण न करके मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक धारण करो और दूसरे, सांसारिक भोगोंकी आकांक्षासे धारण न कर आत्मकल्याणकी भावनासे ही उन्हें धारण करो।

इस प्रकार उत्तरपक्षका त० च० पृ० ६९ पर निर्दिष्ट "इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि परमवीतराग चारित्रकी प्राप्तिका साक्षात् मार्ग एक मात्र स्वभाव सम्मुख हो तन्मय होकर परिणमना ही है। इसके सिवाय अन्य सब निमित्त मात्र हैं"। यह कथन तभी विवाद रहित हो सकता है जब उत्तरपक्ष निमित्तभूत व्यवहार या द्रव्य सम्यग्दर्शन आदिको उसकी प्राप्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी माननेके लिए तैयार हो जावे। यतः उत्तरपक्ष निमित्तभूत व्यवहार या द्रव्य सम्यग्दर्शन आदिको उसकी प्राप्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी न मानकर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर ही मानता है। अतएव उत्तरपक्षके साथ पूर्वपक्षको विवाद है।

कथन ७४ और उसकी समीक्षा

(७४) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६९ पर ही आगे यह कथन किया है—"अपरपक्षका कहना है कि भावलिङ्ग होनेसे पूर्व द्रव्यलिंगको तो उसकी उत्पत्तिके लिए कारणरूपसे मिलाया जाता है"। किन्तु अपरपक्षका यह कथन इसीसे भ्रान्त ठहरता है कि एक द्रव्यलिंगी साधु आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एकपूर्व कोटि काल तक द्रव्यलिंगको धारण करके भी उस द्वारा एक क्षणके लिए भी भावलिंग धारण नहीं कर पाता और आत्माके सन्मुख हुआ एक गृहस्थ परिणामविशुद्धिकी वृद्धिके साथ बाह्यमें निर्ग्रन्थ होकर अन्तर्मुहूर्तमें छपकश्रेणीका अधिकारी होता है"। सो उत्तरपक्षका इस कथनके आधारपर पूर्वपक्षके "भावलिंग होनेसे पूर्व द्रव्यलिंगको तो उसकी उत्पत्तिके लिए कारणरूपसे मिलाया जाता है"। इस कथनको भ्रान्त कहना असंगत है, क्योंकि पूर्वपक्षका उस कथनसे यह आशय है कि जब तक द्रव्यलिंग धारण नहीं किया जायेगा तब तक

भावलिंगकी प्राप्ति असंभव है। उसका आशय यह नहीं है कि द्रव्यलिंगको धारण करनेपर जीव नियमसे भावलिंगको प्राप्त हो ही जाता है। यह बात ऊपर स्पष्ट की भी जा चुकी है।

कथन ७५ और उसकी समीक्षा

(७५) उत्तरपक्षने अपने उसी अनुच्छेदमें आगे जो यह लिखा है कि "स्पष्ट है कि जो द्रव्यलिंग भावलिंगका सहचर होनेसे निमित्त संज्ञाको प्राप्त होता है वह मिलाया नहीं जाता, किन्तु परिणामविशुद्धिकी वृद्धि के साथ स्वयमेव प्राप्त होता है। आगममें द्रव्यलिंगको मोक्षमार्गका उपचारसे साधक कहा है तो ऐसे ही द्रव्यलिंगको कहा है। मिथ्या अहंकारसे पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकाण्डके प्रतीक स्वरूप द्रव्यलिंगको नहीं"। सो उत्तरपक्षका यह कथन पूर्वपक्षके लिए निम्नलिखित कारणोंके आधारपर विवादग्रस्त है—

(१) उत्तरपक्ष द्रव्यलिंगको भावलिंगका मात्र सहचर मानता है जबकि पूर्वपक्ष द्रव्यलिंगको भावलिंगके प्रगट होनेमें सहायक मानता है।

(२) उत्तरपक्षका कहना है कि जो द्रव्यलिंग भावलिंगका सहचर होनेसे निमित्त संज्ञाको प्राप्त होता है वह मिलाया नहीं जाता, किन्तु परिणामविशुद्धिके साथ स्वयमेव प्राप्त होता है। इसके विपरीत पूर्वपक्षका कहना है कि द्रव्यलिंग पूर्वोक्त प्रकार मन, वचन और कायके समन्वित अवलम्बनपूर्वक मोक्षके अनुकूल पुरुषार्थके रूपमें जीव द्वारा धारण किया जाता है और तब उसकी सहायतासे जीवमें परिणामविशुद्धि प्रगट होती है।

(३) उत्तरपक्षका कहना है कि "आगममें द्रव्यलिंगको जो मोक्षमार्गका उपचारसे साधक कहा है तो ऐसे ही द्रव्यलिंगको कहा है"। सो इस कथनमें उसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यलिंग सहचर होनेके कारण भावलिंगका उपचारसे अर्थात् कथन मात्र रूपमें यानी अकिंचित्कररूपमें ही साधक माना जाता है जबकि पूर्वपक्षका कहना है कि द्रव्यलिंग भावलिंगका सहकारी रूपसे कार्यकारी होकर ही साधक होता है। उसे जो उपचारसे साधक माना जाता है उसका आधार यह है कि वह भावलिंगकी तरह केवल आत्माश्रित न होकर मन, वचन और कायके समन्वित सहयोगसे होने वाले आत्मपुरुषार्थ रूप होता है।

(४) उत्तरपक्षका यह भी कहना है कि मिथ्या अहंकारसे पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकाण्डके प्रतीक स्वरूप द्रव्यलिंगको मोक्षमार्गका साधक नहीं कहा जाता है। परन्तु पूर्वपक्षका कहना है कि मिथ्याअहंकारसे पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकाण्डको द्रव्यलिंग कहना ही अयुक्त है। उसे तो कुलिंग ही कहा जा सकता है, क्योंकि द्रव्यलिंग तो जीवके उस पुरुषार्थका नाम है जो योगत्रयके समन्वित अवलम्बनपूर्वक मोक्षके अनुकूल पुरुषार्थके रूपमें किया जाता है। अभव्य जीव जिस प्रकारके द्रव्यलिंगके आधारपर स्वर्गादि शुभ गतिको प्राप्त होता है वह ऐसे ही द्रव्यलिंगके आधारपर स्वर्गादि शुभ गतिको प्राप्त होता है जो योगत्रयके समन्वित अवलम्बनपूर्वक मोक्षके अनुकूल पुरुषार्थके रूपमें उसके द्वारा पालन किया जाता है। मिथ्या अहंकारसे पुष्ट हुए द्रव्यलिंग अर्थात् कुलिंगके आधारपर वह अभव्य जीव ही नहीं अपितु भव्य जीव भी कदापि सद्गति प्राप्त करनेका पात्र नहीं होता है। वह अभव्य जीव मोक्षके अनुकूल उपर्युक्त प्रकारके विशुद्ध द्रव्यलिंगको धारण करके भी जो मोक्ष प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं होता उसका कारण तो यह है कि उसमें मोक्ष प्राप्त करनेकी स्वभावभूत योग्यताका अभाव है। इसके अतिरिक्त उसका लक्ष्य उपर्युक्त प्रकारके विशुद्ध द्रव्यलिंगके आधारपर सांसारिक भोगोंकी ओर ही रहता है। जैसा कि समयसार गाथा २७५ से प्रकट है।

तात्पर्य यह है कि बहुतसे मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य जीव जो मिथ्या अहंकारसे पुष्ट हुए बाह्य अणुव्रत और महाव्रतरूप क्रियाकाण्डको धारण कर लिया करते हैं वे वास्तवमें कुलिंगी ही हुआ करते हैं, इसलिये उन्हें शुभ गतिकी प्राप्तिका कोई नियम नहीं है। किन्तु ऐसे भी विरले मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य जीव होते हैं जो मन, वचन और कायके समन्वित अवलम्बनपूर्वक मोक्षके लिये अनुकूल बाह्य अणुव्रत और महाव्रतरूप क्रियाकाण्डको अर्थात् द्रव्यलिङ्गको धारण कर नियमसे शुभगतिको प्राप्त होते है तथा इसी प्रकारके द्रव्यलिंगको धारण करने वाले उन विरले भव्य जीवोंमेंसे विरले भव्य जीव ऐसे होते हैं जो मोक्ष प्राप्तिकी उत्कट भावनासे उसी द्रव्यलिंगके आधारपर उन-उन कर्मोका यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम कर निश्चय या भाव सम्यग्दृष्टि, निश्चय या भाव देशविरत व निश्चय या भाव सर्वविरत होते हुए अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इस तरह द्रव्यलिंगके विषयमें उत्तरपक्ष और पूर्वपक्षकी जो दृष्टियाँ हैं उनमें पूर्वपक्षकी दृष्टि आगमानुकूल तथा युक्तियुक्त है। उत्तरपक्षकी दृष्टि न तो आगमानुकूल है और न युक्तियुक्त है। तत्वजिज्ञासुओंको इसपर गहराईसे ध्यान देना चाहिये।

कथन ७६ और उसकी समीक्षा

(७६) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ६९-७० पर यह कथन किया है कि "अपरपक्षने "युगपत् होते हूँ प्रकाश दीपक तें होई (छहढ़ाला ढाल ४-१)" वचनको उद्धृत कर यह स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि निश्चयचारित्रका सहचर द्रव्यलिंग ही आगममें व्यवहारनयसे उसका साधन कहा गया है। अतः पूर्वमें धारण किया गया द्रव्यलिंग भावलिंगका साधन है, अपरपक्षके इस कथनका महत्व सुतरां कम हो जाता है"।

इसके विषयमें मैं कहना चाहता हूँ कि मोक्ष प्राप्त करनेकी उत्कट भावनासे युक्त भव्य जीव सर्वप्रथम उपर्युक्त प्रकारके द्रव्यलिंगको धारण करता है और ऐसा विचारकर धारण करता है कि द्रव्यलिंगको धारण करनेपर ही भावलिंगकी प्राप्ति सम्भव है, उसके अभावमें नहीं। इस तरह पूर्वपक्षके "पूर्वमें धारण किया गया द्रव्यलिंग भावलिंगका साधन है" इस कथनका महत्व कहाँ कम होता है, अपितु वह बढ़ता है। पूर्वपक्षने जो छहढालाके उपर्युक्त वचनका उद्धरण दिया है वह इसलिए नहीं दिया है कि द्रव्यलिंग और भावलिंग नियमसे साथ ही उत्पन्न होते हैं। उसका कहना तो यह है कि सामान्यतया द्रव्यलिंगको धारण करनेके पश्चात् भावलिंग होता है। यदि कदाचित् उनकी उत्पत्ति साथमें भी हो तो भी दीपक और प्रकाशकी तरह उन दोनोंमें निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्यकारणभाव स्वीकार करना असंगत नहीं होगा। इसी तरह सहचर और व्यवहारनयका विषय होनेपर भी निमित्त उपादानकी कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी होता है, यह बात छहढालाके उक्त वचनसे भी सिद्ध होती है।

कथन ७७ और उसकी समीक्षा

(७७) आगे इसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "थाली भोजनका साधन कहा जाता है, पर जैसे थालीसे भोजन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार अन्य जिन साधनोंका उल्लेख यहाँपर अपरपक्षने किया है उसके विषयमें जान लेना चाहिए। वे यथार्थ साधन नहीं हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। मुख्य साधन वह कहा जाता है जो स्वयं अपनी क्रिया करके कार्यरूप परिणमता है अन्यको यथार्थ साधन कहना कल्पनामात्र है। यह प्रत्यक्षसे ही दिखलाई देता है कि बाह्य सामग्री न तो स्वयं कार्यरूप ही परिणमती है और न कार्य द्रव्यकी क्रिया ही करती है ऐसी अवस्थामें उन्हें यथार्थ साधन कहना मार्गमें किसीको लुटता हुआ देखकर "मार्ग लुटता है" इस कथनको यथार्थ माननेके समान ही है"।

उत्तरपक्ष पूर्वपक्षके कथनपर विचार न कर अपने पूर्वाग्रहको ही दोहराता है, क्योंकि पूर्वपक्ष द्रव्यलिंगको मोक्षका तद्रूप परिणत होने रूपसे यथार्थ कारण कहाँ मानता है। वह तो उसमें सहायक होने रूपसे अयथार्थ कारण ही मानता है। उसका स्पष्ट कहना है कि द्रव्यलिंग मोक्षकी प्राप्तिमें साधनभूत भावलिंगके प्रगट होनेमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी साधन है। उत्तरपक्ष उस द्रव्यलिंगको मोक्षकी प्राप्तिमें साधनभूत भावलिंगके प्रगट होनेमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी साधन नहीं मानता। उसे सर्वथा 'कल्पनामात्र' कहकर अकिंचित्कर ही मानता है, जो आगम संगत नहीं है। यह विषय पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन ७८ और उसकी समीक्षा

(७८) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७० पर यह कथन किया है कि "अपरपक्षने हमारे कथनको ध्यानमें लिए बिना जो कार्य-कारण भावका उल्टा चित्र उपस्थित किया है वह इसलिये ठीक नहीं, क्योंकि न तो उपादानके कारण निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीको उपस्थित होना पड़ता है और न ही निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीके कारण उपादानको हो उपस्थित होना पड़ता है। यह सहज योग है जो प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक समय में सहज ही मिलता रहता है। "मैंने अमुक कार्यके निमित्त मिलाये" यह भी कथन मात्र है जो पुरुषके योग और विकल्पको लक्ष्यमें रखकर किया जाता है। वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रियाका कर्त्ता त्रिकाल में नहीं हो सकता। अतः यहाँ हमारे कथनको लक्ष्यमें रखकर अपरपक्षने कार्य-कारणभावका जो उल्टा चित्र उपस्थित किया है उसे कल्पनामात्र ही जानना चाहिए"। आगे इसकी समीक्षा की जाती है।

वायु चलती है तो वृक्षकी डालियाँ हिलती हैं। इसमें वायुका चलना वायुमें हो रहा है और वृक्षकी डालियोंका हिलना डालियोंमें हो रहा है। लेकिन यदि वायु न चले तो डालियाँ नहीं हिल सकतीं, ऐसा ज्ञान यदि लोकको होता है तो क्या उत्तरपक्ष उसे असंगत मान लेना चाहता है? यदि ऐसा है तो भवन-निर्माण करते समय उस भवनमें वायुके प्रवेशके लिए वह बुद्धिपूर्वक खिड़कियोंको रखनेकी चेष्टा क्यों करता है? और जिस समय उसे वायुकी उपयोगिता अनुभवमें नहीं आ रही है अथवा वह वायु हानिकर अनुभवमें आ रही है तो वह उन खिड़कियोंको बन्द करने की बुद्धिपूर्वक चेष्टा क्यों करता है? यदि इन सब बातोंको वह निमित्त और उपादानका अथवा निमित्त और कार्यका सहज योग मानता है, तो वह बुद्धिपूर्वक खिड़कियोंके खोलने और बन्द करने या विविध कारणोंको जुटानेकी भी चेष्टा क्यों करता है?

उत्तरपक्ष अपने कार्यकी सम्पन्नताके लिये संकल्प भी करता है, उस संकल्पके अनुसार बुद्धिका विकल्प भी उसके मस्तिष्कमें उत्पन्न होता है और तदनुकूल वह प्रयत्न भी करता है। अब यदि उसका संकल्प, बुद्धिका विकल्प और प्रयत्न अभिप्रेत कार्यके अनुकूल होते हैं तो कार्य भी सम्पन्न होता है और यदि प्रतिकूल होते हैं तो कार्य सम्पन्न नहीं होता या उनके आधारपर उपादानकी योग्यताके अनुसार प्रतिकूल कार्य सम्पन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, उसका संकल्प, बुद्धिका विकल्प और प्रयत्न कार्यके अनुकूल होते हुए भी यदि वहाँपर अन्य निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका अभाव हो या बाधक कारण उपस्थित हो जाय या उपादानमें कार्यानुकूल योग्यताका आभाव हो तो भी कार्य सम्पन्न नहीं होता है। उत्तरपक्षसे मेरा एक ही प्रश्न है कि वह ऐसी स्थितिमें क्या अपने संकल्प, विकल्प और प्रयत्नको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा 'कल्पनामात्र' और अकिंचित्कर माननेके लिए तैयार है? और यदि वह इन्हें वहाँ सर्वथा कल्पनामात्र व अकिंचित्कर ही मानता है तो उसके ये संकल्प, विकल्प और प्रयत्न तीनों असम्यक् हो जानेसे फिर वह यह सब क्यों

करता है ? इसपर उत्तरपक्षको गहराईसे सोचना एवं विचार करना चाहिए, क्योंकि उसकी मान्यता है कि यह सब सहज योगके रूपमें होता है। क्या इसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार कर सकता है ?

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें कार्योत्पत्तिके अवसरपर पुरुषके योग और विकल्पकी समवेत स्थितिको स्वयं स्वीकार किया है। उसने यह अवश्य कहा है कि "वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रियाका कर्त्ता त्रिकालमें नहीं हो सकता"। उसमें पूर्वपक्षको विवाद कहाँ है। परन्तु इससे वहाँ पुरुषके योग और विकल्पकी सहायक होने रूपसे अनुभवगम्य स्थितिका निषेध नहीं किया जा सकता है और न उसका असम्यक्पना ही सिद्ध किया जा सकता है।

बात वास्तवमें यह है कि सभी द्रव्योंके अपने परिणमन-स्वभावके आधारपर होनेवाले षड्गुणहानिवृद्धिरूप स्वप्रत्यय परिणमन निःसर्गतः होनेके कारण अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करते हैं। इतना ही नहीं, सभी शुद्ध द्रव्योंके अपने परिणमन-स्वभावके आधारपर एक-दूसरे द्रव्यके निमित्तसे होनेवाले स्वपरप्रत्यय परिणमन भी अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करते हैं, क्योंकि धर्म, अधर्म, आकाश, काल और अणुरूप पुद्गल ये सभी शुद्ध द्रव्य अचेतन हैं। आत्मा यद्यपि चेतन है तथापि उसके शुद्ध हो जानेपर उसके जो उक्त प्रकारके स्वपरप्रत्यय परिणमन होते हैं वे भी अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करते हैं, क्योंकि उनमें बुद्धिके अवलम्बनभूत मस्तिष्कका अभाव पाया जाता है। यद्यपि एकादश गुणस्थानसे लेकर चतुर्दश स्थान तक कर्म और नोकर्मके साथ सम्बद्ध रहनेके कारण आत्मा मस्तिष्क सहित रहा करता है। परन्तु चतुर्दशगुणस्थानमें मस्तिष्कका सद्भाव रहते हुए भी अपनी निष्क्रियताके कारण यह आत्मामें बुद्धिके उत्पन्न होनेमें सहायक नहीं होता है अतः आत्माके चतुर्दशगुणस्थानमें जो स्वपरप्रत्यय परिणमन होते हैं वे अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करते हैं। यद्यपि एकादशगुणस्थानसे लेकर त्रयोदशगुणस्थान तक आत्मामें नोकर्मभूत मन, वचन और कायके सहयोग पूर्वक क्रिया होती रहती है। परन्तु उसकी वह क्रिया नोकर्मभूत उक्त मन, वचन और कायमें होनेवाली निसर्गज क्रियाके आधारपर ही हुआ करती है। इस क्रियामें आत्मा बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, अतः उन गुणस्थानोंमें विद्यमान आत्माके स्वपरप्रत्यय परिणमन भी अबुद्धिपूर्वक ही होते हैं। यतः प्रथमगुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक आत्माकी बहुत-सी क्रियायें बुद्धिपूर्वक हुआ करती हैं और उसकी बहुत-सी क्रियायें अबुद्धिपूर्वक हुआ करती हैं, अतः इन गुणस्थानोंमें विद्यमान आत्माके स्वपरप्रत्यय परिणमन यथायोग्य बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों ही प्रकारसे होते हैं। पुद्गल स्कन्धोंके जो स्वपरप्रत्यय परिणमन होते हैं वे भी उन स्कन्धोंकी अचेतनता के कारण अबुद्धिपूर्वक ही होते हैं। इस तरह यह ऐसी वास्तविकता है जिसे उत्तरपक्ष टाल नहीं सकता।

इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि कार्योत्पत्तिमें जीवके जितने भी संकल्प, विकल्प और प्रयत्न होते हैं उन्हें वहाँ कदापि अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता है। इतना अवश्य है कि उसके वे संकल्प, विकल्प और प्रयत्न कुत्रचित् विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी होते हैं। लेकिन जहाँ उनकी सहायतासे विवक्षित कार्योत्पत्ति नहीं होती है वहाँ ऐसा जान लेना चाहिए कि या तो उपादानभूत वस्तुमें उस कार्यकी योग्यताका अभाव है या जीवके संकल्प, विकल्प और प्रयत्न तीनोंमें समन्वयका अभाव है अथवा अन्य साधन-सामग्रीका अभाव या बाधककारणोंका सद्भाव बना हुआ है।

इस तरह उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७० पर जो उपर्युक्त कथन किया है और उसमें उसने कार्योत्पत्तिके प्रति जो उपादान और निमित्तभूत सामग्रीके सहजयोगका प्रतिपादन किया है वह युक्ति और अनुभवके विरुद्ध है तथा पूर्वोक्त प्रकार आगमके भी विरुद्ध है और लोकव्यवहारके विरुद्ध तो वह है ही।

इसी तरह "मैंने अमुक कार्यके निमित्त मिलाये" यह कथन मात्र तो नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि यदि किसीको इसमें अहंकार उत्पन्न हो जावे तो वह अनुचित है, क्योंकि कार्यके निमित्त मिलनेके साथ कार्यरूप परिणत होनेवाली वस्तुमें उपादानशक्तिका सद्भाव व बाधक कारणोंका अभाव आदिका योग मिलनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। "उत्तरपक्षके "एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रियाका कर्ता त्रिकालमें नहीं हो सकता" इस कथनमें पूर्वपक्षको अणुमात्र भी विवाद नहीं है। किन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी सहायता अवश्य करता है। इसी अभिप्रायसे आचार्य गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्रमें 'परस्परोपग्रहो जीवनाम्' सूत्र (५-२१) का सृजन किया है।

इस तरह उत्तरपक्ष भले ही कहता रहे कि "अपरपक्षने हमारे कथनको ध्यानमें न रखकर कार्य-कारणभावका उलटा चित्र उपस्थित किया है" किन्तु उसका ऐसा कहना वास्तविक नहीं है, क्योंकि पूर्व-पक्षने पूर्वोक्त प्रकारसे युक्ति और आगम-सम्मत कार्यकारणभाव प्रदर्शित किया है।

कथन ७९ और उसकी समीक्षा

(७९) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७० पर ही यह कथन किया है—"हमारा उपादानके अनुसार भावलिंग होता है" यह कथन इसलिये परमार्थरूप है, क्योंकि कर्मके क्षयोपशम और भावलिंगका एक कालमें होनेका नियम होनेसे उपचारसे यह कहा जाता है कि योग्य क्षयोपशमके अनुसार आत्मामें भावलिंगकी प्राप्ति होती है। जिस पंचास्तिकायका वहाँ अपरपक्षने हवाला दिया है उसी पंचास्तिकाय गाथा ५८ में पहले सब भावोंको कर्मकृत बतला कर गाथा ५९ में उसका निषेध कर यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्माके भावोंको स्वयं आत्मा उत्पन्न करता है, कर्म नहीं, अतः चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशमके अनुसार भावलिंग होता है, इसे यथार्थ कथन न समझकर अपने उपादानके अनुसार भावलिंग होता है, इसे ही आगमसम्मत यथार्थ कथन जानना चाहिए। इसपर अपरपक्ष भी स्वयं निर्णय कर सकता है कि यथार्थ कथन अपरपक्षका न होकर हमारा ही है।"

इसपर मेरा कहना है कि पूर्वपक्ष भी उपादानकी अपेक्षा "उपादानके अनुसार भावलिंग होता है" इसे यथार्थ मानता है। किन्तु वह "चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशमके अनुसार भावलिंग होता है" इसे भी निमित्त कथनकी अपेक्षा यथार्थ मानता है। इतना विशेष है कि "उपादानके अनुसार भावलिंग होता है" इसकी यथार्थतामें पूर्वपक्षकी "उपादान ही भावलिंग रूप परिणत होता है" यह दृष्टि है और "चारित्र-मोहनीयकर्मके क्षयोपशमके अनुसार भावलिंग होता है" इसकी यथार्थतामें उसकी "चारित्रमोहनीयकर्मका क्षयोपशम उपादानके भावलिंग रूप परिणमनमें सहायक होता है" यह दृष्टि है। जबकि उत्तरपक्ष "उपा-दान ही भावलिंग रूप परिणत होता है" इसे ही यथार्थ मानता है और "चारित्रमोहनीयकर्मका क्षयोपशम उपादानके भावलिंग रूप परिणमनमें सहायक होता है" इसे यथार्थ नहीं मानना चाहता, क्योंकि वह उपा-दानके भावलिंग रूप परिणमनमें चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशमको सहायक होने रूपसे कार्यकारी न मानकर सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर कहकर काल्पनिक ही मानता है। दोनोंमें यही मतभेद है। उनमें इस मान्यताके विषयमें कोई विवाद नहीं है कि उपादान भावलिंगका यथार्थ अर्थात् निश्चय कारण है और चारित्रमोहनीयकर्मका क्षयोपशम अयथार्थ अर्थात् व्यवहार या उपचरित कारण है। विवाद यही है कि जहाँ पूर्वपक्ष चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशमको भावलिंगमें उपादानका सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी

रूपमें अयथार्थ अर्थात् व्यवहार या उपचरित कारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उसे वहाँ पर सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कररूपमें अयथार्थ अर्थात् व्यवहार या उपचरित कारण मानता है। इसी तरह दोनों पक्षोंके मध्य इस मान्यताके विषयमें भी कोई विवाद नहीं है कि उपादान भावलिंगका यथार्थ अर्थात् निश्चय कारण होनेसे निश्चयनयका विषय है और चारित्रमोहनीयकर्मका क्षयोपशम अयथार्थ अर्थात् व्यवहार या उपचरित कारण होनेसे व्यवहारनयका विषय है। इसमें भी विवाद यही है कि जहाँ पूर्वपक्ष चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमको भावलिंगमें उपादानका सहायक होनेके आधारपर कार्यकारीरूपमें अयथार्थ व्यवहार या उपचरित कारण मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उस चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमको भावलिंगमें उपादानका सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कर रूपमें अयथार्थ अर्थात् व्यवहार या उपचरित कारण मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है। यह बात पूर्वमें भी निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्य-कारणभावको लेकर स्पष्टकी जा चुकी है। उत्तरपक्ष निष्पक्ष विचार करे, तो वह समझ जावेगा कि उसका कथन यथार्थ नहीं है; पूर्वपक्षका कथन ही यथार्थ है। पंचास्तिकाय गाथा ५८ और ५९ को इसी दृष्टिसे देखना चाहिए, तभी उनके अर्थ एवं आशयको ठीक तरहसे हृदयंगम किया जा सकेगा।

कथन ८० और उसकी समीक्षा

(८०) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७० पर ही यह कथन किया है कि "आगे अपरपक्षने निमित्त व्यवहारको यथार्थ सिद्ध करनेके लिए उलाहनेके रूपमें जो कुछ भी वक्तव्य दिया है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि अपरपक्ष नयकी अपेक्षा क्या वक्तव्य आगममें किया गया है इस ओर ध्यान न देकर मात्र अपनी मान्यताको आगम बनानेके पक्षमें है, अन्यथा वह पक्ष असद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यको असद्भूत मानकर उस नयकी अपेक्षा कथन आगममें किस प्रयोजनसे किया गया है इसपर दृष्टिपात करता।"

इसकी समीक्षा करनेसे पूर्व मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपना उक्त कथन पूर्वपक्षके त० च० पृ० २८ पर निर्दिष्ट "आपके उपर्युक्त सिद्धांतके अनुसार जब उपादान अपने अनुसार कार्य कर ही लेता है तब निमित्तकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? चूँकि आगममें सर्वत्र यह प्ररूपण किया गया है कि निमित्त तथा उपादान रूप उभयकारणोंसे ही कार्य होता है और निमित्त हेतुकर्त्ता भी होता है अतः शब्दोंमें तो आपने उसे (निमित्तको) इन्कार नहीं किया, किन्तु मात्र शब्दोंमें स्वीकार करते हुए भी आप निमित्तभूत वस्तुमें कारणत्व भाव स्वीकार नहीं करते हैं तथा निमित्तको अकिंचित्कर बतलाते हुए मात्र उपादानके अनुसार ही अर्थात् एकान्ततः उपादानसे ही कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं। आगमके शब्दोंको केवल निबाहनेके लिए यह कह दिया गया कि निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार हुआ करती है ताकि यह न समझा जाये कि आगम माननीय नहीं है। इस एकान्त सिद्धांतकी मान्यतासे यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्तकारण मात्र शब्दोंमें माना जा रहा है, वास्तवमें उसे कारण रूप नहीं माना गया है" इस कथनकी आलोचना करते हुए किया है।

उत्तरपक्षके उक्त मन्तव्यपर यहाँ विमर्श किया जाता है। स्मरण रहे कार्योत्पत्तिके प्रति उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके विषयमें जिनागमका क्या अभिप्राय है, इसे पूर्वमें अनेक आगमवचनोंके उद्धरण देकर स्पष्ट किया गया है। फिर भी आश्चर्य है कि उन स्पष्ट आगमके उद्धरणोंके बावजूद उत्तरपक्ष अपने आग्रहपर आरूढ़ है। यहाँ पुनः और स्पष्ट किया जाता है।

समयसार गाथा ८० में बतलाया गया है कि जीवपरिणामके हेतु (निमित्त) होनेपर पुद्‌गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्‌गलकर्मके निमित्त होनेपर जीव भी उसी प्रकार अर्थात् रागादिभावरूप परिणत् होता है। उसकी गाथा ८१ में बतलाया गया है कि जीव कर्मगुणरूप परिणत नहीं होता और कर्म जीव-गुणरूप परिणत नहीं होता, केवल एक दूसरेके निमित्तसे दोनों अपने उपर्युक्त प्रकारके परिणमन किया करते हैं। इन दोनों गाथाओंका आशय यह है कि जब जीवकी पुद्‌गलकर्मके साथ और पुद्‌गलकी जीवके रागादि परिणामोंके साथ कालप्रत्यासत्ति अर्थात् एक कालमें योग होता है तब ही दोनों अपना-अपना उपर्युक्त प्रकारका परिणमन करते हैं, अन्यथा नहीं।

यद्यपि जिनागममें यह भी बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु सतत परिणमन करती रहती है। एक क्षणके लिए भी उसका परिणमन रुकता नहीं, एक साथ ही यह भी जिनागममें बतलाया गया है कि वस्तुका स्वपरप्रत्यय परिणमन निमित्तसापेक्ष होता है और स्वप्रत्यय परिणमन निमित्तनिरपेक्ष होता है। समयसार गाथा ८० और ८१ में जीव और पुद्‌गलके निमित्तसापेक्ष स्वपरप्रत्यय परिणमनोंकी व्यवस्थाका ही दिग्दर्शन कराया गया है। यही व्यवस्था समस्त वस्तुओंके निमित्तसापेक्ष स्वपरप्रत्यय परिणमनोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिए।

पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें इन निमित्तसापेक्ष परिणमनोंकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें ही विवाद है अर्थात् पूर्वमें किये गये विवेचनके अनुसार उत्तरपक्षका कहना है कि वस्तुमें परिणमनोंकी प्रक्रिया सतत चालू रहते हुए उसका जिस समय जो परिणमन होता है उस समय उसके अनुकूल निमित्तकारणभूत वस्तुका योग उसे नियमसे मिल जाया करता है। उसके इस कथनका अभिप्राय यह है कि वह एक वस्तुकी परिणतिमें अन्य निमित्तभूत वस्तुको सर्वथा अकिंचित्कर मानता है। पर पूर्वपक्षका कहना है कि वस्तुमें परिणमनकी प्रक्रिया चालू रहते हुए भी जिस समय उसके जिस परिणमनके अनुकूल उसे निमित्त-सामग्रीका योग मिलता है उस समय ही उसका वही परिणमन होता है। पूर्वपक्ष ऐसा कथन इसलिये करता है कि वह एक वस्तुकी परि-णतिमें अन्य निमित्तभूत वस्तुको अनिवार्य सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है। यतः पूर्वपक्षने तत्त्व-चर्चामें और मैंने उसकी इस समीक्षामें आगम प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया है कि निमित्तभूत वस्तु उपादानभूत वस्तुकी परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही होती है। अतः पूर्वपक्षका उक्त कथन आगमसम्मत होनेसे सम्यक् है, उत्तरपक्षका नहीं है। उत्तरपक्षने आगमका अर्थ ठीक तरहसे समझनेकी चेष्टा नहीं की है। कोई भी भाषाविज्ञानी व्यक्ति समयसार गाथा ८० और ८१ के अर्थ पर ध्यान देकर यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य हो जायेगा कि निमित्तभूत वस्तु उपादानभूत वस्तुकी परिणतिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी होती है। आगमकी इस व्यवस्थाको यदि उत्तरपक्ष अस्वीकृत करनेकी अपनी जिद नहीं छोड़ता है तो उसकी इस जिदको समाप्त करनेका अरहंत भगवानके पास भी उपाय नहीं है।

जिनागममें यह बतलाया गया है कि मिट्टीकी घटरूप परिणति हो जानेपर भी घट मिट्टीके रूपको नहीं छोड़ता, अतः मिट्टी और घटमें अभेद होनेसे घटमें विद्यमान मिट्टीका रूप निश्चयनयका विषय है तथा मिट्टीमें घटकी उपादानता पाई जाती है और घटमें मिट्टीकी उपादेयता पाई जाती है। अतः इन दोनोंमें इस उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभावके आधारपर भेद सिद्ध हो जानेसे घटत्व सद्भूत व्यवहारनयका विषय होता है। उसी जिनागममें यह भी बतलाया गया है कि मिट्टीसे बननेवाले घटके निर्माणमें कुम्भकार भी सहायक होने रूपसे कारण होता है। इतना अवश्य है कि घट और कुम्भकारमें वस्तुभेद विद्यमान

रहनेसे कुम्भकारका घट रूपसे परिणत होना सम्भव नहीं है, अतः इन दोनोंमें उपादानोपादेयभाव सिद्ध न होकर निमित्त-नैमित्तिकभाव ही सिद्ध होता है। इस तरह कुम्भकारमें विद्यमान निमित्तता और घटमें विद्यमान नैमित्तिकता दोनों असद्भूत व्यवहारनयका विषय हैं।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस प्रकार मिट्टी और घटमें विद्यमान उपादानोपादेयभाव कल्पनारोपितमात्र न होकर वास्तविक है उसी प्रकार कुम्भकार और घटमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तिकभाव भी कल्पनारोपित न होकर वास्तविक ही है। अन्तर केवल इतना है कि मिट्टी और घटमें विद्यमान उपादानोपादेयभाव एक वस्तुनिष्ठ तादात्म्यसंबंधाश्रित होनेके आधारपर वास्तविक है और कुम्भकार व घटमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तिकभाव वस्तुद्वयनिष्ठ संयोगसंबंधाश्रित होनेके आधारपर वास्तविक है। अथवा मिट्टी घटरूप परिणत होती है अतः मिट्टीमें विद्यमान उपादानकारणता और घटमें विद्यमान उपादेयता रूप कार्यता दोनों वास्तविक हैं। तथा कुम्भकार मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें सहायक होता है अतः कुम्भकारमें विद्यमान निमित्तकारणता और घटमें विद्यमान नैमित्तिकता रूप कार्यता ये दोनों भी वास्तविक हैं। अर्थात् इनमें कोई भी आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित मात्र नहीं है। इसी प्रकार मिट्टी और घटमें विद्यमान उपर्युक्त प्रकारकी अभेदरूप वास्तविकता निश्चयनयका विषय है तथा इनमें विद्यमान उक्त प्रकारकी कथंचित् भेद रूप वास्तविकता सद्भूत व्यवहारनयका विषय है व कुम्भकार और घटमें विद्यमान उपर्युक्त प्रकारकी सर्वथा भेदरूप वास्तविकता असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। यद्यपि असद्भूत व्यवहारनय और इसका विषय अयथार्थ, असत्यार्थ या उपचरित अवश्य हैं परन्तु वे पराश्रितताके आधारपर ही अयथार्थ, असत्यार्थ और उपचरित हैं, कल्पनारोपितताके आधारपर अयथार्थ, असत्यार्थ और उपचरित नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि उत्तरपक्षने अपने उल्लिखित वक्तव्यमें जो यह कहा है कि "अपरपक्ष किस नयकी अपेक्षा क्या वक्तव्य आगममें लिखा गया है इस ओर ध्यान न देकर मात्र अपनी मान्यताको आगम बनानेके फेरमें है, अन्यथा वह पक्ष असद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यको असद्भूत मानकर इस नयकी अपेक्षा कथन आगममें किस प्रयोजनसे किया गया है इसपर दृष्टिपात् करता।" सो उसका यह लिखना असंगत ही है, क्योंकि पूर्वपक्षने आगमके आशयको समझ कर ही उक्त प्रतिपादन किया है। और उसकी यह मान्यता आगमसे प्रमाणित है। यह पूर्वमें निर्णीत भी किया जा चुका है। ऐसी स्थितिमें उत्तरपक्षके प्रति ही यह कहा जा सकता है कि वह किस नयकी अपेक्षा क्या वक्तव्य आगममें लिखा गया है इस ओर ध्यान न देकर मात्र अपनी मान्यताको आगम बनानेके फेरमें है, अन्यथा वह असद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यको पराश्रितताके रूपमें असद्भूत मानकर इस नयकी अपेक्षा कथन आगममें किस प्रयोजनसे किया गया है, इस ओर अवश्य दृष्टिपात करता।

कथन ८१ और उसकी समीक्षा

(८१) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७० पर यह कथन किया है कि "प्रवचनसारगाथा १६९ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकामें "स्वयं" पद आया है। हमने उसका अर्थ प्रकृत शंकाके प्रथम उत्तरमें "स्वयं" ही किया है। किन्तु अपरपक्षको यह अर्थ मान्य नहीं। वह इसका अर्थ "अपने रूप" करता है। इसके समर्थनमें पूर्वपक्षकी मुख्य युक्ति यह है कि सहकारी कारणके बिना कोई भी परिणति नहीं होती, इसलिए कार्य-कारणभावके प्रसंगमें सर्वत्र इस पदका अर्थ "अपने रूप" या "अपनेमें" करना ही उचित है।"

उत्तरपक्षने यह कथन पूर्वपक्षके त० च० पृ० २८ पर निर्दिष्ट "हमने अपनी दूसरी प्रतिशंकामें यह स्पष्ट किया था कि प्रवचनसार गाथा १६९ तथा उसकी श्री आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें जो "स्वयं" शब्द आया है उसका अर्थ "अपने आप" न होकर "अपने रूप" ही है। "इस कथनकी और पूर्वपक्षके ही त० च० पृ० २९ पर निर्दिष्ट" इस विषयमें हमारा यह कहना है कि "स्वयमेव" पद कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोंमें जहाँ भी कार्य-कारणभावके प्रकरणमें आया है वहाँ सर्वत्र उसका अर्थ "अपने रूप" अर्थात् "स्वयंकी वह परिणति है" या "स्वयंमें ही वह परिणति होती है" ऐसा करना चाहिए बिना सहकारी कारणके अपने आप वह परिणति होती है ऐसा अर्थ कदापि संगत नहीं हो सकता है।" इस कथनकी आलोचना करते हुए किया है।

आगे उत्तरपक्षके उक्त कथनकी समीक्षा की जाती है—

यतः उत्तरपक्ष उपादानभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तभूत वस्तुको सर्वथा अकिंचित्कर मानता है, अतः वह प्रवचनसारगाथा १६९ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें आये हुए "स्वयं" पदका अर्थ "स्वयं" करके यह दिखलाना चाहता था कि कर्मत्व शक्तिके धारक पुद्गल स्कंध "स्वयं" अर्थात् निमित्तभूत जीवकी सहायताके बिना अपने आप ही कर्मरूप परिणत होते हैं।

यतः पूर्वपक्ष उपादानभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तभूत वस्तुको सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है, अतः वह प्रवचनसार गाथा १६९ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें आये हुए "स्वयं" पदका अर्थ "अपने रूप" करके यह बताना चाहता है कि कर्मत्व शक्तिके धारक पुद्गल स्कंध यद्यपि निमित्तभूत जीवकी सहायतासे कर्मरूप परिणत हुआ करते हैं, परन्तु उनकी वह कार्यरूप परिणति निमित्तभूत जीवके अनुरूप न होकर उनमें विद्यमान कर्मरूपसे परिणत होनेकी शक्तिके अनुरूप ही हुआ करती है।

तात्पर्य यह है कि प्रवचनसार गाथा १६९ में पठित "स्वयं" पदका दोनों पक्षोंने जो अपने-अपने ढंगसे पृथक्-पृथक् अर्थ स्वीकार किया है उसके आधारपर दिये गये उपर्युक्त स्पष्टीकरणसे ज्ञात होता है कि दोनों पक्षोंके मध्य इस बातकी तो समानता है कि कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यताके धारक पुद्गल स्कंध ही कर्मरूप परिणत हुआ करते हैं। परन्तु उक्त स्पष्टीकरणसे यह भी ज्ञात होता है कि उत्तरपक्ष "स्वयं" पदका "स्वयं" अर्थ करके अपनी इस मान्यताकी पुष्टि कर लेना चाहता है कि कर्मरूप परिणत होनेकी योग्यताके धारक पुद्गल स्कंध "अपने आप" अर्थात् "निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना ही कर्मरूप परिणत होते हैं। इसके विपरीत पूर्वपक्ष "स्वयं" पदका "अपने रूप" अर्थ करके अपनी इस मान्यताकी पुष्टि करता है कि कर्मरूप परिणत होनेकी योग्यताके धारक पुद्गल स्कंध निमित्तभूत जीवके सहयोगपूर्वक अपनी उस योग्यताके अनुरूप ही कर्मरूप परिणत होते हैं।

अब देखना यह है कि प्रवचनसार गाथा १६९ और उसकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकासे क्या उत्तरपक्षकी मान्यताका समर्थन होता है या कि पूर्वपक्षकी मान्यताका? इसका निर्णय करनेके लिए मैं यहाँपर उक्त गाथा और उसकी टीकाको उद्धृत करता हूँ—

गाथा—कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणदिं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं न हि ते जीवेण परिणमिदा ॥१६९॥

अर्थ—कर्मत्वके योग्य अर्थात् कर्मरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट पुद्गल स्कंध जीवकी परिणतिको अर्थात् रागादि परिणतिको प्राप्त कर अर्थात् आश्रय कर कर्मभावको अर्थात् कर्मरूप परिणतिको प्राप्त होते हैं। वे जीव द्वारा कर्मरूप परिणत नहीं किये जाते अर्थात् कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिसे रहित पुद्गलस्कंधोंको जीव कर्मरूप परिणत करा देता हो, ऐसा नहीं है।

टीका—यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न खलु पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्त्ता पुरुषोऽस्ति।

अर्थ—जिस कारणसे तुल्य क्षेत्रमें अवगाहनको प्राप्त जीवकी परिणति मात्र अर्थात् रागादि रूप परिणति मात्र बाह्य साधनका आश्रय करके परिणमन करानेवाले जीवके बिना भी कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट पुद्गलस्कन्ध स्वयं अर्थात् कर्मत्वशक्तिके अनुरूप ही कर्मरूपसे परिणत होते हैं। इससे निर्णीत होता है कि जीव पुद्गलस्कन्धोंके कर्मरूप परिणमनका कर्त्ता नहीं है।

उक्त गाथा और उसकी उक्त टीकासे यह ध्वनित होता है कि यद्यपि जीवके सहयोगसे ही पुद्गलस्कन्धोंका कर्मरूपसे परिणमन होता है। तथापि जीवके सहयोगसे वे ही पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं, जिनमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता पाई जाती है अर्थात् जीव उन पुद्गलस्कन्धोंको कर्मरूप परिणत नहीं कराता है, जिनमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वभाविक योग्यता नहीं पाई जाती है। इससे प्रतीत होता है कि जीव पुद्गलस्कन्धोंके कर्मरूप परिणमनका कर्त्ता नहीं होता है। अतः सिद्ध होता है कि पुद्गलस्कन्धोंकी कर्मरूप परिणति उसमें विद्यमान कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप ही होती है। जीव तो उनकी उस परिणतिके होनेमें निमित्त (सहायक) मात्र होता है। पुद्गलस्कंधोंके साथ वह जीव भी कर्मरूप परिणत होता हो, ऐसा नहीं है।

आचार्य जयसेनने उक्त गाथाकी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि जीव निश्चयसे कर्मका कर्त्ता नहीं होता, जिसका तात्पर्य यह है कि जीव व्यवहारसे कर्मका कर्त्ता होता है अर्थात् जीव कर्मका कर्त्ता कर्मरूप परिणत होने रूपसे न होकर पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें सहायक होने रूपसे होता है। इससे भी यही प्रकट होता है कि कर्मरूप परिणति तो पुद्गलकी ही होती है और वह उसी पुद्गलकी होती है जिस पुद्गलमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता पाई जाती है। केवल इतनी बात अवश्य है कि पुद्गलकी वह कर्मरूप परिणति जीवकी सहायतासे होती है, उसकी सहायताके बिना नहीं होती।

इस प्रकार इस विवेचनसे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि प्रवचनसार गाथा १६९ और उसकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका तथा आचार्य जयसेन कृत टीकासे भी प्रकृत प्रकरणमें "स्वयं" पदका पूर्वपक्षको मान्य अर्थ ही गृहीत होता है, उत्तरपक्षको मान्य अर्थ नहीं, अर्थात् उक्त गाथा और उसकी दोनों टीकाओंके अनुसार कर्मरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट पुद्गल ही कर्मरूप परिणत होने रूपसे कर्मका कर्त्ता होता है, जीव उसका उस रूपसे परिणत होने रूपसे कर्त्ता नहीं होता। केवल वह पुद्गलकी उस कर्मरूप परिणतिमें सहायक मात्र होता है। इस तरह जीवमें पुद्गलकी कर्मरूप परिणतिका कर्तृत्व न होनेपर भी पूर्वपक्षको मान्य सहकारीपनेकी सिद्धि तो उसमें अवश्य होती है, उसका उत्तरपक्ष द्वारा मान्य निषेध सिद्ध नहीं

होता। अतः समयसारगाथा १६९ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें "स्वयं" पदका पूर्वपक्षको मान्य "अपने रूप" अर्थ ही संगत है, उत्तरपक्षको मान्य "अपने आप" अर्थ संगत नहीं।

कथन ८२ और उसकी समीक्षा

(८२) त० च० पृ० ७० पर ही आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "इस प्रकार अपरपक्षके इस कथनसे मालूम पड़ता है कि वह पक्ष उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप प्रत्येक सत्की उत्पत्ति परकी सहायतासे या परसे होती है यह सिद्ध करना चाहता है। किन्तु अपरपक्षकी यह मान्यता सर्वथा आगमविरुद्ध है।"

इसको समीक्षामें मैं कहना चाहता हूँ कि पूर्वपक्ष उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप प्रत्येक सत्की उत्पत्तिको यथायोग्य परकी सहायतासे मानता है, परसे नहीं मानता अर्थात् पर उसका कर्त्ता होता है ऐसा वह नहीं मानता है। अतएव उसका "परकी सहायतासे" यह लिखना तो उचित है, परन्तु "परसे" लिखना बिलकुल निराधार और गलत है। ऐसा पूर्वपक्षने कहीं भी नहीं लिखा।

उत्पादादिको परकी सहायतासे माननेकी पूर्वपक्षकी मान्यताको आगमविरुद्ध बतलाना मिथ्या है, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ७ में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशक्तिसे स्वभावतः सम्पन्न प्रत्येक सत्का उत्पाद-व्यय स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो प्रकारसे होता है तथा इस आधारपर पूर्वपक्ष प्रत्येक सत्को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य शक्तिसे स्वभावतः सम्पन्न मानकर उस शक्तिके अनुसार होनेवाले उसके उत्पाद-व्ययको स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो प्रकारसे मानता है। इसके विपरीत उत्तरपक्षका कहना है कि प्रत्येक सत् यतः स्वभावतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशक्तिसे सम्पन्न है अतः इस शक्तिके अनुसार होनेवाला इसका प्रत्येक उत्पाद-व्ययरूप परिणमन भी प्रतिक्षण स्वभावतः अर्थात् अपने-आप ही हुआ करता है उसको अपने उस उत्पाद-व्ययरूप किसी भी परिणमनके होनेमें परकी सहायता अपेक्षित नहीं होती है।

परन्तु उत्तरपक्षकी यह मान्यता आगम-विरुद्ध है, जैसा कि उक्त सर्वार्थसिद्धिके प्रतिपादनसे प्रकट है।

कथन ८३ और उसकी समीक्षा

(८३) आगे त० च० पृ० ७०-७१ पर उत्तरपक्षने लिखा है—"अतएव जहाँ भी निश्चयनयकी अपेक्षा कथन किया गया है वहाँ पर प्रत्येक कार्य यथार्थमें परनिरपेक्ष ही होता है इस सिद्धांतको ध्यानमें रखकर "स्वयमेव" पदका "स्वयं ही" अर्थ करना उचित है। इतना अवश्य है कि यदि विस्तारसे ही उस पदका अर्थ करना हो तो निश्चय षट् कारकरूप भी इस पदका अर्थ किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निश्चयनयसे आप कर्त्ता होकर अपनेमें अपने लिये अपनी पिछली पर्यायका अपादान करके अपने द्वारा अपनी पर्यायको आप उत्पन्न करता है। इसमें परका अणु मात्र भी योगदान नहीं होता। हाँ, असद्भूत व्यवहारनयसे परसापेक्ष कार्य होता है यह कहना अन्य बात है। किन्तु इस कथनको परमार्थभूत नहीं जानना चाहिए। यही कारण है कि समयसारमें सर्वत्र व्यवहारपक्षको उपस्थित कर निश्चयनयके कथन द्वारा असत् कहकर उसका प्रतिषेध किया गया है। कार्य-कारणभावमें भी इसी पद्धतिको अपनाया गया है।"

आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि "शिष्य पढ़ता है" इसका अभिप्राय यह है कि पठनक्रिया शिष्यकी अपनी ही क्रिया है। वह शिष्यमें ही हो रही है और वह उसमें स्वभावतः पाई जानेवाली पठनक्रियाकी

योग्यताके अनुरूप ही हो रही है उसकी उस क्रियामें ही उसका ही पुरूषार्थ हो रहा है और वह उसके ही लाभके लिए हो रही है। इतना ही नहीं वह शिष्यमें पिछली क्रियाका अपादान होकर हो रही है और वह उसके द्वारा ही की जा रही है। परन्तु उसके होनेमें अध्यापकके प्रेरणात्मक व्यापारको उपेक्षित नहीं किया जा सकता है, इसलिये "शिष्य पढ़ता है" इस प्रयोगके साथ वहाँ "अध्यापक पढ़ाता है" इस प्रयोगकी भी उपयोगिता बुद्धिगम्य हो जाती है। इसके साथ उसमें अवलम्बन रूपसे "दीपकके प्रकाशमें शिष्य पढ़ता है" इस अभिप्रायको प्रगट करनेवाले "दीपक पढ़ाता है" इस प्रयोगकी उपयोगिता भी बुद्धिगम्य हो जाती है। इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध इन तीनों प्रयोगोंमेंसे प्रथम प्रयोग निश्चयनयका है, क्योंकि वह प्रयोग पठन-क्रियामें तद्रूप परिणत होनेके आधार पर शिष्यकी उपादानकारणताको बतलाता है। दूसरा प्रयोग असद्भूत व्यवहारनयका है, क्योंकि वह प्रयोग शिष्यकी पठनक्रियाके होनेमें प्रेरक रूपसे अध्यापककी सहायक होने रूप निमित्तकारणताको प्रकट करता है और तीसरा प्रयोग भी असद्भूत व्यवहारनयका है, क्योंकि वह प्रयोग शिष्यकी पठनक्रियाके होनेमें अवलम्बन रूपसे दीपककी सहायक होने रूप निमित्तकारणताको ज्ञात कराता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक द्रव्यकी क्रिया वही कर सकता है और करता है जिसमें उस क्रियाकी उसरूप परिणत होनेकी योग्यताके रूपमें उपादानकारणता विद्यमान रहती है। दूसरा द्रव्य उस एक द्रव्यकी उस क्रियाको न तो कदापि कर सकता है और न करता ही है, क्योंकि उस दूसरे द्रव्यमें उस एक द्रव्यकी उस रूप परिणत होनेकी योग्यताके रूपमें उपादानकारणता नहीं पाई जाती है। वह दूसरा द्रव्य सर्वदा अपनी ही क्रिया कर सकता है और करता है, क्योंकि उसमें भी उसकी अपनी क्रियाकी उक्त प्रकारकी उपादानकारणता पाई जाती है। यह अवश्य है वह दूसरा द्रव्य अपनी क्रियां करते हुए उस एक द्रव्यकी क्रियाके होनेमें सहयोगी बन जाता है, क्योंकि उस एक द्रव्यकी वह क्रिया उस दूसरे द्रव्यकी क्रियाके होनेके अवसर पर ही होती है और न होनेके अवसर पर नहीं होती है। इसकी पुष्टिमें दूसरा उदाहरण पूर्वमें रेलगाड़ीके डिव्बेका, इंजिनका और रेलपटरीका भी दिया जा चुका है। अर्थात् रेलगाड़ीके डिब्बेमें होनेवाली क्रिया उसकी अपनी ही क्रिया है, क्योंकि उसकी वह क्रिया उसमें विद्यमान तदनुकूल योग्यताके अनुसार ही हुआ करती है, परन्तु इंजिनकी क्रियाका और रेलपटरीका यथारूप सहयोग प्राप्त होने पर ही उसकी वह क्रिया हुआ करती है। उनके यथारूप सहयोगके बिना उसकी वह क्रिया कदापि नहीं होती है।

इससे यह निर्णीत होता है कि प्रत्येक द्रव्य उसमें विद्यमान तदनुकूल योग्यताके अनुसार ही अपनी स्वपरप्रत्यय क्रिया किया करता है। मात्र इतना ही निश्चयनयका विषय है। परन्तु उसकी वह क्रिया प्रेरक और उदासीन (अप्रेरक) निमित्तभूत अन्य द्रव्योंके यथानुरूप सहयोगसे ही होती है। उन अन्य द्रव्योंका यथानुरूप सहयोग प्राप्त हुए बिना उसकी वह क्रिया कदापि नहीं होती, इसलिये सहयोगके रूपमें ही उन अन्य द्रव्योंको वहाँ असद्भूत व्यवहारनयका विषय माना गया है।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोंका विषय परस्पर सापेक्ष ही होता है और इस सापेक्षताके आधार पर ही उन्हें सम्यक् नय कहा जाता है। अन्यथा (निरपेक्ष होने पर) वे मिथ्या कहे जायेंगे।

यतः उत्तरपक्ष प्रत्येक द्रव्यकी स्वपरप्रत्यय क्रियाको स्वप्रत्यय क्रियाकी तरह प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग प्राप्त हुए बिना ही स्वीकार करता है, अतः उसकी इस स्वीकृतिमें निश्चयनयका विषय

व्यवहारनयके विषयसे निरपेक्ष होनेके कारण वह निश्चयनयनय न रहकर मिथ्या हो जाता है, क्योंकि उत्तर-पक्षने अपने वक्तव्यमें स्पष्ट लिखा है कि "इसमें परका अणुमात्र भी योगदान नहीं होता।" इस कथनसे उसके मतमें निश्चयनय व्यवहारनय निरपेक्ष होनेके कारण निश्चयनय नय न रहकर मिथ्या हो जाता है। अतः उसके द्वारा ऊपर जिस रूपमें निश्चयनयका विषय माना गया है वह आगमसम्मत नहीं है।

इसी तरह जो दार्शनिक एक द्रव्यकी क्रियाको उसमें तदनुकूल योग्यताका अभाव रहते हुए केवल परसे मानते हैं उनके मतमें व्यवहारनयका विषय निश्चयनयके विषयसे निरपेक्ष हो जानेके कारण उसका प्रतिपादक व्यवहारनय भी नय न रहकर मिथ्या हो जाता है; ऐसा जानना चाहिए।

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "असद्भूत व्यवहारनयसे परसापेक्ष कार्य होता है यह कहना अन्य बात है, किन्तु इस कथनको परमार्थ रूप नहीं मानना चाहिए।" सो इसके विषयमें मेरा कहना यह है कि असद्भूतव्यवहारनयका विषय उपर्युक्त प्रकार निश्चयनयके विषयके रूपमें भले ही परमार्थ रूप न हो, परन्तु उपर्युक्त प्रकार ही असद्भूतव्यवहारनयके विषयके रूपमें तो वह परमार्थभूत ही है। अर्थात् "एक द्रव्यकी क्रिया दूसरा द्रव्य नहीं करता" इस रूपमें तो वह परमार्थभूत ही है, क्योंकि एक द्रव्यकी क्रियामें दूसरे द्रव्यका सहयोग कल्पनारोपित मात्र या कथन मात्र नहीं होता है, यह नहीं भूलना चाहिए।

कथन ८४ और उसकी समीक्षा

(८४) उसी वक्तव्यमें आगे चलकर उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "यही कारण है कि समयसारमें सर्वत्र व्यवहारपक्षको उपस्थितकर निश्चयनयके कथन द्वारा असत् कहकर उसका विरोध कर दिया गया है। कार्य-कारणभावमें इसी पद्धतिको अपनाया गया है।" सो उसका यह लिखना सर्वथा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि समयसारमें जहाँ भी व्यवहारपक्षको उपस्थित कर निश्चयनयके कथन द्वारा उसका निषेध किया गया है वहाँ ग्रंथकारका यही आशय है कि जो लोग व्यवहारपक्षको निश्चयपक्ष समझकर व्यवहारविमूढ़ हो रहे हैं उनकी यह व्यवहारविमूढ़ता समाप्त हो जाये। उसमें ग्रंथकारका अभिप्राय व्यवहारपक्षको सर्वथा असत्य सिद्ध करनेका नहीं है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार व्यवहाररूपसे तो सद्रूप ही है, परन्तु उसे जिसने निश्चयरूप समझ रखा है उसकी यह भ्रान्ति है और इसी भ्रान्तिको समाप्त करनेके लिए ही समयसारमें उक्त कथन किया गया है। आगे उदाहरणों द्वारा इस कथनको स्पष्ट किया जाता है—

(१) बालकको सिंह सदृश गुणोंके आधारसे उपचरित या आरोपित सिंह मानना तो मिथ्या नहीं है, परन्तु उसे उसरूपसे वास्तविक सिंह मान लेना मिथ्या है।

(२) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके अणुओंके पिण्डरूप स्कन्धको उपचरित वस्तु मानना तो मिथ्या नहीं है, परन्तु उन्हें अणुओंके समान स्वतः सिद्ध रूपमें यथार्थ वस्तु मानना मिथ्या है।

(३) घीका आधार होनेके कारण मिट्टीके घड़ेको घीके घड़ेके रूपमें उपचरित या आरोपित घड़ा मानना मिथ्या नहीं है, परन्तु उसे मिट्टीसे निर्मित घड़ेके समान घीसे निर्मित घड़ेके रूपमें घीका मानना मिथ्या है।

(४) कुम्भकार व्यक्तिको मिट्टीकी कुम्भरूप परिणतिमें सहायक होनेके कारण उपचारसे कुम्भकार

कहना अर्थात् कुम्भका कर्त्ता मानना तो मिथ्या नहीं है, परन्तु उसे मिट्टीकी तरह कुम्भरूप परिणत होने रूपसे कुम्भकार अर्थात् कुम्भका कर्त्ता मानना मिथ्या है।

इन उदाहरणोंसे निर्णीत होता है कि उपचरित या आरोपित वस्तु उपचरित या आरोपित रूपमें सद्रूप ही हैं, आकाशकुसुमकी तरह कल्पनारोपित या कथनमात्र नहीं हैं, क्योंकि उसकी उपचरित या आरोपितरूपसे लोकमें उपयोगिता निर्विवाद है। अर्थात् लोकव्यवहार होता है और वह अपने रूपसे यथार्थ है।

कथन ८५ और उसकी समीक्षा

(८५) आगे चलकर त० च० पृ० ७१ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है—"अपरपक्षने प्रवचनसार गाथा १६९ की उक्त टीकाके आधारसे यह चर्चा चलाई है। उसमें "पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति" यह वाक्य आया है जिसका अर्थ होगा—"पुद्गलस्कन्ध स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमते हैं।" जैसा कि अपरपक्षका कहना है उसके अनुसार यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि "पुद्गलस्कन्ध अपने रूप कर्मरूपसे परिणमते हैं।" क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर "अपनेरूप" तथा "कर्मरूपसे" इन दोनों वचनोंमें से एक वचन पुनरुक्त हो जाता है।"

इसके सम्बन्धमें मेरा कहना है कि उत्तरपक्षका यह कथन न केवल भ्रमपूर्ण है, अपितु मिथ्या भी है, क्योंकि टीकाके उक्त दोनों वचनोंका पूर्वपक्ष द्वारा किया गया अर्थ संगत है और दोनों वचन भिन्नार्थक हैं। दोनोंके किये अर्थों—'पुद्गलस्कन्ध अपने रूप कर्मरूपसे परिणमते हैं'—का अभिप्राय है कि 'पुद्गलस्कन्ध' 'अपने रूप' अर्थात् अपनी स्वाभाविक कर्मत्वशक्तिके अनुरूप 'कर्मरूपसे' परिणमते हैं। इस तरह 'अपनेरूप' और 'कर्मरूपसे' ये दोनों वचन भिन्न-भिन्न अभिप्रायको प्रकट करते हैं। अतः इनमेंसे कोई भी वचन पुनरुक्त नहीं है—दोनों ही अपुनरुक्त हैं।

इसका और भी खुलासा इस प्रकार है। पूर्वपक्षके कथनमें प्रवचनसारकी उक्त टीकामें आये 'स्वयं' पदका जो 'अपने रूप' अर्थ किया गया है उससे पुद्गलस्कन्धोंकी कर्मरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यता सूचित की गयी है और 'कर्मभावेन' पदका जो 'कर्मरूप' अर्थ दिया गया है, उससे उस योग्यताके आधारपर होनेवाली उन पुद्गलस्कन्धोंकी कर्मरूप परिणतिको बतलाया गया है। दोनों वचनोंके अर्थोंका अभिप्राय अलग-अलग है। अतः दोनों ('अपनेरूप' और 'कर्मरूप') वचनोंका प्रयोग पुनरुक्त नहीं है। उन्हें पुनरुक्त समझना या बताना अपरपक्षका मात्र भ्रम है।

एक बात और है। यदि उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार 'पुद्गल स्कंधाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति' इस वाक्यमें आये स्वयंका अर्थ 'अपने आप' स्वीकार किया जाये, तो 'स्वयमेव' पद 'अपने आप' अर्थात् 'निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना' अर्थका बोधक होनेसे पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें जीवकी परिणति अकिंचित्कर सिद्ध होती है। फलतः उक्त गाथामें पठित 'जीवस्स परिणदिं पप्पा' पद और उसके अर्थके रूपमें टीकामें अभिहित 'तुल्यक्षेत्रावगाढ़ जीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य' पद दोनों निरर्थक सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत उक्त वचनोंका यदि पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ किया जाये, तो 'स्वयमेव' पद 'अपने रूप' अर्थात् 'अपनी कर्मत्वशक्तिके अनुरूप' अर्थका बोधक होनेसे पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें जीवकी परिणति निराबाध एवं अनिवार्य सहायक होनेसे कार्यकारी सिद्ध होती है तथा दोनों (गाथा व टीकाके)

पदोंकी सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है। पुद्गलोंका कर्मरूप परिणत होना कार्य है और उसमें उपादान स्वयं पुद्गल हैं और निमित्त उसमें जीवपरिणति है। 'स्वयं' का अर्थ 'अपने आप' करनेपर जीवपरिणति पुद्गलोंके कर्मरूप परिणमनमें कारण (निमित्त) नहीं हो सकेगी और उस हालतमें गाथा व टीकाके उक्त पद निरर्थक हो जायेंगे। अतः 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'अपने रूप'—'अपनी कर्मशक्तिके अनुरूप' यही युक्त एवं संगत है।

कथन ८६ और उसकी समीक्षा

(८६) त० च० पृ० ७१ पर ही उत्तरपक्षने यह कहा है कि "अपरपक्षने इसी प्रसंगमें समयसारकी ११६ से १२० तककी गाथाओंको उपस्थित कर उन गाथाओंकी अवतरणिकामें 'स्वयमेव' पद न होनेके कारण सर्व प्रथम यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द इन गाथाओं द्वारा परिणामस्वभावकी सिद्धि कर रहे हैं, अपने आप (स्वतः सिद्ध) परिणामस्वभावकी सिद्ध नहीं कर रहे हैं। किन्तु अपरपक्ष इस बातको भूल जाता है कि जिसका जो स्वभाव होता है वह उसका स्वरूप होनेसे स्वतः सिद्ध होता है, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रने उन गाथाओंकी अवतरणिकामें 'स्वयमेव' पद न देकर प्रत्येक द्रव्यकी स्वतःसिद्ध स्वरूपस्थितिका ही निर्देश किया है। अतएव अवतरणिकाके आधारसे अपरपक्षने जो यह लिखा है कि 'उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तुके परिणामी स्वभावकी सिद्धि करना ही आचार्यको अभीष्ट रहा है, अपने आप परिणामीस्वभावकी नहीं' यह युक्त प्रतीत नहीं होता।"

खेदकी बात है कि उत्तरपक्ष अपनी मान्यताको पूर्वपक्षपर लादनेका अनुचित प्रयास करता है और उसके कथनका विपर्यास करता है। पूर्वपक्षने त० च० पृ० ३० पर वस्तुके परिणामी स्वभावको सिद्ध करनेवाली आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारकी ११६ से १२० गाथाएँ उद्धृत कर तथा इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रकृत टीकागत अवतरणिकाके, जिसमें 'स्वयं' पद नहीं दिया हुआ है, आधारसे लिखा था कि 'उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तुके परिणामी स्वभावकी सिद्धि करना ही आचार्यको अभीष्ट है, अपने आप परिणामी स्वभावको नहीं' और इसीका स्पष्टीकरण वहाँ आगे किया गया है। किन्तु उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके इस कथनमें प्रयुक्त 'अपने आप' पदका ब्रैकेटमें 'स्वतःसिद्ध' पर्यायशब्द अपनी ओरसे जोड़ कर पूर्वपक्षके कथनको विकृत करनेका प्रयत्न किया है। सांख्य आत्मा (पुरुष) को अपरिणामी मानता है, यह सर्वविदित है। आचार्यने उक्त गाथाओं द्वारा आत्माको परिणामी सिद्ध किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जीवमें पुद्गलद्रव्य अपने रूपसे बँधा है और उसकी अपने रूपसे कर्मरूप परिणति होती है। यदि ऐसा न हो तो जीव अपरिणामी (चतुर्गतिके भ्रमणसे रहित) हो जावेगा। इस प्रतिपादनसे विदित है कि आचार्यको यह अभिप्रेत है कि जीवके साथ पुद्गलद्रव्य उसमें कर्मरूप परिणत होनेकी योग्यता होनेसे पूर्वसे बंधा है और उसमें कर्मरूप परिणमनेकी योग्यता होनेसे ही वह कर्म (ज्ञानावरणादि) रूप परिणमता है। यहाँ आचार्यको 'कर्मरूप परिणमनेकी योग्यता' हो 'स्वयं' शब्दसे विवक्षित है, जिसका सीधा अर्थ 'अपनेरूप' है, अपनेआप-जीवकी परिणतिरूप निमित्तनिरपेक्ष अर्थ विवक्षित नहीं है। यह पूरे सन्दर्भसे अवगत हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रकी इन्हीं गाथाओंकी टीकाकी अवतरणिकासे भी ज्ञात होता है, जैसाकि उल्लिखित उद्धरणके पूर्वपक्ष द्वारा किये गये अर्थसे प्रकट है। फिर भी उत्तरपक्ष पूर्वपक्षको उलझानेका असफल प्रयास करता है। किन्तु तथ्य क्या है, इसे तत्त्वजिज्ञासु अच्छी तरह समझ सकते हैं। हमारी चेष्टा है कि उत्तरपक्ष भी गहराईसे इसपर विमर्श करे।

एक बात हम और कहना चाहते हैं कि उत्तरपक्ष समझता है कि 'जिसका जो स्वभाव होता है वह

उसका स्वरूप होनेसे स्वतः सिद्ध होता है, इसलिये आचार्य अमृतचन्द्रने उन गाथाओंकी अवतरणिकामें 'स्वयमेव' पद न देकर प्रत्येक द्रव्यकी स्वतः सिद्ध स्वरूप स्थितिका निर्देश किया है।" किन्तु उसका ऐसा समझना नितान्त भ्रम है क्योंकि 'स्वयमेव' पदके देनेपर भी प्रत्येक द्रव्यकी स्वरूप स्थितिका निर्देश हो सकता था। वास्तवमें 'स्वयमेव' पद न देनेका जो अर्थ या आशय उत्तरपक्षने समझा है वह उसकी अपनी कल्पना है। सच तो यह है कि यहाँ उसके बतानेका प्रसंग ही नहीं है। प्रसंग तो द्रव्यके परिणामीस्वभावको सिद्ध करनेका है, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार अमृतचन्द्रने द्रव्यको सहेतुक एवं अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक परिणामीस्वभाव सिद्ध किया है तथा सांख्यादिके अपरिणामी आदि स्वभावका निरसन किया है। स्पष्टतया दोनों ही आचार्योंका अभिप्राय जीवमें बंधे पुद्गल द्रव्यको तथा आगामीकालमें बंधनेवाले पुद्गलद्रव्यको कर्मरूपसे परिणमन करनेवाला सिद्ध करता है और वह कर्मरूपसे परिणत तभी होगा, जब उसमें कर्मरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यता होगी। इसी भावको व्यक्त करनेके लिए 'स्वयं' पद गाथाओंमें दिया गया है। यह अवश्य है कि स्वरूप स्वतः सिद्ध होनेपर भी उसकी अभिव्यक्ति तो उभय कारणोंसे ही होती है। केवलज्ञान जीवका स्वतः सिद्ध स्वरूप है, किन्तु उसकी व्यक्ति अन्तरंग और वहिरंग दोनों कारणोंसे होती है। यहाँ द्रव्यको परिणामीस्वभाव सिद्ध करनेसे उस परिणमनमें कार्यकारणभाव बताना ही मुख्य अभिप्रेत है, स्वतः सिद्ध स्वरूपका निर्णय करना नहीं। उसका यहाँ प्रकरण ही नहीं है। फिर वह तो स्वतः सिद्ध है ही। इसपर उत्तरपक्षको गंभीरतासे विचार करना चाहिए।

इसका खुलासा इस प्रकार है। पूर्वपक्ष पुद्गलकी कर्मरूपसे परिणत होनेकी शक्ति अवश्य उसकी स्वतः सिद्ध स्वभावभूत शक्ति मानता है। किन्तु वह यह भी कहता है कि उसके आधारपर होनेवाला उसका कर्मरूप परिणमन जीवके रागादि परिणामोंका सहयोग मिलनेपर ही होता है। उसका वह कर्मरूप परिणमन न तो पुद्गलमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वतः सिद्ध स्वभावभूत शक्तिके अभावमें हो सकता है और न जीवके रागादि परिणामोंके सहयोगके बिना हो सकता है। पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें उक्त दोनोंका सद्भाव नियमसे कारण होता है। आचार्य अमृतचन्द्रने आचार्य कुन्दकुन्दकी उल्लिखित (११६-१२०) गाथाओंके अर्थको भी अपनी टीकामें स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि पुद्गलद्रव्य जीवके साथ स्वयं अर्थात् अपनी कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वतः सिद्ध स्वभावभूत शक्तिके अनुरूप कर्मरूपसे परिणत नहीं होता यानी पुद्गलमें यदि जीवके साथ बद्धता या कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वतः सिद्ध स्वभावभूत शक्ति विद्यमान नहीं है तो वह पुद्गल द्रव्य अपरिणामी (कूटस्थ) हो जावेगा। अर्थात् ऐसी स्थितिमें वह न तो जीवके साथ बद्ध हो सकेगा और न कभी कर्मरूपसे परिणत ही हो सकेगा। इस तरह कार्माण वर्गणाओंके कर्मरूपसे परिणत न होनेपर संसारका अभाव हो जायेगा। अर्थात् जीवका चतुर्गति परिभ्रमण नहीं होगा। अथवा सांख्यमत प्रसक्त हो जायेगा। यदि कहा जाय कि जीव पुद्गलद्रव्यको कर्मरूपसे परिणमाता है, अतः संसारका अभाव नहीं होगा—पुद्गलद्रव्य (प्रकृति) का बन्ध—संसार सिद्ध हो जायगा। इसपर प्रश्न होता है कि परिणमते पुद्गद्रव्यको जीव परिणमाता है या अपरिणमते पुद्गल द्रव्यको वह कर्मरूपसे परिणमाता है? प्रथमपक्ष तो इसलिए युक्त नहीं है, क्योंकि जब पुद्गलद्रव्य स्वयं—कर्मरूप परिणमनेकी योग्यतासे कर्मरूप परिणमेगा तो दूसरे परिणमानेवाले जीवकी वह क्यों अपेक्षा करेगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो कर्मरूप परिणमनेकी योग्यताके अभावसे परिणम नहीं रहा है वह उसके अभावमें जीवके द्वारा भी परिणमाया नहीं जा सकता। प्रसिद्ध है कि, 'जो शक्ति स्वतः नहीं है वह अन्यके द्वारा नहीं लायी जा सकती।'

अर्थात् कर्मरूप परिणमनेकी योग्यताके अभावमें पुद्‌गलद्रव्यको जीव कर्मरूपसे कदापि नहीं परिणमा सकता है। प्रकट है कि वस्तुओंकी स्वभावभूत शक्तियाँ परमुखापेक्षी नहीं होतीं।' अर्थात् जीवमें बद्ध एवं बंधने-वाला पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूपसे तभी परिणमता है जब उसमें कर्मरूपसे परिणमनेकी अपनी वास्तविक शक्ति (वस्तुशक्ति) होती है। अतः पुद्‌गलद्रव्य स्वयं—कर्मरूप परिणमनेकी योग्यतासे कर्मरूपसे परिणामस्वभाव-वाला ही सिद्ध होता है। ऐसा स्वीकार करनेपर कलशरूप परिणमनेकी योग्यतासे परिणत (विशिष्ट) मिट्टी जैसे कलशरूप परिणमती है उसी प्रकार जड़स्वभाव पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमनेकी योग्यतासे कर्मरूप परिणत होता हुआ ज्ञानावरणादिकर्म कहा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि पुद्‌गलद्रव्य परिणाम-स्वभावी है। आचार्य अमृतचन्द्रने उल्लिखित गाथाओंपर जो अन्तमें कलश दिया जाता है उससे तो प्रस्तुतकी सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। उसमें उन्होंने बहुत ही संक्षिप्त किन्तु सारभूत शब्दोंमें लिखा है कि 'इस प्रकार उक्त प्रकारसे पुद्‌गलद्रव्यकी परिणमनशक्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्ध हुई। उसके सिद्ध होनेपर पुद्-गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है उसका वह पुद्‌गलद्रव्य ही कर्त्ता है।'

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि पुद्‌गलमें कर्मरूप परिणमनेकी स्वभावभूत शक्तिके सद्भावमें ही कर्मरूपसे परिणमन होता है, जिसका उपादान कर्त्ता वही है और निमित्तकर्त्ता—सहकारी कारण आत्माकी रागादि परिणति है। निष्कर्ष यह कि प्रवचनसार गाथा १६९ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें जो यह वाक्य पाया जाता है कि 'कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्‌गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति' इसमें पठित 'स्वयमेव' पदका उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार "निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना अपने आप" अर्थ संगत न होकर पूर्वपक्षके द्वारा किया गया उसका 'कर्मत्वशक्तिके अनुरूप' अर्थ ही प्रकरणसंगत एवं मूलकार तथा टीकाकारसम्मत है। उत्तरपक्षके द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त अर्थ उसका माननेपर जीवमें बंधे या आगामी बंधनेवाले पुद्‌गलके कर्मरूप परिणमनेमें जहाँ उसकी स्वतः सिद्ध कर्मत्वशक्ति कारण (उपादान) सिद्ध है वहाँ उसमें सहायकरूपसे कारण होनेवाली जीवकी रागादि परिणतिकी सर्वथा उपेक्षा है, जबकि सिद्धान्ततः उसमें दोनों ही कारण व्यापृत होते हैं, क्योंकि वह स्वपरप्रत्यय परिणमन है। उनमेंसे किसी एकके भी अभा-वमें वह नहीं हो सकता। इतने विस्तृत विवेचन एवं निष्कर्षसे इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि 'स्वयं' पदका अर्थ 'अपनेरूप—कर्मत्वशक्तिके अनुरूप' यही किया जाना चाहिए, उसका 'अपने आप' अर्थ नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस अर्थमें पुद्‌गलके कर्मरूप परिणमनमें अनिवार्यरूपसे सहायक जीवकी रागादि परिणतिका निराकरण हो जाता है। अतः पूर्वपक्षका कथन सर्वथा युक्त है, अयुक्त नहीं। उत्तरपक्षका कथन ही अयुक्त है।

कथन ८७ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७१ पर आगे लिखा है कि "इसी प्रसंगमें दूसरी आपत्ति उपस्थित करते हुए अपरपक्षने लिखा है कि 'गाथा ११७ के उत्तरार्धमें जो संसारके अभावकी अथवा सांख्यमतकी प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है वह पुद्‌गलको परिणामी स्वभाव न मानने पर ही उपस्थित हो सकती है, अपने आप (स्वतः सिद्ध) परिणामी स्वभावके अभावमें नहीं' आदि। किन्तु यह आपत्ति इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यको परतः परिणामी स्वभाव माननेपर एक तो वह द्रव्यका स्वभाव नहीं ठहरेगा और ऐसी अवस्थामें द्रव्यका ही अभाव मानना पड़ेगा। दूसरे, यह जीव पुद्‌गल कर्मसे सदा ही बद्ध बना रहेगा, अतएव मुक्तिके लिए यह आत्मा स्वतन्त्र रूपसे प्रयत्न भी न कर सकेगा। यदि अपरपक्ष इस आपत्तिको उपस्थित

करते समय गाथा ११६ के पूर्वार्धपर दृष्टिपात कर लेता तो उसके द्वारा यह आपत्ति ही न उपस्थित की गई होती।"

मालूम पड़ता है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षके कथनके अभिप्रायको समझ नहीं सका है। पूर्वपक्षके कथनका अभिप्राय तो यह है कि उत्तरपक्ष पुद्गलका स्वयं अपने आप अर्थात् निमित्तभूत जीवकी परिणतिकी सहायता के विना कर्मरूप परिणत होनेका स्वभाव मानता है तो उसके अभावमें संसारके अभाव या सांख्यमतकी प्रसक्ति न होकर परतः अर्थात् निमित्तभूत जीवकी परिणतिकी सहायतासे पुद्गलका कर्मरूप परिणत होनेका स्वभाव प्रसक्त होगा, जो उत्तरपक्षके लिए इष्ट नहीं है। साथ ही आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रके आशयके विरुद्ध है। उत्तरपक्षको अपने लेखमें इस समस्याको सुलझानेका ही प्रयत्न करना था। उसने अपने लेखमें जो कुछ कहा है उससे तो ऐसा जान पड़ता है कि वह पक्ष मानो पूर्वपक्षकी ओरसे बोल रहा है।

कठिनाई यह है कि उत्तरपक्ष अपरपक्षके खण्डन करनेका ही प्रयत्न करता है, उसके प्रश्नका आगम-सम्मत समाधान नहीं करना चाहता। आचार्यने पुद्गलको परिणामीस्वभाव न माननेपर गाथा ११७ के उत्तरार्धमें संसारके अभाव अथवा सांख्यमतके प्रसंग आनेकी आपत्ति दी है। उसे ही पूर्वपक्षने भी दोहराया था और कहा था कि वह आपत्ति अपने-आप (स्वतः सिद्ध) परिणामी स्वभावके अभावमें नहीं उपस्थित हो सकती है, किन्तु जीवकी रागादि परिणतिकी सहायकतारूप बाह्य कारण और पुद्गल द्रव्यकी स्वभावभूत परिणामशक्तिरूप आभ्यान्तर कारण दोनोंकी अपेक्षासे होनेवाले पुद्गलके परिणमन स्वभावको न माननेपर ही उपस्थित हो सकती है। इसका स्पष्ट आशय है कि आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रस्तुत आपत्तिको पूर्वपक्षने भी स्पष्ट किया है। पूर्वपक्षके उक्त कथनसे न तो प्रत्येक द्रव्यका परतः परिणाम-स्वभाव सिद्ध होता है और न जीव पुद्गल कर्मसे सदा बद्ध बना रहता है, जिससे वह मुक्तिके प्रयत्नसे वंचित रहे। यह समस्या तो उत्तरपक्षके कथनसे ही उत्पन्न होती है अतः उसे ही इसपर ध्यान देना है। पूर्वपक्ष तो उक्त कथन द्वारा इतना ही सिद्धान्त स्पष्ट करना चाहता है कि पुद्गलका, यहाँ तक कि प्रत्येक द्रव्यका जो परिणमन होता है, वह बाह्यकारण जीवकी परिणति आदि और आभ्यन्तर कारण अपने-अपने रूपसे परिणमनकी स्वाभाविक शक्ति इन दोनोंसे ही होता है। अतः प्रकृतमें पुद्गल द्रव्यको कर्मरूप परिणमनेकी शक्तिके अनुरूप कर्मरूपसे परिणामस्वभावी मानना ही सिद्धान्त है, अपने आप परिणामस्वभावी नहीं। उत्तरपक्षसे क्या हम आशा करें कि वह शास्त्रार्थके लटके या छल-निग्रहकी प्रवृत्तिको छोड़कर तत्त्व-निर्णयके लिए प्रयत्न करेगा।

यहाँ इतना और कह देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपने उक्त कथनमें उद्धृत पूर्वपक्षके त० च० पृ० ३० पर निर्दिष्ट गाथा "११७ के उत्तरार्धमें...." आदि कथनके साथ उपलब्ध 'अपने आप पदके अर्थके रूपमें ब्रैकटके अन्तर्गत जो 'स्वतः सिद्ध' पद लिखा है वह भी उसने पूर्वपक्षके अभिप्रायको न समझ सकनेके कारण अपनी ओरसे ही लिखा है। पूर्वपक्षका कथन केवल इस रूपमें है कि "गाथा ११७ के उत्तरार्धमें जो संसारके अभावकी अथवा सांख्यमतकी प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है वह पुद्गलको परिणामी स्वभाव न माननेपर ही उपस्थित हो सकती है, अपने आप परिणामी स्वभावके अभावमें नहीं।" और उसने यह कथन इस अभिप्रायसे किया है कि वह पुद्गलमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताको स्वतःसिद्ध मानता हुआ उस योग्यताके आधारपर होनेवाले पुद्गलके कर्मरूप परिणमनको निमित्तभूत जीवके सहयोगसे मानता है, निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना अपने आप नहीं मानता है। परन्तु उत्तरपक्ष पुद्गलमें कर्मरूपसे

परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताको पूर्वपक्षकी तरह स्वतःसिद्ध मानता हुआ भी उसके आधारपर होने-वाले पुद्गलके कर्मरूप परिणमनको भी निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना अपने आप ही मानता है। अतएव इसका निषेध करनेके लिए पूर्वपक्षने त० च० पृ० ३० पर "गाथा ११७ के उत्तरार्धमें" आदि उक्त कथन किया है। इसके अतिरिक्त यह कहना चाहता हूँ कि पूर्वपक्षके उक्त कथनमें उसके इस अभिप्रायको न समझ सकनेके कारण ही उत्तरपक्षने अपने कथनमें "किन्तु यह आपत्ति इसलिए ठीक नहीं"—आदि आगेका अंश लिखा है, जो पूर्वपक्षकी ही दृष्टिको स्पष्ट करता है।

पूर्वपक्षने त० च० पृ० २९-३० पर समयसार ११६ से १२० तक की गाथाओंका उल्लेख प्रवचनसार गाथा १६९ के समर्थनमें किया है। अतः वहाँपर भी उसने उसका यही अर्थ ग्राह्य माना है और इसकी पुष्टिके लिए उन गाथाओंका आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाके आधारपर स्पष्टीकरण किया है।

सामान्यतः दोनों पक्षोंमें इस विषयमें कोई विवाद नहीं है कि पुद्गलका कर्मरूप ही परिणमन होता है, क्योंकि उसमें उस रूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताका सद्भाव दोनों ही पक्ष स्वीकार करते हैं। विवाद केवल उनमें इस बातका है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुद्गलके उस कर्मरूप परिणमनको निमित्तभूत जीवके सहयोगसे मानता है वहाँ उत्तरपक्ष पुद्गलके उस कर्मरूप परिणमनको निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना अपने आप ही मानता है। यहाँ ध्यातव्य है कि आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसारकी टीका कलश १७५ में परद्रव्यकी निमित्तताका स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। वह कलश निम्न प्रकार है :—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि अपनी रक्तादि परिणतिका आप निमित्त कभी नहीं होता उसी प्रकार आत्मा भी अपनी रागादि परिणतिका आप निमित्त कभी नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार सूर्यकान्तमणिके रक्तादि परिणमनमें रक्तादि परद्रव्यका संग ही निमित्त होता है उसी प्रकार आत्माके रागादि परिणमनमें भी रागादि परद्रव्यका संग ही निमित्त होता है, वास्तवमें यह वस्तुका स्वभाव है।

यतः सांख्यमतानुयायी वस्तुके स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभावको अर्थात् वस्तुमें परिणमन होनेकी स्वतः-सिद्ध स्वभाविक योग्यताको स्वीकार नहीं करता है, अतः समयसार गाथा ११६ में यह बतलाया गया है कि यदि पुद्गल द्रव्य जीवके साथ 'स्वयं' अर्थात् अपनी बद्ध होनेकी स्वतःसिद्ध स्वभाविक योग्यताके आधारपर बद्ध नहीं होता और स्वयं अर्थात् अपनी कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वतःसिद्ध स्वभाविक योग्यताके आधारपर कर्मरूपसे परिणत नहीं होता अर्थात् पुद्गलमें जीवके साथ बद्ध होने और कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वतः-सिद्ध स्वभाविक योग्यता विद्यमान नहीं है तो उस हालतमें पुद्गल द्रव्य अपरिणामी (कूटस्थ) ही ठहरेगा। इसके पश्चात् समयसार गाथा ११७ में यह बतलाया गया है कि पुद्गल द्रव्य समयसार गाथा ११६ के कथनके अनुसार जब अपरिणामी (कूटस्थ) हो जायेगा तो उसके कर्मरूप परिणत न होनेके कारण संसारका अभाव अथवा सांख्यमतकी प्रसक्ति उपस्थित हो जायेगी, जो जिनशासनके प्रतिकूल होनेके कारण दोनों पक्षोंको अभीष्ट नहीं है।

अब यहाँ विचारणीय है कि यद्यपि दोनों पक्ष पुद्गलके कर्मरूप परिणमनको उसकी कर्मरूप परिणत होनेकी स्वतःसिद्ध स्वभाविक योग्यताके आधारपर स्वीकार करते हैं, परन्तु जहाँ पूर्वपक्ष पुद्गलके कर्मरूप

परिणत होनेमें आगमकी इस व्यवस्थाको मान्य करता है कि उसका वह कर्मरूप परिणमन निमित्तभूत जीवकी परिणतिके सहयोगसे होता है वहाँ उत्तरपक्ष पुद्गलके कर्मरूप परिणत होनेमें आगमकी इस व्यवस्थाको मान्य नहीं करता कि उसका कर्मरूप परिणमन निमित्तभूत जीवकी परिणतिके सहयोगसे होता है। उसकी मान्यता है कि पुद्गलका वह कर्मरूप परिणमन निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना अपने आप ही होता है।

उत्तरपक्षकी इस मान्यतामें दोप यह है कि उसे, समयसार गाथा ११६ के प्रथम तीन चरणोंका "यदि पुद्गल द्रव्यको जीवमें स्वयं अर्थात् निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना अपने आप ही बद्ध न माना जाये व उसके कर्मरूप परिणमनको स्वयं अर्थात् निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना अपने आप ही न माना जाय" यह अर्थ स्वीकार करना होगा। इसका परिणाम यह होगा कि उसकी उक्त मान्यताके आधारपर पुद्गल द्रव्यको समयसार गाथा ११६ के चतुर्थ चरणके अनुसार अपरिणामी (कूटस्थ) न मानकर परतः-परिणामी अर्थात् पर के सहयोगसे परिणमन करनेवाला स्वीकार करना होगा, जो उत्तरपक्षको अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलके कर्मरूप परिणमनकी उत्पत्तिको स्वयं अर्थात् निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना अपने आप ही मान्य करता है। इस तरह समयसार गाथा ११६ का चतुर्थ चरण असंगत हो जायेगा। इतना ही नहीं, इस गाथा ११६ का गाथा ११७ के साथ समन्वय करना भी असम्भव हो जायेगा, क्योंकि गाथा ११७ का सुसंगत अर्थ यह है कि "पुद्गलकर्मवर्गणाएँ जब अपरिणामी (कूटस्थ) बनी रहेंगी तो संसारका अभाव अथवा सांख्यमत प्रसक्त होता है।

इस तरह समयसार गाथा ११६ के चतुर्थ चरणके साथ उसके प्रथम तीन चरणोंकी संगति बिठलानेके लिए और गाथा ११७ के साथ उसका (गाथा ११६ का) समन्वय करनेके लिए गाथा ११६ के प्रथम तीन चरणोंका "यदि पुद्गल द्रव्यका जीवमें स्वयं अर्थात् अपनी स्वतःसिद्ध स्वभाविक योग्यताके अनुरूप बद्ध न माना जाये व उसके कर्मरूप परिणमनको भी स्वयं अर्थात् अपनी स्वतःसिद्ध स्वभाविक योग्यताके अनुरूप न माना जाये" यह अर्थ मान्य करना ही अनिवार्य है। अतएव पूर्वपक्षका कहना है कि समयसार ११६ से १२० तककी गाथाएँ पुद्गलकी कर्मरूप परिणत होनेकी स्वतःसिद्ध स्वभाविक योग्यताको ही बतलाती हैं। उसका यह कर्मरूप परिणमन स्वयं अर्थात् निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना अपने आप होता है इस बातको नहीं बतलाती हैं। अतः गाथा ११६ में पठित 'स्वयं' पदका पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार 'अपने रूप' अर्थात् पुद्गलकी कर्मरूप परिणति होनेकी योग्यताके अनुरूप" अर्थ करना ही सुसंगत है। उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार 'अपने आप' अर्थात् 'निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना' अर्थ करना सुसंगत नहीं है। इसकी पुष्टि इन्हीं ११६ से १२० तककी गाथाओंकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाके अन्तमें रचे गये उनके कलश ६४ से भी होती हैं। वह कलश निम्न प्रकार है—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मानस्तस्य भवेत् स कर्त्ता ॥६४॥

इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार पुद्गलकी परिणामशक्ति (परिणमित होनेकी योग्यता) निर्विघ्न-रूपसे स्वभावभूत सिद्ध होती है। उसके सिद्ध होनेपर वह पुद्गल अपना जो भाव (परिणाम) करता है उसका वह कर्त्ता होता है।

इस तरहसे भी यह निर्णीत होता है कि समयसार गाथा ११६ में पठित 'स्वयं' पदका अर्थ 'अपने रूप' ही स्वीकृत करने योग्य है, 'अपने आप' नहीं।

इस विवेचनके आधारपर अब उत्तरपक्षको ही यह निर्णय करना है कि समयसार गाथा ११६ में पठित 'स्वयं' पदका उसकी मान्यताके अनुसार 'अपने आप' अर्थ स्वीकार किया जाये या पूर्वपक्षकी मान्यता के अनुसार 'अपने रूप' अर्थ स्वीकार किया जाये ?

उत्तरपक्षने उपर्युक्त अपने कथनके अन्तमें लिखा है—"यदि अपरपक्ष इस आपत्तिको प्रस्तुत करते समय गाथा ११६ के पूर्वार्धपर दृष्पिात कर लेता तो उसके द्वारा यह आपत्ति ही उपस्थित न की गई होती।"

इसपर मेरा कहना यह है कि गाथा ११६ में पठित 'स्वयं' पदका अपने रूप अर्थ मान्य करनेपर ही समयसारकी ११६ से १२० तककी सभी गाथाओं और उनकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाकी सुसंगति बैठ सकती है, 'अपने आप' अर्थ मान्य करनेपर नहीं।

कथन ८८ और उसकी समीक्षा

(८८) आगे त० च० पृ० ७१ पर इसी अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने यह कथन किया है कि "पुद्गल अपने परिणामस्वभावके कारण आप स्वतन्त्र कर्त्ता होकर जीवके साथ बद्ध है और आप मुक्त होता है। इसीसे बद्ध दशामें जीवका संसार बना हुआ है। यदि ऐसा न माना जाये और पुद्गलको स्वभावसे अपरिणामी माना जाये तो एक तो संसारका अभाव प्राप्त होता है, दूसरे सांख्य मतका प्रसंग आता है। यह उक्त गाथाओंका तात्पर्य है।"

इसपर मेरा कहना है कि उत्तरपक्षका उक्त गाथाओंका ऐसा तात्पर्य निकालनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु विचारणीय बात यह है कि उक्त गाथाओंका यह तात्पर्य तभी ग्रहण किया जा सकता है जब समयसार गाथा ११६ में पठित 'स्वयं' पदका पूर्वपक्षके दृष्टिकोणके अनुसार 'अपने रूप' अर्थ स्वीकार किया जाये। यतः उत्तरपक्ष उक्त 'स्वयं' पदका 'अपने रूप अर्थ ग्रहण न करके 'अपने आप' ही अर्थ ग्रहण करता है। अतः पूर्वपक्षका कहना है कि उक्त गाथाओंका उक्त तात्पर्य ग्रहण करना उत्तरपक्षके लिए सम्भव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्ष उक्त गाथाओंका वही तात्पर्य ग्रहण करता है जिस तात्पर्यको उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यमें स्पष्ट किया है, इसलिए पूर्वपक्षने प्रकृतमें उत्तरपक्षके साथ इस बातको लेकर विरोध प्रगट नहीं किया है। पूर्वपक्षने प्रकृतमें उत्तरपक्षके साथ इस बातको लेकर ही विरोध प्रगट किया है कि उत्तर-पक्ष समयसार गाथा ११६ में पठित 'स्वयं' पदका 'अपने रूप' अर्थ न करके 'अपने आप' अर्थ ग्रहण करता है जिसका आशय यह होता है कि पुद्गलका कर्मरूप परिणमन जीवके सहयोगके बिना अपने आप ही होता है। इस तरह 'स्वयं' पदके इस अर्थके आधारपर समयसार गाथा ११६ और ११७ का वह तात्पर्य सिद्ध नहीं होता जो तात्पर्य उत्तरपक्षने अपने प्रकृत वक्तव्यमें दिया है।

इस विवेचनसे यह भी निर्णीत होता है कि उक्त अनुच्छेदके अन्तमें "स्पष्ट है कि यह दूसरी आपत्ति भी प्रकृतमें अपरपक्षके इष्टार्थको सिद्ध नहीं करती" यह कथन भी उत्तरपक्ष द्वारा पूर्वपक्षके अभिप्रायको उपर्युक्त प्रकार सही रूपमें न समझ सकनेके आधारपर ही लिखा गया है, जो निष्प्रयोजन होनेसे उपेक्षणीय है।

कथन ८९ और उसकी समीक्षा

(८९) उत्तरपक्षने अपने दृष्टिकोणका समर्थन करनेके लिए आगे त० च० पृ० ७१-७२ पर समयसारकी ११८ से १२० तक की गाथाओंकी आचार्य अमृतचंद्रकृत टीका और उसके पश्चात् पृ० ७२ पर इस टीकाके पं० जयचन्द्रजी द्वारा कृत हिन्दी अर्थको उद्धृत किया है।

उस सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि आचार्य अमृचन्द्र कृत टीका और उसका पं० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी अर्थ दोनों पुद्गलके परिणामी स्वभाव अर्थात् पुद्गलकी कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यताकी सिद्धिके लिए लिखे गये हैं। उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं लिया जा सकता है कि पुद्गलका कर्मरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यताके आधारपर होनेवाला कर्मरूप परिणमन "स्वयं" अर्थात् निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना अपने आप ही होता है।

तात्पर्य यह है, जैसा कि पूर्वमें भी स्पष्ट किया जा चुका है कि समयसारकी ११६ से १२० तककी गाथाओं, उनकी आचार्य अमृचन्द्र कृत टीका तथा दोनोंके पं० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी अर्थका यही अभिप्राय है कि पुद्गलका कर्मरूप परिणमन यद्यपि निमित्तभूत जीवके सहयोगसे ही होता है, परन्तु वह कर्मरूप परिणमन पुद्गलमें विद्यमान कर्मरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यताके अनुरूप होता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कर्मरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यताका अभाव रहते हुए उसका (पुद्गलका) वह कर्मरूप परिणमन जीव द्वारा करा दिया जाता है। साथ ही ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि पुद्गलका कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यताके अनुरूप होनेवाला वह कर्मरूप परिणमन निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना अपने आप ही होता है। उत्तरपक्ष इस तथ्यको समझ ले तो वह उन गाथाओं, उन गाथाओंकी टीका और उनके हिन्दी अर्थमें निहित आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र और पं० जयचन्द्रजीके अभिप्रायको सही रूपमें समझ सकता है। परन्तु वह (उत्तरपक्ष) इस तथ्यको समझनेका प्रयत्न नहीं करता। वह पुद्गलके कर्मरूप परिणत होनेमें निमित्तभूत जीवको सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है। यह उसका दुराग्रह ही समझना चाहिए।

यह सच है कि जैन शासनमें पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें उस पुद्गलको ही यथार्थकर्त्ता माना गया है, क्योंकि वही कर्मरूप परिणत होता है। इसे दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं और दोनों ही इसे भी स्वीकार करते हैं कि पुद्गल द्रव्यके उस कर्मरूप परिणमनमें जीव यथार्थ कर्त्ता नहीं होता, क्योंकि जीव कर्मरूप परिणत नहीं होता। इसलिये वहाँपर जीवको दोनों ही पक्ष अयथार्थ कर्त्ता मानते हैं। परन्तु इस विषयमें दोनों पक्षोंमें मतभेद यह है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुद्गलके उस कर्मरूप परिणमनमें जीवके उस अयथार्थ-कर्तृत्वको उसके (पुद्गलके) उस कर्मरूप परिणमनमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तरपक्ष पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें जीवके उस अयथार्थकर्तृत्वको उसमें सहायक न होनेके आधापर अकिंचित्कर स्वीकार करता है। अतः तत्त्वजिज्ञासुओंको निर्णय करना है कि पूर्वपक्षकी मान्यता जैनशासन सम्मत है या उत्तरपक्षकी मान्यता जैनशासनसम्ममत है।

कथन ९० और उसकी समीक्षा

(९०) आगे त० च० पृ० ७२ पर ही उत्तरपक्षने समयसारकी ११८ से १२० तककी गाथाओंकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका और उसके पं० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी अर्थके आधारपर यह कथन किया है—

"यह परमागमकी स्पष्टोक्ति है जो निश्चयपक्ष और व्यवहारपक्षके कथनका आशय क्या है ? इसे विशद रूपसे स्पष्ट कर देती है । निश्चयसे देखा जाये तो प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाव वाला होनेसे उत्पाद-व्ययरूप परिणमनको अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिये, आप ही करता है । उसे इसके लिए पर की सहायता की अणु मात्र भी अपेक्षा नहीं होती । यह कथन वस्तु स्वरूपको उद्घाटन करनेवाला है, इसलिये वास्तविक है, कथनमात्र नहीं हैं । व्यवहारनयसे देखा जाये तो कुम्भकारके विवक्षित क्रियापरिणामके समय मिट्टीका विवक्षित क्रियापरिणाम दृष्टिपथमें आता है । यतः कुम्भकारका विवक्षित क्रियापरिणाम मिट्टीके घट परिणामकी प्रसिद्धिका निमित्त (हेतु) है, अतः इस नयसे कहा जाता है कि कुम्भकारने अपने क्रियापरिणाम द्वारा मिट्टीमें घट किया । अतः यह कथन वस्तुस्वरूपको उद्घाटन करने वाला न होकर उसे आच्छादित करनेवाला है । अतः वास्तविक नहीं है, कथनमात्र है । परमागममें निश्चयको प्रतिषेधक और व्यवहारनयको प्रतिषेध्य क्यों बतलाया गया है ? यह इससे स्पष्ट हो जाता है ।

इसकी समीक्षामें मैं यह कहना चाहता हूँ कि पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके साथ समयसार ११८ से १२० तककी गाथाओंकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका और उसके पं० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी अर्थके विषयमें कोई विवाद नहीं है । किन्तु उनके आधारपर उत्तरपक्षने जिस रूपमें निश्चयनय और व्यवहारनयके कथनका आशय व्यक्त किया है वह सम्यक् नहीं है । इसका कारण निम्न प्रकार है ।

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों परस्परकी सापेक्षताके आधारपर ही नय कहे जाते हैं । यदि ऐसा न हो तो दोनों मिथ्या हो जावेंगे । इसलिये जिस प्रकार निश्चय-नयका विषय सद्रूप है उसी प्रकार व्यहारनयका विषय भी सद्रूप ही है । वह कल्पित नहीं है । इतना अवश्य है कि निश्चयनय वस्तुके स्वाश्रित रूपको विषय करता है और व्यवहारनय वस्तुके पराश्रित रूपको विषय करता है । पर जिस प्रकार वस्तुका स्वाश्रित रूप सद्रूप है उसी प्रकार वस्तुका पराश्रित रूप भी सद्रूप ही है ।

तात्पर्य यह है कि पुद्गलका जो कर्मरूप परिणमन होता है वह पुद्गलका ही परिणमन है, क्योंकि पुद्गल ही अपनी कार्यरूप परिणत होनेकी स्वतःसिद्ध स्वाभाविक योग्यताके अनुसार कर्मरूपसे परिणत होता है और यही कारण है कि वह स्वरूप होनेसे निश्चयनयका विषय है । परन्तु पुद्गलका वह कर्मरूप परिणमन निमित्तभूत जीवके सहयोगसे ही होता है, जीवके सहयोगके बिना अपने आप कदापि नहीं होता । इसलिये पुद्गलका कर्मरूप परिणमन जीवके सहयोगाश्रित होनेसे वह व्यवहारनयका विषय है, निश्चयनयका नहीं । इस तरह निश्चय और व्यवहारनयोंकी परस्पर सापेक्षता सिद्ध होनेसे उत्तरपक्षके उक्त वक्तव्यका "निश्चयनयसे देखा जाये" यहाँसे लेकर "यतः यह कथन वस्तुस्वरूपको उद्घाटन करनेवाला न होकर उसे आच्छादित करने वाला है, अतः वास्तविक नहीं है, कथन मात्र है ।" यहाँ तकका सम्पूर्ण कथन ऐकान्तिक होनेसे मिथ्या है ।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षके उक्त वक्तव्यका "परमागममें निश्चयको प्रतिषेधक और व्यवहारनयको प्रतिषेध्य क्यों बतलाया गया है ? यह इससे स्पष्ट हो जाता है ।" यह कथन भी एकान्तदृष्टिपरक होनेसे मिथ्या है । पूर्वमें भी मैं स्पष्ट कर चुका हूँ कि व्यवहारनय निश्चयनयका इसलिये प्रतिषेध्य नहीं है कि वह सर्वथा असद्रूप पदार्थको विषय करता है अपितु इसलिये प्रतिषेध्य है कि व्यवहारनयका विषय सद्रूप होकर भी निश्चयनयका विषय जिस रूपसे सद्रूप है उस रूपमें सद्रूप न होकर उससे पृथक् रूपमें ही सद्रूप है । जैसे

निश्चयनयका विषयभूत स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाश्रित अस्तित्व वस्तुका वस्तुत्व है उसी प्रकार व्यवहारनयका विषयभूत परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाश्रित नास्तित्व भी वस्तुका वस्तुत्व है। अर्थात् जिस प्रकार वस्तुके वस्तुत्वकी सिद्धिके लिए स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाश्रित अस्तित्व धर्म वस्तुमें स्वीकृत करना आवश्यक है उसी प्रकार उसकी सिद्धिके लिए परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाश्रित नास्तित्व धर्म भी वस्तुमें स्वीकृत करना आवश्यक है, क्योंकि यदि वस्तुमें निश्चयनयाश्रित उक्त अस्तित्व धर्मके साथ व्यवहारनयाश्रित उक्त नास्तित्व धर्मको स्वीकार न किया जाये तो विश्वकी सभी वस्तुओंमें अद्वैतपनेकी प्रसक्ति हो जायेगी, जो दोनों पक्षोंको इष्ट नहीं है। इसलिये उत्तरपक्षका वस्तुके व्यवहार धर्मको आकाशकुसुमकी तरह काल्पनिक अवास्तविक, कथनमात्र, मानना युक्त नहीं है।

कथन ९१ और उसकी समीक्षा

(९१) इसी तरह उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७२ पर ही "व्यवहारनय असत् पक्षको कहने वाला है" कहते हुए उसके समर्थनमें वहींपर लिखा है कि "वह अन्य द्रव्यके धर्मको अन्यका कहता है" तथा इसकी पुष्टि उसने वहींपर समयसारकी गाथा ५६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका और पं० टोडरमलजीके मोक्ष-मार्ग प्रकाशकके पृष्ठ २८७ तथा पृष्ठ ३६९ पर निर्दिष्ट कथनोंके उद्धरणों द्वारा की है।

इस संबंधमें प्रथम तो यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "व्यवहारनय असत् पक्षको कहने वाला है" उसका निराकरण करते हुए मैंने पूर्वमें स्पष्ट किया है कि व्यवहारनयका विषय भी निश्चयनयके विषयकी तरह अपने ढंगसे वास्तविक ही है। वह आकाशकुसुमकी तरह सर्वथा असत् नहीं है। इतना ही है कि व्यवहारनयका विषय निश्चयनयके विषयके समान सद्रूप नहीं है। दूसरी बात यह कहना चाहता हूँ कि अपने कथनके समर्थनमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "वह अन्य द्रव्यके धर्मको अन्यका कहता है" सो इससे उसके उक्त कथनका समर्थन नहीं होता, क्योंकि उसके द्वारा उद्धृत समयसार गाथा ५६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका और पं० टोडरमलजीके मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० २८७ व २६९ के वचनोंसे यही आशय प्रकट होता है कि व्यवहारनय निश्चयनयकी तरह स्वाश्रितरूपमें यथार्थ अर्थको ग्रहण न करके पराश्रित रूपमें अयथार्थ अर्थात् उपचरित अर्थको ही ग्रहण करता है, जिस पराश्रित रूपको आगममें आकाश-कुसुमकी तरह सर्वथा असत् न माना जाकर अपने ढंगसे सद्रूप ही माना गया है। इस तरह उत्तरपक्षका "व्यवहारनय असत् पक्षको कहने वाला है" यह कथन आगमके अभिप्रायके विरुद्ध ही सिद्ध होता है।

कथन ९२ और उसकी समीक्षा

(९२) उत्तरपक्षने आगे त० च० पृ० ७३ पर अपने कथनका निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है कि "इस प्रकार इतने विवेचन द्वारा यह सुगमतासे समझमें आ जाता है कि समयसारकी उक्त गाथाओं द्वारा पुद्गल द्रव्यके स्वतः सिद्ध परिणामस्वभावका ही कथन किया गया है। जबकि पुद्गल द्रव्य परकी अपेक्षा किये बिना स्वभावसे स्वयं परिणामी स्वभाव है ऐसी अवस्थामें वह परसापेक्ष परिणामी स्वभाव है इसका निषेध ही होता है, समर्थन नहीं। यह बात इतनी स्पष्ट है जितना कि सूर्यका प्रकाश।"

इसकी समीक्षामें मेरा कहना है कि उत्तरपक्षके 'समयसारकी उक्त गाथाओं द्वारा पुद्गल द्रव्यके स्वतःसिद्ध परिणाम स्वभावका ही कथन किया गया है।' इस कथनका निषेध पूर्वपक्षने नहीं किया है। यह तो पूर्वपक्षकी ही मान्यता है। उसका निषेध तो उत्तरपक्षके इस कथनसे होता है कि 'पुद्गल द्रव्य परकी

अपेक्षा किये बिना स्वभावसे स्वयं परिणामी स्वभाव है।' क्योंकि 'पुद्‌गलका परिणामी स्वभाव स्वतः सिद्ध है' और 'पुद्‌गल द्रव्य स्वयं परिणामी स्वभाव है' इन दोनोंके अभिप्रायमें अन्तर है। पहले कथनका अभिप्राय यह है कि पुद्‌गलका कर्मरूप परिणमन उसके स्वतः सिद्ध परिणामी स्वभावके आधारपर तो होता है, परन्तु जीवकी रागादि परिणतिका सहयोग मिलनेपर होता है, जब कि दूसरे कथनका यह अभिप्राय है कि पुद्‌गलका कर्मरूप परिणमन उसके स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभावके आधारपर जीवकी रागादि परिणतिके सहयोगके बिना अपने आप होता है। इनमेंसे पहला कथन ही आगम सम्मत है, दूसरा कथन आगम विरुद्ध है। इसे पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

इस विवेचनसे उत्तर पक्षका त० च० पृ० ७३ पर निर्दिष्ट यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि 'इस प्रकार उक्त विवेचनसे एकमात्र यही सिद्ध होता है कि पुद्‌गल स्वयं परिणामी स्वभाव है' और ऐसी अवस्थामें उसका यह फलितार्थ भी निरस्त हो जाता है कि 'अपरपक्षने अपने तर्कोंके आधारपर उक्त गाथाओंका जो अर्थ किया है वह ठीक नहीं है।'

कथन ९३ और उसकी समीक्षा

(९३) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७३-७४ पर ही अपने उक्त वक्तव्यके आगे यह कथन किया है कि "वैसे तो यहांपर उक्त गाथाओंका अर्थ देनेकी आवश्यकता नहीं थी। किन्तु अपरपक्षने जब उनका अपनी मतिसे कल्पित अर्थ अपनी प्रस्तुत प्रतिशंकामें दिया है ऐसी अवस्थामें यहाँ सही अर्थ दे देना आवश्यक है"। और इसके आगे उसने उक्त गाथाओंका जो सही अर्थ समझा है वह भी लिखा है जो निम्न प्रकार है—

"यदि वह पुद्‌गल द्रव्य जीवमें स्वयं नहीं बन्धा और कर्मभावसे स्वयं नहीं परिणमता तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है। ऐसी अवस्थामें कर्म वर्गणाओंके कर्मरूपसे स्वयं नहीं परिणमनेपर संसारका अभाव प्राप्त होता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है। यदि यह माना जाये कि जीव पुद्‌गल द्रव्योंको कर्मरूपसे परिणमाता है, तो (प्रश्न होता है कि) स्वयं नहीं परिणमते हुए उन पुद्‌गल द्रव्योंको चेतन आत्मा कैसे परिणमा सकता है। इसलिये यदि यह माना जाये कि पुद्‌गल द्रव्य अपने आप ही कर्मरूपसे परिणमता है तो जीव कर्म अर्थात् पुद्‌गल द्रव्यको कर्मरूपसे परिणमाता है यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिये जैसे नियमसे कर्मरूप परिणत पुद्‌गल द्रव्य कर्म ही है वैसे ही ज्ञानावरणादि रूप परिणत पुद्‌गल द्रव्य ज्ञानावरणादि ही है ऐसा जानो"। (११६-१२०)

इसकी समीक्षामें प्रथम बात तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्ष "पुद्‌गल द्रव्य स्वयं परिणामी स्वभाव है" ऐसा मानकर इसका आशय 'स्वयं' पदका 'अपने आप' अर्थ करके यह लेना चाहता है कि पुद्‌गल द्रव्यका स्वभाव अपने आप अर्थात् निमित्तभूत जीवके सहयोगके बिना परिणमन करनेका है और पूर्वपक्ष "पुद्‌गल द्रव्य स्वयं परिणामी स्वभाव है" ऐसा मानकर इसका आशय "स्वयं" पदका "अपने रूप" अर्थ करके यह लेना चाहता है कि पुद्‌गल द्रव्यका स्वभाव अपने रूप अर्थात् परिणमन करनेकी स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप परिणमन करनेका है। इस तरह पुद्‌गल द्रव्य स्वयं परिणामी स्वभाव है इस आगमवाक्यका दोनों पक्षों द्वारा अपने-अपने ढंगसे परस्पर भिन्न आशय स्वीकार किये जानेके आधारपर यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि दोनों ही पक्ष यह मानते हैं कि कर्मरूप परिणमन पुद्‌गलका ही होता है या पुद्‌गल ही कर्मरूप परिणत होता है। परन्तु जहाँ पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार पुद्‌गलका वह कर्मरूप परिणमन उसमें विद्यमान

कर्मरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताके अनुसार होनेपर भी निमित्तभूत जीवके सहयोगसे होता है वहाँ उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार पुद्गलका वह कर्मरूप परिणमन उसमें विद्यमान कर्मरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताके अनुसार होनेके कारण अपने आप अर्थात् निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना ही होता है। इस तरह जहाँ पूर्वपक्षकी मान्यतामें पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें निमित्तभूत जीव सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी सिद्ध होता है वहाँ उत्तरपक्षकी मान्यतामें पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें निमित्तभूत जीव सहायक न होनेके आधारपर अकिंचित्कर सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत समयसारकी ११६ से १२० तक की गाथाओंके उक्त अर्थके विषयमें मैं दूसरी बात यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्ष द्वारा किये गये उक्त अर्थके विषयमें पूर्वपक्षको सामान्यतः कोई विवाद नहीं है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि पूर्वपक्ष उसमें विद्यमान "स्वयं" पदका "अपने रूप" अर्थ करके यह सिद्ध करना चाहता है कि पुद्गलमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विद्यमान है, इसलिये उसका वह परिणमन निमित्तभूत जीवका सहयोग होनेपर ही पुद्गलकी उस शक्तिके अनुरूप होता है और उत्तरपक्ष उसमें विद्यमान "स्वयं" पदका "अपने आप" अर्थ करके यह सिद्ध करना चाहता है कि पुद्गलमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विद्यमान है इसलिये उस शक्तिके आधारपर होने वाला उसका वह परिणमन निमित्तभूत जीवके सहयोगके विना ही होता है।

पूर्वमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उक्त गाथाओंके लिखनेमें आचार्य कुन्दकुन्दकी और उनकी टीका करनेमें आचार्य अमृतचन्द्रकी जो दृष्टि रही है उसे समझनेका पूर्वपक्षने तो प्रयास किया है इसलिये उसका कथन आगमानुकूल है। पर उत्तरपक्षने उसे समझनेका प्रयास ही नहीं किया है। केवल अपने पूर्वाग्रह-वश ही उसने वह कथन किया, अतः उसका कथन आगमानुकूल नहीं है। तत्वजिज्ञासुओंको इसपर विचार करना चाहिए।

कथन ९४ और उसकी समीक्षा

(९४) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७४ पर समयसार ११६ से १२० तक की गाथाओंका अर्थ करनेके अनन्तर यह कथन किया है—"इस प्रकार इस अर्थपर दृष्टिपात करनेसे ये दो तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—प्रथम तो यह कि अपरपक्षने उक्त गाथाओंका जो अर्थ किया है वह उन गाथाओंकी शब्दयोजनासे फलित नहीं होता। दूसरे इन गाथाओंमें आये हुए "स्वयं" पदका जो मात्र "अपने रूप" अर्थ किया है वह ऐकान्तिक होनेसे ग्राह्य नहीं है। कर्त्ताके अर्थमें उसका अर्थ "स्वयं ही" या "आप ही" कुछ करना संगत है और यह बात आगम विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य आप कर्त्ता होकर अपने परिणामको उत्पन्न करता है"। इसकी समीक्षा निम्नप्रकार है—

उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यमें जो यह कथन किया है कि "अपरपक्षने उक्त गाथाओंका जो यह अर्थ किया है उन गाथाओंकी शब्दयोजनासे फलित नहीं होता"। सो उसके सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्ष इस कथनके पूर्व यदि पूर्वपक्षके उस कथित अर्थका भी निर्देश कर देता जिसको लक्ष्यमें लेकर उसने यह कथन किया है तो उत्तम होता, क्योंकि वास्तविकता यह है कि उक्त गाथाओंका पूर्वपक्ष भी वही अर्थ मान्य करता है जिसे उत्तरपक्षने सही मानकर त० च० पृ० ७३-७४ पर निर्दिष्ट किया है। उस अर्थके विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य केवल यह मतभेद है कि जहाँ उत्तरपक्ष उस अर्थमें "स्वयं" पदका "स्वयं ही" या "आप ही" अर्थ स्वीकृत करके उसका यह आशय ग्रहण करता है कि पुद्गलका कर्मरूप परिणमन उसके

अपने परिणमन स्वभावके आधारपर होता हुआ निमित्तभूत जीवकी सहायताके बिना ही हुआ करता है। वहाँ पूर्वपक्ष "स्वयं" पदका "स्वयं ही" या "आप ही" अर्थ स्वीकृत करके उसका यह आशय ग्रहण करता है कि पुद्गल द्रव्यका कार्यरूप परिणमन उसके अपने परिणमन स्वभावके आधारपर होता हुआ भी निमित्तभूत जीवकी सहायतासे हुआ करता है। इनमेंसे पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत आशय ही आचार्य कुन्द-कुन्द और आचार्य अमृतचंद्रके अभिप्रायके अनुकूल है, उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत आशय आचार्य कुन्दकुन्दके और आचार्य अमृतचंद्रके अभिप्रायके अनुकूल नहीं है।

उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यमें जो यह कथन किया है कि "उन गाथाओंमें आये हुए "स्वयं" पदका जो मात्र "अपने रूप" अर्थ किया है वह ऐकान्तिक होनेसे ग्राह्य नहीं है" सो इसके संबंधमें भी मेरा यह कहना है कि "स्वयं" पदका "अपने रूप" अर्थ कैसे ऐकान्तिक है और उस कारणसे वह क्यों ग्राह्य नहीं है? इस विषयपर भी उत्तरपक्षको प्रकाश डालना चाहिए था। मैं "स्वयं" पदके "अपने रूप" अर्थकी संगति और "अपने आप" अर्थकी विसंगतिके विषयमें पूर्वमें ही विस्तारसे प्रकाश डाल चुका हूँ।

कथन ९५ और उसकी समीक्षा

(९५) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७४ पर आगे "स्वयं" पदके अर्थके विषयमें यह कथन किया है—"कर्त्ताके अर्थमें उसका अर्थ "स्वयं ही" या "आप ही" कुछ करना संगत है और यह आगम विरूद्ध भी नहीं है"। इसके विषयमें मेरा कहना यह है कि यह बात तो निर्विवाद है। परन्तु अपने इस कथनके समर्थनमें उसने (उत्तरपक्षने) आगे जो यह कथन किया है कि निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य आप कर्त्ता होकर अपने परि-णामको उत्पन्न करता है" सो यह विवादग्रस्त है, क्योंकि उत्तरपक्ष जब निश्चयनयके विषयको व्यवहारनय निरपेक्ष ही मान्य करता है तो ऐसी हालतमें निश्चयनय नय न रहकर मिथ्यापनका रूप धारण कर लेता है—इस विषयपर भी मैं पूर्वमें विस्तारसे प्रकाश डाल चुका हूँ।

कथन ९६ और उसकी समीक्षा

(९६) उत्तरपक्षने आगे अपने "कर्त्ताके अर्थमें उसका अर्थ "स्वयं ही" या "आप ही" करना संगत है" इस कथनके समर्थनमें जो समयसार गाथा १०२ तथा हरिवंशपुराण सर्ग ५८ के श्लोक ३३ और ३४को उद्धृत किया है। सो उत्तरपक्ष इस सम्बन्धमें पूर्वपक्षके दृष्टिकोणपर ध्यान देनेका प्रयत्न करता तो यह सब लिखनेकी उसे आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

मेरे द्वारा "स्वयं" पदको लेकर किये गये इस सम्पूर्ण विवेचनका अभिप्राय यह है कि "स्वयं" पदके अर्थके विषयमें जो कथन पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चामें किया है उसपर उत्तरपक्ष द्वारा ध्यान न दिये जानेका ही यह परिणाम है कि उसने उपर्युक्त निरर्थक और आगमके विपरीत प्रतिपादन किया है। तत्त्वजिज्ञासुओंको इसपर विचार करनेकी आवश्यकता है।

कथन ९७ और उसकी समीक्षा

(९७) आगे त० च० पृ० ७४-७५ पर उत्तरपक्षने यह कथन किया है—"इससे प्रकृतमें "स्वयं" पदका क्या अर्थ होना चाहिए यह स्पष्ट हो जाता है"। तथा इसके अनन्तर उसने यह कथन भी किया है कि "यहां अपरपक्षने "स्वयं" पदके "अपने आप" अर्थ का विरोध दिखलानेके लिए जो प्रमाण दिये हैं उनके विषयमें तो हमें विशेष कुछ नहीं कहना है, किन्तु यहाँ हम इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि

एक तो प्रस्तुत प्रश्नके प्रथम व दूसरे उत्तरमें हमने "स्वयमेव" पदका अर्थ "अपने आप" न करके "स्वयं ही" किया है। इस पदका "अपने आप" यह अर्थ अपरपक्षने हमारे कथनके रूपमें प्रस्तुत प्रश्नकी दूसरी प्रतिशंका में मानकर टीका करनी प्रारम्भ कर दी है जो युक्त नहीं। हमने इसका विरोध इसलिये नहीं किया कि निश्चय कर्ताके अर्थमें "स्वयमेव" पदका यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं। ऐसी अवस्थामें "अपने आप" पदका अर्थ होगा "परकी सहायताके बिना आप कर्त्ता होकर"। आशय इतना ही है कि जिसकी क्रिया अपनेमें हो कार्य अपनेमें हो वह दूसरेकी सहायता लिये बिना अपने कार्यका आप कर्त्ता होता है। अन्य पदार्थ नहीं"।

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि यद्यपि उत्तरपक्षने प्रकृतमें "स्वयं" पदका "स्वयं ही" अर्थ किया है, परन्तु वह उसका "अपने आप" के रूपमें ही आशय लेना चाहता था। यह बात उसीके "हमने इसका विरोध इसलिये नहीं किया कि निश्चयकर्त्ताके अर्थमें "स्वयमेव" पदका यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है" इस कथनसे जानी जाती है और इस बातको ध्यानमें रखकर ही पूर्वपक्षने अपने कथनमें "स्वयमेव" पदका उत्तरपक्षकी ओरसे "अपने आप" अर्थ मानकर उसकी टीका की है, इसलिये उसने जो पूर्वपक्षके कथनको अयुक्त कहा है उसका यह कथन ही अयुक्त है। दूसरी बात यह है कि यदि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षकी उस टीकाको अयुक्त समझता था तो उसे वहींपर उसका विरोध करना चाहिये था और वहींपर उसे "स्वयं" पदके "स्वयं ही" अर्थका स्पष्टीकरण भी कर देना चाहिये था। यतः उत्तरपक्षने वहाँ पर न तो पूर्वपक्षके कथनका विरोध किया है और न "स्वयं" पदके "स्वयं ही" अर्थका स्पष्टीकरण ही किया है अतः मालूम होता है कि "स्वयं" पदका "स्वयं ही" अर्थ करनेमें उसने छलसे काम लेना चाहा है। इस तरह मेरा कहना है कि उत्तरपक्षका यह प्रयत्न तत्त्व फलित करने की दृष्टिसे उचित नहीं है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें जो यह कहा है कि "हमने इसका विरोध इसलिये नहीं किया कि निश्चयकर्त्ताके अर्थमें "स्वयमेव" पदका यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं। ऐसी अवस्थामें "अपने आप" पदका अर्थ होगा "परकी सहायता के बिना आप कर्त्ता होकर", उत्तरपक्षने अपने इस कथन के स्पष्टीकरणके रूपमें आगे यह भी कहा है कि "आशय इतना ही है कि जिसकी क्रिया अपनेमें हो, कार्य भी अपनेमें हो वह दूसरे की सहायता लिये बिना अपने कार्यका कर्त्ता होता है अन्य पदार्थ नहीं" सो इसके विषयमें मेरा कहना है कि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य विवाद भी इसी बातका रहा है कि जहाँ उत्तरपक्ष मानता है कि जिसकी क्रिया अपनेमें हो कार्य भी अपनेमें हो वह दूसरेकी सहायताके बिना अपने कार्यका कर्त्ता होता है, जबकि पूर्वपक्ष मानता है कि जिसकी क्रिया अपनेमें हो, कार्य भी अपनेमें हो वह दूसरेकी सहायतासे अपने कार्यका कर्त्ता होता है। और इस विवादको समाप्त करनेकी दृष्टिसे ही तत्त्वचर्चामें प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया गया था, लेकिन यह स्पष्ट है कि वह विवाद तत्वचर्चासे समाप्त नहीं हो सका, अतएव तत्वचर्चाकी इस समीक्षाको लिखनेकी ओर ध्यान देना पड़ा है। आशा है इससे दोनों पक्षोंके मध्य उक्त विवाद समाप्त हो जायेगा और यदि उक्त विवाद समाप्त न भी हो तो भी तत्वजिज्ञासुओंको तत्वका निर्णय करनेमें इस समीक्षासे मार्गदर्शन अवश्य ही प्राप्त होगा।

कथन ९८ और उसकी समीक्षा

(९८) अन्तमें प्रकृत विषयका समापन करते हुए उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७५ पर यह कथन किया है—"इस प्रकार प्रवचनसार गाथा १६९ की टीका में "स्वयमेव" पदका क्या अर्थ लेना चाहिये इसका

खुलासा किया। अन्यत्र जहाँ-जहाँ कार्यकारणभावके प्रसंगमें यह पद आया है वहाँ-वहाँ इस पदका अर्थ करनेमें यही स्पष्टीकरण जानना चाहिये। यदि और गहराईसे विचार किया जाये तो यह पद निश्चयकर्त्ताके अर्थ में तो प्रयुक्त हुआ ही है इसके सिवाय इस पदसे अन्य निश्चय कारकोंका भी ग्रहण हो जाता है"।

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि कार्यकारणभावके प्रसंगमें दोनों पक्षोंके मध्य पूर्वोक्त प्रकार विवादका विषय "स्वयमेव" पदका "स्वयं ही" या "आप ही" अर्थ करना नहीं है और न ही यह विवादका विषय है कि इस पदका प्रयोग निश्चयकर्त्ता आदि सभी कारकोंके अर्थमें होता है। पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ विवादका विषय यह है कि उत्तरपक्ष कार्यकारणभावके प्रसंगमें आये हुए "स्वयं" पदके आधारपर यह मान्य करता है कि उपादानमें कार्यकी उत्पत्ति अपने आप अर्थात् निमित्तभूत जीवकी सहायताके बिना ही होती है। इसकी पुष्टि उत्तरपक्षके त० च० पृ० ७४-७५ पर निर्दिष्ट "यहाँ अपरपक्षने 'स्वयं' पदके 'अपने आप' अर्थका विरोध दिखलानेके लिए जो प्रमाण दिये हैं" इत्यादि वक्तव्यके अंशभूत "इस पदका 'अपने आप' यह अर्थ अपरपक्षने हमारे कथनके रूपमें प्रस्तुत प्रश्नकी दूसरी प्रतिशंका में मानकर टीका करनी प्रारम्भ कर दी है जो युक्त नहीं है। हमने इसका विरोध इसलिये नहीं किया कि निश्चयकर्त्ताके अर्थमें 'स्वयमेव' पदका यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है" इत्यादि कथनसे होती है। पूर्वपक्षको इस विषयमें विवाद इसलिये है कि वह (पूर्वपक्ष) कार्यकारणभावके प्रसंगमें आये हुए 'स्वयं' पदके आधारपर यह मान्य करता है कि उपादानमें कार्यकी उत्पत्ति निमित्तकारणभूत बाह्य वस्तुकी सहायतासे ही होती है, परन्तु वह कार्य निमित्तभूत बाह्य वस्तुरूप न होकर उपादानके अपने रूप अर्थात् उपादानगत कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप ही होता है। प्रकृतमें भी उत्तरपक्ष कर्मरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट पुद्गलके कर्मरूप परिणमनको 'स्वयं' पदके आधारपर अपने आप अर्थात् निमित्तभूत जीवकी सहायताके बिना मान्य करता है जो पूर्वपक्षको विवादका विषय है, क्योंकि पूर्वपक्ष ऐसा न मानकर स्वयं पदके आधार पर ही ऐसा मानता है कि कर्मरूप परिणत होनेकी स्वभाविक योग्यता विशिष्ट पुद्गलकी कर्मरूप परिणति निमित्तभूत जीवकी सहायतासे ही होती है, परन्तु वह जीवरूप न होकर पुद्गलके अपने रूप अर्थात् पुद्गलकी अपनी कर्मरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप ही होती है।

कथन ९९ और उसकी समीक्षा

(९९) त० च० पृ० ७५ पर हो उत्तरपक्षने "आगे अपरपक्षने 'उपचार' पदके अर्थके विषयमें निर्देश करते हुए धवल पुस्तक ६ पृ० ११ के आधारसे जो उस पदके 'अन्यके धर्मको अन्यमें आरोपित करना उपचार है' इस अर्थको स्वीकार कर लिया है वह उचित ही किया है"—इत्यादि अनुच्छेद लिखा है उसकी समीक्षा करनेसे पूर्व मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने प्रतिशंका दो का समाधान करते हुए त० च० पृ० १० पर उद्धृत धवल पुस्तक ६ पृ० ११ के 'मुह्यत इति मोहनीयम्' इस वचनका जो 'जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है' यह अर्थ किया है गलत है। उसका सही अर्थ 'जो मोहित किया जाता है या जो मोहित होता है वह मोहनीय है' यही है। इसे मैं प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ। उस गलतीके आधारपर उत्तरपक्षने दूसरी गलती यह की है कि वह त० च० पृ० ७५ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त अनुच्छेदमें आगे यह कथन भी गलत कर गया है कि 'धवल पु० ६ पृ० ११ में जीवके कर्तृत्व धर्मका उपचार जीवसे अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) मोहनीय द्रव्य कर्ममें करके जीवको मोहनीय कहा गया है।' इसमें गलतपना यह है कि उत्तरपक्षने उपचार तो जीवके कर्तृत्व धर्मका

मोहनीय द्रव्यकर्ममें किया है, परन्तु उस उपचारके आधार पर उसे (उत्तरपक्षको) जहाँ मोहनीय द्रव्यकर्मको मोहनीय कहना था वहाँ वह जीवको मोहनीय कह गया है। इस तरह यहाँ उसने उपचारकी गलत प्रक्रियाको अपना लिया है। पूर्वपक्षने प्रकृत प्रश्नोत्तरके तृतीय दौरमें त० च० पृ० ३१ पर जो यह लिखा है कि 'आत्माके कर्तृत्वका उपचार यदि द्रव्यकर्ममें आप करेंगे तो इस उपचारके लिये सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजनको देखना होगा, जिनका कि यहाँ पर सर्वथा अभाव है, यह उसने उत्तरपक्षके उस उपचारकी गलत प्रक्रियाको स्वीकार करनेके कारण लिखा है। इसलिये मैं उत्तरपक्षसे यह कहना चाहूँगा कि जिस प्रकार वह समयसार गाथा १०५ में कर्मरूप परिणतिकी कर्तृभूत कर्मवर्गणाओंके कर्तृत्व धर्मका उपचार उसमें निमित्तभूत जीवमें करके जीवको उपचारसे कर्त्ता स्वीकार करता है उसी प्रकार उसे (उत्तरपक्षको) धवल पु० ६ पृ० ११ के वचनमें भी जीवके कर्तृत्व धर्मका उपचार एक क्षेत्रावगाही मोहनीय द्रव्यकर्ममें स्वीकृत करनेके आधारपर मोहनीयद्रव्यकर्मके ही उपचारसे मोहनीय कहना चाहिये। उत्तरपक्षसे मेरा एक यह भी अनुरोध है कि उसने अपने विवेचनोंमें आलापपद्धतिके 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते' इस वचनका गलत अभिप्राय प्रकट किया है, अतः गम्भीरताके साथ विचार कर उसमें भी सुधार कर लेना चाहिये।

विषयका उपसंहार

खानिया तत्त्वचर्चाके प्रथम प्रश्नोत्तरकी इस समीक्षासे यह अच्छी तरह स्पष्ट होता है कि दोनों पक्षोंके मध्य प्रकृत विषयके सम्बन्धमें अन्य कोई विवाद न होकर केवल निम्न विवाद ही थे—

(१) जहाँ पूर्वपक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक होने रूपसे कार्यकारी निमित्त कारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष संसारी आत्माके उस विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायक न होने रूपसे अकिंचित्कर निमित्त कारण मानता है।

(२) जहाँ पूर्वपक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको उस कार्यरूप परिणत न होकर उसमें सहायक मात्र होनेके आधारपर यथार्थ कारण और उपचरितकर्ता मानता है वहाँ उत्तरपक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको उस कार्यरूप परिणति न होने और उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर अयथार्थ कारण और उपचरिकर्त्ता मानता है।

(३) जहाँ पूर्वपक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अभूतार्थ कारण और उस कार्यमें सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ कारण मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ उत्तरपक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चर्तुगति प्रमाणमें द्रव्यकर्मके उदयको उस कार्यरूप परिणत न होने और उसमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अभूतार्थ मानकर व्यवहार नयका विषय मानता है।

उत्तरपक्षको अपने उत्तरमें प्रश्नके इन विषयों पर ही विचार करना था। परन्तु उसने इनकी उपेक्षा करके अप्रकृत और निर्विवाद विषयोंको विवादका विषय बनाकर उनके खण्डनमें ही अपनी शक्तिका अधिकतम उपयोग किया है। यद्यपि पूर्वपक्षने यथास्थान उत्तरपक्षको इसका स्मरण करानेका भी प्रयत्न किया है, परन्तु उत्तरपक्षने उसपर ध्यान न देकर अन्त तक अपनी प्रारब्ध प्रक्रियाको नहीं छोड़ा है। अतएव इस समीक्षामें मैंने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके दृष्टिकोणों और मान्यताओंका विस्तारसे स्पष्टीकरण करते हुए सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेका प्रयत्न किया है। आशा ही नहीं विश्वास भी है कि इससे तत्त्वजिज्ञासुओंको प्रकृत प्रश्नपर सैद्धान्तिक निर्णय करनेमें सरलता होगी। इति

१. प्रश्नोत्तर २ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ? त० च० पृ० ७६।

उत्तरपक्षका उत्तर—जीवित शरीरकी क्रिया पुद्‌गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है। त० च० पृ० ७६।

प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षका अभिप्राय

पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म मानता है। यतः उत्तरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं है, अतः उसने उत्तरपक्षके समक्ष प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया था।

जीवित शरीरकी क्रियासे पूर्वपक्षका आशय

जीवित शरीरकी क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक तो जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया और दूसरी शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया। इन दोनोंमेंसे प्रकृतमें पूर्वपक्षको शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया ही विवक्षित है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया विवक्षित नहीं है। इसका कारण यह है कि धर्म और अधर्म ये दोनों जीवकी ही परिणतियां हैं और उनके सुख-दुःख रूप फलका भोक्ता भी जीव ही होता है। अतः जिस जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म होते हैं उसका कर्त्ता जीवको मानना ही युक्तिसंगत है, शरीरको नहीं।

उत्तरपक्षके उत्तरपर विमर्श

उत्तरपक्षने प्रश्नका जो उत्तर दिया है उससे उत्तरपक्षकी यह मान्यता ज्ञात होती है कि वह जीवित शरीरकी क्रियाको मात्र पुद्‌गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करके उससे आत्मामें धर्म और अधर्म होनेका निषेध करता है। उत्तरपक्षकी इस मान्यतामें पूर्वपक्षको जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा तो कुछ विरोध नहीं है, परन्तु आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति पूर्वपक्ष द्वारा कारण रूपसे स्वीकृत शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाकी अपेक्षा विरोध है। यदि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षको मान्य शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया रूप जीवित शरीरकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसको पुद्‌गल द्रव्यकी पर्याय मानकर अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत करे तथा उससे आत्मामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति न माने तो उसकी इस मान्यतासे पूर्वपक्ष सहमत नहीं है, क्योंकि चरणानुयोगका समस्त प्रतिपादन इस बातकी पुष्टि करता है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया जीवित शरीरकी क्रिया है और पुद्‌गल द्रव्यकी पर्याय न होनेसे अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत न होकर जीवकी पर्याय होनेसे जीव तत्त्वमें अन्तर्भूत होती है तथा उससे आत्मामें धर्म और अधर्म उत्पन्न होते हैं।

उत्तरपक्षके समक्ष एक विचारणीय प्रश्न

उत्तरपक्ष यदि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसे पुद्‌गल द्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करे तथा उसको आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण न माने तो उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिका आधार क्या है? किन्तु पूर्वपक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता, क्योंकि वह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण रूपसे आधार मानता है।

यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिमें आत्माका पुरुषार्थ कारण है, तो वह पुरुषार्थ शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे भिन्न नहीं है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा। इसके

अलावा यदि वह यह कहे कि आत्मामें धर्म और अधर्म आत्माकी कार्यव्यवहितपूर्वक्षणवर्त्ती पर्यायरूप नियतिके अनुसार होते हैं तो इस प्रकारकी नियतिका निर्माण आत्माकी नित्य उपादान शक्ति (स्वाभाविक योग्यता) के आधारपर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप आत्मपुरुषार्थके बलपर ही होता है। इसका विशेष कथन प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें किया जा चुका है और आगे भी प्रकरणानुसार किया जायेगा।

प्रकृत विषयके संबन्धमें कतिपय आधारभूत सिद्धांत

(१) धर्म और अधर्म दोनों जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन हैं और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रिया उसकी (जीवकी) क्रियावती शक्तिका परिणमन है। और जीवकी क्रियावती शक्तिका यह प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियापरिणाम ही उसकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप धर्म और अधर्म में कारण होता है।

(२) प्रकृतमें 'जीवित शरीर' पदके अन्तर्गत 'शरीर' शब्दसे शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन (बोलनेका स्थान मुख) और शरीर इन तीनोंका ग्रहण विवक्षित है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप धर्म और अधर्ममें जीवकी क्रियावती शक्तिका प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप जो क्रियारूप परिणाम कारण होता है वह शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन (मुख) और शरीर इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके सहयोगसे अलग-अलग प्रकारका होता है तथा जीवकी क्रियावती शक्तिका वह क्रियापरिणाम यदि बाह्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन अधर्म रूप होता है और यदि उसी क्रियावती शक्तिका वह क्रिया परिणमन बाह्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन धर्मरूप होता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

जीव द्रव्यमनके सहयोणसे शुभ-अशुभ संकल्पके रूपमें प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिंसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है, वचन (मुख) के सहयोगसे शुभ-अशुभ बोलनेके रूपमें प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है और शरीरके सहयोगसे शुभ-अशुभ हलन-चलनके रूपमें प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है। द्रव्यमन, वचन और शरीरके सहयोगसे होनेवाला जीवका उक्त शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापारका अपर नाम आत्म-पुरुषार्थ है और इसे ही जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनके रूपमें जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रिया कहते हैं।

(३) जीवका संसार, शरीर और भोगोंके प्रति अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, भोग और संग्रह रूप पांच पापोंके प्रति उक्त प्रकारका मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्म-व्यापार अशुभ कहलाता है व उसका देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, अणुव्रत, महाव्रत, समिति आदिके प्रति मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापार शुभ कहलाता है। तथा उसका इन मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापारोंसे मनोगुत्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप शुद्ध आत्मव्यापार होता है।

(४) शरीरके अंग-भूत द्रव्य मन, वचन और शरीरके सहयोगसे होनेवाले उक्त तीनों प्रकारके आत्म-व्यापारोंमेंसे शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप दोनों प्रकारके आत्मव्यापारोंसे जीव यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंका बन्ध करता है व उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप आत्मव्यापारोंसे जीव उन कर्मोंका संवर और निर्जरण करता है। इस तरह बद्धकर्मोंके उदयसे जीवमें भाव-

वती शक्तिके विभाव परिणामके रूपमें अधर्मभाव प्रगट होता है तथा बंधनेवाले कर्मोंके बन्धमें रुकावटरूप संवर और बद्ध कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप निर्जरणसे जीवमें भाववती शक्तिके स्वभावपरिणमनके रूपमें धर्मभाव प्रगट होता है।

यहांपर यह ज्ञातव्य है कि जब तक प्रथम गुणस्थानमें विद्यमान जीव केवल अशुभ प्रवृत्ति करता है तब तक वह यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करता है। तथा प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमें विद्यमान जीव जो अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करते हैं वे भी यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करते हैं। इतना ही नहीं, यदि कदाचित् कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करने लगा हो तो वह भी कर्मोंका बन्ध ही करता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव कदाचित् आसक्तिवश होनेवाली अशुभ-प्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर देता है तथा यथावश्यक या किंचित् अनिवार्य अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ प्रधानतया शुभ प्रवृत्ति करने लगता है तो वह भी कर्मोंका बन्ध ही करता है। लेकिन कोई बिरला मिथ्यादृष्टि भव्य जीव या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागके आधारसे करणलब्धिके रूपमें आत्मोन्मुख हो जाता है तो वह यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण भी करने लगता है व अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृति करता हुआ कर्मोंका आस्रव और बन्ध भी करता है। इसी प्रकार आसक्तिवश होनेवाली अशुभप्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका भी एक देश त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणमें वृद्धि कर यथायोग्य रूपमें विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी प्रकार आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली प्रवृत्तिका यथायोग्य सर्वदेश त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणमें और भी वृद्धि करके यथायोग्य रूपमें विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम या षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणमें और भी वृद्धि करके क्रमशः सप्तम, अष्टम, नवम और दशम गुणस्थानोंमें पहुँचकर केवल आभ्यन्तर शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह ऐसा दशम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तमें अपनी शुभ पुरुषार्थरूप प्रवृत्तिको भी समाप्त कर यथायोग्य आत्मोन्मुखताकी पूर्णताको प्राप्त होकर संवर और निर्जरणमें वृद्धिकर एकादश या द्वादश गुणस्थानमें और द्वादश गुणस्थानके पश्चात् त्रयोदश गुणस्थानमें केवल मानसिक, वाचनिक और कायिक योगप्रवृत्तिके आधारपर मात्र सातावेदनीय कर्मका केवल प्रकृति और प्रदेश बन्धके रूपमें आस्रव और बन्ध करने लग जाता है और त्रयोदश गुणस्थानवर्ती जीवकी जब उक्त योगप्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है तो वह चतुर्दश गुणस्थानके प्रारम्भमें पूर्ण संवरको प्राप्तकर तथा अन्त समयमें शेष विद्यमान अघातिया कर्मोंका भी क्षयके रूपमें पूर्ण निर्जरण करके नोकर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध समाप्त कर सिद्ध पदवीको प्राप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप जीवित-शरीरकी क्रियाके आधारसे अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप विभावरूप अधर्मभावको प्राप्त होता है और अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप जीवित शरीर-की क्रियाके आधारसे वह अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप स्वभावरूप धर्मभावको प्राप्त होता है।

इस विवेचनके आधारसे उत्तरपक्ष यदि कदाचित् प्रकृत विषय संबन्धी आगमके अभिप्रायको समझने-की चेष्टा करे, तो मुझे विश्वास है कि वह पूर्वपक्षकी इस मान्यताको नियमसे स्वीकार कर लेगा कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है।

अब आगे प्रकृतप्रश्नोत्तरके प्रत्येक दौरकी समीक्षा की जाती है।

२. प्रश्नोत्तर २ के प्रथम दौरकी समीक्षा

उत्तर प्रश्नके आशयके प्रतिकूल और निरर्थक

प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा-प्रकरणसे यह स्पष्ट है कि पूर्वपक्षका प्रश्न शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे संबंध रखता है। अर्थात् पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें उत्तरपक्षसे यह पूछना चाहा है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं? लेकिन उत्तरपक्षने प्रश्नका जो उत्तर दिया है उसे देखनेसे स्पष्ट विदित होता है कि उत्तरपक्षका वह उत्तर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे संबंध न रखकर जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे संबंध रखता है। अर्थात् उत्तरपक्ष पूर्वपक्षके उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरमें यह बतलाना चाहता है कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म नहीं होता है। इस तरह उत्तर प्रश्नके आशयके प्रतिकूल सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंके मध्य जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होने या न होनेका विवाद नहीं है, क्योंकि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति नहीं मान्य करता है। इससे उत्तरकी निरर्थकता भी सिद्ध होती है। इसी तरह इससे भी यह निर्णीत होता है कि पूर्वपक्षका प्रश्न जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे सापेक्ष न होकर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे सापेक्ष है, क्योंकि दोनों पक्षोंके मध्य विवादका विषय यही है। फलतः उत्तरपक्षके सामने पूर्वपक्षका प्रश्न अभी भी अनिर्णयकी स्थितिमें अवस्थित है।

प्रकृत विषयमें उत्तरपक्षकी आगमसे विपरीत मान्यतायें

उत्तरपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको भी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया मान लेना चाहता है। यह बात उत्तरपक्षने अपने उत्तरके समर्थनमें त० च० पृ० ७६ पर नाटक समयसार पद्य १२१-१२३, समयसार कलश २४२ और परमात्मप्रकाश पद्य २-१९१ के जो उद्धरण दिये हैं उनसे ज्ञात होती है, क्योंकि नाटक समयसार आदिके उक्त वचनोंमें जो प्रतिपादन किया गया है वह सब शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे संबंध रखता है। तथापि उत्तरपक्षने उन वचनोंके आधारसे

जो अपने उत्तर-वचनके औचित्यको सिद्ध करनेका प्रयास किया है उससे सिद्ध होता है कि वह पक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको भी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया मानता है और इस तरह इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह पक्ष जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाके समान शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी उस क्रियासे भी आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति नहीं मानता है सो उत्तरपक्षकी ये दोनों मान्यतायें आगमसे विपरीत हैं, क्योंकि प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चरणानुयोगका समस्त प्रतिपादन प्रकृतमें विवक्षित क्रियाको एक तो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया बतलाता है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया नहीं। दूसरे, चरणानुयोगका वह प्रतिपादन यह भी बतलाता है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी उस क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म होते हैं। जीवकी उस क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म होनेकी प्रक्रियाको प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा प्रकरणमें विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।

उत्तर प्रश्नकी सीमासे बाह्य होनेसे अनावश्यक और उसकी पुष्टिका प्रयास भी अनावश्यक

पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें उत्तरपक्षसे इतना ही पूछा है कि जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं? उत्तरपक्षने अपने उत्तर-वचनमें इसका उत्तर न देकर यह बतलाया है कि जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गलद्रव्यकी पर्याय होनेके कारण अजीवतत्त्वमें ही अन्तर्भूत होती है इसलिये वह आत्माका धर्मभाव भी नहीं है और न अधर्मभाव ही है। इस तरह उक्त उत्तरको प्रश्नके साथ पढ़नेसे यही ज्ञात होता है कि उक्त उत्तर प्रश्नकी सीमासे बाह्य है, क्योंकि पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें यह नहीं पूछा है कि जीवित शरीरकी क्रिया आत्माका धर्मभाव है या अधर्मभाव। एक बात और है कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाको पूर्वपक्ष भी आत्माका धर्मभाव या अधर्मभाव नहीं मानता है। इतना ही नहीं, पूर्वपक्ष तो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाको भी आत्माका धर्मभाव या अधर्मभाव नहीं मानता है। वह उसे केवल आत्मामें होनेवाले धर्मभाव और अधर्मभावकी उत्पत्तिमें पृथक्-पृथक् रूपसे कारण मात्र मानता है, जैसा कि प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें स्पष्ट किया गया है। इस तरह उत्तरपक्षका त० च० पृ० ७६ पर यह लिखना कि "मात्र जीवित शरीरकी क्रिया धर्म नहीं है" बिलकुल अनावश्यक है तथा उत्तरपक्षके इस लेखके अनावश्यक हो जानेसे अपने इस कथनकी पुष्टिके लिये उसके द्वारा नाटक समयसारके पद्य १२१-१२३ को, समयसार कलश २४२ को और परमात्मप्रकाश पद्य २-१९१ को उद्धृत किया जाना भी अनावश्यक है।

उत्तरपक्षका एक अन्य कथन और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७६ पर ही अपने प्रथम दौरके अन्तमें यह कथन किया है—"फिर भी जीवित शरीरकी क्रियाका धर्म-अधर्मके साथ नोकर्मरूपसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध होनेके कारण जीवके शुभ, अशुभ और शुद्ध जो भी परिणाम होते हैं उनको लक्ष्यमें लेते हुए उपचारनयका आश्रयकर जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्म होता है यह कहा जाता है।"

इसकी समीक्षामें मैं एक बात तो यह कहता हूँ कि उत्तरपक्ष जिस जीवित शरीरकी क्रियाका जीव की धर्म-अधर्मरूप परिणतियोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होनेकी बात करता है वह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी ही क्रिया हो सकती है, क्योंकि जीवके शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामोंके साथ इसी

जीवित शरीरकी क्रियाका साक्षात् निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध स्थापित होता है। यद्यपि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रिया जीवकी शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणतियोंमें साक्षात् निमित्तकारणभूत शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियामें निमित्तकारण होती है, अतः शरीरकी उस क्रियाको भी परम्परया जीवकी शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणतियोंमें निमित्तकारण माना जा सकता है। परन्तु प्रकृतमें शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाका ग्रहण ही अपेक्षित है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाका ग्रहण अपेक्षित नहीं। इसका कारण यह है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप और शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और कायके सहयोगसे होनेवाली शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप क्रियायें कर्मबन्धका कारण होती हैं और उनमेंसे शुभ प्रवृत्तिरूप क्रियाओंके साथ जीवमें पूर्वोक्त प्रकार यदि यथायोग्य संसार, शरीर और भोगोंसे निवृत्तिपूर्वक आत्मोन्मुखता आ जावे तो कर्मबन्धके साथ वह संसार, शरीर और भोगोंसे निवृत्ति जीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होती हैं। जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन ओर कायकी क्रियाओंका जीवके कर्मबन्ध या कर्मकी निर्जराके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह वात पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनोंको अभीष्ट है और आगमसम्मत भी है। इसे प्रकृत प्रश्नके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें विस्तारसे स्पष्ट किया जा चुका है और आवश्यकतानुसार आगे भी स्पष्ट किया जायेगा।

उत्तरपक्षके उक्त कथनकी समीक्षामें मैं दूसरी वात यह कहता हूँ कि यतः उत्तरपक्ष निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको निमित्तभूत वस्तुकी कार्यके प्रति सहायक न होने रूप अकिंचित्करताके आधारपर ही मान्य करता है जब कि वह निमित्त-नैमित्तिक संवंध आगमके अनुसार निमित्तभूत वस्तुकी कार्यके प्रति सहायक होने रूप कार्यकारिताके आधारपर मान्य किया जा सकता है, जैसा कि प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है। अतः उत्तरपक्षका "उपचारनयका आश्रय कर जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है यह कहा जाता है" यह कथन निमित्तकारणभूत वस्तुकी कार्यके प्रति सहायक न होने रूप अकिंचित्करता-का प्रतिपादक होनेके कारण असंगत सिद्ध होता है। कार्यके प्रति निमित्तकारणभूत वस्तुकी सहायक होने रूप कार्यकारिताका समर्थन और उसकी कार्यके प्रति सहायक न होने रूप अकिंचित्करताका खण्डन प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें स्थान-स्थानपर विस्तारके साथ किया जा चुका है। वहीं मैं यह भी स्पष्ट कर चुका हूँ कि निमित्तभूत वस्तु और कार्यमें स्वीकृत कर्तृ-कर्म संबंधके विषयमें उपचारकी प्रवृत्ति आलापपद्धतिके "मुख्या-भावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्त्तते" इस वचनके अनुसार पूर्वपक्षको मान्य कार्यके प्रति निमित्त-कारणभूत वस्तुमें मुख्य कर्तृत्वका अभाव और सहायक होने रूप कार्यकारिताका सद्भाव रहनेपर ही होती है, उत्तरपक्षको मान्य कार्यके प्रति उस निमित्तकारणभूत वस्तुमें मुख्य कर्तृत्वका अभाव और सहायक न होने रूप अकिंचित्करताका सद्भाव रहनेपर नहीं होती है। इससे निर्णीत होता है कि दो वस्तुओंमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो वास्तविक ही है केवल उसके आधारपर उन दो वस्तुओंमें स्वीकृत कर्तृ-कर्म संबंध ही उपचरित होता है फिर भी उसे आकाशकुसुमकी तरह कथनमात्र या कल्पनारोपित मात्र कदापि नहीं माना जा सकता है। इतना अवश्य है कि दो वस्तुओंमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तक संबंधके आधारपर सिद्ध कर्तृ-कर्म संवंध तो उपचरित होनेसे व्यवहारनय द्वारा गृहीत होता है और दो वस्तुओंमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तिक संवंध पराश्रितताके आधारपर या एक ही वस्तुके दो धर्मोमें विद्यमान निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भेदाश्रितताके आधारपर व्यवहारनय द्वारा गृहीत होता है।

३. प्रश्नोत्तर २ के द्वितीय दौरकी समीक्षा

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षके प्रथम दौरकी आलोचनाके प्रसंगमें त० च० पृ० ७७ पर अनुच्छेद एकमें सर्वप्रथम 'जीवित शरीरको सर्वथा अजीव तत्त्व मान लेनेपर जीवित तथा मृतक शरीरमें कुछ अन्तर नहीं रहता। जीवित शरीर इष्ट स्थानपर जाता है, मृतक शरीर इष्ट स्थानपर नहीं जा-आ सकता' यह कथन करते हुए उत्तरपक्षके 'जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है' इस कथनको आगम, अनुभव और प्रत्यक्षके विरुद्ध बतलाया है तथा अपने इस कथनके आगे उसने (पूर्वपक्षने) इसी अनुच्छेद एकमें 'दांतोंसे काटना, मारना, पीटना, तलवार बन्दूक लाठी चलाकर दूसरोंका घात करना, पूजा-प्रक्षाल करना, सत्पात्रोंको दान देना, लिखना, केशलोंच करना, देखना, सुनना, सूँघना, बोलना, प्रश्न उत्तर करना, शराब पीना, मांस खाना आदि क्रियायें यदि अजीव तत्वकी ही हैं तो इन क्रियाओं द्वारा आत्माको सम्मान, अपमान, दण्ड, जेल आदि क्यों भोगना पड़ता है ? तथा स्वर्ग-नरक आदि क्यों जाना पड़ता है ?' यह कथन किया है। इस कथनके भी आगे उसने वहींपर अनुच्छेद दो में 'अणुव्रत, महाव्रत, वहिरंग तप, समिति आदि जीवित शरीरसे ही होते हैं, भगवान ऋषभदेवने एक हजार वर्ष तक तपस्या शरीरसे ही की थी, अर्हन्त भगवान्का विहार तथा दिव्य-ध्वनि आदि शरीर द्वारा ही होती हैं।' यह कथन भी किया है। इसी तरह इसके भी आगे उसने वहीं अनुच्छेद ३ में 'कायवाङ्मनः कर्म योगः' (६-१ त० सू०) इस सूत्रके अनुसार कर्मास्रवमें शरीर तथा तत्सम्वन्धी वचन एवं द्रव्यमन कारण हैं। अजीवाधिकरण आस्रवका कारण है। यह भी जीवित शरीरके अनुसार है। जीवित शरीरसे ही उपदेश दिया जाता है, प्रवचन किया जाता है, शास्त्र लिखा जाता है, प्रवचन सुना जाता है।' यह कथन किया है। पूर्व-पक्षके इन सब कथनोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि प्रश्नमें पठित जीवित शरीरकी क्रियासे उसका अभिप्राय शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाका ही है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाका नहीं। इसी तरह उसने (पूर्वपक्षने) वहीं अनुच्छेद ४ में पं० बनारसीदासजीके नाटक समयसार, समयसार-कलश और परमात्मप्रकाशके उत्तरपक्ष द्वारा अपने पक्षके समर्थनके लिए प्रथम दौरमें उद्धृत पद्योंके आशय-को स्पष्ट किया है तथा त० सू० (६-२०) के आधारसे शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी असत् क्रियाओं-से उसके (जीवके) संसार परिभ्रमणकी पुष्टि की है और अन्तमें पंचास्तिकाय गाथा १७१ की टीका तथा रणयसार गाथा ११ के आधारपर अपनी 'जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है' इस मान्यताकी पुष्टि की है।

द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षके विविध कथन और उनकी समीक्षा

(१) उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षके द्वितीय दौरकी आलोचनाके प्रसंगमें त० च० पृ० ७८ पर यह कथन किया है कि—'यह तो सुविदित सत्य है कि आत्मामें निश्चयरत्नत्रयको यथार्थ धर्म कहकर उसके साथ जो देवादिकी श्रद्धा, संयमासंयम और संयम सम्बन्धी व्रतादिमें प्रवृत्तिरूप परिणाम होता है उसे व्यवहारधर्म कहा है।'

इसकी समीक्षामें मेरा कहना है कि उत्तरपक्षने अपने इस कथनमें निश्चयरत्नत्रयको जो यथार्थ धर्म कहा है वह तो ठीक है, परन्तु इस कथनमें इतना विशेष ज्ञातव्य है कि यथायोग्य कर्मोंका उदय होनेपर आत्माकी

भाववती शक्तिका जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप विभाव परिणमन होता है उसे तो आत्मपरिणतिके रूपमें निश्चयरूप अधर्म जानना चाहिए तथा उन्हीं कर्मोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने-पर आत्माकी भाववती शक्तिका जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप स्वभाव परिणमन होता है उसे आत्मपरिणतिके रूपमें निश्चय धर्म जानना चाहिए। इसी तरह उसने (उत्तरपक्षने) देवादिकी श्रद्धा संयमासंयम और संयम संबंधी व्रतादिमें प्रवृत्तिरूप परिणामोंको जो व्यवहारधर्म कहा है वह भी ठीक है, परन्तु इस कथनमें भी इतना विशेष ज्ञातव्य है कि हृदयके सहारेपर होनेवाले भाववती शक्तिके परिणमन-स्वरूप देवादिकी श्रद्धाके साथ संयमासंयम और संयम सम्बन्धी व्रतादिमें प्रवृत्तिरूप जो परिणमन होता है वह तो आत्माकी क्रियावती शक्तिका ही परिणमन है और दूसरे वह आत्माकी क्रियावती शक्तिके परिणमन-स्वरूप आसक्तिवश और अशक्तिवश होनेवाली प्रवृत्तियोंसे यथायोग्य निवृत्तिपूर्वक हो तो ही उसे व्यवहार धर्म कहा जा सकता है। केवल देवादिकी श्रद्धाके साथ संयमासंयम और संयम सम्बन्धी व्रतादिमें प्रवृत्तिका नाम व्यवहारधर्म नहीं है। उसे तो मात्र पुण्यकर्म ही कहना चाहिए। इस विषयका सर्वांगीण विवेचन इसी प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षाके प्रकरणमें विस्तारसे किया जा चुका है।

(२) आगे अपने द्वितीय दौरमें त० च० पृ० ७८ पर ही उत्तरपक्षने यह कथन किया है—'और सम्यग्दृष्टिके शरीरमें एकत्वबुद्धि नहीं रहती। यदि कोई जीव शरीरमें एकत्वबुद्धि कर शरीरकी क्रियाको आत्माकी क्रिया मानता है तो उसे अप्रतिबुद्ध कहा है।' तथा इसी कथनकी पुष्टिके लिए उसने त० च० पृ० ७८-७९ पर आगे समयसार गाथा १९ प्रवचनसार गाथा १६० और उसकी टीका व प्रवचनसार गाथा १६१ को उद्धृत किया है तथा प्रवचनसार गाथा १६२ और नियमसारका उल्लेख करते हुए सोलापुरसे मुद्रित नयचक्रके पृ० ४५ पर निर्दिष्ट 'शरीरमपि यो प्राणी प्राणिनो वदति स्फुटम्।' इत्यादि पदको भी उद्धृत किया है।

इसकी समीक्षामें मैं यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षका यह सब कथन एक तो निर्विवाद होनेसे दूसरे, प्रकृत विषयके लिए निरुपयोगी होनेसे प्रकृत विषयसे बाहर है, क्योंकि प्रकृतमें विचारणीय विषय यही है कि जीवित शरीरकी क्रियाको पुद्गलकी क्रिया माना जाये या उसे जीवकी क्रियाके रूपमें भी मान्य किया जाये? एवं उसके आधारपर आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्तिको स्वीकृत किया जाये या नहीं? अतः उपयुक्त तो यही होता कि उत्तरपक्ष इसी विषयपर अपने विचार प्रकट करता।

इस सम्बन्धमें मैं अपने विचार इस रूपमें व्यक्त कर चुका हूँ कि जीवित शरीरकी क्रिया दो प्रकार की होती है—एक तो जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया और दूसरी शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया। इनमेंसे जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको पुद्गलकी क्रिया मानना भी निर्विवाद है और उससे आत्मामें धर्म-अधर्म नहीं होता है यह मानना भी निर्विवाद है। इस तरह विवादका विषय यह रह जाता है कि उत्तरपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको भी पुद्गलकी क्रिया मानता है और उससे आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति भी नहीं मानता है जबकि पूर्वपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको पुद्गलकी क्रिया न मानकर जीवकी ही क्रिया मानता है और उससे आत्मामें धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति भी मानता है। इनमेंसे पूर्वपक्षकी मान्यता सम्यक् है उत्तरपक्षकी मान्यता सम्यक् नहीं है। इस बातको प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा प्रकरणमें स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने प्रकृत वक्तव्यमें आगम-वचनोंके आधारपर यह स्वीकार किया है कि 'यदि कोई

जीव शरीरमें एकत्वबुद्धि कर शरीरकी क्रियाको आत्माकी क्रिया मानता है तो उसे अप्रतिबुद्ध कहा है।'

सो इस सम्बन्धमें मेरा कहना यह है कि जिस प्रकार शरीरकी क्रियाको आत्माकी क्रिया माननेवाला अप्रतिबुद्ध है उसी प्रकार जब उत्तरपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको शरीरकी क्रिया मानता है तो उसे भी अप्रतिबुद्ध क्यों न कहा जाये ? इसका निर्णय उत्तरपक्षको स्वयं ही करना चाहिए। मेरा कहना तो यह है कि जो जीव शरीरकी क्रियाको आत्माकी क्रिया मानता है वह भी अप्रतिबुद्ध है और जो जीव जीवकी क्रियाको शरीरकी क्रिया मानता है वह भी अप्रतिबुद्ध है, क्योंकि समयसार गाथा १९ में स्पष्ट लिखा है कि शरीरको जीव और जीवको शरीर माननेवाला या शरीरको जीवका और जीवको शरीरका माननेवाला ये दोनों ही अप्रतिबुद्ध हैं।

इस प्रकार मेरे इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियासे पृथक् है। अतः जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म न होते हुए भी शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्मके होनेमें कोई बाधा नहीं है।

(३) उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके मन्तव्यको अपने द्वितीय दौरके प्रारंभमें इस रूप लिखा है—'प्रतिशंका नं० २ को उपस्थित करते हुए तत्वार्थसूत्र अ० ६, सू० १, ६ व ७ तथा पंचास्तिकाय गाथा १७१ और रयणसार-गाथा ११ को प्रमाणरूपसे उपस्थित कर तथा कतिपय लौकिक उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है।' और इसके विरोधमें ही उसने (उत्तरपक्षने) अपना द्वितीय दौर लिखा है।

इस संबंधमें मैं उत्तरपक्षसे पूछना चाहूँगा कि क्या वह साहसपूर्वक यह कह सकता है कि पूर्वपक्षने अपने दूसरे दौरमें आगमवचनोंके साथ लौकिक उदाहरणोंमें जो कुछ बतलाया है उसका कर्त्ता जीव न होकर पुद्गल (शरीर) ही होता है और उसका सुख-दुःखरूप फल जीवको नहीं भोगना पड़ता है। यदि ऐसा साहस वह करता है तो इसे इसका दुस्साहस ही कहा जायेगा, क्योंकि एक तो वह भी इस सिद्धांतको माननेके लिये बाध्य है कि उसका फल जीवको ही भोगना गड़ता है। दूसरे जिन आध्यात्मिक ग्रन्थोंके आधारपर उसने अपने पक्षकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया है उन ग्रन्थोंका अभिप्राय यह है कि जीव शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और शरीरके अवलम्बनसे जो कुछ करता है उसका कर्त्ता वह स्वयं ही है। अतः यदि वह क्रिया शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप हो तो उससे होनेवाले कर्मबन्धके आधारसे वह जीव संसार परिभ्रमण करता है और वह क्रिया यदि उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप हो तो उससे कर्मोके संवर और निर्जरणपूर्वक वही जीव संसार परिभ्रमणसे मुक्त होता है। इस विषयको भी प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया गया है। इसपर भी उत्तरपक्षको विचार करना चाहिए। उसे केवल ऐसा समझकर नहीं रह जाना चाहिए कि शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और शरीरके अवलम्बनपूर्वक होनेवाली जो क्रियायें संसारी जीवमें देखी जाती हैं उनका कर्त्ता जीव न होकर शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और शरीर ही उनके कर्त्ता होते हैं।

देखनेमें आता है और अनुभवमें भी आता है कि संसारी जीवको मतिरूप पदार्थ ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रियोंके सहारेपर होता है और श्रुतरूप पदार्थ ज्ञान मस्तिष्कके सहारेपर होता है। इस संबंधमें यदि यह कहा जाये कि संसारी जीवको जो मतिरूप पदार्थ ज्ञान होता है वह पौद्गलिक इन्द्रियोंके सहारेपर न होकर उसके स्वयंके सहारेपर ही होता है तथा उसको जो श्रुतरूप पदार्थ ज्ञान होता है वह भी पौद्गलिक मस्तिष्कके

सहारेपर न होकर उसके स्वयंके सहारेपर ही होता है तो ऐसा कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसको जो पदार्थ ज्ञान मतिरूपमें और श्रुतरूपमें होते हैं वे यदि इन्द्रियों और मस्तिष्कके सहारेपर न होकर केवल उसके अपने ही सहारेपर होते हैं ऐसा माना जाये तो उनका इन्द्रियों और मस्तिष्कके अभावमें होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इस तरह तब उन्हें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहना ही असंगत हो जायेगा। इस आपत्तिको दूर करनेके लिए यदि उन ज्ञानोंका कर्त्ता जीवको न मानकर इन्द्रियोंको और मस्तिष्कको ही माना जाये तो जड़ होनेके कारण इन्द्रियों और मस्तिष्कको उनका कर्त्ता मानना संभव नहीं होगा। इस प्रकार यही मानना श्रेयस्कर है कि उक्त दोनों प्रकारके ज्ञानोंका कर्त्ता तो जीव ही है, परन्तु वे ज्ञान जीवको इन्द्रियों और मस्तिष्कके सहारेपर ही होते हैं।

इसी प्रकार यह भी अनुभवमें आता है कि जीव पौद्गलिक मनके सहारेसे संकल्प-विकल्परूप क्रिया करता है, पौद्गलिक वचनके सहारेसे बोलनेरूप क्रिया करता है और पौद्गलिक शरीरके सहारेसे विशिष्ट प्रकारकी हलन-चलनरूप क्रिया करता है। इसमें भी यदि यह कहा जाये कि ये सब क्रियायें जीवकी पौद्गलिक मन आदिके सहारेसे न होकर उसके स्वयंके सहारेपर ही होती हैं तो ऐसा कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसकी जो संकल्प आदिरूप क्रियायें होती हैं वे यदि द्रव्यमन आदिके सहारेपर न होकर केवल उसके अपने सहारेपर होती हैं ऐसा माना जावे तो पौद्गलिक मन आदिके अभावमें भी उनकी प्रसक्ति हो जायेगी। इस आपत्तिको दूर करनेके लिये यदि उन संकल्पादि क्रियाओंका कर्त्ता जीवको न मानकर द्रव्यमन आदिको ही उनका कर्त्ता माना जाय तो जड़ होनेके कारण उनका कर्त्ता द्रव्यमन आदिको मानना संभव नहीं होगा। फलतः यही मानना श्रेयस्कर है कि वे सब संकल्प आदिरूप क्रियायें होती तो हैं जीवकी ही, परन्तु वे पौद्गलिक मन आदिके सहयोगसे ही हुआ करती हैं। अतः निर्णीत होता है कि द्रव्यमन, वचन और कायके सहयोगपूर्वक संकल्प आदिके रूपमें पूर्वोक्त प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप क्रियायें जीवकी ही होती हैं। और वे जीवित शरीरकी क्रियायें कहलाती हैं व उनसे जीवमें धर्म-अधर्म होते हैं।

(४) उत्तरपक्षने आगे त० च० पृ० ७९ पर यह कथन किया है—'प्रतिशंका २ द्वारा श्री तत्त्वार्थसूत्र आदिके उद्धरण देकर जो जीवित शरीरसे धर्मकी प्राप्तिका समर्थन किया गया है सो वह आस्रव का प्रकरण है। उस अध्यायमें धर्मका निर्देश नहीं किया गया है। उसमें भी जहाँ कहीं निमित्तकी अपेक्षा निर्देश भी हुआ है सो निमित्त तो अनेक पदार्थ होते हैं तो क्या इतने मात्रसे उन सबसे धर्मकी प्राप्ति मानी जायेगी। शरीर आदि पदार्थोंको जहाँ भी निमित्त लिखा है सो यह विजातीय असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ही निमित्त कहा है।'

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि यह तो ठीक है कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ का कथन आस्रवके प्रकरणको ध्यानमें रखकर किया गया है। परन्तु जब उत्तरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म या अधर्म कुछ भी नहीं मानता है तो उसकी दृष्टिसे वह जीवित शरीरको क्रिया आस्रवका भी कारण कैसे हो सकती है? पूर्वपक्ष तो यह मानता है कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियासे न तो धर्म होता है और न अधर्म ही होता है, परन्तु शरीरके सहयोगसे जो जीवकी क्रिया होती है वह यदि आसक्तिवश और अशक्तिवश होनेवाली संसार, शरीर और भोगोंमें प्रवृत्तिरूप है तो अधर्मका साधन है और यदि वह उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप है तो वह धर्मका साधन हो जाती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके सप्तम अध्यायमें जहाँ अहिंसा आदिको प्रवृत्तिके रूपमें आस्रवका कारण माना गया है वहाँ

नवम अध्यायमें अहिंसा आदिको हिंसादिमें प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूपमें धर्मका साधन माना गया है। उत्तरपक्षने इसी कथनमें जो यह लिखा है कि 'निमित्त तो अनेक पदार्थ होते हैं तो क्या इतने मात्रसे इन सबसे धर्मकी-प्राप्ति मानी जायेगी ?' सो इसके विषयमें मेरा कहना यह है कि जो निमित्त धर्मके साधन हों उन्हें धर्म प्राप्तिका निमित्त माना जाता है और जो निमित्त अधर्मप्राप्तिके साधन हों उन्हें अधर्मप्राप्तिका निमित्त माना जाता है तथा जिनसे धर्म या अधर्म किसीकी भी प्राप्ति न हो सके उन्हें वहाँ पर निमित्त ही नहीं माना जा सकता है। उत्तरपक्षने अपने इस वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि 'शरीर आदि पदार्थोंको जहाँ भी निमित्त लिखा है सो वह विजातीय असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ही निमित्त कहा है।' सो यह निर्विवाद है, परन्तु इसके संबंधमें मेरा यह कहना है कि असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा जिसको निमित्त कहा है वह कार्यमें सहायक होने रूपसे कार्यकारिताके आधारपर ही कहा है, सहायक न होने रूपसे अकिंचित्करताके आधारपर नहीं, जैसा कि उत्तरपक्ष मानता है। इसे प्रश्नोत्तर एकको समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट कर दिया गया है।

(५) उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें आगे त० च० पृ० ७९ पर ही स्वयंभू स्तोत्रका निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमाभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥५९॥

इसका अर्थ उसने यह किया है कि 'अभ्यन्तर अर्थात् उपादानकारण जिसका मूल हेतु है ऐसी गुण और दोषोंकी उत्पत्तिका जो बाह्य वस्तु निमित्त मात्र है, मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए जीवके लिए वह गौण है, क्योंकि हे भगवन् ! आपके मतमें उपादान हेतु कार्य करनेके लिए पर्याप्त है ॥५९॥

आगे त० च० पृ० ८० पर उसने उक्त पद्यका अभिप्राय इस रूपमें लिखा है—'तात्पर्य यह है कि जो अपने उपादानकी सम्हाल करता है उसके लिए उपादानके अनुसार कार्यकालमें निमित्त अवश्य ही मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उपादान अपने कार्य करनेके सन्मुख हो और उस कार्यमें अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें। इस जीवका अनादिकालसे परद्रव्यके साथ संयोग बना चला आ रहा है, इसलिये वह संयोग कालमें होनेवाले कार्योंको जब जिस पदार्थका संयोग होता है उससे मानता आ रहा है, यही इसकी मिथ्या मान्यता है। फिर भी यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म माना जावे तो मुनिके ईर्यापथसे गमन करते समय कदाचित् किसी जीवके उसके पगका निमित्त पाकर मरनेपर उस क्रियासे मुनिको भी पापबन्ध मानना पड़ेगा, पर ऐसा नहीं है।' अपने इस अभिप्रायके समर्थनमें उसने सर्वार्थसिद्धिके 'वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते। (७-१३)' को भी उद्धृत किया है और उसका उसने यह अर्थ लिखा है कि "दूसरेको निमित्त कर दूसरेके प्राणोंका वियोग हो जाता है, फिर भी वह हिंसाका भागी नहीं होता है।" और अन्तमें उसने यह निष्कर्ष लिखा है कि 'अतएव प्रत्येक प्राणीको अपने परिणामोंके अनुसार ही पुण्य, पाप और धर्म होता है। जीवित शरीरकी क्रियाके अनुसार नहीं, यही निर्णय करना चाहिए और ऐसा मानना ही जिनागमके अनुसार है।'

आगे इसकी समीक्षाकी जाती है—

स्वयंभू स्तोत्रके उल्लिखित पद्यका वास्तविक अर्थ यह है कि 'अभ्यन्तर अर्थात् अंतरंग परिणाम जिसका मूल हेतु है ऐसे गुणों और दोषोंकी उत्पत्तिका जो बाह्य वस्तु निमित्त अर्थात् अवलम्बन है अध्यात्ममें प्रवृत्त (लोकोत्तर) जनके लिए वह बाह्य वस्तु जिसका अंग अर्थात् गौण रूपसे सहायक बनी हुई है ऐसा अंतरंग परिणाम केवल भी हे भगवन् ! आपके मतमें समर्थ है।'

यहाँ प्रकरण भगवान वासुपूज्यकी भक्ति करनेका है। लौकिक और लोकोत्तर दोनों जनोंके भक्ति करनेके प्रकारमें यह अन्तर पाया जाता है कि जहाँ लौकिकजन भक्ति करनेमें चित्तकी स्थिरताके लिए बाह्य वस्तुका अवलम्बन लेता है वहाँ लोकोत्तरजन चित्त स्थिर हो जानेसे भक्तिके विषयमें बाह्य वस्तुका अवलम्बन लेनेका प्रयत्न नहीं करता है। यह बात अवश्य है कि वहाँ भी बाह्य वस्तुका यथायोग्य सहयोग रहा करता है। इस तथ्यको समझनेके लिए स्तोत्रके पाँचों पद्योंके समन्वित अभिप्रायपर ध्यान देना आवश्यक है। अतः यहाँ उनका समन्वित अभिप्राय प्रगट किया जा रहा है।

स्वामी समन्तभद्रने स्तोत्रके प्रथम पद्यमें बतलाया है कि हे भगवन् ! आप कल्याणकारी अभ्युदयकी क्रियाओंमें पूज्य होनेसे देवेन्द्रों द्वारा पूज्यताको प्राप्त होनेके कारण वासुपूज्य कहलाते हैं, अतः आप मेरे द्वारा भी पूज्य हैं। इस तरह स्वामी समन्तभद्रने सर्वप्रथम इस पद्य द्वारा भगवान और अपनेमें पूज्य-पूजक भावका विधान किया है। दूसरे पद्यमें बतलाया है कि हे भगवन् ! राग और द्वेषसे रहित होनेके कारण आपका पूजा या निंदासे कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि आपके पवित्र गुणोंका स्मरण करनेसे मेरा अन्तःकरण अवश्य पवित्र हो सकता है। इस तरह पूजाके फलका दिग्दर्शन कराकर स्वामी समन्तभद्रने भगवानकी पूजामें की जानेवाली अपनी प्रवृत्तिको उचित सिद्ध किया है। तीसरे पद्यमें बतलाया है कि हे भगवन् ! आपकी पूजामें प्रवृत्त जनको कुछ सावद्य प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है, परन्तु पुण्यकी बहुलताके सामने वह नगण्य है। इस तरह स्वामी जीने पूजामें पूजक द्वारा स्वीकृत बाह्य वस्तुके अवलम्बनको उचित ठहराया है। चौथे पद्यमें बतलाया है कि अन्तरंग परिणाम जिसका मूल हेतु है ऐसे गुण और दोषकी उत्पत्तिमें जो बाह्य वस्तु निमित्त अर्थात् अवलम्बन होती है लोकोत्तर जनके लिए वह बाह्य वस्तु जिसका अंग बनी हुई है ऐसा अन्तरंग परिणाम केवल भी हे भगवन् ! आपके मतमें समर्थ है। इस तरह उन्होंने चित्तकी स्थिरताके लिए पूजकको पूजामें बाह्य वस्तुका अवलम्बन उपादेय बतलाते हुए लोकोत्तर जनके लिए चित्तकी स्थिरता विद्यमान रहनेके कारण उस बाह्य वस्तुको अन्तरंग परिणामका अंग बतलाकर अंतरंग परिणामकी प्रधानताको बतला दिया है। पांचवे पद्यमें बतलाया है कि कार्योत्पत्तिकी सम्पन्नता बाह्य और अन्तरंग सामग्रीकी समग्रता पर ही निर्भर है ऐसा द्रव्यका स्वभाव है। इस तरह उन्होंने कार्योत्पत्तिमें बाह्य वस्तुमें अन्तरंग परिणामके प्रति अंगताका समर्थन किया है।

इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि उत्तरपक्षने स्वयंभू स्तोत्रके उक्त पद्य ५९से जो यह निष्कर्ष निकालनेकी चेष्टा की है कि कार्योत्पत्तिमें उपादान ही समर्थ कारण है; निमित्त वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है सो उसकी यह चेष्टा निरर्थक ही है, क्योंकि इस पद्यमें एक तो लौकिक जनके लिए भगवानकी पूजामें बाह्य वस्तुके अवलम्बनका समर्थन किया गया है। दूसरे लोकोत्तर जनके लिए बाह्य वस्तुके अवलम्बन-का सर्वथा निषेध नहीं किया गया है। किन्तु उसे उसका अंग मान लिया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार लौकिक जन भगवानकी भक्तिके लिए जिस प्रकारकी बाह्य सामग्रीका चित्तकी स्थिरताके लिए अवलम्बन लिया करते हैं उस प्रकार लोकोत्तरजनको उस प्रकारकी बाह्य सामग्रीका अवलम्बन लेना आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि उनका चित्त स्थिर हो जाता है। फिर भी वे भी भगवानकी प्रतिमा आदिका जो अवलम्बन तो लेते हैं सो इतना अवलम्बन लेना उनके लिए अनुचित नहीं है। तीसरे, भगवानको भक्ति लौकिकजन या लोकोत्तर जन दोनों ही द्रव्यमन, वचन (मुख) और कायके अवलम्बन पूर्वक ही किया करते हैं। उनमेंसे अन्तरंग परिणाम पूजककी भाववती शक्तिका मानसिक परिणमन है और बहिरंग परिणाम

पूजककी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमन है। इनमेंसे अन्तरंग परिणाम जो मानसिक परिणमन है वही प्रधान रहता है, क्योंकि यदि अन्तरंग परिणाम भक्ति करनेका न हो तो वाचनिक और कायिक बाह्य परिणामोंको आगममें निरर्थक बतलाया है और अनुभव भी यही बतलाता है। यही कारण है कि लौकिक जनके लिए चित्तकी स्थिरता न रहनेके कारण उनकी उस स्थिरताके लिए बाह्य वस्तुका अवलम्बन लेना आवश्यक बतलाया गया है. और लोकोत्तर जनके लिए चित्त स्थिर हो जानेके कारण बाह्य वस्तुका अवलम्बन यद्यपि आवश्यक नहीं बतलाया है, फिर भी प्रतिमा आदिका अवलम्बन गौणरूपसे लेनेमें असंगति भी नहीं है, इतना ही आशय स्वयंभू स्तोत्रके उक्त चतुर्थ पद्यका ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ मैं एक बात यह भी कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने स्वयंभू स्तोत्रके उक्त पद्य ५९ का उद्धरण कार्योत्पत्तिमें निमित्तकी अकिंचित्करता सिद्ध करनेके लिए ही दिया है और इसीलिये उसने उस पद्यके 'तदंगभूत' पदको स्वतंत्रपद मानकर उसका अर्थ अपने मतके अनुसार किया है। परन्तु वह यदि स्वयंभूस्तोत्रके ही पद्य ६० पर ध्यान देता तो वह ऐसा गलत प्रयत्न कदापि नहीं कर सकता था। दूसरी बात यह भी कह देना चाहता हूँ कि उसने "तदंगभूतम्" पदमें पठित "अंग" शब्दका "गौण" अर्थ स्वीकार किया है जो वहाँपर कार्योत्पत्तिमें निमित्तभूत बाह्य वस्तुकी अप्रधानताको तो सूचित कर सकता है लेकिन उसकी अकिंचित्करताको नहीं। उत्तरपक्षको इसपर ध्यान देना चाहिए था।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें त० च० पृ० ८० पर यह लिखा है कि "यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म माना जावे तो मुनिको ईर्यापथसे गमन करते समय कदाचित् किसी जीवके उसके पगका निमित्तपाकर मरने पर उस क्रियासे मुनिको पाप बन्ध मानना पड़ेगा।" तथा अपने इस मन्तव्यके समर्थनमें उसने सर्वार्थसिद्धिके वचनको भी उद्धृत किया है सो उसे मालूम होना चाहिए था कि उसका यह सब कथन जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा ही संगत हो सकता है, शरीरके सहयोगसे होने वाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा नहीं। इसका कारण यह है कि शरीरके अंगभूत मन, वचन और कायके सहयोगसे जीव द्वारा किया गया प्रयत्न और साथ ही इनके सहयोगसे होनेवाली जीवकी निसर्गतः होनेवाली योग रूप क्रिया ये दोनों कर्मबन्धका ही कारण होते हैं।

तात्पर्य यह है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका पौद्गलिक मन, वचन और कायके सहयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है वह एक तो जीव द्वारा प्रयत्नपूर्वक किया जाता है जिसे पुरुषार्थ कहते हैं और दूसरा बिना प्रयत्नके प्राकृतिक ढंगसे हुआ करता है जिसे योग कहते हैं। मन, वचन और कायके सहयोगसे होने वाले ये दोनों क्रियारूप परिणमन नियमसे कर्मके प्रकृति और प्रदेश बन्धके निमित्तकारण हुआ करते हैं। यतः पुरुषार्थरूप जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन नियमसे भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप अन्तरंग परिणाम रूप कषायभावसे अनुरंजित रहा करता है अतः उस अवसरपर कर्मके स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध भी हुआ करते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी प्रवृत्तिरूप जीवित शरीरकी क्रिया तो हर हालतमें बन्धका ही कारण होती है। इसके अतिरिक्त जीवके सहयोगसे होने वाली शरीरकी प्रवृत्तिरूप जीवित शरीरकी क्रिया कभी भी बन्धका कारण नहीं होती है। इस तरह सर्वार्थसिद्धिके उक्त वचनका यही अभिप्राय लेना चाहिए कि जो मुनि सावधानी पूर्वक ईर्यापथसे गमन कर रहा हो उसकी वह

क्रिया तो नियमसे बन्धका कारण है। परन्तु यदि कोई जीव उस अवसर पर उसके पगसे अनायास दब कर मरणको प्राप्त होता है तो उसका निमित्त शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको कदापि नहीं माना जा सकता है, प्रत्युत जीवके निमित्तसे होनेवाली शरीरकी क्रिया ही उसका निमित्त होती है, ऐसा मानना ही युक्तिसंगत है। इससे निर्णीत होता है कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाजन्य प्राणिवधका अपराधी जीव नहीं है, इसलिये उससे जीवको कर्मबन्ध नहीं होता। इतना अवश्य है कि गमनक्रियाजन्य बन्ध जीवको उस समय भी होता है, क्योंकि वह गमनक्रिया शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी ही क्रिया है।

(६) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ७८ पर निर्दिष्ट अपने वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "जो उपादानकी सम्हाल करता है उसके लिए उपादानके अनुसार कार्यकालमें निमित्त अवश्य ही मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उपादान अपना कार्य करनेके सन्मुख हो उसे कार्यमें अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें।" इसके संबंधमें मेरी समीक्षा निम्न प्रकार है :—

(क) यहाँ पर "जो उपादानकी सम्हाल करता है" इस कथनसे उत्तरपक्षका क्या अभिप्राय है? यह स्पष्ट नहीं होता। मेरा तो यह कहना है कि मुमुक्षु जीवका मोक्ष प्राप्त करनेके लिए कर्मबन्धकी कारणभूत पूर्वोक्त मानसिक, वाचनिक और कायिक संसारिक प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप पुरुषार्थ करना ही अपने उपादानकी सम्हाल करना है, क्योंकि ऐसा करनेसे ही उस मुमुक्षु जीवमें मोक्षके कारणभूत कर्मसंवर और कर्मनिर्जरण होते हैं। यदि उत्तरपक्ष भी उपादानकी सम्हाल करनेका यही अभिप्राय मान्य करता है तो प्रकृत विषयमें पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंके मध्य विवाद नहीं रह जाता है, कारण कि इस तरह पूर्वपक्षकी पूर्वमें स्पष्ट की गई शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होनेकी मान्यता निर्विवाद हो जाती है।

(ख) उत्तरपक्षके "जो उपादानकी सम्हाल करता है" इत्यादि कथनके आधार पर उसके सामने यह विकल्प भी अनायास ही खड़ा हो जाता है कि जो जीव अपने उपादानकी सम्हाल नहीं कर रहा है उसको कार्योत्पत्तिके अवसर पर निमित्त मिलते ही नहीं हैं या प्रतिकूल निमित्त मिलते हैं? यदि उसको निमित्त मिलते ही नहीं हैं—ऐसा माना जाये तो उस समय उपादानकी क्या स्थिति रहती है? यह बात स्पष्ट करनेकी समस्या उत्तरपक्षके सामने खड़ी हो जाती है और यदि प्रतिकूल निमित्त मिलते हैं—ऐसा माना जाए तो उसके सामने उसकी मान्यताके विरुद्ध यह बात प्रसक्त होती है कि उस समय उन प्रतिकूल निमित्तोंके योगसे उपादानमें प्रतिकूल कार्य भी नियमसे होना चाहिए जिसका निराकरण करना उत्तरपक्षके वशकी बात नहीं है।

(ग) जहाँ तक उपादानकी सम्हाल करनेकी बात है—यह चेतन होनेके कारण जीवका ही कार्य हो सकता है, अचेतन होनेके कारण अजीवका कार्य कदापि नहीं हो सकता। परन्तु कार्योत्पत्ति जीव और अजीव दोनोंमें होती है, इसलिये जीवके लिए अपने उपादानकी सम्हाल करनेका क्या प्रयोजन रह जाता है? यदि कहा जाए कि जीवको अपने उपादानकी सम्हाल करनेका प्रयोजन यह है कि कि ऐसा करनेसे उसका अभिलषित कार्य सम्पन्न हो सकता है, अन्यथा अभिलषित कार्यके प्रतिकूल भी कार्य सम्पन्न हो सकता है, तो इसके पूर्व उत्तरपक्षको यह मान्य करना आवश्यक है कि निमित्त उपादानकी कार्योत्पत्तिमें कार्यकारी ही होता है, अकिंचित्कर नहीं।

(घ) उत्तरपक्षका कहना है कि "जो उपादानकी सम्हाल करता है उसके लिए उपादानके अनुसार

कार्यकालमें निमित्त अवश्य ही मिलते हैं।" इस पर मेरा कहना है कि उत्तरपक्ष उपादानसे होने वाले कार्यमें निमित्तको जब अकिंचित्कर ही मानता है तो उपादानके अनुसार कार्यकालमें निमित्त मिलने न मिलनेका उत्तरपक्षके लिए क्या महत्व रह जाता है? पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि जिस समय जैसे निमित्त मिलते हैं या मिलाये जाते हैं उस समय उस उपादानसे उसकी योग्यताके आधारपर उन निमित्तोंके अनुकूल ही कार्य निष्पन्न होता है।

(च) उत्तरपक्षका यह भी कहना है कि उपादान जब अपना कार्य करनेके सन्मुख होता है तब उस कार्यके अनुकूल निमित्त अवश्य ही मिलते हैं। लेकिन उसकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें प्रमाणोंके आधारपर मैं स्पष्ट कर चुका हूं कि उपादानकी कार्यके प्रति सन्मुखता प्रेरक निमित्त के बलसे ही होती है और वहीं पर यह भी स्पष्ट कर चुका हूं कि उपादानमें कार्योत्पत्तिके लिए उदासीन निमित्तोंका सद्भाव व बाधक कारणोंका अभाव भी अपेक्षित रहता है।

इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि उत्तरपक्षका "जो उपादानकी सम्हाल करता है" इत्यादि कथन अनर्गल प्रलाप मात्र है और जो उसके स्वयंके लिए एक मुसीबत है।

(७) इस विवेचनसे उत्तरपक्षका "इस जीवका अनादिकालसे परद्रव्यके साथ संयोग बना चला आ रहा है। इसलिये वह संयोग कालमें होनेवाले कार्योंको जब जिस पदार्थका संयोग होता है उससे मानता चला आ रहा है। यही उसकी मिथ्या मानता है।" यह कथन भी महत्वहीन हो जाता है। तत्वजिज्ञासुओंको इस पर ध्यांन देना चाहिये।

(८) उत्तरपक्षने अपने प्रकृत वक्तव्यके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'अतएव प्रत्येक प्राणीको अपने परिणामोंके अनुसार ही पुण्य, पाप और धर्म होता है, जीवित शरीरकी क्रियाके अनुसार नहीं—यही यहाँ निर्णय करना चाहिए और ऐसा मानना ही जिनागमके अनुसार है।" सो मैं स्पष्ट कर चुका हूं कि जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप धर्म अधर्ममें शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और शरीर तीनोंके सहयोगसे होनेवाली तथा जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणामस्वरूप शुभ और अशुभ प्रवृतिरूप तथा इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप जीवित शरीरकी क्रिया ही यथायोग्यरूपमें कारण होती है। इस तरह उत्तरपक्षके "प्रत्येक जीवके परिणामोंके अनुसार ही पुण्य, पाप और धर्म होते हैं।" इस कथनमें कोई विवाद नहीं रह जाता है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप पुण्य, पाप और धर्ममें जीवके जिन परिणामोंको उत्तरपक्ष कारण मानता है वे परिणाम निर्विवादरूपसे जीवकी भानवती शक्तिके ही परिणमन हैं तथा उनकी प्रेरणासे शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और शरीरके सहयोगसे होने वाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियायें जीवकी क्रियावती शक्ति के परिणमन हैं। इसके आधारपर मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं, कि "प्रत्येक प्राणीको अपने परिणामोंके अनुसार पुण्य, पाप और धर्म होता है" इस कथनका अभिप्राय उत्तरपक्षको इस रूपमें ग्रहण करना चाहिए कि जिस जीवित शरीरकी क्रियामें जीवका उपयोग लग रहा हो वह तो जीवकी क्रिया है और जिस जीवित शरीरकी क्रियामें जीवका उपयोग नहीं लग रहा हो वह जीवकी क्रिया न होकर वह शरीर की ही क्रिया है। इस तरह पुण्य, पाप और धर्म जीवकी क्रियासे ही सिद्ध होते हैं शरीरकी क्रियासे नहीं। इस तरह यदि उत्तरपक्ष मेरे इस कथन पर ध्यान देता है तो उसे पूर्वपक्षकी जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है—इस मान्यताको स्वीकार करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

४. प्रश्नोत्तर २ के तृतीय दौरकी समीक्षा

तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया है कि उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें हमारे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया है। इसके पश्चात् उसने उत्तरपक्षके द्वितीय दौरकी सामग्रीकी आगम प्रमाणोंके आधारपर आलोचना करते हुए आगम प्रमाणोंके आधारपर ही यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है।

तृतीय दौरमें उत्तरपक्षका प्रारम्भिक कथन और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौर में त० च० पृ० ८५ पर सर्वप्रथम "प्रथम और द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार" शीर्षकसे अन्तर्गत अपने प्रथम और द्वितीय दोनों दौरोंकी सामग्रीकी संगति बिठलानेका प्रयत्न किया है जो निम्न प्रकार है :—

(१) 'इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें हमने सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर दिया था कि जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसलिये उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है। वह न तो जीवका धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही। दूसरी यह बात स्पष्ट कर दी थी कि इसकी नोकर्ममें परिगणना की गई है। अतएव जीवभावमें यह निमित्त मात्र कही गई है। किन्तु निमित्त कथन असद्भूत व्यवहारनयका विषय होनेसे इस कथनको उपचरित ही जानना चाहिए।'

(२) "किन्तु अपरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियाका अजीव तत्वमें अन्तर्भाव करनेके लिए तैयार नहीं है। इसका खुलासा करते हुए प्रतिशंका २ में उसका कहना है कि 'जीवित शरीरको सर्वथा अजीव तत्त्वमें मान लेनेपर जीवित तथा मृतक शरीरमें कुछ अन्तर नहीं रह जाता' इस प्रतिशंकामें अन्य जो कुछ भी कथन हुआ है वह इसी आशयकी पुष्टि करता है।"

(३) 'अतएव इसके उत्तरमें निश्चय-व्यवहार धर्मका स्वरूप बतलाकर हमने लिखा है कि शरीर शरीरकी क्रियामें एकत्व बुद्धि यह अप्रतिबुद्धका लक्षण है। अतएव सम्यग्दृष्टि इससे धर्मकी प्राप्ति नहीं मानता। अधर्मकी प्राप्ति भी उससे होती है ऐसी भी मान्यता उसकी नहीं रहती। वह तो कार्यकालमें निमित्त मात्र है।'

उत्तरपक्षके इन तीनों अनुच्छेदोंकी समीक्षामें मेरा मात्र इतना ही कहना है कि यदि उत्तरपक्ष मेरे प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षाके प्रथम और द्वितीय दोनों दौरोंकी समीक्षाके कथनोंपर ध्यान देता है तो उसे अपनी प्रकृत विषय सम्बन्धी भूलका पता हो सकता है। इसलिये इस विषयमें मुझे यहाँपर अब कुछ कहना शेष नहीं है।

उत्तरपक्षने अपने 'प्रथम और द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार' शीर्षकके अन्तर्गत उक्त कथनके आगे 'प्रतिशंका तीनके आधारसे विचार' शीर्षकसे पूर्वपक्षके तृतीय दौरकी सामग्रीकी आलोचना करते हुए अपने मन्तव्यके समर्थनमें जो कुछ लिखा है उसकी समीक्षा यहाँ यथाक्रमसे की जाती है।

कथन १ और उसकी समीक्षा

सर्वप्रथम त० च० पृ० ८५ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है—'हमने प्रथम उत्तरमें ही यह स्पष्टीकरण किया है कि जीवित शरीरकी क्रिया जीवका न तो धर्म है और न अधर्म ही। इसपर अपरपक्षका कहना है कि यह हमारे मूल प्रश्नका उत्तर नहीं है। समाधान यह है कि यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्मकी प्राप्ति स्वीकार की जाये तो उसे आत्माका धर्म-अधर्म भी मानना अनिवार्य हो जाता है।' आगे इस कथनके समर्थनमें उसने (उत्तरपक्षने) समयसारगाथा १६७ और रत्नकरण्ड श्रावकाचार पद्य ३ को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'जो धर्म और अधर्मके कारण हैं वे स्वयं धर्म और अधर्म भी हैं।' इसकी समीक्षा निम्न प्रकार है—

(क) पूर्वपक्षके प्रतिशंका २ और ३ के विवेचनों पर ध्यान देनेसे यह बात समझमें आती है कि उसे उत्तरपक्षकी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाको पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर उसे अजीव तत्वमें अर्न्तभूत करने और उससे आत्मामें धर्म-अधर्म न माननेके विषयमें कुछ भी आपत्ति नहीं है। मैंने अपनी प्रकृत विषय संबंधी समीक्षामें भी इस बातको स्पष्ट कर दिया है। परन्तु वहीं पर मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पूर्वपक्षकी एक अन्य मान्यता यह भी है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय न होकर जीवकी ही पर्याय है अतः उसका अन्तर्भाव अजीव तत्वमें न होकर जीव तत्वमें ही होता है व वह क्रिया आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्ममें कारण भी होती है। और मैंने अपनी उक्त समीक्षामें यह भी स्पष्ट किया है कि 'पूर्वपक्षका प्रश्न भी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाके विषयमें न होकर शरीरके सहयोगसे होने-वाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाके विषयमें ही है।'

(ख) उत्तरपक्षके द्वारा पूर्वपक्षकी शंका एक व प्रतिशंका २ और ३ के विषयमें दिये गये उत्तरोंपर ध्यान देनेसे यह बात समझमें आती है कि वह पक्ष जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीर-की क्रियाके समान शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाको भी पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर उसको अजीव तत्वमें ही अर्न्तभूत करता है और उससे भी वह आत्मामें धर्म और अधर्म नहीं मानना चाहता है, क्योंकि उसकी मान्यता है कि दाँतों से काटना, मारना, पीटना, तलवार-बन्दूक-लाठी चलाकर दूसरोंका घात करना, पूजा-प्रक्षाल करना, सत्पात्रोंको दान देना व अणुव्रत-महाव्रत आदिको धारण करना आदि क्रियायें भी पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं। अतः उनका अजीव तत्वमें ही अन्तर्भाव होनेसे उनसे आत्मामें धर्म और अधर्म नहीं होते हैं। परन्तु उत्तरपक्षकी इस प्रकारकी मान्यताको मैं अपने विवेचनमें आगम-विरुद्ध स्पष्ट कर चुका हूँ। और मैं वहीं यह भी स्पष्ट कर चुका हूँ कि दाँतोंसे काटना आदि उक्त सभी क्रियायें पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें न होकर जीवकी ही पर्यायें हैं। केवल इतनी बात अवश्य है कि वे जीवकी पर्यायें होकर भी पुद्गलके सहयोगसे हुआ करती हैं। अतः उनका अन्तर्भाव अजीव तत्वमें न होकर जीव तत्वमें ही होता है और उनसे आत्मामें धर्म और अधर्म हुआ करते हैं।

(ग) मैंने प्रकृत विषयके संबंधमें सामान्य समीक्षामें तथा प्रथम और द्वितीय दोनों दौरोंकी समीक्षामें यह भी स्पष्ट किया है कि "जीवित शरीरकी क्रिया" इस पदमें पठित 'शरीर' शब्दसे शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और काय इन तीनोंका ग्रहण विवक्षित है तथा इन तीनोंके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियायें जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन हैं व धर्म और अधर्म आत्माकी

भाववती शक्तिके परिणमन हैं। एवं वे सभी क्रियायें आत्मामें उक्त धर्म और अधर्मके होनेमें कारण होती हैं। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप जीवित शरीरकी क्रियाओंमें और आत्माकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप धर्म और अधर्ममें कार्य-कारणभाव सिद्ध हो जानेसे यह निर्णीत हो जाता है कि जीवकी वे क्रियायें स्वयं धर्म और अधर्म रूप नहीं हैं। इतना अवश्य है कि जीवकी उन क्रियाओंको जीवके ही धर्म और अधर्म रूप परिणमनोंमें कारण होनेसे व्यवहार रूपसे धर्म और अधर्म कहा जाना आगमसे समर्थित होनेसे पूर्वपक्षको मान्य है।

(घ) मेरे इस विवेचनसे उत्तरपक्षका 'यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म और अधर्मकी प्राप्ति स्वीकारकी जाये तो उसे आत्माका धर्म-अधर्म भी मानना अनिवार्य हो जाता है।' यह कथन भी निरर्थक हो जाता है।

(च) मैंने प्रकृत विषयके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें यह भी स्पष्ट कर दिया है कि शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और कायके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप जीवित शरीरकी क्रिया यदि संसार, शरीर और भोगोंके प्रति अथवा देवपूजा आदिके प्रति प्रवृत्तिरूप हो तो उसे जीवके साथ यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंके होनेवाले बन्धमें कारण होनेसे जीवके अधर्मभावमें कारण माना गया है तथा वह जीवित शरीरकी क्रिया यदि उक्त प्रकारकी शुभ और अशुभ प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप हो तो उसे कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण होनेसे जीवके धर्मभावमें कारण माना गया है।

(छ) इस विवेचनसे यह बात भी समझमें आ जाती है कि जीवकी उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिरूप व उस प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप जीवित शरीरकी क्रियासे कर्मोंका यथायोग्य बन्ध या संवर और निर्जरण होना ही जीवकी क्रियावती शक्तिकी सार्थकता है। यतः उत्तरपक्ष शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन और कायके सहयोगसे होनेवाली 'दाँतोंसे काटना' आदि उल्लिखित प्रवृत्तिरूप शुभ और अशुभ क्रियाओंको और उन प्रवृत्तिरूप शुभ और अशुभ क्रियाओंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप क्रियाओंको जीवकी पर्याय न मानकर पुद्गलकी ही पर्याय मानता है, अतः इन प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप क्रियाओंमें जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप धर्म और अधर्मकी कारणताका अभाव सिद्ध हो जानेसे वह पक्ष उक्त धर्म और अधर्मकी कारणता पूर्वक्षणवर्त्ती जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप धर्म और अधर्ममें ही मान लेना चाहता है जिससे उसके सामने जीवको क्रियावती शक्तिकी क्या सार्थकता है? यह प्रश्न विचारणीय हो गया है जिसका समाधान करना उसके वशकी बात नहीं है।

(ज) इसके अतिरिक्त तत्वार्थसूत्रके 'कायवाङ्मनः कर्म योगः (६-१)' और 'स आस्रवः (६-२)' सूत्रोंपर तथा आगमके अन्य इसी प्रकारके वचनोंपर भी ध्यान दिया जाये तो समझमें आ सकता है कि जीवके साथ पौद्गलिक कर्मोंके बन्धका मुख्य कारण जीवकी क्रियावती शक्तिकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अर्थात् मन, वचन और कायके अवलम्बनसे होनेवाली प्रवृत्तिरूप क्रिया ही हैं जिसे आगममें योग नामसे कहा गया है। यद्यपि इस योगसे सामान्यतया कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होते हैं, परन्तु यह योग जबतक कषायोदयसे अनुरंजित रहता है तब तक इससे कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी होते हैं। और जब इसमें कषायका अनुरंजन समाप्त हो जाता है तब केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही कर्मोंके होते हैं, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध तब नहीं होते। और जब उक्त प्रकारके

योगका जीवमें सर्वथा अभाव हो जाता है तब कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध भी समाप्त हो जाते हैं। यह विवेचन पूर्वमें किया जा चुका है।

इस विवेचनसे मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनमें और पूर्वपक्षकी मान्यताके विरोधमें जो समयसार गाथा १६७ का उद्धरण अपने वक्तव्यमें दिया है उसका यही आशय ग्रहण करना युक्तिसंगत है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियारूप परिणमन जबतक बद्ध कर्मोंके उदयसे प्रभावित जीवको भाववती शक्तिके रागादि रूप परिणमनोंसे प्रभावित रहता है तबतक ही जीवके साथ कर्मोका बन्ध स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके रूपमें होता है। उक्त गाथाका यह आशय कि 'जब तक जीवकी भाववती शक्तिका रागादिरूप परिणमन होता रहता है तब तक ही कर्मोंका बन्ध हुआ करता है और जब उसका रागादिरूप परिणमन समाप्त हो जाता है तब कर्मोका बन्ध समाप्त हो जाता है' ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके रागादि रूप परिणमनोंकी समाप्ति हो जानेपर भी जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियारूप परिणमनोंके आधारपर कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध चालू रहते हैं। अतः उनका कारण जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनोंको न माना जाकर उसकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोंको ही उक्त आगम वचनोंके आधारपर माना जा सकता है। इसपर उत्तरपक्षको विचार करनेकी आवश्यकता है।

इसी तरह उत्तरपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनमें जो रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके पद्य ३ का उद्धरण दिया है उसका आशय भी निश्चयरूपमें इस रूप ग्रहण करना चाहिए कि मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधारपर जीवकी भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनके रूपमें निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रकट होते हैं व मोहनीयकर्मके उदयके आधारपर जीवकी भाववती शक्तिके विभावभूत परिणमनके रूपमें निश्चय मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र प्रगट होते हैं। जिनके प्रगट होनेकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(क) दर्शनमोहनीय कर्मके भेद मिथ्यात्व कर्मके उदयमें जीवकी श्रद्धारूप भाववती शक्तिके विभाव परिणमनके रूपमें निश्चयमिथ्यादर्शन रूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(ख) दर्शनमोहनीय कर्मके ही भेद सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदयमें जीवकी श्रद्धारूप भाववती शक्तिके विभाव और स्वभावके मिश्रित परिणमनके रूपमें निश्चयसम्यग्मिथ्यात्व रूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(ग) दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें जीवकी श्रद्धारूप शक्तिके स्वभाव परिणमनके रूपमें औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चय सम्यग्दर्शनरूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(घ) दर्शनमोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशममें उक्त निश्चयमिथ्यादर्शन, निश्चयसम्यग्मिथ्यादर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शनके समान ही जीवकी ज्ञानरूप भाववती शक्तिके यथायोग्य विकृत, विकृताविकृत और अविकृत परिणमनके रूपमें निश्चयमिथ्याज्ञान आदि रूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(च) चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें जीवकी चारित्ररूप भाववती शक्तिके विभाव परिणमनके रूपमें निश्चय मिथ्याचारित्ररूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(छ) उक्त अनन्तानुबन्धी कषायके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशममें उक्त निश्चय मिथ्याचारित्रके अभावके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके ही भेद अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायोंके उदयमें जीवकी चारित्ररूप भाववती शक्तिके विशिष्ट प्रकारके विभाव परिणमनके रूपमें निश्चय अविरतिरूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(ज) अनन्तानुबन्धी कषायके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशममें उक्त निश्चय मिथ्याचारित्रके अभावके साथ अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशममें जीवकी चारित्ररूप भाववती शक्तिके स्वभाव परिणमनके रूपमें निश्चयदेशविरतिरूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(झ) अनन्तानुबन्धी कषायके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें उक्त निश्चय मिथ्याचारित्रके अभावके साथ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंके क्षयोपशममें जीवकी चारित्ररूप भाववती शक्तिके स्वभाव परिणमनके रूपमें निश्चय सर्वविरतिरूप आत्मस्थिति हुआ करती है।

(ट) सम्पूर्ण चारित्रमोहनीय कर्मके उपशममें जीवकी चारित्ररूप भाववती शक्तिके स्वभाव परिणमनके रूपमें निश्चय औपशमिक चारित्ररूप आत्मस्थिति हुआ करती है। इसे यथाख्यातचारित्र भी कहा जाता है।

(ठ) सम्पूर्ण चात्रिमोहनीय कर्मके क्षयमें जीवकी चारित्ररूप भाववती शक्तिके स्वभाव परिणमनके रूपमें निश्चय क्षायिकचारित्ररूप आत्मस्थिति हुआ करती है। इसे भी यथाख्यातचारित्र कहा जाता है।

इसी प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचरके पद्य ३ का आशय व्यवहार रूपमें भी इस रूप ग्रहण करना चाहिए कि जीवकी जो भाववती और क्रियावती ये दो शक्तियाँ हैं उनमेंसे भाववती शक्तिका एक परिणमन तो मस्तिष्कके सहारेपर व्यवहार मिथ्याज्ञान और व्यवहार सम्यग्ज्ञान रूप होता है और दूसरा परिणमन मन (हृदय) के सहारेपर व्यवहार मिथ्यादर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन रूप होता है तथा क्रियावती शक्तिका परिणमन भी मन, वचन और कायके सहारेपर व्यवहार मिथ्याचारित्र और व्यवहार सम्यक्चारित्र रूप होता है। इनकी व्यवस्था निम्न प्रकार है।

(क) जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर व्यवहार मिथ्याज्ञानके रूपमें ऐसा परिणमन होता है कि जीव तत्त्वको अतत्त्व और अतत्त्वको तत्त्व समझता रहता है तथा वीतरागी देव, वीतरागताके पोषक शास्त्र और वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुको अहितकर व सरागी देव, सरागताके पोषक शास्त्र और सरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुको हितकर समझता रहता है। इसे जीवका अज्ञानभाव कहते हैं। इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर ही व्यवहार सम्यग्ज्ञानके रूपमें ऐसा परिणमन होता है कि जीव तत्त्वको तत्त्व और अतत्त्वको अतत्त्व समझने लगता है तथा वीतरागी देव, वीतरागताके पोषक शास्त्र और वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुको हितकर व सरागी देव सरागताके पोषक शास्त्र और सरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुको हितकर समझने लगता है उसे जीवका ज्ञानभाव कहते हैं।

(ख) जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर व्यवहारमिथ्यादर्शनके रूपमें ऐसा परिणमन होता है कि जीव तत्त्वमें अनास्था व अतत्त्वमें आस्था रखता है तथा वीतरागी देव, वीतरागताके पोषक शास्त्र और वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुमें अनादर भाव और सरागी देव, सरागताके पोषक शास्त्र और सरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुमें आदर भाव रखता है। इसे जीवका एकान्त, विपरीत, विनय और संशय

रूप दुरभिनिवेश कहते हैं। इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर ही व्यवहारसम्यग्दर्शनके रूपमें ऐसा परिणमन होता है कि जीव तत्त्वमें आस्था व अतत्त्वमें अनास्था रखने लगता है तथा वीतरागी देव, वीतरागताके पोषक शास्त्र और वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुमें आदरभाव व सरागी देव, सरागताके पोषक शास्त्र और सरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुमें अनादर भाव (माध्यस्थ्यभाव) रखने लगता है। इसे जीवका प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव रूप सम्यक्अभिनिवेश कहते हैं।

(ग) जीवकी क्रियावती शक्तिका मन, वचन और कायके सहारेपर व्यवहार मिथ्याचारित्रके रूपमें ऐसा परिणमन होता है कि जीव भाववती शक्तिके परिणाम स्वरूप आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति किया करता है।

(घ) जीवकी क्रियावती शक्तिका मन, वचन और कायके सहारेपर ही व्यवहार अविरतिके रूपमें ऐसा परिणमन होता है कि जीव भाववती शक्तिके परिणामस्वरूप अशक्तवश होनेवाली आरंभी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति किया करता है।

(च) जीवकी क्रियावती शक्तिका मन, वचन और कायके सहारेपर ही ऐसा भी परिणमन होता है कि जीव कर्तव्यवश होनेवाली पुण्यरूप शुभ प्रवृत्ति किया करता है।

(छ) जीव अपनी क्रियावती शक्तिकी मन, वचन और कायके सहारेपर आसक्तिवश और अशक्तिवश होनेवाली पाप परिणतिस्वरूप अशुभ प्रवृत्तिसे व मन, वचन और कायके सहारेपर ही कर्त्तव्यवश होनेवाली पुण्यपरिणतिस्वरूप शुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें यथाविधि निवृत्तिको प्राप्त हो जाया करता है।

यहां इतना विशेष समझना चाहिये कि शुभ और अशुभ प्रवृत्तियां कर्मबन्धका कारण होती हैं और शुभ तथा अशुभ प्रवृत्तिसे यथाविधि निवृत्ति कर्मसंवर और कर्मनिर्जरणका कारण होती है। इस विषयका विस्तृत विवेचन प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें किया जा चुका है।

यहां यह भी विशेष समझ लेना चाहिए कि जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले परिणमनके रूपमें निर्णीत उक्त व्यवहार मिथ्यादर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन तथा इसी भाववती शक्तिके मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले परिणमनके रूपमें निर्णीत उक्त व्यरहार मिथ्याज्ञान और व्यवहार सम्यग्ज्ञान अपने-अपने रूपमें कर्मबन्धके या कर्मसंवर व कर्म-निर्जरणके साक्षात् कारण नहीं होते हैं। कर्म-बन्ध या कर्म-संवर व कर्म-निर्जरणके अपने-अपने रूपमें साक्षात् कारण तो जीवकी क्रियावती शक्तिके उपर्युक्त प्रकारसे प्रवृत्तिरूप या निवृत्तिरूप आत्मपरिणमन ही हुआ करते हैं। भाववती शक्तिके वे परिणमन क्रियावती शक्तिके कर्मबन्ध या कर्मसंवर और कर्मनिर्जरणमें कारणभूत उक्त परिणमनोंको प्रभावित करने मात्रसे चरितार्थ हो जाया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप ज्ञान और श्रद्धानका सर्वथा अभाव व उनका मिथ्या या सम्यक् परिणमन इनमेंसे कोई भी कर्मबन्ध या कर्मसंवर और कर्मनिर्जरणके कारण नहीं हुआ करते हैं। तथा न अचेतन मन, वचन और कायकी क्रियाएं ही कर्मबन्धके या कर्मसंवर और कर्मनिर्जरणमें कारण होती हैं, केवल जीवकी क्रियावती शक्तिके उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिरूप या उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप परिणमन ही यथायोग्य कर्मबन्धके या कर्मसंवर और कर्म-निर्जरणके कारण हुआ करते हैं।

इसके अतिरिक्त यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि मिथ्यादृष्टि जीव प्रायः आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप प्रवृत्ति ही किया करते हैं। परन्तु बहुतसे मिथ्यादृष्टि जीव आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश होनेवाली पुण्यरूप प्रवृत्ति भी किया करते हैं। कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक अशक्तिवश होनेवाली आरंभी पापरूप प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश होनेवाली पुण्यरूप प्रवृत्ति किया करते हैं। इतना ही नहीं, कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप प्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक अशक्तिवश होनेवाली आरंभी पापरूप प्रवृत्तिका भी एक देश या सर्वदेश त्याग करते हुए यथायोग्य आवश्यकरूपसे या अनिवार्यरूपसे आरंभी पापरूप प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश होनेवाली पुण्यरूप प्रवृत्ति किया करते हैं।

यहांपर यह भी ध्यातव्य है कि ऐसी उक्त प्रकारकी सभी प्रवृत्तियां मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीव समान रूपसे यथावसर करते रहते हैं। परन्तु ये जीव इनके आधारपर कर्मोंका बन्ध ही किया करते हैं। इतना अवश्य है कि कोई बिरला मिथ्यादृष्टि भव्य यदि आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुख हो जावे तो वह यथायोग्य आरंभी पापरूप और पुण्यरूप प्रवृत्तियोंके करनेके आधारपर कर्मोंका बन्ध करते हुए भी आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप प्रवृत्तिसे निवृत्ति होनेके आधारपर कर्मोंका संवर और निर्जरण भी करने लग जाते हैं।

शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों और इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे होनेवाली निवृत्ति तथा उनसे होनेवाले यथायोग्य कर्मबन्ध या कर्मसंवर और कर्मनिर्जरण सम्बन्धी जीवकी आगेके गुणस्थानोंमें किस प्रकारकी व्यवस्था है इसे प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें विस्तारसे स्पष्ट कर दिया गया है।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षका 'जो धर्म और अधर्मके कारण हैं वे स्वयं धर्म और अधर्म भी हैं' यह कथन निरस्त हो जाता है, क्योंकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्म और अधर्म जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन हैं और उनमें जो यथायोग्य साक्षात् या असाक्षात् कारण होते हैं वे जीवकी भाववती और क्रियावती शक्तिके परिणमन हैं। इतना अवश्य है कि उन्हें जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप धर्म और अधर्ममें कारण होनेसे यदि व्यवहार धर्म कहा जाये तो यह आगम सम्मत है।

कथन २ और उसकी समीक्षा

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ८६ पर यह कथन किया है—'यतः अपरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म ओर अधर्मकी प्राप्ति मानता है अतः उस पक्षके इस कथनसे जीवित शरीरकी क्रिया भी स्वयं धर्म-अधर्म सिद्ध हो जाती है। यही कारण है कि मूल प्रश्नके उत्तरके प्रारम्भमें ही हमने यह स्पष्टीकरण करना उचित समझा कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं आत्माका धर्म ही है और न अधर्म ही। अपरपक्षने अपनी इस प्रतिशंका ३ में विधिमुखसे यह तो स्वीकार कर लिया है कि धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियां हैं और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होती हैं। किन्तु निषेध मुखसे वह पक्ष यह और स्वीकार कर लेता कि जीवित शरीरकी किया न तो स्वयं धर्म है और न अधर्म ही, तो उस पक्षके इस कथनसे यह शंका दूर हो जाती कि वह पक्ष अपनी मूल शंका द्वारा कहीं जीवित शरीरकी क्रियाको ही तो धर्म-अधर्म नहीं ठहराना चाह रहा है। अतः इस शंकाका निर्मूलन हो जाय इसी भावको ध्यानमें रखकर हमने प्रथम उत्तरके प्रारंभमें यह खुलासा किया है कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं आत्माका धर्म है और न अधर्म ही।'

उत्तरपक्षके इस कथनकी समीक्षामें भी मैं अधिक कुछ न कहकर केवल इतना कहना पर्याप्त समझता हूं कि उसका यह कथन भी मेरे उपर्युक्त विवेचनसे निरस्त हो जाता है, क्योंकि पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है तथा उत्तरपक्षका जो यह कहना है कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म नहीं होता है सो इसके विषयमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं है। इस तरह उत्तरपक्षके सामने पूर्वपक्षका 'जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?' यह प्रश्न शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाकी अपेक्षा अभी भी असमाहित होकर जैसा-का-तैसा खड़ा हुआ है।

उत्तरपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको जो जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया ही मान लेना चाहता है, सो इसका निराकरण मैं पूर्वमें इस आधारपर कर चुका हूं कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणाम होनेके कारण शरीरकी क्रिया न होकर जीवकी ही क्रिया सिद्ध होती है। अतः तत्त्वजिज्ञासुओंको इसपर विचार करना चाहिए।

इसी तरह उत्तरपक्षकी जो यह मान्यता है कि 'जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं आत्माका धर्म ही है और न अधर्म ही' तो यह मान्यता पूर्वपक्षको जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियारूप जीवित शरीरकी अपेक्षा तो मान्य है ही, साथ ही पूर्वपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाको भी आत्माका धर्म-अधर्म नहीं मानता है, क्योंकि वह पक्ष आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मको उसकी भाववती शक्तिका परिणाम मानता है और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको उसकी क्रियावती शक्तिका परिणाम मानता है जो क्रियावती शक्ति उस भाववती शक्तिसे भिन्नताको प्राप्त है। इतना अवश्य है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणामस्वरूप उस क्रियाको उसकी भाववती शक्तिके परिणामस्वरूप धर्म और अधर्ममें निमित्तकारण होनेसे वह पूर्वपक्ष पं० दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला (३-१) के 'कारण सो ववहारौ' वचनके अनुसार व्यवहार रूपसे आत्माका धर्म और अधर्म भी मान्य करता है। तत्वजिज्ञासुओंको इसपर भी विचार करनेकी आवश्यकता है।

कथन ३ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ८६ पर ही आगे यह कथन किया है—'अपरपक्षका कहना है कि आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें जीवित शरीरकी क्रियायें निमित्त हैं सो इसको हमारी ओरसे अस्वीकार कहाँ किया गया है। अपने दोनों उत्तरोंमें हमने इसे स्पष्ट कर दिया है किन्तु शरीर द्वारा होनेवाली समीचीन और असमीचीन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि आत्माके शुभाशुभ परिणामोंके आधार पर ही उन्हें समीचीन और असमीचीन कहा जाता है। वे स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं होतीं। यदि वे स्वयं समीचीन और असमीचीन होने लगें तो अपने परिणामोंके सम्हालकी आवश्यकता ही न रह जाय।'

उत्तरपक्षके इस कथनकी समीक्षामें मैं पहली बात यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षका यह कथन प्रकृतमें असंगत है, क्योंकि उसने पूर्वपक्षके कथनके आशयको विपरीत समझकर ही यह कथन किया है। अर्थात् जहाँ पूर्वपक्ष अपने कथनके 'जीवित शरीरकी क्रिया' इस वचनका 'शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया' यह अर्थ स्वीकार करके शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म मानता

है वहाँ उत्तरपक्ष उक्त कथनके 'जीवित शरीरकी क्रिया' इस वचनका पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत उक्त अर्थके विपरीत 'जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया' यह अर्थ स्वीकार करके जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होनेका निषेध करता है। यह सब मैं पूर्वमें स्पष्ट कर चुका हूँ। तत्व-जिज्ञासुओंको तत्वनिर्णय करनेकी दृष्टिसे दोनों पक्षोंकी मान्यताओंके इस अन्तरको समझनेकी आवश्यकता है।

उत्तरपक्षके उक्त कथनकी समीक्षामें मैं दूसरी बात यह कहना चाहता हूं कि आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्म तो दोनों पक्षोंकी मान्यतामें आत्माकी भाववती शक्तिके परिणमन हैं, परन्तु उनके होनेमें जहाँ पूर्वपक्ष जीवकी ही क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया रूप जीवित शरीरकी क्रियाको निमित्तकारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष इससे विपरीत जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया रूप जीवित शरीरकी क्रियाको उसमें निमित्तकारण मानता है। इस तरह दोनों पक्षोंके मध्य मान्यताओंका इतना मतभेद विद्यमान रहनेसे मैं कह सकता हूँ कि उत्तरपक्षके 'अपरपक्षका कहना है कि आत्माके धर्म-अधर्म के अभिव्यक्त होनेमें जीवित शरीरकी क्रियायें निमित्त हैं सो इसको हमारी ओरसे अस्वीकार कहाँ किया गया है?' इस कथनको असंगत ही समझना चाहिए, क्योंकि 'जीवित शरीरकी क्रिया' इस वचनका उत्तरपक्षको जब पूर्वपक्षके मान्य अर्थके विपरीत अर्थ ही अभीष्ट है तो उसके उक्त कथनको असंगत मानना युक्तियुक्त हो जाता है।

यद्यपि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें निमित्तभूत और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाके अभिव्यक्त होनेमें निमित्त होती है, अतः जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको भी आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें परम्परया निमित्त माना जा सकता है। परन्तु उत्तरपक्षके कथनसे ऐसा ध्वनित होता है कि वह जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें साक्षात् निमित्तकारण ही मानता है जबकि मैं ऊपर यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया ही साक्षात् निमित्त होती हैं, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरको क्रिया परम्परया ही निमित्त होती हैं, साक्षात् नहीं। इस तरह उत्तरपक्षका जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें साक्षात् निमित्त मानना असंगत सिद्ध हो जाता है।

इसी तरह उत्तरपक्ष द्वारा मान्य आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाकी साक्षात् निमित्तताके असंगत सिद्ध हो जानेसे उसका 'शरीर द्वारा होनेवाली समीचीन और असमीचीन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि आत्माके शुभाशुभ परिणामोंके आधारपर ही उन्हें समीचीन और असमीचीन कहा जाता है। वे स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं होतीं।' यह कथन अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि पूर्वपक्ष जब जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको आत्माके धर्म और अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें साक्षात् निमित्त मानता ही नहीं है तो उसकी समीचीनता और असमीचीनताके विषयमें विचार करना निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

एक बात और है कि आत्माके धर्म और अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें साक्षात् निमित्तभूत व शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको पूर्वपक्ष जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभाशुभ मानसिक

परिणामोंके आधारपर ही समीचीन और असमीचीन मानता है, वह स्वयं समीचीन और असमीचीन होती हैं—ऐसा पूर्वपक्ष नहीं मानता है, इसलिए भी उत्तरपक्षका उक्त कथन अनावश्यक सिद्ध हो जाता है।

प्रसंगवश यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्ष आत्माके शुभाशुभ परिणामोंके आधारपर जो शरीर द्वारा होनेवाली प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें समीचीनता और असीचीनताकी वात कर रहा है, वह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी प्रवृत्तियों (क्रियाओं) के सम्बन्धमें ही कर रहा है, क्योंकि वह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी प्रवृत्तियों (क्रियाओं) को ही यहाँ भ्रमवश जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी प्रवृत्तियाँ (क्रियायें) समझ रहा है। यह बात मैं पूर्वमें स्पष्ट कर चुका हूँ तथा वहींपर मैं उत्तरपक्षकी इस समझके मिथ्यापनको भी इस आधारपर स्पष्ट कर चुका हूँ कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया ये दोनों अपने-अपने पृथक्-पृथक् हेतु और आश्रयके आधारपर पृथक्-पृथक् ही सिद्ध होती हैं।

उत्तरपक्षके उक्त कथनकी समीक्षामें मैं तीसरी बात यह कहना चाहता हूं कि उस पक्षने अपने कथनके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'यदि वे स्वयं समीचीन और असमीचीन होने लगें तो अपने परिणामों के सम्हालकी आवश्यकता ही न रह जाय।' सो इस सम्बन्धमें भी मैं यही कहना चाहता हूँ कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया तो दूर रही, पूर्वपक्ष तो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको भी स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं मानता है, अपितु वह जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभाशुभ मानसिक परिणामोंके आधारपर ही उसे समीचीन और असमीचीनं मानता है, क्योंकि उसकी मान्यता है और जो आगमसम्मत है कि जीवका द्रव्य मन, वचन (मुख) और कायके सहयोगसे होनेवाला जीवकी ही क्रियावती शक्तिके परिणामस्वरूप योग एकादश, द्वादश और त्रयोदश इन तीन गुणस्थानोंमें भी हुआ करता है और वह योग इन तीनों गुणस्थानोंमें विद्यमान जीवोंके साथ सातावेदनीय कर्मके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धमें निमित्त भी होता है। वह उन गुणस्थानोंमें विद्यमान जीवोंके साथ उस कर्मके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धमें निमित्त नहीं होता, क्योंकि योगकी शुभता और अशुभतामें कारणभूत जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप उस जीवके शुभाशुभ मानसिक परिणाम कषायके उदयमें दशम गुणस्थान तक ही हुआ करते हैं, जिनके बलपर ही वह योग वहाँ कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धमें कारण होता है। इस तरह दशम गुणस्थानके अन्त समयमें जब कषायका सर्वथा उपशम या क्षय होता है तो एकादश, द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोंमें जीवके योगका सद्भाव रहते हुए भी उस योगकी शुभता और अशुभताका अभाव रहनेके कारण बन्धयोग्य सातावेदनीय कर्मका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध रूप बन्ध न होकर केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध रूप ही बन्ध होता है। इसके साथ यह भी कहना चाहता हूं कि आगममें जीवको अपने जिन परिणामोंकी सम्हालका उपदेश दिया गया है वे द्रव्य मनके सहयोगसे होनेवाले व जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभाशुभ परिणाम ही हैं, क्योंकि उन परिणामोंसे ही प्रभावित योग जीवमें कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबंधका कारण हुआ करता है। उत्तरपक्ष द्वारा अपने कथनके समर्थनमें त० च० पृ० ८६ पर उद्धृत सागारधर्मामृत अ० ४ पद्य २३ का व सर्वार्थसिद्धि अ० ६ सूत्र ३ का भी यही अभिप्राय है।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षका त० च० पृ० ८७ पर निर्दिष्ट 'हमें विश्वास है कि इस स्पष्टीकरण

के आधारपर अपरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियाओंके स्वयं समीचीन और असमीचीन होनेके विचारका त्याग कर अपने इस विचारको मुख्यता देगा कि प्रत्येक प्राणीको मोक्षके साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामोंकी सम्हालमें लगना चाहिए। संसारके छेदका एकमात्र यही भाव मूलकारण है, अन्यथा संसारकी वृद्धि होगी।' यह कथन भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उत्तरपक्षने अपना यह कथन पूर्वपक्षके अभिप्रायको न समझ सकनेके कारण ही किया है। यह बात ऊपरके कथनसे स्पष्ट हो जाती है। इसलिए तत्त्वजिज्ञासुओंसे अनुरोध है कि वे पूर्वपक्षके 'जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं' इस प्रश्नका सत्य समाधान मेरे इस समीक्षात्मक विवेचनके प्रकाशमें देखनेका प्रयत्न करें।

उत्तरपक्षने अपने उक्त कथनके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'प्रत्येक प्राणीको मोक्षके साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामोंकी सम्हालमें लगना चाहिए। संसारके छेदका एकमात्र यही भाव मूलकारण है, अन्यथा संसारकी वृद्धि होगी।' यह निर्विवाद है। परन्तु मैं इस विषयमें यह कहना चाहूँगा कि उत्तरपक्षने इस बातको स्पष्ट करनेका कहीं प्रयत्न नहीं किया है कि मोक्षके साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामोंकी सम्हाल करनेका उपाय क्या है? पूर्वपक्षका और मेरा इस सम्बन्धमें यह कहना है कि द्रव्य मन, वचन (मुख) और कायके अवलम्बनपूर्वक होनेवाली और जीवकी यथायोग्य भाववती और क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभाशुभ प्रवृत्तियोंसे यथाविधि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्ति प्राप्त करना ही मोक्षके साधनभूत स्वभावसन्मुख हुए परिणामोंकी सम्हाल करनेका उपाय है, जिसे उत्तरपक्ष अकिंचित्कर कहकर उपेक्षित करना चाहता है। यह सब पूर्वमें विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन ४ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ८७ पर ही लिखा है—'बाह्य क्रिया धर्म नहीं है, इस अभिप्रायकी पुष्टिमें ही हमने नाटक समयसारके वचनका उल्लेख किया था।'

इसकी समीक्षामें मेरा कहना इतना ही है कि उत्तरपक्षका यह कथन तो निर्विवाद है, परन्तु उसने जिस अभिप्रायसे इसको यहाँपर लिखा है उस अभिप्रायकी समीक्षा इसी प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें पूर्वमें कर चुका हूँ। पूर्वपक्षने भी अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंके कथनमें उत्तरपक्षके उस अभिप्रायकी आलोचना की है। तत्त्व-जिज्ञासुओंको उनपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

कथन ५ और उसकी समीक्षा

आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ८७ पर ही यह कथन किया है—"अपरपक्षका कहना है कि क्रियाको तो सर्वथा धर्म-अधर्म हम भी नहीं मानते। तो क्या इसपरसे यह आशय फलित किया जाय कि अपरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियाको कथंचित् धर्म-अधर्म मानता है? यदि यही बात है तो अपरपक्षके इस कथनकी कि 'धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियाँ हैं और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होती हैं।' क्या सार्थकता रही? इसका अपरपक्ष स्वयं विचार करे। यदि यह बात नहीं है तो उस पक्षको इस बातका स्पष्ट खुलासा करना था।"

इसकी समीक्षामें मैं प्रथम तो यही कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने यह कथन जीवित शरीरकी क्रियाके विषयमें पूर्वपक्षके अभिप्रायको विपरीत समझकर ही किया है क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है

कि प्रकृतमें शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको ही पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रिया मानता है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको नहीं। परन्तु उत्तरपक्ष इससे विपरीत जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको ही जीवित शरीरकी क्रिया मानता है, शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको नहीं। इतना ही नहीं, उत्तरपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको भी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया मानता है। दूसरे, मैं यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपने कथनमें जो यह लिखा है कि 'अपरपक्षका कहना है कि क्रियाको तो सर्वथा धर्म-अधर्म हम भी नहीं मानते तो क्या इसपरसे यह आशय फलित किया जाय कि अपरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियाको कथंचित् धर्म-अधर्म मानता है', सो इसके विषयमें मेरा यह कहना है कि पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रियाको कथंचित् धर्म-अधर्म तो स्वीकार करता है, परन्तु वह 'जीवित शरीरकी क्रिया' इस वचनका 'शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया' यह अर्थ मान्य करके ही ऐसा स्वीकार करता है, 'जीवित शरीरकी क्रिया' इस वचनका उत्तरपक्षको मान्य 'जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया' यह अर्थ मान्य करके नहीं। इसके साथ ही पूर्वपक्ष 'कथंचित्' पदका 'व्यवहार' अभिप्राय ग्रहण करता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता कि पूर्वपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियाको आत्माकी वास्तविक धर्म-अधर्मरूप परिणतियोंके प्रगट होनेमें कारण होनेके आधारपर व्यवहार अर्थात् उपचरितरूपसे धर्म-अधर्म स्वीकार करता है। व्यवहार या उपचारका स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें विस्तारसे किया गया है तथा आवश्यकतानुसार इस प्रश्नोत्तर २ की समीक्षामें भी पहले किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने इसी कथनमें आगे जो यह लिखा है कि "यदि यही बात है तो अपरपक्षके इस कथनको कि 'धर्म और अधर्म आत्माकी ही परिणतियाँ हैं और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होती हैं' क्या सार्थकता रही ?" सो इस विषयमें मेरा यह कहना है कि पूर्वपक्ष प्रकृतमें वास्तविक धर्म-अधर्म तो जीवकी भाववतीशक्तिके स्वाश्रित परिणामोंको मानता है तथा व्यवहाररूप या उपचरित धर्म-अधर्म जीवकी भाववतीशक्तिके मानसिक परिणामको व जीवकी क्रियावतीशक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणामोंको मानता है। इस तरह उत्तरपक्षका वहीं पर यह लिखना कि "यदि यह बात नहीं है तो उस पक्षको इस बातका स्पष्ट खुलासा करना था" अनावश्यक हो जाता है।

बात वास्तवमें यह है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रति जो आपत्ति प्रस्तुत की है, वह उसने 'जीवित शरीरकी क्रिया' इस वचनका 'जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया' यह अर्थ स्वीकार कर की है जबकि प्रकृतमें पूर्वपक्षने 'जीवित शरीरकी क्रिया' इस वचनका 'शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया' यही अर्थ स्वीकार किया है। अतः उत्तरपक्षको ही यह विचार करना है कि उसका कथन सम्यक् है या पूर्वपक्षका कथन सम्यक् है ? मैंने इस प्रश्नोत्तरमें जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट है कि पूर्वपक्षका कथन ही सम्यक् है, उत्तरपक्षका नहीं। तत्व-जिज्ञासुओंको ध्यान देकर इसका निर्णय करना चाहिये।

कथन ६ और उसकी समीक्षा

आगे त० च० पृ० ८७ पर ही उत्तरपक्षने लिखा है—'यह तो अपरपक्ष भी जानता है कि निमित्त और कारण पर्यायवाची संज्ञायें हैं। वह बाह्य भी होता है और आभ्यन्तर भी। उसमेंसे आभ्यन्तर निमित्त कार्यका मुख्य-निश्चय हेतु है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्र कारिका ५९ में मोक्षमार्गमें बाह्य निमित्तकी गौणता बतलाकर आभ्यन्तर हेतुको पर्याप्त कहा है। इस कारिकामें आया हुआ 'अंगभूतम्'

पद गौणपनेका ही सूचक है और तभी 'आभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते' इस वचनकी सार्थकता बन सकती है।"

आगे इसकी समीक्षाकी जाती है—

निमित्त शब्दको सामान्यतया कारणका पर्यायवाची मानना निर्विवाद है। परन्तु कारणके जब उपादान और निमित्त ये दो भेद स्वीकृत करना आवश्यक हो तो उपादानका अर्थ कार्यरूप परिणत होनेवाला और निमित्तका अर्थ उपादानका मित्रके समान स्नेहन करनेवाला अर्थात् सहायता करनेवाला कहना ही उचित है, क्योंकि उपादान और निमित्त दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्तिके आधारपर उनका पृथक्-पृथक् ऐसा ही अर्थ ध्वनित होता है। आगममें भी उपादान और निमित्त दोनों शब्दोंके अन्तरको स्पष्ट दिखलाया गया है। समयसारकी ८०-८२ गाथायें व पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी १२-१३ कारिकाएँ उपादान और निमित्त दोनों शब्दोंके अन्तरका स्पष्ट प्रतिपादन करती हैं।

'अंगभूत' पदका गौण अर्थ पूर्वपक्षको भी मान्य है—यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है। केवल इसके सम्बन्धमें दोनों पक्षोंके मध्य विवाद इस बातका है कि जहाँ पूर्वपक्ष 'तदंगभूतम्' पदको 'आभ्यन्तरम्' पदका विशेषण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उसे स्वतंत्रपद मान लेता है। यही कारण है कि दोनों पक्षों द्वारा स्वयंभूस्तोत्रके पद्य ५९ के स्वीकृत अर्थमें अन्तर पाया जाता है। उनमेंसे पूर्वपक्षका अर्थ सम्यक् है, उत्तर-पक्षका अर्थ सम्यक् नहीं है—इसका स्पष्टीकरण मैं पूर्वमें कर चुका हूँ। मैं पूर्वमें यह भी स्पष्ट कर चुका हूँ कि उत्तरपक्ष 'अंगभूत' पदका जब गौण अर्थ स्वीकार कर लेता है तो उसने 'आभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते' वचनका जो अर्थ स्वीकार किया है वह असंगत सिद्ध हो जाता है। इसी तरह उक्त पद्यमें पठित 'अलम्' पदका प्रकृतमें उत्तरपक्षको मान्य 'पर्याप्त' अर्थ ग्रहण न करके 'समर्थ' अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये। मैंने पूर्वमें 'अलम्' पदका 'समर्थ' अर्थ ही ग्रहण किया है।

कथन ७ और उसकी समीक्षा

आगे त० च० पृ० ८७ पर ही उत्तरपक्षने यह कथन किया है—'अपरपक्षने जीवित शरीरकी क्रिया-को आत्माके धर्म-अधर्ममें निमित्त स्वीकार करके यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों कारणोंकी पूर्णता आवश्यक है और इसके समर्थनमें स्वयंभूस्तोत्रका 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयम्' वचन उद्धृत किया है। किन्तु प्रकृतमें विचार यह करना है कि मोक्ष दिलाता कौन है? क्या शरीर मोक्ष दिलाता है या वज्रवृषभनाराचसंहनन मोक्ष दिलाता है या शरीरकी क्रिया मोक्ष दिलाती है? मोक्षकी प्राप्तिमें विशिष्ट कालको भी हेतु कहा है। क्या वह मोक्ष दिलाता है? यदि यही बात है तो आचार्य गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' १-१ इस सूत्रकी रचना न कर इसमें बाह्याभ्यन्तर सभी सामग्रीका निर्देश अवश्य करते। क्या कारण है कि उन्होंने बाह्य सामग्रीका निर्देश न कर मात्र आभ्यन्तर सामग्रीका निर्देश किया है, अपरपक्षको इसपर ध्यान देना चाहिए। किसी कार्यकी उत्पत्तिके समय आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रताके साथ बाह्य सामग्रीकी समग्रताका होना अन्य बात है और आभ्यन्तर सामग्रीके समान ही बाह्य सामग्रीको भी कार्यकी उत्पादक मानना अन्य बात है। 'अन्तरम्' 'महदन्तरम्' इस महान अन्तरको अपरपक्ष ध्यानमें ले, यही हमारी भावना है। यदि वह इस अन्तरको ध्यानमें ले ले तो उस पक्षको यह हृदयगंम करनेमें सुगमता हो जाय कि हम बाह्य सामग्रीको उपचरित कारण और आभ्यन्तर सामग्रीको अनुपचरित कारण क्यों कहते हैं? यह तो कोई भी साहसपूर्वक कह सकता है कि आत्मसन्मुख

हुआ आत्मा रत्नत्रयको उत्पन्न करता है और रत्नत्रयपरिणत आत्मा मोक्षको उत्पन्न करता है, परन्तु यह बात कोई साहसपूर्वक नहीं कह सकता कि जीवित शरीरकी क्रिया रत्नत्रय या मोक्षको उत्पन्न करती है।"

उत्तरपक्षके इस कथनसे ऐसा लगता है कि वह अपनेको तो तत्त्वज्ञ समझता है और पूर्वपक्षको अतत्त्वज्ञ समझता है। केवल यहीं पर नहीं, अपितु तत्त्वचर्चामें सर्वत्र उत्तरपक्षने ऐसा ही समझकर अपनी लेखनी चलाई है। लेखनी चलानेसे पूर्व उसने कहींपर भी यह समझनेका प्रयास नहीं किया कि पूर्वपक्षकी अमुक विषयमें क्या मान्यता है और वह अपने वक्तव्योंमें क्या कह रहा है? यदि वह पूर्वपक्षकी मान्यताओं और उसके वक्तव्योंके अभिप्रायोंको समझकर अपनी लेखनी चलानेकी बात सोचता तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वह (उत्तरपक्ष) अपनी लेखनी अनर्गल ढंगसे कदापि नहीं चलाता। उत्तरपक्ष द्वारा सर्वत्र अनर्गल ढंगसे लेखनी चलानेका यह परिणाम हुआ है कि तत्त्वचर्चा अत्यधिक लम्बायमान हो गई है और वह सार्थक भी नहीं हो सकी है।

प्रकृतमें उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें पूर्वपक्षके प्रति जो कुछ लिखा है उसके विषयमें मेरा कहना यह है कि जिस प्रकार उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीको उपचरित कारण और आभ्यन्तर सामग्रीको अनुपचरित कारण मानता है उसी प्रकार पूर्वपक्ष भी कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीको उपचरित कारण और आभ्यन्तर सामग्रीको अनुपचरित कारण मानता है। दोनों पक्षोंकी मान्यताओंमें अन्तर केवल यह है कि उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीको जो उपचरित कारण मानता है वह अकिंचित्कर रूपमें मानता है और पूर्वपक्ष कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीको जो उपचरित कारण मानता है वह अकिंचित्कर रूपमें न मानकर उपादानका सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी रूपमें मानता है। अब देखना यह है कि क्या उत्तरपक्ष साहसपूर्वक यह कह सकता है कि कोई भी भव्य जीव मानवशरीर प्राप्त किये बिना और उसमें भी वज्रवृषभनाराच संहनन प्राप्त किये बिना मोक्ष प्राप्त कर सकता है तथा वह क्या सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा और दुःषमा—इन तीन कालोंसे अतिरिक्त किसी अन्य कालमें मोक्ष प्राप्त कर सकता है? यदि नहीं, तो मोक्ष प्राप्तिमें इनको अकिंचित्कर कैसे माना जा सकता है? रही उपादानके समान इनको कारण माननेकी बात, सो पूर्वपक्ष इन सबको उपादानकारणके समान कारण कहाँ मानता है? वह तो इन्हें केवल उपादानका सहायक कारण ही मानता है, क्योंकि इनके अभावमें कोई भी भव्य जीव त्रिकालमें मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिये 'अन्तरं महदन्तरम्' की बात पूर्व पक्षपर लागू न होकर उत्तर पक्षपर ही लागू होती है। इस तरह उत्तरपक्षकी अपेक्षा मेरे इस कथनका ही वास्तविक मूल्य हो सकता है कि 'इस महान् अन्तरको उत्तरपक्ष ध्यानमें ले यही मेरी भावना है।'

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पूर्व पक्ष जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको मोक्षका साधन नहीं मानता है वह तो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको ही मोक्षका साधन मानता है और वह किस प्रकार मोक्षका साधन होती है तथा किस प्रकार संसारका साधन बन रही है, इसका स्पष्टीकरण प्रकृत प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें विस्तारसे किया जा चुका है, इसलिये उत्तरपक्षने अपने प्रकृत कथनमें 'यह तो कोई भी साहसपूर्वक कह सकता है' इत्यादि जो कुछ लिखा है वह सब निरर्थक ही सिद्ध होता है।

उत्तर पक्षने अपने प्रकृत कथनके समर्थनमें सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० १ में निर्दिष्ट निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

'संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः
कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्।'

इसका अर्थ उसने यह किया है कि 'संसारके कारणोंकी निवृत्तिके प्रति उद्यत हुए ज्ञानी पुरुषके कर्मके ग्रहणमें निमित्तभूत क्रियाका उपरत होना सम्यक्चारित्र है।'

मेरा कहना है कि पूर्वपक्षके लिये यह सब विवादकी वस्तु नहीं है। यह बात मेरे समीक्षात्मक विवेचनसे स्पष्ट हो जाती है। विवाद तो इस बातका है कि जहाँ उत्तरपक्ष इसमें 'क्रिया' पदसे जीवके सहयोगसे होने वाली शरीरकी क्रियाका अभिप्राय ग्रहण करता है वहाँ पूर्वपक्ष इसमें 'क्रिया' पदसे शरीरके सहयोगसे होने-वाली जीवकी क्रियाका अभिप्राय ग्रहण करता है। मेरे समीक्षात्मक विवेचनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि इनमेंसे पूर्वपक्षकी दृष्टि सम्यक् है और उत्तरपक्षकी दृष्टि असम्यक् है।

उत्तरपक्षने सर्वार्थसिद्धिके उक्त वचनके आधारपर आगे त० च० पृ० ८८ पर यह कथन किया है—"यह आगम वचन है। इससे विदित होता है कि रागमूलक और योगमूलक जो भी क्रिया होती है वह मात्र बन्धका हेतु है। अत्र अपरपक्ष ही बतलावे कि उक्त क्रियाके सिवाय और ऐसी शरीरकी कौन-सी क्रिया बचती है जिसे मोक्षका हेतु माना जाय। हमने भी जीवित शरीरकी क्रियाको धर्म-अधर्मकी निमित्त कहा है। किन्तु उसका इतना ही आशय है कि बाह्य विषयमें इष्टानिष्ट बुद्धि होनेपर उसके साथ जो भी शरीरकी क्रिया होती है उसे उपचारसे अधर्मका निमित्त कहा जाता है और इसी प्रकार आत्मसन्मुख हुए जीवके धर्म परिणतिके कालमें शरीरकी जो भी क्रिया होती है, उसे उपचारसे धर्मका निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्रको लक्ष्य कर शुभ भावके होनेपर उसके साथ जो भी क्रिया होती है उसे उपचारसे उसी भावका निमित्त कहा जाता है।"

इस कथनके सम्बन्धमें मैं पहली बात तो यह कहना चाहता हूँ कि पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार भी रागमूलक और योगमूलक जो भी क्रिया होती है वह बन्धका ही कारण होती है, परन्तु वह क्रिया जीवके सहयोगसे होने वाली शरीरकी क्रिया न होकर शरीरके सहयोगसे होने वाली जीवकी ही क्रिया है ऐसा मान्य करना ही आगम सम्मत है। इसमें विशेष यह ज्ञातव्य है कि वह क्रिया यदि केवल प्रवृत्तिरूप है तो वह बन्धका ही कारण होती है और वह क्रिया यदि यथायोग्य प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक हो रही है तो वह कर्मबन्धके साथ कर्मसंवर और कर्मनिर्जरणका भी कारण हो जाती है। इस विषयको प्रकृत प्रश्नोत्तरके सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें विस्तारके साथ स्पष्ट किया जा चुका है।

इस कथनके विषयमें मैं दूसरी बात यह कहना चाहता हूँ कि यहाँ प्रकरण इस बातका चल रहा है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिये भव्य जीवको मनुष्यदेहकी प्राप्ति होना व उसका वज्रवृषभनाराच संहननविशिष्ट होना आवश्यक है या नहीं? तथा सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा या दुःषमा कालकी प्रवृत्ति आवश्यक है या नहीं? उत्तरपक्षका कहना है कि मोक्षकी प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही होती है, परन्तु उस अवसर पर यह सब बाह्य सामग्री भी विद्यमान रहती है। पूर्व पक्षका कहना यह है कि मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही होती है, परन्तु उक्त बाह्य सामग्री उसकी सहायक हुआ करती है। उत्तरपक्ष-की मान्यतासे यह बात निश्चित होती है कि उक्त अवसरपर बाह्य सामग्रीका रहना नियत है तथा पूर्वपक्ष-को मान्यतासे यह बात निश्चित होती है कि उपादान सामग्रीके साथ यदि बाह्य सामग्रीका समागम हो जावे

तो ही कार्य निष्पन्न होगा और यदि उपादानको बाह्य सामग्रीका समागम प्राप्त नहीं हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्री अकिंचित्कर सिद्ध होती है व पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उसकी कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे कार्यकारिता सिद्ध होती है। दोनों पक्षोंके मध्य केवल इतना ही मतभेद है। मैंने इस समीक्षा-ग्रंथमें इस बातको सिद्ध किया है कि पूर्वपक्षकी मान्यता ही अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, युक्ति और आगमसे संगत सिद्ध होती है, उत्तरपक्षकी नहीं। अब तत्त्व-जिज्ञासुओंका कर्त्तव्य है कि वे स्वयं विचार कर इसका निर्णय करें।

उत्तरपक्षने अपने प्रकृत वक्तव्यमें अन्य जो कुछ लिखा है, उसके विषयमें पूर्वपक्षकी दृष्टिका स्पष्टीकरण मेरे उपर्युक्त विवेचन, इसी प्रश्नोत्तरके अन्य समीक्षात्मक विवेचन और प्रश्नोत्तर १ के समीक्षात्मक विवेचनसे हो जाता है।

आगे त० च० पृ० ८८ पर ही उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यके समर्थनमें तत्वार्थश्लोकवार्तिकके वचनको भी उपस्थित किया है। उसके विषयमें भी पूर्वपक्षके दृष्टिकोणका स्पष्टीकरण मेरे उपर्युक्त विवेचनसे, इसी प्रश्नोत्तरके अन्य समीक्षात्मक विवेचनसे और प्रश्नोत्तर १ के समीक्षात्मक विवेचनसे हो जाता है। इसी तरह उत्तरपक्षने वहींपर जो प्रमाणदृष्टि, निश्चयनयदृष्टि, व्यवहारनयदृष्टि, सद्भूतव्यवहारनयदृष्टि और असद्भूतव्यवहारनयदृष्टि—इनका विवेचन किया है, उनके विषयमें पूर्वपक्षके दृष्टिकोणका स्पष्टीकरण उपर्युक्त आधारोंपर ही हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्षके 'यह प्रमाणदृष्टि और निश्चयनयदृष्टिका निर्देशक वचन है। इससे हमें यह सुस्पष्टरूपसे ज्ञात हो जाता है कि सम्यग्दर्शनादि एक-एकको मोक्षका कारण कहना यह सद्भूत होकर भी जबकि व्यवहारनयका सूचक वचन है ऐसी अवस्थामें विशिष्ट काल या शरीरकी क्रियाको उसका हेतु कहना यह तो असद्भूत व्यवहार वचन ही ठहरेगा। इसे यथार्थ कहना तो दो द्रव्योंको मिलाकर एक कहनेके बराबर है।' इस कथनके विषयमें भी पूर्वपक्षका स्पष्टीकरण यही है कि प्रमाणका विषय, निश्चयनयका विषय, व्यवहारनयका विषय, सद्भूत व्यवहारनयका विषय और असद्भूत व्यवहारनयका विषय—ये सभी अपने-अपने ढंगसे वास्तविक ही हैं, कोई भी कल्पनारोपित या कथन मात्र नहीं हैं। क्या उत्तरपक्ष कह सकता है कि नाना अणुरूप वास्तविक पुद्गल द्रव्योंके परस्पर बन्धसे जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अवास्तविक (उपचरित) पदार्थोंका निर्माण होता है वे सब पदार्थ कल्पनारोपित या कथन मात्र ही हैं। यदि ऐसा माना जाय तो इन पदार्थोंका जो लोकमें उपयोग देखनेमें आता है, उसे भी काल्पनिक और कथन मात्र मानना होगा जो उत्तरपक्षको भी अभीष्ट नहीं होगा, क्योंकि ऐसा माननेसे उसके समस्त जीवन-व्यवहार ही समाप्त हो जावेंगे। इसलिये यही मानना श्रेयस्कर है कि दो द्रव्य मिलकर एक अर्थात् तादात्म्य-सम्बन्धाश्रित वास्तविक द्रव्य न होते हुए भी संयोग-सम्बन्धाश्रित रूपसे तो वे वास्तविक हैं ही। जैनदर्शनके अनेकान्तवादका यही चमत्कार है।

कथन ८ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ८८ पर ही आगे यह लिखा है—'अपरपक्षका कहना है कि मात्र बाह्य या आभ्यन्तरको ही कारण माननेपर पुरुषके मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती।' आदि—इसके आगे इसके समाधानके रूपमें उसने लिखा है—

'समाधान यह है कि जिस समय जो कार्य होता है उस समय उसके अनुकूल आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रताके समान बाह्य सामग्रीकी समग्रता होती ही है। इसीका नाम द्रव्यगत स्वभाव है। किन्तु इन दोनोंमें से किसमें किस रूपसे कारणता है इसका विचार करनेपर विदित होता है कि बाह्य सामग्रीमें कारणता असद्भूत व्यवहारनयसे ही बन सकती है। आभ्यन्तर सामग्रीमें कारणताको जिस प्रकार सद्भूत माना गया है, उसी प्रकार यदि बाह्य सामग्रीमें भी कारणताको सद्भूत माना जाय तो पुरुषकी मोक्ष विधि नहीं बन सकती। यह उक्त कारिकाका आशय है।' आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

कारिकाका क्या आशय है? यदि इसे दूर रखा जाय तो कहा जा सकता है कि उत्तरपक्षका यह लेख विवादका विषय नहीं है, ऐसी स्थितिमें उसने पूर्वपक्षके प्रति जो यह धारणा बना ली है कि वह बाह्य सामग्रीमें भी कारणताको आभ्यन्तर सामग्रीमें विद्यमान कारणताके सदृश सद्भूत मानता है सो उसका यह या तो भ्रम है या जानते हुए भी वह उसपर यह आरोप तत्त्व-जिज्ञासुओंको भुलावेमें डालनेके लिये लगा रहा है। कुछ भी हो, इसमें मेरा कहना तो यह है कि पूर्वपक्षकी मान्यता तो यह है कि कार्यके प्रति आभ्यन्तर सामग्री भी कारण होती है और बाह्य सामग्री भी कारण होती है। आभ्यन्तर सामग्रीकी कारणता तादात्म्य संबंधाश्रित होनेसे निश्चयनय या सद्भूत व्यवहारनयका विषय है और बाह्य सामग्रीकी कारणता संयोग संबंधाश्रित होनेसे असद्भूत व्यवहारनयका विषय है, क्योंकि आभ्यन्तर सामग्री कार्यरूप परिणत होती है और बाह्य सामग्री उस कार्यमें उपादानकी सहायक होती है। इस तरह दोनों ही अपने-अपने ढंगसे कार्यकारी हुआ करती हैं। दोनोंमें कोई भी अकिंचित्कर नहीं रहा करती हैं। इससे निर्णीत होता है कि दोनों पक्षोंके मध्य विवाद कार्योत्पत्तिके प्रति बाह्य सामग्रीमें विद्यमान कारणताको असद्भूत मानने न माननेका नहीं है, अपितु विवाद इस बातका है कि जहाँ पूर्वपक्ष बाह्य सामग्रीमें स्वीकृत कारणताको कार्योत्पत्तिमें उपादानकी सहायकताके रूपमें कार्यकारी स्वीकार करता है वहाँ उत्तरपक्ष बाह्य सामग्रीमें स्वीकृत कारणताको कार्योत्पत्तिके प्रति सहायक न होने रूपमें सर्वथा अकिंचित्कर स्वीकार करता है। प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पूर्वपक्षकी मान्यता सम्यक् है उत्तरपक्षकी मान्यता सम्यक् नहीं है। उपर्युक्त कारिकाका क्या आशय है, यह पूर्वमें इसी प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें स्पष्ट कर दिया गया है।

कथन ९ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने आगे त० च० पृ० ८९ पर यह कथन किया है—"अपरपक्षने इसी प्रसंगमें 'यद्वस्तु बाह्यं' इत्यादि कारिकाका उल्लेख कर अपनी दृष्टिसे उसका अर्थ किया है किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि उसका अर्थ करते समय एक तो 'आभ्यन्तरमूलहेतोः' पदको 'गुणदोषसूतेः' का विशेषण नहीं बनाकर 'अध्यात्मवृत्तस्य आभ्यन्तरमूलहेतोः तत् अंगभूतम्' ऐसा अन्वय कर उसका अर्थ किया है। दूसरे, 'अंगभूतम्' पदका अर्थ प्रकृतमें 'गौण' है। किन्तु यह अर्थ न कर उसका अर्थ करते समय साभिप्राय उस पदको वैसा ही रख दिया है। तीसरे, चौथे चरणमें आये हुए 'अलम्' पदकी सर्वथा उपेक्षा करके उसका ऐसा अर्थ किया है जिससे पूरी कारिकासे ध्वनित होनेवाला अभिप्राय ही मटियामेट हो गया है।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने प्रतिशंका २ का समाधान करते हुए त० च० पृ० ७९ पर 'यद्वस्तु बाह्यं' इत्यादि कारिकाका अपने पक्षके समर्थनमें उद्धरण देकर उसका जो अर्थ किया है, उससे पूर्वपक्ष सहमत नहीं था और न है भी। इसका स्पष्टीकरण मैंने प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें विस्तारके साथ किया है।

इतना अवश्य है कि कारिकाका अर्थ करनेमें पूर्वपक्षने जो मार्ग अपनाया है उससे भी उसका (कारिकाका) अभिप्राय मटियामेट नहीं हुआ है, तथापि मैं मानता हूँ कि 'आभ्यन्तरमूलहेतोः' पद कारिकामें 'गुणदोषसूतेः' पदका विशेषण मान्य करना भी अनुचित नहीं है, इसलिये मैंने समीक्षा-प्रकरणमें उसे 'गुणदोषसूतेः' पदका विशेषण स्वीकार करके ही उसका अर्थ किया है। इस तरह उक्त कारिकाके दो अर्थ विचारणीय हो जाते हैं—एक तो उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ और दूसरा मेरे द्वारा स्वीकृत अर्थ। दोनों अर्थ निम्न प्रकार हैं—

उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ यह है कि अभ्यन्तर अर्थात् उपादान कारण जिसका मूल हेतु है, ऐसी गुण और दोषोंकी उत्पत्तिका जो बाह्य वस्तु निमित्त मात्र है, मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए जीवके लिये वह गौण है, क्योंकि हे भगवन्! आपके मतमें उपादान हेतु कार्य करनेमें पर्याप्त है ॥५९॥ (त० च० पृ० ७९)। उत्तरपक्ष द्वारा त० च० पृ० ८९ पर जो अर्थ किया गया है, वह भी इसीसे मिलता-जुलता है।

मेरे द्वारा स्वीकृत अर्थ यह है कि अभ्यन्तर अर्थात् अन्तरंग परिणाम जिसका मूल हेतु है ऐसे गुणों और दोषोंकी उत्पत्तिका जो बाह्य वस्तु निमित्त अर्थात् अवलम्बन है अध्यात्ममें प्रवृत्त (लोकोत्तर) जनके लिये वह बाह्य वस्तु जिसकी अंग अर्थात् गौण रूपसे सहायक बनी हुई है ऐसा अन्तरंग परिणाम केवल भी हे भगवन्! आपके मतमें समर्थ है—(प्रश्नोत्तर २ के द्वितीय दौरकी समीक्षा)।

मैंने प्रश्नोत्तर २ के द्वितीय दौरकी समीक्षामें जो प्रकृत विषयका स्पष्टीकरण किया है उससे निर्णीत हो जाता है कि उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ उक्त कारिकाका सम्यक् अर्थ नहीं है अपितु मेरे द्वारा स्वीकृत अर्थ ही सम्यक् है। अब यदि तत्त्वजिज्ञासुजन दोनों अर्थोंपर ध्यान दें तो उन्हें भी समझमें आ जायगा कि पूर्वपक्ष द्वारा या मेरे द्वारा कृत अर्थसे कारिकासे ध्वनित होनेवाला अभिप्राय मटियामेट नहीं हुआ है, अपितु उत्तरपक्ष द्वारा कृत अर्थसे ही यह मटियामेट हुआ है क्योंकि पूर्वपक्षने या मैंने तो अपने अर्थमें आगमको ध्यानमें रखा है, परन्तु उत्तरपक्षने अपने अर्थमें आगमकी पूर्णतया उपेक्षा कर दी है। इसका स्पष्टीकरण इसी प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें किया गया है।

आगे वहींपर उत्तरपक्षने लिखा है कि "कारिकामें आया हुआ 'अपि' पद 'एवं' अर्थको सूचित करता है" सो उसका यह कहना उचित न होकर 'अपि' पदका 'भी' अर्थ करना ही उचित है। यह बात भी प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें मेरे द्वारा कृत स्पष्टीकरणसे जानी जा सकती है।

अपने प्रकृत कथनमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है—'दूसरे अंगभूतम्' पदका अर्थ प्रकृतमें 'गौण' है। किन्तु यह अर्थ न कर उसका अर्थ करते समय साभिप्राय उस पदको वैसा ही रख दिया है।' सो उत्तरपक्षका पूर्वपक्षके प्रति यह लिखना असत्य है क्योंकि पूर्वपक्षने इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह निम्न प्रकार है—

स्वयंभूस्तोत्रके इससे पूर्ववर्ती श्लोक—'यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः'—का जो अर्थ आपने अपने प्रत्युत्तरमें किया है उससे बाह्येतरोपाधि-श्लोकके साथ पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है, इसलिये हमारी दृष्टिसे यदि उसका निम्न प्रकार अर्थ किया जाय तो उससे पूर्वापर विरोध ही दूर नहीं होता, बल्कि संस्कृत टीकाकारके भावकी भी सुरक्षा होती है।

अर्थ—गुण, दोषकी उत्पत्तिमें जो बाह्य वस्तु निमित्त है वह चूँकि अध्यात्मवृत्त-आत्मामें होनेवाली शुभाशुभ लक्षणरूप अन्तरंग मूल कारणका अंगभूत है—सहकारी कारण है, अतः केवल अन्तरंग भी कारण कहा जा सकता है।

फिर यह पात्रकी विशेषताको लक्ष्यमें रखकर कथन किया गया हैं, अतः इससे कार्य-कारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता। पात्रकी विशेषताको दृष्टिमें रखकर किसी कथनको विवक्षित-मुख्य और अविवक्षित-गौण तो किया जा सकता है परन्तु उसे अवस्तुभूत-अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।' (त० च० पृ० ७९)।

पूर्वपक्षके इस लेखसे स्पष्ट होता है कि पूर्वपक्षको 'अंग' शब्दका गौण अर्थ ही अभीष्ट है। इसकी पुष्टि पूर्वपक्ष द्वारा वहींपर लिखे गये उक्त कथनसे हो जाती है। अतः उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें दूसरे 'अंगभूतम्' पदका अर्थ प्रकृतमें 'गौण' है। किन्तु यह अर्थ न कर उसका अर्थ करते समय साभिप्राय उस पदको वैसा ही रख दिया है' ऐसा जो असत्य कथन कर दिया है, यह आश्चर्य और दुःखकी बात है।

कथन १० और उसकी समीक्षा

त० च० पृ० ८९ पर ही आगे उत्तरपक्षने यह कथन किया है—"अपरपक्षने उक्त कारिकाका अपने अभिप्रायसे अर्थ करनेके बाद जो यह लिखा है कि ''फिर यह पात्रकी विशेषताको लक्ष्यमें रखकर कथन किया गया है, अतः इससे कार्यकारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता। पात्रकी विशेषताको दृष्टिमें रखकर किसी कथनको विवक्षित-मुख्य और अविवक्षित-गौण तो किया जा सकता है, परन्तु उसे अवस्तुभूत-अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।'' उसका समाधान यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि पात्रविशेषको लक्ष्यमें रखकर यह कारिका लिखी गई है, क्योंकि जो अध्यात्मवृत्त जीव होता है उसकी दृष्टिमें असद्भूत और सद्भूत दोनों प्रकारका व्यवहार गौण रहता है, क्योंकि परमभावग्राही निश्चयको दृष्टिमें गौण कर तथा सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहारको दृष्टिमें मुख्य कर प्रवृत्ति करना यह तो मिथ्यादृष्टिका लक्षण है, सम्यग्दृष्टिका नहीं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २ में स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) और परसमय (मिथ्या-दृष्टि) का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थित है वह स्व-समय हैं और जो पुद्गलकर्मप्रदेशोंमें स्थित है वह पर-समय है। यह दृष्टिकी अपेक्षा कथन है।"

आगे इसकी समीक्षा की जाती है।

जैनागममें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे छह प्रकारकी वस्तुयें मानी गई हैं। इनमेंसे प्रत्येक वस्तु एक-दूसरी वस्तुसे भिन्नताको प्राप्त है। यहाँ तक कि अनन्त जीव परस्पर भिन्नताको प्राप्त हैं; अनन्त पुद्गल परस्पर भिन्नताको प्राप्त हैं और असंख्यात काल परस्पर भिन्नताको प्राप्त हैं। जीवोंमें यह विशेषता है कि वे अपनेसे भिन्न वस्तुओंको भी अपनेरूप या अपनी मान रहे हैं जो मिथ्या है। इस तरह समयसार गाथा २ में आचार्य कुन्दकुन्दने यह बतला दिया है कि जो जीव परको अपना या अपने रूप मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जिस जीवने परको अपना या अपने रूप मानना छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रको ही अपना या अपने रूप मान लिया है, वह सम्यग्दृष्टि है।

इसी तरह कार्योत्पत्ति उपादान और निमित्त दो प्रकारके कारणोका योग मिलनेपर होती है। इन दोनों प्रकारके कारणोंमेंसे उपादान तो कार्यरूप परिणत होने रूपसे कारण होता है और निमित्त उसमें सहायक होने रूपसे कारण होता है। जैनागमकी यही मान्यता है। अब यदि कोई जीव निमित्तकारणको उपादानकारणके सदृश कारण मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है और वह भी मिथ्यादृष्टि है जो निमित्त कारणकी सहायता प्राप्त हुए बिना ही उपादानसे कार्योत्पत्ति मानता है तथा जो कार्योत्पत्तिमें उपादान

कारण और निमित्तकारण दोनोंके योगदानको उपर्युक्त प्रकारसे यथारूप (जैसा है वैसा) मानने लगता है और कार्योत्पत्तिमें उनकी उस रूपसे उपयोगिताको समझने लगता है वह सम्यग्दृष्टि है।

यहाँ इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि संयोग सम्बन्धके आधारपर सम्यग्दृष्टि जीव भी 'यह मेरा पुत्र है' 'यह मेरा मकान है' इत्यादि प्रकारके अपनेपनकी बुद्धि किया करता है। और इसे जैनागममें मिथ्यादृष्टि नहीं माना गया है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव घटोत्पत्तिमें कुम्भकारके सहायक होनेके आधारपर 'कुम्भकारने घट बनाया' ऐसा मानता है तो उसे भी जैनागममें मिथ्यादृष्टि नहीं माना गया है। अर्थात् तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षा जो बात मिथ्या है वह संयोग सम्बन्धकी अपेक्षा सत्य हो जाती है। इसी प्रकार कार्यरूप परिणतिके रूपमें यदि निमित्तकारणताको मिथ्या कहा जाता है तो वही निमित्तकारणता कार्यमें उपादानके प्रति सहायकपनेकी अपेक्षा सत्य भी मानी जाती है।

इस तरह प्रकृत वक्तव्यमें उत्तपक्षने जो यह लिखा है कि परमभावग्राही निश्चयको दृष्टिमें गौणकर तथा तद्भूत व्यवहार और ससद्भूत व्यवहारको दृष्टिमें मुख्यकर प्रवृत्ति करना यह तो मिथ्यादृष्टिका लक्षण है, सो उसका ऐसा लिखना जैनागमके विपरीत है, क्योंकि निश्चयदृष्टिको गौण और व्यवहार दृष्टिको मुख्य तो सम्यग्दृष्टि भी कर सकता है। इसलिए व्यवहारदृष्टिको निश्चयदृष्टि बना लेना ही मिथ्यादृष्टिका लक्षण है—ऐसा जानना चाहिए।

आगे अपने मतकी पुष्टिके लिए उत्तरपक्षने वहींपर पण्डितप्रवर दौलतरामजीके 'हम तो कबहूँ न घर आये' इत्यादि भजनको भी उद्धृत किया है। परन्तु उससे उत्तरपक्षके दृष्टिकोणका समर्थन न होकर मेरे उपर्युक्त समीक्षात्मक दृष्टिकोणका ही समर्थन होता है। तत्त्वजिज्ञासुओंको इसपर ध्यान देना चाहिये।

कथन ११ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ८९-९० पर यह कथन किया है—"अपरपक्षने जो यह लिखा है कि "अतः इससे कार्यकारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता है।" हम इसे भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि उपचरित और अनुपचरित दोनों दृष्टियोंको मिलाकर प्रमाणदृष्टिसे आगममें कार्य-कारणकी जो व्यवस्था की गई है वह 'बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें प्रत्येक कार्य होता है यह द्रव्यगत स्वभाव है' इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर ही की गई है। दोनोंकी समग्रतामें प्रत्येक कार्य होता है यह यथार्थ है, कल्पना नहीं, किन्तु इनमेंसे आभ्यन्तर कारण यथार्थ है और यह यथार्थ क्यों है तथा बाह्य कारण अयथार्थ है और वह अयथार्थ क्यों है, यह विचार दूसरा है। इसे जो ठीक तरहसे जानकर वैसी श्रद्धा करता है वह कार्य-कारणभावका यथार्थ ज्ञाता होता है, ऐसा यदि हम कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।"

आगे इसकी समीक्षा की जाती है।

उत्तरपक्षका यह कथन निर्विवाद होते हुए भी इसमें केवल इतना ही विवाद रह जाता है कि निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको पूर्वपक्ष इसलिए अयथार्थ कारण मानता है कि वह निमित्तभूत बाह्य सामग्री स्वयं कार्यरूप परिणत न होकर कार्यरूप परिणत होनेवाली उपादानभूत अन्तरंग सामग्रीकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक मात्र हुआ करती है और उस निमित्तभूत बाह्य सामग्रीको उत्तरपक्ष इसलिए अयथार्थ कारण मानता है कि वह निमित्तभूत बाह्य सामग्री कार्यरूप परिणत होनेवाली उपादानभूत अन्तरंग सामग्रीकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी नहीं हुआ करती है। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी परस्पर भिन्न इन

मान्यताओंमेंसे पूर्वपक्षकी मान्यता सम्यक् हैं और उत्तरपक्षकी मान्यता सम्यक् नहीं हैं, यह प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें स्पष्ट कर दी गई है। तत्व-जिज्ञासुओंको इस पर भी ध्यान देना चाहिए।

कथन १२ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने आगे त० च० पृ० ९० पर यह कथन किया है—"विचार तो कीजिये कि यदि बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारकी सामग्री यथार्थ होती तो आचार्य अध्यात्मवृत्तके लिए निमित्त व्यवहार योग्य बाह्य सामग्रीको दृष्टिमें गौण करनेका उपदेश क्यों देते और क्यों मोक्षकी प्रसिद्धिमें अभ्यन्तर कारणको ही पर्याप्त बतलाते। वस्तुतः इसमें संसारी बने रहने और मुक्त होनेका बीज छुपा हुआ है। जो पुरुष बाह्य सामग्रीको यथार्थ कारण जान अपनी मिथ्या बुद्धि या राग बुद्धिके कारण उसमें लिपटा रहता है वह सदा काल संसारी बना रहता है और जो पुरुष अपने आत्माको ही यथार्थ कारण जान तथा व्यवहारसे कारणसंज्ञाको प्राप्त बाह्य सामग्रीमें हेयबुद्धि कर अपने आत्माकी शरण आता है वह परमात्म पदका अधिकारी होता है।"

इसकी समीक्षामें मेरा कहना यह है कि एक तो पूर्वपक्ष मोक्षकी सिद्धिके लिए बाह्य सामग्रीको यथार्थ कारण न मानकर अयथार्थ कारण मानता है तथा अन्तरंग सामग्रीको ही यथार्थ कारण मानता है, केवल उसका कहना यह है कि मोक्षकी सिद्धिमें बाह्य सामग्रीकी अयथार्थ कारणता कल्पनारोपित या कथन मात्र नहीं है, अपितु सहायक होने रूपसे वास्तविकताको लिए हुए ही है। यह बात मैं तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षामें स्थान-स्थान पर स्पष्ट करता आया हूं। दूसरे, पूर्वपक्षको यह बात मान्य है कि अध्यात्मवृत्त अर्थात् लोकोत्तर जनके लिये उसमें बाह्य सामग्री गौण कारण है और अन्तरंग सामग्री मुख्य कारण है। परन्तु उत्तरपक्षका "वस्तुतः इसमें संसारी बने रहने और मुक्त होनेका बीज छिपा हुआ है" इत्यादि कथन एकांगी है, क्योंकि अध्यात्ममें प्रवृत्त जनको भी मोक्ष प्राप्तिके प्रयत्नमें गौणरूपसे तब तक बाह्य सामग्रीका अवलम्बन रहा करता है जब तक वह पूर्ण आत्म-निर्भर नहीं हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अध्यात्ममें प्रवृत्त मुनि षष्ठ गुण स्थानमें दृष्टिरूपमें पीछी-कमण्डलु आदि बाह्य सामग्रीका अवलम्बन लिए हुए रहता है। तथा सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशमगुणस्थान तक अदृष्टरूपमें द्रव्यमनका अवलम्बन उसके रहा करता है। इसके पश्चात् ही वह आत्मनिर्भर होता है। यदि ऐसा न माना जाय और षष्ट गुणस्थानका मुनि पीछी-कमण्डलु आदिको स्वीकार न करे तो वह उस अवस्थामें मुनि ही नहीं रह जायगा। इसी तरह सप्तमसे लेकर दशम तकके गुणस्थानोंमें उसकी सभी प्रवृत्तियोंको द्रव्यमनके आधारपर मानना अनिवार्य है। ऐसा स्वीकार करके भी पूर्वपक्ष उत्तरपक्षकी इस बातको मानता है कि 'जो पुरुष बाह्य सामग्रीकी यथार्थ कारण जान अपनी मिथ्याबुद्धि या रागबुद्धिके कारण उससे लिपटा रहता है वह सदा काल संसारी बना रहता है ओर जो पुरुष अपनी आत्माको ही यथार्थ कारण जान तथा व्यवहारके कारण संज्ञाको प्राप्त बाह्य सामग्रीमें हेय बुद्धि कर अपने आत्माकी शरण आता है वह परमात्मा पदका अधिकारी होता है।' तथापि उत्तरपक्षको पूर्वपक्षके समान इस बातका ध्यान रखना अनिवार्य होगा कि मोक्षार्थी पुरुष जब तक जैनागममें निर्धारित उक्त व्यवस्थाके अनुसार प्रवृत्ति नहीं करेगा तब तक वह संसारी ही बना रहेगा। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुको मोक्षमार्गी बननेके लिए सर्वप्रथम आसक्तिवश होनेवाली संकल्पी पापरूप प्रवृत्तियोंका त्यागकर अपने जीवनको केवल अशक्तिवश होनेवाली आरम्भी पापरूप प्रवृत्तियोंपर ही निर्भर रखना होगा। इसके पश्चात् अशक्तिवश होनेवाली आरम्भी पापरूप प्रवृत्तियोंका भी यथाशक्ति क्रमशः एकदेश और सर्वदेश त्याग करना

होगा अर्थात् अणुव्रती और पश्चात् महाव्रती बनना होगा। इसके भी पश्चात् वह बाह्यावलम्बनका सर्वथा त्याग कर सप्तम गुणस्थानसे दशम गुणस्थान तक द्रव्यमनके आधारपर अन्तरंगमें पूर्ण आत्मावलम्बी बननेका पुरुषार्थ करेगा और इस तरह तभी एकादश या द्वादश गुणस्थानमें ही वह पूर्णरूपसे आत्माकी शरण पा सकता है। यदि उत्तरपक्ष व्यवहारमय इस प्रकियाकी उपेक्षा कर आत्मनिर्भरताकी बात सोचता है तो उसका ऐसा सोचना बबूलके वृक्षसे आम प्राप्त करनेकी चाह करना मात्र है।

कथन १३ और उसकी समीक्षा

आगे त० च० पृ० ९० पर ही उत्तरपक्षने यह कथन किया है—"अपरपक्षने अपने प्रत्यक्षको प्रमाण मानकर और लौकिक दृष्टिसे दो-तीन दृष्टांत उपस्थित कर इस सिद्धान्तका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है कि 'उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होने पर निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।' किन्तु उस पक्षका यह समग्र कथन कार्यकारणकी विडम्बना करनेवाला ही है। उसकी सिद्धि करनेवाला नहीं। हम पूछते हैं कि मन्दबुद्धि शिष्यके सामने अध्यापन क्रिया करते हुए अध्यापकके रहने पर शिष्यने अपना कोई कार्य किया या नहीं? यदि कहो कि उस समय शिष्यने अपना कोई कार्य नहीं किया तो शिष्यको उस समय अपरिणामी मानना पड़ेगा। किन्तु इस दोषसे बचनेके लिए अपरपक्ष कहेगा कि शिष्यने उस समय भी अध्ययन कार्यको छोड़कर अपना अन्य कोई कार्य किया है। तो फिर अपरपक्षको यह मान लेना चाहिये कि उस समय शिष्यका जैसा उपादान था उसके अनुरूप उसने अपना कार्य किया और उसमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री निमित्त हुई, अध्यापक निमित्त नहीं हुआ। जिस कार्यको लक्ष्यमें रखकर अपरपक्षने यहाँ दोष दिया है, वस्तुतः उस कार्यका शिष्य उस समय उपादान ही नहीं था। यही कारण है कि अध्यापन क्रियामें रत अध्यापकके होनेपर भी वह निमित्त व्यवहारके अयोग्य ही बना रहा। यह कार्य-कारण व्यवस्था है, जो प्रत्येक द्रव्यके परिणाम स्वभावके अनुरूप होनेसे इस तथ्यकी पुष्टि करती है कि उपादानके कार्यके सन्मुख होने पर निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

कार्य-कारण व्यवस्थाको निर्णीत करनेमें उत्तरपक्षका मुख्य मुद्दा यह है कि 'उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्त व्यवहारके योग्य सामग्री मिलती ही है।' विचार कर देखा जाय तो उत्तरपक्षके इस कथनका यह अभिप्राय होना चाहिये कि उपादान अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट वस्तु जिसे नित्य उपादान कहते हैं, तभी स्वपरप्रत्यय कार्यरूप परिणत होती है जब वह कार्यरूप परिणत होनेके सन्मुख अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायके रूपमें अनित्य उपादान रूप परिणत हो जाती है। तो यह मान्यता तो पूर्वपक्षकी भी है, परन्तु इस सम्बन्धमें पूर्वपक्षका यह कहना अवश्य है कि उसकी यह अनित्य उपादानरूप परिणति निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगपूर्वक ही हुआ करती है और उसके अनन्तर पश्चात् जो विवक्षित कार्यरूप परिणति होती है वह भी निमित्तभूत बाह्यवस्तुके सहयोगपूर्वक ही हुआ करती है, क्योंकि पूर्व और उत्तर दोनों ही पर्यायें अपनी-अपनी पूर्व पर्यायका कार्य होती हैं और उत्तर पर्यायका अनित्य उपादान होती हैं। पूर्वपक्षने इस आधार पर ही उत्तरपक्षके 'उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्यसामग्री मिलती ही है।' इस सिद्धान्तका खण्डन किया है। इस खण्डनमें हेतु यह है कि उत्तरपक्षके उक्त सिद्धान्तसे कार्योत्पत्तिमें निमित्त कारणकी अकिंचित्करता सिद्ध होती है जबकि पूर्वपक्ष कार्योत्पत्तिमें निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर न मानकर सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही मानता है। कार्य-कारण व्यवस्थाके संबंधमें दोनों पक्षोंके मध्य यही मतभेद है।

इस मतभेदके विषयमें मैंने प्रश्नोत्तर एकको समीक्षामें यह सिद्ध किया है कि पूर्वपक्षकी मान्यता ही प्रमाणसम्मत है, उत्तरपक्षकी मान्यता प्रमाणसम्मत नहीं है। यहाँपर भी मैं संक्षेपमें इस बातको स्पष्ट कर रहा हूँ—

उत्तरपक्ष यदि अपने अनुभव पर दृष्टि डाले तो उसे ज्ञात हो जायगा कि वह स्वयं उपादानसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिये निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका बुद्धिपूर्वक अवलम्बन लिया करता है और यदि वह अपने इन्द्रियप्रत्यक्षसे समझना चाहे तो उसे समझमें आ जायगा कि दूसरे व्यक्ति भी उपादानसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिये निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका बुद्धिपूर्वक अवलम्बन लेते हुए देखे जाते हैं।

कार्योत्पत्तिके विषयमें अनुभव और इन्द्रियप्रत्यक्षसे कार्य-कारणकी पूर्वपक्षको मान्य उपर्युक्त व्यवस्था निश्चित होनेसे यदि कदाचित् कार्योत्पत्ति न हो तो इसका कारण या तो यह होगा कि वस्तुमें विवक्षित कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता रूप नित्य उपादान शक्तिका अभाव है या यह होगा कि नित्य उपादान शक्ति रूप योग्यताका सद्भाव रहते हुए भी उसमें विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल निमित्तभूत बाह्य सामग्रीका सहयोग नहीं मिल रहा है। जैसे यदि छात्र मन्द बुद्धि है अर्थात् उसमें अध्ययन करनेकी नित्य उपादान शक्ति रूप स्वाभाविक योग्यताका अभाव है तो अध्यापक या पुस्तक आदि निमित्त सामग्रीका सहयोग प्राप्त होनेपर भी उसमें अध्ययन रूप विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नहीं होगी। इसपरसे यदि उत्तरपक्ष यह सिद्ध करना चाहे कि इसीलिये तो उपादानके अनुसार कार्य होता है यह सिद्धान्त मान्य किया गया है, तो इसके विषयमें भी यह बात कही जा सकती है कि यदि छात्र सुबोध है अर्थात् उसमें अध्ययन करनेकी नित्य उपादान-शक्तिका सद्भाव है, लेकिन यदि अध्यापक या पुस्तक आदि निमित्त सामग्रीका सहयोग प्राप्त न न हो तो वह भी अध्ययनकार्यसे वंचित रह जायगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अध्ययनके लिए शिष्यका सुबोध होना भी आवश्यक है और अनुकूल निमित्त सामग्रीका सहयोग मिलना भी आवश्यक है। इस तरह विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार यदि उत्तरपक्ष तर्कके आधारपर विचार करे तो उसे ज्ञात हो जायगा कि उपादानसे जो कार्यकी उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है वह तदनुकूल निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगपूर्वक ही देखी जाती है और उसके अभावमें कभी नहीं देखी जाती है तथा वह यदि आगमपर भी दृष्टिपात करे तो उसे ज्ञात हो जायेगा कि प्रमेयकमलमार्तण्ड (शास्त्राकार) के पत्र ५२ पर स्पष्ट लिखा है कि नित्य उपादानभूत वस्तुसे अनित्य उपादानभूत कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायकी उत्पत्ति और उसके अनन्तर पश्चात् होनेवाले कार्यकी उत्पत्ति दोनों ही अनुकूल निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगपूर्वक होती हैं, अन्यथा नहीं। प्रमेयकमलमार्तण्डके वचनका उद्धरण मैंने प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें दिया है।

इस तरह अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगम—इन सभी प्रमाणोंसे पुष्ट उपर्युक्त विवेचनसे उत्तरपक्षका उसके अपने प्रकृत वक्तव्यमें निर्दिष्ट 'अपरपक्षने अपने प्रत्यक्षको प्रमाण मानकर और लौकिक दृष्टिसे दो-तीन दृष्टान्त उपस्थित कर इस सिद्धान्तका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है कि उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है। किन्तु उस पक्षका यह समग्र कथन कार्य-कारणकी बिडम्बना करनेवाला ही है, उसकी सिद्धि करनेवाला नहीं।' यह कथन निरस्त हो जाता है तथा यह निर्णीत हो जाता है कि पूर्वपक्षका कथन कार्य-कारणकी सिद्धि करनेवाला ही है उसकी बिडम्बना करने

वाला नहीं है । प्रस्तुत उत्तरपक्षका कथन ही कार्य-कारणकी बिडम्बना करने वाला है, उसकी सिद्धि करने वाला नहीं ।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके कथनको कार्यकारणकी विडम्बना करनेवाला सिद्ध करनेके लिए अपने प्रकृत वक्तव्यमें ही आगे जो यह लिखा है कि "हम पूछते हैं कि मन्द बुद्धि शिष्यके सामने अध्यापन क्रिया करते हुए अध्यापकके रहनेपर शिष्यने अपना कोई कार्य किया या नहीं ? यदि कहो कि उस समय शिष्यने अपना कोई कार्य नहीं किया तो शिष्यको उस समय अपरिणामी मानना पड़ेगा । किन्तु इस दोषसे बचनेके लिए अपरपक्ष कहेगा कि शिष्यने उस समय भी अध्ययन कार्यको छोड़कर अपना अन्य कोई कार्य किया है ।" सो पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके इस कथनको स्वीकार करनेमें तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु इसके आगे वहींपर उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "तो फिर अपरपक्षको यह मान लेना चाहिए कि उस समय शिष्यका जैसा उपादान था, उसके अनुरूप उसने अपना कार्य किया और उसमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री निमित्त हुई तो इसे पूर्वपक्ष इस रूपमें स्वीकार कर सकता है कि उस मन्दबुद्धि शिष्यने उस समय अध्ययन कार्यको छोड़कर जो अपना अन्य कार्य किया वह अपनी नित्य उपादान अर्थात् कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यताके अनुरूप ही किया, उसकी उपेक्षा करके नहीं किया, परन्तु वही कार्य किया जिसके अनुकूल निमित्त-भूत बाह्य सामग्रीका उसे उस समय सहयोग प्राप्त हो गया, निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगकी उपेक्षा करके नहीं किया । उत्तरपक्षको भी पूर्वोक्त प्रकार अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगम प्रमाणोंके आधार-पर ऐसा ही स्वीकार करना उचित है ।

तात्पर्य यह है कि वस्तुमें एक कार्य तो षड्गुणहानिवृद्धिके रूपमें निमित्तोंकी अपेक्षा किये बिना ही एकके बाद एकके क्रमसे सतत् स्वभावतः ही होता रहता है । इसे आगममें स्वप्रत्यय कार्य कहा गया है । इसके अतिरिक्त दूसरा कार्य भी वस्तुमें हुआ करता है जिसे आगममें स्वपरप्रत्यय कार्य कहा गया है । यह स्वपरप्रत्यय कार्य वस्तुमें कई प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कोई स्वपरप्रत्यय कार्य वस्तुमें कार्योत्पत्तिकी नित्य उपादानभूत नाना स्वाभाविक योग्यताओंका एक साथ सद्भाव रहनेपर भी जिस योग्यताके अनुकूल प्राकृतिक रूपसे निमित्तोंका सहयोग उस समय प्राप्त हो रहा हो उसके अनुसार हुआ करता है । खानमें पड़ी हुई मिट्टीमें ऐसा ही स्वपरप्रत्यय कार्य होता रहता है तथा वस्तुओंमें जो पुरानापन या जीर्णता आदि अवस्थायें उत्पन्न होती हैं, वे ऐसे ही स्वपरप्रत्यय कार्यमें अन्तर्भूत होती हैं । इस प्रकारके कार्य वस्तुओंमें विना रुका-वटके सतत होते रहते हैं । इसी प्रकार वस्तुमें नाना योग्यताओंका सद्भाव रहते हुए भी प्राकृतिक रूपसे यदा कदा प्राप्त निमित्तोंके सहयोगसे और भी विलक्षण कार्य उत्पन्न होते रहते हैं । जैसे भूकम्प आदिसे मकान आदि वस्तुओंका विनष्ट हो जाना आदि कार्य ऐसे ही कार्योंमें अन्तर्भूत होते हैं । भूकम्प आदिसे नाना वस्तुओंमें जो समान परिणमन न होकर पृथक्-पृथक् रूपमें परिणमन हुआ करते हैं, उनका कारण उनकी उपादान शक्तियोंकी भिन्नता या निमित्तोंके सहयोगकी विविधरूपताको जानना चाहिये । इनके अतिरिक्त व्यक्तिके पुरुषार्थके बलसे संग्रहीत विविध प्रकारके निमित्तोंके सहयोगसे भी यदा-कदा वस्तुओंमें अपनी-अपनी उपादान शक्ति रूप स्वाभाविक योग्यताओंके आधारपर भिन्न-भिन्न प्रकारके विवक्षित स्वपरप्रत्यय कार्य उत्पन्न होते रहते हैं । ऐसे कार्योंमें जो विविधता देखी जाती है वह भी उपादानशक्तिकी विविधता या निमित्तोंकी विविधताके आधारपर ही आती है तथा इनके होनेमें व्यक्तिकी कुशलता और अकुशलताका भी प्रभाव हुआ करता है ।

उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें अनुभवसे सिद्ध, इन्द्रियप्रत्यक्षसे ज्ञात, तर्कसे निश्चित और आगमसे प्रसिद्ध इस प्रकारकी कार्य-कारणव्यवस्थाकी उपेक्षा करके कल्पनाओंके आकाशमें विचरण करता हुआ तत्वज्ञानकी बात करता है, इससे अधिक विचारशून्यताकी बात और क्या हो सकती है ?

उत्तरपक्षने अपने प्रकृत वक्तव्यमें ही आगे जो यह लिखा है कि 'अध्यापक निमित्त नहीं हुआ' सो यह भी विवादरहित है, क्योंकि पूर्वपक्षकी मान्यता तो यही है कि कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यतारूप नित्य उपादान शक्तिके सद्भावमें ही निमित्तभूत बाह्य सामग्री कार्योत्पत्तिके प्रति सहायक होने रूपसे कार्यकारी हुआ करती है, उसका सद्भाव यदि वस्तुमें न हो तो निमित्तभूत बाह्य वस्तु वहांपर अकिंचित्कर ही बनी रहती है।

यतः मन्दबुद्धि शिष्यमें अध्ययन रूप कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यता रूप नित्य उपादान शक्तिका अभाव बना हुआ है, अतः अध्यापन क्रिया करते हुए अध्यापकके उपस्थित रहनेपर भी उस मन्दबुद्धि शिष्यमें जब अध्ययनरूप कार्यकी उत्पत्ति हो ही नहीं रही है तो अध्यापककी अध्यापनक्रियाको वहांपर निरर्थक माननेमें पूर्वपक्षको क्या आपत्ति हो सकती है ? अर्थात् उसे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इसलिए उत्तरपक्षने अपने उसी वक्तव्यमें आगे जो यह लिखा है कि 'जिस कार्यको लक्ष्यमें रखकर अपरपक्षने यहाँ दोष दिया है, वस्तुतः उस कार्यका शिष्य उस समय उपादान ही नहीं था। यही कारण है कि अध्यापनक्रियामें रत अध्यापकके होनेपर भी वह निमित्त व्यवहारके अयोग्य ही बना रहा।' तो यह अनावश्यक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पूर्वपक्षने जो दोष दिया है उसके साथ इसका कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता जब पूर्वपक्ष कार्योत्पत्तिमें उपादानको महत्त्व न देकर केवल निमित्तको महत्व देता। वह तो कार्योत्पत्तिमें उपादान और निमित्त दोनोंको ही अपने-अपने रूपमें महत्व देता है। जैसा कि उसने (पूर्वपक्षने) त० च० पृ० ८२ पर उत्तरपक्षके अन्यतम प्रतिनिधि पं० फूलचन्दजीके वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी कथनका उद्धरण देकर स्पष्ट किया है। उनका वह उद्धरण निम्न प्रकार है—

'जो कारण स्वयं कार्यरूप परिणम जाता है वह उपादानकारण कहा जाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य उपादानकारण और निमित्तकारण दोनोंके मेलसे होता है, केवल एक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, छात्र सुबोध है, पर अध्यापक या पुस्तकका निमित्त न मिले तो वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ उपादान है, किन्तु निमित्त नहीं, इसलिए कार्य नहीं हुआ। छात्रको अध्यापक या पुस्तकका निमित्त मिल रहा है, पर वह मन्दबुद्धि है, इसलिए भी वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ निमित्त है, किन्तु उपादान नहीं, इसलिए कार्य नहीं हुआ।'

यदि उत्तरपक्ष पूर्वपक्ष द्वारा उद्धृत पं० फूलचन्दजीके ही इस कथनपर ध्यान देता तो उसे पूर्वपक्षकी आलोचनाका अवसर नहीं रहता। इतना ही नहीं, उसकी (उत्तरपक्षकी) दृष्टिमें प्रकृत विषयकी वास्तविक स्थिति भी आ जाती। मेरा कहना तो इतना है कि उत्तरपक्षने अपने अन्यतम प्रतिनिधि पं० फूलचंदजीकी मान्यताको स्वीकार नहीं किया तो यह उसका निजी मामला है। इसलिए इस विषयने कुछ न कहकर मैं यहीं कहना चाहता हूँ कि प्रकृत विषयकी समीक्षामें मैंने जो कुछ लिखा है, उससे उत्तरपक्षका अपने वक्तव्यके अन्तमें निर्दिष्ट यह कथन कि 'यह कार्य-कारण व्यवस्था है, जो प्रत्येक द्रव्यके परिणामस्वभावके अनुरूप होनेसे इस तथ्यकी पुष्टि करती है कि उपादानके कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है,' निरस्त हो जाता है, क्योंकि कार्य-कारणव्यवस्थाका जो रूप प्रमाणसम्मत हो

सकता है, उसको मैं अपने इस समीक्षात्मक कथनमें स्पष्ट कर चुका हूँ और वह रूप ऐसा है कि वस्तुमें कार्यकी उत्पत्ति यद्यपि उस वस्तुकी स्वाभाविक योग्यतारूप नित्य उपादान शक्तिके अनुरूप ही होती है, परन्तु तदनुकूल निमित्तभूत बाह्य सामग्रीके सहयोगपूर्वक ही होती है जिसका आशय यह होता है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रति समय कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यतारूप अनेक उपादान शक्तियोंका सद्भाव रहता है, उनमेंसे प्राप्त निमित्तोंके अनुसार कोई एक कार्यकी उत्पत्ति एक समयमें हुआ करती है। जैसे बाजारमें बिक्रीके लिए रखे हुए कपड़ेमें कोट, कमीज, कुरता आदि विविध प्रकारके वस्त्रोंके निर्माणकी स्वाभाविक योग्यता रूप नाना नित्य उपादान शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, परन्तु उपभोक्ता व्यक्ति अपने अनुकूल एक ही प्रकारका वस्त्र उससे निर्मित करता है या दर्जीसे निर्मित कराता है और यही अनुभव सिद्ध स्थिति है। इसके विपरीत उत्तरपक्षकी जो यह मान्यता है कि वस्तुमें प्रति समय एक ही प्रकारकी कार्योत्पत्तिकी योग्यता रहा करती है, इसलिए जिस वस्तुमें जिस प्रकारकी योग्यता जिस समय होगी, उस समय वही कार्य उत्पन्न होगा, निमित्त भी वहाँ अवश्य रहेगा परन्तु वह उसमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहेगा, सो यह अनुभव आदि प्रमाणोंके विरुद्ध है। इसे पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें आगे त० च० पृ० ९० पर ही यह लिखा है 'प्रकृतमें अपरपक्षकी सबसे बड़ी भूल यह है कि विवक्षित कार्य तो हुआ नहीं फिर भी वह, जिसमें उस समय उसने जिस कार्यकी कल्पना कर रखी है, उसे उस समय उसका उपादान मानता है और इस आधार पर यह लिखनेका साहस करता है कि सुबोध छात्र है पर अध्यापक आदि नहीं मिले, इसलिए कार्य नहीं हुआ। अपरपक्षको समझना चाहिये कि सुबोध छात्रका होना अन्य बात है और छात्रका उपादान होकर अध्ययन क्रियासे परिणत होना अन्य बात है। इसी प्रकार अपरपक्षको यह भी समझना चाहिये कि अध्यापकका अध्यापन रूप क्रियाका करना अन्य बात है और उस क्रिया द्वारा अन्यके कार्यमें व्यवहारसे निमित्त बनना अन्य बात है।' आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

पूर्वपक्षने त० च० पृ० ८२ पर सुबोध छात्र और मन्द बुद्धि छात्रको आधार बनाकर जो कुछ लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि सुबोध छात्रमें अध्ययन कार्यकी स्वाभाविक योग्यता पाई जाती है, लेकिन अध्यापक आदि निमित्त सामग्रीका सहयोग न मिलनेसे वह अध्ययन कार्यसे वंचित रह जाता है। और मन्द-बुद्धि छात्रमें अध्ययनकार्यकी स्वाभाविक योग्यताका ही अभाव रहता है, इसलिए अध्यापक आदि निमित्त सामग्रीका सहयोग मिलनेपर भी वह अध्ययन कार्यसे वंचित रह जाता है। उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके कथनकी जो आलोचना की है उसमें उसने पूर्वपक्षके इस अभिप्रायको समझनेकी चेष्टा करना आवश्यक नहीं समझा है। इसलिये वह अपने वक्तव्यमें लिखता है कि 'अपरपक्षकी सबसे बड़ी भूल यह है कि विवक्षित कार्य तो हुआ नहीं, फिर भी वह, जिसमें उस समय उसने जिस कार्यकी कल्पना कर रखी है, उसे उस समय उसका उपादान मानता है और इस आधारपर यह लिखनेका साहस करता है कि सुबोध छात्र है पर अध्यापक आदि नहीं मिले, इसलिए कार्य नहीं हुआ।' सो इसे मैं उत्तरपक्षकी ही सबसे बड़ी भूल मानता हूं, क्योंकि जिस प्रकार आत्मामें सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व ये दोनों शक्तियां स्वभावतः मानी गई हैं, अन्यथा आत्मा कदापि सर्वदर्शी और सर्वज्ञ नहीं बन सकता है फिर उसमें वे दोनों शक्तियां समस्त ज्ञानावरण और समस्त दर्शनावरण कर्मोंका क्षय हो जानेपर लब्धि रूपमें व्यक्त होती हैं। परन्तु वह जो सर्वदर्शी और सर्वज्ञ हो रहा है अर्थात् सर्वको देख और जान रहा है वह देखना और जानना सर्वसापेक्ष ही तो हो रहा है। इसी प्रकार पदार्थोंमें जो

स्वपरप्रत्यय कार्योंके होनेकी स्वाभाविक योग्यता मानी गई है वह उपादान और निमित्त उभय कारण-जन्यताके रूपमें ही स्वीकार करना उचित है जिसका आशय यह होता है कि उपादान जो कार्यरूप परिणत होता है, उसकी वह कार्यरूप परिणति निमित्तकारणभूत वस्तुकी सहायतापूर्वक ही हुआ करती है। इसके अनुसार उपादानभूत वस्तुमें उपादानता अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यताके समान निमित्तभूत वस्तुमें निमित्तता अर्थात् उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेरूप स्वाभाविक योग्यता भी स्वीकार करना आवश्यक है। इससे निर्णीत होता है कि उपादान और निमित्त दोनों ही प्रकारके कारण नित्य और अनित्य दो-दो प्रकारके होते हैं। अतः जिस प्रकार कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट वस्तुको नित्य उपादान और उसकी कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायको अनित्य उपादान माना जाता है उसी प्रकार नित्य उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेरूप स्वाभाविक योग्यताविशिष्ट वस्तुको नित्य निमित्त और उसके उस उपादानभूत वस्तुको कर्यरूप परिणतिमें सहायक होनेरूप व्यापारको अनित्य निमित्त जानना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति अपने पुत्रको अध्ययन करने योग्य समझकर उसे अध्ययन करानेकी दृष्टिसे अध्यापक अर्थात् अध्यापन करानेकी योग्यता विशिष्ट व्यक्तिके पास ले जाता है। अध्यापक भी उस पुत्रको अध्ययन करने योग्य समझकर उसे लक्ष्य करके अध्यापन क्रिया करने लग जाता है। अब यदि पुत्र सुबोध होता है अर्थात् अध्ययन करनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट होता है तो वह अध्यापककी उस अध्यापनक्रियाकी सहायतासे अध्ययन करनेमें सफल हो जाता है। इसके विपरीत पुत्र यदि मन्दबुद्धि हुआ अर्थात् अध्ययन करनेकी स्वभाविक योग्यतारहित हुआ तो अध्यापककी अध्यापन क्रियाकी सहायता प्राप्त रहनेपर भी वह अध्ययन करनेमें असमर्थ ही बना रहता है। कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानोपादेयभाव और निमित्त नैमित्तिकभावकी यही प्रक्रिया है। परन्तु उत्तरपक्ष ऐसा न मानकर कहता है कि उपादान अपने कार्यके सन्मुख होनेपर अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप परिणत होनेपर नियमसे कार्यरूप परिणत हो जाता है और निमित्त यद्यपि वहां उपस्थित रहता हैं, परन्तु वह उपादानकी उस कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है अतः उसमें केवल निमित्त व्यवहार किया जाता है, सो उसकी यह मान्यता एकान्त नियतिवाद और एकान्त नियतवादपर ही आधारित है। इन दोनों वादोंकी समीक्षा मैं प्रश्नोत्तर ५ और प्रश्नोत्तर ६ की समीक्षा करते समय करूंगा इस सम्बन्धमें मैं यहां मात्र इतना कह देना आवश्यक समझता हूं कि निमित्तभूत वस्तुमें उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेरूप निमित्तताको यदि नित्य नहीं माना जाय, तो बुद्धिमान व्यक्तिका उस कार्यकी उत्पत्तिमें उसकी कार्योत्पत्तिके पूर्व ग्रहण करना संभव नहीं रह जायगा। इतना ही नहीं, जब कार्योत्पत्तिमें निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है तो उसमें निमित्तव्यवहार करनेकी क्या आवश्यकता रह जाती है। तत्त्वजिज्ञासुओंको इसपर विचार करना चाहिये।

उत्तरपक्षने अपने इसी वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि 'अपरपक्षको समझना चाहिए कि सुबोध छात्रका होना अन्य बात है और छात्रका उपादान होकर अध्ययन क्रियासे परिणत होना अन्य बात है।" सो उत्तरपक्षके लिए 'सुबोध छात्रका होना' इस कथनको छात्रकी अध्ययन करनेकी स्वाभाविक योग्यतारूप नित्य उपादान शक्तिका परिचायक व 'उपादान होकर क्रियासे परिणत होना' इस कथनका अध्ययन करनेमें प्रवृत्तिसे अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप अनित्य उपादान शक्तिका परिचायक ही मानना होगा, जिसके विषयमें पूर्वपक्षको कोई विरोध नहीं है। इसी तरह उत्तरपक्षने वहींपर जो यह लिखा है कि "इस प्रकार अपरपक्षको यह भी समझना चाहिए कि अध्यापकका अध्यापनरूप क्रिया करना अन्य बात है और उस क्रिया द्वारा अन्यके

कार्यमें व्यवहारसे निमित्त बनना अन्य बात है" सो इस सम्बन्धमे भी मेरा यह कहना है कि इन दोनों बातोंको अन्य-अन्य माननेमें भी पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके साथ कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अध्यापक अध्ययन करनेकी स्वाभाविक योग्यतारूप नित्य उपादान शक्ति विशिष्ट सुबोध छात्रके समक्ष भी अध्यापन क्रिया करता है और वह अध्ययन करनेकी स्वाभाविक योग्यतारूप नित्य उपादान शक्तिसे रहित मन्दबुद्धि छात्रके समक्ष भी अध्यापन क्रिया करता है, परन्तु सुबोध छात्रके प्रति उसकी वह क्रिया सार्थक होती है और मन्दबुद्धि छात्रके प्रति उसकी वह क्रिया निरर्थक ही बनी रहती है। इस प्रकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य मान्यताकी इतनी समानता रहते हुए भी सतभेद यही है कि जहां उत्तरपक्ष कार्योत्पत्तिमें कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायको मुख्य उपादान मानकर निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मान लेता है वहां पूर्वपक्ष ऐसा मानता है कि कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यतारूप नित्य उपादानशक्ति विशिष्ट वस्तु जब कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप परिणत हो जाती है तभी उस वस्तुकी कार्यरूप परिणति होती है, परन्तु उस वस्तुकी वह कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप परिणति तथा उसके पश्चात् होनेवाली विवक्षित कार्यरूप परिणति निमित्तभूत वस्तुका सहयोग मिलनेपर ही होती है और न मिलनेपर नहीं होती है—ऐसा मानकर पूर्वपक्ष निमित्तको भी उतना ही सहायक होने रूपसे मुख्य मानता हुआ कार्यकारी ही मानता है। यह विषय पूर्वमें भी स्पष्ट किया जा चुका है और प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें भी स्पष्ट किया जा चुका है तथा यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्षकी मान्यता ही आगमसम्मत है, उत्तरपक्षकी मान्यता आगमसम्मत नहीं है।

इसी प्रसंगमें उत्तरपक्षने त० च० पृ० ९०–९१ पर यह भी कथन किया है कि "अध्यापक अध्यापनकला सीखनेके लिये एकान्तमें भी अध्यापनक्रिया कर सकता है और मन्दबुद्धि छात्रके सामने भी इस क्रियाको कर सकता है। पर इन दोनों स्थलोंपर वह निमित्तव्यवहारपदवीका पात्र नहीं। इसमें अध्यापनरूप निमित्त व्यवहार तभी होता है जब कोई छात्र उसे निमित्त कर स्वयं पढ़ रहा है। यह कार्य-कारणव्यवस्था है जो सदा काल प्रत्येक कार्यपर लागू होती है। अतः अपरपक्षने अपने प्रत्यक्ष ज्ञानको प्रमाण मानकर जो कुछ भी यहाँ लिखा है वह यथार्थ नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।" सो इसका निराकरण यथायोग्य रूपमें मेरे उपर्युक्त विवेचनसे ही हो जाता है अर्थात् अध्यापक अध्यापनकला सीखनेके लिये एकान्तमें जो अध्यापन किया करता है और मन्दबुद्धि छात्रके सामने भी जो अध्यापन किया करता है तो अध्यापकका उक्त दोनों स्थानोंपर क्रिया करना तो निर्विवाद है। परन्तु एकान्तमें की गई वह क्रिया अध्यापन सीखनेकी दृष्टिसे कार्यकारी ही है, निरर्थक नहीं। इसके अतिरिक्त मन्दबुद्धि छात्रके सामने अध्यापक जो अध्यापन किया करता है, वह यद्यपि निरर्थक है, क्योंकि मन्दबुद्धि छात्रको उससे कोई लाभ नहीं होता, परन्तु इससे अध्ययन और अध्यापनमें जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है उसपर इसका कोई विरुद्ध प्रभाव नहीं पड़ता है। इस प्रकार उत्तरपक्षका यह लिखना कि यह कार्य-कारण व्यवस्था है जो सदा काल प्रत्येक कार्यपर लागू होती है, बिलकुल निरुपयोगी है और अनुभव, युक्ति और आगमसे विरुद्ध है।

आश्चर्य तो यह है कि उत्तरपक्ष कार्यकारणकी व्यवस्थाका जैसा प्रतिपादन यहाँ कर रहा है उसका उपयोग वह स्वयं नहीं करता है और न कर ही सकता है। इसलिये कहा जा सकता है कि वह स्वयं अन्धकारमें विचरण कर रहा है और दूसरोंको भी उस अन्धकारमें पटक देना चाहता है। इसपर भी उत्तरपक्ष विचार नहीं करना चाहता है तो न करे परन्तु तत्त्वजिज्ञासुओंको तो विचार करना ही चाहिये।

कथन १४ और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने त० च० पृ० ९१ पर ही आगे लिखा है—'अपरपक्षने प्रकृतमें पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका, पं० फूलचन्द जी कृत तत्त्वार्थसूत्रकी टीका और पार्श्वपुराणके प्रमाण देकर प्रत्येक कार्यमें बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता सिद्ध की है। समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है, इस सिद्धान्तके अनुसार नियत बाह्य सामग्री नियत आभ्यन्तर सामग्रीकी सूचक होनेसे व्यवहारनयसे आगममें ऐसा कथन किया गया है किन्तु इतने मात्रसे इसे यथार्थ कथन न समझकर व्यवहार कथन ही समझना चाहिये। एकके गुण-धर्मको दूसरेका कहना यह व्यवहारका लक्षण है। अतएव व्यवहारनयसे ऐसा ही कथन किया जाता है जो व्यवहारवचन होनेसे आगममें और लोकमें स्वीकार किया गया है।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

पूर्वपक्ष द्वारा त० च० ९३ पर उद्धृत पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका, पं० फूलचन्द्रजी कृत तत्त्वार्थसूत्रकी टीका और पार्श्वपुराणके कथनोंके विषयमें उत्तरपक्षने अपने उक्त कथनमें विरोध न दिखलाकर उसमें उसने केवल यह लिखा है कि 'नियत बाह्य सामग्री नियत आभ्यन्तर सामग्रीकी सूचक होनेसे व्यवहारनयसे आगममें ऐसा कथन किया गया है।' सो उत्तरपक्षके इस कथनके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है कि वह पक्ष नाकको सीधे मार्गसे न पकड़कर घुमावदार मार्गसे पकड़ना चाहता है, अर्थात् वह बाह्य सामग्रीको जो आभ्यन्तर सामग्रीकी सूचक मानता है, सो इससे तो कार्योत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीकी उसको मान्य अकिंचित्करताका खण्डन ही होता है। दूसरे, बाह्य सामग्रीको आभ्यन्तर सामग्रीकी सूचक माननेमें उसका आधार क्या है? यह प्रश्न उसके सामने खड़ा हो जाता है, जिसका समाधान उसके पास नहीं है, तीसरे, बाह्य सामग्रीको कार्योत्पत्तिमें जब वह सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है, तो उसे बाह्य सामग्रीसे आभ्यन्तर सामग्रीमें कार्योत्पत्तिकी सूचना कैसे प्राप्त होती है, यह बात भी उसे विचारणीय बनी जाती है। चौथे, जब बाह्यसामग्री आभ्यन्तर सामग्रीसे होनेवाली कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बनी रहती है ऐसी मान्यता उसकी है तो उसको बाह्य सामग्री द्वारा आभ्यन्तर सामग्रीसे होनेवाली कार्योत्पत्तिमें सूचना प्राप्त करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? यह भी उसे सोचना है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि व्यवहारनयसे ऐसा कथन किया जाता है सो यह निर्विवाद है, क्योंकि बाह्य सामग्री आभ्यन्तर सामग्रीसे होनेवाली कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे व्यवहार कारण ही होती है, आभ्यन्तर सामग्रीकी तरह निश्चय कारण नहीं। इसलिये वह निश्चयनयका विषय न होकर व्यवहारनयका ही विषय मानी जा सकती है क्योंकि कार्य-कारणभावके प्रसंगमें निश्चयनयका विषय वस्तुका कार्यरूप परिणत होना ही मान्य किया गया है। उत्तरपक्ष व्यवहारनयके विषयको जो कपोलकल्पित या कथनमात्र मान लेना चाहता है उसका निराकरण प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें स्थान-स्थानपर किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें "एकके गुण-धर्मको दूसरेका कहना" इसे जो व्यवहारनयका लक्षण बतलाया है सो इस विषयमें भी पूर्वपक्षको कोई विरोध नहीं है। परन्तु एकके गुण-धर्मको दूसरेका वहींपर कहा जाता है जहाँ मुख्यरूपताका अभाव व निमित्त और प्रयोजनका सद्भाव रहा करता है अन्यथा नहीं। आलापपद्धतिके 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपकारः प्रवर्तते' इस बचनका यही आशय है। इस विषयको भी प्रश्नोत्तर १ की समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है।

कथन १५ और उसकी समीक्षा

आगे त० च० पृ० ९१ पर ही उत्तरपक्षने यह कथन किया है—'अपरपक्षने प्रवचनसार गाथा २११-२१२ की टीकाका प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'कहीं-कहीं मात्र शरीरकी क्रियासे भी धर्म-अधर्म होता है जैसे कि मात्र शरीरकी चेष्टासे संयमका छेद होना' किन्तु अपरपक्षका यह कथन एकान्तका सूचक होनेसे ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतमें यथामार्ग न की गई कायचेष्टाके अभावको सूचित करनेके लिये आचार्यने कायचेष्टामात्राधिकृत संयमछेदको बहिरंग-संयमछेद कहा है और इसलिये आचार्यने अल्प प्रायश्चित्त कहा है। स्पष्ट है कि इस वचनसे अपरपक्षके अभिमतकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत इस वचनसे तो यही सिद्ध होता है कि आत्मकार्यमें सावधान व्यक्ति यदि बाह्य शरीरचेष्टाको प्रयत्नपूर्वक भी करता है तो भी शरीरकी क्रिया करनेका भाव दोषाधायक माना गया है और यही कारण है कि परमागममें सूत्रोक्त विधिपूर्वककी गई प्रत्येक क्रियाका प्रायश्चित्त कहा है।"

आगे वहींपर उत्तरपक्षने यह लिखा है—"यहाँ अपरपक्षने जो मणिमाली मुनिकी कथा दी है वह शयन समयकी घटनासे सम्बन्ध रखती है। उस समय मुनिकी कायगुप्ति ऐसी होनी चाहिये थी कि उसको निमित्त कर शरीरचेष्टा नहीं होती, किन्तु मुनि अपनी कायगुप्ति न रख सके। यह दोष है। इसी दोषका उद्घाटन उस कथन द्वारा किया गया है। मालूम पड़ता है कि यहाँ अपरपक्ष ऐसे उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहता है कि आत्मकार्यमें अन्तरंग परिणामोंके अभावमें भी शरीरकी क्रियामात्रसे धर्म हो जाता है, जो युक्त नहीं है।"

उत्तरपक्षके इन दोनों अनुच्छेदोंकी समीक्षामें मैं यह कहना चाहता हूँ और पहले कहा भी जा चुका है कि जीवित शरीरकी क्रिया दो तरहकी होती है—एक तो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया और दूसरी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया। सो पूर्वपक्षने प्रकृत प्रश्न शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको लक्ष्यमें रखकर ही उपस्थित किया है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको लक्ष्यमें रखकर नहीं, क्योंकि पूर्वपक्ष भी सर्वार्थसिद्धि (७-१३) में उद्धृत 'वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संपुज्यते' इस वचनके आधारपर जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म नहीं मानता है। इसलिये उत्तरपक्षको पूर्वपक्षकी इस दृष्टिको ध्यानमें रखकर ही प्रकृतमें विचार करना था। अर्थात् जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया तो किसी भी अवस्थामें धर्म-अधर्मका कारण नहीं होती है। अब रह जाती है शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया। सो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी यह क्रिया दो तरहसे होती है—एक तो अन्तरंग मानसिक परिणामकी प्रेरणासे होती है और दूसरी अन्तरंग मानसिक परिणामकी प्रेरणा न होनेपर भी होती है। इनमेंसे जो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया अन्तरंग मानसिक परिणामकी प्रेरणासे होती है वह तो धर्म-अधर्मका कारण होती ही है, लेकिन जो शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया अन्तरंग मानसिक परिणामकी प्रेरणाके विना ही होती है, वह भी धर्म-अधर्मका कारण होती है। इसे लक्ष्यमें रखकर ही पूर्वपक्षने त० च० पृ० ८३ पर अपना कथन किया है। इस तरह उत्तरपक्षने उसकी आलोचनामें जो कुछ उक्त अनुच्छेदोंमें लिखा है वह अप्रासंगिक और निरर्थक है।

कथन १६ और उसकी समीक्षा

आगे त० च० पृ० ९१ पर ही उत्तरपक्षने यह कथन किया है कि 'केवली जिनके पुण्यको निमित्त कर चलने आदि रूप क्रिया होती है, इसमें सन्देह नहीं, पर इतने मात्रसे वह मुक्तिकी साधन नहीं मानी

जा सकती। अन्यथा योग निरोध करके केवली जिन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यानको क्यों ध्याते ? जिस जिनागममें क्षायिक चारित्रके होनेपर भी योगका सद्भाव होनेसे क्षायिक चारित्रको सम्पूर्ण चारित्र रूपसे स्वीकार नहीं किया गया हो उस जिनागमसे यह फलित करना कि केवलीजिनकी चलने आदि रूप क्रिया मोक्षका कारण है, उचित नहीं है। प्रत्युत इससे यही मानना चाहिए कि केवलीजिनके जब तक योग और तदनुसार बाह्य क्रिया है तब तक ईर्यापथ आस्रव ही है।''

आगे उसी पृष्ठपर उत्तरपक्षने लिखा है—''केवलीजिन समुद्घात अपने वीर्यविशेषसे करते हैं और उसे निमित्त कर तीन कर्मोका स्थिति घात होता है। अन्तरंगमें वीतराग परिणाम नहीं है और वीर्यविशेष भी नहीं है। फिर भी यह क्रिया हो गई और उसे निमित्तकर उक्त प्रकारसे कर्मोंका स्थितिघात हो गया, ऐसा नहीं है।''

इसकी समीक्षामें मुझे मात्र इतना ही कहना है कि पूर्वपक्षने जिस अभिप्रायसे त० च० पृ० ८४ पर अपना कथन किया है उससे विपरीत आशय ग्रहण करके ही उत्तरपक्षने उसकी आलोचना करनेका प्रयत्न किया है जो अयुक्त है। उस कथनमें पूर्वपक्षका क्या आशय है, इसे ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षने त० च० पृ० ८४ पर जो 'यह तो सुनिश्चित है' इत्यादि कथन किया है उसमें उसका अभिप्राय यह है कि संसारका कारणभूत कर्मबन्ध, प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ होने वाला स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध ही होता है। केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध संसारका कारण नहीं होता। इसलिए केवलीजिनकी क्रिया प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध रूप कर्मबन्धका कारण होकर भी नियमसे संसारवृद्धि कारण नहीं होती है। इस अपेक्षासे ही उसे मोक्षका कारण पूर्वपक्षने माना है। उत्तरपक्षने पूर्व-पक्षके कथनकी आलोचना करनेके प्रसंगमें उक्त अनुच्छेदोंमें जो कुछ लिखा है उससे पूर्वपक्ष अनभिज्ञ है या वैसा वह नहीं मानता है, ऐसी बात नहीं है। इसलिये पूर्वपक्षके कथनकी आलोचनासे पूर्व उसका कर्तव्य था कि प्रवचनसार गाथा ४५ के अभिप्रायपर विचार करता, क्योंकि जिस प्रकारसे उसने पूर्वपक्षके कथनकी आलोचना की है उस प्रकारसे तो प्रवचनसार गाथा ४५ भी उसका आलोच्य हो जाती है जो संभवतः उत्तरपक्षको अभीष्ट नहीं है। इसलिये मैं कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षकी इस विषयमें सिर्फ विरोधके लिए विरोध करनेकी नीति उचित नहीं मानी जा सकती है।

कथन १७ और उसकी समीक्षा

आगे त० च० पृ० ९२ पर उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके त० च० पृ० ८४ पर धवलसिद्धान्त पुस्तक २ पृ० ३०२ में निर्दिष्ट वचनको उद्धृत कर किये गये विवेचनको उपस्थित करके उसके समाधानके रूपमें जो कुछ लिखा है उसके संबंधमें भी मेरा यही कहना है कि उत्तरपक्षने वह भी केवल विरोधके लिए विरोध करनेकी नीतिको अपना कर ही लिखा है क्योंकि उससे भी पूर्वपक्षकी दृष्टिका निराकरण होना संभव नहीं है।

इस प्रश्नोत्तरमें सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षकी आलोचना करनेका मूल आधार जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाको बनाया है जबकि पूर्वपक्षका प्रश्न शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे सम्बद्ध है। उत्तरपक्ष इस बातको अन्त-अन्त तक नहीं समझ पाया है या समझ कर भी उसकी उपेक्षा ही करता आया है। अतः अन्तमें भी उसने यही लिखा है कि ''शरीरकी क्रिया परद्रव्य

(पुद्-गल) की पर्याय होनेसे उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है" यह तो यही कहावत हुई कि 'पंचोंकी बातें सिर माथे पर पनाला वहींका वहीं रहेगा।'

इसी तरह उसने वहींपर जो यह लिखा है कि "अतः उसे आत्माके धर्म-अधर्ममें उपचारसे निमित्त कहना अन्य बात है। वस्तुतः यह आत्मा अपने शुभ-अशुभ और शुद्ध परिणामोंका कर्त्ता स्वयं है। अतः वही उनका मुख्य हेतु है।" सो मैं पूर्वमें स्पष्ट कर चुका हूँ कि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योंमें शरीरकी क्रियाको आत्माके धर्म-अधर्ममें उपचरित हेतु नहीं मानकर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको ही उपचरित हेतु माना है क्योंकि आगममें ऐसा ही मान्य किया गया है। इसलिये उत्तरपक्षका शरीरकी क्रियाको आत्माके धर्म-अधर्ममें उपचरित कारण मानना मिथ्या ही है। अतः उत्तरपक्षको शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको आत्माके धर्म-अधर्मका कारण मानना चाहिये। यह सब विषय मैं पूर्वमें स्पष्ट कर चुका हूँ। पूर्वपक्षने इस बातका कहीं विरोध नहीं किया है कि "वस्तुतः यह आत्मा अपने शुभ-अशुभ और शुद्ध परिणामोंका कर्त्ता स्वयं है, अतः वही उनका मुख्य (निश्चय) हेतु है।" पूर्वपक्षका कहना तो यह है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया आत्माकी धर्म-अधर्मरूप परिणतिमें सहायक होनेरूपसे कार्यकारी निमित्त-कारण होती है वह वहाँ अकिंचित्कर नहीं रहती है।

१. प्रश्नोत्तर ३ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या?—त० च० पृ० ९३।

उत्तरपक्षका उत्तर—(क) इस प्रश्नमें यदि "धर्म" पदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि जीवदयाकी परिगणना शुभपरिणामोंमें की गई है और शुभ परिणामको आगममें पुण्यभाव माना है।—त० च० पृ० ९३

(ख) यदि इस प्रश्नमें "धर्म" पदका अर्थ वीतराग परिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्वमें अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरा तत्वमें अन्तर्भाव नहीं होता।—त० च० पृ० ९३

जीवदयाके प्रकार

(१) जीवदयाका एक प्रकार पुण्यभाव रूप है। इसे आगमके आधारपर उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी मानता है तथा उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष यह भी मानता है कि पुण्यभाव रूप होनेके कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्वमें होता है, संवर और निर्जरामें अन्तर्भाव नहीं होता। इसके सम्बन्धमें दोनों पक्षोंमें इतना मतभेद अवश्य है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुण्यभाव रूप जीवदयाको व्यवहारधर्म रूप जीव दयाकी उत्पत्तिमें कारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष इस बातको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है। पुण्यभाव रूप जीवदया व्यवहारधर्म रूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण होती है, इस बातको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

(२) जीवदयाका दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप है। इसकी पुष्टि पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें धवल पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचनके आधारपर की है—

''करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो''

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है अतः इसके कर्मजनित होनेका विरोध है।

यद्यपि धवलाके इस वचनमें जीवदयाको जीवका स्वतःसिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीवके स्वतःसिद्ध स्वभावभूत वह जीवदया अनादिकालसे मोहनीय कर्मकी क्रोध प्रकृतियोंके उदयसे विकृत रहती आई है, अतः मोहनीय कर्मकी उन क्रोध प्रकृतियोंके यथास्थान यथायोग्य रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जब वह शुद्ध रूपमें विकासको प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्वमें नहीं होता, क्योंकि जीवके शुद्धस्वभावभूत होनेके कारण वह कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण नहीं होती है। तथा इसका अन्तर्भाव संवर और निर्जरा तत्त्वमें भी नहीं होता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही संवर और निर्जरापूर्वक होती है।

(३) जीवदयाका तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमें व्यवहारधर्मरूप है। इसका समर्थन पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें आगम प्रमाणों के आधारपर किया है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेके आधारपर संवर और निर्जराका कारण होनेसे संवर और निर्जरा तत्त्वमें होता है व दयारूप पुण्यप्रवृत्तिरूप होनेके आधारपर आस्रव और बन्धका कारण होनेसे आस्रव और बन्धतत्त्वमें भी होता है। कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण होनेसे यह व्यवहारधर्मरूप जीवदया जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं। तथा कदाचित् संसारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उनके अन्तःकरणमें उस अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्ति भव्य जीवमें ही होती है, अभव्य जीवमें नहीं। तथा उस भव्यजीवमें उसकी उत्पत्ति मोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनरूप कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावके रूपमें उत्तरोत्तर प्रकर्षको लेकर होती है। इसकी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार है :—

(क) अभव्य और भव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनों प्रकारके जीवोंमें इस अदयारूप विभावपरिणमनकी समाप्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और

प्रायोग्य लब्धियोंके विकासकी योग्यता स्वभावतः विद्यमान हैं। भव्य जीवोंमें तो उस अदयारूप विभाव परिणतिकी समाप्तिमें अनिवार्यकारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासकी योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। इस तरह जिस भव्य जीवमें जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास हो जानेपर उक्त करणलब्धिका भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धिके बलसे उस भव्य जीवमें मोहनीय कर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियोंका व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें एक प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्य जीवमें यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमो नीय कर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर पंचमगुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें दूसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्य जीवमें यदि आत्मोन्मुखता रूप करणलब्धिका और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्र-मोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें तीसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तम गुणस्थानको प्राप्त जीव सतत सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें झूलते हुये उस जीवमें यदि सप्तमगुणस्थानसे पूर्व ही दर्शनमोहनीय कर्मकी उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्मके प्रथम भेद अनन्तुबन्धी कषायकी उक्त चार इन सात प्रकृतियाँका उपशम या क्षय हो चुका हो अथवा सप्तम गुणस्थानमें ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानोंमें क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके रूपमें और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थानमें ही उस जीवमें चारित्रमोहनीय कर्मके उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके ही चतुर्थ भेद संज्वलन कषायकी क्रोध प्रकृतिका भी उपशम या क्षय होनेपर उस जीवकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें चौथे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता है, परन्तु जब जिस भव्य जीवकी उस भाववती शक्तिका वह अदयारूप विभाव परिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध प्रकृतिका यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर यथायोग्यरूपमें समाप्त होता जाता है तब उसके बलसे उस जीवकी उस भाववतीशक्तिका उत्तरोत्तर विशेषता

लिये हुये शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मके रूपमें दयारूप परिणमन भी होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन उन क्रोध प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्यरूपमें होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है।

व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीवमें उपर्युक्त पांचों लब्धियोंका विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियोंको क्रियावती शक्तिके ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें सर्वथा निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिका नाम ही व्यवहारधर्मरूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके बलपर ही भव्य जीवमें भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धियोंका विकास होता है। इस तरह निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें व्यवहारधर्मरूप जीवदया कारण सिद्ध होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्य जीव भी इस व्यवहारधर्मरूप दयाको अंगीकार करके अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यताके कारण उसमें आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास नहीं होता है। इस तरह उसमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विकास भी नहीं होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भव्य जीवमें उक्त क्रोध प्रकृतियोंका यथासंभव रूपमें होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है, परन्तु उसमें उस करणलब्धिका विकास क्रमशः क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, और प्रायोग्य इन चारों लब्धियोंका विकास होनेपर ही होता है। अतः इन चारों लब्धियोंको भी उक्त क्रोध प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण माना गया है।

जीवकी भाववती और क्रियावती शक्तियोंके सामान्य परिणमनोंका विवेचन

जीवकी भाववती और क्रियावती दोनों शक्तियोंको प्रश्नोत्तर २ की समीक्षामें उसके स्वतःसिद्ध स्वभावके रूपमें बतलाया गया है। इनमेंसे भाववतीशक्तिके परिणमन एक प्रकारसे तो मोहनीयकर्मके उदयमें विभावरूप व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें शुद्ध स्वभावरूप होते हैं व दूसरे प्रकारसे हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते हैं। एवं क्रियावती शक्तिके परिणमन संसारावस्थामें एक प्रकारसे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं। दूसरे प्रकारसे पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकारसे सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके सहारेपर पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित आत्मक्रियाके रूपमें होते हैं। इनके अतिरिक्त संसारका विच्छेद हो जानेपर जीवकी क्रियावती शक्तिका

चौथे प्रकारसे जो परिणमन होता है वह स्वभावतः उर्ध्वगमनरूप होता है। जीवकी क्रियावती शक्तिके इन चारों प्रकारसे होनेवाले परिणमनोंमेंसे पहले प्रकारके परिणमन कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। दूसरे प्रकारके परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेसे भव्यजीवमें यथायोग्य कर्मोंके संवरपूर्वक निर्जरणमें कारण होते हैं व पुण्यरूप शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे यथायोग्य कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। तीसरे प्रकारके परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित होनेसे केवल सातावेदनीय कर्मके आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्धमें कारण होते हैं और चौथे प्रकारका परिणमन केवल आत्माश्रित होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धमें कारण नहीं होता है और कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जानेपर होनेसे उसके कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका विश्लेषण

जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप व मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं। एवं कदाचित् संसारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते हैं। इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके एक तो अशक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं और दूसरे कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं।

संसारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेषके वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थोंके अनावश्यक भोग और संग्रह रूप क्रियायें सतत करता रहता है वे सभी क्रियायें संकल्पी पाप कहलाती हैं। इनमें सभी तरहकी स्वपरहितविघातक क्रियायें अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोंवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और संग्ररूप क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें आरम्भी पाप कहलाती हैं। इनमें जीवनका संचालन, कुटुम्बका भरण-पोषण तथा धर्म, संस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोकका संरक्षण आदि उपयोगी कार्योको सम्पन्न करनेके लिये नीतिपूर्वक की जानेवाली असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और संग्रहरूप क्रियायें अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें पुण्य कहलाती हैं। इस प्रकारकी पुण्यरूप क्रियायें दो प्रकारकी होती हैं—एक तो सांसारिक स्वार्थवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया। इनमेंसे कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रियासे ही परोपकार की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वीतरागी देवकी आराधना, वीतरागताके पोषक शास्त्रोंका पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुओंकी सेवा-भक्ति तथा स्वावलम्बन शक्तिको जागृत करनेवाले व्रताचरण और तश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओंमें अन्तर्भूत होते हैं।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी यदि अहंकार आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तो उन्हें संकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदया रूप परिणमनोंका विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवकी भाववती शक्तिका चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके उदयमें अदयारूप विभाव परिणमन होता है व उन्हीं क्रोधप्रकृतियोंके यथास्थान यथासम्भव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशममें दयारूप स्वभाव परिणमन होता है। यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोंके विषयमें यह बतलाना है कि जीव द्वारा परहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियायें पुण्यके रूपमें दया कहलाती हैं और जीव द्वारा परके अहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियायें संकल्पी पापके रूपमें अदया कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त जीवकी जिन क्रियाओंमें परके अहितकी भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहितकी भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे परका अहित होना निश्चित हो वे क्रियायें आरम्भी पापके रूपमें अदया कहलाती हैं। जैसे एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण करना संकल्पी पापरूप अदया है। परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षाके लिये उस आक्रमक व्यक्तिपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भी पापरूप अदया है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवकी पुण्यमय क्रिया संकल्पी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है और आरम्भी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है, परन्तु संकल्पी और आरम्भी दोनों पापरूप क्रियाओंमें जीवकी प्रवृत्ति एक साथ नहीं हो सकती है क्योंकि संकल्पी पापरूप क्रियाओंके साथ जो आरम्भी पापरूप क्रियायें देखनेमें आती हैं उन्हें वास्तवमें संकल्पी पापरूप क्रियायें ही मानना युक्तिसंगत है। इस तरह संकल्पी पापरूप क्रियाओंके सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरंभी पापरूप क्रियायें की जाती हैं उन्हें ही वास्तविक आरम्भी पापरूप क्रियायें समझना चाहिए।

व्यवहार धर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंके साथ परहितकी भावनासे की जानेवाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियायें पुण्यके रूपमें दया कहलाती हैं और वे कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होती हैं। परन्तु भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवों द्वारा कम-से-कम मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें होनेवाली सर्वथा निवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दयाके रूपमें पुण्यमय शुभ क्रियायें की जाने लगती है वे क्रियायें ही व्यहारधर्मरूप दया कहलाती हैं। इसमें हेतु यह है कि उक्त संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली पुण्यभूत दया भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासका कारण होती है तथा भव्य जीवमें तो वह इन लब्धियोंके विकासके साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासका भी कारण होती है जो करणलब्धि प्रथमतः मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्म की यथासंभव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्मके भेद चारित्रमोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात

प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण होती है। इस तरह उक्त व्यवहारधर्मरूप दया भव्यजीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध होती है। इतनी वात अवश्य है कि भव्यजीवकी उस व्यवहारधर्मरूप दयामें जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका अंश विद्यमान रहता है वह तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्मरूप दयाका संकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे होनेवाली सर्वथा निवृत्तिका अंश कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है। द्रव्यसंग्रह ग्रन्थकी गाथा ४५ में जो व्यवहारचारित्रका लक्षण निर्धारित किया गया है उसके आधारपर व्यवहारधर्मरूप दयाका स्वरूप स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद समिदिगुत्ति रूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभमें प्रवृत्तिको जिन भगवानने व्यवहारचारित्र कहा है। ऐसा व्यवहारचारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथामें व्रत, समिति और गुप्तिको व्यवहारचारित्र कहनेमें हेतु यह है कि इनमें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिका रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथासे निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप जीवदयाको जब तक पापरूप अदयाके साथ करता है तब तक तो उस दयाका अन्तर्भाव पुण्यरूप दयामें होता है और वह जीव उक्त पुण्यरूप जीवदयाको जब पापरूप अदयासे निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहारधर्मका रूप धारण कर लेती है, क्योंकि इस दयासे जहाँ एक ओर पुण्य-प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहाँ दूसरी ओर उस दयासे पापप्रवृत्तिसे निवृत्तिरूपताके आधारपर भव्य जीवमें कर्मोंका संवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहारधर्मरूप दयासे कर्मोंका संवर और निर्जरण होता है इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेनके द्वारा जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट निम्न वचनसे होती है—

"सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो"

अर्थ—शुभ और शुद्धके रूपमें मिश्रित परिणामोसे यदि कर्मक्षय नही होता हो तो कर्मक्षयका होना असंभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेनके वचनमें "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदका ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेनके उक्त वचनके "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदमें 'सुह' और 'सुद्ध' दो शब्द विद्यमान हैं। इनमेंसे 'सुह' शब्दका अर्थ भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप शुभ परिणमनके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी भाववती शक्तिके पुण्यकर्मके उदयमें होनेवाले शुभ परिणामके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना युक्त नहीं है। आगे इसी वातको स्पष्ट किया जाता है—

जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मोंके आस्रव और वन्धके कारण होते हैं और उसी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक उस

प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्य जीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। जीवकी भाववती शक्तिके न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। इसमें यह हेतु है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका मन, वचन और कायके सहयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है उसे योग कहते हैं—("कायवाङ्मनः कर्म योगः" त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते हैं और वह योग यदि जीवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते हैं। ("शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः अशुभः"—सर्वार्थसिद्धि ६-३)। यह योग ही कर्मोंका आस्रव अर्थात् बन्धका द्वार कहलाता है—("स आस्रवः" त० सू० ६-२)। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप बन्धका कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योगकी शुभरूपता और अशुभरूपताका कारण होनेसे जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमनोंको व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुभ परिणमनोंको भी कर्मोंके आस्रवपूर्वक बन्धका कारण मानना अयुक्त नहीं है। परन्तु कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशीमें रखी हुई तेजावको भ्रमवश आँखकी दवाई समझ रहा है तो भी तवतक वह तेजाव रोगीकी आँखको हानि नहीं पहुंचाती है जब तक वह डाक्टर उस तेजावको रोगीकी आँखमें नहीं डालता है और जब डाक्टर उस तेजावको रोगीकी आँखमें डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि पहुँचा देती है। इसी तरह आँखकी दवाईको आँखकी दवाई समझकर भी जब तक डाक्टर उसे रोगीकी आँखमें नहीं डालता है तब तक वह दवाई उस रोगीकी आँखको लाभ नहीं पहुँचाती है। परन्तु जब डाक्टर उस दवाईको रोगीकी आँखमें डालता है तो तत्काल वह दवाई रोगीकी आँखको लाभ पहुँचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धान रूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन व जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप शुभपरिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योगकी शुभरूपता और अशुभरूपतामें कारण होनेसे परम्परया आस्रव और बन्धमें कारण माने जा सकते हैं। परन्तु आस्रव और बन्धमें साक्षात् कारण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनके निरोधको ही कर्मके संवर और निर्जरणमें कारण मानना युक्त है—("आस्रवनिरोधः संवरः" त० सू० ९-१) जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण मानना युक्त नहीं है, क्योंकि भाववती शक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीयकर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेके कारण संवर और निर्जराके कार्य होनेसे कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध नहीं होते हैं। एक बात और है कि जब जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनोंसे कर्मोंका आस्रव होता है तो कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण योगनिरोधको ही मानना युक्त है। यही कारण है कि जिस जीवमें गुणस्थानक्रमसे जितना-जितना योगका निरोध होता जाता है उस जीवमें वहाँ उतना-उतना

कर्मोंका संवर नियमसे होता जाता है तथा जब योगका पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मोंका संवर भी पूर्णरूप से हो जाता है। कर्मोंका संवर होनेपर बद्ध कर्मोंकी निर्जरा या तो निषेक रचनाके अनुसार सविपाक रूपमें होती है अथवा "तपसा निर्जरा च" (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तपके बलपर अविपाक रूपमें भी होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीवकी भाववती शक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोंमें सातावेदनीय कर्मका आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशरूपमें बन्ध नहीं होना चाहिए। दूसरे द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिकर्मोंका तथा चारों अघातिकर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना चाहिये। परन्तु जब ऐसा नहीं होता है तो यही स्वीकार करना पड़ता है कि वहाँ आस्रव और बन्धका मूल कारण योग है व विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनों घातिकर्मोंकी एवं चारों अघातिकर्मोंकी निर्जरा निषेकक्रमसे ही होती है। त्रयोदश गुणस्थानमें केवली भगवान अघातीकर्मोंकी समान स्थितिका निर्माण करनेके लिए जो समुद्घात करते हैं वह भी उनकी क्रियावती शक्तिका ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके उपर्युक्त वचनके अंगभूत "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदमें आये 'सुह' शब्द से जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्ति रूप परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना ही संगत है। भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ व मोहनीय कर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना संगत नहीं है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जयधवलाके उक्त वचनके 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दका अर्थ यदि जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें विकासको प्राप्त शुद्ध परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमें स्वीकार किया जाये तो उस पदके अन्तर्गत "सुह" शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमनके रूपमें तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप वे परिणमन पूर्वोक्त प्रकार न तो कर्मोंके आस्रव और बन्धके साक्षात् कारण होते हैं और न ही बद्ध कर्मोंके संवर और निर्जरणके ही साक्षात् कारण होते हैं। इसलिए उस "सुह" शब्दका अर्थ यदि जीवकी क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें स्वीकार किया जाये तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। अतः उस "सुह" शब्दका अर्थ जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अंशसे जहाँ कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहीं उसके पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप अंशसे कर्मोंका संवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भी जीवकी भाववती शक्तिके स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमनको पूर्वोक्त प्रकार कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण सिद्ध न होनेसे वहाँ "सुद्ध" शब्दका अर्थ कदापि नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवलाके "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दके निरर्थक होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः उक्त "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" इस सम्पूर्ण पदका अर्थ

जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि कहा जाये कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति उसकी भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मके रूपमें परिणमन होनेपर ही होती है, इसलिए "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्द निरर्थक नहीं है तो इस बातको स्वीकार करनेमें यद्यपि कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्षकी प्राप्ति जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके होनेपर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मक्षयका कारण मानना अन्य बात है, क्योंकि वास्तवमें देखा जाये तो द्वादश गुणस्थानवर्ती जीवका वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभावका ही अंश है जो मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय होनेपर ही प्रकट होता है।

अन्तमें एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दका जीवकी भाववतीशक्तिका स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्ण विकास हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिकर्मोंका तथा चारों अघातिकर्मोंका एक साथ क्षय होनेकी प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीवकी भाववती शक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके विकासका प्रारम्भ जब प्रथम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जानेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें होता है तो ऐसी स्थितिमें उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण कैसे माना जा सकता है? अर्थात् नहीं माना जा सकता है। यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है। उत्तरपक्षकी यह जो मान्यता है कि जीव द्रव्यकर्मोंके उदयकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही अज्ञानी बना हुआ है और उन कर्मोंसे यथा-योग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही ज्ञानी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है सो इस मान्यताका निराकरण प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें किया जा चुका है तथा प्रश्नोत्तर षष्ठकी समीक्षामें भी किया जायेगा। इसी तरह उत्तरपक्षको मान्य नियतिवाद और नियतवादका निराकरण प्रश्नोत्तर पाँचकी समीक्षामें किया जायेगा।

प्रकृतमें कर्मोंके आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जराकी प्रक्रिया

(१) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जबतक आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं तबतक वे उस प्रवृत्तिके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं। तथा इस संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ वे यदि कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते हैं तो भी वे उन प्रवृत्तियों-के आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

(२) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आसक्तिवश होनेवाले संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्त्तव्यवश करने लगते हैं तब भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

(३) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें सर्वथा त्याग कर यदि अशक्तिवश होनेवाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

(४) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें एक देश अथवा सर्व देश त्याग कर कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और वन्ध ही किया करते हैं।

(५) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर उक्त आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा व उक्त आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियोंका अपनेमें विकास कर लेते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

(६) यतः मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीवके ही होते हैं अभव्य जीवके नहीं, अतः जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हों उनमें भी उक्त पाँचों अनुच्छेदोंमेंसे दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदोंमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्वसंस्कारवश या सामान्यरूपसे लागू होती हैं तथा अनुच्छेद तीन और चारमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें भी लागू होती हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एकमें प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे जीव एक तो केवल संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नहीं करते हैं व उनकी प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक होनेके कारण पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सांसारिक स्वार्थवश नहीं करते हैं। तथा उनमें अनुच्छेद पांचमें प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियमसे मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एक और दोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसलिए लागू नहीं होतीं क्योंकि उनमें संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका अर्वथा अभाव रहता है तथा उनमें अनुच्छेद पाँचकी व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे भी मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए होनेके कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इस तरह सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंकी प्रवृत्तियाँ भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती हैं।

(७) उपर्युक्त जीवोंसे अतिरिक्त जो भव्य मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवसम्यक्त्व प्राप्तिकी ओर झुके हुए हों अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्तिमें अनिवार्य कारणभूत करणलब्धिको प्राप्त हो गये हों वे नियमसे यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और वन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमें विद्यमान मिथ्यातत्व,

सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुवन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात कर्मप्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशमके रूपमें संवर और निर्जरण किया करते हैं। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान जीव भी यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध तथा यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण किया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचनका फलितार्थ

(१) कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं। अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्त्तव्यवश किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पी-पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एवं कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(२) कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पूर्वसंस्कारके बलपर कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्वसंस्कारके बलपर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभरूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं और कोई सासादन सम्य-ग्दृष्टि जीव पूर्वसंस्कारवश संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा व आरम्भीपापरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। परन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि जीवकी यथायोग्य ये सब प्रवृत्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करती हैं।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं परन्तु उनमें इतनी विशेषता है कि वे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूपमें नहीं करते हैं। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी भी प्रवृत्तियाँ सासादन सम्यग्दृष्टि जीवके समान अबुद्धि-पूर्वक ही हुआ करती हैं।

(४) चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान सभी जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित होते हैं। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो अशक्तिवश आरम्भीपापमय अदया-रूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(५) पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश निवृत्ति-पूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, क्योंकि ऐसा किये विना जीवको पंचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नहीं होता है। इतना अवश्य है कि कोई पंचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक भी कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(६) षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता।

(७) षष्ठ गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानोंमें जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्यरूपमें नहीं करते हुए अन्तरंगरूपमें ही तब तक करता रहता है जब तक नवम गुणस्थानमें उसको अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनकषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके सर्वथा उपशम या क्षय करनेकी क्षमता प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जीवके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानके अन्त समयतक रहता है व पंचम गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थानके अन्त समयतक रहा करता है व षष्ठ गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुणस्थानोंमें संज्वलन क्रोध कर्मका उदय ही रहा करता है। परन्तु संज्वलनक्रोधकर्मका उदय व अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मोंका क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थानमें इनका सर्वथा उपशम या क्षय नहीं हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध पंचम गुणस्थान तक ही होता है और संज्वलन क्रोध कर्मका बन्ध नवम गुणस्थानके एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्धका कारण जीवकी भाववती शक्तिके हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले यथायोग्य परिणमनोंसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थानमें जब तक आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका यथायोग्य रूपमें एकदेश त्याग नहीं करता तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश त्याग कर देता है और उस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमें उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रथम और तृतीय गुणस्थानोंमें भी लागू होती है। इसी तरह जीव पंचम गुणस्थानमें जब तक आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग नहीं करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मकाबन्ध होता ही है। परन्तु यह जीव यदि आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग कर देता है और इस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमें उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थानके समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोंमें भी लागू होती है। पंचम गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमें तब तक जीव संज्वलनक्रोधकर्मका बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थानमें बन्धके अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता है। और जब वह नवम गुणस्थानमें संज्वलनक्रोधकर्मके उपशम या क्षयकी क्षमता प्राप्त कर लेता है तो उस जीवके उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करनेमें मेरा उद्देश्य इस बातको स्पष्ट करनेका है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियोंके रूपमें होनेवाले परिणमन ही क्रोधकर्मके आस्रव और बन्धमें कारण होते हैं व उन प्रवृत्तियोंका निरोध करनेसे ही उन क्रोध कर्मोंका संवर

और निर्जरण करनेकी क्षमता जीवमें आती है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो मोहनीय कर्मके उदयमें होनेवाला विभावरूप परिणमन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोशममें होनेवाला भाववती शक्तिका स्वभावरूप शुद्ध परिणमन संवर और निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपताके आधारपर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके परम्परया कारण होते हैं व तत्त्वश्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शनके रूपमें तथा तत्त्वज्ञान व्यवहारसम्यग्ज्ञानके रूपमें यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जराके भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियाँ यथायोग्य अशुभ और शुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण होती हैं तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणका साक्षात् कारण होती है एवं जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तथा दयारूप शुभरूपता और अदयारूप अशुभरूपतासे रहित जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीय कर्मके आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धका कारण होती है तथा योगका अभाव कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है।

इस सामान्य समीक्षाके सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मरूप भी होती है व इस निश्चय धर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहार धर्मरूप भी होती है। अर्थात् तीनों प्रकारकी जीवदयाएँ अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व रखती हैं।

२. प्रश्नोत्तर ३ के प्रथम दौरकी समीक्षा

प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षकी दृष्टि

पूर्वपक्षद्वारा प्रकृतमें किये गये विवेचनोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि आगममें जीवदयाके पुण्यभूत जीवदया, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदया और इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके रूपमें जो तीन प्रकार बतलाये गये हैं उन्हें पूर्वपक्ष तो मानता है, परन्तु उनमेंसे उत्तरपक्ष केवल पुण्यभूत जीवदयाको मान्य करता है, धर्मरूप जीवदयाको नहीं मान्य करता है। इतना ही नहीं, वह पूर्वपक्षकी धर्मरूप जीवदयाकी मान्यताको मिथ्यात्व कहता है। यह ध्यानमें रखकर ही पूर्वपक्षने तत्वचर्चाके अवसरपर यह प्रश्न उपस्थित किया था कि "जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या?" इस बातको मैं सामान्य समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ।

उत्तरपक्षका उत्तर विसंगत भी है, अर्धसम्मत भी है और अनुचित भी है—

उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें लिखा है कि "इस प्रश्नमें यदि 'धर्म' पदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नहीं है" तथा आगे लिखा है कि "यदि इस प्रश्नमें 'धर्म' पदका अर्थ

वीतराग परिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है" सो यह उत्तर विसंगत है, क्योंकि प्रश्नमें केवल इतना ही पूछा गया है कि जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ? जिसका आशय यही होता है कि आगममें जिस प्रकार जीवदयाको पुण्यरूप मान्य किया गया है उसी प्रकार उसे वहाँ धर्मरूप भी मान्य किया गया है। अत एव पूर्वपक्षने प्रश्न भी इसी अभिप्रायसे उपस्थित किया था। परन्तु प्रश्नका सीधा उत्तर न देकर प्रश्नको धर्मपदकी व्याख्यामें उलझा देना उत्तरपक्षके लिये शोभाकी बात नहीं कही जा सकती है।

उत्तरपक्षने अपने उत्तरके समर्थनमें परमात्मप्रकाश पद्य २-७१ और उसकी टीकाको तथा समयसार-गाथा २६४ और उसकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाको उपस्थित किया है। परन्तु प्रश्नके समाधानमें उनका कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि परमात्मप्रकाशका पद्य और उसकी टीकासे जीवदयाकी पुण्यरूपताका तो समर्थन होता है, परन्तु उनसे जीवदयाकी धर्मरूपताका निषेध नहीं होता। इसी तरह समयसारकी गाथा और उसकी टीकासे केवल पुण्यभावरूप जीवदयाका आस्रव और बन्धतत्वमें अन्तर्भाव तो सिद्ध हो सकता है, परन्तु इनसे जीवदयाकी धर्मरूपताका निषेध सिद्ध नहीं होता। एक बात और है कि जीवदयाको पुण्यरूप स्वीकार करने और उसका आस्रव और बन्धतत्वमें अन्तर्भाव मान्य करनेके विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य विवाद भी नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी जीवदयाके एक भेदको पुण्यरूप मानकर उसका आस्रव और बन्धतत्वमें ही अन्तर्भाव स्वीकार करता है। यह बात पूर्वपक्षके द्वितीय और तृतीय दौरोंसे स्पष्ट होती है। विवादका विषय तो केवल यह है कि परमात्मप्रकाशके पद्य २-७१ और समयसारके पद्य २६४ से तथा उनकी टीकाओंसे जिस प्रकार जीवदयाकी पुण्यरूपता सिद्ध होती है और उस पुण्यरूप जीवदयाका आस्रव और बन्धतत्वमें अन्तर्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार पूर्वपक्षद्वारा अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें उपस्थित धवल पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके "करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो" वचनसे जीवदयाकी जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूपता व द्रव्यसंग्रहकी गाथा ४५ से उसकी व्यवहारधर्मरूपता भी सिद्ध होती है। परन्तु उत्तरपक्ष जीवदयाको पुण्यरूप मानकर भी धर्मरूप नहीं मानता है। फलतः उत्तरपक्षका उत्तर अर्धसम्मत सिद्ध होता है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उत्तरपक्षके प्रथम दौरमें किये गये कथनसे ऐसा भी ध्वनित होता है कि वह पक्ष अपने प्रथम दौरमें जीवदयाकी पुण्यरूपताको स्वीकार करके उसी पुण्यरूप जीवदयाकी धर्मरूपताका निषेध करना चाहता है सो उसका यह प्रयत्न निरर्थक है, क्योंकि पूर्वपक्ष स्वयं पुण्यभूत जीवदयाको धर्मरूप नहीं मानता है और उसका प्रश्न भी पुण्यभूत जीवदयाकी धर्मरूपताके विषयमें नहीं है, यह बात उत्तरपक्षको उत्तर देनेसे पूर्व ही सोच लेना चाहिए थी। प्रश्नको बिना समझे उसका उत्तर देना विद्वत्ताका चिह्न नहीं है। उत्तरपक्षने प्रायः सभी प्रश्नोंका उत्तर देनेमें अपनी ऐसी ही स्थितिका प्रदर्शन किया है। तत्त्वनिर्णय करनेके प्रसंगमें उसकी इस प्रकारकी स्थिति अनुचित ही मानने योग्य है।

३. प्रश्नोत्तर ३ के द्वितीय दौरकी समीक्षा

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें आगम प्रमाणोंके आधारपर जीवदयाकी पुण्यरूपताकी स्वीकृतिके साथ उसकी शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूपताकी व इस शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें

कारणभूत व्यवहार धर्मरूपताकी स्वीकृति करते हुए इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है।

द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षका प्रारम्भिक कथन और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने प्रकृत प्रश्नोत्तर सम्बन्धी अपने द्वितीय दौरके प्रथम अनुच्छेदमें यह कथन किया है—"उक्त शंकाका जो उत्तर दिया गया था उसपर प्रतिशंका करते हुए लगभग २० शास्त्रोंके प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है कि जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें संवरके कारणोंमें दयाका अन्तर्भाव हुआ है। जयधवलाका एक ऐसा भी प्रमाण है जिसमें शुद्ध भावके साथ शुभ भावको भी कर्मक्षयका कारण कहा है। श्री धवलाजीके एक प्रमाणमें यह भी बतलाया है कि जिनबिम्बदर्शनसे निधत्ति-निकाचित बन्धकी व्युच्छित्ति होती है। इसी प्रकार भावसंग्रहमें यह भी कहा है कि जिनपूजासे कर्मक्षय होता है। ऐसे ही यहाँ जो अनेक प्रमाण संग्रह किये गये हैं उनका विविध प्रयोजन बतलाकर उन द्वारा पर्यायान्तरसे दयाको पुण्य और धर्म उभयरूप सिद्ध किया गया है। ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममेंसे ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जाये तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ बन जाये। पर इन सब प्रमाणोंके आधारसे क्या पुण्यभावरूप जीवदयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

(१) उत्तरपक्षके इस वचनसे इतना तो निश्चित हो जाता है कि वह भी इस बात को स्वीकार करता है कि आगममें पुण्यभावरूप जिनबिम्बदर्शन, जिनपूजा और जीवदया आदिको कर्मक्षय या मोक्षका कारण प्रतिपादित किया गया है। परन्तु ऐसा प्रतिपादन आगममें क्यों किया गया है इसपर उपयोगी होते हुए भी उसने विचार करनेकी आवश्यकता नहीं समझी है। वास्तवमें आगममें ऐसा प्रतिपादन इसलिये किया गया है कि पुण्यभावरूप जिनबिम्बदर्शन, जिनपूजा और जीवदया आदि प्रवृत्तियोंके आधारसे जीवमें संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियोंके प्रति घृणा उत्पन्न होती है जिसके बलसे जीव संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग कर कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारणभूत व्यवहारधर्मपर आरूढ़ हो जाता है। इस तरह पुण्यभावरूप वे जिनबिम्बदर्शन, जिनपूजा और जीवदया आदि शुभ प्रवृत्तियाँ भी परम्परया कर्मक्षय या मोक्षका कारण सिद्ध हो जाती हैं। परन्तु इतना होनेपर भी उत्तरपक्षको यह ज्ञात होना चाहिए था कि पूर्वपक्षका प्रश्न पुण्यभावरूप जीवदयाको धर्म माननेकी बातको लक्ष्यमें रखकर नहीं है; अपितु इस बातको लक्ष्यमें रखकर है कि आगममें जिस प्रकार जीवदयाको पुण्यभाव रूप मान्य किया गया है उसी प्रकार उसे वहाँ शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें और इसमें कारणभूत व्यवहारधर्मके रूपमें धर्मरूप भी मान्य किया गया है, अतः जीवदयाको जिस प्रकार पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नहीं है उसी प्रकार उसे धर्म मानना भी मिथ्यात्व नहीं है। उत्तरपक्षको आगमके अनुकूल पूर्वपक्षके इस आशयको समझकर प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न करना चाहिए था। उसने पूर्वपक्षके इस आशयको समझनेकी चेष्टा तो की नहीं, प्रत्युत विपरीत आशय ग्रहणकर इस तरह प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न किया मानों! पूर्वपक्ष पुण्यभावरूप जीवदयाको ही धर्म मानता हो। यह बात उत्तरपक्षके उपर्युक्त अनुच्छेदके "पर इन सब प्रमाणोंके आधारसे क्या पुण्यभाव रूप जीवदयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है?" इस अंशसे ज्ञात होती है। परन्तु उत्तरपक्ष द्वारा पूर्वपक्षके विषयमें इस प्रकारकी मिथ्यादृष्टि बनाकर प्रश्नका उत्तर देना उचित नहीं है।

(२) उत्तरपक्षके उक्त कथनसे यह भी निश्चित होता है कि वह पक्ष इस बातको भी स्वीकार

करता है कि जयधवलामें शुद्धभावके साथ शुभ भावको भी कर्मक्षयका कारण कहा गया है। परन्तु उसने जयधवलाके वचनके अभिप्रायको भी स्पष्ट करनेकी चेष्टा नहीं की, जो आवश्यक थी। वास्तवमें जयधवलाका जो "सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो" यह वचन है इसके अभिप्रायको मैंने सामान्य समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट कर दिया है जो प्रकृतमें संक्षेपसे इस प्रकार है कि अदयाभूत अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिके रूपमें शुद्ध और दयाभूत शुभप्रवृत्तिकेरूपमें शुभ इस तरह शुभ-शुद्धरूप जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके दयाभूत शुभ प्रवृत्ति रूप शुभ अंशसे आस्रव और बन्ध होते हुए भी उसके अदयाभूत अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप शुद्ध अंशसे संवर और निर्जराके रूपमें कर्मक्षय होता है। यदि उत्तरपक्ष जयधवलाके उक्त वचनके इस आशयको समझनेकी चेष्टा करता तो विश्वास है कि उसने अपने द्वितीय दौरमें जिस प्रकार पुण्यभूत जीवदयासे पृथक् वीतराग परिणतिरूप जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाको स्वीकार कर लिया उसी प्रकार वह पुण्यभूत जीवदयासे पृथक् व्यवहारधर्म रूप जीवदयाको भी स्वीकार कर लेता और तब उसे पूर्वपक्षकी यह बात भी समझमें आ जाती कि जिस प्रकार जीवदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है उसी प्रकार उसे जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें व इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मके रूपमें धर्म मानना भी मिथ्यात्व नहीं है।

प्रकृतमें उत्तरपक्ष द्वारा प्रस्तुत आगमवचनोंपर विचार

उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें यहाँ सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित पुरुषार्थसिद्धयुपायके पद्य २१२, २१३ और २१४ को व इनके आगे पद्य २१६ को उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, आगे समयसार गाथा १५० और उसकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाको भी उपस्थित किया है और उन सब आगमप्रमाणोंके आधारपर उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि "इस प्रकार इस कथनसे स्पष्ट है कि शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्बदर्शन हो, व्रतोंका पालन करना हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है। उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।"

इसपर मेरा कहना है कि आगममें पुण्यरूप जीवदयाको भी मोक्षका कारण माना है। परन्तु इस सम्बन्धमें पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पुण्यरूप जीवदया जीवकी संकल्पीपापमय अदयासे घृणा उत्पन्न होनेमें सहायक होती है और इस घृणाके बलपर ही वह जीव उस संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर देता है तथा इस स्थितिमें वह जीव जो पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करता है उसे वह अशक्तिवश आरम्भीपापके रूपमें ही करता है, साथ ही वह कर्तव्यवश दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी नियमसे किया करता है। इस तरह संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ जीव जो पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करता है वह व्यवहारधर्मरूप दयामें ही अन्तर्भूत होती है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुण्यभूत जीवदया व्यवहारधर्म रूप जीवदया-की उत्पत्तिमें कारण होती है तथा इस आधारपर ही आगममें पुण्यभूत जीवदयाको परम्परया मोक्षका कारण माना गया है। वास्तवमें तो पुण्यभावरूप जीवदया शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है और पूर्वपक्ष भी ऐसा ही स्वीकार करता है। इससे निर्णीत होता है कि पूर्वपक्ष पुण्यभाव रूप जीवदयाको उस प्रकार मोक्षका कारण नहीं मानता जिस प्रकार व्यवहारधर्मरूप जीवदया मोक्षका कारण होती है। इस तरह पूर्वपक्ष पुण्यभावरूप जीवदयाको पुण्यभाव रूप ही मानता है वह उसे धर्मरूप

कदापि नहीं कहता। अतः उसका प्रश्न पुण्यभावरूप जीवदयाको धर्म माननेकी दृष्टिसे नहीं है, अपितु इस दृष्टिसे है कि जीवदयाका एक प्रकार जिस तरह पुण्यरूप है उसी तरह दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप भी है और तीसरा प्रकार उस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप भी है। पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें जितना विवेचन किया है वह इसी दृष्टिसे किया है।

जीवदयाके सम्बन्धमें किये गये इस स्पष्टीकरणसे यह बात अच्छी तरह निर्णीत हो जाती है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायके पद्य २१२, २१३ और २१४ प्रकृत विषयमें पूर्वपक्षकी दृष्टिका ही समर्थन करते हैं। अर्थात् व्यवहारधर्मरूप जीवदयामें जितना अंश अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिका है वही कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होकर मोक्षका कारण होता है और उसमें जितना अंश दयारूप शुभ प्रवृत्तिका है वह तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होता है। इसी तरह पुरुषार्थ सिद्ध्युपायके पद्य २१६ में भी यही बतलाया गया है कि जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला आत्मश्रद्धानरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन, मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला आत्मज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञान व जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप क्रियासे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप आत्मस्थिति जिसे व्यवहारसम्यक्चारित्र कहना युक्त है इन सबसे कर्मोंका बन्ध नहीं होता है सो यह भी पूर्वपक्षकी प्रकृत विषय सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यताके विरुद्ध नहीं है। यदि पुरुषार्थसिद्ध्युपायके पद्य २१२, २१३ और २१४ का तथा २१६ का सम्बन्ध निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रसे जोड़ा जाये तो यह उचित नहीं है, क्योंकि न तो मोहनीयकर्मके उदयमें होनेवाली मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप विभाव परिणति कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होती है और न ही मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशयमें होनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप स्वभाव परिणति कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होती है। यह बात सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें स्पष्ट की चा चुकी है।

इसी प्रकार समयसार गाथा १५० और उसकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकासे भी पूर्वपक्षकी दृष्टिका विरोध नहीं होता है, क्योंकि आगममें स्पष्ट कथन है कि व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं व व्यवहारमिथ्यादर्शन, व्यवहारमिथ्याज्ञान और प्रवृत्तिरूप व्यवहारमिथ्याचारित्र कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं। (देखो, रत्नकरण्डश्रावकाचार पद्य ३)।

इस तरह इन प्रमाणोंके आधारपर प्रकृत विषयके सम्बन्धमें उत्तरपक्षने जो निष्कर्ष निकाला है वह भी पूर्वपक्षकी दृष्टिके विरुद्ध नहीं है। विरोध तो उत्तरपक्षको इसलिये मालूम पड़ता है कि वह पक्ष जो पूर्वपक्षका विरोध कर रहा है वह विरोध पुण्यभावरूप जीवदयाको लक्ष्यमें रखकर कर रहा है जबकि पूर्वपक्षका विवेचन पुण्यभावरूप जीवदयासे पृथक् व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको लक्ष्यमें रखकर है।

उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें आगे त० च० पृ० ९९ पर यह कथन किया है—"श्री समयसारजी में सम्यग्दृष्टिको जो अबन्धक कहा है इसका यह अर्थ नहीं कि उसके बन्धका सर्वथा प्रतिषेध किया है। उसका तो मात्र यही अर्थ है कि सम्यग्दृष्टिके रागभावका स्वामित्व न होनेसे उसे अबन्धक कहा है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और रागदृष्टिमें बड़ा अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि होता है वह रागदृष्टि नहीं होता और जो राग-

दृष्टि होता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता।" इसके आगे अपने उक्त अभिप्रायकी पुष्टिके लिए त० च० पृ० १०० पर उसने समयसारगाथा १९९ और २०० को भी उपस्थित किया है तथा इसके भी आगे अपने पक्षके समर्थनमें उसने चेतनाके ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके रूपमें तीन भेदोंका भी कथन किया है सो इनका भी पूर्वपक्षकी मान्यतापर उपर्युक्त प्रकार प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है अर्थात् उत्तरपक्षका यह सब कथन प्रकृतमें पुण्यभाव रूपजीवदयाको लक्ष्यमें रखकर है जब कि पूर्वपक्षका विवेचन पुण्यभावरूप जीवदयासे पृथक् व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको लक्ष्यमें रखकर है।

आगे उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें त० च० पृ० १०० पर ही यह कथन किया है कि "यदि प्रकृतमें दयासे वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है और इसके फलस्वरूप जिन उल्लेखोंके आश्रयसे प्रतिशंका दोमें दयाको कर्मक्षपणा या मोक्षका कारण कहा है तो उसे उस रूप स्वीकार करनेमें तत्त्वकी कोई हानि नहीं होती, क्योंकि रागपरिणाम मात्र बन्धका ही कारण है, फिर भले ही वह दसवें गुणस्थानका सूक्ष्मसाम्पराय रागपरिणाम ही क्यों न हो और वीतरागभाव एकमात्र कर्मक्षपणाका ही हेतु है फिर भले ही वह अविरत सम्यग्दृष्टिका वीतराग परिणाम ही क्यों न हो।"

उत्तरपक्षके इस कथनसे यह सूचित होता है कि वह भी पूर्वपक्षके समान पुण्यभूत जीवदयासे पृथक् वीतराग परिणतिके रूपमें धर्मरूप जीवदयाको मान्य करनेके लिए तैयार है। इसलिये उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए था कि पूर्वपक्षने प्रकृतमें पुण्यभावरूप जीवदयासे पृथक् इसी वीतराग परिणतिरूप जीवदयाको धर्मरूप से ग्रहण किया है। इतना अवश्य है कि इस तरह उत्तरपक्षका अपने प्रथम दौरके उत्तरवचनमें यह लिखना कि "यदि इस प्रश्नमें धर्मपदका अर्थ वीतरागपरिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है।" असंगत सिद्ध हो जाता है। इसपर उत्तरपक्ष यदि यह कहना चाहे कि उसने तो अपने प्रथम दौरमें पुण्यभावरूप जीवदयाको धर्म माननेकी बातको मिथ्यात्व कहा है, वीतरागपरिणतिरूप जीवदयाको नहीं, तो उसे इस बातका स्पष्टीकरण प्रथम दौरमें ही कर देना चाहिए था, क्योंकि पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें जीवदयापदका ही पाठ किया है, पुण्यभावरूप जीवदयापदका पाठ नहीं किया है जिसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जीवदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है इसी प्रकार जीवदयाको धर्म मानना भी मिथ्यात्व नहीं है। इस तरह पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके प्रथम उत्तरसे ही यह बात समझमें आ जाती कि उत्तरपक्ष जीवदयाको पुण्यभावरूप जीवदयासे पृथक् वीतरागपरिणतिके रूपमें धर्मरूप जीवदयाको भी मान्य करता है। तब दोनों पक्षोंके मध्य विवाद केवल व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको मानने न माननेके विषयमें ही रह जाता। इसका यह सुफल होता कि प्रकृत प्रश्नके सम्बन्धमें उसे जो अनावश्यक प्रयास करना पड़ा वह उसे नहीं करना पड़ता तथा पूर्वपक्ष भी कुछ तो अनावश्यक प्रयाससे बच जाता।

यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि उत्तरपक्षने पुण्यभूत जीवदयासे पृथक् वीतरागपरिणतिरूप जीवदयाको तो मान्य कर लिया है, परन्तु इस वीतरागपरिणतिरूप जीवदयाके दो भेद हैं—एक तो अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाली जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप वीतराग परिणतिरूप जीवदया और दूसरी जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप वीतराग परिणतिरूप जीवदया। इन दोनोंमेंसे जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप वीतरागपरिणतिरूप जीवदयाका अन्तर्भाव तो शुद्धस्वभावभूत निश्चयधर्ममें होता है और जीवकी

क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप वीतरागपरिणतिरूप जीवदयाका अन्तर्भाव पूर्वोक्त प्रकार व्यवहारधर्ममें होता है। इनमेंसे पहली निश्चयधर्मरूप जीवदयाको तो उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें स्वीकार कर लिया है, परन्तु दूसरी व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको वह अभी भी मान्य करनेके लिए तैयार नहीं है। इसलिए इसके विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य अभी भी विवाद बना हुआ है। इसके अतिरिक्त उत्तरपक्षके सामने यह समस्या बनी हुई है कि जिस प्रकार पुण्यभूत जीवदया शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण न होकर उनके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है उसी प्रकार निश्चयधर्मरूप जीवदया यद्यपि जीवके शुद्ध स्वभावभूत होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण नहीं होती है। परन्तु वह कर्मोंके संवर और निर्जरणका भी तो कारण नहीं होती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक होती है। इसलिए दयारूप शुभ प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होते हुए भी अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूपताके आधारपर और अन्तमें दयारूप शुभ प्रवृत्तिसे भी निवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोंके संवर और निर्जरणकी कारणभूत व्यवहारधर्मरूप दयाको मान्य करना भी उत्तरपक्षको अनिवार्य है।

यहाँ दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "वीतरागभाव एकमात्र कर्मक्षपणाका ही हेतु है" सो उसने यह यदि जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप वीतरागभावको लक्ष्यमें रखकर लिखा है तो अयुक्त है, क्योंकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ऐसा वीतरागभाव जब कर्मक्षपणापूर्वक ही प्रगट होता है तो उसे स्वयं कर्मक्षपणाका कारण नहीं माना जा सकता है। इसलिए यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप वीतरागभाव ही ग्रहण करने योग्य है। फलतः कर्मक्षपणामें कारणभूत व्यवहारधर्मभूत जीवदयाकी स्वीकृति उत्तरपक्षको न चाहते हुए भी मानना पड़ती है। यह विषय पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

अन्तमें त० च० पृ० १०० पर ही उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जो समयसार कलश १०६ और १०७ को प्रस्तुत किया है सो उसका आशय यही है कि जीवकी भाववती शक्तिका स्वभावभूत ज्ञानस्वरूप परिणमन होना ही मोक्षका हेतु है। परन्तु इसका यह स्वभावभूत ज्ञानस्वरूप परिणमन यथायोग्य कर्मकी क्षपणापूर्वक ही होता है और क्षपणा तब तक प्रारम्भ नहीं होती जब तक जीवकी क्रियावतीशक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप परिणमन नहीं होने लगता है। तात्पर्य यह है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन तो आस्रवपूर्वक बन्धका कारण होता है और उसका अशुभसे निवृत्तिरूप परिणमन संवरपूर्वक निर्जरणका कारण होता है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो अशुद्ध परिणन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही उसका शुद्ध परिणमन संवर और निर्जराका कारण होता है। इसका स्पष्टीकरण सामान्य समीक्षामें किया जा चुका है।

४. प्रश्नोत्तर ३ के तृतीय दौरकी समीक्षा

तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरके प्रारम्भमें त० च० पृ० १०१ पर उत्तरपक्षके प्रथम और द्वितीय दौरोंकी आलोचना करते हुए निम्न कथन किया है—

"आपके इस उत्तरके निराकरणमें हमने आपको दूसरा पत्रक दिया जिसमें श्री आचार्य कुन्दकुन्द, वीरसेन, अकलंक, देवसेन, स्वामी कार्तिकेय आदि ऋषियोंके द्वारा प्रणीत प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थों—धवल,

जयधवल, राजवार्तिक, भावपाहुड, भावसंग्रह, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदिके लगभग २० प्रमाण देकर निम्न लिखित दो बातें सिद्ध की थीं—

(१) जीवदया करना धर्म है।

(२) पुण्यभाव धर्मरूप है। पुण्यभाव या शुभ भावोंसे संवर निर्जरा तथा पुण्यकर्म-बन्ध होता है।"

पूर्वपक्षके इस कथनका अभिप्राय यह है कि आगममें पुण्यरूप जीवदयासे पृथक् व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको भी मान्य किया गया है जो व्यवहारधर्मरूप जीवदया जीवकी अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक दयाभूत शुभ प्रवृत्तिरूप होती है। इस अभिप्रायकी पुष्टि पूर्वपक्षके ही त० च० पृ० १०३ पर निर्दिष्ट निम्न कथन से होती है—

"आपने रागभावको केन्द्र बनाकर पुण्यभावों या शुभभावोंको केवल कर्मबन्धके साथ बाँधनेका प्रयत्न किया है। यह शुभभावोंकी अवान्तर परिणतियोंपर दृष्टि न जानेका फल जान पड़ता है। इतनी बात तो अवश्य है कि दसवें गुणस्थान तक रागभाव लघु, लघुतर, लघुतमरूपसे पाया जाता है और यह भी सत्य है कि रागभावसे कर्मोंका आस्रव तथा बन्ध हुआ करता है। तथा च अमृतचन्द्र सूरिने जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयतके मिश्रित भावोंको अपनी प्रज्ञा छैनीसे भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्मोंके बन्धन और अबन्धनकी सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थके तीन श्लोकोंमें की है उनमें एक अखण्डित मिश्रितभावका विश्लेषण समझानेके लिए प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्डभाव ही शुभ भाव है, अतः इससे आस्रवबन्ध भी होता है तथा संवर निर्जरा भी होता है।"

इस कथनके अतिरिक्त पूर्वपक्षद्वारा आगम प्रमाणोंके आधारपर आगे किये गये अन्य कथनोंसे भी यही निर्णीत होता है कि पूर्वपक्ष जीवदयाको मात्र शुभ प्रवृत्तिके रूपमें पुण्यरूप भी मानता है जो केवल कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है तथा वह उसे जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप भी मानता है जो मोहनीयकर्मकी क्रोधप्रकृतियोंके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक जीवमें प्रगट होती है। तथा जो न तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होती है और न ही कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होती है। एवं इन दोनोंके अतिरिक्त वह उसे व्यवहारधर्मरूप भी मानता है जो तत्-तत् पापमय प्रवृत्तिसे यथायोग्य निवृत्तिरूप होनेसे रत्नत्रयांशके रूपमें कर्मोंके संवर और निर्जरणका भी कारण होती है तथा पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे रागांशके रूपमें कर्मोंके आस्रव और बन्धका भी कारण होती है। इस तरह यह व्यवहारधर्मरूप जीवदया रत्नत्रयांशके रूपमें जीवके शुद्धस्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण भी सिद्ध हो जाती है। यह सब विषय सामान्य समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट किया जा चुका है!

तृतीय दौरमें उत्तरपक्षका प्रारंभिक कथन और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके प्रारम्भमें "प्रथम और द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार" शीर्षकसे त० च० पृ० ११० और १११ पर पांच अनुच्छेद लिखे हैं। उनमेंसे प्रत्येक अनुच्छेदको उद्धृत कर उसकी समीक्षा की जाती है—

(१) प्रथम अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि 'जीवदयापदके स्वदया और परदया दोनों अर्थ सम्भव हैं। किन्तु प्रकृतमें मूल प्रश्न परदयाको ध्यानमें रखकर ही है, इस बातको ध्यानमें रखकर हमने प्रथम उत्तरमें

यह स्पष्टीकरण किया कि यदि धर्मपदका अर्थ पुण्यभाव लिया जाये तो जीवदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है। इस उत्तरमें आगम प्रमाण भी इस अर्थकी पुष्टिमें दिये।'

इसकी समीक्षामें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्षने इस अनुच्छेदमें "जीवदया" पदके स्वदया और परदयाके रूपमें जो दो भेद मान्य किये हैं, उनमें विवाद नहीं है। परन्तु उसने वहींपर जो यह लिखा है कि "प्रकृतमें मूल प्रश्न परदयाको ध्यानमें रखकर ही है" सो उसका यह लिखना मिथ्या है, क्योंकि पूर्वपक्षका प्रश्न परदया अर्थात् पुण्यभावरूप जीवदयाको ध्यानमें रखकर नहीं है, अपितु सामान्य रूपसे जीवदयाको ध्यानमें रखकर ही है, क्योंकि पूर्वपक्ष अपमे प्रश्नमें उत्तरपक्षसे मात्र इतना पूछ रहा है कि जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ? पुण्यभावरूप जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ? यह नहीं पूछ रहा है और ऐसा न पूछनेका कारण यह है कि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी पुण्यभावरूप जीवदयाको धर्म नहीं मानता है। यह बात प्रथम दौरकी समीक्षामें स्पष्ट की जा चुकी है। यतः पूर्वपक्ष समझता था कि उत्तरपक्ष जीवदयाको धर्मरूप नहीं मानना चाहता है अतएव उसने प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया था। यद्यपि उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें और इस तृतीय दौरमें जीवदयाको वीतराग परिणतिके रूपमें जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म भी स्वीकार कर लिया है, परन्तु वह इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको अभी भी माननेके लिए तैयार नहीं है।

(२) द्वितीय अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "अपरपक्षने अपनी प्रथम प्रतिशंकामें एक अपेक्षासे हमारे उक्त कथनको तो स्वीकार कर लिया किन्तु साथमें आगमके लगभग २० प्रमाण उपस्थित कर यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि जीवदयाका संवर और निर्जरा तत्वमें भो अन्तर्भाव होता है, इसलिये वह मोक्षका भी कारण है।"

इसकी समीक्षामें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्षका इस अनुच्छेदमें "अपर पक्षने अपनी प्रथम प्रतिशंकामें एक अपेक्षासे हमारे उक्त कथनको स्वीकार कर लिया" यह लिखना भ्रामक है, क्योंकि पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ जीवदयाके पुण्यभाव रूप होने और उसका आस्रव व बन्ध तत्त्वमें अन्तर्भाव होनेके सम्बन्धमें विवाद न होकर केवल उसे धर्मरूप माननेके विषयमें ही विवाद था, इसीलिये पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें 'इस प्रश्नके उत्तरमें आपने जीवदयाको धर्म मानते हुए उसकी शुभ परिणामोंमें परिगणना की है यह एक अपेक्षासे ठीक होते हुए भी' यह कथन किया है। उत्तरपक्षने इस अनुच्छेदमें पूर्वपक्षके कथनके रूपमें जो यह लिखा है कि "किन्तु साथमें आगमके लगभग २० प्रमाण उपस्थित कर यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि जीवदयाका संवर और निर्जरा तत्त्वमें भी अन्तर्भाव होता है इसलिये वह मोक्षका भी कारण है ?" सो ऐसा प्रयत्न पूर्वपक्षने पुण्यभूत जीवदयासे भिन्न व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको लक्ष्यमें रखकर ही किया है, क्योंकि आगमके आधारपर वह व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको संवर और निर्जराका कारण मानकर मोक्षका भी कारण मानता है। इस बातको उसने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें स्पष्ट भी किया है तथा इस समीक्षामें मैंने भी स्पष्ट किया है।

(३) तृतीय अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि 'अपरपक्षने जो प्रमाण उपस्थित किये उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें धर्मको दया प्रधान कहा गया है या करुणाको जीवका स्वभाव कहा गया है या शुभ और शुद्ध भावोंसे कर्मोंकी क्षपणा कही गई है और साथ ही ऐसे प्रमाण भी उपस्थित किये जिनमें स्पष्ट रूपसे रागरूप पुण्यभावकी सूचना है। किन्तु इनमेंसे किस प्रमाणका क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं किया

गया। वे कहाँ किस अपेक्षासे लिखे गये हैं यह भी नहीं खोला गया। इसलिये हमें अपने दूसरे उत्तरमें यह टिप्पणी करनेके लिये वाध्य होना पड़ा कि "ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममेंसे ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जाये तो स्वतंत्र ग्रन्थ वन जाये।'

इसकी समीक्षामें मेरा यह कहना है कि पूर्वपक्ष जीवदयाको पुण्यरूप भी मानता है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म रूप भी मानता है और निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्म रूप भी मानता है तथा अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिये ही उसने उक्त आगमप्रमाणोंको उपस्थित किया है। उनमेंसे कोई प्रमाण जीवकी पुण्यरूपताका समर्थक है। कोई प्रमाण उसकी शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म-रूपताका समर्थक है और कोई प्रमाण उसकी व्यवहारधर्मरूपताका समर्थक है। उत्तरपक्षका भी यही कर्तव्य था कि वह जीवदयाको उन प्रमाणोंके आधारपर पुण्यरूप, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप और इसमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप स्वीकार कर लेता। उत्तरपक्षने इस अनुच्छेदमें जो यह लिखा है कि 'किन्तु इनमें किस प्रमाणका क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं किया गया। वे कहाँ किस अपेक्षासे लिखे गये हैं यह भी नहीं खोला गया' इसके सम्बन्धमें मैं पहली बात तो यह कहना चाहता हूँ कि पूर्वपक्षने इन बातोंपर इसलिये ध्यान नहीं दिया कि उसने प्रकृतमें इन बातोंको स्पष्ट करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि उसके सामने प्रश्न केवल जीवदयाके उपर्युक्त तीन भेदोंकी पुष्टि करनेका था। दूसरी बात यह कहना चाहता हूँ कि यदि उत्तरपक्ष इन बातोंको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता समझता था, तो अच्छा होता कि इन वातोंको यहाँ प्रश्नके रूपमें उपस्थित न करके वह स्वयं ही स्पष्ट कर देता। तीसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि द्वितीय दौरकी समीक्षामें मैंने इन बातोंका स्पष्टीकरण कर दिया है इसलिये अब यहाँ मेरे लिए भी इनको स्पष्ट करना आवश्यक नहीं रह गया है। उत्तरपक्षने इस अनुच्छेदके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'इसलिये हमें अपने दूसरे उत्तरमें यह टिप्पणी करनेके लिए बाध्य होना पड़ा कि ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं यदि पूरे जिनागममेंसे ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जाये तो स्वतंत्र ग्रन्थ बन जाये।' सो उसके इस लेखके विषयमें तो कोई आपत्ति नहीं है, तथापि उत्तरपक्ष यदि टिप्पणी करनेसे पूर्व प्रश्नके विषयमें इन आगम प्रमाणोंको उपस्थित करनेमें पूर्वपक्षके आशयको समझनेकी चेष्टा कर लेता तो अच्छा रहता। परन्तु जब उत्तरपक्षने प्रश्नके विषयमें पूर्वपक्षके आशयको नहीं समझकर और प्रश्नको विपरीत दिशामें मोड़कर पहलेसे ही मूलमें भूल कर दी है तो फिर उससे इसके अतिरिक्त और क्या आशा की जा सकती थी।

(४) चतुर्थ अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि 'फिर भी उन प्रमाणोंको ध्यानमें रखकर हमने दूसरे उत्तरमें यह स्पष्टीकरण कर दिया कि पुण्य (शुभ राग) भाव रूप जो दया है वह तो मोक्षका कारण नहीं है। हाँ, इसका अर्थ वीतरागभाव यदि लिया जाये तो वह संवर और निर्जरा रूप होनेसे अवश्य ही मोक्षका कारण है।'

इसकी समीक्षामें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्षने इस अनुच्छेदमें जो यह लिखा है कि 'इन प्रमाणोंको ध्यानमें रखकर हमने अपने दूसरे उत्तरमें यह स्पष्टीकरण कर दिया कि पुण्य (शुभ राग) भाव रूप जो दया है वह तो मोक्षका कारण नहीं है।' सो यह भी उसने प्रश्नके विषयमें पूर्वपक्षके आशयको नहीं समझ सकनेके कारण लिखा है, क्योंकि पूर्वपक्ष पुण्य (शुभराग) भावरूप दयाको मोक्षका कारण मानता ही नहीं है और मानता भी है तो परम्परया इस रूपमें मानता है कि पुण्यरूप जीवदया जीवमें संकल्पी पापोंसे घृणा उत्पन्न होनेमें कारण होती है और जीवमें जब संकल्पी पापोंसे घृणा उत्पन्न हो जाती है तो वह जीव

उन संकल्पी पापोंका सर्वथा त्यागकर अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होने वाली शुभमें प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्मको अंगीकार कर लेता है जो व्यवहारधर्म कर्मोंके संवर और निर्जरण पूर्वक मोक्षका कारण होता है इस विषयको पूर्वमें विस्तारसे स्पष्ट किया गया है। उत्तरपक्षने इस अनुच्छेदके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'इसका अर्थ वीतरागभाव यदि लिया जाये तो यह संवर और निर्जरा रूप होनेसे अवश्य ही मोक्षका कारण है।' सो यह लेख उसने वीतरागभावका अर्थ शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें ग्रहण कर लिखा है। इसलिये मिथ्या है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप यह वीतरागभाव कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक होनेसे कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण नहीं हो सकता है। इसलिये यदि उत्तरपक्ष वीतरागभावका अर्थ व्यवहारधर्मके अंशभूत पापभूत अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिके रूपमें स्वीकार कर ले तो उसका उक्त कथन संगत हो सकता है, क्योंकि व्यवहार धर्मके अंशभूत पापभूत अशुभसे निवृत्ति ही कर्मोंके संवर और निर्जराका कारण होती है। इसे भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

(५) पंचम अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने लिखा है कि 'यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगममें सरागसम्यक्त्वको या सरागचारित्र आदिको जहाँ बन्धका कारण कहा है वहाँ उन्हें परम्परा मोक्षका कारण भी कहा है। पर उसका आशय दूसरा है, इसलिये प्रकृतमें उसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो निर्णय इस बातका करना है कि रागरूप शुभ भाव या पुण्यभाव भी क्या उसी तरह मोक्षका कारण है जिस तरह निश्चयधर्म। इन दोनोंमें कुछ अन्तर है या दोनों एक समान हैं। पूरी चर्चाका केन्द्र विन्दु यही है। हमने अपने प्रथम और द्वितीय उत्तरमें इसी आशयको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।'

इसकी समीक्षामें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्षने अपने प्रथम और द्वितीय उत्तरमें जो कुछ लिखा है वह सब अपनी इस धारणाके आधारपर लिखा है कि पूर्वपक्ष पुण्यरूप जीवदयाको ही धर्म मानता है जो मिथ्या है, क्योंकि पूर्वपक्ष तो पुण्यरूप जीवदयासे पृथक् जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें व इसमें कारणभूत व्यवहारधर्मके रूपमें ही जीवदयाको धर्मरूप स्वीकार करता है। यतः इस बातको मैं इसी समीक्षामें विस्तारके साथ स्पष्ट कर चुका हूँ, इसलिये इस अनुच्छेदमें उत्तरपक्षका यह लिखना कि 'यहाँ तो निर्णय इस बातका करना है कि रागरूप शुभ भाव या पुण्यभाव भी क्या उसी तरह मोक्षका कारण है जिस तरह निश्चय रत्नत्रय। इन दोनोंमें कुछ अन्तर है या दोनों एक समान हैं।' निरर्थक और अनुचित सिद्ध हो जाता है। उत्तरपक्षके इस लेखसे ऐसा भी ज्ञात होता है कि वह पुण्यभाव या शुभ भावको मोक्षका कारण तो मानता है, परन्तु उस तरह नहीं मानता है जिस तरह वह निश्चय रत्नत्रयको मानता है, इसलिये पुण्यभाव या शुभभाव जीवदयाको वह किस तरह मोक्षका कारण मानता है यह बात उसे स्पष्ट करनी थी। यतः उसने इस बातको स्पष्ट नहीं किया, अतः इसमें उसकी दूषित मनोवृत्ति ही कारण जान पड़ती है, क्योंकि इस स्पष्टीकरणसे उसका पक्ष उसीके द्वारा निरस्त हो सकता था। पूर्वपक्ष एक तो पुण्यभाव या शुभ भावरूप जीवदयाको कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होनेसे मोक्षका कारण मानता ही नहीं है वह तो व्यवहारधर्मरूप जीवदयाको ही आस्रव और बन्धका कारण होनेके साथ संवर और निर्जराका भी कारण होनेसे मोक्षका कारण मानता है। दूसरे, वह जो पुण्यभाव या शुभभावरूप जीवदयाको मोक्षका कारण मानता है वह इस तरह मानता है कि पुण्यभाव या शुभभाव रूप जीवदया व्यवहारधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण होती है। इसलिये वह उसे परम्परया ही मोक्षका कारण मानता है। यह सब विषय इसी समीक्षामें विस्तारके साथ स्पष्ट किया जा चुका है। इस अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि 'यहाँ यह स्पष्ट

कर देना आवश्यक है कि आगममें सराग सम्यक्त्वको या सरागचारित्र आदिको जहाँ कर्मबन्धका कारण कहा है वहाँ परम्परा मोक्षका भी कारण कहा है।' सो उसका यह कथन तो निर्विवाद है, परन्तु इसके आगे उसने जो यह लिखा है कि 'उसका आशय दूसरा है' सो अच्छा होता यदि वह उस दूसरे आशयको यहाँ स्पष्ट कर देता। इस विषयमें उसने आगे जो केवल यह लिख दिया कि 'प्रकृतमें उसकी विवक्षा नहीं है।' सो इसे उसका उस आशयको स्पष्ट करनेकी बातको तो टालना ही कहा जा सकता है। लेकिन उसका इस तरह आवश्यक बातको टाल देना उचित नहीं है, क्योंकि सम्भव है उसके द्वारा उस आशयको स्पष्ट कर देनेसे प्रकृत विषयकी समस्याके सुलझनेका मार्ग प्रशस्त हो जाता।

तात्पर्य यह है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभमें प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्रके रूपमें जो सम्यक्चारित्र है वह शुभ प्रवृत्तिके रूपमें तो बन्धका कारण है और अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिके रूपमें परम्परया मोक्षका कारण है। इसे परम्परया मोक्षका कारण कहनेका आशय यह है कि इस व्यवहारसम्यक्चारित्रके आधारपर भव्यजीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धियोंको अपनेमें विकसित कर लेता है। तथा करण लब्धिका विकास मोहनीय कर्मके यथास्थान यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण होता है और इसके अनन्तर ही उस जीवमें आत्म-विशुद्धिके रूपमें निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसी तरह सराग सम्यक्त्व भी उस जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमनके रूपमें व्यवहारसम्यक्त्व है। ऐसे सराग-सम्यक्त्व और सरागचारित्र दोनों ही अपने अपने ढंगसे बन्ध और मोक्षके कारण होते हैं। जो मनीषी मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले दशम गुणस्थान तकके निश्चयसम्यक्त्व और निश्चयचारित्रको ही सरागसम्यक्त्व और सरागचारित्र कहते हैं वे भ्रममें हैं, क्योंकि निश्चयसम्यक्त्व और निश्चयचारित्र जिस गुणस्थानमें जिस रूपमें प्रगट होते हैं वे जीवके शुद्ध स्वभावरूप होनेसे बन्धके कारण नहीं होते हैं और मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होनेसे संवर और निर्जराका कार्य होनेसे वे संवर और निर्जराके कारण भी नहीं होते हैं। इस विषयको तथा व्यवहार या सराग सम्यक्त्व और व्यवहार या सरागचारित्रकी अपने-अपने ढंगकी मोक्ष कारणताको सयुक्तिक इस समीक्षामें पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

तृतीय दौरमें निर्दिष्ट उत्तरपक्षके आगेके कथनोंकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरमें आगे "प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार" शीर्षकसे जो विचार व्यक्त किये हैं वे विचार उसने प्रथम और द्वितीय दौरोंके समान पूर्वपक्षके "जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या? इस प्रश्नको "पुण्यरूप जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या?" इस रूपमें ग्रहण करके पुण्यभूत दयाको लक्ष्यमें रखकर ही व्यक्त किये हैं। उसे मैं पहले भी उत्तरपक्षकी "मूलमें भूल" कह आया हूँ आगे उत्तरपक्षके उन विचारोंकी समीक्षा की जाती है—

(१) उत्तरपक्षने त० च० पृ० १११ पर परमात्मप्रकाश पद्य ७१ को लेकर पूर्वपक्ष की आलोचना की है वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतमें वह आलोचना मात्र आस्रव और बन्धमें कारणभूत पुण्यरूप दयाको दृष्टिमें रखकर की है जबकि पूर्वपक्षका कथन आस्रव और बन्धके साथ संवर और निर्जरामें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप दयाको लक्ष्यमें रखकर है।

(२) आगे उसी पृष्ठपर उत्तरपक्षने जो "पर जीवोंकी दयाका विकल्प तो सम्यग्दृष्टियों यहाँ तक की मुनियोंको भी होता है"—इत्यादि कथन किया है, सो उसे समझना चाहिए था कि परजीवोंकी दयाका विकल्प सम्यग्दृष्टियों और मुनियोंका पहले किये गये विवेचनके अनुसार केवल पुण्यभावरूप जीवदयाके रूपमें न होकर व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके रूपमें ही होता है। केवल पुण्यभाव रूप जीवदयाका विकल्प पूर्वोक्त प्रकार संकल्पी पापभूत अदयामें प्रवृत्त मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है।

(३) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ११२ पर "अपरपक्षने अपने प्रतिशंका रूप दूसरे पत्रकमें विविध ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण दिये हैं"—इत्यादि कथन किया है वह भी उसने केवल पुण्यभावरूप जीवदयापर दृष्टि रखकर ही किया है। यदि वह पक्ष उस प्रकारका कथन करनेसे पूर्व व्यवहारधर्म रूप जीवदयापर दृष्टि डालनेका प्रयत्न करता तो उसे वह सब लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

(४) आगे वहींपर उत्तरपक्षने "अपरपक्ष यदि व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म दोनोंको मिलाकर निश्चयधर्म कहना चाहता है"—इत्यादि कथन किया है, सो यह भी उसकी दूषित दृष्टिका परिणाम है। वास्तवमें उत्तरपक्षको व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मके स्वरूपका निर्धारण करना ही आवश्यक है। इनके निर्धारणमें आगमका दृष्टिकोण यह है कि व्यवहारधर्म तो अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिके रूपमें जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणाम है और निश्चयधर्म मोहनीय कर्मके यथास्थान यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होनेवाला जीवकी भाववती शक्तिका परिणाम है। इस विषयको मैंने सामान्य समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट किया है।

(५) इसके आगे वहींपर उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें प्रवचनसारकी गाथा ९ और ११ को भी उपस्थित किया है, सो उनका भी यहाँ कोई उपयोग नहीं है। लगता है कि वह मात्र शुभ भाव और व्यवहार-धर्मके अंशरूप शुभभाव इन दोनोंके भेदको समझनेमें असमर्थ रहनेके कारण ही ऐसा कर रहा है। माना कि मात्र शुभ भाव पुण्यबन्धका कारण है, परन्तु अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाला शुभ भाव तो व्यवहारधर्मके रूपमें एक अपेक्षासे आस्रव और बन्धका भी कारण है और एक अपेक्षासे संवर और निर्जराका भी कारण है। उत्तरपक्षने त० च० पृ० ११३ पर जो "अपरपक्षने अपने दूसरे पत्रकमें जो आगम प्रमाण दिये हैं"—इत्यादि कथन किया है उसमें भी उसे मात्र पुण्यभाव और व्यवहारधर्मरूप पुण्यभाव इन दोनोंके भेदको समझनेको आवश्यकता है। इसी तरह त० च० पृ० ११३ पर ही उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "हमने अपने पिछले उत्तरमें जो यह लिखा है कि शुभ भाव चाहे दया हो, करुणा हो, जिनबिम्ब दर्शन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है" तथा आगे और भी जो कुछ लिखा है वह सब मात्र पुण्यभावकी अपेक्षा तो निर्विवाद है, परन्तु इससे पृथक् पापभावसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाला पुण्यभाव व्यवहारधर्मके रूपमें बन्धका कारण होकर भी संवर और निर्जरा पूर्वक मोक्षका भी कारण होता है। इस बातपर भी उत्तरपक्षको ध्यान रखना था। एक बात यह भी विचारणीय है कि यद्यपि पापभाव और पुण्यभाव बन्धके कारण होनेसे समान हैं, परन्तु दोनोंमें यह भेद भी है कि जहाँ पापभाव दुर्गतिका कारण है वहाँ पुण्यभाव सुगतिका कारण है। इतना ही नहीं, पुण्यभावमें पापभावसे यह भी विशेषता है कि वह संवर और निर्जरापूर्वक मोक्षके कारण-भूत व्यवहारधर्मकी उत्पत्तिमें भी कारण है जैसा कि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

(६) आगे उत्तरपक्षने त० च० पृ० ११३ पर ही जयधवलाके "सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खया-भावे तक्खयाणुववत्तदो" कथनकी भी चर्चा उठाई है तथा इसके अभिप्रायका निर्णय करनेके लिए प्रवचनसार गाथा ११ की आचार्य जयसेन कृत टीकाको भी प्रस्तुत किया है और लिखा हैं कि "यह आगम प्रमाण है। इस द्वारा शुभ और शुद्ध दोनों प्रकारके भावोंका क्या फल है यह स्पष्ट किया गया हैं। इस द्वारा हम यह अच्छी तरह जान लेते हैं कि शुभ भावोंको जो श्री जयधवलामें कर्मक्षयका हेतु कहा गया है वह किस रूपमें कहा गया है। वस्तुतः तो वह पुण्यबन्धका ही हेतु है। उसे जो कर्मक्षयका हेतु कहा गया है वह इस आशयसे कहा गया है कि उसके अनन्तर जो शुद्धोपयोग होता है वह वस्तुतः कर्मक्षयका हेतु है इसलिये उपचारसे उसे भी कर्मक्षयका हेतु कहा गया है।" इसकी समीक्षा निम्न प्रकार है—

जयधवलाके उक्त कथनका क्या अभिप्राय होना चाहिए, इसका विस्तारसे विवेचन मैंने सामान्य समीक्षामें किया है। उसमें मैंने स्पष्ट किया है कि शुभ-शुद्ध परिणामोंका अर्थ उस वचनमें जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध और शुभमें प्रवृत्तिरूप शुभके रूपमें ही ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप केवल शुभ परिणाम आस्रव और बन्धका ही कारण होता है और भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध परिणाम संवर और निर्जरा पूर्वक प्रगट होनेसे संवर और निर्जराका कारण नहीं हो सकता है। इस तरह उत्तरपक्षने "यह आगम प्रमाण"—इत्यादि जो उपर्युक्त अपना अभिप्राय प्रगट किया है वह असंगत सिद्ध हो जाता है। उस कथनमें उत्तरपक्षने जो यह बतलाया है कि शुभ भाव तो पुण्यबन्धका ही हेतु है, सो इसमें तो विरोध नहीं है परन्तु शुद्धोपयोग भी तो कर्मक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोगकी उत्पत्ति ही कर्मक्षय पूर्वक होती है। तथा शुद्धोपयोगको कर्मक्षयका हेतु मान्य करनेमें अन्य आपत्तियाँ भी उपस्थित होती हैं जिन्हें मैं सामान्य समीक्षामें प्रकट कर चुका हूँ। इस तरह जयधवलाका "सुह-सुद्धपरिणामेहिं"—इत्यादि वचन अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्मका ही ज्ञापन करता है यही मानना श्रेयस्कर है।

(७) त० च० पृ० ११४ पर "शुभभाव बन्धका कारण है" इसकी सिद्धिके लिए उत्तरपक्षने पंचास्तिकाय गाथा १४७ को उपस्थित किया है। परन्तु जब "शुभभाव बन्धका कारण है" इसे पूर्वपक्ष भी मानता हैं तो उत्तरपक्षको इस सम्बन्धमें इतना प्रयास करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी।

(८) आगे त० च० पृ० ११४ पर ही उत्तरपक्षने "हमने तो जीवदया किस अपेक्षासे पुण्यभाव है और किस अपेक्षासे वीतरागभाव है"—इत्यादि कथन किया है। इसके सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्षको इतना और ज्ञातव्य है कि वीतराग परिणाम दो प्रकारका होता है—एक तो जीवकी भाववती-शक्तिका मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाला शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणाम और दूसरा जीवकी क्रियावती शक्तिका मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारणभूत अशुद्धसे निवृत्ति-पूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप और अन्तमें शुभसे भी निवृत्तिरूप व्यवहारधर्मरूप परिणाम। इस बातको मैं द्वितीय दौरकी समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ।

(९) उत्तरपक्षने आगे त० च० पृ० ११४ पर ही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर यह कथन किया है कि "यदि जीवदयाको शुभ परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्ध तत्त्वमें होता है और उसे शुद्ध परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव संवर,

निर्जरा और मोक्ष तत्त्वमें होता है।" सो इसमें उत्तरपक्षको ही इतना ध्यान और देना है कि शुभ भाव और शुद्धभावके अतिरिक्त तीसरी जीवदया व्यवहारधर्मरूप भी होती है और उस व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका ही अन्तर्भाव पूर्वोक्त प्रकार आस्रव और बन्धके साथ संवर और निर्जरा तत्त्वमें होता है। शुद्धभावरूप जीवदया का नहीं। यदि उत्तरपक्ष जीवदयाके पुण्यभाव और शुद्धभाव रूप दोनों भेदोंके साथ तीसरा व्यवहारधर्म रूप भेद भी मान्य कर लेता और उन तीनोंके कार्यका विभाजन भी आगम और युक्तिके आधारपर सहीरूपमें में समझ लेता तो फिर अणुमात्र भी विवाद नहीं रह जाता। एवं उत्तरपक्ष द्वारा अपने पक्षके समर्थनमें उपस्थित प्रवचनसारगाथा १८१ और १५१ तथा तत्वार्थसार पद्य २५ और २६ का भी युक्तिसंगत समन्वय हो जाता, क्योंकि इनके सम्बन्धमें पूर्वपक्षको विवाद नहीं है। उत्तरपक्षको तो अपनी भ्रमबुद्धिसे विवाद समझ लेनेके कारण ही निरर्थक प्रयास करना पड़ा है। वोधप्राभृतमें उत्तरपक्ष दयाका जो वीतराग अर्थ ग्रहण करना चाहता है वह भो विवादग्रस्त नहीं है। परन्तु उसे यह ध्यान रखना चाहिए था कि वीतराग भाव जहाँ जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप होता है वहीं वह उस शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारणभूत जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्मरूप भी होता है। धवल पुस्तक १३ के "करुणाए जीवसहावस्स"—इत्यादि वचनका क्या आशय है, इसे मैं सामान्य समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ। इसलिए उत्तरपक्षने इसके सम्बन्धमें त० च० पृ० ११५ पर जो कुछ लिखा है वह विरोधकी वस्तु नहीं बनता है।

(१०) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ११५ पर "अपने अभिमतकी पुष्टिमें अपरपक्षने भावसंग्रहकी "सम्माइट्ठीपुण्णं" इत्यादि गाथा उपस्थित की है।" आदि कथन किया है। परन्तु उत्तरपक्षने उक्त कथनमें गाथाके सन्बन्धमें जो कुछ लिखा है उससे ज्ञात होता है कि वह गाथाके अभिप्रायको नहीं समझ सका है। गाथाका अभिप्राय इस रूपमें लेना चाहिए कि वास्तवमें तो सम्यग्दृष्टिका पुण्य मोक्षका ही कारण होता है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह निदान न करे। इसका तात्पर्य यह है कि औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव तो निदान करते ही नहीं हैं, केवल क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव ही ऐसा है जिसके मोहनीयकर्मकी सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय रहनेके कारण उसके प्रभावमें निदान सम्भव है। गाथामें जो "पुण्णं" पदका पाठ है उसका अर्थ व्यवहारधर्मरूप पुण्यभाव ही ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके व्यवहारधर्मरूप पुण्यभाव ही सम्भव है। केवल पुण्यभाव सम्भव नहीं है। इस बातको सामान्य समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है तथा व्यवहारधर्मरूप पुण्यभाव शुभ प्रवृत्तिके रूपमें आस्रव और बन्धका कारण होते हुए भी अशुभसे निवृत्तिके रूपमें संवर और निर्जराका भी कारण होता है, यह बात इसी प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें स्थान,स्थानपर स्पष्ट की जा चुकी है। फलतः उसकी मोक्षकारणता असंदिग्ध है।

(११) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ११६ पर अपने समग्र कथनका सार चार विकल्पोंमें निरूपित किया है। वे चारों विकल्प इस प्रकार हैं कि (१) दयापद आगममें दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है—पुण्यभावके अर्थमें भी और वीतराग भावके अर्थमें भी। (२) शुभभाव परभाव होनेके कारण उसका यथार्थमें आस्रव और बन्ध तत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है। जहाँ भी इसे निर्जराका हेतु कहा है वहाँ वैसा कथन व्यवहारनयसे ही किया गया है। (३) वीतरागभाव निजभाव होनेसे उसका अन्तर्भाव संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्वमें होता है। (४) वीतरागभाव व्यवहारसे आस्रव और बन्धका कारण है, यह व्यवहार वीतरागभावपर लागू नही होता, क्योंकि वह सब प्रकारके व्यवहारको दृष्टिमें गौणकर एकमात्र निश्चयस्वरूप ज्ञायक आत्माके आलम्बनसे तन्मयस्वरूप

उत्पन्न होता है। अतः वह स्वरूपसे ही सब प्रकारके व्यवहारसे अतीत है। उसपर किसी प्रकारका उपचार लागू नहीं होता। इनमेंसे प्रथम विकल्प विवादरहित है। केवल यह ज्ञातव्य है कि एक वीतरागभाव जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनरूप होता है और एक वीतरागभाव जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनरूप होता है। इस बातको पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरा विकल्प भी विवादरहित है। परन्तु वहाँ भी यह बात ज्ञातव्य है कि केवल परभावरूप जो शुभ भाव है वह तो आस्रव और बन्धका ही कारण होता है व उसका सद्भाव संकल्पी पापोंमें प्रवृत्त मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। परन्तु उसके आधारपर ही वह जीव संकल्पी-पापरूप अशुभसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्मको अंगीकार करता है जो व्यवहारधर्म आस्रव और बन्धके साथ संवर और निर्जराका भी कारण होता है। तीसरे विकल्पके विषयमें इतना स्पष्टी-करण आवश्यक है कि एक वीतरागभाव शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिके परि-णमनस्वरूप होता है जो न तो आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही संवर और निर्जराका कारण होता है तथा एक वीतरागभाव प्रवृत्तिसे निवृत्तिके रूपमें जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप भी होता है जो संवर और निर्जराका कारण होता है। चौथे विकल्पके विषयमें सामान्यरूपसे तो यही कहा जा सकता है कि वह अणुमात्र भी विवादकी वस्तु नहीं है। परन्तु विशेष रूपसे यह कहना चाहिए कि व्यवहारधर्मका अंश जो वीतरागभाव है वह तो वास्तविक रूपमें ही संवर और निर्जराका कारण होता है और उसके साथ उसका जो अंश पुण्यभाव है वह वास्तविक रूपमें ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। यहाँ किसी भी प्रकारके उपचारके लागू करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है और न पूर्वपक्षने किसी भी प्रकारका उपचार यहाँ माना ही है। उत्तरपक्षने चार विकल्पोंका कथन करनेके अनन्तर जो यह लिखा है कि "क्या ही अच्छा हो कि अपरपक्ष रागरूप पुण्यभाव और वीतरागभावमें वास्तविक अन्तरको समझकर 'दया' पदका जहाँ जो अर्थ इष्ट हो उसे उसी रूपमें स्वीकार कर ले और इस प्रकार शुभभाव और वीतरागभावमें एकत्व स्थापित करनेसे अपनेको जुदा रखे।" सो यह उसकी पूर्वोक्त प्रकारकी भ्रमबुद्धिका ही परिणाम है तथा अशुभसे निवृत्ति-रूप शुद्ध और शुभमें प्रवृत्तिरूप शुभके रूपमें शुभ-शुद्ध रूप व्यवहारधर्मभूत दयाको न माननेका परिणाम है अतः उसका यह कथन उसपर ही लागू होता है। पूर्वपक्ष शुभभाव और वीतरागभावमें न तो एकत्व मानता है और न कहीं पर उसने उन दोनोंमें एकत्व स्थापित करनेकी बात कही ही है।

(१२) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ११६ पर ही आगे "हमें शुभभावोंकी अवान्तर परिणतियोंका पूरा ज्ञान हो या न हो" इत्यादि जो कुछ भी कथन किया है वह भी शुभभावसे अतिरिक्त उक्त शुभ-शुद्ध भाव-रूप व्यवहारधर्मको न माननेका ही परिणाम है। यदि वह शुभभावसे अतिरिक्त शुभ-शुद्ध भावरूप व्यवहार-धर्मको भी मान्य कर ले तो उसके व्यर्थके सब विकल्प समाप्त हो जावेंगे। उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जो समयसारकी गाथा १५६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाको उपस्थित किया है उसका अभिप्राय यही है कि केवल शुभ प्रवृत्तिरूप व्रत, तप आदि अर्थात् संकल्पी पापमय प्रवृत्तियोंके साथ किये जानेवाले व्रत, तप आदि आस्रव और बन्धके ही कारण होते हैं। परन्तु यदि वे ही व्रत, तप आदि कम-से-कम संकल्पी पापोंसे निवृत्तिपूर्वक किये जावें तो अभव्य जीवमें उनके बलसे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास होता है और भव्य जीवमें उनके ही बलसे इन लब्धियोंके साथ करणलब्धिका भी विकास हो जानेपर मोहनीय कर्मका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म प्रकट होता है। उत्तरपक्षको वहींपर स्वयं उद्धृत समयसार कलश ११० के अभिप्रायको भी समझनेकी आव-

श्यकता थी। उसका आशय यह तो है ही कि पाप और पुण्यरूप कर्म द्रव्यान्तरस्वभाव होनेसे आस्रव और बन्धके ही कारण हैं परन्तु इससे अतिरिक्त उसका यह भी आशय है कि शुभ-शुद्ध रूपताको प्राप्त व्यवहार-धर्मकी शुभरूपता भी आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। यह बात समयसार कलश[1] १०९-११० और १११ के सम्मिलित अर्थपर ध्यान देनेसे समझमें आ सकती है।

(१३) उत्तरपक्षने त० च० पृ० ११६ पर आगे यह अनुच्छेद लिखा है—"हमें प्रसन्नता है कि अपर-पक्षने रागमात्रको बन्धका हेतु मान लिया है। किन्तु इतना स्वीकार करनेके बाद भी उसकी ओरसे जो रागांश और रत्नत्रयांशमें एकत्व स्थापित करनेके लिए युक्ति दी गई है वह सर्वथा अयुक्त है।" आगे इसकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने अपने इस अनुच्छेदमें जो यह कथन किया है कि "हमें प्रसन्नता है कि अपरपक्षने राग-मात्रको बन्धका हेतु मान लिया है" सो यह कथन करनेसे पहले ही उसे पूर्वपक्षके प्रकृत विषय सम्बन्धी कथनोंके आधारपर यह ज्ञात हो जाना चाहिए था कि पूर्वपक्षने रागभावको बन्धका ही कारण माना है। उसने कहींपर भी यह नहीं कहा है कि रागभाव बन्धका कारण नहीं है तथा यह भी नहीं कहा है कि रागभाव मोक्षका कारण है। पूर्वपक्षके कथनके विषयमें उत्तरपक्षको यह भी ध्यान देना चाहिये था कि उसने (पूर्वपक्षने) रागांश और रत्नत्रयांशमें मिश्रित अखण्डभाव तो स्वीकार किया है, परन्तु अखण्ड एकत्वको नहीं स्वीकार किया है।

यद्यपि पूर्वपक्षने त० च० पृ० १०१ पर यह अवश्य कहा है कि "जीवदया करना धर्म है। पुण्यभाव धर्मरूप है। पुण्यभाव या शुभभावोंसे संवर-निर्जरा तथा पुण्यकर्मबन्ध होता है।" परन्तु उसके इस कथनका सम्बन्ध प्रकृतमें पुण्यभावरूप जीवदयासे न होकर व्यवहारधर्मरूप जीवदयासे ही है। यह बात उसके त० च० पृ० १०३ पर निर्दिष्ट "आपने रागभावको केन्द्र बनाकर पुण्यभावों या शुभभावोंको केवल कर्मबन्धके साथ बाँधनेका प्रयत्न किया है। यह शुभभावोंकी अवान्तर परिणतियोंपर दृष्टि न जानेका फल जान पड़ता है।" इत्यादि कथनसे ज्ञात होती है। पूर्वपक्षके त० च० पृ० १०३ पर निर्दिष्ट कथनसे यह बात भी ज्ञात होती है कि वह पक्ष केवल पुण्यभावरूप जीवदयाको ही नहीं, अपितु उक्त व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके अंशभूत पुण्यभा

---

१. सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्–
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥
यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय त–
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥
मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमंदोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च॥१११॥

दयामें प्रवृत्तिको भी बन्धका ही कारण मानता है। वह उक्त व्यवहाररूपदयाके अंशभूत केवल पापमय अदया प्रवृत्तिसे निवृत्तिको ही संवर-निर्जरापूर्वक मोक्षका कारण मानता है।

इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि उत्तरपक्षने अपने उक्त अनुच्छेदमें जो यह कहा है कि "हमें प्रसन्नता है कि अपरपक्षने रागभावको बन्धका हेतु मान लिया है" वह निरर्थक ही है। इसके अतिरिक्त उसके इस कथनके आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि वह पक्ष पूर्वपक्षकी प्रकृत विषय सम्बन्धी मान्यतासे अनभिज्ञ हो रहा है। अन्यथा वह उपर्युक्त प्रकारके कथन करनेका निरर्थक प्रयास कदापि नहीं करता। मुझे तो यहाँ तक विश्वास होता है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके मन्तव्यकी आलोचनामें जो कुछ लिखा है उसको लिखनेके पूर्व उसने पूर्वपक्षके अनेक कथनोंपर तो दृष्टि डालना तक आवश्यक नहीं समझा है, केवल अपने संस्कारवश ही उसने सब कुछ लिख डाला है।

उत्तरपक्षने उक्त अनुच्छेदमें जो यह कथन किया है कि 'किन्तु इतना स्वीकार करनेके बाद भी उसकी ओरसे जो रागांश और रत्नत्रयांशमें एकत्व स्थापित करनेके लिए युक्ति दी गई है वह सर्वथा अयुक्त है' सो यह कथन करनेसे पूर्व उत्तरपक्षको पूर्वपक्षके त० च० पृ० १०३ पर निर्दिष्ट "तथा च अमृतचन्द्र सूरिनें जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयतके मिश्रितभावोंको अपनी प्रज्ञा छैनीसे भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्मके बन्धन और अबन्धनकी सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थके तीन श्लोकोंमें की है उनमें एक अखण्डित मिश्रितभावका विश्लेषण समझानेके लिये प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्डभाव ही शुभभाव है, अतः उससे आस्रव-बन्ध भी होता है तथा संवर-निर्जरा भी होती है।" इस कथनपर भी उसे ध्यान दे लेना चाहिए था। यदि उत्तरपक्ष उक्त कथन करनेसे पूर्व पूर्वपक्षके इस कथनपर ध्यान दे लेता तो उसे समझमें आ जाता कि पूर्वपक्ष रागांश और रत्नत्रयांशमें एकत्व न मानकर मिश्रणकी स्थितिको ही स्वीकार करता है। इस तरह उत्तरपक्ष उक्त कथनमें पूर्वपक्षपर रागांश और रत्नत्रयांशमें एकत्व स्थापित करनेका असत्य आरोप लगानेका कदापि साहस नहीं करता।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षकी मान्यताका विरोध करनेके लिए त० च० पृ० ११७ से १२० तक जितना कथन किया है वह सर्व कथन भी मेरे द्वारा किये गये उपर्युक्त विवेचनसे निरर्थक सिद्ध हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने उस कथनमें जो आगम प्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनसे पूर्वपक्षको मान्यताका विरोध न होकर समर्थन ही होता है, क्योंकि पूर्वपक्षको मान्य व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके अखण्डित मिश्रित भावमें जितना अंश पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका है वह बन्धका ही कारण होता है व इसके अतिरिक्त इसमें जितना अंश पापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे निवृत्तिका है वह संवर-निर्जरा पूर्वक मोक्षका ही कारण होता है।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके उस अखण्डित मिश्रितभावमें आस्रव और बन्धका कारणभूत जितना अंश रागांशके रूपमें पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका है वह प्रकृतमें जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनके रूपमें ही ग्राह्य है और उसमें संवर-निर्जराका कारणभूत जितना अंश रत्नत्रयांशके रूपमें पापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे निवृत्तिका है वह भी प्रकृतमें जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनके रूपमें ही ग्राह्य है। ये दोनों ही अंश प्रकृतमें जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनके रूपमें ग्राह्य नहीं हैं क्योंकि भाववती शक्तिके न तो रागांशके रूपमें शुभ-अशुभ दया-अदयारूप परिणमन आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और न ही उस भाववती शक्तिके शुभाशुभरूपतासे रहित शुद्धस्वभावभूत दयारूप परिणमन संवर और निर्जराके कारण होते हैं। इस विषयको सामान्य समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।

(१४) उत्तरपक्षने त० च० पृ० १२० पर आगे यह अनुच्छेद लिखा है—"अपरपक्षका कहना है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग होता है। अन्य कोई शुद्धोपयोग आदि उन गुणस्थानोंमें नहीं होता। किन्तु यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें आत्मानुभूति होती ही नहीं यह मानना आगम विरुद्ध है।" इसकी समीक्षा निम्न प्रकार है—

आगममें उपयोगके धर्म और अधर्म सापेक्ष तीन भेद बतलाये गये हैं—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इनमेंसे अशुभोपयोग अधर्म सापेक्ष है तथा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये दोनों धर्म सापेक्ष हैं। इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं:—

जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाले अतत्त्वश्रद्धान और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले अतत्त्वज्ञान पूर्वक दूषित विचार, दूषित भावनायें आदिके रूपमें जीवके जो विकल्प बनते हैं उन्हें अशुभोपयोग कहते हैं। तथा जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धान और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञान पूर्वक उत्तम विचार, उत्तम भावनायें आदिके रूपमें जीवके जो विकल्प बनते हैं उन्हें शुभोपयोग कहते हैं। इसी प्रकार अशुभोपयोगकी समाप्तिपूर्वक शुभोपयोगके समाप्त हो जानेपर जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उपयोगकी जो शुद्ध, स्वाश्रित, अखण्ड, निर्विकल्पक और निश्चल दशा हो जाती है उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। जीवमें इस शुद्धोपयोगके प्रगट होनेकी प्रक्रिया निम्न प्रकार है:—

अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्ति किया करते हैं वह प्रवृत्ति वे अशुभोपयोगके आधारपर ही करते हैं और वे जीव यदि कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उसे वे शुभोपयोगके आधारपर करते हैं। इसके अनन्तर यदि वे दोनों प्रकारके जीव शुभोपयोगके आधारपर उस संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिको सर्वथा त्यागकर क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप आरंभी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो इनकी वह प्रवृत्ति संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे व्यवहारधर्मका प्रारम्भिक रूप धारण कर लेती है। तथा इस प्रकारके व्यवहारधर्मके आधारपर अभव्य जीव अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोंका विकास करता है और भव्य जीव इसी व्यवहारधर्मके आधारपर अपनेमें उन चार लब्धियोंके साथ करणलब्धिका भी विकास कर लेता है व इस करणलब्धिके आधारपर वह भव्य जीव सर्वप्रथम दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासंभव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात प्रवृत्तियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम करके चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप निश्चय (भाव) सम्यग्दर्शन और निश्चय (भाव) सम्यक्ज्ञानके रूपमें आत्मविशुद्धिको प्राप्त करता है। ऐसा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव शुभोपयोगके आधारपर ही क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप आरम्भी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके एक देश त्यागपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप दूसरे प्रकारके व्यवहारधर्मको अपनाता है। तथा इस व्यवहारधर्मके अनुसार प्राप्त करलब्धिके आधारपर वह जीव चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम करके पंचमगुणस्थानके प्रथम समयमें भाववती शक्तिको परिणमनस्वरूप निश्चय (भाव) देशविरति सम्यक्चारित्ररूप आत्मविशुद्धिको प्रगट करता है। ऐसा पंचमगुणस्थानवर्ती जीव भी उसी शुभोपयोगके आधारपर

क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप आरंभी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके सर्वदेश त्यागपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्मको अपनाता है। तथा इस व्यवहारधर्मके अनुसार प्राप्त करणलब्धिके आधारपर वह जीव चारित्र-मोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम करके सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप निश्चय (भाव) सर्वविरति सम्यक्-चारित्ररूप आत्मविशुद्धिको प्रगट करता है। इस सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवको स्वस्थानाप्रमत्त कहते हैं और इसके जो शुभोपयोग होता है वह अबुद्धिपूर्वक होता है। वह सप्तम गुणस्थानवर्ती अबुद्धिपूर्वक शुभोपयोगका धारक स्वस्थानाप्रमत्त जीव अपना अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त करके नियमसे षष्ठ गुणस्थानमें पतित हो जाता है व उसके वहाँ जो शुभोपयोग होता है वह बुद्धिपूर्वक ही होता है। वह षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव भी अपना अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त करके पुनः सप्तम गुणस्थानमें पहुँचकर स्वस्थानाप्रमत्त हो जाता है और वह भी उसी प्रकार पुनः षष्ठ गुणस्थानमें पतित हो जाता है। इस प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम गुणस्थान प्राप्त करनेकी प्रक्रियामें प्रवर्तमान षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव सप्तम गुणस्थानमें पहुँचकर यदि पुनः षष्ठ गुणस्थानमें पतित न हो तो तब उस सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवको सातिशयाप्रमत्त कहा जाता है। जीवमें यहींसे शुद्धो-पयोगकी भूमिकाका प्रारम्भ होता है। शुद्धोपयोगकी यह भूमिका आगे अष्टम, नवम और दशम गुणस्थानोंमें उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती हुई दशम गुणस्थानके अन्त समयमें चरमोत्कर्षपर पहुँच जाती है। तथा दशम गुणस्थान-वर्ती जीव यदि उपशमक हो तो एकादश गुणस्थानमें और क्षपक हो तो द्वादश गुणस्थानमें शुद्ध, स्वाश्रित, अखण्ड, निर्विकल्प और निश्चल दशाको प्राप्त शुद्धोपयोगको प्राप्त कर स्वमें स्थिर हो जाता है।

सप्तम गुणस्थानकी सातिशयाप्रमत्त दशासे लेकर दशम गुणस्थानवर्ती जीवके उपयोगको शुद्धोपयोग न कहकर शुद्धोपयोगकी भूमिका कहनेमें हेतु यह है कि इन गुणस्थानोंमें भी जीव प्रतिसमय यथायोग्य कर्मोका आस्रव पूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप चारों प्रकारका बन्ध करता है जो बन्ध शुभोपयोगसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप मनोयोग, वचनयोग और काययोगके आधारपर ही संभव है। इस तरह दशम गुणस्थान तकके जीवोंमें शुभोपयोगकी सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य है। फलतः शुभोपयोगका सद्भाव रहते हुए वहाँ शुद्धोपयोगका सद्भाव होना असंभव ही जानना चाहिए, क्योंकि जीवमें दो उपयोग एक साथ कदापि नहीं होते हैं।

इस विवेचनसे स्पष्ट होता है कि शुभोपयोगका प्रारम्भ प्रथम गुणस्थानसे ही होता है। परन्तु चतुर्थ-गुणस्थानसे लेकर सप्तम गुणस्थानके स्वस्थानाप्रमत्त भाग तक ही नहीं, अपितु दशम गुणस्थान तक जीवके शुभोपयोग ही रहता है। इस तरह उनमें शुद्धोपयोगकी कल्पना करना अयुक्त है। साथ ही अशुभोपयोग भी इन गुणस्थानोंमें नहीं रहता है। प्रथम गुणस्थानमें अवश्य ही पहले तो अशुभोपयोग ही होता है, परन्तु बादमें उसके शुभोपयोगकी सम्भावनाको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शुभोपयोगके बिना उसका पूर्वोक्त प्रकार आत्मोत्कर्ष नहीं हो सकता है। इतना अवश्य है कि जीवके सातवें गुणस्थानके साति-शयाप्रमत्त भागमें विशेष प्रकारकी करणलब्धिके विकासके आधारपर शुद्धोपयोगकी भूमिकाका निर्माण होता है।

यद्यपि उत्तरपक्षकी इस बातको स्वीकार करनेमें पूर्वपक्षको कोई आपत्ति नहीं कि चतुर्थादि गुण-स्थानोंमें जीवको आत्मानुभूति होती है। परन्तु विचारणीय बात यह है कि वहाँ जीवको वह आत्मानुभूति होती किस प्रकारकी है। विचार करने पर निर्णीत होता है कि जीवको चतुर्थगुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान

तक आत्मानुभूति होते हुए भी पूर्वोक्त प्रकार शुभोपयोगका सद्भाव मान्य करना असंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि आत्मानुभूति शुद्धोपयोगी जीवके ही होती है। चतुर्थगुणस्थानमें आत्मानुभूतिको स्वीकार करनेका आधार यह है कि वहाँ जीवमें निश्चय (भाव) सम्यग्दर्शन और निश्चय (भाव) सम्यक्ज्ञान-के रूपमें आत्मविशुद्धि प्रगट होती है। पंचम गुणस्थानमें जीवको विशेषरूपसे आत्मानुभूति होती है, क्योंकि वहाँ उसमें निश्चय (भाव) देशविरति सम्यक्चारित्ररूप आत्मविशुद्धि प्रगट हो जाती है। षष्ठ गुणस्थानमें जीवको और भी विशेष रूप आत्मानुभूति होती है, क्योंकि वहाँ उसमें निश्चय (भाव) सर्वविरति सम्यक्-चारित्ररूप आत्मविशुद्धि प्रगट रहती है। इसी तरह आगे भी उत्तरोत्तर जैसी-जैसी आत्मविशुद्धिकी विशेषता आती जाती है वैसी वैसी आत्मानुभूतिमें भी विशेषता आती जाती है। परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक यदि आत्मानुभूति होती है तो उन गुणस्थानोंमें जीवोंके शुद्धोपयोगका सद्भाव मान्य करना आवश्यक है। वास्तविक बात यह है कि आत्मानुभूति तो अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि जीवको भी होती है। परन्तु उसकी आत्मानुभूतिको आत्मानुभूति इसलिये नहीं कहा जाता है कि वह आत्मानुभूति विकृत आत्मस्थितिके अनुसार विकृतरूपमें ही होती है। इससे निर्णीत होता है कि आत्मानुभूति जीवको प्रत्येक गुणस्थानमें होती है, परन्तु जहाँ जैसी आत्मस्थिति रहा करती है उसीके अनुरूप वहाँ वैसी ही आत्मानुभूति जीवको होती है। इसके अतिरिक्त यदि उत्तरपक्ष चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक वैसी आत्मानुभूतिकी कल्पना करता है जैसी एकादश और द्वादश गुणस्थानोंमें होती है तो यह उसका भ्रम है, क्योंकि एकादश और द्वादश गुणस्थानोंमें होनेवाली आत्मानुभूतिके सदृश आत्मानुभूति-का होना इन गुणस्थानोंके पूर्व सम्भव नहीं है। यदि उत्तरपक्ष आत्मानुभूतिमें होनेवाली मग्नताको आत्मानु-भूति कहना चाहे तो यह मग्नता तो प्रत्येक गुणस्थानमें भिन्न-भिन्न ढंगसे हुआ करती है, क्योंकि अशुभ ध्यानस्वरूप मग्नता प्रथमगुणस्थानमें भी सम्भव है। इसका यह आशय तो कदापि नहीं है कि जैसा शुद्धात्मानु-भवन सतत जीवको एकादश और द्वादश गुणस्थानोंमें होता है वैसा ही शुद्ध आत्मानुभवन चतुर्थादि गुणस्थानोंमें अल्पकालके लिए होता है। हाँ, यदि उत्तरपक्ष शुद्धात्मतत्त्वके श्रद्धान और ज्ञानके रूपमें आत्मानुभूतिकी स्वीकृति चतुर्थादि गुणस्थानोंमें मानता हो तो ऐसा श्रद्धान और ज्ञान हुए बिना मिथ्यादृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थानको प्राप्त नहीं कर सकता है। इतना ही नहीं, अभव्य जीव भी ऐसा श्रद्धान और ज्ञान हुए बिना क्षयोपशम आदि चार लब्धियोंका विकास नहीं कर सकता।

उत्तरपक्षका कहना है कि "चौथेसे सातवें गुणस्थान तक केवल शुद्धोपयोग ही होता है ऐसा जानना-समझना मिथ्या है। इतना अवश्य है कि इन गुणस्थानोंमें जो आत्मानुभूति होती है उसे धर्मध्यान ही कहते हैं, शुक्लध्यान नहीं। शुक्लध्यानमें एक मात्र शुद्धोपयोग ही होता है। परन्तु धर्मध्यानमें शुभोपयोग भी होता है और शुद्धोपयोग भी। यही इन दोनोंमें विशेषता है।" (त० च० पृ० १२१)। सो उत्तरपक्षका यह कथन अयुक्त है, क्योंकि धर्मध्यानमें तो शुभोपयोग ही होता है। साथ ही पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानमें शुभोपयोग ही होता है। उसमें भी शुद्धोपयोग नहीं होता। अन्यथा वहाँ अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्ति होना असम्भव होगा। पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानमें शुद्धोपयोग भी माना जाये और अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रांति भी मानी जाये ये दोनों बातें अखण्ड और निर्विकल्पक शुद्धोपयोग रहते हुए सम्भव नहीं है।

इसी प्रकरणमें त० च० पृ० १२१ पर ही आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "चतुर्थादि गुणस्थानोंमें शुभोपयोगके कालमें उससे आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा दोनों होते होंगे ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि

आत्मामें जो सम्यग्दर्शनादि रूप विशुद्धि होती है उसके कारण संवर-निर्जरा होती है और शुभोपयोगके कारण आस्रव-बन्ध होता है" इत्यादि। परन्तु उत्तरपक्षका यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि शुभोपयोग स्वयं साक्षात् आस्रव और उक्त प्रकारके बन्धका कारण नहीं होता। अपितु शुभोपयोगसे प्रभावित योग ही आस्रव और उक्त प्रकारके बन्धका साक्षात् कारण होता है तथा योगका निरोध संवरका कारण होता है और निर्जरा तो क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप तपश्चरणसे अविपाक रूपमें होती है व निषेकक्रमसे सविपाक रूपमें स्वतः हुआ करती है। सम्यग्दर्शनादिरूप विशुद्धि संवर-निर्जराका कारण नहीं होती है। आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जराके होनेकी प्रक्रियाका विस्तारसे युक्तिसंगत विवेचन सामान्य समीक्षामें किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने चतुर्थादि गुणस्थानोंमें आत्मानुभूति होनेके आधार पर शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिए जितने आगम प्रमाण यहाँ दिये हैं उन सब प्रमाणोंका समन्वय मेरे उपर्युक्त कथनके साथ होनेमें कोई बाधा नहीं आती। केवल उत्तरपक्षको अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करनेकी आवश्यकता है।

इसी प्रकरणमें त० च० पृ० १२१ पर ही आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "अपरपक्षका कहना है कि एक कारणसे अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं। समाधान यह है कि शुभोपयोग संवर-निर्जराका विरोधी है।"

इसकी समीक्षामें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्षके समाधानरूप कथनसे यह बात तो सिद्ध होती ही है कि एक कारणसे अनेक कार्योंका होना उत्तरपक्षको भी अमान्य नहीं है। केवल शुभोपयोगको वह संवर-निर्जराका कारण नहीं मानना चाहता है। परन्तु मैं सामान्य समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूं कि न तो कोई उपयोग साक्षात् आस्रव-बंधका कारण होता है और न ही कोई उपयोग साक्षात् संवर-निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि यथायोग्य उपयोगसे प्रभावित योग ही साक्षात् आस्रव पूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्धका कारण होता है तथा योगका निरोध ही संवर पूर्वक निर्जराका कारण होता है। उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जितने भी आगम प्रमाण उपस्थित किये हैं उनका आशय उसे आस्रव-बंध और संवर-निर्जरामें साक्षात् कारणभूत योग और योगनिरोधको लक्ष्यमें रखकर ही ग्रहण करना था। तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोगसे प्रभावित योग परिणाम और शुभोपयोगसे प्रभावित योग परिणाम केवल आस्रव पूर्वक उपर्युक्त बंधके ही कारण होते हैं। परन्तु शुभोपयोगके आधारपर ही योगमें अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप परिणमन होता है इस तरह शुभोपयोग अशुभसे निवृत्तिरूप योग निरोधका कारण होनेसे तो परम्परया संवरपूर्वक निर्जराका भी कारण सिद्ध होता है व शुभमें प्रवृत्तिरूप योगका कारण होनेसे परम्परया आस्रवपूर्वक उक्त प्रकारके बंधका कारण सिद्ध होता है। अशुभोपयोगका अभाव होनेपर योगकी अशुभरूपताका व शुभोपयोगका अभाव होनेपर योगकी शुभरूपताका तो अभाव होता है, परन्तु तब भी योग अपने शुद्धरूपमें अर्थात् शुभरूपता और अशुभरूपतासे रहित होकर विद्यमान रहता है। अतएव शुद्धोपयोगके सद्भावमें भी शुद्धयोगके आधारपर एकादश, द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोंमें यथायोग्य आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशके रूपमें बंध हुआ ही करता है। इसी तरह शुद्धोपयोग संवर और निर्जराका कारण नहीं होता है, क्योंकि शुद्धोपयोगका सद्भाव रहते हुए भी ज्ञानावरणादि तीनों घातिकर्म तथा चारों अघातिकर्म अपना-अपना कार्य यथास्थान निराबाध करते ही रहते हैं।

इसी प्रकरणमें उत्तरपक्षने त० च० पृ० १२२ पर प्रथम तो पूर्वपक्षका यह कथन उद्धृत किया है

कि "पहला गुणस्थानवर्ती जीव जब सम्यक्त्वके सन्मुख होता है तब शुद्ध परिणामोंके अभावमें भी असंख्यात गुणी निर्जरा, स्थितिकांण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता ही है।" इत्यादि। इसके समाधानमें आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "प्रथम गुणस्थानमें इस जीवके परद्रव्य भावोंसे भिन्न आत्मस्वभावके सन्मुख होने पर जो विशुद्धि होती है वह विशुद्धि ही असंख्यातगुणी निर्जरा आदिका कारण है।" इत्यादि।

इस सम्बन्धमें मेरा कहना यही है कि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवके जो असंख्यातगुणी निर्जरा आदि कार्य होते हैं वे सब कार्य करणलब्धिके प्रभावसे ही होते हैं। इतना अवश्य है कि उस करणलब्धिका विकास उस जीवमें शुभोपयोग पूर्वक ही होता है, इसलिये परम्परया शुभोपयोग भी उसमें कारण होता है। पूर्वपक्षके कथनका भी इतना ही आशय है।

(१५) आगे त० च० पृ० १२२ पर ही उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "अपरपक्षने दया धर्म है, इसकी पुष्टिमें स्वामी-कार्तिकेयानुप्रेक्षा, उसकी टीका, नियमसारगाथा ६ की टीका, आत्मानुशासन, यशस्तिलक, आचार्य कुन्दकुन्दकृत द्वादशानुप्रेक्षा, भावपाहुड, शीलपाहुड और मूलाराधनाके अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं। किन्तु उन सब प्रमाणोंसे यह प्रख्यापन होता है कि जो निश्चयदया अर्थात् वीतराग परिणाम है वही आत्माका यथार्थ धर्म है, सराग परिणाम आत्माका यथार्थ धर्म नहीं है"। इत्यादि।

इस सम्बन्धमें मैं सामान्य समीक्षामें ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि जीवकी भाववती शक्तिके शुद्ध परिणामस्वरूप जो दया धर्म है वह निश्चयधर्मके रूपमें यथार्थ है तथा जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी शुभ-शुद्ध रूप व्यवहारधर्मके रूपमें यथार्थ ही है कल्पनारोपित नहीं है। इतना ही नहीं, पुण्यमय प्रवृत्तिरूप दया भी है जो इन दोनोंसे पृथक् है। इनमेंसे किसका क्या कार्य है यह भी सामान्य समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है। उत्तरपक्षने प्रकृत विषयको लक्ष्यमें लेकर आगे भी जितना विवेचन पूर्वपक्षकी आलोचनाके रूपमें किया है उसका निराकरण भी मेरे उपर्युक्त कथनसे हो जाता है।

(१६) आगे त० च० पृ० १२४ पर उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "अपरपक्षने सम्यग्दृष्टिके शुभ भावोंको वीतरागता और मोक्ष प्राप्तिका हेतु कहा है और उसकी पुष्टिमें प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंका नामोलेख भी किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि सम्यग्दृष्टिका शुभभाव कर्मचेतना न होकर ज्ञानचेतना माना गया है। किन्तु यह सब कथनमात्र है क्योंकि आगममें न तो कहीं शुभभावोंको वीतराग और मोक्षप्राप्ति का निश्चय हेतु बतलाया है और न कर्मचेतनाका अन्तर्भाव ज्ञानचेतनामें ही किया है।" इत्यादि।

इस सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि पूर्वपक्षके त० च० पृ० १०६ पर किये गये प्रकृत विषय संबंधी कथनको न समझकर ही उत्तरपक्षने यह सब लिख डाला है। यदि उत्तरपक्ष प्रकृतमें पूर्वपक्षको स्वीकृत पुण्य, व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मके भेदको समझनेकी चेष्टा करता तो उसे समझमें आ जाता कि पूर्वपक्षका वह कथन व्यवहारधर्मसे ही सम्बन्ध रखता है मात्र पुण्यसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि आगममें मात्र शुभ भावोंको भी वीतरागता और मोक्षप्राप्तिका परम्परया हेतु बतलाया गया है तथा व्यवहारधर्मरूप शुभ भावोंको भी निश्चयधर्मरूप वीतरागताका और मोक्षप्राप्तिका हेतु बतलाया है। परन्तु यहाँ किसको किसरूपमें हेतु बतलाया है यह बात इसी प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें पहले बतलाई जा चुकी है और प्रश्नोत्तर ४ की समीक्षामें भी इस बातको बतलाया जावेगा। उत्तरपक्षने अपने कथनमें जो यह लिखा है कि "शुभभाव

वीतरागता और मोक्षप्राप्तिका निश्चय हेतु नहीं है सो पूर्वपक्षने भी उसे निश्चय हेतु न मानकर व्यवहार हेतु ही माना है। परन्तु उत्तरपक्ष यदि शुभ भावोंकी व्यवहारहेतुताको कथनमात्र कहता है तो उसका ऐसा कहना सत्य नहीं है, क्योंकि प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि व्यवहार हेतु भी कार्योत्पत्ति में अपने ढंगसे कार्यकारी ही होता है, अकिंचित्कर नहीं बना रहता। उत्तरपक्षने अपने कथनमें जो यह कहा है कि आगममें कर्मचेतनाका अन्तर्भाव ज्ञानचेतनामें नहीं बतलाया है। सो पूर्वपक्षने कर्मचेतनाका ज्ञानचेतनामें अन्तर्भाव कहाँ बतलाया है। पूर्वपक्षने त० च० पृ० १०६ पर तो यह कहा है कि सम्यग्दृष्टिका दया आदि शुभभाव कर्मचेतना न मानकर ज्ञानचेतना माना गया है।" जिसका अभिप्राय यही होता है कि आगममें चेतनाके जो तीन भेद बतलाये गये हैं उनमेंसे एकेन्द्रियसे असंज्ञीपंचेन्द्रिय तकके जीवोंके तो कर्मफलचेतना रहती है, संज्ञीपंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवोंके कर्मचेतना रहती है और सम्यग्दृष्टि जीवोंके ज्ञानचेतना रहती है। अतः उत्तरपक्षका उपर्युक्त कथन विवेकपूर्ण नहीं है। इस तरह चेतनाको लक्ष्यमें लेकर उत्तरपक्षने जितना विवेचन किया है वह अयुक्त एवं अनावश्यक है।

उत्तरपक्षने आगे त० च० पृ० १२५ से १२८ तक जितना विवेचन किया है वह सब विवेचन उसने जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म तथा भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप आत्माके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके स्वरूप भेदको नहीं समझकर ही किया है। फलतः उत्तरपक्षको वहाँपर उसके स्वयंके द्वारा उपस्थित और पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थित आगम प्रमाणोंका अर्थ करनेमें बहुत खींचातानी करनी पड़ी है। वास्तवमें प्रकृत प्रश्नके समाधानका आधार यही हो सकता है कि अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके रूपमें जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन ही पापभूत अदया है, दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमें जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन ही पुण्यभूत दया है तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभमें प्रवृत्तिके रूपमें जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन ही व्यवहारधर्मरूप दया है। इनके अतिरिक्त क्रोधकर्मोंके उदयमें जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो अदयारूप विभाव परिणमन होता है वह भावरूप अदया है और उन क्रोधकर्मोंके यथायोग्य उपशम क्षय या क्षयोपशमपूर्वक जीवकी भाववती शक्तिका जो दयारूप स्वभावपरिणाम होता है वह भावरूप दया है। ऐसा समझ लेनेपर ही तत्त्वका निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। तथा प्रकृत प्रश्नका समाधान भी इसी आधारपर हो सकता है।

प्रश्नोत्तर ४ की समीक्षा

१. प्रश्नोत्तर ४ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ? त० च० पृ० १२९।

उत्तरपक्षका उत्तर—निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। त० च० पृ० १२९।

धर्मका लक्षण

वस्तुविज्ञान (द्रव्यानुयोग) की दृष्टिसे "वत्थुसहाओ धम्मो" इस आगम वचनके अनुसार धर्म यद्यपि आत्माके स्वतःसिद्ध स्वभावका नाम है, परन्तु अध्यात्म विज्ञान (करणानुयोग और चरणानुयोग) की दृष्टिसे

धर्म उसे कहते हैं जो जीवको संसारदुःखसे छुड़ाकर उत्तम अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य रूप मोक्षसुखमें पहुँचा देता है।[1]

आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण

रत्नकरण्डश्रावकाचार[2] में आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें किया गया है जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारके कारण होते हैं।

आध्यात्मिक धर्मका निश्चय और व्यवहार दो रूपोंमें विभाजन और उनमें साध्य-साधक भाव

श्रद्धेय पं० दौलतरामजीने छहढाला[3] में कहा है कि आत्माका हित सुख है। वह सुख आकुलताके अभावमें प्रकट होता है। आकुलताका अभाव मोक्षमें है, अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। एवं वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सत्यार्थ अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वभावभूत हैं उन्हें निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं व जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयमोक्षमार्गके प्रगट होनेमें कारण हैं उन्हें व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

छहढालाके इस प्रतिपादनसे मोक्षमार्गका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें विश्ले-षण, उनकी निश्चय और व्यवहार दो भेदरूपता व निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गोंमें विद्यमान साध्य-साधकभाव इन सबका परिज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त पंचास्तिकायकी गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकामें[4] भी व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका कारण बतलाकर दोनों मोक्षमार्गोंमें साध्य-साधकभाव मान्य किया गया है। तथा गाथा १५९, १६० और १६१ की आचार्य अमृतचंद्र कृत टीका[5] में भी ऐसा ही बतलाया गया है।

---

१. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार

२. सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

३. आतम कौ हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातें शिवमग लाग्यों चहिये ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिव मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो ववहारो ॥३-१॥

४. निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतो व्यवहारमोक्षमार्गः।—गा० १०५, टीका।

५. (क) निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधकभावत्वात्। गा० १५९ की टीका
(ख) निश्चयमोक्षमार्गसाधकभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। गा० १६० की टीका।
(ग) व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्। गा० १६१ की टीका।

निश्चयधर्मकी व्याख्या

करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार जीव अनादिकालसे मोहनीयकर्मसे बद्ध है और उसके उदयमें उसकी स्वतःसिद्ध स्वभावभूत भाववती शक्तिका शुद्धस्वभावभूत परिणमनके विपरीत अशुद्ध विभावभूत परिणमन होता है। भाववती शक्तिके इस अशुद्ध विभावरूप परिणमनकी समाप्ति करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होती है। इस तरह जीवकी भाववती शक्तिके अशुद्ध विभावभूत परिणमनके समाप्त हो जानेपर उसका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है उसे ही निश्चयधर्म जानना चाहिए। इसके प्रकट होनेकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(क) सर्वप्रथम जीवमें दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चय-सम्यग्दर्शनके रूपमें व निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ख) इसके पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका पंचम-गुणस्थानके प्रथम समयमें देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है। ऐसा सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम इस तरह दोनों गुणस्थानोंमें यथायोग्य समय तक सतत झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) यदि वह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव पहलेसे ही उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शन-को प्राप्त हो अथवा सप्तम गुणस्थानके कालमें ही वह उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको को प्राप्त हो जावे तो वह तब करणलब्धिके आधारपर नव नोकषायोंके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण और तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण इन दोनों कषायोंकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका तथा उसके चतुर्थ भेद संज्वलनकषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका भी यथास्थान नियमसे उपशम या क्षय करता है और उपशम होनेपर उसकी भाववती शक्तिका एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा क्षय होनेपर उसकी भाववती शक्ति-का द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है।

व्यवहारधर्मकी व्याख्या

व्यवहारधर्मकी व्याख्या करनेसे पूर्व यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नारकी, देव और तिर्यंच इन तीनों प्रकारके जीवोंमें केवल अगृहीत मिथ्यात्व पाया जाता है। अतः इनमें व्यवहारधर्मका

व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव नहीं है। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसमें अगृहीत मिथ्यात्वके साथ गृहीत मिथ्यात्व भी पाया जाता है। फलतः मनुष्योंमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव हो जाता है। अतः यहाँ मनुष्योंकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका विवेचन किया जाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार पापभूत अघातिकर्मोंके उदयमें अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानके रूपमें मिथ्या परिणमन होते रहते हैं तथा जब उनमें पुण्यभूत अघातिकर्मोंका उदय होता है तब अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप उन परिणमनोंकी समाप्ति होनेपर उनकी उस भावती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानके रूपमें सम्यक्परिणमन होने लगते हैं। भाववती शक्तिके दोंनो प्रकारके सम्यक् परिणमनोंमेंसे तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन सम्यग्दर्शनके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है और तत्त्वज्ञानरूप परिणमन सम्यग्ज्ञानके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानसे प्रभावित अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियाँ किया करते हैं और कदाचित् साथमें लौकिक स्वार्थवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करते हैं। तथा जब वे भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होते हैं तब वे अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पी-पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्यागकर मानसिक वाचनिक और कायिक आरंभी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानके आधारपर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य कदाचित् क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरंभी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका भी एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए अनिवार्य आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृतियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं। इस प्रकार अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्यागकर जो अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन-स्वरूप आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं उन प्रवृत्तियोंको नैतिक आधारके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है। तथा वे ही मनुष्य जब संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियाँका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं तब उन्हें क्रमशः देशविरति अथवा सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है।

प्रसंगवश मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंको भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वश्रद्धान व्यवहारमिथ्यादर्शन कहलाता है। और उनकी उसी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वज्ञान व्यवहार-मिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान इन दोंनोंसे प्रभावित उन मनुष्योंकी क्रियावती शक्तिके परिणाम स्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है वह व्यवहारमिथ्याचारित्र कहलाता है। यहां यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रकारके व्यवहारमिथ्यादर्शन और

व्यवहारमिथ्याज्ञानके विपरीत व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानसे प्रभावित होकर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग करते हुए यदि अशक्तिवश आरम्भी पापका अणुमात्र भी त्याग नहीं कर पाते हैं तो उनकी वह आरम्भी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति व्यवहाररूप अविरति कहलाती है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पूर्वमें मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होनेवाले भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यक्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमें निश्चयधर्मका विवेचन किया गया है उसी प्रकार यहाँ प्रथम गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी दोनों प्रकृतियों-के उदयमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भाव-मिथ्याचारित्रके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी प्रकृतिके उदयमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप सासादनसम्यक्त्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमें एवं तृतीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें भाववती शक्तिके परिणामस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमें निश्चय (भाव) अधर्मका भी विवेचन कर लेना चाहिए। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि चतुर्थ गुणस्थानके जीवमें नव नोकषायोंके उदयके साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंके सामूहिक उदयमें जीवकी भाववती शक्तिका जो परिणमन होता है उसे भाव-अविरति जानना चाहिये। इसे न तो भावमिथ्याचारित्र कह सकते हैं और न विरतिके रूपमें भावसम्यक्चारित्र ही कह सकते हैं, क्योंकि भावमिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होता है और विरतिके लिये कम-से-कम अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके स्पष्टीकरणोंके साथ ही यहाँ निम्नलिखित विशेषतायें भी ज्ञातव्य हैं—

(१) अभव्य जीवोंके केवल प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है जबकि भव्य जीवोंके प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर चतुर्थदश अयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त सभी गुणस्थान सम्भव हैं।

(२) निश्चयधर्मका विकास भव्य जीवोंमें ही होता है, अभव्य जीवोंमें नहीं होता। तथा भव्य जीवोंमें भी उस निश्चयधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसके पूर्वके गुणस्थानोंसे नहीं होता।

(३) जीवके चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें जो निश्चयधर्मका विकास होता है वह उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें होता है। इसके पश्चात् जीवके पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा इसके भी पश्चात् जीवके निश्चयधर्मका विकास सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप सर्वविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है और जीवमें उसका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उत्तरोत्तर उत्कर्षके रूपमें विद्यमान रहता है। दशम गुणस्थानके आगे जीवके एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप औप-शमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है अथवा दशम गुणस्थानसे ही आगे जीवके द्वादश

गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा यह जीवके आगेके सभी गुणस्थानोंमें विद्यमान रहता है।

(४) पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि एक व्यवहाधर्म सम्यग्दर्शनके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला परिणमन है और दूसरा व्यवहारधर्म सम्यग्ज्ञानके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला परिणमन है। एवं तीसरा व्यवहारधर्म नैतिक आचार तथा देशविरति व सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें मन, वचन और कायके सहारेपर होनेवाला जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन है। इस सभी प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें सभव है और अभव्य व भव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें हो सकता है। इतना अवश्य है कि उक्त सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप तथा नैतिक आचाररूप व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें नियमसे होता है क्योंकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास किये बिना अभव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोंका व भव्य जीवमें इन चारों लब्धियोंके साथ करणलब्धिका विकास नहीं हो सकता है।

प्रथम गुणस्थानमें देशविरति और सर्वविरति सम्यक्चारित्र रूप व्यवहारधर्मके विकसित होनेका कोई नियम नहीं है परन्तु देशविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानमें होकर पंचम गुणस्थानमें भी रहता है। एवं सर्वविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका पंचम गुणस्थानमें विकास होकर आगे षष्ठसे दशम गुणस्थान तक उसका सद्भाव नियमसे रहता है।

यहाँ इतना अवश्य ध्यातव्य है कि सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उस व्यवहारधर्मका सद्भाव अन्तरंगरूपमें ही रहता है। तथा द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमें यथासम्भव रूपमें रहनेवाला व्यवहारधर्म भी अबुद्धिपूर्वक ही रहता है। एकादश गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थानोंमें व्यवहाधर्मका सर्वथा अभाव रहता है। वहाँ केवल निश्चयधर्मका ही सद्भाव रहता है। क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहार अविरतिका सद्भाव प्रथम गुणस्थानसे चतुर्थ गुणस्थान तक ही सम्भव है।

जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्म पूर्वक होती है

प्रकृतमें मोक्ष शब्दका अर्थ जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद हो जाना है। जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद चतुर्थदश गुणस्थानमें तब होता है जब उस जीवके साथ बद्ध चार अघाती कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको चतुर्थदश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब त्रयोदश गुणस्थानमें कर्मास्रवमें कारणभूत जीवके योगका सर्वथा निरोध हो जाता है। जीवको त्रयोदश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मोंका द्वादश गुणस्थानमें सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको द्वादश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध मोहनीयकर्मप्रकृतियोंका पूर्वमें यथासमय क्षय होते हुए दशम गुणस्थानके अन्त समयमें शेष सूक्ष्म लोभ प्रकृतिका भी क्षय हो जाता है। द्वादश गुणस्थानका अर्थ ही दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्णतः हो जाना है। इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्म पूर्वक होती है।

जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है

जीवकी भाववती शक्तिका निश्चयधर्मके रूपमें प्रारम्भिक विकास चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमें होता है और उसका वह विकास पंचमादि गुणस्थानोंमें उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमें पूर्णताको प्राप्त होता है। निश्चयधर्मका यह विकास मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथास्थान यथासंभव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होता है। तथा मोह-नीयकर्मकी प्रकृतियोंका यथायोग्य वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम भव्य जीवमें आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर होता है व उसमें उस करणलब्धिका विकास क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक होता है। एवं जीवमें इन लब्धियोंका विकास व्यवहारधर्म पूर्वक होता है। यह व्यव-हारधर्म अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप होता है। जीवको इसकी प्राप्ति तब होती है जब उस जीवमें भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्दर्शनकी और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। इसके विकासकी प्रक्रियाको पूर्वमें व्यवहारधर्मकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारण होता है। यह विषय प्रश्नोत्तर २ और ३ की समीक्षासे भी जाना जा सकता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवको अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारणभूत मोहनीयकर्मका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम करनेके लिए इस व्यवहारधर्मके अन्तर्गत एकान्तमिथ्यात्वके विरुद्ध प्रशमभाव, विपरीतमिथ्यात्वके विरुद्ध संवेगभाव, विनयमिथ्यात्वके विरुद्ध अनु-कम्पाभाव, संशयमिथ्यात्वके विरुद्ध आस्तिक्यभाव और अविवेकरूप अज्ञानमिथ्यात्वके विरुद्ध विवेकरूप सम्यग्ज्ञानभावको भी अपनेमें जागृत करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवको समस्त जीवोंके प्रति मित्रता (समानता) का भाव, गुणीजनोंके प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंके प्रति सेवाभाव और विपरीत दृष्टि, वृत्ति और प्रवृत्ति वाले जीवोंके प्रति मध्यस्थता (तटस्थ) का भाव भी अपनानेकी आवश्यकता है। इस तरह सर्वांगीणताको प्राप्त व्यवहारधर्म उपर्युक्त प्रकार निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक सिद्ध हो जाता है।

२. प्रश्नोत्तर ४ के प्रथम दौरकी समीक्षा

प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षकी दृष्टि

पूर्वपक्षने आगम प्रमाणोंके आधारपर व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक स्वीकार किया है। यह बात उसके द्वितीय और तृतीय दौरोंके प्रतिपादनोंसे ज्ञात होती है। यतः उत्तरपक्ष व्यवहारधर्मको निश्चय-धर्मकी उत्तपत्तिमें साधक नहीं मानता है। अतएव पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चाके अवसरपर यह प्रश्न प्रस्तुत किया था कि "व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं" ?

उत्तरपक्षके उत्तरकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने प्रथम दौरमें इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि व्यवहारधर्म निश्चय-धर्ममें साधक नहीं है। इसके समर्थनमें उसका कहना है कि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। व इसकी पुष्टिके लिए वहींपर उसने नियमसारकी गाथा १३ और १४ को उपस्थित किया है और उनके आधार

पर यह निष्कर्ष निकाला है कि सर्वत्र निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। परन्तु नियमसारकी गाथा १३ और १४ से यह बात सिद्ध नहीं होती है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है।

उत्तरपक्षने निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है इस मान्यताकी पुष्टिके लिए नियमसारकी जिन दो गाथोंको प्रस्तुत किया है वे गाथायें नियमसारके उपयोगप्रकरणकी हैं। उस प्रकरणकी अन्य गाथाओंके साथ इन गाथाओंपर दृष्टि डालनेसे स्पष्ट होता है कि उनके आधारपर निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष सिद्ध नहीं होती है। इस बातका स्पष्टीकरण करनेके लिए उपयोगप्रकरणकी सभी गाथाओंको यहाँ उद्धृत किया जाता है।

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥१०॥
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेदं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाईभेददो चेव ॥१२॥
तह दंसण उवओगो ससहावेदर-वियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥
चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छित्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥
णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१५॥

प्रकरणको देखते हुए इन गाथाओंमेंसे गाथा १४ के पूर्वार्द्धका सम्बन्ध गाथा १३ के साथ है और उसके उत्तरार्द्धका सम्बन्ध गाथा १५ के साथ है। इस बातकी पुष्टि गाथा १४ के पूर्वार्द्धकी आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेवकृत टीकाके आगे और उत्तरार्द्धकी टीकाके पूर्वमें निर्दिष्ट "अत्रोपयोगव्याख्यानन्तरं पर्यायस्वरूपमुच्यते" वचनके आधारपर होती है। इस वचनका अर्थ है कि यहाँपर उपयोगके व्याख्यानके अनन्तर पर्यायके स्वरूपका कथन किया जाता है।

इस तरह गाथा १०, ११, १२, १३ का और १४ के पूर्वार्द्धका सम्मिलित अर्थ इस प्रकार है कि जीव उपयोगात्मक है। उपयोग ज्ञान और दर्शन दो भेदरूप हैं। इनमेंसे ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। इन्द्रियरहित और असहाय केवल ज्ञानोपयोग तो स्वभावज्ञानोपयोग है तथा प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे विभाव ज्ञानोपयोग दो प्रकार है। प्रशस्त ज्ञानोपयोग मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययके भेदसे चार प्रकारका है व अप्रशक्त विभावज्ञानोपयोग मति, श्रुत और अवधिके भेदसे तीन प्रकारका है। उसी प्रकार दर्शनोपयोग भी स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। इन्द्रियरहित और असहाय केवलदर्शनोपयोग तो स्वभावदर्शनोपयोग है तथा विभावदर्शनोपयोग चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शनके भेदसे तीन प्रकारका है"।

इसी प्रकार गाथा १४ के उत्तरार्द्धका और गाथा १५ का सम्मिलित अर्थ इस प्रकार है कि पर्याय

स्वपर सापेक्ष और निरपेक्ष अर्थात् परनिरपेक्षके भेदसे दो प्रकारकी है। इनमेंसे नर, नारक, तिर्यग् और सुर पर्यायें विभाव पर्यायें हैं व कर्मोपाधिसे विरहित पर्यायें स्वभाव पर्यायें हैं।

उत्तरपक्षने गाथा १३ और १४ का सम्मिलित अर्थ इस प्रकार किया है कि "इसी प्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। जो केवल इन्द्रियरहित और असहाय हैं वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा गया है। तथा चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीनों विभावदर्शन कहे गये हैं, क्योंकि पर्यायें दो प्रकारकी हैं—स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष"।

इसके आगे तात्पर्यके रूपमें उसने लिखा है कि "सर्वत्र विभावपर्याय स्वपरसापेक्ष होती है और स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष होती है"।

उत्तरपक्ष द्वारा कृत उक्त अर्थपर विचार

(१) उत्तरपक्ष द्वारा कृत उक्त अर्थके सम्बन्धमें सर्वप्रथम मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि इसमें उत्तरपक्षने "केवल" शब्दका भ्रमवश "मात्र" अर्थ किया है जबकि प्रकरणके अनुसार "केवल" शब्दका "केवलोपयोग" अर्थ ही संगत है।

(२) इसके पश्चात् मैं यह भी स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जब गाथा १४ के उत्तरार्द्धका सम्बन्ध गाथा १३ के साथ नहीं है तो उसके आधारपर उत्तरपक्षने केवलदर्शनोपयोगको जो परनिरपेक्ष सिद्ध किया है वह असंगत है। माना, कि गाथा १३ के उत्तरार्द्धमें केवलदर्शनोपयोगको इन्द्रियरहित और असहाय बतलाकर स्वभावपर्याय मान्य किया है, परन्तु विचारणीय बात यह है कि इतने मात्रसे उसे क्या परनिरपेक्ष पर्याय मानना उचित है? क्योंकि केवललब्धिका उपयोगाकार परिणमन पदार्थसापेक्ष होता है।

तात्पर्य यह है कि "चेतनालक्षणो जीवः" (पंचाध्यायी २-३) के अनुसार जीवका लक्षण चेतना है। वह चेतना ज्ञान और दर्शन दो भागोंमें विभक्त है। दोनों ही चेतनाओंके लब्धि और उपयोगके रूपमें दो-दो भेद हैं। ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम या क्षयसे चेतनाका जो विकास होता है उसे लब्धिरूप ज्ञानचेतना कहते हैं और दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशम या क्षयसे चेतनाका जो विकास होता है उसे लब्धिरूप दर्शनचेतना कहते हैं।

समस्त ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे ज्ञानचेतनाका जो विकास होता है उसे केवलज्ञान-लब्धि कहते हैं। तथा मतिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले ज्ञानचेतनाके विकासको मतिज्ञानलब्धि, श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले ज्ञानचेतनाके विकासको श्रुतज्ञानलब्धि, अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले ज्ञानचेतनाके विकासको अवधिज्ञानलब्धि और मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले दर्शनचेतनाके विकासको मनःपर्ययज्ञानलब्धि कहा जाता है। इसी तरह समस्त दर्शनावरणकर्मके क्षयसे जो दर्शनचेतनाका विकास होता है उसे केवलदर्शनलब्धि कहते हैं। तथा चक्षुदर्शनदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले दर्शनचेतनाके विकासको चक्षुर्दर्शनलब्धि, अचक्षुर्दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले दर्शनचेतनाके विकासको अचक्षुर्दर्शनलब्धि और अवधिदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले दर्शनचेतनाके विकासको अवधिदर्शनलब्धि कहा जाता है।

केवलज्ञानलब्धिका पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाला परिणमन केवलज्ञानोपयोग कहलाता है। तथा मतिज्ञानलब्धिके पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाले परिणमनको मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानलब्धिके पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाले परिणमनको श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानलब्धिके पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाले परिणमनको अवधिज्ञानोपयोग और मनःपर्ययज्ञानलब्धिके पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाले परिणमनको मनःपर्ययज्ञानोपयोग

कहते हैं। इसी तरह केवलदर्शनलब्धिका पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाला परिणमन केवलदर्शनोपयोग कहलाता है। तथा चक्षुर्दर्शनलब्धिके पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाले परिणमनको चक्षुर्दर्शनोपयोग, अचक्षुर्दर्शनलब्धिके पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाले परिणमनको अचक्षुर्दर्शनोपयोग और अवधिदर्शनलब्धिके पदार्थावलम्बनपूर्वक होनेवाले परिणमनको अवधिदर्शनोपयोग कहते हैं।

केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग दोनों पदार्थावलम्बनपूर्वक होकर भी यतः इन्द्रियरहित और असहाय होते हैं अतः इन्हें क्रमशः स्वभावभूत ज्ञानोपयोग और स्वभावभूत दर्शनोपयोग कहते हैं व मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग और मनःपर्ययज्ञानोपयोग इन्द्रियसहित और ससहाय होनेके कारण विभावभूत ज्ञानोपयोग कहलाते हैं। तथा चक्षुर्दर्शनोपयोग, अचक्षुर्दर्शनोपयोग और अवजिदर्शनोपयोग भी इन्द्रिय सहित और ससहाय होनेके कारण विभावभूत दर्शनोपयोग कहलाते है।

मतिज्ञानोपयोग और श्रुतज्ञानोपयोग ये दोनों ज्ञानोपयोग तथा चक्षुर्दर्शनोपयोग और अचक्षुर्दर्शनोपयोग ये दोनों दर्शनोपयोग इन्द्रियसहित और ससहाय होते हैं यह बात तो स्पष्ट है, परन्तु अवधिज्ञानोपयोग और मनःपर्ययज्ञानोपयोग ये दोनों ज्ञानोपयोग तथा अवधिदर्शनोपयोग भी इन्द्रियसहित और ससहाय होते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो इनके विषय इन्द्रिय और मनके विषयभूत रूपी पदार्थ होते हैं। दूसरे, वे पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादापूर्वक इनके विषय होते हैं।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग और अवधिज्ञानोपयोग मिथ्यादृष्टि जीवमें मोहनीयकर्मके भेद मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनों प्रकृतियोंके उदयसे प्रभावित रहते हैं, सासादनसम्यकदृष्टि जीवमें अनन्तानुबंधी कषायके उदयसे प्रभावित रहते हैं और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवमें सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके उदयसे प्रभावित रहते हैं, अतः इन्हें अप्रशस्त ज्ञानोपयोग कहते हैं। तथा चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर द्वादश गुणस्थान पर्यन्त ये तीनों ज्ञानोपयोग मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे प्रभावित रहते हैं, अतः उन्हें प्रशस्त ज्ञानोपयोग कहा जाता है। मनःपर्ययज्ञानोपयोग षष्ठ गुणस्थानसे लेकर द्वादश गुणस्थानपर्यन्त ही जीवमें विद्यमान रहता है, अतः वह सतत मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे प्रभावित रहनेके कारण प्रशस्त होता है व केवलज्ञानोपयोग समस्त ज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेपर त्रयोदश गुणस्थानके प्रथम समयमें प्रगट होता है, अतः वह प्रशस्त ही होता है। यतः सभी दर्शनोपयोग निर्विकल्पक होते हैं, इसलिये वे मोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे कदापि प्रभावित नहीं होते। फलतः सभी दर्शनोपयोगोंमें प्रशस्तपने और अप्रशस्तपनेका भेद नहीं है।

इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारकी उक्त गाथाओंमें जो केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोगको इन्द्रियरहित और असहाय होनेके कारण स्वभावभूत व शेष सभी ज्ञानोपयोगों और सभी दर्शनोपयोगोंको इन्द्रियसहित और ससहाय होनेके कारण विभावरूप बतलाया है उसमें उनकी दृष्टि केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोगको स्वभावरूपताके आधारपर परनिरपेक्ष व शेष सभी ज्ञानोपयोगों और सभी दर्शनोपयोगोंको विभावरूपताके आधारपर स्वपरसापेक्ष बतलानेकी नहीं है, क्योंकि स्वभावरूप और विभावरूप सभी ज्ञानोपयोग और सभी दर्शनोपयोग पदार्थावलम्बनताके आधारपर परसापेक्ष ही सिद्ध होते हैं। इस तरह उत्तरपक्षका नियमसार गाथा १३ और १४ के आधारपर केवलदर्शनोपयोगको इन्द्रियरहित और असहाय होनेसे स्वभावरूप और शेष सभी दर्शनोपयोगोंको इन्द्रियसहित और ससहाय होनेसे

विभावरूप बतलाना तो ठीक है, परन्तु दर्शनोपयोगको स्वभावरूपताके आधारपर परनिरपेक्ष बतलाना ठीक नहीं है और इस तरह निश्चयधर्मकी उत्पत्तिको उसकी स्वभावरूपताके आधारपर परनिरपेक्ष स्वीकार कर उसमें व्यवहारधर्मके साथ साध्य-साधकभावका निषेध करना ठीक नहीं है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी समानता ज्ञानोपयोगों और दर्शनोपयोगोंके साथ न होकर ज्ञानलब्धियों और दर्शनलब्धियोंके साथ है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिका मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधारपर निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमें विकास होता है व जीवकी भाववती शक्तिका ही ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम या क्षयके आधारपर ज्ञानलब्धिके रूपमें तथा दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशम या क्षयके आधारपर दर्शनलब्धिके रूपमें विकास होता है।

इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि निश्चयधर्म मोहनीकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक उत्पन्न होता है तथा ज्ञानलब्धि ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम या क्षयपूर्वक व दर्शनलब्धि दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशम या क्षयपूर्वक उत्पन्न होती हैं, अतः निश्चयधर्म औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकरूपमें स्वभावभूत भी हैं और परसापेक्ष भी हैं। तथा सभी ज्ञानलब्धियों और सभी दर्शनलब्धियाँ भी क्षायोपशमिक और क्षायिकरूपमें स्वभावभूत भी हैं और परसापेक्ष भी हैं।

उत्तरपक्षने स्वभावभूत पर्यायकी उत्पत्तिको परनिरपेक्ष सिद्ध करनेके लिए नियमसार गाथा २८ को भी उपस्थित किया है। परन्तु उस गाथासे भी उसके अभीष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि उस गाथामें यही बतलाया गया है कि पुद्गलकी अन्यनिरपेक्ष अखण्ड अणुरूप पर्याय तो स्वभावपर्याय है और स्कंधरूप पर्याय दो आदि अणुओंके संयोगके रूपमें है, इसीलिये विभावपर्याय है। उसमें यह नहीं बतलाया है कि अणुकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रके "भेदादणु" (५-२७) सूत्रके अनुसार अणु भी जब स्कंधकी भेदनक्रियाके आधारपर निष्पन्न होता है तो इस स्थितिमें उसकी उत्पत्तिको परनिरपेक्ष कैसे कहा जा सकता है? अतः इस गाथाके आधारपर भी स्वभावभूत निश्चधर्मकी उत्पत्तिको व्यवहारधर्मनिरपेक्ष नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

उत्तरपक्षने अपने इस दौरके अन्तमें जो यह लिखा है कि "तथापि चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सविकल्पक दशामें व्यवहारधर्म निश्चयधर्मके साथ रहता है, इसलिये व्यवहारधर्म निश्चधर्मका सहचर होनेके कारण साधक (निमित्त) कहा जाता है।" सो व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक कहा जाता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि एक तो ज़ब दोनों सहचर हैं तो दोनोंमेंसे किसको साध्य और किसको साधक कहा जाये यह निर्णीत करना असंभव है। दूसरे, आगममें निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें सहायक होनेके कारण ही व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक कहा गया है। इस विषयको प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें स्थान-स्थानपर स्पष्ट किया जा चुका है। एक बात और है कि यद्यपि व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका सहचर कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु उसका इन दोनों धर्मोंमें साध्य-साधकभावका प्रतिपादन करनेवाले आगमवचनोंके आधारपर यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि व्यवहारधर्मके सद्भावमें ही निश्चयधर्मकी उत्पत्ति होती है उसके अभावमें नहीं। इस प्रकार सहचर होकर भी दोनोंमें विद्यमान अविनाभावके आधारपर व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक ही सिद्ध होता है। इस तरह इन दोनों धर्मोंमें स्वीकृत साध्य-साधकभावको कल्पित मानना अयुक्त है।

३. प्रश्नोत्तर ४ के द्वितीय दौरकी समीक्षा

द्वितीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षके प्रथम दौरकी आलोचना करते हुए आगम प्रमाणोंके आधार-पर अपनी इस मान्यताको पुष्ट किया है कि "व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक है।"

द्वितीय दौरमें उत्तरपक्षकी स्थिति और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें उत्तरका समर्थन करनेके लिए सर्वप्रथम त० च० पृ० १३२ पर नयचक्रकी निम्न गाथाको उपस्थित किया है—

ववहारादो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले ॥७७॥

इस गाथाकी भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित नयचक्रमें ३४२ संख्या अंकित की गई है। इसका अर्थ उत्तरपक्षने इस प्रकार किया है—

"यतः व्यवहारसे बन्ध होता है और स्वभावका आश्रय लेनेसे मोक्ष होता है इसलिये स्वभावकी आराधनाके कालमें अर्थात् मोक्षमार्गमें व्यवहारको गौण करो ॥७७॥

इस अर्थमें उत्तरपक्षने "स्वभावकी आराधनाके कालमें" इस अंशका जो "मोक्षमार्गमें" यह अभिप्राय ग्रहण किया है उसका गाथासे मेल बैठता है या नहीं, इस बातपर उसे ध्यान देना चाहिए था और यदि मेल बैठता है तो उसका स्पष्टीकरण करना चाहिए था। मेरा कहना है कि उसका गाथाके साथ मेल नहीं बैठता है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

सम्पूर्ण गाथाका क्या अभिप्राय होना चाहिए, इस विषयमें मेरा यह कहना है कि आगममें अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें होनेवाली जीवकी प्रवृत्तिको व्यवहारधर्म कहा है। तथा पूर्वोक्त प्रकार आगममें यह भी कहा है कि इस व्यवहारधर्मके "अशुभसे निवृत्ति" रूप अंशसे कर्मोंके संवर और निर्जरण होते हुए भी शुभमें होनेवाली प्रवृत्तिरूप अंशसे कर्मोंके आस्रव और बन्ध ही हुआ करते हैं। इस तरह इस बातको ध्यानमें रखकर ही नयचक्रके कर्ताने गाथामें "ववहारादो बंधो" यह पाठ किया है और यतः स्वभावका आश्रय लेनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति सम्भव है, इसके बिना नहीं, अतः उन्होंने गाथामें "मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो" यह पाठ किया है। इस प्रकार व्यवहारसे बन्ध और स्वभावके आश्रयसे मोक्ष बतलाकर ग्रन्थकारने गाथाके उत्त-रार्द्धमें जीवोंको यह उपदेश दिया है कि स्वभावकी आराधनाके कालमें व्यवहारको गौण करो।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि आगमप्रमाणोंके आधारपर व्यवहार और निश्चय दोनों मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं, परन्तु आगमप्रमाणोंके आधारपर यह भी निर्णीत होता है कि कर्मोंका सर्वथा संवर और निर्जरण होनेपर ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति सम्भव है। यतः ऊपर कहे अनुसार जीव जबतक व्यवहारधर्ममें प्रवृत्त रहता है तबतक एक अपेक्षासे कर्मोंका संवर और निर्जरण होते हुए भी एक अपेक्षासे कर्मोंका आस्रव और बन्ध भी होता है, अतः नयचक्रके कर्त्ताको गाथामें यह लिखना पड़ा कि स्वभावकी आराधनाके कालमें व्यवहारको गौण करो। दूसरी बात यह है कि गाथामें पठित "गौण" पदको व्यवहारधर्मकी मोक्षकारणताका निषेधक नहीं माना जा सकता है। उससे तो मोक्षप्राप्तिके लिए व्यवहार-

धर्मकी सापेक्ष स्वीकृति ही सिद्ध होती है जिसका आशय यह है कि मोक्षमार्गमें प्रवृत्त जीवको व्यवहारधर्म उपयोगी तो है परन्तु तभी तक उपयोगी है जबतक वह जीव स्वभावमें स्थिर नहीं होता। जीव स्वभावमें स्थिर तभी होता है जब वह स्वभावमें स्थिर होनेके अनुकूल पुरुषार्थ करता है और जीवकी दृष्टि जबतक व्यवहारधर्मकी ओर है तबतक वह स्वभावकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता है। इस तरह स्वभावकी आराधनाके कालमें अर्थात् स्वभावमें स्थिरता प्राप्त करनेके लिए पुरुषार्थ करते समय जीवको व्यवहारधर्मकी ओरसे दृष्टि हटानेकी आवश्यकता है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि व्यवहारधर्म मोक्ष प्राप्तिके लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि जबतक जीव स्वभावकी ओर अग्रसर नहीं होता तबतक उसे व्यवहारधर्मके पालनमें भी सजग रहना आवश्यक है। इसमें हेतु यह है कि वह जीव स्वभावकी ओर अग्रसर न होनेके कालमें भी यदि व्यवहारधर्मकी उपेक्षा करता है तो वह स्वभावमें तो स्थिर होगा नहीं, साथ ही व्यवहारधर्मसे च्युत होकर अपने अनन्त संसारकी ही वृद्धि करेगा।

वास्तवमें आगमके अनुसार मोक्षप्राप्तिकी पूर्वोक्त प्रकार यह प्रक्रिया है कि जीव प्रारम्भमें तो विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानके आधारपर आसक्तिवश संकल्पी पापमय प्रवृत्ति ही किया करता है और कदाचित् साथमें संसारिक स्वार्थवश पुण्यमय प्रवृत्ति भी करता है। परन्तु वह जीव उस पुण्यमय प्रवृतिको यदि सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञान पूर्वक कर्त्तव्यवश करने लग जाता है तो इस आधारपर उसे उस संकल्पी पापमय प्रवृत्तिसे घृणा हो जाती है। फलतः वह जीव तब उस संकल्पी पापमय प्रवृत्तिका सर्वथा त्यागकर अशक्तिवश आरम्भी पापमय प्रवृत्ति करते हुए नियमसे कर्त्तव्यवश पुण्यमय प्रवृत्ति किया करता है। व्यवहारधर्मका प्रारम्भिक रूप यही है और इस व्यवहारधर्मके बलपर ही वह जीव अपने अन्दर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास कर लेता है। इतना ही नहीं, यदि वह भव्य हुआ तो वह इन चारों लब्धियोंके विकासके पश्चात् आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास भी अपने अन्दर कर लेता है। इस तरह करणलब्धिको प्राप्त वह भव्य जीव प्रथमतः मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति रूप तीन व मोहनीयकर्मके ही प्रथम भेद चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार इस तरह सात प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके रूपमें निश्चयधर्मको प्राप्त करता है। इसके पश्चात् वह जीव यथाशक्ति आरम्भी पापमय प्रवृत्तिके एकदेश त्यागके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्मके बलपर उपर्युक्त क्रमसे चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमें देशविरतिरूप निश्चयसम्यक्चारित्रको प्राप्त करता है। इसके भी पश्चात् वह जीव शक्तिके अनुसार उस आरम्भी पापमय प्रवृत्तिके सर्वदेश त्यागके साथ पुण्यमय प्रवृत्ति रूप व्यवहारधर्मके बलपर ही उपर्युक्त क्रमसे चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वविरति रूप निश्चयसम्यक्चारित्रको प्राप्त करता है। यह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त काल तक ही सप्तम गुणस्थानमें रह सकता है, क्योंकि उसमें वहाँ स्थिर रहनेकी दृढ़ताका अभाव रहता है, इसलिये उसका पतन होना अवश्यंभावी है। इस तरह गिरकर वह षष्ठ गुणस्थानमें आ जाता है। इस षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवको व्यवहारधर्ममें सजग रहनेका उपदेश आगममें है क्योंकि षष्ठ-

गुणस्थान बाह्य प्रवृत्तिरूप होता है। परन्तु उस गुणस्थानका काल भी अन्तर्मुहूर्त है, अतः यदि वह अपने पदके अनुकूल व्यवहारधर्मके पालनमें प्रमादी हो गया तो अपना काल समाप्त करके वह नीचेके गुणस्थानोंमें भी गिर सकता है। फलतः उसे आगममें यह उपदेश दिया गया है कि वह सप्तम गुणस्थानमें पहुँचनेका ही पुरुषार्थ करे, क्योंकि वह सप्तम गुणस्थानमें पहुँचनेका पुरुषार्थ करनेपर ही आत्मोन्मुख होकर सप्तम गुणस्थानमें पहुँच सकता है। इसलिये उसे एक ओर तो व्यवहारधर्ममें सजग रहना है और दूसरी ओर उसे इस तरहका पुरुषार्थ भी करना है कि वह आत्मोन्मुख होकर सप्तम गुणस्थानमें पहुँच सके। इससे यह निर्णीत होता है कि षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव जब स्वभावकी ओर झुक जायेगा तब तो उसे सप्तम गुणस्थान प्राप्त होगा और जबतक उसकी स्थिति स्वभावकी ओर झुकनेकी नहीं होगी तबतक वह षष्ठ गुणस्थानमें बना रहेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधुका कर्त्तव्य यह है कि वह अपने व्यवहारधर्मको कर्त्तव्यनिष्ठाके साथ पालन करते हुए सतत पुरुषार्थ आत्मस्वभावकी ओर झुकनेका ही करता रहे। जैसे चीटीं किसी ऊपरी स्थानपर पहुंचनेके लिए पुरुषार्थ तो चढ़नेका ही करती हैं, परन्तु यदि वह न सम्हल सकनेके कारण गिरती भी है तो भी उसका पुरुषार्थ चढ़नेका ही होता है। ठीक यही दशा षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवकी होती है। और यह तबतक होती रहती है जबतक वह सप्तम गुणस्थानमें पूर्णरूपसे स्थिर नहीं होता है, क्योंकि सप्तम गुणस्थानमें स्थिर हो जानेपर ही वह जीव अपना समय समाप्त करके अष्टम गुणस्थानमें पहुँच सकता है।

इस तरह षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव आत्मोन्मुख होनेके लिए जो पुरुषार्थ करता है वह पुरुषार्थ तभी हो सकता है जब वह जीव व्यवहारधर्मको गौण कर देता है अन्यथा नहीं। यहाँ गौणशब्दसे यही अभिप्राय ग्रहण करना उचित है कि वह जीव व्यवहारधर्मका पालन तो करे, परन्तु उसे पुरुषार्थ प्रधानतया आत्मोन्मुख होनेका ही करना चाहिए। यही कारण है कि नयचक्रकी उक्त गाथामें स्वभावकी आराधनाके कालमें अर्थात् स्वभावोन्मुख होनेके लिए पुरुषार्थ करते समय षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवको व्यवहारधर्मको गौण करनेकी बात कही गई है।

आगे त० च० पृ० १३२ पर ही उत्तरपक्षने यह कथन किया है कि "इस सम्बन्धी प्रतिशंकामें प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रहके विविध प्रमाण उपस्थित कर जो यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक है सो वह कथन असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षासे ही किया गया है।" इसकी समीक्षामें मेरा यह कहना है कि उत्तरपक्ष व्यवहारधर्मको जो असद्भूतव्यवहारनयका विषय मानता है इसमें हेतु यह है कि वह व्यवहारधर्मको जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी अशुभ क्रियासे निवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिरूप शरीरकी क्रिया ही मानता है। यतः पूर्वपक्ष व्यवहारधर्मको मन, वचन और कायके सहयोगसे होनेवाली जीवकी अशुभ क्रियासे निवृत्तिके साथ होनेवाली जीवकी शुभ क्रिया मानता है, अतः वह (पूर्वपक्ष) उस निवृत्तिके साथ प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्मको सद्भूतव्यवहारनयका विषय मानता है। इनमें पूर्वपक्षकी मान्यता सम्यक् है, उत्तरपक्षकी मान्यता सम्यक् नहीं है। इस बातको द्वितीय प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त मेरा यह भी कहना है कि व्यवहारधर्म चाहे असद्भूत व्यवहारनयका विषय हो अथवा सद्भूत व्यवहारनयका विषय हो परन्तु वह निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक होता ही है। इसलिये उसे मोक्षकी प्राप्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर कदापि नहीं कहा जा सकता है, अर्थात् मोक्षका साक्षात् कारण न होनेसे भले ही व्यवहारधर्मको अकिंचित्कर कहा जाये, परन्तु

मोक्षके साक्षात्कारणभूत निश्चयमोक्षमार्गकी उत्पत्तिमें साक्षात् कारण होनेसे उसे परम्परया मोक्षका कारण कहना अयुक्त नहीं है। इस विषयको प्रश्नोत्तर एककी समीक्षासे भी समझा जा सकता है।

उत्तरपक्षने पंचास्तिकाय गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकाके आधारपर और बृहद्द्रव्य-संग्रहकी टीका पृष्ठ २०४ के कथनके आधारपर व्यवहारधर्मको परम्परया मोक्षका साधन मानकर भी उसके अभिप्रायको उलट-पुलट करनेकी चेष्टा की है और अपनी इस बातको उचित सिद्ध करनेके लिए उसने पण्डितप्रवर टोडरमलजीके मोक्षमार्गप्रकाशकका निम्न कथन उपस्थित किया है—

"सम्यग्दृष्टिकै शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोगकौं शुद्धोपयोगका कारण भी कहिये है।" पृ० ३७७ दिल्ली संस्करण।

इसके विषयमें मेरा यह कहना है कि इस कथनका भी यही अभिप्राय ग्रहण करना उचित है कि शुभोपयोगके अनन्तर ही शुद्धोपयोग प्राप्त होता है, अशुभोपयोगके अनन्तर शुद्धोपयोगकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। इस तरह इस कथनसे शुभोपयोग और शुद्धोपयोगमें साध्य-साधकभावकी ही सिद्धि होती है। मोक्षमार्गप्रकाशकके उक्त कथनमें जो 'कहीं' पदका पाठ है उसका आशय यह है कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग-का कारण सर्वत्र नहीं होता है। व्यवहारमोक्षमार्ग मोक्षका परम्परया कारण क्यों है, इसका स्पष्टीकरण भी सामान्य समीक्षामें किया गया है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० १३२ पर ही आगे लिखा है कि "वस्तुतः मोक्षमार्ग एक ही है। उसका निरूपण दो प्रकारका है। इसलिये जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहारधर्म-रूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है और यतः वह सहचर होनेसे निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल है, इसलिये उपचारसे निश्चय मोक्षमार्गका साधक भी कहा है।" अपने इस कथनके समर्थनमें भी उत्तरपक्षने श्री पं० टोडरमलजीके निम्न कथनको उपस्थित किया है—

"जहाँ सांचा मोक्षमार्गकौ मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नाहीं परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है व सहचारी है ताकौ उपचार करि मोक्षमार्ग कहिये सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दोय प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानें हैं सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोध लिए है। मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ३६५-३६६ देहली संस्करण"।

इस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि उत्तरपक्षका मोक्षमार्गको एक कहना और दो मोक्षमार्गोंका निषेध करना इस रूपमें विवादकी वस्तु नहीं है। यदि कोई ऐसा माने कि एक व्यक्ति तो व्यवहारमोक्ष-मार्गनिरपेक्ष निश्चयमोक्षमार्गसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है और दूसरा व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गनिरपेक्ष व्यवहारमोक्षमार्गसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है, तो उसका ऐसा मानना मिथ्या है। परन्तु पूर्वपक्षका तो आगमके आधारपर यही कहना है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति होनेपर ही होती है। किन्तु निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति जीवको तभी संभव है जब वह व्यवहारमोक्षमार्गपर आरूढ़ हो जावे। इससे ही यह निर्णीत होता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका साक्षात् साधक है और मोक्षका

परम्परया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका साधक होकर साधक है। इस तरह साक्षात् होनेसे निश्चयमोक्षमार्ग ही मोक्षका वास्तविक कारण सिद्ध होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग मोक्षका साक्षात् कारण तो है नहीं, अपितु निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर ही मोक्षका कारण है, अतः परम्परया कारण होनेसे मोक्षका उपचरित कारण है। इस तरह व्यवहारमोक्षमार्गकी निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिमें कारणता स्पष्ट हो जाती है। आगममें निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गोंके मध्य निश्चय मोक्षमार्गकी साध्यता और व्यवहार मोक्षमार्गकी साधकताको मान्य करनेका यही अभिप्राय है। मोक्षमार्गप्रकाशकके उपर्युक्त वचनमें भी इसी अभिप्रायसे व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका निमित्त व सहचारी कहा है और उससे यदि केवल सहचारी पद भी होता तो उसका भी यही अभिप्राय ग्रहण करना आगम सम्मत होता। इस तरह उसमें पठित सहचारीपद निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गोंमें साध्य-साधकभावकी ही स्थापना करता है, क्योंकि यदि दोनों मोक्षमार्गोंमें उपर्युक्त प्रकार साध्य-साधकभाव न हो तो यहाँपर व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका सहचर बतलानेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

त० च० पृ० १३३ पर ही उत्तरपक्षने जो प्रवचनसारका कथन उपस्थित किया है सो विचार कर देखा जाये तो उसके साथ पूर्वपक्षकी मान्यताका अणुमात्र भी विरोध नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्ष व्यवहारमोक्षमार्गको मोक्षका साक्षात् व वास्तविक कारण नहीं मानता है अपितु परम्परया व उपचरित कारण ही मानता है और ऐसा इस आधारपर मानता है कि वह मोक्षके साक्षात् कारणभूत निश्चयमोक्षमार्गका ही साक्षात् कारण होता है। इस तरह भूल उत्तरपक्षकी है कि वह आगमके अभिप्रायको नहीं समझ पा रहा है और इसी लिये वह आगमके अभिप्रायको विपरीत ग्रहण कर मोक्षकी प्राप्तिमें व्यवहारमोक्षमार्गको सर्वथा अकिंचित्कर मान लेता है। यद्यपि प्रवचनसारके उक्त कथनमें मोक्षकी प्राप्तिमें वीतरागचारित्रको उपादेय और सरागचारित्रको हेय प्रतिपादित किया गया है। परन्तु कोई व्यक्ति इस कथनके आधारपर यदि सरागचारित्रको प्राप्त किये बिना ही वीतरागचारित्रको प्राप्त करना चाहे तो यह सम्भव नहीं है। इसलिये प्रवचनसारके कथनका यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि सरागचारित्रमें रहते हुए भी जब तक सरागचारित्रका अभाव करके वीतरागचारित्रको नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसे मोक्षकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि जीवको वीतरागचारित्रकी प्राप्ति एकादश गुणस्थानसे पूर्व सम्भव नहीं है। दशम गुणस्थान तक तो जीवके सरागचारित्र ही रहता है, क्योंकि दशम गुणस्थान तक संज्वलन सूक्ष्मलोभके रूपमें कषायका उदय विद्यमान रहता है।

४. प्रश्नोत्तर ४ के तृतीय दौरकी समीक्षा

तृतीय दौरमें पूर्वपक्षकी स्थिति

पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें उत्तरपक्षके प्रथम और द्वितीय दौरोंकी आलोचना करते हुए अन्य आगम प्रमाणोंके आधारपर भी अपनी इसी मान्यताको पुष्ट किया है कि—"व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है"।

तृतीय दौरमें उत्तरपक्षकी स्थिति और उसकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरमें पूर्वपक्षके द्वितीय और तृतीय दौरोंकी आलोचना करते हुए अपनी "व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नहीं है" इस मान्यताकी पुष्टिमें उसी ढंगको अपनाया है जिस ढंगको

उसने अपने प्रथम और द्वितीय दौरोंमें अपनाया था। अतः प्रथम और द्वितीय दौरोंकी समीक्षासे ही प्रायः उसके तृतीय दौरकी समीक्षा हो जाती है। फलतः यहाँ उसकी समीक्षा यथावश्यक रूपमें ही की जाती है।

उत्तरपक्षके "उपसंहार" शीर्षकसे किये गये विवेचनकी समीक्षा

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके आरम्भमें त० च० पृ० १४४ पर "उपसंहार" शीर्षकसे जो विवेचन किया है उसकी समीक्षाके प्रसंगमें यहाँ इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि जहाँ उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक असद्भूत-व्यवहारनयसे बतलाया है वहाँ पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक सद्भूतव्यवहारनयसे बतलाया है। उत्तरपक्ष व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक असद्भूतव्यवहारनयसे क्यों मानता है और पूर्वपक्ष व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक सद्भूतव्यवहारनयसे क्यों मानता है इन दोनों बातोंको द्वितीय दौरकी समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है अर्थात् उत्तरपक्ष जीवके सहायोगसे होनेवाली शरीरकी यथायोग्य क्रियाको व्यवहारधर्म मानता है, अतः उसकी दृष्टिमें व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक असद्भूतव्यवहारनयसे सिद्ध होता है। तथा पूर्वपक्ष शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी यथायोग्य क्रियाको व्यवहारधर्म मानता है, अतः उनकी दृष्टिमें व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक सद्भूतव्यवहारनयसे सिद्ध होता है। दोनों पक्षोंकी इन मान्यताओंमेंसे पूर्वपक्षकी मान्यता ही सम्यक् है, इस बातको प्रश्नोत्तर २ की समीक्षासे समझा जा सकता है।

अब यहाँ बतलाया जा रहा है कि पूर्वपक्ष व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक सद्भूतव्यवहारनयसे इसलिये मानता है कि मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर जीवकी भाववती शक्तिका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है उसे आगममें यथायोग्य निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्ररूप निश्चयधर्म कहा है व आगममें यह भी कहा है कि हृदयके सहारेपर जीवकी भाववती शक्तिका अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमनकी समाप्तिपूर्वक जो तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ परिणमन होता है वह व्यवहारसम्यक्दर्शन है। तथा मस्तिष्कके सहारेपर जीवकी भाववती शक्तिका अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमनकी समाप्तिपूर्वक जो तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमन होता है वह व्यवहारसम्यक्ज्ञान है। एवं जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप उक्त शुभ परिणमनोंसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिरूप निवृत्तिपूर्वक जो शुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होता है वह व्यवहारसम्यक्चारित्र है। इस तरह व्यवहारधर्म निश्चयधर्मसे भिन्नताको प्राप्त होकर भी निश्चयधर्मके समान जीवका परिणाम सिद्ध होनेसे उसे पूर्वपक्ष द्वारा निश्चयधर्मका साधक सद्भूतव्यवहारनयसे बतलाना युक्त है।

उत्तरपक्षने अपने उक्त विवेचनमें जो यह कहा है कि "व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका सहचर होनेसे अनुकूल है, इसलिये इसमें मोक्षमार्गके साधकपनेका व्यवहार किया जाता है।" इसके संबंधमें मैं द्वितीय दौरकी समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका साधक सहचरताके आधारपर मान्य न होकर निश्चयमोक्षमार्गकी उत्पत्तिमें सहायक होनेके आधारपर ही मान्य है। इसी तरह उत्तरपक्षने अपने उक्त कथनमें व्यवहारमोक्षमार्गमें निश्चयमोक्षमार्गके साधकपनेका व्यवहार अनुकूलताके आधारपर करनेकी जो बात कही है इससे तो व्यवहारमोक्षमार्गका निश्चयमोक्षमार्गके प्रति साधकपना उत्तरपक्षको मान्य कल्पित अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह सर्वथा असद्रूप सिद्ध न होकर पूर्वपक्षको मान्य सद्रूप ही सिद्ध होता है, क्योंकि अनुकूलशब्दके प्रचलित अर्थके अनुसार व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमार्गकी उत्पत्तिमें सहायक होने

रूपसे कार्यकारी ही सिद्ध होता है । अतः इस आधारपर व्यवहारमोक्षमार्गमें निश्चयमोक्षमार्गके प्रति साधकपनेका व्यवहार कल्पित अर्थात् कथनमात्र सिद्ध न होकर वास्तविक ही सिद्ध होता है ।

उत्तरपक्षके "प्रतिशंका ३ के आधारसे विवेचन" शीर्षकसे किये गये कथनोंकी समीक्षा

(१) उत्तरपक्षने त० च० पृ० १४४ पर ही "तत्काल प्रतिशंका ३ के आधारसे तृतीय पत्रकपर विचार करना है" इत्यादि जो अनुच्छेद लिखा है उसमें उसने अपने प्रथम दौरमें प्रस्तुत नियमसारकी गाथाओंका प्रकृत विषयके साथ संबंध स्थापित करनेका इसलिये प्रयत्न किया है कि पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमें इस संबंधका निषेध किया है । परन्तु उत्तरपक्षका यह प्रयत्न निरर्थक ही है, क्योंकि मैंने प्रथम दौरकी समीक्षामें नियमसारकी गाथाओंका प्रकृत विषयके साथ सम्बन्ध न होनेकी बातको विस्तारसे स्पष्ट किया है ।

उत्तरपक्षने उक्त अनुच्छेदके अन्तमें जो व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक व्यवहारनयसे बतलाया है वह तो ठीक है परन्तु वह पक्ष व्यवहारनयके विषयको कल्पित अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह सर्वथा असत् मानकर व्यवहारनयको जो कथनमात्र कहता है वह मिथ्या है, क्योंकि जब व्यवहारनय भी निश्चयनयके समान शब्दरूप और ज्ञानरूप श्रुतप्रमाणका अंश है तो उसका विषय भी निश्चयनयके समान सद्‌रूप ही सिद्ध होता है । कल्पित अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह सर्वथा असत् सिद्ध नहीं होता । इतना अवश्य है कि जहाँ निश्चयनयका विषय अभेदरूप सत् पदार्थ होता है वहाँ व्यवहारनयका विषय भेदरूप सत् पदार्थ होता है । जहाँ निश्चयनयका विषय स्वाश्रित सत् पदार्थ होता है वहाँ व्यवहारनयका विषय पराश्रित सत् पदार्थ होता है । और जहाँ निश्चयनयका विषय भूतार्थ अर्थात् मुख्यरूप सत् पदार्थ होता है वहाँ व्यवहारनयका विषय अभूतार्थ अर्थात् उपचरितरूप सत् पदार्थ होता है ।

इस विषयको उदाहरणोंके द्वारा इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि यदि निश्चयनयका विषय जीवका अभेदात्मक सद्‌रूप चैतन्य धर्म है तो व्यवहारनयका विषय जीवके भेदात्मक सद्‌रूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों धर्म हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र सद्‌रूप इसलिये हैं कि ये सद्‌रूप चैतन्यके अंश हैं व ये व्यवहारनयके विषय इसलिये हैं कि जो दर्शन है वह ज्ञान और चारित्र नहीं है, जो ज्ञान है वह दर्शन और चारित्र नहीं है और जो चारित्र है वह दर्शन और ज्ञान नहीं है । इसी तरह यदि निश्चयनयका विषय कर्मोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधारपर निष्पन्न जीवके स्वाश्रित औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकरूपमें शुद्ध स्वभावभूत सद्‌रूप धर्म हैं तो व्यवहारनयका विषय जीवके कर्मोदयजन्य पराश्रित औदयिकरूपमें अशुद्ध विभावभूत सद्‌रूप धर्म हैं । और इसी तरह यदि निश्चयनयका विषय जीवका ज्ञानादि गुणोंके साथ यथार्थ सद्‌रूप तादात्म्य सम्बन्ध है तो व्यवहारनयका विषय जीवका अन्य पदार्थोंके साथ अयथार्थ अर्थात् उपचरित सद्‌रूप संयोग सम्बन्ध है । तात्पर्य यह है कि निश्चयनयके समान व्यवहारनयका विषय भी सद्‌रूप होता है । वह कल्पित अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह सर्वथा असद्‌रूप नहीं होता । परन्तु निश्चयनयके विषयको जैसी सद्‌रूपता है, उससे भिन्नरूप व्यवहारनयके विषयकी सद्‌रूपता है। इससे निर्णीत होता है कि निश्चय और व्यवहार दोनों नय सत् पदार्थको ही ग्रहण करते हैं । फलतः उत्तरपक्षका व्यवहारनयको कथनमात्र मानना मिथ्या है ।

प्रकृतमें निश्चय और व्यवहारनयोंका समन्वय इस प्रकार होता है कि निश्चयधर्म और मोक्षमें विद्यमान साध्य-साधकभाव यथार्थ सत् है, क्योंकि निश्चयधर्म मोक्षका स्वाश्रित और साक्षात् कारण है, अतएव

यह साध्य-साधकभाव निश्चयनयका विषय है। इसके अतिरिक्त व्यवहारधर्मका मोक्षके साथ जो साध्य-साधकभाव है वह अयथार्थ अर्थात् उपचरित सत् है, क्योंकि व्यवहारधर्म मोक्षका स्वाश्रित और साक्षात् कारण न होकर पराश्रित और परम्परया कारण होता है अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग मोक्षके स्वाश्रित और साक्षात् कारणभूत निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर ही मोक्षका कारण है। अतएव व्यवहारधर्म और मोक्षमें विद्यमान साध्य-साधकभाव उपचरित सत् होनेसे व्यवहारनयका विषय है। यद्यपि व्यवहारधर्मका निश्चय-धर्मके साथ साक्षात् साध्य-साधकभाव है, परन्तु निश्चयधर्म पूर्वोक्त प्रकार स्वाश्रितधर्म है और व्यवहारधर्म पूर्वोक्त प्रकार पराश्रितधर्म है इसलिये निश्चयधर्म और व्यवहारधर्ममें विद्यमान साध्य-साधकभाव साक्षात् होनेपर भी व्यवहारनयका ही विषय है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि मोक्ष और निश्चयधर्ममें विद्यमान साध्य-साधकभाव इस प्रकारका है कि भव्य जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक ही होती है। तथा निश्चयधर्मकी प्राप्ति होनेपर उसे मोक्षकी प्राप्ति नियमसे होती है। निश्चयधर्म और व्यवहारधर्ममें विद्यमान साध्य-साधकभाव इस प्रकारका है कि भव्य जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति तो व्यवहारधर्मपूर्वक ही होती है, परन्तु व्यवहारधर्मपर आरूढ़ भव्यजीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति होना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यवहारधर्मपर आरूढ़ भव्य जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति तभी होती है जब उसमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों का विकास होनेपर करणलब्धिका भी विकास हो जाता है। फलतः करणलब्धिका विकास निश्चयधर्मकी प्राप्तिमें अनिवार्य कारण सिद्ध होता है। यही कारण है कि अभव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास होनेपर भी उसकी अभव्यताके कारण जब करणलब्धिका विकास सम्भव नहीं है तो उसे निश्चयधर्मकी प्राप्ति नहीं होती है। इससे निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्मपर आरूढ़ होनेपर निश्चयधर्मकी प्राप्ति होना ही चाहिये ऐसा नियम नहीं है। इतना अवश्य है कि जिस भव्यजीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास होनेपर यदि करणलब्धिका विकास हो जाता है तो उसे नियमसे निश्चयधर्मकी प्राप्ति होती है। भव्य और भव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका तथा भव्य जीवमें इनके साथ करणलब्धिका भी विकास व्यवहारधर्म पूर्वक ही होता है, इस बातको सामान्य समीक्षा-प्रकरणमें बतलाया जा चुका है। इस तरह भव्य जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्तिमें व्यवहारधर्म साधक सिद्ध हो जाता है। इस विवेचनसे उत्तरपक्षकी "व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है" यह मान्यता निरस्त हो जाती है।

उत्तरपक्षने अपने उक्त अनुच्छेदके अन्तमें जो यह लिखा है कि "व्यवहारधर्मको उसका साधक व्यवहारनयसे ही माना जा सकता है। यह परमार्थ कथन नहीं है" सो उसका यह लेख पूर्वपक्षको इस रूपमें तो मान्य हो सकता है कि व्यवहारधर्म जीवका परिणाम होनेपर भी एक तो भाववती शक्तिके परिणामस्वरूप हृदय या मस्तिष्कके सहारेपर तथा क्रियावती शक्तिके परिणामस्वरूप मन, वचन और कायके सहारेपर उत्पन्न होता है अतः पराश्रित है। दूसरे, वह स्वयं निश्चयधर्मरूप न होकर निश्चय-धर्मकी उत्पत्तिमें निमित्त (सहायक) मात्र होता है, अतः उसे निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें निश्चयकारण न माना जाकर व्यवहारकारण ही माना जा सकता है। परन्तु उत्तरपक्ष व्यवहारधर्मको एक तो पराश्रित होनेसे जीवका परिणाम नहीं मानना चाहता है। दूसरे, निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें उसे निमित्त मानकर भी सर्वथा अकिंचित्कर

मानता है और इसी दृष्टिसे उसने लिखा है कि "व्यवहारधर्मको उसका साधक व्यवहारनयसे ही माना जा सकता है, यह परमार्थ कथन नहीं है"। सो उत्तरपक्षका यह लेख आगमविरुद्ध होनेसे पूर्वपक्षको मान्य नहीं है, क्योंकि भव्य जीव आगमके अनुसार जबतक हृदयके सहारेपर होनेवाले भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप अतत्त्वश्रद्धानसे और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप अतत्त्वज्ञानसे एवं इनसे प्रभावित क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक कम-से-कम संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर उसी प्रकारसे भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान-पूर्वक क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ प्रवृत्तिमें संलग्न नहीं होता तब तक वह अपनेमें निश्चयधर्मको उत्पन्न नहीं कर सकता है।

यहाँ ये बातें भी विचारणीय हैं कि उत्तरपक्ष व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें व्यवहारनयसे साधक मानकर भी जब उस व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर ही स्वीकार करता है तो ऐसी स्थितिमें उसे व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें व्यवहारनयसे साधक कहनेकी किस लिये आवश्यकता हुई ? यद्यपि उसका कहना है कि निमित्तका ज्ञान कराना उस कथनका प्रयोजन है। परन्तु जब वह निमित्तको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानता है तो उसे उस कार्योत्पत्तिके अवसरपर निमित्तका ज्ञान करानेकी भी आवश्यकता क्यों हुई ? और यदि वह कार्योत्पत्तिमें निमित्तका ज्ञान कराना आवश्यक समझता है तो फिर वह निमित्तको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर कहनेका साहस कैसे कर सकता है ?

(२) उत्तरपक्षने त० च० पृ० १४५ पर जो यह अनुच्छेद लिखा है कि "अपने दूसरे पत्रकमें अपरपक्षने प्रवचनसार आदि अनेक ग्रन्थोंके प्रमाण दिये हैं" इत्यादि। इसमें उसने पूर्वपक्ष द्वारा अपनी मान्यताके समर्थनमें द्वितीय दौरमें प्रस्तुत प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंके प्रमाणोंके आधारपर निश्चय और व्यवहार धर्मोंके साध्य-साधकभावोंको स्वीकार करके भी उसी अनुच्छेदमें आगे जो यह लिखा है कि "किस नयसे उक्त शास्त्रोंमें ये प्रमाण उपस्थित किये गये हैं और उनका आशय क्या है ? इस विषयमें उसने एक शब्द भी नहीं लिखा है।" सो इस सम्बन्धमें उसे (उत्तरपक्षको) यह ज्ञात होना था कि पूर्वपक्षने त० च० पृ० १३४ पर स्पष्ट लिखा है कि "आपके उस कथनपर हमने प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रह ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया था कि व्यवहारधर्म (व्यवहाररत्नत्रय) साधक है और निश्चयधर्म (निश्चयरत्नत्रय) साध्य है" तथा इसका स्पष्ट आशय यही है कि व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप व्यवहारधर्म निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें निमित्त (सहायक) रूपसे साधक है। साथ ही पूर्वपक्षने निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मोंके साध्य-साधकभावको सद्भूतव्यवहारनयका विषय भी स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है। फलतः उत्तरपक्षका "किस नयसे उक्त शास्त्रोंमें ये प्रमाण उपस्थित किये गये हैं और उनका आशय क्या है ?" इत्यादि कथन निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने उक्त अनुच्छेदमें आगे जो यह लिखा है कि "हमारी दृष्टि नयदृष्टिसे उनका आशय स्पष्ट करनेकी है जबकि अपरपक्ष उस स्पष्टीकरणको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखकर उसकी अवलेलना करता है"। इस लेखसे उत्तरपक्षने अपने त० च० पृ० १३२ पर निर्दिष्ट "इस सम्बन्धी प्रतिशंकामें प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रहके विविध प्रमाण उपस्थित कर जो यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक है सो यह कथन असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा से ही किया गया है"। इस कथनका ही संकेत दिया है। इस तरह उत्तरपक्षने अपने उक्त लेखसे यह बतलाना चाहा है कि प्रवचनसार आदि उक्त

आगम प्रमाणोंमें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक असद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा गया है। सो इससे तो यही निर्णीत होता है कि दोनों पक्षोंके मध्य निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गोंमें स्वीकृत साध्य-साधकभावको व्यवहारनयसे मान्य करनेमें विरोध नहीं है क्योंकि उस साध्य-साधकभावको पूर्वपक्ष भी निश्चयनयसे नहीं मानता है। इस तरह दोनों पक्षोंके मध्य विरोध केवल इस बातका है कि जहाँ पूर्वपक्ष व्यवहार और निश्चय दोनों धर्मोंमें स्वीकृत उस साध्य-साधकभावको सद्भूतव्यवहारनयसे मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उस साध्य-साधकभावको असद्भूतव्यवहारनयसे मानता है। इसलिये केवल यही बात विचारणीय रह जाती है कि उक्त दोनों धर्मोंमें स्वीकृत साध्य-साधकभावको असद्भूतव्यवहारनयसे माना जाये या सद्भूतव्यवहारनयसे माना जाये अथवा दोनों ही नयोंसे माना जाये ? इन तीन विकल्पोंमेंसे कौन-सा विकल्प प्रमाणसम्मत है, इसका निर्णय यहाँ समयसार गाथा ५१, ५५ और ८७ के आधारपर किया जाता है।

समयसार गाथा[1] ५१ में कहा गया है कि राग, द्वेष और मोह जीवके नहीं हैं और गाथा[2] ५५ में स्पष्ट कर दिया गया है कि वे पुद्गलके हैं। परन्तु गाथा[3] ८७ में यह बतलाया है कि मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोध आदि भाव जीवके हैं। इनमेंसे गाथा ५१ में जो यह बतलाया गया है कि राग, द्वेष और मोह जीवके नहीं हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्धनयकी दृष्टिसे विचार किया जाये तो राग, द्वेष और मोह जीवके नहीं हैं अर्थात् वे जीवके अखण्ड चैतन्यके समान स्वत:सिद्ध अनादिनिधन स्वभावभूत नहीं हैं। तथा गाथा ५५ में जो यह बतलाया गया है कि राग, द्वेष और मोह पुद्गलके हैं। इसका आशय यह है कि वे असद्भूत व्यवहारनयसे पुद्गलके हैं अर्थात् पुद्गलकर्मके उदयकी सहायतासे ही वे जीवमें उत्पन्न हुए हैं और गाथा ८७ में जो यह बतलाया गया है कि राग, द्वेष और मोह जीवके हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे सद्भूत व्यवहारनयसे जीवके हैं अर्थात् पुद्गलकर्मके उदयकी सहायता मात्र मिलनेपर जीव ही उन रागादिरूप परिणत होता है। इसी तरह जिस प्रकार निश्चयधर्म जीवका स्वाश्रित परिणमन है उस प्रकार व्यवहारधर्म पूर्वोक्त प्रकार जीवका स्वाश्रित परिणमन नहीं है, इसलिए जिस प्रकार निश्चयधर्म निश्चयनयका विषय है उस प्रकार व्यवहारधर्म निश्चयनयका विषय नहीं है, अपितु परकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण वह जहाँ असद्भूत व्यवहारनयका विषय है वहीं परकी सहायतासे उत्पन्न होनेपर भी वह परिणमन तो जीवका ही है, इसलिए वह सद्भूत व्यवहारनयका भी विषय है। तथा ऊपर यह भी बतलाया गया है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मके प्रति साक्षात् सहायक कारण होता है, अतः निश्चयधर्मके प्रति उसकी वह साक्षात् सहायककारणता अनुपचरितरूपमें सद्भूत होनेसे अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय है और मोक्षके प्रति व्यवहारधर्म परम्परया कारण होता है। इसलिए मोक्षके प्रति उसकी वह परम्परया सहायककारणता उपचरितरूपमें सद्भूत होनेसे उपचरित सद्भूतव्यवहारनयका विषय है व अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयकी विषयभूत वह अनुपचरितसद्भूतसहायककारणता तथा उपचरितसद्भूतव्यवहारनयकी विषयभूत वह उपचरितसद्भूतसहायककारणता दोनों ही सद्भूत हैं। कल्पित अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह सर्वथा

१. जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥

२. णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

३. मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

असद्भूत नहीं हैं। उत्तरपक्ष तो उक्त दोनों प्रकारकी सहायककारणताओंको कल्पित अर्थात् आकाशकुसुमकी तरह सर्वथा असद्भूत ही मानता है और इस आधारपर ही वह उन दोनों प्रकारकी सहायककारणताओंको असद्भूत व्यवहारनयका विषय मानता है, जो आगम विरुद्ध है। अतः पूर्वपक्ष उसका विरोध करता है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट होता है कि व्यवहारधर्म अपनी सापेक्ष सद्भूतव्यवहाररूपता और असद्भूतव्यवहाररूपताके आधारपर क्रमशः सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकारके व्यवहारनयोंका विषय है, इसलिए उत्तरपक्ष द्वारा उसे मात्र असद्भूतव्यवहाररूप मानकर केवल असद्भूतव्यवहारनयका विषय मान्य किया जाना अयुक्त है। इसी तरह उपर्युक्त विवेचनसे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यवहारधर्मका निश्चयधर्मके साथ स्वीकृत साध्य-साधकभाव अपनी अनुपचरितसद्भूतव्यवहाररूपताके आधारपर अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय है व उसी व्यवहारधर्मका मोक्षके साथ स्वीकृत साध्य-साधकभाव अपनी उपचरितसद्भूतव्यवहाररूपताके आधारपर उपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय है। इसलिए उत्तरपक्ष द्वारा इन दोनों प्रकारके साध्य-साधकभावोंको असद्भूतव्यवहाररूप मानकर असद्भूत व्यवहारनयका विषय मान्य किया जाना भी अयुक्त है। अतः उत्तरपक्षका प्रकृत अनुच्छेदमें किया गया यह कथन कि "हमारी दृष्टि तो नयदृष्टिसे उसका आशय स्पष्ट करनेकी है"—असंगत सिद्ध हो जाता है और इस कथनके असंगत सिद्ध हो जानेसे, उसने वहींपर आगे जो यह कथन किया है कि "अपरपक्ष उस स्पष्टीकरणको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखकर उसकी अवहेलना करता है" यह भी असंगत सिद्ध हो जाता है। तथा इस कथनके भी असंगत सिद्ध हो जानेसे उसने वहींपर आगे जो यह कथन किया है कि "क्या इसे ही परमप्रमाणभूत, मूलसंघके प्रतिष्ठापक श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक आचार्योंके आर्षवाक्योंको परमश्रद्धालु और तत्त्ववेत्ता बनकर स्वीकार करना कहा जाये?" यह कथन भी असंगत सिद्ध हो जाता है।

इस विषयमें मेरा यह भी कहना है कि पूर्वपक्षने त० च० पृ० १३४ पर "आपके उस पत्रकपर हमने प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रह ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया था कि व्यवहारधर्म (व्यवहाररत्नत्रय) साधक है और निश्चयधर्म (निश्चयरत्नत्रय) साध्य है" इस कथनके आगे जो यह कथन किया था कि "परमप्रमाणभूत, मूलसंघके प्रतिष्ठापक श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक प्रमाणिक आचार्योंके आर्ष प्रमाण देखकर जिनवाणीका श्रद्धालु और तत्त्ववेत्ता नतमस्तक होकर उन्हें स्वीकार कर लेता है। ऐसी ही आशा आपसे भी थी"। इसको लक्ष्यमें लेकर उत्तरपक्षने पूर्वपक्षका उपहास करनेकी दृष्टिसे ही उक्त कथन किया है, सो उसकी इस उपहास करनेकी दृष्टिको उपर्युक्त आगमव्यवस्थाको देखते हुये अशोभनीय ही कहा जा सकता है।

उत्तरपक्षने प्रकृत अनुच्छेदमें ही आगे जो यह कथन किया है कि "पूरे जिनागमको दृष्टिमें रखकर उसके हार्दको समझकर कल्याणके मार्गमें लगा जाये, यह हमारी दृष्टि है और इसी दृष्टिसे प्रत्येक उत्तरमें हम यथार्थका निर्णय करनेका प्रयत्न करते आ रहे हैं। अपरपक्ष भी इसी मार्गको स्वीकार कर ले, ऐसा मानस है। स्व-परके कल्याणका यदि कोई मार्ग है तो एक मात्र यही है।" इसमें उसने जो जिनागमके हार्दको समझकर कल्याणके मार्गमें लगनेकी अपनी दृष्टि बतलायी है उसके सम्बन्धमें विशेष कुछ न कहकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि कल्याणके मार्गपर वही व्यक्ति चल सकता है जिसके पुण्यकर्मोके उदयके साथ कषायोंकी अत्यन्त मन्दता हो। यदि उत्तरपक्षकी यही स्थिति है तो वह स्वागत योग्य है, क्योंकि जो कल्याणके मार्गपर चलेगा उसका कल्याण होना निश्चित है और जो कल्याणके मार्गपर नहीं चलेगा

उसका अकल्याण होना निश्चित है। तथा अपनी कल्याणके मार्गपर चलनेकी दृष्टि बतलानेके अनन्तर उत्तरपक्षने जो पूर्वपक्षको उपदेश दिया है उसे भी मैं अनुचित नहीं मानता हूँ; क्योंकि खानियामें जो तत्त्वचर्चाका आयोजन श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराजके तत्त्वावधानमें स्व० ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई वालोंके आर्थिक सहयोगके बलपर ब्र० लाडमलजीने किया था उसका भी मूल उद्देश्य कल्याणके मार्गको समझने और समझानेका ही था। तथा दोनों ही पक्ष अपने अन्तःकरणमें इसी भावनाको रखकर आशा और विश्वासके साथ बड़े उत्साहसे उसमें सम्मिलित हुये थे। यह बात अवश्य है कि चर्चा प्रारम्भ होते ही उत्तरपक्षके हृदयमें पक्षव्यामोह उत्पन्न हो जानेसे उसकी नीतिमें जो परिवर्तन आ गया था उसके कारण वह आयोजन उद्देश्यकी पूर्तिमें सफल नहीं हो सका। मेरे इस कथनकी वास्तविकता तत्त्वचर्चामें उत्तरपक्षके द्वारा अपनाई गई प्रक्रियापर ध्यान देनेसे ज्ञात हो जाती है। उसकी इस प्रक्रियाकी आलोचना मैंने इसी समीक्षा-ग्रन्थमें अन्यत्र भी की है।

(३) पूर्वपक्षने त० च० पृ० १३४ पर जो "किन्तु आपने उन प्रमाणोंको स्वीकार नहीं किया और असद्भूत व्यवहारनयकी आड़ लेकर उन्हें टाल दिया है, जबकि वह कथन असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे नहीं है और न उसकी अपेक्षासे हो ही सकता है" यह कथन किया था। उसका उत्तर उत्तरपक्षने त० च० पृ० १४५ पर यह दिया है कि "हमने अपने दूसरे उत्तरमें व्यवहारधर्मको असद्भूतव्यवहारनयसे निश्चय-धर्मका साधक लिखकर उन प्रमाणोंको टालनेका प्रयत्न नहीं किया है। किन्तु उनके हार्दको ही स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।" तथा इसके आगे "व्यवहारधर्म आत्माका धर्म किस अपेक्षासे माना गया है" यह लिखकर इसको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे उसने बृहद्द्रव्यसंग्रहकी गाथा ४५ के टीका-वचनको[1] उपस्थित कर उसका अर्थ करते हुए आगे लिखा है कि "यह आगम प्रमाण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपचरित असद्भूतव्यहार-नयकी अपेक्षा ही व्यवहारधर्म चारित्र या धर्मसंज्ञाको धारण करता है। वह वास्तवमें आत्माका धर्म नहीं है। ऐसी अवस्थामें उसे निश्चयधर्मका साधक उपचरित असद्भूतव्यवहारनयसे ही तो माना जा सकता है।" सो उसका यह सब लेख संगत नहीं है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि एक व्यवहारधर्म व्यवहार-सम्यग्दर्शनरूप है। दूसरा व्यवहारधर्म व्यवहारसम्यग्ज्ञानरूप है और तीसरा व्यवहारधर्म व्यवहारसम्यक्-चारित्ररूप है। तथा इनमेंसे जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमनकी समाप्तिपूर्वक उसका हृदयके सहारेपर ही जो तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ परिणमन होने लगता है वह व्यवहारसम्यग्दर्शनके रूपमें व्यवहारधर्म है व जीवकी उसी भाववती शक्तिके मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमनकी समाप्तिपूर्वक उसका मस्तिष्कके सहारेपर ही जो तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमन होने लगता है वह व्यवहारसम्यग्ज्ञानके रूपमें व्यवहारधर्म है। एवं जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप दोनों शुभ परिणमनोंसे प्रभावित होनेपर जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक उसी क्रियावती-शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक आरंभी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमनोंके साथ जो उसी प्रकारके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं वे परिणमन नैतिक आचारणरूप व्यवहारसम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म हैं एवं नैतिक आचारणरूप इस व्यवहारसम्यक्चारित्रके सद्भावमें जीवकी क्रियावती शक्तिके उक्त आरंभी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक जो पुण्यमय

---

१. 'तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण।'

शुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं वे भी क्रमशः देशविरति या सर्वविरति रूप व्यवहारसम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म हैं।

इस विवेचनसे सिद्ध होता है कि उक्त सभी व्यवहारधर्म यथायोग्य जीवकी भाववती अथवा क्रियावती दोनों प्रकारकी शक्तियोंके परिणमन होनेके कारण सद्भूतव्यवहारधर्मके रूपमें सद्भूतव्यवहारनयके विषय हैं। तथा जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्म यतः हृदय अथवा मस्तिष्कके सहारेपर होते हैं व जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्म यतः मन, वचन और कायके सहारेपर होते हैं, अतः उत्पत्तिमें पराश्रित हो जानेसे वे सभी व्यवहारधर्म अनुपचरित असद्भूतव्यवहारधर्मके रूपमें अनुचरितअसद्भूतव्यवहारनयके विषय हैं। इतना ही नहीं, व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान रूप दोनों व्यवहारधर्म जीवादि बाह्य पदार्थोंके श्रद्धान और ज्ञानरूप होनेसे तथा व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्म पंचेन्द्रियोंके विषयभूत बाह्य पदार्थोंके त्यागरूप होनेसे यथायोग्यरूपमें बाह्य पदार्थोंके सापेक्ष होनेसे वे सभी व्यवहारधर्म उपचरितअसद्भूतव्यवहारधर्मके रूपमें उपचरितअसद्भूतव्यवहारनयके भी विषय हैं।

इस तरह उक्त सभी व्यवहारधर्म जीवकी यथायोग्य भाववती अथवा क्रियावती शक्तियोंके परिणमन होनेसे यतः जीवके ही परिणमन हैं, अतः उनका जीवकी भाववती शक्तिका परिणमन होनेसे जीवके परिणामस्वरूप निश्चयधर्मके साथ स्वीकृत साध्य-साधकभाव अनुपचरितसद्भूतव्यवहारके रूपमें अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय हो जाता है व उनका जीवकी भाववती शक्तिका परिणमन होनेसे जीवके परिणामनस्वरूप मोक्षके साथ स्वीकृत साध्यसाधकभाव उपचरितसद्भूतव्यवहारके रूपमें उपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए।

इस विषयको उदाहरणके आधारपर इस तरह समझा जा सकता है कि घटकार्य तो एक है, परन्तु वह उपादानकारणभूत मिट्टीकी अपेक्षा उपादेय है और उसकी उत्पत्तिमें जिन द्रव्य अथवा पर्यायरूप निमित्तोंकी सहायता आवश्यक है उनकी अपेक्षा वह नैमित्तिक भी है। इतना ही नहीं, निमित्तोंकी विविधरूपताके आधारपर घटकी वह नैमित्तिकता विविधरूपताको भी धारण किये हुए है। यतः उपादानकारणभूत मिट्टी घटरूप परिणत होती है अतः वह घटकी उत्पत्तिमें निश्चयकारण है। तथा वह मिट्टी क्रमशः स्थास, कोश और कुशूलरूप परिणत होती हुई ही घटरूप परिणत होती है, अतः घटकी उत्पत्तिमें मिट्टीकी वे स्थास, कोश और कुशूल पर्यायें सद्भूतव्यवहारकारण हैं। इतना ही नहीं कुशूलपर्याय घटसे अव्यवहित पूर्वकालवर्ती पर्याय होनेसे घटोत्पत्तिमें साक्षात् सद्भूतव्यवहारकारण होनेसे अनुपचरितसद्भूतव्यवहारकारण है। कोशपर्याय कुशूलपर्यायसे अव्यवहित पूर्वकालवर्ती पर्याय होनेसे घटोत्पत्तिमें परम्परया व्यवहारकारण होनेसे उपचरितसद्भूतव्यवहारकारण है और स्थासपर्याय कोशपर्यायसे अव्यवहित पूर्वकालवर्ती पर्याय होनेसे घटोत्पत्तिमें दुहरी परम्पराके रूपमें सद्भूतव्यवहारकारण होनेसे उपचरितोपचरितसद्भूत व्यवहारकारण है। फलतः घटोत्पत्तिके प्रति मिट्टीमें विद्यमान निश्चयकारणता निश्चयनयका विषय होती है। कुशूलपर्यायमें विद्यमान अनुपचरितसद्भूतव्यवहारकारणता अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय होती है। कोशपर्यायमें विद्यमान उपचरितसद्भूतव्यवहारकारणता उपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय होती है और स्थासपर्यायमें विद्यमान उपचरितोपचरितसद्भूतव्यवहारकारणता उपचरितोपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय होती है। इसी तरह इस व्यवस्थाके आधारपर घटकार्यमें उपादानकी अपेक्षा

उपादेयता और निमत्तोंकी अपेक्षा नैमित्तिकता सिद्ध होकर निमित्तकारणोंकी विविधरूपताके आधारपर उस घटकी नैमित्तिकताकी विविधरूपता भी सिद्ध हो जाती है व घटमें विद्यमान उस उपादेयताकी निश्चयनय-विषयता तथा उसी घटमें विद्यमान नैमित्तिकताकी भी उस-उस रूप सद्भूतव्यवहारनयविषयता भी सिद्ध हो जाती है। ऐसी ही सद्भूतव्यवहाररूप कार्यकारणभावव्यवस्था घटकार्यके साथ मिट्टीकी स्थास, कोश और कुशूलपर्यायोंकी क्षण-क्षणमें होनेवाली पर्यायोंकी अपेक्षा भी समझ लेना चाहिए तथा उनकी यथायोग्य सद्भूतव्यवहारनयविषयताको भी इसी तरह समझ लेना चाहिए।

यहाँ जिस प्रकार मिट्टीसे होने वाली घटोत्पत्तिमें मिट्टीकी ही स्थासादि स्थूल और सूक्ष्म पर्यायोंकी अपने-अपने ढंगसे सद्भूतव्यवहारकारणता और उसकी नयविषयताका प्रतिपादन दिया गया है उसी प्रकार जीवमें होनेवाली निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें जीवकी ही व्यवहारधर्मरूप पर्यायकी सद्भूतव्यवहार-कारणताका और उसकी नयविषयताका प्रतिपादन समझ लेना चाहिये।

यहाँ प्रसंगवश यह बात भी स्पष्ट करने योग्य है कि मिट्टीसे जो घटकी उत्पत्ति होती है वह यद्यपि उपर्युक्त प्रकार स्थूलरूपसे मिट्टीकी स्थास, कोश और कुशूलपर्यायोंके क्रमिक विकास पूर्वक तथा सूक्ष्मरूपसे इन स्थास, कोश और कुशूल पर्यायोंकी क्षण-क्षणवर्ती पर्यायोंके क्रमिक विकास पूर्वक ही होती है। परन्तु खानमें अथवा घटोत्पत्तिके क्षेत्रमें पड़ी हुई मिट्टीकी प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त बाह्य निमित्तोंके सहयोगसे जो पर्यायें सतत होती रहती हैं उन पर्यायोंके समान मिट्टीकी वे स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप स्थूल पर्यायें और इन स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप पर्यायोंमें अन्तर्मग्न क्षण-क्षणवर्ती पर्यायें भी अनायास प्राप्त बाह्य निमित्तोंके सहयोगसे ही हो जाती हों, ऐसा नहीं है अथवा मिट्टीकी स्वप्रत्यय पर्यायोंकी तरह बाह्य निमित्तोंके सहयोगके बिना हो जाती हों, ऐसा भी नहीं है। अपितु कुम्भकार द्वारा संकल्पपूर्वक तदनुकूल क्रियाव्यापार किये जाने पर ही होती हैं और जब तक कुम्भकार अपना तदनुकूल क्रियाव्यापार नहीं करता तब तक मिट्टी-में उन पर्यायोंका उत्पन्न होना संभव नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मिट्टीमें उन पर्यायोंके उत्पन्न होनेके लिए कुम्भकारका तदनुकूल क्रियाव्यापार अपेक्षित रहता है। अर्थात् मिट्टीमें घटोत्पत्तिके अवसरपर जो प्रथमतः स्थासपर्यायका, इसके पश्चात् कोशपर्यायका और इसके भी पश्चात् कुशूलपर्यायका विकास हो जाने पर घटपर्यायका विकास होता है। वह सब विकास कुम्भकारका तदनुकूल क्रियाव्यापार चालू रहते ही होता है और इसलिये ही यह माना जाता है कि मिट्टीमें स्थाससे लेकर घट पर्यन्त क्रमशः होने वाली उन स्थास, कोश, कुशूल और घट पर्यायों तथा उनकी क्षण-क्षणवर्ती पर्यायोंकी उत्पत्ति तदनुकूल क्रियाव्यापारमें प्रवृत्त कुम्भकार का सहयोग रहते ही होती है, अन्यथा नहीं। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार उन पर्यायोंमें मिट्टीका प्रवेश रहता है, या वे पर्यायें मिट्टीमें प्रविष्ट रहती हैं उस प्रकार उन पर्यायोंमें तदनुकूल क्रियाव्यापारमें प्रवृत्त कुम्भकारका प्रवेश नहीं होता या वे पर्यायें उस कुम्भकारमें प्रविष्ट नहीं होतीं। अतएव मिट्टीकी उन पर्यायोंके विकासमें उस कुम्भकारको असद्भूत व्यवहारकारण माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुम्भकारका वह क्रिया-व्यापार भ्रमणशील चक्रके सहयोगसे होता देखा जाता है और चक्रका वह भ्रमण तदनुकूल क्रियाशील दण्डके सहयोगसे होता देखा जाता है, अतः यह भी माना जाता है कि कुम्भकारके उस क्रियाव्यापारमें भ्रमणशील चक्र असद्भूत व्यवहारकारण है और चक्रके उस भ्रमणमें अदनुकूल क्रियाशील दण्ड असद्भूत व्यवहारकारण है। यदि मिट्टीकी उक्त प्रर्यायोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाय तो इनकी इस असद्भूत व्यवहारकारणतामें यह अन्तर भी पाया जाता है कि मिट्टीमें उन पर्यायोंकी उत्पत्तिमें साक्षात् असद्भूतव्यवहारकारण होनेसे कुम्भकार अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारकारण है, चक्र

परम्परया असद्भूतकारण होनेसे उपचरितअसद्भूतव्यवहारकारण हैं और दण्ड दुहरी परम्पराके रूपमें असद्भूत व्यवहारकारण होनेसे उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारकारण है। तथा इस आधारपर कुम्भकारमें विद्यमान अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारकारणता अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयका विषय होती हैं। चक्रमें विद्यमान उपचरितअसद्भूतव्यवहारकारणता उपचरितअसद्भूतव्यवहारनयका विषय होती हैं और दण्डमें विद्यमान उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारणकारणता उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनयका विषय होती है, ऐसा जानना चाहिये।

यतः ऊपर यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि घटोत्पत्तिके अवसर पर मिट्टीमें स्याससे लेकरघटपर्यन्त स्थास, कोश, कुशूल और घटके रूपमें जितनी स्थूल और उनमें अन्तर्मग्न सूक्ष्म पर्यायोंका क्रमशः विकास होता है उस विकासकी प्रक्रिया तब तक ही चालू रहती है जब तक उस मिट्टीको कुम्भकारके तदनुकूल क्रियाव्यापारका सहयोग प्राप्त रहता है। अतः इस आधारपर यह निर्णीत होता है कि मिट्टीका घटपर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्यायरूप परिणमन हो जाने पर भी यदि कुम्भकार अपना तदनुकूल क्रियाव्यापार करना बन्द कर देता है तो उस स्थितिमें घटकी उत्पत्ति भी रुक जाती है। फलतः उत्तरपक्षकी यह मान्यता कि "मिट्टी जब घटकार्यके अव्यवहित पूर्वपर्यायरूप परिणत हो जाती है तो घटकी नियमसे उत्पत्ति होती है" निरस्त हो जाती है।

(४) व्यवहारधर्मके विषयमें और उसका निश्चयधर्म व मोक्षके साथ यथायोग्य पृथक्-पृथक् रूपमें स्वीकृत साध्य-साधकभावके विषयमें प्रकृत प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें अब तक जो कुछ कहा गया है उससे उत्तरपक्ष द्वारा त० च० पृ० १४५ से पृ० १५७ तक आगे जितना कथन किया गया है उसकी भी समीक्षा हो जाती है, क्योंकि उस कथनमें उत्तरपक्षने अपनी "व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नहीं है, इस मान्यताके समर्थनमें ऐसी कोई नई बात नहीं कही है जिसकी अलगसे समीक्षा करना आवश्यक हो। इतनी बात अवश्य है कि उसने त० च० पृ० १५६ पर यह विशेष कथन किया है कि "अपरपक्षका कहना है कि निश्चयधर्मका प्रतिपादक करणानुयोग है। यह बात नही है, क्योंकि निश्चयधर्मका कथन मुख्यतः द्रव्यानुयोगका विषय है।" तथा अपने इस कथनके समर्थनमें उसने वहीं पर रत्नकरण्डश्रावकाचारके पद्य ४६ को भी उपस्थित किया है जिसमें यह बतलाया गया है कि द्रव्यानुयोग जीव और अजीव सुतत्त्वोंको तथा पुण्य और अपुण्य (पाप) को एवं बन्ध और मोक्षको श्रुतविद्याके आलोक (प्रकाश) के अनुरूप विस्तारता है।" आगे उत्तरपक्षके उक्त कथनकी समीक्षा की जाती है :—

आगमको लौकिक और अध्यात्मिक दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इनमेंसे लौकिक आगम जीवोंके लौकिक हितसे सम्बन्ध रखता है और अध्यात्मिक आगम जीवोंके अध्यात्मिक हितसे सम्बन्ध रखता है। एवं लौकिक और अध्यात्मिक दोनों ही प्रकारके आगम प्रमाण और अप्रमाणके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। इनमेंसे जो लौकिक आगम जीवोंके लौकिक हितके विषयोंका सम्यक् प्रतिपादन करनेमें समर्थ और अवंचक पुरुषोंद्वारा रचा गया हो वह प्रमाण है व जो लौकिक आगम जीवों के लौकिक हितके विषयोंका सम्यक् प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है और वंचक पुरुषोंद्वारा रचा गया हो वह अप्रमाण है। इसी तरह जो आध्यात्मिक आगम जीवोंके आध्यात्मिक हितके विषयोंका सम्यक् प्रतिपादन करनेमें समर्थ है तथा अवंचक पुरुषोंद्वारा रचा गया हो वह प्रमाण है व जो आध्यात्मिक आगम जीवोंके आध्यात्मिक विषयोंका सम्यक् प्रतिपादन करनेमें असमर्थ और वंचक पुरुषोंद्वारा रचा गया हो वह अप्रमाण है। जैन संस्कृतिमें प्रमाणभूत आध्यात्मिक आगमके

ही द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोगके रूपमें चार भेद मान्य किये गये हैं। इनके स्वरूपको पृथक्-पृथक् निम्नप्रकार समझा जा सकता है—

(१) द्रव्यानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके पदार्थोंको स्वीकार करके उनके स्वतःसिद्ध अतएव अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्डस्वरूप एवं उनके स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंका विवेचन किया गया हो। इस अनुयोगको वस्तुविज्ञान भी कह सकते हैं। इसमें वस्तुतत्त्वके व्यवस्थापक समस्त दर्शनशास्त्रका अन्तर्भाव होता है।

(२) करणानुयोग वह है जिसमें जीवोंके संसारका और उसके कारणभूत कर्मोंके उदयमें होनेवाले उनके शुभ-अशुभ परिणामों तथा जीवोंके मोक्ष और उसके कारणभूत कर्मोंके यथासंभव उपशम, क्षय और क्षयोपशममें होनेवाले उनके शुद्ध परिणमनोंका एवं उन कर्मोंके आस्रव और बंध तथा संवर और निर्जरणका विवेचन किया गया हो। इसमें धवल, जयधवल, महाधवल, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार आदि ग्रन्थोंका अन्तर्भाव होता है।

(३) चरणानुयोग वह है जिसमें ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रव और बन्धमें कारणभूत जीवोंके व्यवहारमिथ्यादर्शन, व्यवहारमिथ्याज्ञान और व्यवहारमिथ्याचारित्ररूप असम्यक् पुरुषार्थका व उन कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारणभूत जीवोंके व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप सम्यक् पुरुषार्थका विवेचन किया गया हो। इसमें श्रावकधर्म और मुनिधर्मके प्रतिपादक ग्रन्थोंका अन्तर्भाव होता है।

(४) प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर जीवोंको असम्यक् पुरुषार्थके त्यागपूर्वक सम्यक् पुरुषार्थमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा देनेवाले महापुरुषोंके जीवनवृत्तों और ऐसे ही कथानकोंका प्रतिपादन किया गया हो। इसमें महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि पुराण-साहित्यका व कथा-साहित्यका अन्तर्भाव होता है।

चारों अनुयोगोंके इस पृथक्-पृथक् स्वरूपनिर्धारणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनका अध्यात्मके साथ जो संबंध है वह पृथक्-पृथक् रूपमें ही है। अर्थात् द्रव्यानुयोग जीवोंके लिए केवल आत्मस्वरूपकी पहिचानकरनेमें सहायक है, करणानुयोग जीवोंको उनके उत्थान और पतनका बोध कराता है, चरणानुयोग जीवोंके उत्थान और पतनमें कारणभूत उनके पुरुषार्थोंका निर्देश कराता है और प्रथमानुयोग जीवोंको पतनके कारणभूत पुरुषार्थोंको त्यागकर उत्थानके कारणभूत पुरुषार्थमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा देता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वपक्षद्वारा निश्चधर्मका प्रतिपादक करणानुयोगको मान्य किया जाना असंगत नहीं है, क्योंकि निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रका नाम ही निश्चयधर्म है और ये निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक ही जीवमें प्रगट होते हैं। इसी तरह यह भी तथ्य है कि जैन साहित्यमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके द्रव्योंके रूपमें जितना विवेचन पाया जाता है वह पृथक् है व जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामके तत्त्वोंके रूपमें जितना विवेचन पाया जाता है वह पृथक् है। अर्थात् द्रव्यरूप विवेचनको वस्तुविज्ञान कहना युक्त है और तत्त्वरूप विवेचनको अध्यात्मविज्ञान कहना युक्त है। इस तरह द्रव्यानुयोग और करणानुयोगके उपर्युक्त स्वरूप-विवेचनके अनुसार वस्तुविज्ञानको द्रव्यानुयोग कहना युक्त है और अध्यात्मविज्ञानको

करणानुयोग कहना युक्त है। फलतः इस आधारपर भी पूर्वपक्षद्वारा निश्चयधर्मका प्रतिपादक करणानुयोगको मान्य किया जाना संगत सिद्ध होता है।

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारके पद्य ४६ में द्रव्यानुयोगके स्वरूपका जो विवेचन किया है उससे निश्चयधर्मका प्रतिपादक यद्यपि द्रव्यानुयोग ही सिद्ध होता है। परन्तु स्वामी समन्तभद्रका निश्चय-धर्मका प्रतिपादक द्रव्यानुयोगको स्वीकार करनेका आधार यह है कि उन्होंने करणानुयोगको लोक और अलोकके विभागके प्रतिपादन, व्यवहारकालके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी भेद तथा उत्सर्पिणीके दुःषमा-दुःषमा आदि छह और अवसर्पिणीके सुषमा-सुषमा आदि षट् कालोंके रूपमें होनेवाले युग-पविर्तनके प्रतिपादन एवं यथायोग्य उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकमें विद्यमान स्वर्ग, मनुष्य, तिर्यग् और नरक गतियोंके प्रतिपादन तक ही सीमित रखा है। फलतः उनकी दृष्टिसे तिलोयपण्णत्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंका ही अन्तर्भाव करणानुयोगमें होता है। धवल, जयधवल, महाबन्ध, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रन्थोंका अन्तर्भाव करणानुयोगमें न होकर द्रव्यानुयोगमें ही होता है जो सापेक्षदृष्टिसे यद्यपि विवादका वस्तु नहीं है। परन्तु इससे वस्तुविज्ञान और अध्यात्मविज्ञानको एक तो कदापि नहीं माना जा सकता है। इसलिये स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिसे द्रव्यानुयोगके वस्तुविज्ञान और अध्यात्मविज्ञानके रूपमें दो भेद स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। यतः आगममें यत्र-तत्र धवल आदि उक्त ग्रन्थोंको करणानुयोगमें भी अन्तर्भूत किया गया हैं, अतः अध्यात्मविज्ञान स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिसे द्रव्यानुयोगका विषय होकर भी अन्य आचार्योंकी दृष्टिसे उसे करणानुयोगका विषय मान्य किया जाना अयुक्त नहीं है। फलतः पूर्वपक्षद्वारा करणानुयोगको निश्चयधर्मका प्रतिपादक मानना भी युक्त है।

उत्तरपक्षके उक्तकथनसे ऐसा ज्ञात होता है कि वह पक्ष वस्तुविज्ञान और अध्यात्मविज्ञानके अन्तरको नहीं समझ सका है और न वह आगममें प्रतिपादित व्यवहारधर्मके स्वरूप तथा स्थितिको ही समझ सका है। ऐसी अवस्थामें यही कहा जा सकता है कि वह केवल अध्यात्मके नाम पर सोनगढ़के अज्ञानपूर्ण, मिथ्या और मनघड़ंत मान्यताओंसे प्रभावित होकर ही तत्त्वचर्चा करनेके लिए तैयार हुआ। यही कारण है कि वह अपने पक्षके समर्थन और पूर्वपक्षकी आलोचनामें तर्कपूर्ण व्यवस्थित प्रक्रियाको नहीं अपना सका तथा उसने तत्त्वचर्चाको वीतरागकथा नाम देकर भी विजिगीषुकथा बना दिया। एवं विजयकी भावनासे यदि उसे आगमका अर्थ-परिवर्तन करना भी आवश्यक समझमें आया तो उसने निःसंकोच भावसे यत्र-तत्र ऐसा भी किया है।

निष्कर्ष

प्रकृत प्रश्नोत्तरकी इस समीक्षामें निश्चय और व्यवहार धर्मोंके स्वरूप और उनमें विद्यमान साध्य-साधकभावको स्पष्ट करनेके लिए जो कुछ कहा गया है उससे उत्तरपक्षकी निम्नलिखित मान्यतायें निरस्त हो जाती हैं—

(१) उत्तरपक्ष मानता है कि जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी यथायोग्य क्रियाका नाम व्यवहार-धर्म है।

पर यह मान्यता इस आधारपर निरस्त होती है कि इस संबंधमें इस समीक्षामें जो विवेचन किया गया

है उससे यह बात स्पष्ट है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी यथायोग्य क्रियाका नाम ही व्यवहारधर्म है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीरके अंगभूत हृदयके सहारेपर जीवको अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो अतत्त्वश्रद्धान हो रहा था उसकी सर्वथा समाप्ति होकर हृदयके सहारेपर ही भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो तत्त्वश्रद्धान होने लगता है वह व्यवहारसम्यग्दर्शनके रूपमें व्यवहारधर्म है। तथा शरीरके अंगभूत मस्तिष्कके सहारेपर जीवको अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो अतत्त्वज्ञान हो रहा था उसकी सर्वथा समाप्ति होकर मस्तिष्कके सहारेपर ही भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो तत्त्वज्ञान होने लगता है वह व्यवहारसम्यग्ज्ञानके रूपमें व्यवहारधर्म है। एवं शरीरके अंगभूत मन, वचन और कायके सहारेपर जीवका अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो अशुभ क्रियाव्यापार हो रहा था उससे यथायोग्य निवृत्तिपूर्वक मन, वचन और कायके सहारेपर ही क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप जो शुभ क्रियाव्यापार होने लगता है वह व्यवहारसम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म है।

प्रसंगवश यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि शरीरका अंगभूत मन ही हृदय और मस्तिष्कके भेदसे दो प्रकारका है, इसलिये इस समीक्षामें जहाँ मनके सहारेपर होनेवाले जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनोंका कथन किया गया है वहाँ उन परिणमनोंका कथन मनको हृदय और मस्तिष्क दो भागोंमें विभक्त करके पृथक्-पृथक् रूपमें किया गया है। इसमें हेतु यह है कि जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन अन्य हैं व जीवकी भाववती शक्तिके ही मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञान और अतत्त्वज्ञानरूप परिणमन अन्य हैं। यतः इस प्रकारका अन्यपना हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले जीवकी क्रियावती शक्तिके क्रियाव्यापाररूप परिणमनोंमें नहीं पाया जाता है। अतः इस समीक्षामें जहाँ हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले क्रियावती शक्तिके क्रियाव्यापाररूप परिणमनोंका कथन किया गया है वहाँ उन क्रियाव्यापाररूप परिणमनोंका कथन हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर पृथक्-पृथक् रूपमें नहीं करके उक्त दोनों प्रकारसे होनेवाले उन परिणमनोंका कथन हृदय और मस्तिष्कसे अभिन्न मनके सहारेपर ही किया गया है।

(२) उत्तरपक्षकी दूसरी मान्यता यह है कि व्यवहारधर्म जीवके लिए निश्चयधर्मकी प्राप्ति होनेमें किंचित्कर न होकर अकिंचित्कर ही बना रहता है।

यह मान्यता इस आधारपर निरस्त होती है कि इस समीक्षा में जीव होनेवाली निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें व्यवहारधर्मको मिट्टीमें होनेवाली घटोत्पत्तिमें स्थास आदि पर्यायोंके समान सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही सिद्ध किया गया है।

(३) उत्तरपक्षकी तीसरी मान्यता यह है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें असद्भूतव्यवहारकारण होता है।

यह मान्यता इस आधारपर निरस्त होती है कि इस समीक्षामें व्यवहारधर्मको यतः निश्चयधर्मके समान जीवका ही परिणाम सिद्ध किया गया है, अतः जिस प्रकार घटोत्पत्तिमें मिट्टीकी स्थास आदि पर्यायें मिट्टीके परिणाम होनेसे सद्भूतव्यवहारकारण होती हैं उसी प्रकार व्यवहारधर्म भी जीवका परिणाम होनेसे निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें सद्भूतव्यवहारकारण ही सिद्ध होता है। असद्भूतव्यवहारकारण नहीं।

४. उत्तरपक्षकी चौथी मान्यता यह है कि मिट्टीसे होनेवाली घटोत्पत्तिमें स्थाससे लेकर कुशूल पर्यन्त

सभी स्थूल और उनमें अन्तर्मग्न क्षण-क्षणवर्ती सभी सूक्ष्म पर्यायें सद्भूतव्यवहारकारण न होकर अनित्य उपादानकारणके रूपमें निश्चयकारण ही होती हैं।

यह मान्यता इस आधारपर निरस्त होती है कि पूर्वोक्त प्रकार कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्यको ही अनित्य उपादानकारण मान्य किया जा सकता है, केवल कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायको नहीं, क्योंकि कार्यरूप परिणति तो द्रव्यकी ही होती है। इतना अवश्य है कि द्रव्यकी वह कार्यरूप परिणति द्रव्यके कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायरूप परिणत हो जानेपर ही होती है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि मिट्टीमें घटपर्यायकी उत्पत्ति तभी होती है जब मिट्टी कुशूलपर्यायरूप परिणत हो जाती है। तथा मिट्टीमें कुशूलपर्यायकी उत्पत्ति तभी होती है जब वह मिट्टी कोशपर्यायरूप परिणत हो जाती है। एवं मिट्टीमें कोशपर्यायकी उत्पत्ति तभी होती है जब वह मिट्टी स्थासपर्यायरूप परिणत हो जाती है, परन्तु वहाँ उपादानकारण तो मिट्टीको ही माना जा सकता है, उन पर्यायोंको नहीं। इसमें हेतु यह है कि उस-उस कार्यरूप परिणतिको उन पर्यायोंकी परिणति न मानी जाकर मिट्टीकी ही मान्य करना युक्त है, क्योंकि उन पर्यायोंका तो विनाश होकर ही मिट्टीमें उस-उस कार्यकी उत्पत्ति होती है। इतना अवश्य है कि मिट्टीमें कोशपर्याय स्थासपर्याय पूर्वक होती है, अतः कोशपर्यायमें वह स्थासपर्याय सद्भूतव्यवहारकारण होती है। तथा मिट्टीमें कुशूलपर्याय कोशपर्याय पूर्वक होती है, अतः कुशूलपर्यायमें वह कोशपर्याय सद्भूतव्यवहारकारण होती है। एवं मिट्टीमें घटपर्याय कुशूलपर्याय पूर्वक होती है, अतः घटपर्यायमें वह कुशूलपर्याय सद्भूतव्यवहारकारण होती है।

(५) उत्तरपक्षकी पांचवी मान्यता यह है कि निश्चयकारणके कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायरूप परिणत होनेपर कार्योत्पत्ति नियमसे होती है।

यह मान्यता इस आधारपर निरस्त होती है कि इस समीक्षामें पूर्वमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि निश्चयकारणरूप मिट्टीमें घटपर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्यायरूप कुशूलपर्यायका विकास हो जानेपर भी यदि असद्भूतव्यवहारकारणरूप कुम्भकार उस अवसरपर अपना तदनुकूल क्रियाव्यापार रोक देता है तो उस मिट्टीमें तब उस घटपर्याय रूप कार्यकी उत्पत्ति भी रुक जाती है। यही व्यवस्था स्थासपर्याय, कोशपर्याय और कुशूलपर्यायरूप कार्योकी उत्पत्तिमें भी असद्भूतव्यवहारकारणरूप कुम्भकारकी अपेक्षा जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मिट्टीमें स्थाससे लेकर क्रमशः कोश, कुशूल और घट पर्यायोंकी उत्पत्ति कुम्भकारके तदनुकूल क्रियाव्यापारका योग मिलनेपर ही होती है और न मिलनेपर नहीं होती है। फलतः जिस क्षणमें कुम्भकार अपना तदनुकूल क्रियाव्यापार रोक देता है उसी क्षणसे आगेकी पर्यायोंकी उत्पत्ति भी रुक जाती है, ऐसा जानना चाहिए।

इस विवेचनसे एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि कार्योत्पत्तिमें निश्चयकारणकी तरह सद्भूतव्यवहारकारणके साथ असद्भूतव्यवहारकारण भी कार्यकारी होते हैं। इतना अवश्य है कि कार्योत्पत्तिमें जहाँ निश्चयकारण कार्यरूपसे परिणत होनेसे कार्यकारी होता है वहाँ सद्भूत व्यवहारकारण उस कार्योत्पत्तिमें इस रूपसे कार्यकारी होते हैं कि कार्योत्पत्तिमें सद्भूतव्यवहारकारणरूपकार्याव्यवहित पूर्वपर्यायके रूपमें निश्चयकारणका परिणमन हो जानेपर ही वह निश्चयकारण कार्यरूप परिणत होता है। इसी प्रकार असद्भूतव्यवहारकारण उस कार्योत्पत्तिमें इस रूपसे कार्यकारी होते हैं कि निश्चयकारणकी कार्यरूप परिणति

तथा इससे पूर्व उस निश्चयकारणकी उक्त सद्भूतव्यवहारकारणरूप परिणति दोनों ही परिणतियाँ निश्चयकारण और सद्भूतव्यवहारकारणसे भिन्न असद्भूतव्यवहारकारणरूप अन्य वस्तुओंके प्रेरक अथवा अप्रेरक (उदासीन) रूपसे सहायक होनेपर ही होती हैं।

(६) उत्तरपक्षकी छठीं मान्यता यह है कि निश्चयनयके विषयभूत निश्चयकारणरूप पदार्थके स्वतः नियतक्रमसे होनेवाले परिणमनोंकी व्यवस्थामें सद्भूतव्यवहारनयके विषयभूत सद्भूतव्यवहारकारण और असद्भूतव्यवहारनयके विषयभूत असद्भूतव्यवहारकारण कार्यके प्रति अकिंचित्कर हो जानेसे ग्राह्य विषयके अभावमें वे सभी व्यवहारनय कथनमात्र सिद्ध होते हैं।

यह मान्यता इस आधारपर निरस्त होती है कि उत्तरपक्षका सद्भूतव्यवहारनयके विषयभूत सद्भूतव्यवहारकारणको और असद्भूतव्यवहारनयके विषयभूत असद्भूतव्यवहारकारणको अकिंचित्कर मान्य करनेके विषयमें जो यह दृष्टिकोण है कि "निश्चयनयके विषयभूत निश्चयकारणके परिणमन स्वतः नियतक्रमसे ही होते हैं" इसका निराकरण प्रथम प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें किया जा चुका है और पंचम प्रश्नोत्तरकी समीक्षामें भी किया जायेगा। इसके अतिरिक्त पूर्वमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जैनशासनमें एक तो निश्चयनयके विषयभूत निश्चयकारणकी कार्यरूप परिणतिसे पूर्व होनेवाली परिणतियोंको ही इस कार्यरूप परिणतिके प्रति सद्भूतव्यवहारनयके विषयभूत सद्भूतव्यवहारकारणरूप मान्य किया गया है। दूसरे, जैनशासनमें यह भी मान्य किया गया है कि निश्चयनयके विषयभूत निश्चयकारणकी कार्यरूप परिणति और और उसकी इस कार्यरूप परिणतिमें कारणभूत पूर्वमें होनेवाली अन्य परिणतियाँ ये सभी असद्भूतव्यवहारनयके विषयभूत असद्भूतव्यवहारकारणोंके प्रेरक अथवा अप्रेरक रूपसे सहायक होनेपर ही होती हैं। फलतः सद्भूत और असद्भूत दोनों ही प्रकारके व्यवहारनयोंके ग्राह्य विषयका सद्भाव सिद्ध हो जानेसे उन्हें कथनमात्र कदापि नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि कार्यके प्रति उपादानकारणभूत वस्तुमें विद्यमान कार्यरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत स्वतःसिद्ध योग्यतारूप नित्य निश्चयकारणता निश्चयनयका विषय निश्चित हो जानेसे जिस प्रकार निश्चयनय कथनमात्र नहीं है उसी प्रकार कार्यके प्रति उस उपादानकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिसे पूर्व होने वाली परिणतियोंमें पूर्वमें जो अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित रूपसे पूर्ववर्तित्व रूप सद्भूतकारणता बतलाई गई है वह क्रमशः अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित सद्भूत व्यवहारनयोंका विषय हो जानेसे वे अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित सद्भूतव्यवहारनय भी कथनमात्र नहीं हैं। एवं कार्यके प्रति उपादानकारणभूत वस्तुसे भिन्न वस्तुओंमें पूर्वमें जो अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित रूपसे यथायोग्य प्रेरक अथवा अप्रेरक रूपमें सहायक होने रूप असद्भूतव्यवहारकारणता बतलाई गई है वह क्रमशः अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनयोंका विषय हो जानेसे वे अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय भी कथनमात्र नहीं है। जैसे घटकार्यके प्रति उपादानकारणभूत मिट्टीमें विद्यमान घटकार्यरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत स्वतःसिद्ध योग्यतारूप नित्य निश्चयकारणता निश्चयनयका विषय निश्चित हो जानेसे जिस प्रकार वहाँ निश्चयनय कथनमात्र नहीं है उसी प्रकार उस घटकार्यके प्रति उपादानकारणभूत मिट्टीकी घटकार्यरूप परिणतिके पूर्व होनेके कारण कुशूल, कोश और स्थास परिणतियोंमें पूर्वमें क्रमशः जो अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित रूपसे पूर्ववर्तित्व रूप सद्भूतव्यवहारकारणता बतलाई गई है वह वहाँ क्रमशः अनुपचरित, उप-

चरित और उपचरितोपचरित सद्भूतव्यवहारनयोंका विषय निश्चित हो जानेसे वे अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित सद्भूतव्यवहारनय भी कथनमात्र नहीं हैं। एवं उसी घटकार्यके प्रति उपादानकारण रूप मिट्टीसे भिन्न कुम्भकार, चक्र और दण्ड रूप वस्तुओंमें पूर्वमें जो अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित रूपसे प्रेरक रूपमें सहायक होने रूप असद्भूतव्यवहारकारणता बतलाई गई है वह वहाँ क्रमशः अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहारनयोंका विषय निश्चित हो जानेसे वे अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहारनय भी कथनमात्र नहीं है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय तथा इनके क्रमशः विषयभूत सद्भूतव्यवहारकारणता और असद्भूतव्यवहारकारणताकी परम्परा उपचरितोचरितोपचरित आदिके रूपमें अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरितके आगे भी वहाँ तक मानी जा सकती है जहाँ तक सम्भव हो।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कार्यके प्रति नित्य निश्चयकारण तो कार्यरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत स्वतः सिद्ध योग्यता विशिष्ट उपादानकारणभूत वस्तु ही होती है व अनित्य निश्चयकारण उस नित्य निश्चयकारणभूत वस्तुकी कार्यभूत पर्यायसे पूर्ववर्ती पर्यायोंसे विशिष्ट वही उपादानकारणभूत वस्तु होती है। तथा उस नित्य निश्चयकारणभूत वस्तुकी कार्यभूत वस्तुसे पूर्ववर्ती वे पर्यायें पूर्वोक्त प्रकार अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित आदिके रूपमें सद्भूतव्यवहारकारण होती हैं। एवं कार्यके प्रति नित्य निश्चयकारणभूत वस्तुसे पृथक् वे वस्तुएँ अनुपचरित, उचपरित और उपचरितोपचरित आदिके रूपमें असद्भूतव्यवहारकारण होती हैं जो नित्य निश्चयकारणभूत वस्तुकी कार्यरूप पर्यायकी और उस कार्यरूप पर्यायसे पूर्ववर्ती पर्यायोंकी उत्पत्तिमें प्रेरक अथवा अप्रेरक रूपसे सहायक होती हैं। इनमेंसे नित्य निश्चयकारणको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा भूतार्थ कारण समझना चाहिए, क्योंकि नित्य निश्चयकारण कार्योत्पत्तिमें सद्भूतव्यवहारणकारणरूप उक्त पर्यायोंमें और कार्यभूत पर्यायमें भी प्रविष्ट रहता है। तथा कार्योत्पत्तिमें सद्भूतव्यवहारकारणभूत उक्त पर्यायोंको भी यद्यपि भूतार्थ कारण ही समझना चाहिए, क्योंकि वे पर्यायें नित्य निश्चयकारणभूत वस्तुकी ही पर्यायें हैं, परन्तु उन पर्यायोंका प्रवेश कार्यरूप परिणतिमें नहीं होता क्योंकि जैन शासनमें पूर्व-पूर्व पर्यायका विनाश होकर ही उत्तर-उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति मान्य की गई है। अतः उन पर्यायोंको कथंचित् अभूतार्थ भी समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त कार्यके प्रति नित्य निश्चयकारणभूत वस्तुसे पृथक् जो वस्तुएँ उन सद्भूत व्यवहारकारणभूत और कार्यभूत पर्यायोंकी उत्पत्तिमें प्रेरक अथवा अप्रेरक रूपसे नित्य निश्चयकारणभूत वस्तुको अपना सहयोग मात्र प्रदान करती हैं उन वस्तुओंको अभूतार्थ कारण समझना चाहिए।

इस तरह इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कार्योत्पत्तिके प्रति साधक रूपसे उपयोगी नित्य निश्चयकारणताको विषय करनेवाला निश्चयनय जिस प्रकार कथनमात्र नहीं है उसी प्रकार उस कार्योत्पत्तिके प्रति साधक रूपसे उपयोगी अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित आदि रूप सद्भूतव्यवहारकारणताको विषय करनेवाला अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित आदि रूप सद्भूतव्यवहारनय एवं कार्योत्पत्तिके प्रति साधक रूपसे उपयोगी अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित आदि रूप असद्भूतव्यवहारकारणताको विषय करने वाला अनुपचरित, उपचरित और उपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहारनय ये दोनों नय भी कथनमात्र नहीं हैं।

जैन शासनमें नयव्यवस्थाका आधार

जीवके विषयमें यह विचार किया जा सकता है कि वह यथाशक्ति पदार्थको जानता है, जाने हुए पदार्थका यथासम्भव विश्लेषण करता है और विश्लेषण करके उस पदार्थका अपनी इष्टसिद्धिके लिए उपयोग करता है। इतना ही नहीं, विश्लेषण करनेके आधारपर वह जीव अन्य जीवोंको भी पदार्थका ज्ञान कराता है। इस तरह जैन शासनमें पदार्थोंको जानने और जाने हुए पदार्थोंका विश्लेषण करनेके लिए मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलके भेदसे पाँच ज्ञानोंको मान्य किया गया है। इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चार ज्ञान यथाशक्ति पदार्थोंको जाननेके लिए उपयोगी हैं व श्रुतज्ञान जाने हुए पदार्थोंका विश्लेषण करनेके लिए उपयोगी है।

यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानता तो है, परन्तु वह उन जाने हुए पदार्थोंका विश्लेषण नहीं करता, क्योंकि उसमें पदार्थका विश्लेषण करनेमें समर्थ श्रुतज्ञान-शक्तिका अभाव पाया जाता है। यही कारण है कि वह दूसरे जीवोंके लिए उपदेश कर्ता नहीं है, अपितु मात्र भव्य जीवोंके भाग्यका निमित्त मिलनेपर वचनयोगके बलपर उसका उपदेश होता है और उसका वह उपदेश अनक्षरात्मक ओंकार जैसी ध्वनिके रूपमें होता है। उस ध्वनिका केवलज्ञानके प्रभावसे इतना अतिशय अवश्य है कि अनक्षरात्मक होते हुए भी उस ध्वनिके आधारपर सभामण्डलमें उपस्थित सभी जीव अपनी-अपनी योग्यताके अनुरूप पदार्थका ज्ञान कर लिया करते हैं। केवलज्ञानी जीवोंको छोड़कर मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीवोंमें यतः यथायोग्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थका विश्लेषण करनेमें समर्थ श्रुतज्ञानशक्ति पायी जाती है, अतः वे जीव यथायोग्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान द्वारा पदार्थका ज्ञान करके श्रुतज्ञान द्वारा इसका विश्लेषण भी किया करते हैं।

मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे मनःपर्यय और केवल ये दोनों ज्ञान सम्यक् ही होते हैं, अतः इनसे होनेवाला पदार्थज्ञान कभी मिथ्या नहीं होता। इनके अतिरिक्त मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान सम्यक् और मिथ्या दोनों प्रकारके होते हैं। इसलिये मतिज्ञान या अवधिज्ञानसे जो पदार्थज्ञान होता है वह सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी होता है। तथा पदार्थज्ञान यदि सम्यक् होता है तो जाने हुए पदार्थका श्रुतज्ञानसे विश्लेषण भी सम्यक् होता है और पदार्थज्ञान यदि मिथ्या होता है तो जाने हुए पदार्थका श्रुतज्ञानसे विश्लेषण भी मिथ्या होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका सम्यक्पना एक तो इन्द्रियों और मनके स्वस्थपनेके आधारपर होता है। दूसरे, मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें भी होता है। इसी तरह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका मिथ्यापना भी इन्द्रियों और मनके अस्वस्थपनेके आधारपर भी होता है व मोहनीयकर्मके उदयमें भी होता है। अवधिज्ञानका सम्यक्पना केवल मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय, या क्षयोपशममें होता है और मिथ्यापना केवल मोहनीयकर्मके उदयमें ही होता है, क्योंकि अवधिज्ञान इन्द्रियसापेक्ष नहीं होता।

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसे पदार्थका मात्र ज्ञान होता है। इन ज्ञानोंसे पदार्थका विश्लेषण नहीं होता। इस बातको इस तरह समझा जा सकता है कि एक मतिज्ञानी जीव नेत्रोंके सहयोगसे मतिज्ञान द्वारा खूँटीपर टंगी हुई मणिमालाका ज्ञान कर रहा है तो उस समय उसे खूंटी और मणिमालाके साथ मणिमालामें गुम्फित मणियोंका भी ज्ञान होता है। उन मणियोंके यथासम्भव गोल, त्रिकोण,

चतुष्कोण आदि आकारोंका तथा उनके यथासम्भव छोटे-मध्यम-बड़े परिमाणोंका भी ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त उन मणियोंके यथासम्भव लाल, हरे, पीले आदि रंगोंका भी ज्ञान होता है। एवं उस मणिमालामें मणिका कौन दाना कहाँ गुम्फित है उस स्थानका भी ज्ञान होता हैं। परन्तु वह जीव उस मतिज्ञानसे ऐसा विश्लेषण नहीं कर सकता है कि यह खूँटी है। यह मणिमाला है। इस मणिमालामें मणियोंकी संख्या अमुक परिमाणमें है। मणियोंके अमुक दाने गोल हैं, अमुक दानें त्रिकोण हैं और अमुक दानें चतुष्कोण या अन्य अमुक आकारके हैं। अमुक दानें छोटे हैं, अमुक दानें मध्यम हैं और अमुक दानें बड़े हैं। अमुक दानें लाल हैं, अमुक दानें हरे हैं और अमुक दानें पीले अथवा अन्य अमुक रंगके हैं। तथा वह उस मतिज्ञानसे यह भी विश्लेषण नहीं कर पाता है कि अमुक दाना उस मणिमालामें अमुक स्थानपर गुम्फित है, अमुक दाना अमुक स्थानपर गुम्फित है आदि। यही स्थिति अन्य इन्द्रियोंके सहयोगसे होनेवाले मतिज्ञानके विषयमें भी जान लेना चाहिए। एवं अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सभी प्रकारके मतिज्ञानोंसे व अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानसे, साथ ही केवलज्ञानसे भी पदार्थको जाना तो जा सकता है, परन्तु उस जाने हुए पदार्थका उन ज्ञानोंसे विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि उन ज्ञानों द्वारा जाने हुए पदार्थका विश्लेषण उसी ज्ञानसे हो सकता है जो वितर्कात्मक हो। परन्तु मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन ज्ञानोंमें वितर्कात्मकताका अभाव ही रहा करता है। केवल श्रुतज्ञान ही वितर्कात्मक होता है। जैसा कि तत्वार्थसूत्रके "वितर्कः श्रुतम्" (९-४३) सूत्रसे ज्ञात होता है। एक बात यह भी है कि यदि इन सभी ज्ञानोंको वितर्कात्मक माना जाये तो श्रुतज्ञानकी निरर्थकताका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, जबकि जैनागममें श्रुतज्ञानका मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन चारोंसे पृथक् अस्तित्व मान्य किया गया है। तत्वार्थसूत्रके "श्रुतं मतिपूर्वम्" (१-२०) सूत्रसे श्रुतज्ञानका मतिज्ञानसे पृथक् ही अस्तित्व सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि इस सूत्रका अर्थ यह है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, परन्तु इसका आशय यह नहीं ग्रहण करना चाहिए कि श्रुतज्ञान मात्र मतिपूर्वक ही होता है, क्योंकि सूत्रका आशय यही है कि जो श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है वह दो, अनेक और द्वादश भेदवाला है। फलतः ऐसा माननेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानके समान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान पूर्वक भी होता है।

यहाँ पर मैंने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके विषयमें जो उपर्युक्त विवेचन किया है उसपर विद्वानोंको विचार करना चाहिए, क्योंकि यह विवेचन यदि उनकी समझमें आ जाता है तो सोनगढ़की सम्पूर्ण मान्यताकी निरर्थकता भी उनकी समझमें आ जायेगी।

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान द्वारा जीवोंको जो पदार्थज्ञान होता है वह विश्लेषणात्मक न होनेसे अखण्डात्मक ही होता है, इसलिए इन ज्ञानों द्वारा होनेवाले पदार्थज्ञानोंमें अंशोंकी परिकल्पना संभव नहीं है। फलतः इनमें नयव्यवस्था नहीं बन सकती है, क्योंकि नयको प्रमाणका अंश माना गया है। यतः श्रुतप्रमाण वितर्कात्मक होनेसे मति आदि ज्ञानों द्वारा जाने हुए पदार्थका विश्लेषण करता है, अतः उस श्रुतज्ञानको सांश मानना अनिवार्य हो जाता है। इस तरह श्रुतज्ञानमें नयव्यवस्था बन जाती है और इसके आधारपर यह कहा जा सकता है कि मति आदि ज्ञानोंसे जाने हुए पदार्थके एक-एक अंशका श्रुतज्ञान द्वारा विश्लेषण किया जाना तो नयज्ञान है और सभी अंशोंका सामूहिक विश्लेषण उसी श्रुतज्ञान द्वारा किया जाना प्रमाणज्ञान है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव श्रुतज्ञानके द्वारा पदार्थका विश्लेषण करके दूसरे जीवोंको पदार्थका ज्ञान कराता है। इसलिए अब यहाँ यह बतलाया जाता है कि एक जीव दूसरे जीवको पदार्थका ज्ञान वचनों द्वारा ही करा सकता है। यतः पदार्थ भी सखण्ड होता है और वचन भी सखण्ड होता है अतः वचनमें भी नयव्यवस्था बन जाती है।

सर्वप्रथम वचनकी सखण्डता इस प्रकार सिद्ध होती है कि अक्षरसे लेकर महामहावाक्य तक वचनके अनेक भेद हैं। उनमेंसे अक्षरोंका समूह शब्द कहलाता है, यथायोग्य शब्दोंका समूह पद कहलाता है, पदोंका समूह वाक्य कहलाता है, वाक्योंका समूह महावाक्य कहलाता है और महावाक्योंका समूह महामहावाक्य कहलाता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार महामहावाक्योंके समूह रूप भी वचन हुआ करते हैं। जैसे तत्वार्थसूत्र मोक्षमार्गका प्रतिपादक ग्रन्थ है। उसके दस अध्याय हैं तथा एक-एक अध्याय मोक्षमार्गके एक-एक अंशका प्रतिपादन करता है इस तरह सम्पूर्ण तत्वार्थसूत्र मोक्षमार्गके सभी अंशोंका सामूहिक प्रतिपादन करता है, अतः सम्पूर्ण तत्वार्थसूत्र मोक्षमार्गका प्रतिपादक होनेसे प्रमाण-वचन है और एक-एक अध्याय एक-एक अंशका प्रतिपादक होनेसे नयवचन हैं।

इसी प्रकार पदार्थमें अनेक अंश पाये जाते हैं। जैसे कि पुद्गलमें रूप, रस, गंध और स्पर्श चार गुण पाये जाते हैं। इनमें रूपके पाँच, रसके पाँच, गंधके दो और स्पर्शके आठ भेद होते हैं। इस तरह पुद्गलके इन सभी गुणोंका सामूहिक प्रतिपादन करना प्रमाणवचन है और उसके एक-एक गुणका प्रतिपादन करना नयवचन हैं।

इसके अतिरिक्त पदार्थमें परस्पर विरोधी दो धर्म भी पाये जाते हैं। जैसे पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। इस तरह पदार्थको नित्यानित्यात्मक कहना प्रमाणवचन है व नित्यता और अनित्यताका उसके अंशके रूपमें प्रतिपादन करना नयवचन है।

ये प्रमाणवचन और नयवचन दोनों ही सम्यक् हैं। परन्तु पदार्थको अनित्यनिरपेक्ष केवल नित्य कहना या नित्यनिरपेक्ष केवल अनित्य कहना अप्रमाण या प्रमाणाभासरूप वचन हैं।

इसी तरह जीवके व्यवहारधर्मको जीवका निश्चयधर्म कहना नयाभासवचन है। जैसे माणवक प्रयोजन और निमित्त वशात् उपचरित तो है, परन्तु इस आधारपर उसे वास्तविक शेर मान लेना नयाभास है। यह उदाहरण व्यवहारधर्मको निश्चयधर्म कहनेका उदाहरण है। तथा जीवके निश्चयधर्मको व्यवहारधर्म कहना यह भी नयाभासवचन है। जैसे जीवका चैतन्य निश्चयधर्म है। परन्तु उस चैतन्यकी पंचभूतोंसे उत्पत्ति कहना नयाभासवचन है। यह उदाहरण निश्चयधर्मको व्यवहारधर्म कहनेका उदाहरण है। तत्त्वार्थसूत्रके "प्रमाणनयैरधिगमः" (१-६) सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि-टीकामें जो "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः" यह वचन निर्दिष्ट किया गया है उससे प्रमाण और उसके अंशभूत नयका स्वरूप स्पष्ट समझमें आ जाता है तथा नयव्यवस्थाके आधारका भी ज्ञान हो जाता है।

नयव्यवस्थाको मान्य करना अनिवार्य है

यतः पदार्थके अनेक धर्मों तथा परस्पर विरोधी दो धर्मोका सखण्ड श्रुतज्ञानद्वारा ज्ञान व सखण्ड वचनद्वारा प्रतिपादन होता है, अतः उस श्रुतज्ञानमें एवं उस वचनमें नयव्यवस्थाको मान्य करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी नयव्यवस्थाका व्याख्यान वस्तुविज्ञान, लौकिकजीवन और आध्यात्मिकजीवन इन तीन दृष्टियोंसे पृथक्-पृथक् निश्चित होता है।

वस्तुविज्ञानकी दृष्टिसे नयव्यवस्थाका रूप

वस्तुविज्ञानकी दृष्टिसे जैन शासनमें पदार्थको तत्त्वार्थसूत्रके "सद् द्रव्यलक्षणम्" (५-२९) व "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (५-३०) इन दो सूत्रोंद्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक मान्य करके "अर्पितानर्पितसिद्धेः" (५-३२) सूत्रद्वारा उसके ज्ञान व प्रतिपादनकी व्यवस्थाको विवक्षाधीन बतलाया गया है। इससे वस्तुविज्ञानकी दृष्टिसे नयव्यवस्थाका रूप यह बनता है कि पदार्थमें जो ध्रौव्यांश है वह द्रव्यांश है और जो उत्पादांश और व्ययांश हैं वे पर्यायांश हैं। इनमेंसे द्रव्यांशका ज्ञान व प्रतिपादन तो द्रव्यार्थिकनय है व पर्यायांशका ज्ञान व प्रतिपादन पर्यायार्थिकनय है।

लोकजीवनमें नयव्यवस्थाका रूप

लोकजीवनकी दृष्टिसे नयव्यवस्थाका रूप इस प्रकार बनता है कि वैद्य एक ही वस्तुका एक रोगीके लिए उपभोग करनेका आदेश देता है व अन्य रोगीके लिए उस वस्तुका उपभोग न करनेका आदेश देता है। बाजारमें जिस गालीको अनुचित माना जाता है वह गाली विवाहमें यदि गानेके रूपमें प्रयुक्त न की जाये अर्थात् गाली न गायी जाये तो मेहमान अपना अनादर मानता है। एक ही थानके कपड़ेसे एक व्यक्ति दर्जीको कोटनिर्माणका आदेश देता है, दूसरा व्यक्ति उस दर्जीको उस कपड़ेसे कमीज, कुर्ता आदिके निर्माणका आदेश देता है। ठंड ऋतुमें पहिननेके कपड़े अन्य होते हैं और ग्रीष्म ऋतुमें पहिननेके कपड़े अन्य होते हैं। इत्यादि उदाहरणोंसे जाना जाता है कि लोकजीवन हानि-लाभ, औचित्य-अनौचित्य एवं आवश्यकता-अनावश्यकता आदिरूप नयव्यवस्थाके विना सुचारू रूपसे नहीं चल सकता है।

आध्यात्मिक जीवनमें नयव्यवस्थाका रूप

अध्यात्मका संबंध जीवकी संसारसे मुक्तिके साथ है। इस बातको ध्यानमें रखकर जैनागममें नयव्यवस्थाको स्थान दिया गया है, जो निम्नप्रकार है—

यद्यपि जीवका स्वभाव स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्ड है, परन्तु पुद्गलकर्मोंके सहयोगसे उसका वह स्वभाव सादि, सान्त, पराश्रित और खण्ड-खण्ड हो रहा है अर्थात् जीवका स्वभाव अविकृत और अविनाशी होकर भी पुद्गलकर्मके संयोगसे विकृत और विनाशशील हो रहा है। जैन शासनमें जीवकी इन दोनों प्रकारकी दशाओंमेंसे स्वभावदशाको तो निश्चय, यथार्थ, मुख्य, सत्यार्थ, स्वाश्रित आदि नामोंसे पुकारा गया है और स्वभावदशासे विपरीत विभावदशाको व्यवहार, अयथार्थ, उपचरित, असत्यार्थ, पराश्रित आदि नामोंसे पुकारा गया है। इनमें निश्चय आदिरूप दशाका ज्ञान व प्रतिपादन निश्चयनय है एवं व्यवहार आदिरूप दशाका ज्ञान व प्रतिपादन व्यवहारनय है।

जो जीव पुद्गलकर्मसंयोगजन्य विभावदशासे मुक्त होना चाहता है उसे जैन शासनमें यह उपदेश दिया गया है कि वह सर्वप्रथम विभावदशाके मार्गको त्यागकर स्वभावदशाके मार्गको ग्रहण करे। इसके लिए उसे दो बातें आवश्यक बतलायीं गई हैं—एक मुक्ति और दूसरी मुक्तिका मार्ग। इनमेंसे मुक्ति तो जीवका लक्ष्य होता है और जिसपर आरूढ़ होनेसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। इस मोक्षमार्गके भी दो रूप होते हैं—एक तो यह कि जिस मार्गसे जीव अनादिकालसे संसारका निर्माण करता आ रहा है उसका धीरे-धीरे क्रमशः त्याग करे और दूसरा यह कि जिस मार्गसे उसे संसारसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है उसे ग्रहण करे। इनमेंसे मोक्ष पानेके साक्षात् मार्गको तो मोक्षका निश्चयमार्ग, यथार्थमार्ग, मुख्यमार्ग, सत्यार्थमार्ग

एवं स्वाश्रितमार्ग आदि नामोंसे पुकारा जाता है और संसारके मार्गके त्यागको व्यवहारमोक्षमार्ग, अयथार्थ-मोक्षमार्ग, उपचरित मोक्षमार्ग, असत्यार्थमोक्षमार्ग एवं पराश्रितमोक्षमार्ग आदि नामोंसे कहा जाता है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि संसारके मार्गका त्याग किये बिना मोक्षके मार्गपर आरूढ़ होना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह स्वभाविक बात. है कि जिस मार्गपर जीव चल रहा है उस मार्गसे वह जीव जब तक विमुख नहीं होगा तब तक वह उससे विपरीत मार्गके उन्मुख नहीं हो सकता है। जैसे जिस जीवका लक्ष्य पश्चिमकी ओर है और वह यदि पश्चिमकी ओर चल रहा है तो यह विचारणीय बात नहीं है, परन्तु जिसका लक्ष्य पूर्वकी ओर है और वह पश्चिमकी ओर चल रहा है तो उसे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए सर्वप्रथम पश्चिमकी ओर होनेवाले गमनका त्याग करना होगा, क्योंकि जब तक वह पश्चिमकी ओर गमन करना नहीं छोड़ेगा तब तक वह पूर्वकी ओर गमन नहीं कर सकता है। इसी तरह जिस जीवका लक्ष्य संसार है वह यदि संसारके मार्गपर चल रहा है तो यह विचारणीय बात नहीं है, परन्तु जिसका लक्ष्य मोक्ष बन गया है अर्थात् जो मुमुक्षु बन गया है उसे अपना लक्ष्य प्राप्त करनेके लिए सर्वप्रथम संसारके मार्गका त्याग करना अनिवार्य है क्योंकि संसारके मार्गका त्याग किये बिना मोक्षके मार्गको ग्रहण करना संभव नहीं है। इससे यह बात निर्णीत होती है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति यद्यपि निश्चयमोक्षमार्गपर आरूढ़ होनेपर ही होती है, परन्तु वह निश्चयमोक्षमार्गपर तभी आरूढ़ हो सकता है जब वह संसारमार्गका त्याग करेगा। जैन शासनमें निश्चयमोक्षमार्गको जो निश्चयमोक्षमार्ग कहा गया है वह इसलिये कहा गया है कि उसपर आरूढ़ होनेपर ही मोक्षको प्राप्ति होती है परन्तु उस निश्चयमोक्षमार्गपर आरूढ़ होनेके लिए संसारमार्गका त्याग आवश्यक है उसे ही व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं, क्योंकि संसारके मार्गका त्याग किये बिना मोक्षकी प्राप्तिमें साक्षात् कारणभूत निश्चमोक्षमार्गकी प्राप्ति संभव नहीं है। अतः व्यवहारसे या उपचारसे संसारके मार्गके त्यागको भी मोक्षमार्ग कहा गया है।

उत्तरपक्ष यदि आगमकी इस दृष्टिको समझनेकी चेष्टा करता तो उसे पूर्वपक्षकी "व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है" इस मान्यतामें विवादका अवसर ही नहीं आता।

इस प्रकार अध्यात्ममें भी निश्चयमोक्षमार्गका ज्ञान करना व प्रतिपादन करना निश्चयनय है और व्यवहारमोक्षमार्गका ज्ञान करना व प्रतिपादन करना व्यवहारनय है। इस विवेचनसे यह बात भी निर्णीत हो जाती है कि न तो व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग या मोक्षकी प्राप्तिमें अकिंचितकर है और न व्यवहारनय कथंनमात्र है।

आगम द्वारा व्यवहारनयकी उपयोगिताकी पुष्टि

समयसार गाथा १२ की आत्मख्याति टीकामें जैनागमकी एक गाथाका उल्लेख करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने व्यवहारनयको भी उतना ही महत्व दिया है जितना निश्चयनयको। वह गाथा निम्न प्रकार है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थ—यदि जिनमतका प्रवर्तन इष्ट है तो निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंमेंसे किसीका भी परित्याग न करो, क्योंकि व्यवहारनयका त्याग कर देनेसे तीर्थ (मोक्षमार्ग) की प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी और निश्चयनयका त्याग कर देनेसे आत्मतत्व ही नष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको अपने अस्तित्व, स्वरूप और पतन तथा उत्थान आदिको समझनेकी आवश्यकता है तथा पतनके करण क्या हैं और उत्थानके कारण क्या हैं, इसको भी समझना आवश्यक है। इनमेंसे अपने अस्तित्व, स्वरूप, पतन और उत्थान आदिको समझना तो निश्चयनय है और पतनके कारण क्या हैं और उत्थानके कारण क्या हैं, इस बातको समझना व्यवहारनय है। अब यदि निश्चयनयकी उपेक्षा की गई तो तत्त्व नष्ट हो जानेसे धर्मतीर्थका आधार ही समाप्त हो जायेगा और यदि व्यवहारनयकी उपेक्षा की गई तो जीवके उत्थानमें कारणभूत उपर्युक्त व्यवहार और निश्चय धर्मतीर्थ (मोक्षमार्ग) की समाप्ति हो जायेगी। इसलिये निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंको समझने और ग्रहण करनेकी आवश्यकता है।

आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्धयुपाय पद्य ४ में कहा है कि वे महापुरुष ही धर्मका प्रवर्तन करने में सक्षम होते हैं जिन्हें निश्चयनयकी मुख्यरूपता और व्यवहारनयकी उपचरितरूपताका यथार्थ ज्ञान हो तथा वहींपर पद्य ८ में आचार्य महोदयने कहा है कि जिस व्यक्तिने निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोंको ठीक तरहसे जानकर दोनोंमें माध्यस्थ्यभाव अर्थात् दोनोंके समान महत्वको समझा है वही देशना (उपदेश) के सम्पूर्ण फलको प्राप्त करता है।

मोक्षमार्गमें व्यवहारधर्मका महत्व

आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्धयुपायमें ही पद्य ३९ से पद्य ४८ तक व्यवहार अहिंसाका विवेचन करते हुए पद्य ४९ में यद्यपि यह बतलाया है कि जीवकी परवस्तुके कारण अणुमात्र भी हिंसा नहीं होती तथापि परिणामविशुद्धिके लिए हिंसाके आयतनोंका त्याग करना उचित है। इसके आगे पद्य ५० में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जिसने निश्चयको समझा नहीं और यह मान लिया कि जीवको परवस्तुके कारण अणुमात्र भी हिंसा नहीं होती वह जीव मूर्ख है, क्योंकि वह बाह्य क्रियाओंमें प्रमादी होकर बाह्य आचरणको नष्ट करता है।

इससे यह बात अच्छी तरह निर्णीत हो जाती है कि निश्चयधर्मकी प्राप्तिमें व्यवहारधर्मका अनुपेक्षणीय महत्व है। इति।

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
4542
3-8-99
नरिया, वाराणसी-5

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाका शुद्धिपत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
८	२	एव साधकत्वात्	एव साक्षात् साधकत्वात्
१२	२५	११५	११६
१३	२८	कम्मा हुंति	कम्माइ हुंति
२१	२४	स्नेह न	स्नेहन
२२	२९	उपादान सहकारी रूपमें	उपादानके सहकारी रूपमें
३०	२७	कार्मण वर्गणाऐं	कार्माण वर्गणाऐं
३२	११	प्रतीत नहीं	नहीं प्रतीत
३५	२४	करता है	करता रहता है
४१	८	होने वाले	होने वाला
४२	१२	[या]	× × ×
४२	२०	अपनी	हमारी
५०	१२	ज्ञेय	ज्ञेय है
५२	२४	रागवृद्धि	रागबुद्धि
६३	१३	आनेको	आगेको
७३	२	परस्प	परभावं परस्प
७३	५	दूसरेके कहता है	दूसरेके भावको दूसरेका कहता है
८०	६	जीवके पगका	जीवके उसके पगका
८८	३२	होती है	होती ही है
९३	२५	वह भी	वह सभी
९५	३	भव्वजीवाणं ।।२।।	भव्व जीवाणं ।।२५।।
९८	४	होइ देउं	होइ हेउं
९९	१८	सामान्येन	स सामान्येन
१०९	१०	गुणस्थानमें	गुणस्थानोंमें
११२	३४	शुभ और अशुभ	शुभ और शुद्ध
११३	२९	तब	तब पहलेके
११७	१८	अवश्य ही होते हैं	अवश्य ही प्राप्त होते हैं
१२२	३४	लिंगाणि ।।७५।।	लिंगाणि ।।८५।।
१२३	२०	कम्चिदु	कश्चिदु
१३१	३०	प्रतपनं	प्रतपनं विजयनं
१३२	१४	अतः	यतः
१३५	२६	(पृष्ठ ३५)	× × ×
१३६	३	गाथाओंमें	गाथाओंमें भी
१३८	२२	जानता है	जानता है, देखता है
१३९	२२	होनेसे	× × ×
१५५	२३	चिद्घ्रन स्वभाव	चिद्घन स्वभाव

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षाका शुद्धिपत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१	५	१—प्रश्नोत्तरकी	१—प्रश्नोत्तर १ की
३	१	अनुच्छेदमें	अनुच्छेद १ में
३	२५	कर्तृ-कर्स	कर्तृ-कर्म
४	२	उक्त-नैमित्तिक	उक्त निमित्त-नैमित्तिक
४	१३	भूतार्थ मानता है। इस पर	भूतार्थ मानता है, परन्तु प्रश्नके विषयसे भिन्न होनेके कारण इसपर
५	१९	यथार्थ कारण और	अयथार्थ कारण और
७	१२	तृतीय दौरके अनुच्छेदमें	तृतीय दौरके अनुच्छेद १ में
७	१६	तृतीय दौरके अनुच्छेदमें	तृतीय दौरके अनुच्छेद २ में
९	२४	अन्त	अन्य
१५	२५	वोपपद्यन्ते	वोपपद्येते
१९	१२	उपादानमें विपरीत	उपादानमें योग्यताके विपरीत
१९	२२	अर्थात् नहीं कर सकती है	अर्थात् नहीं कर सकता है,
२०	१०	अन्निवार्यता	अनिवार्यता
२०	१९	उसका	उनका
२०	२४	परिणतिमें	परिणति
२१	३२	उसमें	उसने
२२	१३	उसे अनित्य	उसे भी अनित्य
२७	१४	स्वनिमित्तिक	स्वप्रत्यय
२८	२३	साधक मानना चाहिये।	साधक मानना चाहिए। तथापि जहाँ पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें कारण मानना अनिवार्य है वहाँ पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायमें पूर्वोत्तरभावरूप कार्यकारण मानना ही उपयुक्त है। उत्पाद्योत्पादकभावरूप कार्य-कारणभाव नहीं।
२८	३०	उत्पत्तिमें नियामक	उत्पत्तिमें सर्वत्र नियामक
३१	१	अनन्तर	अनन्तर ही
३२	८	जो मोहित किया जाता है 'या' जो मोहित होता है।'	'जो मोहित किया जाता है' या 'जो मोहित होता है' वह मोहनीय है।
३२	१०	कर्मके विषयमें	कर्मकारकके विषयमें
३४	१९	द्रव्यकर्मोदयको	उत्तरपक्षका द्रव्यकर्मोदयको
३५	८	गाथा ८०	गाथा ८७

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३५	२४	पाठनक्रियारूप	पठनक्रियारूप
४०	११	उत्तरपक्षके एक	उत्तरपक्षका एक
४४	१	उनका	उसका
४५	१	हो जाते हैं	होते हैं।
४७	१	दृष्टिसे	इसी दृष्टिसे
४७	६	उससे	उसमें
४९	१२	अतः	यतः
४९	३०	योग्यताके होनेपर	योग्यताके अनुरूप होनेपर
५१	९	अनिवार्य रूपसे होती है	अनिवार्य रूपसे सहायक नियमसे होती है।
५९	२६	यह ही	यह भी
६२	१२	गाथा १०८	गाथा १०७
६४	७	सहायक न होने रूपसे	सहायक होने रूपसे
६४	३३	बनाकर	बनाकर)
६४	३३	त्रिकामेंल	त्रिकालमें
६५	६	हम मानते हैं	पूर्वपक्ष मानता है
६५	२४	होती है।	होती है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—
६५	२५	हमारे	पूर्वपक्षके
६६	२६	निश्चयनयमें	निश्चयनयसे
६८	३२	अशुद्ध निश्चयनयसे	निश्चयनयसे
७०	१	यह पुद्गल	यह कि पुद्गल
७०	६, ९	शुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक	निश्चयनयसे पौद्गलिक
७०	१५	रागादिका	रागादिको
७०	१६	शुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक	निश्चयनयसे पौद्गलिक
७०	१८	शुद्ध निश्चयनयसे पौद्गलिक	निश्चयनयसे पौद्गलिक
७१	३३	अपने ऊपर	अपनी मान्यताके ऊपर
७२	२५	संघान	संयोग
८१	५	और किसीमें	और किसीने
८१	२९	प्रथम भागपर उत्तरपक्षने	प्रथम भागपर विचार करते हुए उत्तरपक्षने
८१	२९	त० च० पृ० ४५-४६ तक	त० च० पृ० ४५-४६ पर
८२	५	(५-३८)	(५-३३)
८३	१०	नियतिनयका	अनियतिनयका
८३	२५	(५-३८)	(५-३२)
८५	२६	अपितु	परन्तु
८५	२९	(त० सू० ५-२८)	(त० सू० ५-२९)

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
८६	११	त० च० पृ० ४८	त० च० पृ० ४७
८९	१७	अपरपक्षने" सभी	अपरपक्षने "सभी
८९	२०	क्योंकि न हमारी	क्योंकि न पूर्वपक्षकी
८९	२६	हमारे इस कथनपर	पूर्वपक्षके इस कथनपर
९०	२७	समझमें आ जाती ९ और	समझमें आ जाती और
९०	३३	"आपने लिखा है कि"	"आपने लिखा है कि
९१	१	निश्चयनयसे नहीं "सर्वत्र	निश्चयनयसे नहीं" सर्वत्र
९१	२४	उसे	× ×
९५	१२	हमारे" दो द्रव्योंकी	हमारे "दो द्रव्योंकी
९६	३२	कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ" करता है	कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ" मान्य करता है
९७	९	स्वीकार किया गया है।	स्वीकार किया गया है।[१]
९७	२१	यथार्थ—	अयथार्थ—
९८	९	घटपर्याय या	घटपर्यायसे
९८	२५	उनमें	उसमें
९८	२८	और असद्भूत	असद्भूत
९९	७	सामग्रीका	सामग्रीको
९९	२६	अतः इस प्रकार	अतः जिस प्रकार
११२	१५	सद्भूतव्यवहारनयका और	सद्भूतव्यवहारनयका विषय है और
११३	११	लिखा है "कि परन्तु	लिखा है कि "परन्तु
१२०	१४	जो वस्तु कार्यरूप	अर्थात् जो वस्तु कार्यरूप
१२०	२०	कहा जाता है ?	कहाँ आता है ?
१२२	१३	सिद्ध करते हुए	सिद्धि करते हुए
१२५	२७	निश्चयनयका नहीं। प्रकट है	निश्चयनयका नहीं, प्रकट है
१२५	२८	यह चिन्त्य है।	× ×
१२५	३३	किया जाना कल्पनारोपित	किया जाना व्यवहारनयका विषय होनेपर भी कल्पनारोपित
१२५	३४	(बाह्य सामग्रीमें)	बाह्य सामग्रीमें
१२५	३४	उपादानकी सहकारिता एवं	उपादानकी सहकारिता है एवं
१२६	११	मान लेनेमें न आगमविरोध है	मान लेनेमें निमित्तताकी व्यवहारनयविषयताके साथ न आगमविरोध है
१२६	१२	अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें	अपना उपर्युक्त वक्तव्य
१२६	१५	वास्तविक मानता	वास्तविक मानता है
१२६	१६	यथार्थकारण या यथार्थकर्ता नहीं मानता	यथार्थकारण या यथार्थकर्ता नहीं मानता है अपितु अयथार्थकारण और अयथार्थकर्ता (उपचरितकर्ता) मानता है

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१२७	५	उत्तरपक्षका यह कथन ठीक नही हैं	परन्तु उत्तरपक्षका यह कथन ठीक नहीं है
१२८	२	दोनोंको समानरूपसे	दोनोंको अपने-अपने रूपसे
१२८	३	इस अपेक्षापर	इस अपेक्षासे
१३०	३१	मैं इसी प्रश्नोत्तरके	परन्तु मैं इसी प्रश्नोत्तरके
१३३	१८	निमित्तकारण	निमित्तकारणको
१३३	२२	उसमें	उनमें
१३४	२५	इसं विगयको	इस विषयको
१३७	२	उसे पूर्वोक्त प्रकारसे प्रेरक और उदासीन (अप्रेरक) दो रूपमें	उस कार्यकारिताको पूर्वोक्त प्रकारकी प्रेरकता और अप्रेरकता (उदासीनता) के रूपमें मान्य करते हुए निमित्तके प्रेरक निमित्त और अप्रेरक (उदासीन) निमित्त ये दो भेद प्रयोगभेदके साथ कार्यभेदके आधारपर
१३८	५	इतना ज्ञातव्य	इतना अवश्य ज्ञातव्य
१३९	२	जो महत्त्व कपड़ेका है वही और उतना	जितना महत्त्व कपड़ेका है उतना
१४०	१४	होती है	होता है
१४३	५	अन्य-अन्य रूप दर्जी	अन्य-अन्यरूपताको प्राप्त दर्जी
१४३	२१	व्यंजनपर्यायोंसे	व्यंजनपयायें
१४५	३२	परन्तु	× ×
१४६	१९	अतः	यतः
१४७	८	कार्याव्यवहित पर्यायकी	कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायकी
१५२	२०	ग्रहण	ग्राह्य
१५५	६	लिखा है	लिया है
१५९	३१	छपक	क्षपक
१६५	१७	पक्षमें	फेरमें
१६६	९	एक साथ	इसके साथ
१६७	३२	पूर्वपक्षकी	उस पक्षकी
१६८	३	"अपने रूप" ही है "इस कथनकी	"अपने रूप" ही है" इस कथनकी
१६८	४	निदिष्ट" इस विषयमें	निर्दिष्ट "इस विषयमें
१६८	१७	कार्यरूप	कर्मरूप
१७०	९	उसका	उत्तरपक्षका
१७०	१०	गलत है।	गलत है, क्योंकि
१७०	११	उत्पादादिको	इसी तरह उत्पादादिको

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१७०	११	मान्यताकी	मान्यताको उत्तरपक्षका
१७१	१	क्रियामें ही	क्रियामें
१७१	३२	स्वपप्रत्यय	स्वपरप्रत्यय
१७२	१२	इस रूपमें	इस रूपमें परमार्थभूत न होकर भी एक द्रव्यकी क्रियामें दूसरा द्रव्य सहायक होता है इस रूपमें
१७३	२१	योग्यता	योग्यताकी अनुरूपता
१७३	२५	अपरपक्षका	उत्तरपक्षका
१७४	२९	योग्यता' ही	योग्यताकी अनुरूपता ही
१७४	३१	ज्ञात होता है	यही ज्ञात होता है
१७५	६	जिसे	जिससे
१७५	९	सिद्ध करता है	सिद्ध करना है
१७५	१६	शक्ति	शक्तिको
१७५	२५	अर्थात्	× × ×
१७६	८	दिया जाता है	दिया है
१७७	१३	(स्वतःसिद्ध)	× × ×
१७८	१०	पुद्गलका कर्मरूप ही	पुद्गलका ही कर्मरूप
१८२	२३	स्वरूप	स्व-रूप
१८५	२५	कुछ करना	करना
१८६	१४	कुछ करना	करता
१८९	२१	यथार्थ कारण	अयथार्थ कारण
१९०	२६	और पुद्गल द्रव्यकी	और वह पुद्गल द्रव्यकी
१९१	१२	क्रियारूप परिणाम	क्रियापरिणाम
१९२	३५	जाता है	हो जाता है
१९७	१८	पदको	पद्यको
२०१	३२	अवलम्बन तो लेते हैं	अवलम्बन लेते हैं
२०१	३४	भाववती शक्तिका	भाववती या क्रियावती शक्तिका
२०२	१	शक्तिका मानसिक, वाचनिक	शक्तिका वाचनिक
२०२	२२	सहयोगसे होनेवाली जीवकी	सहयोगसे जीवकी
२०४	२६	भानवती	भाववती
२०५	२०	शरीर	शरीर और
२०५	२५	सामान्य समीक्षाके	सामान्य समीक्षाके तथा
२०५	२६	भूतका	भूलका
२०८	२९	सम्यमिथ्यादर्शन और निश्चय-सम्यग्दिर्शन	सम्यग्मिथ्यादर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शन

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२०९	२९	गुरुको हितकर	गुरुको अहितकर
२१०	१०	अशिक्तवश	अशक्तिवश
२११	२१	परिणमन हैं	यथासंभव मानसिक, वाचनिक या कायिक परिणमन हैं
२११	२२	व्यवहार धर्म	व्यवहारधर्म और व्यवहार अधर्म
२१६	१२	हो जाता कि	हो जाता है कि
२१७	५	कहना ही	मान्य करना ही
२२३	४	(त० च० पृ० ७९)	(त० च० पृ० ८१)
२२४	१०	कि परमभावग्राहो	कि 'परमभावग्राही
२२४	११	तद्भूत व्यवहार और ससद्भूत	ससद्भूत व्यवहार और असद्भूत
२२४	१२	लक्षण है,	लक्षण है,'
२२४	२९	पूर्वपक्ष इसलिए	पूर्वपक्ष भी अयथार्थ कारण मानता है, परन्तु वह इसलिये
२२५	१	यह प्रश्नोत्तर	यह बात प्रश्नोत्तर
२२५	२०	दृष्टि रूपमें	दृष्ट रूपमें
२२५	२७	व्यवहारके	व्यवहारसे
२२६	२५	तो यह	सो यह
२२७	१७	प्राप्त न	प्राप्त
२२८	१	प्रस्तुत	प्रत्युत
२२८	११	निमित्त हुई तो	निमित्त हुईं" सो
२३१	२४	उसकी	उसको
२३२	२३	किया करता है	क्रिया करता है
२३२	२३	अध्यापन किया करता है तो	अध्यापन क्रिया करता है सो
२३२	२५	किया करता है	क्रिया करता है
२३३	१०	त० च० ९३ पर	त० च० पृ० ८३ पर
२३३	१९	बनी	बन
२३५	१७	संसारवृद्धि	संसारवृद्धिका
२३७	३०	प्रतिक्रिया	प्रक्रिया
२४४	१५	पदमें आये 'सुह' शब्दसे	पदसे
२४४	२४	बद्ध कर्मोंके संवर	कर्मोंके संवर
२४४	२८	प्रवृत्तिके रूपमें	प्रवृत्तिके रूपमें व्यवहारधर्म
२६६	१	अदया	अदयारूप
२६६	१७	उसे	× × ×
२७४	१९	सर्वापरति	सर्वविरति

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२७५	७	भावती	भाववती
२७५	२५	आधारके	आचारके
२७६	२१	चतुर्थदश	चतुर्दश
२७७	२४	चतुर्थदश	चतुर्दश
२७७	२५	चतुर्थदश	चतुर्दश
२७७	३१	निश्चयधर्मका पूर्णतः	निश्चयधर्मकी पूर्णता
२७८	२२	(तटस्थ)	(तटस्थता)
२८०	२५	दर्शनचेतनाके	ज्ञानचेतनाके
२८१	२३	वह	वह भी
२८३	२६	मोक्षमार्गकी	मोक्षमार्ग मोक्षकी
२८४	२१	प्रथम	× × ×
२८६	२८	यदि	कि यदि
२८७	२१	जबतक	जबतक जीव
२९०	२१	भव्य और	अभव्य और
२९०	३०	परिणामस्वरूप हृदय	परिणमनके रूपमें हृदय
२९०	२४	परिणामस्वरूप मन	परिणमनके रूपमें मन
३००	२४	जीव	जीवमें
३०१	११	मिट्टीकी ही	मिट्टीकी ही परिणति
३०४	११	उपदेश कर्ता	उपदेश करता
३०४	२४	सभामण्डल	सभामण्डप
३०५	३०	वितर्क्रात्मक	वितर्कात्मक

4542

समाज-सेवा और राष्ट्र-सेवामें भी आप अग्रणी हैं, गजरथ-विरोधी आन्दोलन, दस्सा-पूजाधिकार जैसे कार्योंमें सोत्साह भाग लिया। श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसीके आप वर्षों मंत्री रहे। भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के कई वर्ष मंत्री रहे। उसके सिवनीके अधिवेशन और श्रावस्तीके नैमित्तिक अधिवेशन आपकी अध्यक्षतामें हुए थे। इन अधिवेशनोंसे दिये गये आपके भाषण प्रेरणाप्रद हैं। आपने शान्ति-सिन्धु और सनातन जैन पत्रोंका कई वर्ष सफल सम्पादन भी किया। और समाजकी बहु-मुखी सेवा की। दिल्लीमें भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद द्वारा आयोजित गुरु गोपालदास वरैया शताब्दी-समारोह भी आपके अध्यक्षीय कालमें सम्पन्न हुआ था।

राष्ट्रकी भी आपने बड़ी सेवा की है। सन् १९३१ से ही आप राष्ट्रीय कार्योंमें सक्रिय सहयोग देने लगे थे। सन् १९४२ के देश-व्यापी आन्दोलनमें आप सागर व नागपुरकी जेलोंमें भी ६-७ माह रहे। अमरावतीके जेलमें आपने अनेक असहनीय दुःख सहें। नगर-कांग्रेस-कमेटीके आप वर्षों अध्यक्ष रहे और मध्य-प्रांतीय कांग्रेस-कमेटीके भी सदस्य रहे। प्रांतीय विधान सभाके लिए भी दो बार चुनाव लड़ा।

आपका समग्र जीवन चिन्तन-लेखन, समाज-राष्ट्र सेवा और स्वतंत्र व्यवसायमें संलग्न है। शिक्षाको आपने कभी आर्थिक आधार नहीं बनाया। यही आपकी सबसे बड़ी विशेषता है।

वीर निर्वाण भारती मेरठकी ओरसे सन् १९७४ में उपराष्ट्रपति श्रीजत्ती महोदयके करकमलों द्वारा २५००) की निधिके साथ सिद्धान्ताचार्यकी मानद उपाधिसे आपको सम्मानित किया गया।